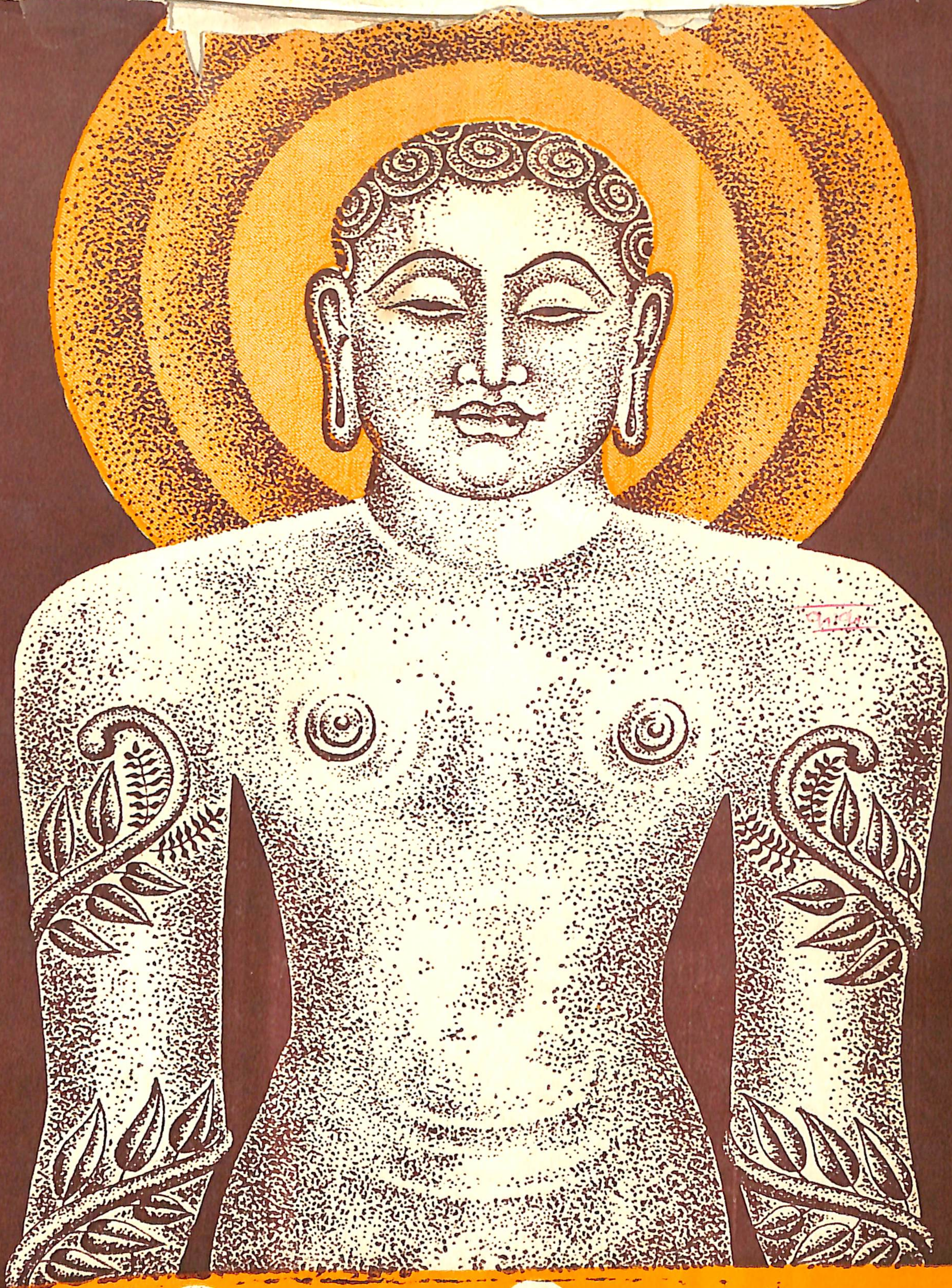


धर्मशर्माभ्युदय

मूल
महाकवि हरिचन्द्र

सम्पादन-अनुवाद
पं. पन्नालाल जैन

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

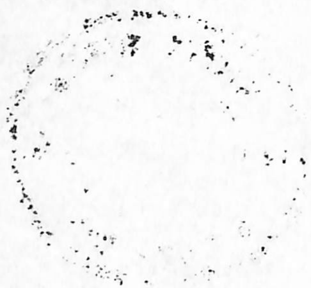
धर्मशर्माभ्युदय

सम्पादन-अनुवाद

पं. पन्नालाल साहित्याचार्य

•

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन



ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक ३८

महाकवि-हरिचन्द्र-विरचित

धर्मशर्माभ्युदय

[पण्डित यशस्कीर्तिकृत संस्कृत टीका सहित]

सम्पादन-अनुवाद

पण्डित पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य





भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० संवत् २४९७ : विक्रम संवत् २०२८ : सन् १९७१
प्रथम संस्करण : मूल्य बीस रुपये

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तगत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

●

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ. हीरालाल जैन, एम. ए., डी. लिट्.

डॉ. आ. ने. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

●

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६

प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

●

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० ● विक्रम सं० २००० ● १८ फरवरी १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ



स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी श्री शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ GRANTHAMĀLĀ : Sanskrit Grantha No. 38

DHARMAŚARMĀBHYUDAYA

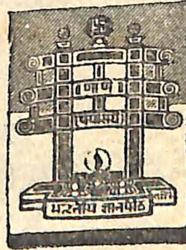
of

MAHĀKAVI HARICANDRA

[With the Sanskrit Commentary of Pandita Yaśaskīrti]

Edited by

Pandita Pannalal Jain, Sāhityācārya



BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA PUBLICATION

VĪRA SAṀVAT 2497 : V. SAṀVAT 2028 : 1971 A. D.

First Edition : Price Rs. 20/-

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ
JAIN GRANTHAMĀLĀ
FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN
IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER
SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PAURĀṆIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKṚTA, SAṀSKṚTA, APABHRAṀŚA, HINDĪ, KANNAḌA, TAMIL, ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES
AND
CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED.

•

General Editors
Dr. Hiralal Jain, M. A., D. Litt.
Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.

•

Published by
Bharatiya Jnanapitha
Head office : 3620/21 Netaji Subhash Marg, Delhi-6
Publication office : Durgakund Road, Varanasi-5.

•

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000, 18th Feb., 1944

प्रधान सम्पादकीय

साहित्य-शास्त्र विषयक काव्य-प्रकाश नामक ग्रन्थमें काव्यके उद्देश्य बतलाते हुए मम्मटाचार्यने कहा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

अर्थात् काव्य-रचनाके हेतु हैं, यश व धन प्राप्त करना, लोक-व्यवहारका ज्ञान प्राप्त करना व कराना, अमंगलको दूर कर कल्याणकी स्थापना करना, शीघ्र परमसुखकी अनुभूति प्राप्त करना और लोगोंको धर्म व नीतिका उपदेश कान्ताके समान मधुर वचनोंमें देना। काव्यके इन हेतुओंमें से धनार्जन करनेकी भावनाको छोड़ शेष सभी गुण प्रस्तुत महाकाव्यमें पाये जाते हैं। यहाँ पन्द्रहवें तीर्थंकर भगवान् धर्मनाथका चरित्र वर्णित है। प्राचीन महापुरुषोंके जीवनकी रूपरेखा तो परम्परागत पुराणों द्वारा सुनिश्चित है, किन्तु उसके पल्लवित करनेमें कविको अपनी प्रतिभानुसार कितना अवकाश है, यह प्रस्तुत महाकाव्यके अवलोकनसे भली प्रकार समझा जा सकता है। कविने यद्यपि यह नहीं बतलाया कि उन्होंने इस चरित्रकी कथावस्तु कहाँसे ली है। तथापि यह निश्चित है कि उनके सम्मुख गुणभद्र-आचार्य द्वारा रचित संस्कृत उत्तरपुराणका ६१वाँ पर्व उपस्थित था, और सम्भवतः पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश महापुराणकी ५९वीं सन्धि भी उपस्थित रही होगी। इनमें धर्मनाथ तीर्थंकरका चरित्र वर्णित है। इन पूर्व पुराणोंमें वर्णित चरित्रकी जब हम प्रस्तुत महाकाव्यसे तुलना करते हैं तब हमें पता चलता है कि इस रचनामें कविकी मौलिकता और प्रतिभा कितनी विशाल रही है। उत्तर-पुराणमें एक श्लोकमें मंगलाचरण करके दूसरे पद्यमें धातकीखण्ड, पूर्वविदेह, वत्सदेश व सुसीमनगरका उल्लेख मात्र कर दिया गया है। तथा तीसरे व चौथेमें राजा दशरथ और उनके राज्यका। अगले दो श्लोकोंमें ही उनके चन्द्रग्रहणको देखकर वैराग्यकी बात समाप्त हो गयी है और फिर अगले एक श्लोकमें ही उनके अपने पुत्र महारथको राज्य देकर दीक्षा ग्रहणकी बात भी कह दी गयी है। आगे एक ही श्लोकमें ही उनके ग्यारह अंगोंके अध्ययन व सोलह कारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर गोत्रबन्ध व समाधिमरण-की बात आ गयी है और अगले ३ श्लोकोंमें उनके सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र पदका वृत्तान्त आ गया है। वहाँ अपनी आयु पूर्ण कर मनुष्य-लोक, जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्रके रतनपुर नगरमें कुरुवंशी काश्यपगोत्री राजा भानुकी रानी सुप्रभा द्वारा स्वप्न-दर्शन और फिर धर्मनाथका गर्भावतरण वृत्तान्त मात्र छह श्लोकोंमें पूरा हो गया है। तत्पश्चात् उनके जन्म-कल्याणक, कुमारकाल व राज्यकालका वर्णन १२ पद्योंमें पूर्ण किया गया है। और अगले ७ पद्योंमें उल्कापात देखकर उनके वैराग्यका। वे अपने पुत्र सुधर्मको राज्य देकर मुनि हो गये तथा मनःपर्यय ज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् उन्होंने पाटलिपुत्रमें धनसेन राजाके यहाँ आहार ग्रहण किया, इसका विवरण अगले ५ श्लोकोंमें समाप्त हो गया है। और फिर अगले ८ श्लोकोंमें उनके केवलज्ञानकी प्राप्ति तथा अरिष्टसेन आदि गणधरों, सुव्रतादि आर्यिकाओं व श्रावक-श्राविकाओं सहित चतुर्विध संघका वृत्तान्त ८ श्लोकोंमें आ गया है। तत्पश्चात् मात्र एक श्लोकमें उनके धर्मोपदेशका उल्लेख कर एवं ३ श्लोकोंमें शुक्ल-ध्यान तथा मोक्षकल्याणकका निर्देश कर अन्तिम २ श्लोकोंमें उनके दोनों जन्मोंके जीवनचरित्रका उपसंहार कर दिया गया है। इस प्रकार गुणभद्राचार्यने केवल ५५ श्लोकोंमें धर्मनाथ तीर्थंकरके पूर्व-जन्म, स्वर्गवास और तीर्थंकर-अवतारका विवरण समाप्त कर दिया है। इसी प्रकार यही सब वृत्तान्त, कुछ अधिक सरसताके साथ, नाना छन्दोंमें महाकवि पुष्पदन्तने अपने अपभ्रंश महापुराणकी ५९वीं सन्धिके प्रथम ७ कडवकोंके

अन्तर्गत मात्र १४१ पंक्तियोंमें पूरा वर्णित कर डाला है। बात इतनी ही है। परन्तु इसका विस्तार आप प्रस्तुत महाकाव्यमें देखकर चकित हुए बिना नहीं रहेंगे। जितनी बात सुसीमनगरके उल्लेखतक उत्तर-पुराणके २ श्लोकोंमें आ गयी है वही यहाँ सुललित, मनोहर, अलंकारयुक्त शैलीमें विस्तारसे प्रथम सर्गके ८६ श्लोकोंमें कही गयी है। फिर राजा दशरथ व उनकी रानी तथा उनकी पुत्र-प्राप्तिकी अभिलाषाके वर्णनमें इस महाकाव्यके द्वितीय सर्गमें ७९ श्लोक रचे गये हैं। इसी प्रकार तीसरे सर्गके ७० श्लोकोंमें उनके मुनि-दर्शनका तथा चतुर्थ सर्गके ९३ श्लोकोंमें धर्मनाथके पूर्वभवका शेष वर्णन समाप्त हुआ है। फिर पांचवें सर्गके ९० श्लोकोंमें उनके गर्भकल्याणकका, छठे सर्गके ५३ श्लोकोंमें उनके जन्मकल्याणकके हेतु देवोंके आगमन-का वर्णन है। सप्तम सर्गके ६८ श्लोकोंमें पांडुकवनका व आठवें सर्गके ५७ पद्योंमें जन्माभिषेकका वर्णन है। बाल्यकाल व कुमारकाल तथा विदर्भ राजकुमारीके स्वयंवरार्थ विन्ध्य पर्वततक पहुँचनेका वर्णन नवें सर्गके ८० पद्योंमें होकर दसवें सर्गके ५७ पद्योंमें गिरिका, ग्यारहवेंके ७२ पद्योंमें ऋतुका व बारहवें सर्गके ६३ पद्योंमें उद्यानक्रीडा व पुष्पचयनादिका वर्णन है। तेरहवें सर्गके ७१ पद्योंका विषय राजाका जलविहार है। चौदहवें सर्गके ८४ श्लोकोंमें सन्ध्या वर्णन, पन्द्रहवेंके ७० पद्योंमें किन्नरोंकी रतिक्रीड़ा तथा सोलहवें सर्गके ८८ श्लोकोंमें विदर्भकी नगरीमें पहुँचकर प्रभात-वर्णन किया गया है। सत्रहवें सर्गके ११० श्लोकोंमें स्वयंवरका वर्णन है। अठारहवें सर्गके ६७ श्लोकोंमें उनके राज्याभिषेकका वर्णन हुआ है और उन्नीसवें सर्ग-के १०४ श्लोकोंमें युद्ध और पराक्रमका। तत्पश्चात् बीसवें सर्गके १०१ श्लोकोंमें उनके उल्कापात-दर्शन, वैराग्य, दीक्षा, तप और केवलज्ञान प्राप्तिका वर्णन आया है और अन्तिम इक्कीसवें सर्गके १८५ श्लोकोंमें भगवान्‌की दिव्यध्वनि द्वारा जैन सिद्धान्तका निरूपण, उनके संघकी संख्या तथा मोक्षगमन होकर ग्रन्थका वर्णन पूरा हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस चरित्रको उत्तरपुराणमें ५५ श्लोकोंके अन्तर्गत तथा अपभ्रंश महापुराणमें ७ कड़वकोंकी १४१ पंक्तियोंमें पूरा किया गया है उसे यहाँ इक्कीस सर्गोंके अन्तर्गत १७५५ श्लोकोंमें विस्तृत कर वर्णित किया गया है।

यह विस्तार किस आधारसे हुआ और उसमें कविका क्या हेतु रहा? इसके दो आधार हमें स्पष्ट दिखाई देते हैं। संस्कृत एवं अपभ्रंश महापुराणोंमें सबसे अधिक विस्तारसे वर्णन आदिनाथ ऋषभदेवके जीवन-चरित्रका दिया गया है जिसमें संस्कृत आदिपुराणके बड़े-बड़े सैंतालीस (४७) पर्व एवं अपभ्रंश महापुराण की सैंतीस (३७) सन्धियाँ पूर्ण हुई हैं। इनमें प्रायः वह सब वर्णन-वैचित्र्य पाया जाता है जो हमें प्रस्तुत काव्य में दिखाई देता है। किन्तु इनके अतिरिक्त यहाँ कविने अनेक प्रसंगों, घटनाओं, कल्पनाओं, उक्तियों व रसभाव वर्णनमें एवं उन्नीसवें सर्गके चित्रात्मक काव्यरचनामें जैनेतर महाकवि कालिदास, भारवि व माघादि-की रचनाओंका भी उपयोग किया है, यह भी हमें स्पष्ट दिखाई देता है। कविको महाकाव्यके उन गुणोंका स्मरण है जिनका साहित्यशास्त्रकार दण्डीने उल्लेख किया है। महाकाव्यमें नायकके चरित्रके प्रसंगानुसार नगर, उपवन, पर्वत एवं ऋतुओं, चन्द्रोदय, रतिविलासादि प्रकृतिकी विचित्रताओं एवं जीवनकी अनुभूतियोंके वर्णनका समावेश आवश्यक है। तदनुसार कविने अपनी प्रस्तुत रचनाको सभी दृष्टियोंसे एक परिपुष्ट व सर्वांगसम्पन्न महाकाव्य बनानेका प्रयत्न किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती महाकवियोंकी रचनाओंसे प्रेरणा अवश्य ग्रहण की है। परन्तु जिसे काव्यकी चोरी कहा जा सके, ऐसा कार्य उन्होंने नहीं किया। सभी सन्दर्भोंमें उनकी मौलिकता अभिव्याप्त है। शब्द और अर्थकी गरिमा वैदर्भी-गौड़ी शैलियोंका यथोचित निर्वाह, रसों एवं भावोंका समावेश एवं तदनुकूल अलंकारों और छन्दोंका उपयोग प्रस्तुत महाकविकी अपनी विशेषता है। इस रचनाके द्वारा महाकविने धर्मनाथ तीर्थंकरके चरित्रको भी गौरवशाली साहित्यिक रीतिसे प्रस्तुत किया है, और साथ ही साथ अपने उच्चस्तरीय कवित्व-शक्तिका भी भलीभाँति परिचय दिया है। उनकी काव्य-प्रौढ़ताका अन्य उदाहरण वह जीवन्धरचम्पू भी है जो इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है।

काव्यके अन्तमें ग्रन्थकर्ताकी प्रशस्ति पायी जाती है। उसके अनुसार कवि नोमक वंशीय व कायस्थ जातिके थे, तथा उनके पिताका नाम आर्द्रदेव, माताका रथ्यादेवी या राधादेवी तथा छोटे भाईका नाम

लक्ष्मण था। लक्ष्मणने घर-गृहस्थीका सब काम सँभाल लिया था। इसी कारण उनके बड़े भ्राता हरिचन्द्र निश्चिन्त होकर अपने जीवनको काव्य-साधनामें लगा सके। नोमकवंशका अर्थ सम्भवतः वही कुलनाम है जो आज भी कायस्थोंमें निगमके रूपमें प्रयुक्त किया जाता है। यह प्रशस्ति प्रस्तुत काव्यकी सभी उपलब्ध प्रतियोंमें नहीं पायी जाती। इसका सम्भवतः एक कारण यह भी हो सकता है कि उसका कायस्थ नामांकित होना उन लिपिकारोंको अच्छा नहीं लगा और इस कारण उन्होंने प्रशस्ति-को जानबूझकर छोड़ दिया हो? किन्तु यही प्रशस्ति इस दृष्टिसे बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि उसके द्वारा सिद्ध होता है कि जैनधर्म किसी एक जाति कुल वंश या जनसमुदायमें सीमित नहीं था। सभी वर्गों व जातियोंके प्रबुद्ध लोग उसे स्वीकार करते थे, और उससे अपने को सम्बद्ध बतलाने में गौरवका अनुभव करते थे। निश्चित रीतिसे महाकवि हरिचन्द्रका रचनाकाल ज्ञात नहीं है। किन्तु विद्वान् सम्पादकने जो इसे यशस्तिलकचम्पूके रचनाकाल विक्रम सं० १०१६ के पश्चात् तथा इस ग्रन्थकी एक प्राचीन प्रतिमें उल्लिखित सं० १२८७ के मध्यवर्ती कालकी रचना अनुमानित की है, वह ठीक प्रतीत होता है।

इस काव्यका प्रथम विवरण पीटर्सनने अपनी एक संस्कृत ग्रन्थोंकी खोज सम्बन्धी रिपोर्टमें दिया था और फिर बम्बईकी काव्यमाला सीरीजके अष्टम ग्रन्थके रूपमें इसका प्रथम बार प्रकाशन सन् १८८८ में हुआ था। उसी संस्करणकी और भी दो-तीन आवृत्तियाँ हो चुकीं। फिर इधर अनेक वर्षोंसे यह ग्रन्थ दुर्लभ था। बड़े सौभाग्यकी बात है कि इस पूर्व प्रकाशित संस्करणके अतिरिक्त सात अन्य प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने प्रस्तुत सम्पादन किया है, उन विविध प्रतियोंके पाठान्तर भी अंकित किये हैं तथा समस्त ग्रन्थका सुपाठ्य हिन्दी अनुवाद भी उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक प्राचीन संस्कृत टीकाको भी शुद्ध कर एवं उसके खण्डित अंशोंकी सुचारुरूपसे पूर्ति कर इस संस्करणमें समाविष्ट कर दिया है। उन्होंने समस्त ग्रन्थके श्लोकोंकी वर्णानुक्रमणी, उसके सुभाषितोंका संकलन तथा पारिभाषिक, व्यक्तिवाचक, भौगोलिक एवं विशिष्ट साहित्यिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणियाँ तैयार कर उन्हें ग्रन्थके परिशिष्टोंके रूपमें जोड़ दिया है। अपनी प्रस्तावनामें उन्होंने अपनी आधारभूत प्रतियोंका परिचय ग्रन्थके विषयोंका सर्गानुसार सारांश, ग्रन्थकर्ताका उपलभ्य परिचय, काव्यकी साहित्यिक विशेषताओं एवं संस्कृत टीकाके विषयमें सारगर्भित विवरण भी दे दिया है। इस सब सामग्रीके द्वारा ग्रन्थ सर्वांगपूर्ण तथा पाठकों एवं विद्वानोंको बहुत उपयोगी बन गया है। पण्डितजीकी संस्कृत भाषा एवं साहित्यमें प्रगाढ़ विद्वत्ता तथा उनके हिन्दी अनुवादोंके सौष्ठवसे इस ग्रन्थमालाके पाठक भलीभाँति परिचित हैं, क्योंकि इससे पूर्व अनेक पुराण और काव्य उनके द्वारा सम्पादित व अनूदित होकर इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी इस देनके लिए ग्रन्थमालाके प्रधान सम्पादक उनके बहुत अनुग्रहीत हैं तथा उनसे उन्हें भविष्यमें भी बड़ी आशाएँ हैं।

ये जो प्राचीन साहित्यकी महत्त्वपूर्ण निधियाँ आज ऐसे सुन्दररूपमें सम्पादित और प्रकाशित हो रही हैं, इसका भारी श्रेय भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक श्री शान्तिप्रसादजी तथा श्रीमती रमाजीको है जो इस साहित्योद्धारके कार्यमें अपनी पूर्ण उदारता और अभिरुचि दिखलाते हैं। और उनकी इच्छाको उतनी ही अभिरुचिके साथ कार्यान्वित करनेका श्रेय संस्थाके मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैनको है। जिनके हम बहुत आभारी हैं।

हीरालाल जैन
आ. ने. उपाध्ये
प्रधान सम्पादक

प्रस्तावना

सम्पादन सामग्री

धर्मशर्माभ्युदयका सम्पादन निम्नांकित ९ प्रतियोंके आधारपर हुआ है—

१ क—यह प्रति श्री ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वतीभवन बम्बईकी है। श्री पं० कुन्दनलालजी और सेठ निरंजनलालजी कालाके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। श्री मण्डलाचार्य ललितकीर्तिके शिष्य श्री पं० यशस्कीर्तिके द्वारा रचित संस्कृत टीकासे युक्त है। इसमें १९६३ पत्र हैं। प्रतिपत्रमें १२ पंक्तियाँ हैं और प्रतिपंक्तिमें ५५-६० अक्षर हैं। पत्रोंकी साईज ११×५ इंच है। लेखन काल १६५२ संवत् है। इसमें ग्रन्थकर्ताकी प्रशस्ति नहीं है। अन्तमें पुस्तक लिखानेवालेकी लम्बी प्रशस्ति है। यह पुस्तक लिखाकर आचार्य लक्ष्मीचन्द्रको प्रदान की गयी है। अन्तिम लेख इस प्रकार है—

'शुभमस्तु, श्रीरस्तु, कल्याणमस्तु, श्रीस्वस्ति श्री सम्वत् १६५२ वर्षे भाद्रपदमासे शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां तिथौ गुरुवासरे अम्बावतीवास्तव्ये राजाधिराज महाराज श्रीमान् सिंहजी राजे श्रीनेमिनाथचैत्यालये श्री-मूलसंघे नन्द्याम्नाये बलात्कारगणे, सरस्वतीगच्छे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दि देवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीचन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये खण्डेल-वालान्वये गोधागोत्रे सा० पचाइण, भार्या पुंहसिरि तत्पुत्रौ द्वौ प्रथम सा० नूना द्वितीय सा० पूना। नूनाभार्या नूनसिरि, तत्पुत्राश्चत्वारः प्रथम सा० वीरदास, भार्या लौहुकन, द्वितीय सा० जिनदास, भार्ये द्वे प्रथमा स्वरूपदे द्वितीया लहुडी, तत्पुत्रः चिरंजी संगा, तृतीयपुत्रः सा० विमलः, भार्या बहुरङ्गदे, तत्पुत्रास्त्रयः प्रथम सा० जीवा, भार्ये द्वे प्रथमा जीवलदे, तत्पुत्रः सा० दुर्गा, भार्या दुर्गादे, द्वितीया भार्या प्रतापदे, द्वि० पु० सा० डीडा, भार्यास्तिस्रः प्र० दाडिमदे, तत्पुत्र सा० रायमल, भार्या रायवदे, द्वि० भार्या सुहागदे, तत्पुत्र चि० साहिमल, तृतीय भार्या सिंगारदे, तत्पुत्रः सा० विमला, तृतीयपुत्र सा० केशव, भार्या कसमीरदे, तत्पुत्र चिरंजीव दामोदर भार्या जूना, चतुर्थपुत्र सा० चौहथ भार्ये द्वे, प्र० भार्या चांदणदे, तत्पुत्र सा० कौजू, भार्या कौतिगदे, तत्पुत्रौ द्वौ प्र० पु० चिरंजीव नरहरदास, द्वि० चि० देवसी, द्वितीयभार्या लहुडी, तत्पुत्र चि० सलहरी सा० पचाइण, द्वितीय पुत्रः सा० पूना भार्या पुनसिरि, तत्पुत्रौ द्वौ प्र० सा० मल्लिदास द्वि० सा० कचरू, मल्लिदास भार्ये द्वे, प्रथमभार्या मल्लिसिरि तत्पुत्र सा० जाटू, भार्या लाहुमदे, तत्पुत्र चि० नारायणदास, द्वितीयभार्या महिमादे, तत्पुत्रास्त्रयः प्रथम सा० नेतसी, भार्ये द्वे, प्र० नेतलदे द्वितीयभार्या लहुडो सा० महिमादे, द्वि० तत्पुत्र जिणदत्त भार्या जौणादे, तृ० पु० तेजपाल सा० पूना द्वि० पु० सा कचरू, भार्ये द्वे प्रथम भार्या कौतिगदे द्वितीयभार्या कोडमदे, एतेषां मध्ये सा० नूना पुत्र० सा० वीरदास भार्या ल्हौकन, चांदणदे सिंगारदे एताभिर्मिलित्वा धर्मशर्माभ्युदय काव्यस्य टीका लिखाप्य आचार्य लक्ष्मीचन्द्राय प्रदत्ता, शुभं भवतु, कल्याणमस्तुः। 'ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः। अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद् भवेत्।' लेखकस्य शुभम्।

२ ख—यह प्रति जयपुरके किसी शास्त्रभाण्डार की है। डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवालके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। इसमें १०×६ साईजके १२२ पत्र हैं। प्रतिपत्रमें १० पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३२-३८ तक अक्षर हैं। अक्षर बड़े तथा सुवाच्य हैं। प्रारम्भके ७ पत्रोंमें आजू-बाजूमें टिप्पण दिये गये हैं जो किसी अध्येताके लगाये जान पड़ते हैं। इसमें ग्रन्थकर्ताकी प्रशस्तिके श्लोक नहीं हैं। लिपिकाल संवत् १८३२ शकाब्द १६९७ है। अन्तिम लेख इस प्रकार है—

'संवत् १८३२ शाके १६९७ प्रवर्तमाने मासोत्तममासे उत्तममासे आसौजकृष्णपक्षे तिथौ दशम्यां भौमवासरे सवाई जयनगर मध्ये महाराजाधिराज श्रीसवाईस्यंघ (सिंह) राज्ये प्रवर्तमाने इदं पुस्तकं लिखापितम् । रामस्यंघ जी पाटणी तेरापंथी स्वपुत्रफतेचन्द्र पठनार्थं लिपीकृतम् । महात्मा सवाईराम । शुभं भवतु ।'

पुस्तककी दशा अच्छी है ।

३ ग—यह प्रति पूज्यमाताजी ब्र० चन्दाबाईजीके सत्प्रयत्नसे जैनसिद्धान्तभवन आरासे प्राप्त हुई है। इसमें १२×६ साईजके १५७ पत्र हैं । प्रतिपत्रमें ७ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३२-३७ अक्षर हैं। अक्षर सुवाच्य हैं, आजू-बाजूमें टिप्पण भी दिये गये हैं । इसमें ग्रन्थकर्तृप्रशस्तिके श्लोक नहीं है । सम्वत् १८८९ कार्तिकशुक्ल ५ रविवारको लिखकर पूर्ण हुई है । दशा अच्छी है ।

४ घ—यह प्रति स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके सरस्वतीभवनकी है । श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र-जी शास्त्रीके सौजन्यसे प्राप्त हुई है । इसमें ११×६ साईजके ८३ पत्र हैं । प्रतिपत्रमें १० पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ४८-५२ तक अक्षर हैं । अक्षर सुवाच्य हैं, दशा अच्छी है । १९५४ वि० सं० की लिखी हुई है । यह निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित मूल धर्मशर्माभ्युदयपरसे की गयी लिपि जान पड़ती है । पं० गंगाधर गौड़ने इसको लिपि की है । मुद्रित प्रतिकी अशुद्धियाँ इसमें ज्योंकी त्यों अवतीर्ण हैं ।

५ ङ—यह प्रति श्री पं० कुन्दनलालजी और सेठ निरंजनलालजो काला बम्बईके सौजन्यसे प्राप्त हुई है । ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवनकी प्रति है । इसमें प्रारम्भसे लेकर चतुर्थसर्गके ३२वें श्लोक तकका भाग है जो १-१७ पत्रोंमें अंकित है । दशा अच्छी है । प्रतिपत्रमें ९ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३५-४० तक अक्षर हैं । अपूर्ण होनेसे इसका पूरा उपयोग नहीं हो सका है । ऐसा लगता है कि यह इतना भाग सुविधाके लिए किसीने अलग वेष्टनमें बाँध रखा है, शेष भाग दूसरे वेष्टनमें बँधा हो और काल पाकर दोनों वेष्टन पृथक्-पृथक् हो गये हों ।

६ च—यह प्रति भण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट पूनासे प्राप्त है । इसमें १०×५ इंचकी साईजके ५६ पत्र हैं, प्रतिपत्रमें १९ पंक्तियाँ हैं और प्रतिपंक्तिमें ४५-५० तक अक्षर हैं । अक्षर छोटे और सघन हैं । लिपि सुवाच्य है । दोनों ओर सूक्ष्माक्षरोंमें टिप्पण दिये गये हैं । ४७½ पत्रमें ग्रन्थ पूरा हुआ है । उसके बाद विशिष्ट श्लोकोंका टिप्पण है । यह टिप्पण यशस्कीर्ति भट्टारकको टीकासे लिया जान पड़ता है । ग्रन्थमें लिपिकाल नहीं है पर कागजकी जीर्णतासे जान पड़ता है कि पाण्डुलिपि प्राचीन है ।

७ छ—यह प्रति भण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट पूनासे प्राप्त है । इसमें १२×५ साईजके ११५ पत्र हैं । प्रतिपत्रमें १० पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३४-४० तक अक्षर हैं । लिपि सुवाच्य है । पुस्तकका लिपि काल १५३५ संवत् है । कविप्रशस्ति है तथा ग्रन्थके अन्तमें निम्न लेख है—

'सम्वत्सरे ज्ञानगुप्तिसंयमपृथिवीमिते माघमासे सितेतरपक्षे दर्शतिथौ श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये खण्डेलवालान्वये भट्टारक श्रीमच्चन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्रीमद्देवेन्द्र-कीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्रीमन्नरेन्द्रकीर्तिस्तच्छिष्याचार्यवय श्रीमदुदयभूषणस्तदन्तेवासि मनस्विश्रीमत्तुलसी-दासैर्लिखितमिदं स्वशयेन दीक्षितत्रिलोकचन्द्रपठनार्थम् । श्रीमन्मालवदेशे कविलासनाम्नि दुर्गे श्रीमत्कूर्मान्वय विभूषणराजा श्रीमदमरसिंहराज्ये प्रवर्तमाने श्रीचन्द्रप्रभजिनचैत्यालये चातुर्मास्यं कृतम् । लेखक पाठको चिरं जीवताम् । श्रीः ।'

स्याहीमें कोशीसका उपयोग अधिक होनेसे बीच-बीचके पत्र गल गये हैं ।

८ ज—यह प्रति भण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट पूनासे प्राप्त है । इसमें १४×६ साईजके १४५ पत्र हैं । प्रतिपत्रमें ८ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३४-३८ तक अक्षर हैं । बीच-बीचमें टिप्पण दिये गये हैं । लिपि प्राचीन है, पड़ी मात्राओंका प्रयोग किया गया है । लिपिकाल संवत् १५६४ बुधवासर है । अन्तिम लेख इस प्रकार है—

'संवत् १५६४ वर्षे श्रावणसुदि बुधवासरे
श्रीमान् सरस्वतीगच्छे मूलसङ्घे महोत्तमाः ।
बलात्कारगणोपेता यत्र भान्ति यतीश्वराः ॥
आम्नायो यत्र सम्भूतः कुन्दकुन्दगणेशिनः ।
तत्रासीच्छुद्धबुद्धात्मा पद्मनन्दिगणाधिपः ॥'

इस लेखके अतिरिक्त एक लेख और है—

'१८७१ माघशुक्ल १५ दिने भट्टारक श्रीविद्याभूषणजी तत्पट्टे भ० धर्मचन्द्रेण पं० शिवजीरामाय दत्तं सूरतिबन्दरे ।'

इस प्रतिके पत्र बड़े हैं और उनपर लगाया हुआ गत्ता छोटा रहा है इसलिए पत्रोंके किनारे जीर्ण-प्राय हो गये हैं ।

९ म—यह निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित मूलमात्र प्रति है । इसके तीन संस्करण यहाँ से छप चुके हैं । सम्पादन श्री पं० दुर्गाप्रसादजी और काशीनाथजी शर्माने किया है । निर्णयसागर प्रेस सुन्दर और शुद्ध छपाईके लिए प्रख्यात है । जहाँ-तहाँ पादटिप्पण भी दिये हुए हैं । ये टिप्पण यशस्कीर्तिभट्टारककी संस्कृत-टीकासे लिये गये हैं ।

इस प्रकार धर्मशर्माभ्युदयका यह संस्करण उल्लिखित ९ प्रतियोंके आधारपर तैयार किया गया है । इसमें पाठ 'क' प्रतिके आधारपर रखे गये हैं । शेष प्रतियोंके पाठ पादटिप्पणमें दिये गये हैं । दक्षिण भारतके शास्त्र भाण्डारोंमें भी इसकी ताड़पत्रीय बहुत सी प्रतियाँ है, इससे जान पड़ता है कि वहाँ भी इसका पर्याप्त प्रचार रहा है । उपलब्ध प्रतियोंमें 'ब' प्रति सबसे अधिक प्राचीन है और उसके बाद दूसरे नम्बरपर 'ज' प्रति । इनका लेखन काल क्रमशः १५३५ और १५६४ विक्रम संवत् है । धर्मशर्माभ्युदयकी सर्वाधिक प्राचीन प्रति पाटण (गुजरात) के संघवी पाड़ाके पुस्तक भाण्डारमें १२८७ विक्रमसंवत्की लिखी हुई है । दुःख है कि सम्पादनार्थ मैं उसे प्राप्त नहीं कर सका ।

महाकाव्य 'धर्मशर्माभ्युदय'

धर्मशर्माभ्युदय, महाकाव्यके लक्षणोंसे युक्त एक उच्चकोटिका महाकाव्य है । कोमलकान्तपदावली और नवीन-नवीन अर्थ इस महाकाव्यकी सुषमा बढ़ा रहे हैं । इस काव्यका कवि, कल्पनाके अन्तरिक्षमें उड़ान भरनेमें सिद्धहस्त है तो इसके अगाध सागरमें डुबकी लगानेमें भी अतिशय निपुण है । इसके प्रत्येक श्लोकमें भावका वह अनुपम माधुर्य प्रकट हो रहा है जिसे देख, काव्यमर्मज्ञका हृदय बासों उछलने लगता है । यह महाकाव्य २१ सर्गोंमें समाप्त हुआ है जिनका विषय निम्न प्रकार है—

सर्ग १—लवणसमुद्रके मध्यमें ठीक कमलके समान शोभा देनेवाला जम्बूद्वीप है । इसके बीचमें सुवर्णमय मेरु पर्वत है । दक्षिणकी ओर भरतक्षेत्र है । उसके आर्यखण्डमें उत्तर कोसल नामका एक देश है और उस देशमें सुशोभित है रत्नपुर नामका नगर ।

सर्ग २—रत्नपुरके राजा महासेन थे । महासेन, अपनी महती सेनाके कारण सचमुच ही महासेन थे । उनकी रानी थी सुव्रता । सुव्रता, जहाँ शील संयम आदि गुणोंके द्वारा अपने नामको सार्थक करती थी वहाँ सौन्दर्य सागरकी एक अनुपम वेला भी थी वह । अवस्था ढल गयी फिर भी सुव्रताके पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए राजा महासेनका मन चन्द्ररहित गगनके समान श्यामल रहने लगा । पुत्रके बिना राजा चिन्ता-निमग्न थे, उसी समय वनमालीने वनमें वरुण नामक मुनिराजके आगमनकी सूचना दी । मुनिआगमन-का सुखद समाचार पाकर राजाका सारा शरीर रोमांचित हो गया तथा नेत्रोंसे हर्षके अश्रु बरस पड़े ।

सर्ग ३—वह रानी सुव्रताके साथ गजेन्द्रपर आरूढ हो मुनिदर्शनके लिए चल पड़ा । साथमें उसके नगरवासियोंकी बड़ी भीड़ भी व्यवस्थितरूपसे चल रही थी । वनके निकट पहुँचते ही राजाने राजकीय वैभव—छत्र, चमर आदिका त्याग कर दिया और पैदल ही चलकर मुनिराजके समीप पहुँचा । प्रदक्षिणा और

नमस्कारकी प्रक्रियाको पूरा कर राजाने उनके मुखारविन्दसे धर्मका उपदेश सुना और अन्तमें सकुचाते हुए सुव्रताके पुत्र न होनेका कारण पूछा। मुनिराजने कहा कि तुम्हारी इस रानीके गर्भसे तीर्थंकर पुत्र होनेवाला है। चिन्ता क्यों करते हो? इतना कहकर उन्होंने तीर्थंकरके पूर्वभवोंका भी निम्न प्रकार वर्णन सुनाया—

सर्ग ४—धातकीखण्ड द्वीपके वत्स देशमें सुसीमा नामका नगर था। वहाँ राजा दशरथ राज्य करते थे। एक दिन रात्रिमें चन्द्रग्रहण देखकर उनका भीरु मन संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त हो गया। उन्होंने राज्य-वैभवको छोड़कर मुनिदीक्षा लेनेका विचार सभामें रखा। जिसे सुनकर चार्वाकमतका पक्षपाती सुमन्त्र मन्त्री परलोकका खण्डन करता हुआ राजाके प्रयत्नको मूर्खतापूर्ण बतलाने लगा। परन्तु राजाने सारगर्भित युक्तियों द्वारा सुमन्त्रकी मन्त्रणाका निरसन कर विमलवाहन मुनिराजके पास दीक्षा धारण कर ली। घोर तपश्चर्या की और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंका चिन्तनकर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। आयुके अन्तमें वे सर्वार्थसिद्धि विमानमें अहमिन्द्र हुए। हे राजन्! छह माहके बाद उसी अहमिन्द्रका जीव तुम्हारी रानी सुव्रताके गर्भमें अवतीर्ण होगा और पन्द्रहवें धर्मनाथ तीर्थंकरके रूपमें प्रसिद्ध होगा। मुनिराजके इन वचनोंसे राजा महासेन और रानी सुव्रताकी प्रसन्नताका पार नहीं रहा। अन्तमें मुनिराजको नमस्कार कर राजदम्पती अपने घर गये।

सर्ग ५—इन्द्रकी आज्ञा पाकर श्री, ह्री आदि देवियोंका समूह जिनमाताकी सेवा करनेके लिए गगनमार्गसे पृथिवीतलपर अवतीर्ण हुआ और राजाकी आज्ञासे अन्तःपुरमें प्रविष्ट हो रानी सुव्रताकी सेवा करने लगा। रानीने नियोगानुसार ऐरावत हाथी आदि सोलह स्वप्न देखे और राजा महासेनने उनका उत्तम फल सुनाकर उसे सन्तुष्ट किया। रानी सुव्रता गर्भवती हुई।

सर्ग ६—गर्भावस्थाके कारण रानी सुव्रताके शरीरकी शोभा निराली हो गयी। माघशुक्ल त्रयोदशीको पुण्यवेलामें पुष्य नक्षत्रके रहते हुए धर्मनाथ तीर्थंकरका जन्म हुआ। तीर्थंकरका जन्म होते ही समस्त लोकमें आनन्द छा गया। सौधर्म इन्द्र, चतुर्विध देवोंके साथ नाना प्रकारके उत्सव करता हुआ रत्नपुर नगर आया।

सर्ग ७—इन्द्राणीने प्रसूतिकागृहमें स्थित जिनमाताकी गोदमें मायानिर्मित बालकको रखकर जिनबालकको उठा लिया तथा इन्द्रको सौंप दिया। इन्द्र भी जिनबालकको लेकर ऐरावत हाथीपर सवार हुआ और देवसेनाके साथ-साथ आकाशमार्गसे सुमेरु पर्वतपर पहुँचा। सुमेरु पर्वतकी अद्भुत शोभा देख इन्द्रका हृदय बाग-बाग हो गया। देवोंकी सेना पाण्डुक वनमें ठहर गयी। विक्रिया निर्मित हाथी, घोड़े आदि अपनी विविध चेष्टाओंसे दर्शकोंका मन मोहने लगीं। पाण्डुक वनमें स्थित पाण्डुक शिलाको देखकर इन्द्र बहुत ही सन्तुष्ट हुआ।

सर्ग ८—पाण्डुक शिलापर स्थित मणिमय सिंहासनपर इन्द्रने जिनबालकको विराजमान किया। कुबेर अभिषेककी सब तैयारियाँ करने लगा। अभिषेकका जल लानेके लिए देवोंकी पंक्तियाँ क्षीरसागर गयीं। क्षीरसागरकी अद्भुत शोभा देखकर देव बहुत ही प्रसन्न हुए। क्षीर सागरके जलसे भरे हुए एक हजार आठ कलशोंके द्वारा सौधर्मेन्द्र तथा ऐशानेन्द्रने जिनबालकका अभिषेक किया। इन्द्रने भगवान्की स्तुति की। इन्द्राणीने आभूषण पहिनाये। तदनन्तर वापस आकर जिनबालकको माताकी गोदमें सौंपकर इन्द्रने अद्भुत नृत्य किया और यह सब कर चुकनेके पश्चात् देव लोग अपने-अपने स्थानोंपर चले गये।

सर्ग ९—विक्रिया ऋद्धिसे बालवेषको धारण करनेवाले देवोंके साथ भगवान् धर्मनाथ बालक्रीड़ा करने लगे। क्रम-क्रमसे धर्मनाथने यौवन-अवस्थामें पदार्पण किया। उनके शरीरकी सुषमा यद्यपि जन्मसे ही अनुपम थी तथापि यौवनकी मधुर वेलामें पहलेसे सहस्रगुणी हो गयी। विदर्भदेशके राजा प्रतापराजने अपनी पुत्री शृंगारवतीके स्वयंवरमें कुमार धर्मनाथको बुलानेके लिए खास दूत भेजा। पिताकी आज्ञा पाकर कुमार धर्मनाथ सेना सहित विदर्भकी ओर चल पड़े। बीचमें गंगा नदी मिली, उसे पार करते हुए वे विन्ध्याचलपर पहुँचे।

सर्ग १०—विन्ध्याचलके प्राकृतिक सौन्दर्यसे मुग्ध हो उन्होंने वहाँ निवास किया। प्रभाकर मित्रने विन्ध्याचलकी अद्भुत शोभाका वर्णन किया। किन्नरदेवने विक्रियासे सुन्दर आवासकी रचना कर वहाँ ठहरनेकी प्रार्थना की।

सर्ग ११—उनके पुण्योदयसे विन्ध्याचलपर एक साथ छहों ऋतुएँ प्रकट हो गयीं जिससे वनकी शोभा विचित्र हो गयी।

सर्ग १२—साथके स्त्री पुरुष वन क्रीड़ाके लिए वनमें बिखर गये। पुष्पित पल्लवित लताओंके निकुंजोंमें स्त्री पुरुषोंने विविध क्रीडाएँ कीं, पुष्पावचय किया।

सर्ग १३—थकनेपर नर्मदाके नीरमें सबने जलक्रीड़ा की। जलशकुन्तोंसे व्याप्त, लहराती हुई नर्मदामें जलक्रीड़ा कर युवा-युवतियोंने अपूर्व आनन्दका अनुभव किया।

सर्ग १४—सायंकाल आया, संसारको अनित्यताका पाठ पढ़ाता हुआ सूर्य अस्त हो गया। रात्रिका सघन अन्धकार सर्वत्र फैल गया, थोड़ी देर बाद प्राची-पुरन्ध्रीके ललाटपर सफेद चन्दन बिन्दुकी शोभाको प्रकट करता हुआ चन्द्रमा उदित हुआ। चाँदनीकी रजत छायामें दम्पतियोंने मधुपान किया, स्त्रियोंने नये-नये प्रसाधन धारण किये।

सर्ग १५—पान गोष्ठियाँ हुईं, स्त्री-पुरुषोंने विविध प्रकारकी क्रीड़ाओंसे रात्रि पूर्ण की।

सर्ग १६—धीरे-धीरे प्राचीमें उषाकी लाली छा गयी, प्रातःकाल हुआ और कुमार धर्मनाथने आगेके लिए प्रस्थान किया। नर्मदा नदीको पार कर वे विदर्भ देशमें पहुँचे। वहाँ कुण्डिनपुरके राजा प्रतापराजने उनका बहुत स्वागत किया।

सर्ग १७—स्वयंवर मण्डपमें अनेक राजकुमार पहलेसे बैठे थे। कुमार धर्मनाथके पहुँचनेपर सबकी दृष्टि इनकी ओर आकृष्ट हुई। अपनी सखियोंके साथ राजपुत्री शृंगारवती भी वहाँ आयी। सखीने क्रम-क्रमसे सब राजाओंका वर्णन किया परन्तु शृंगारवतीकी दृष्टि किसीपर स्थिर नहीं हुई। अन्तमें धर्मनाथकी रूपमाधुरीपर मुग्ध होकर शृंगारवतीने उनके गलेमें वरमाला डाल दी। धर्मनाथने कुण्डिनपुरकी सड़कोंपर जब प्रवेश किया तब वहाँकी नारियाँ कुतूहलसे प्रेरित हो अपने-अपने कार्य छोड़ झरोखोंमें आ डटीं। धर्मनाथका विधिपूर्वक विवाह हुआ। उसी समय पिताका पत्र पाकर धर्मनाथ कुबेर द्वारा निर्मित विमान द्वारा अपने घर आ गये और सेनाका सब भार सुषेण सेनापतिके अधीन कर आये।

सर्ग १८—रत्नपुरमें कुमार धर्मनाथका बहुत सत्कार हुआ। इसी बीच उनके पिता महासेन महाराज संसारसे विरक्त हो गये। उन्होंने युवराज धर्मनाथके लिए नीतिका उपदेश देकर उनका राज्याभिषेक कराया और स्वयं वनमें जाकर दीक्षा धारण कर ली। धर्मनाथने राज्यका अच्छी तरह पालन किया।

सर्ग १९—सुषेण सेनापति अपनी सेनाके साथ सकुशल वापस आ गया। एक दूतने अनेक राजाओंके साथ हुए सुषेणके युद्धका वर्णन धर्मनाथको सुनाया। जिसे सुनकर उन्होंने सुषेणकी बहुत प्रशंसा की।

सर्ग २०—दीर्घकाल तक राज्य करनेके बाद उल्कापात देखकर भगवान् धर्मनाथका मन संसारसे विरक्त हो गया जिससे समस्त राज्यको तृणके समान छोड़कर वे वनमें दीक्षित हो गये। केवलज्ञान प्राप्त होनेपर इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने समवसरणकी रचना की। उसके मध्यमें सिंहासनपर अन्तरिक्ष विराजमान श्रीधर्मनाथ भगवान्का अष्टप्रातिहार्यरूप दिव्य ऐश्वर्य सबको आकृष्ट कर रहा था।

सर्ग २१—भगवान् धर्मनाथने दिव्यध्वनिके द्वारा जैनसिद्धान्तका प्रतिपादन किया। अन्तमें सम्मेदशिखरसे मोक्ष प्राप्त किया।

कथाका आधार

धर्मशर्माभ्युदयकी कथाका आधार गुणभद्राचार्यका उत्तर पुराण जान पड़ता है। उसके ६१वें पर्वमें धर्मनाथ तीर्थंकरके पंच कल्याणात्मक वृत्तका वर्णन है परन्तु उसमें उनके माता पिताके नाम दूसरे

दिये हैं। धर्मशर्माभ्युदयमें पिताका नाम महासेन और माताका नाम सुव्रता बतलाया है जब कि उत्तर पुराणमें पिताका नाम भानु महाराज और माताका नाम सुप्रभा बतलाया है। उत्तरपुराणमें स्वयंवरका भी वर्णन नहीं है। धर्मशर्माभ्युदयके कविने काव्यकी शोभा या सजावटके लिए उसे कल्पना शिल्पिनिर्मित किया है। स्वयंवर यात्राके कारण काव्यके कितने ही अंगोंका अच्छा वर्णन बन पड़ा है। अन्तमें समवसरण-के मुनियोंकी जो संख्या दी है उसमें भी जहाँ कहीं भेद मालूम पड़ता है।

धर्मशर्माभ्युदयके कर्ता महाकवि हरिचन्द्र

धर्मशर्माभ्युदयके प्रत्येक सर्गके अन्तमें दिये हुए पुष्पिका वाक्यों तथा उन्नीसवें सर्गके ९८-९९ श्लोकोंके द्वारा रचित षोडशदल कमलबन्धसे सूचित 'हरिचन्द्रकृत धर्मजिनपतिचरितम्' पदसे एवं उसी सर्गके १०१-१०२ श्लोकोंसे निर्मित चक्रबन्धसे निर्गत 'आर्द्रदेवसुतेनेदं काव्यं धर्मजिनोदयम्। रचितं हरिचन्द्रेण परमं रसमन्दिरम्' इस उक्तिसे और उसी सर्गके १०३-१०४ श्लोकोंसे निर्मित चक्रबन्धसे निर्गत 'श्रीधर्मशर्माभ्युदयः हरिचन्द्रकाव्यम्' इस उल्लेखसे सिद्ध होता है कि इसके रचयिता महाकवि हरिचन्द्र हैं। यह हरिचन्द्र कौन हैं? किसके पुत्र हैं? इसका पता धर्मशर्माभ्युदयके अन्तमें प्रदत्त प्रशस्तिसे चलता है। यद्यपि यह प्रशस्ति सम्पादनके लिए प्राप्त सब प्रतियोंमें नहीं है। 'क' प्रति, जो कि संस्कृत टीकासे युक्त है उसमें भी यह प्रशस्ति नहीं है। इससे संशय होता है कि सम्भव है यह प्रशस्ति महाकवि हरिचन्द्रके द्वारा रचित न हो, पीछेसे किसीने जोड़ दी हो। किन्तु १५३५ संवत्की लिखी 'छ' प्रतिमें यह मिलती है इससे इतना तो फलित होता है कि यह प्रशस्ति यदि पीछेसे किसीने जोड़ी भी है तो १५३५ संवत्के पूर्व ही जोड़ी है। इसके सिवाय अपने पिता 'आर्द्रदेव' का उल्लेख ग्रन्थकर्ताने स्वयं ग्रन्थमें किया ही है। प्रशस्तिके श्लोकोंकी भाषा, महाकविकी भाषासे मिलती-जुलती है अतः बहुत कुछ सम्भव यही है कि यह ग्रन्थकर्ताकी ही रचना हो। प्रशस्ति ग्रन्थान्तमें द्रष्टव्य है।

उक्त प्रशस्तिसे विदित होता है कि नोमकवंशके कायस्थकुलमें आर्द्रदेव नामक एक श्रेष्ठ पुरुषरत्न थे। उनकी पत्नीका नाम रथ्या था। महाकवि हरिचन्द्र इन्हींके पुत्र थे। प्रशस्तिके पंचम श्लोकमें उपमालंकारके द्वारा इन्होंने अपने छोटे भाई लक्ष्मणका भी उल्लेख किया है। जिस प्रकार रामचन्द्रजी अपने भक्त और समर्थ छोटे भाई लक्ष्मणके द्वारा निर्व्याकुल हो समुद्रके पारको प्राप्त हुए थे उसी प्रकार महाकवि हरिचन्द्रजी भी अपने भक्त तथा समर्थ छोटे भाई लक्ष्मणके द्वारा गृहस्थीके भारसे निर्व्याकुल हो शास्त्ररूपी समुद्रके द्वितीय पारको प्राप्त हुए थे। कविने यह तो लिखा है कि गुरुके प्रसादसे उनकी वाणी निर्मल हो गयी थी पर वे गुरु कौन हैं यह नहीं लिखा। प्रतिपाद्य पदार्थोंके वर्णनसे विदित होता है कि यह दिगम्बर सम्प्रदायके अनुयायी थे।

हरिचन्द्र नामके अनेक विद्वान्

'कर्पूरमंजरी' नाटिकामें महाकवि राजशेखरने प्रथम यवनिकाके अनन्तर एक जगह विदूषकके द्वारा[1] हरिचन्द्र कविका उल्लेख किया है। एक हरिचन्द्रका उल्लेख बाणभट्टने 'श्रीहर्षचरित'[2] में किया है। एक हरिचन्द्र विश्वप्रकाश कोषके कर्ता महेश्वरके पूर्वज चरक संहिताके टीकाकार साहसांकनृपतिके प्रधान वैद्य भी थे। पर इन सबका धर्मशर्माभ्युदयके कर्ता हरिचन्द्रके साथ कोई एकीभाव सिद्ध नहीं होता। क्योंकि धर्मशर्माभ्युदयके २१वें सर्गमें जैनसिद्धान्तका जो वर्णन है वह यशस्तिलकचम्पू और चन्द्रप्रभचरितसे

---

१. विदूषकः (ऋज्वेव तत्किं न भण्यते, अस्माकं चेटिका हरिचन्द्र-नंदिचन्द्र-कोटिशहाल-प्रभृतीनामपि सुकविरिति)

२. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥

प्रभावित है अतः उसके कर्ता आचार्य सोमदेव और आचार्य वीरनन्दीसे परवर्ती हैं पूर्ववर्ती नहीं। जब कि 'कर्पूरमंजरी' के कर्ता राजशेखर और 'श्रीहर्षचरित' के कर्ता बाणभट्ट पूर्ववर्ती हैं। 'जीवन्धरचम्पू' की प्रस्तावनामें धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धरचम्पूके तुलनात्मक उद्धरण देकर मैंने यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि धर्मशर्माभ्युदयके कर्ता हरिचन्द्र ही 'जीवन्धरचम्पू' के कर्ता हैं। जीवन्धरचम्पूका कथानक जहाँ वादीभसिंहसूरिकी क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिसे लिया गया है वहाँ गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराणसे भी वह प्रभावित है अतः हरिचन्द्र गुणभद्रसे परवर्ती हैं। साथ ही इसमें श्रावकके जो आठ मूल गुणोंका वर्णन किया गया है वह यशस्तिलकचम्पूके रचयिता सोमदेवके मतानुसार है इसलिए सोमदेवसे परवर्ती हैं। सोमदेवने यशस्तिलकचम्पूकी रचना १०१६ वि० सं० में पूर्ण की है। धर्मशर्माभ्युदयकी एक प्रति पाटनके संघवी पाड़ाके पुस्तक भंडारमें वि० सं० १२८७ की लिखी विद्यमान है इससे यह निश्चय होता है कि महाकवि हरिचन्द्र उक्त संवत्से पूर्ववर्ती हैं। इस तरह पूर्व और पर अवधियोंपर विचार करनेसे जान पड़ता है कि हरिचन्द्र ११-१२ शताब्दीके विद्वान् हैं। धर्मशर्माभ्युदयपर कालिदासके रघुवंश, भारविके किरातार्जुनीय और माघके शिशुपाल वधकी शैलीका प्रभाव है, इसका आगे विचार किया जावेगा।

महाकवि हरिचन्द्रकी रचनाएँ

महाकवि हरिचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थोंमें धर्मशर्माभ्युदय उनका निर्भ्रान्त ग्रन्थ है। 'जीवन्धरचम्पू'के विषयमें आदरणीय स्व० प्रेमीजीका खयाल था कि यह किसी दूसरे कविकी रचना है पर दोनोंके[1] तुलनात्मक अध्ययनसे सिद्ध होता है कि दोनों ग्रन्थोंके रचयिता एक ही हरिचन्द्र हैं। आंग्ल विद्वान् डॉ० कोथने भी हरिचन्द्रको ही जीवन्धरचम्पूका कर्ता माना है। धर्मशर्माभ्युदय पाठकोंके हाथमें है और जीवन्धरचम्पू भी प्रकाशित हो चुका है। वास्तवमें जीवन्धरचम्पूकी रचनामें कविने बड़ा कौशल दिखाया है। अलंकारकी पुट और कोमलकान्तपदावली बरबस पाठकके मनको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

धर्मशर्माभ्युदयका काव्य-वैभव

पण्डितराज जगन्नाथने काव्यके प्राचीन-प्राचीनतर लक्षणोंका समन्वय करते हुए अपने रसगङ्गाधरमें काव्यका लक्षण लिखा है—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—रमणीय अर्थका प्रतिपादन करनेवाला शब्दसमूह काव्य है। वह रमणीयता चाहे अलंकारसे प्रकट हो, चाहे अभिधा, लक्षणा या व्यंजना से। मात्र सुन्दर शब्दोंसे या मात्र सुन्दर अर्थसे काव्य, काव्य नहीं कहलाता, किन्तु दोनोंके संयोगसे ही काव्य, काव्य कहलाता है। महाकवि हरिचन्द्रने धर्मशर्माभ्युदयके अन्दर शब्द और अर्थ दोनोंको बड़ी सुन्दरताके साथ सँजोया है। वे लिखते हैं—

'भले ही सुन्दर अर्थ कविके हृदयमें विद्यमान रहे परन्तु योग्य शब्दोंके बिना वह रचनामें चतुर नहीं हो सकता। जैसे कि कुत्ताको गहरेसे गहरे पानीमें भी खड़ा कर दिया जावे पर जब भी वह पानी पीवेगा तब जीभसे चाँट-चाँट कर ही पीवेगा। अन्य प्रकारसे उसे पीना आता ही नहीं है।' (१।१४)

'इसी प्रकार सुन्दर अर्थसे रहित शब्दावली विद्वानोंके मनको आनन्दित नहीं कर सकती। जैसे कि थूवरसे झरती हुई दूधकी धारा नयनाभिराम होनेपर भी मनुष्योंके लिए रुचिकर नहीं होती। (१।१५)

'शब्द और अर्थके सन्दर्भसे परिपूर्ण वाणी ही वास्तवमें वाणी है और वह बड़े पुण्यसे किसी विरले कविको ही प्राप्त होती है। देखो न, चन्द्रमाको छोड़ अन्य किसीकी किरण अन्धकारको नष्ट करने वाली और अमृतको झराने वाली नहीं है। सूर्यकी किरणमें अन्धकारको नष्ट करनेकी शक्ति है पर भीषण आतापका भी

१. देखो, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीसे प्रकाशित जीवन्धरचम्पूकी प्रस्तावना पृष्ठ ३७–४० तक।

कारण है और मणिकी किरणें यद्यपि आतापका कारण नहीं हैं परन्तु सर्वत्र व्याप्त अन्धकारको दूर हटानेकी क्षमता उनमें कहाँ है ? यह उभयविध क्षमता तो चन्द्रकिरणमें ही उपलब्ध होती है।' (१।१६)

उक्त सन्दर्भोंका तात्पर्य यही है कि धर्मशर्माभ्युदयमें शब्द और अर्थ, दोनोंका बड़ा सुन्दर सन्दर्भ बन पड़ा है।

उपमालंकारकी अपेक्षा उत्प्रेक्षालंकार कविकी प्रतिभाको अत्यधिक विकसित करता है। हम देखते हैं कि धर्मशर्माभ्युदयमें उत्प्रेक्षालंकारकी धारा महानदीके प्रवाहको तरह प्रारम्भसे लेकर अन्त तक अजस्र गतिसे प्रवाहित हुई है। उपमा, रूपक, विरोधाभास, श्लेष, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास और दीपक आदि अलंकार भी पद-पदपर इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। उदाहरणके लिए देखें—

श्लेष (१।१०)

लब्धात्मलाभा बहुधान्यवृद्ध्यै निर्मूलयन्ती घननीरसत्वम्।
सा मेघसंघातमपेतपङ्का शरत्सतां संसदपि क्षिणोतु॥

जिसने अनेक प्रकारके अन्नकी वृद्धिके लिए स्वरूप लाभ किया है, जो मेघोंमें जलके सद्भावको दूर कर रही है तथा जिसने कीचड़को दूर कर दिया है ऐसो शरद् ऋतु मेघोंके समूहको नष्ट करे और जिसने अनेक प्रकारसे दूसरोंकी वृद्धिके लिए जन्म धारण किया है, जो अत्यधिक नीरसपनेको दूर कर रही है तथा जिसने पापको नष्ट कर दिया है ऐसी सज्जनोंकी सभा भी मेरे पापसमूहको नष्ट करे।

उत्प्रेक्षा (१।१६३)

संक्रान्तबिम्बः स्रवदिन्दुकान्ते नृपालये प्राहरिकैः परीते।
हृता नवश्रीः सुदृशां चकास्ति काराधृतो यत्र रुदन्निवेन्दुः॥

जिसमें चन्द्रकान्त मणिसे पानी झर रहा था तथा जो पहरेदारोंसे घिरा हुआ था ऐसे राजमहलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा ऐसा जान पड़ता है मानो स्त्रियोंके मुखकी शोभा चुरानेके कारण उसे जेलमें डाल दिया हो और इसीलिए मानो रो रहा हो।

और भी (२।३९)

प्रयाणलीलाजितराजहंसकं विशुद्धपार्ष्णिं विजिगीषुवत्स्थितम्।
तदंह्रिमालोक्य न कोषदण्डभाग्भियेव पद्मं जलदुर्गमत्यजत्॥

जिसने अपनी सुन्दर चालसे राजहंस पक्षीको जीत लिया है। (पक्षमें जिसने अपने प्रयाणमात्रकी लीलासे बड़े-बड़े राजाओंको जीत लिया है) जिसकी एड़ी निर्दोष है (पक्षमें जिसकी रिजर्वसेना छलरहित-निर्दोष है) तथा जो किसी विजयाभिलाषी राजाके समान स्थित है ऐसे कमलने कुड्मल और दण्डसे युक्त होनेपर भी (पक्षमें खजाना और सेनासे सहित होने पर भी) उस रानीके पैरको देखकर भयसे ही मानो जलरूपी किलेको नहीं छोड़ा था।

रूपक और उपमाका संमिश्रण (२।५९)

अनिन्द्यदन्तद्युतिफेनिलाधरप्रवालशालिन्युरुलोचनोत्पले।
तदास्यलावण्यसुधोदधौ बभुस्तरङ्गभङ्गा इव भङ्गुरालकाः॥

उत्तम दाँतोंकी कान्तिसे फेनयुक्त, अधर रूपी प्रवालसे सुशोभित और नेत्र रूपी बड़े-बड़े नीलकमलोंसे सुशोभित उसके मुखके सौन्दर्यरूपी अमृतके समुद्रमें उसके घुँघुराले बाल लहरोंकी सन्ततिके समान सुशोभित हो रहे थे।

श्लेषोपमा (४।२३)

स्वस्थो धृताच्छद्मगुरूपदेशः श्रीदानवारातिविराजमानः।
यस्यां करोल्लासितवज्रमुद्रः पौरो जनो जिष्णुरिवावभाति॥

जिस नगरीमें नगरवासी लोग इन्द्रके समान शोभायमान हैं क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र स्वस्थ है—स्वर्गमें स्थित है उसी प्रकार नगरवासी लोग भी स्वस्थ हैं—नीरोग हैं, जिस प्रकार इन्द्र छलरहित गुरु—बृहस्पतिके उपदेशको धारण करता है उसी प्रकार नगरनिवासी लोग भी छलरहित गुरुजनोंके उपदेशको धारण करते हैं, जिस प्रकार इन्द्र श्रीदानवारातिविराजमान—लक्ष्मीसम्पन्न उपेन्द्रसे सुशोभित रहता है उसी प्रकार नगरनिवासी लोग भी श्रीदानवारा + अतिविराजमान—लक्ष्मीके दानजलसे अत्यन्त शोभायमान हैं और इन्द्र जिस प्रकार करोल्लासितवज्रमुद्र—हाथमें वज्रायुधको धारण करता है उसी प्रकार नगरनिवासी लोग भी करोल्लासितवज्रमुद्र—किरणोंसे सुशोभित हीरेको अंगूठियोंसे सहित हैं।

अर्थान्तरन्यास (७।५३)

स वारितो मत्तमरुद्द्विपौघः प्रसह्य कामश्रमशान्तिमिच्छन् ।
रजस्वला अप्यभजत्स्रवन्ती रहो मदान्धस्य कुतो विवेकः ॥

जिस प्रकार कोई कामोन्मत्त मनुष्य रोके जानेपर भी बलात्कारसे कामश्रमकी शान्तिको चाहता हुआ रजस्वला स्त्रियोंका भी उपभोग कर बैठता है उसी प्रकार देवोंके मदोन्मत्त हाथियोंका समूह वारितः—पानीसे अपने अत्यधिक श्रमकी शान्तिको चाहता हुआ जबर्दस्ती रजस्वला—धूलिसे व्याप्त नदियोंका उपभोग करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि मन्दान्ध मनुष्यको विवेक कैसे हो सकता है ?

परिसंख्या (२।३०)

निशासु नूनं मलिनाम्बरस्थितिः प्रगल्भकान्तासुरते द्विजक्षतिः ।
यदि क्विपः सर्वविनाशसंस्तवः प्रमाणशास्त्रे परमोहसंभवः ॥

यदि मलिनाम्बर स्थिति—मलिन आकाशको स्थिति थी तो रात्रियोंमें ही थी,- वहाँके मनुष्योंमें मलिनाम्बर स्थिति—मैले वस्त्रोंकी स्थिति नहीं थी। द्विजक्षति—दाँतोंके घाव यदि थे तो प्रौढ स्त्रीके संभोगमें ही थे, वहाँके मनुष्योंमें द्विज-क्षति—ब्राह्मणादिका घात नहीं था। यदि सर्वविनाशका अवसर आता था तो व्याकरणमें प्रसिद्ध क्विप् प्रत्ययमें ही आता था (क्योंकि उसीमें सब वर्णोंका लोप होता है), वहाँके मनुष्योंमें किसीका सर्वनाश नहीं होता था। और परमोह सम्भव—परम + ऊह उत्कृष्टव्याप्तिज्ञान प्रमाणशास्त्र—न्यायशास्त्रमें ही था वहाँके मनुष्योंमें परमोहसंभव—दूसरोंको मोह उत्पन्न करना अथवा अत्यधिक मोहका उत्पन्न होना नहीं था।

विरोधाभास (२।३३)

महानदीनोऽप्यजडाशयो जगत्यनष्टसिद्धिः परमेश्वरोऽपि सन् ।
बभूव राजापि निकारकारणं विभावरीणामयमद्भुतोदयः ॥

यह राजा संसारमें महानदीन—महासागर होकर भी अजडाशय—जलसे रहित था, परमेश्वर होता हुआ भी अणिमा आदि आठ सिद्धियोंसे रहित था और राजा—चन्द्रमा होकर भी विभावरी—रात्रियोंके दुःखका कारण था। परिहार पक्षमें—वह राजा महान्—अत्यन्त उदार अदीन—दीनतासे रहित तथा प्रबुद्ध आशयवाला था। अत्यन्त सम्पन्न होता हुआ अनष्ट सिद्धि था—उसकी सिद्धियाँ कभी नष्ट नहीं होती थीं और राजा—नृपति होकर भी वह अरीणां विभौ—शत्रुराजाओंके दुःखका कारण था। इस तरह वह अद्भुत उदयसे सहित था।

और भी (३।५१)

चित्रमेतज्जगन्मित्रे नेत्रमैत्रीं गते त्वयि ।
यन्मे जडाशयस्यापि पङ्कजातं निमीलति ॥

यह बड़ा आश्चर्य है कि आप जगत् के मित्र सूर्य हैं और मैं जडाशय—तालाब हूँ, आप मेरे नयन गोचर हो रहे हैं फिर भी मेरा पङ्कजात—कमल निमीलित हो रहा है। पक्षमें जगत्के मित्रस्वरूप आपके दृष्टिगोचर होते ही मुझ मूर्खका भी पापसमूह नष्ट हो रहा है।

दीपक (२।७३)

नभो दिनेशेन नयेन विक्रमो वनं मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना ।
प्रतापलक्ष्मीबलकान्तिशालिना विना न पुत्रेण च भाति नः कुलम् ॥

सूर्यके बिना आकाश, नयके बिना पराक्रम, सिंहके बिना वन, चन्द्रमाके बिना रात्रि और प्रताप, लक्ष्मी, बल तथा कान्तिसे सुशोभित पुत्रके बिना हमारा कुल सुशोभित नहीं होता ।

धर्मशर्माभ्युदयके कौतुकावह स्थल

धर्मशर्माभ्युदय अनेक कौतुकावह स्थलोंसे परिपूर्ण है । महाकाव्यके लक्षणमें लिखा है कि कहीं कहीं प्रारम्भमें सज्जन प्रशंसा और दुर्जनकी निन्दा की जाती है । इस लक्षणको दृष्टिगत रखते हुए प्रायः सभी गद्यपद्य काव्योंमें सज्जन प्रशंसा और दुर्जननिन्दाका प्रकरण रखा गया है परन्तु धर्मशर्माभ्युदयका यह प्रकरण (प्रथमसर्ग १८-३१ संस्कृत साहित्यमें अपनी शानी नहीं रखता । गृहस्थ दम्पतीके हृदयमें पुत्रकी स्वाभाविक स्पृहा रहती है उसके बिना उसका गार्हस्थ्य अपूर्ण रहता है । रघुवंशमें कालिदासने राजा दिलीपके पुत्राभाव सम्बन्धी दुःखका वर्णन किया है । बाणभट्टने कादम्बरीमें इसका विस्तृत और मार्मिक उल्लेख किया है और चन्द्रप्रभचरितमें महाकवि वीरनन्दीने भी इसकी चर्चा की है पर धर्मशर्माभ्युदयके द्वितीय सर्गके अन्तमें (६८–७४) महाकवि हरिचन्द्रने सुव्रतारानीके पुत्र न होनेके कारण राजा महासेनके मुखसे जो दुःख प्रकट किया है वह पढ़ते ही हृदयमें घर कर लेता है । उदाहरणके लिए उसके दो श्लोक देखिए—

सहस्रधा सत्यपि गोत्रजे जने सुतं विना कस्य मनः प्रसीदति ।
अपोद्धताराग्रहगर्भितं भवेद्दते विधोर्ध्यामलमेव दिङ्मुखम् ॥ २।७० ॥
न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटाः ।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥ २।७१ ॥

तृतीय सर्गका वर्णन कविके वैदुष्यको वर्णन करनेमें अपनी शानी नहीं रखता । इस प्रकरणके निम्नाङ्कित श्लोक देखिए और कविके श्लेषविषयक वैदुष्यकी श्लाघा कीजिए—

कान्तारतरवो नैते कामोन्मादकृतः परम् ।
अभवन्नः प्रीतये सोऽप्युद्यन्मधुपराशयः ॥ २३ ॥
अनेकविटपस्पृष्टपयोधरतटा स्वयम् ।
वदत्युद्यानमालेयमकुलीनत्वमात्मनः ॥ २४ ॥
उल्लसत्केसरो रक्तपलाशः कुञ्जराजितः ।
कण्ठीरव इवारामः कं न व्याकुलयत्यसौ ॥ २५ ॥
एताः प्रवालहारिण्यो मुदा भ्रमरसंगताः ।
मरुन्नर्तकतालेन नृत्यन्तीव वने लताः ॥ ३४ ॥

चतुर्थ सर्ग (४१-४४) में चन्द्रग्रहणका जो कौतुकावह वर्णन महाकवि हरिचन्द्रने किया है वह अन्यत्र नहीं मिलता । स्वर्गीय पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णीको यह वर्णन बड़ा प्रिय था । वे चाहे जब बड़े हर्षसे निम्नांकित श्लोकोंको सुनाया करते थे—

अथैकदा व्योम्नि निरभ्रगर्भे क्षणक्षपायां क्षणदाधिनाथम् ।
अनाथनारीव्यथयैनसेव स राहुणा प्रेक्षत गृह्यमाणम् ॥४१॥
किं सीधुना स्फाटिकपानपात्रमिदं रजन्याः परिपूर्णमाणम् ।
चलद्द्विरेफोच्चयचुम्ब्यमानमाकाशगङ्गास्फुटकैरवं वा ॥४२॥

ऐरावणस्याथ करात्कथंचिच्च्युतः सपङ्को बिसकन्द एषः ।
किं व्योम्नि नीलोपलदर्पणाभे सश्मश्रु वक्त्रं प्रतिबिम्बितं मे ॥४३॥
क्षणं वितर्क्येति स निश्चिकाय चन्द्रोपरागोऽयमिति क्षितीशः ।
दृङ्मीलनाविष्कृतचित्तखेदमचिन्तयच्चैवमुदारचेताः ॥४४॥

चन्द्रग्रहणका निमित्त पाकर राजाका चित्त संसार, शरीर और भोगोंसे निर्विण्ण हो जाता है। उसी दशामें वह वृद्धावस्थाका भी चिन्तन करता है। वृद्धावस्थामें मनुष्यके दांत झड़ जाते हैं, बाल सफ़ेद हो जाते हैं, शरीरमें सिकुड़नें पड़ जाती हैं और कमर झुक जाती है। इन सबका वर्णन महाकविके शब्दोंमें देखिए कितना सुन्दर बन पड़ा है—

अन्याङ्गनासंगमलालसानां जरा कृतेर्ष्येव कुतोऽप्युपेत्य ।
आकृष्य केशेषु करिष्यते नः पदप्रहारैरिव दन्तभङ्गम् ॥५५॥
क्रान्ते तवाङ्गे वलिभिः समन्तान्नश्यत्यनङ्गः किमसावितीव ।
वृद्धस्य कर्णान्तिगता जरेयं हसत्युदञ्चत्पलितच्छलेन ॥५६॥
आकर्णपूर्णं कुटिलालकोर्मि रराज लावण्यसरो यदङ्गे ।
वलिच्छलात्सारणिधोरणीभिः प्रवाह्यते तज्जरसा नरस्य ॥५८॥
असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेर्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥५९॥ (चतुर्थ सर्ग)

चन्द्रप्रभचरितके द्वितीय सर्गका विस्तृत न्यायवर्णन काव्यके अनुरूप न होकर एक स्वतन्त्र दर्शन शास्त्र सा हो गया है परन्तु धर्मशर्माभ्युदयके चतुर्थ सर्गमें (६२-७६) जो चार्वाक सिद्धान्तका सुमन्त्र मन्त्रीके द्वारा मण्डन और राजा दशरथके द्वारा खण्डन किया गया है वह काव्यकी अनुरूपताको नहीं छोड़ सका है। सप्तम सर्गका (२०-३८) सुमेरु वर्णन कविके अनुपम पाण्डित्यको सूचित करता है। इस प्रकरणके निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

मरुद्ध्वनद्वंशमनेकतालं रसालसंभावितमन्मथैलम् ।
धृतस्मरातङ्कमिवाश्रयन्तं वनं च गानं च सुराङ्गनानाम् ॥३०॥
विशालदन्तं घनदानवारिं प्रसारितोद्दामकराग्रदण्डम् ।
उपेयुषो दिग्गजपुङ्गवस्य पुरो दधानं प्रतिमल्ललीलाम् ॥३२॥
अधिश्रियं नीरदमाश्रयन्तीं नवान्नुदन्तीमतिनिष्कलाभान् ।
स्वनैर्भुजङ्गाङ्छिखिनां दधानं प्रगल्भवेश्यामिव चन्दनालीम् ॥३३॥

यहाँ देवोंके वाहनोंके रूपमें आगत हाथियों, घोड़ों तथा बैलों आदिका स्वभावोक्तिमय वर्णन माघकी शैलीका स्मरण कराता है। अष्टम सर्ग व्यापी क्षीरसमुद्र एवं जन्माभिषेकका वर्णन मालिनी छन्दमें बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है।

नवम सर्गका निम्नांकित पुत्रस्पर्शन वर्णन

पुत्रस्य तस्याङ्गसमागमक्षणे निमीलयन्नेत्रयुगं नृपो बभौ ।
अन्तः कियद्गाढनिपीडनाद्वपुः प्रविष्टमस्येति निरूपयन्निव ॥१०॥
उत्सङ्गमारोप्य तमङ्गजं नृपः परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ ।
अन्तर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयोः संघटयन्निव द्वयम् ॥११॥

कालिदासके निम्नांकित वर्णनसे कहीं अधिक सुन्दर जान पड़ता है।

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२६॥ (रघुवंश तृतीय सर्ग)

युवराज धर्मनाथ शृंगारवतीके स्वयंवरमें सम्मिलित होनेके लिए दक्षिण दिशाकी ओर प्रयाण कर रहे हैं उस समयका श्लेषमय वर्णन देखिए—

तां नेत्रपेयां विनिशम्य सुन्दरीं सुधामलंकामयमान उत्सुकः ।
क्रामन्नपाचीं हरिसेनया वृतो बभौ स काकुत्स्थ इवास्तदूषणः ॥९।५१॥

ऐसा जान पड़ता है कि 'सुधामलं कामयमान' की मनोज्ञ सुरभि नैषधके 'चेतो नलं कामयते मदीयं' तक जा पहुँची है। नवम सर्गका (६६-७७) गंगावर्णन साहित्यिक दृष्टिसे बहुत ही उच्चकोटिका है। दशम सर्गका नाना छन्दोंमें रचा हुआ विन्ध्यगिरिका वर्णन माघके चतुर्थ सर्गमें व्याप्त नानावृत्तमय रैवतकगिरिके वर्णनका स्मरण कराता है। दोनों ही जगह यमकालंकारको अनुपम छटा छिटकी हुई है। माघमें 'दारुक' के द्वारा और इसमें 'प्रभाकर'के द्वारा पर्वतका वर्णन कराया गया है।

कालिदासने रघुवंशके नवम सर्गमें चतुर्थ पाद सम्बन्धी यमकके साथ द्रुतविलम्बित छन्दका अवतार कर काव्यसुधाकी जो मन्दाकिनी प्रवाहित की है उसका अनुसरण माघके षष्ठ सर्ग तथा धर्मशर्माभ्युदयके एकादश सर्ग सम्बन्धी ऋतुवर्णनमें भी किया गया है। जिसप्रकार नाकपर पहने हुए मोतीसे किसी शुभ्रवदनाका मुखकमल खिल उठता है उसीप्रकार इस एक पादव्यापी दो पदोंके यमकसे द्रुतविलम्बित छन्द खिल उठा है।

बारहवें सर्गकी वनक्रीडा छन्द और अलंकारकी अनुकूलताके कारण माघकी वनक्रीडाकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर बन पड़ी है। समग्र त्रयोदश सर्गमें व्याप्त जलक्रीड़ाने भारविकी किरातार्जुनीयके अष्टम सर्गमें व्याप्त जलक्रीडाको निष्प्रभ कर दिया है। चतुर्दश सर्गका सायंकाल, रात्रि तथा चन्द्रोदयका वर्णन पाठकको आनन्दविभोर कर देता है। चन्द्रोदय होनेपर कमलोंकी लक्ष्मी चन्द्रमाके पास चली गयी इसका वर्णन देखिए कितना मनोरम है—

तावत्सती स्त्री ध्रुवमन्यपुंसो हस्ताग्रसंस्पर्शसहा न यावत् ।
स्पृष्टा कराग्रैः कमला तथाहि त्यक्तारविन्दाभिससार चन्द्रम् ॥१४।५२॥

पंचदश सर्गका मधुपान काव्यकी दृष्टिसे बहुत ही उच्चकोटिका है। मदिराकी नशामें जिसकी आवाज लड़खड़ा रही है ऐसी एक स्त्रीका वर्णन देखिए कितना हृदयहारी है—

त्यज्यतां पिपिपिपिप्रिय पात्रं दयितां मुमुमुखासव एव ।
इत्यमन्थरपदस्खलितोक्तिः प्रेयसी मुदमदाद्दयितस्य ॥२२॥

षोडश सर्गका प्रातःकालका वर्णन माघके एकादश सर्गका स्मरण कराता है। माघके प्रातःकालके वर्णनमें मालिनी छन्दने यद्यपि अधिक शोभा ला दी है पर धर्मशर्माभ्युदयकी कल्पनाएँ उसकी स्वभावोक्तियों की अपेक्षा अधिक सुन्दर जान पड़ती हैं। देखिए, चन्द्रमा अस्तोन्मुख है, पूर्वदिशामें अरुणकी लाली छा रही है और दुन्दुभिका शब्द हो रहा है। इसका वर्णन धर्मशर्माभ्युदयमें कितना हृदयहारी हुआ है—

राजानं जगति निरस्य सूरसूतेनाक्रान्ते प्रसरति दुन्दुभेरिदानीम् ।
यामिन्याः प्रियतमविप्रयोगदुःखैर्हृत्सन्धेः स्फुटत इवोद्भटः प्रणादः ॥१६।८॥

इसी सोलहवें सर्गका सेना प्रस्थान माघके द्वादश सर्गमें वर्णित श्रीकृष्णकी सेनाके प्रयाणका स्मरण कराता है। सप्तदश सर्गमें शृंगारवतीके स्वयंवरका जो वर्णन है वह कालिदासके इन्दुमतीके स्वयंवर वर्णनको पीछे छोड़ देता है। स्वयंवर सभामें आते ही शृंगारवती राजाओंके मनमें प्रविष्ट हो गयी इसका श्लेषात्मक वर्णन देखिए कितना कौतुकावह है ?

पयोधरश्रीसमये प्रसर्पद्धारावलीशालिनि संप्रवृत्ते ।
सा राजहंसीव विशुद्धपक्षा महीभृतां मानसमाविवेश' ॥१७।१६॥

स्वयंवरके बाद शृंगारवतीके साथ राजपथमें जाते हुए धर्मनाथको देखनेके लिए स्त्रियोंका कौतूहल यथार्थमें कौतूहलकी चीज बन गया है। धर्मशर्माभ्युदयके इस वर्णनने कुमारसम्भव और रघुवंशके इस वर्णन-को पीछे छोड़ दिया है। विवाह दीक्षाके बाद धर्मनाथ अपनी दुलहिन शृंगारवतीके साथ चौकके बीच

सुवर्णसिंहासनको अलंकृत कर रहे थे उसी समय उन्हें पिताका एक पत्र मिला, जिसे पढ़कर वे एकदम कुबेर निर्मित विमानपर आरूढ़ हो रत्नपुरकी ओर चल देते हैं। यहाँ ऐसा लगता है जैसे कविने रसका अकाण्ड-च्छेद कर दिया हो। पाठकके हृदयमें बहती हुई रसकी धारा असमयमें ही शुष्क होती जान पड़ती है। स्वयंवरके बाद होनेवाले युद्धसे अछूता रखनेके लिए ही जान पड़ता है कविने धर्मनाथको सीधा विमान द्वारा रत्नपुर भेजा है और युद्धका दायित्व सुषेण सेनापतिके ऊपर निर्भर किया है।

अष्टादश सर्गमें (६-४३) संसारकी माया ममतासे विरक्त हो राजा महासेन दीक्षा लेनेके लिए कृत संकल्प हैं। वे युवराज धर्मनाथको राज्याभिषेकके पूर्व जो उपदेश देते हैं वह कादम्बरीके शुकनासोपदेश और गद्यचिन्तामणिके आर्यनन्द्युपदेशका संक्षिप्त संस्करण सा जान पड़ता है। उन्होंने युवराज धर्मनाथके लिए गुणार्जनका जो उपदेश दिया है उसे देखिए, कविने श्लेषोपमाके द्वारा कितना आकर्षक बना दिया है—

भृशं गुणानर्जय सद्गुणो जनैः क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषणः प्रयाति वैलक्ष्यमिह क्षणादपि ॥१८।१॥

उन्नीसवें सर्गमें युद्धवर्णनके लिए कविने जो छन्द और चित्रालंकार चुना है वह रसके अनुकूल नहीं है। यमक और चित्रालंकार कविके काव्यकौशलको परखनेके लिए कसौटीका काम देते हैं। महाकवि हरिचन्द्रका कौशल उनपर खरा उतरा है पर वीररसकी धारा उससे अवरुद्ध हो गयी है। यद्यपि भारवि और माघने भी इस वर्णनके लिए अनुष्टुप् छन्द ही चुना है तथापि आगे-पीछेके सर्गोंमें अन्य छन्दोंके द्वारा वीररसका वर्णन होनेसे उसके प्रवाहमें न्यूनता नहीं आ पायी है परन्तु धर्मशर्माभ्युदयमें वीररसके लिए वही एक सर्ग होनेसे अनुकूल छन्दके अभावमें उसकी धारा पूर्ण विकसित नहीं हो सकी है।

बीसवें सर्गमें कविने धर्मनाथके राज्य, वैराग्य, तपश्चरण और समवसरणका जो वर्णन किया है वह यद्यपि अपने-आपमें परिपूर्ण है तथापि ऐसा लगता है कि कवि, काव्यके इस प्रमुख कथानकको जल्दी निपटाना चाहता है। इक्कीसवें सर्गका उपदेश विस्तृत और अनुरूप छन्दसे युक्त है। इसप्रकार धर्मशर्माभ्युदय, काव्यके वैभवसे युक्त उच्चकोटिका महाकाव्य है।

संस्कृतटीका

धर्मशर्माभ्युदयकी यह 'सन्देहध्वान्तदीपिका'[1] नामक संस्कृत टीका है जो मण्डलाचार्य ललितकीर्तिके शिष्य पं० यशस्कीर्तिके द्वारा रचित है। टीका यद्यपि संक्षिप्त है तो भी व्याख्येय अंशको उसमें कहीं छोड़ा नहीं गया है। संस्कृत काव्योंकी टीकामें मल्लिनाथकी पद्धतिका विशेष समादर है क्योंकि उसमें अध्येताओं के बुद्धि-विकासपर दृष्टि रखते हुए उन्होंने कोष, विग्रह, समास, व्याकरण आदि सभी उपयोगी विषयोंका स्पर्श किया है परन्तु इस संस्कृतटीकामें मात्र ग्रन्थका भाव प्रदर्शित करनेका अभिप्राय रखा गया है। इस पद्धतिमें संक्षेप होता है पर अध्येताकी आवश्यकता पूर्ण नहीं होती। धर्मशर्माभ्युदय जिस उच्चकोटिका काव्य है उसकी संस्कृतटीका भी उसी कोटिकी होती तो अच्छा होता। मैं इसकी संस्कृत टीका स्वयं लिखना चाहता था और १-६ सर्गकी लिख भी चुका था परन्तु आदरणीय डॉ० हीरालालजी की यह उक्ति मेरे हृदयमें घर कर गयी कि अपनेसे पूर्ववर्ती विद्वानोंके प्रयासको आगे बढ़ाना—प्रकाशमें लाना परवर्ती विद्वान्का कर्तव्य है। फलतः मैंने नवीन टीका निर्माणकी योजना स्थगित कर दी और यह प्राचीन टीका सम्पादित कर प्रकाशमें लानेका उपक्रम किया। इतना अवश्य किया है कि कहीं-कहीं द्व्यर्थक श्लोकोंको टिप्पण तथा संक्षिप्त सुगम व्याख्यासे स्पष्ट करनेका प्रयास किया है। उन्नीसवें सर्गके कुछ श्लोकोंको संस्कृत टीकाकारने

१. सन्देहध्वान्तदीपिकाके सिवाय इसपर देवर कविकी एक टीका और है जिसकी प्रतियाँ मूडबिद्री-के जैनमठमें विद्यमान हैं। इन टीकाओंके अतिरिक्त एक विषम पाद टिप्पणी भी है। इन्हें मैं देख नहीं सका हूँ।

बीच-बीचमें छोड़ दिया है सम्भव है कि उन्हें सरल समझ कर छोड़ दिया हो परन्तु इससे व्याख्याकी धारा खण्डित सी हो गयी है। जहाँ 'स्पष्टोऽयम्' लिखकर छोड़ दिया है वहाँ तो कोई बात नहीं है परन्तु जहाँ दो-चार श्लोकोंको एक साथ अवतीर्ण कर एककी व्याख्या कर बाकीको छोड़ दिया है वहाँ व्याख्या खण्डित दिखती है। ऐसे स्थलोंपर मैंने [ ] इस कोष्ठकके भीतर स्वरचित पंक्तियाँ देकर व्याख्याकी कड़ी जोड़नेका प्रयत्न किया है और उसकी सूचना टिप्पणमें दे दी है। इस संस्कृतटीकासे सारभूत अंशको लेकर किसीने टिप्पण तैयार किया है जो निर्णयसागर प्रेस बम्बईकी काव्यमालामें मुद्रित धर्मशर्माभ्युदय मूलके साथ दिया गया है। इस संस्करणमें अविरल संस्कृतटीका साथमें रहनेसे टिप्पणकी सार्थकता नहीं रह गयी थी इसलिए उसे नहीं दिया है।

संस्कृतटीकाकार यशस्कीर्ति कब हुए इसका मैं कुछ निर्णय नहीं कर सका परन्तु पुष्पिका वाक्योंमें इन्होंने अपने-आपको मण्डलाचार्य ललितकीर्तिका शिष्य घोषित किया है। एक भट्टारक ललितकीर्ति वह हैं जिन्होंने आदिपुराण और उत्तरपुराणपर संस्कृत टीका लिखी है वे काष्ठासंघस्थित माथुर गच्छ और पुष्करगणके विद्वान् तथा जगत्कीर्तिके शिष्य थे। इन्होंने आदिपुराणकी टीका संवत् १८७४ के मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा रविवारके दिन समाप्त की है तथा उत्तर पुराणकी टीका संवत् १८८८ में पूर्ण की है। संस्कृतटीकाकार यदि इन्हीं ललितकीर्तिके शिष्य हैं तो उनका समय भी यही ठहरता है। परन्तु सम्पादनके लिए प्राप्त प्रतियोंमें श्रीऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवन बम्बईसे जो संस्कृतटीका सहित प्रति प्राप्त हुई है और जिसका सांकेतिक नाम 'क' दिया गया है उसका लेखन काल १६५२ संवत् लिखा हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि धर्मशर्माभ्युदयके संस्कृतटीकाकार आदिपुराणके टीकाकार ललितकीर्तिके शिष्य न होकर अन्य किसी ललितकीर्तिके शिष्य हैं तथा १६५२ संवत्से तो पूर्ववर्ती हैं ही।

धर्मशर्माभ्युदयका यह संस्करण और आभार प्रदर्शन

जैनकाव्योंमें धर्मशर्माभ्युदय सबसे अधिक लोकप्रिय काव्य है। इसकी लोकप्रियता जैनों तक ही सीमित हो सो बात नहीं, जैनेतर जनतामें भी इसका अच्छा आदर है। निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे इसकी तीन-चार आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं यही इसका प्रमाण है। छोटी अवस्थामें चन्द्रप्रभ काव्यका एक हिन्दी-अनुवाद पं० रूपनारायण पाण्डेयका देखा था उसकी सरल शैलीका मेरे हृदयपर बहुत प्रभाव पड़ा था। उसीके फलस्वरूप मैंने भी धर्मशर्माभ्युदयका एकमात्र हिन्दी अनुवाद लिखा था जो कि भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुका है।

६ मई १९६० को मान्यवर स्व० देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी भूतपूर्व राष्ट्रपतिको जब मैंने अपना साहित्य भेंट किया था तब धर्मशर्माभ्युदयके उस अनुवादको हाथमें लेकर उन्होंने इच्छा प्रकट की कि इसका मूल भी तो होगा? अनन्तर संस्कृत और हिन्दी टीकासे अलंकृत जीवन्धर चम्पूका संस्करण देख बोले कि यह पद्धति मुझे पसन्द आयी। इसी पद्धतिसे ग्रन्थ प्रकाशित होना चाहिए। मूलके बिना संस्कृतज्ञको मात्र हिन्दी अनुवादसे तृप्ति नहीं होती और हिन्दीके जानकारको मात्र हिन्दी पढ़ लेने से मूलको जाने बिना सन्तोष नहीं होता। उन्होंने कहा था कि अब स्वतन्त्र भारतमें संस्कृतके प्रति लोगोंकी निष्ठा बढ़ रही है। ऐसे संस्करण लोगोंकी अभिरुचिको बढ़ावेंगे, ऐसा मैं समझता हूँ।

राष्ट्रपतिकी अनुभवपूर्ण सम्मतिसे मेरे हृदयमें जैन काव्योंके संस्कृतटीका और हिन्दी अनुवाद सहित संस्करण निकालने की उत्कट अभिलाषा जागृत हुई। उसीके फलस्वरूप धर्मशर्माभ्युदयका यह संस्करण तैयार हुआ है। उसके मूलभागको ९ प्रतियोंके आधारपर शुद्ध किया गया है। मुद्रित प्रतिमें कहीं-कहींपर श्लोकोंका क्रम भी गड़बड़ हो गया है, हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे वह इस संस्करणमें ठीक किया गया है। मूल श्लोकोंके नीचे संस्कृतटीका और उसके बाद हिन्दी अनुवाद दिया गया है। खास-खास स्थलोंपर टिप्पण भी दिये गये हैं। परिशिष्टमें पद्यानुक्रमणिका, और आवश्यक शब्द कोष भी संकलित किये गये हैं।

इस तरह बुद्धिपूर्वक इसे सर्वोपयोगी बनाने का प्रयास किया है। संस्कृत टीकाके अविकल अवलोकन और संशोधित पाठोंकी उपलब्धिमें यत्र-तत्र हिन्दी अनुवादमें भी संशोधन किया गया है। प्रारम्भके कुछ श्लोकोंमें संस्कृतटीकाकारने खींच-तान कर कितने ही अन्य अर्थ निकाले हैं उनका समावेश हिन्दी अनुवादमें नहीं हो सका है, जिज्ञासु संस्कृत टीकासे ही उस भावको ग्रहण करें। समूचे ग्रन्थमें बहुत स्थल तो ऐसे ही हैं जहाँ संस्कृत और हिन्दी टीकाका भाव एक सदृश है परन्तु कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ दोनोंके भावमें कुछ भिन्नता है। मूल ग्रन्थ पाठकोंके सामने है उससे वे यथार्थभावको ग्रहण करनेका प्रयास स्वयं करें।

इस काव्यका प्रकाशन उदारचेता श्रीमान् सेठ शान्तिप्रसादजीके द्वारा संस्थापित भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीसे हो रहा है इसलिए मैं उसके संचालकोंके प्रति विनम्र कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। उनके औदार्यके बिना इन बड़े-बड़े ग्रन्थोंका प्रकाशन दुर्भर था। जैनकाव्यग्रन्थोंमें अब भी अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो आधुनिक रीतिसे प्रकाशित होनेके योग्य हैं। सोमदेवका यशस्तिलकचम्पू, हस्तिमल्लके नाटक, वीरनन्दीका चन्द्रप्रभचरित, अर्हद्दासका पुरुदेव चम्पू, अजितसेनका अलंकारचिन्तामणि, वाग्भटका वाग्भटालंकार तथा वादीभसिंहका क्षत्रचूड़ामणि आदि ग्रन्थ सुसम्पादित होकर यदि प्रकाशमें लाये जायें तो उनसे जैन संस्कृत साहित्यकी गरिमामें अवश्य ही वृद्धि होगी। आशा है ग्रन्थमालाके संचालक इन ग्रन्थोंकी ओर भी अपनी उदार दृष्टि अर्पित करेंगे।

मैं बुद्धिपूर्वक तो यही प्रयास करता हूँ कि जिनवाणीकी सेवामें मेरे द्वारा कहीं त्रुटि न रह जाये—पुरातन आचार्यों और कवियोंका भाव कुछ-का-कुछ प्रकट न हो जाये फिर भी अल्पज्ञताके कारण अनेक त्रुटियोंका रह जाना सम्भव है। उन त्रुटियोंके लिए मैं विद्वानोंसे क्षमा प्रार्थी हूँ।

वर्णीभवन सागर

विदुषां वशंवदः
पन्नालाल जैन

विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ सर्ग

पञ्चम सर्ग

षष्ठ सर्ग

सप्तम सर्ग

अष्टम सर्ग

षोडश सर्ग

सप्तदश सर्ग

अष्टादश सर्ग

एकोनविंश सर्ग

विंश सर्ग

धर्मशर्माभ्युदयम्

ॐ नमो वीतरागाय

श्रीधर्मशर्माभ्युदयं महाकाव्यम्

[प्रथमः सर्गः]

श्रीनाभिसूनोश्चिरमंह्रियुग्मनखेन्दवः[१] कौमुदमेधयन्तु ।
यत्रानमन्नाकिनरेन्द्रचक्रचूडाश्मगर्भप्रतिबिम्बमेणः ॥१॥

[संस्कृतटीका]

जयति जगति मोहध्वान्तविध्वंसदीपः स्फुरत्कनकमूर्तिर्ध्यानलीनो जिनेन्द्रः ।
यदुपरि परिकीर्णस्कन्धदेशा जटाली विगलितसरलान्तःकज्जलाभा विभाति[२] ॥
जयति शिवपुरस्त्रीस्मेरनेत्रावपातस्तवकितवपुरुच्चैर्नाभिसूनुर्जिनेन्द्रः ।
सरसविकसिताम्भोजातपूजोपचारः कृतसरसिजमालामन्तरेणापि यस्य ॥
शक्तिरूपस्थितं ज्ञानं येन संक्षिप्तसूत्रवत् । विस्तार्यानन्ततां नीतं तस्मै सद्गुरवे नमः ॥
हारिचन्द्रं महाकाव्यं गम्भीरार्थमनेकशः । विवृणोमि यथाबुद्धि मन्दबुद्धिविबुद्धये ॥

तत्रादाविष्टदेवतानमस्कारार्थं साधुसमाचारप्रतिपादनार्थं निर्विघ्नेन ग्रन्थसमाप्त्यर्थमनन्तपुण्योपार्जनार्थं च वृत्तमिदमुच्यते—श्रीनाभीति—एधयन्तु । के कर्तारः । अंह्रियुग्मनखेन्दवः, नखा एव इन्दवो नखेन्दवश्चन्द्रमसः, अंह्रियुग्मस्य नखेन्दवस्ते तथाविधाः । किं कुर्वन्तु । कौ पृथिव्यां मुदं हर्षं वितन्वन्तु । कस्य । नाभिसूनोरादितीर्थकरस्य चरमकुलकरतनूजस्य । श्रीशब्दो मङ्गलाभिधायी । यदि वा श्री : सर्वसम्पत् तया उपलक्षितो नाभिरादीक्ष्वाकुवंशभूः क्षत्रियविशेषः । चिरं सर्वकालम् । उत्तरार्द्धेन नखानामिन्दोश्च साम्यं प्रतिपादयन्नाह—यत्र येषु एणो मृगो वर्तत इत्यध्याहार्यम् । किमेणः । आनमन्नाकिनरेन्द्रचक्रचूडाश्मगर्भप्रतिबिम्बम्—नाकिनो देवास्ते च नरेन्द्राश्च तेषां चक्रं समूहः आ सामस्त्येन नमच्च तन्नाकिनरेन्द्रचक्रं च तस्य चूडा मकुटं तत्राश्मगर्भं मरकतं तस्य प्रतिबिम्बं तत्तथाभूतम् । ननु सर्वपार्षदत्वान्महाकाव्यस्य जैनैकपर्षदीयस्य युगादिदेवस्यैव नमस्कारविधानमनुचितमिवोपलभ्यते । महाकाव्यस्य च शृङ्गाराख्यव्यवहारमूलत्वात् । शृङ्गाररसव्यवहारस्तु काममूलस्तस्याप्यत्र नमस्कारयोग्यता । निःकामानां हि महाकाव्ये रचनानादरात्, तेषां शान्तरस एव परिणामः । न वाच्यमित्थम् अत्र हि हरिहरप्रभृतिसकलसुरसार्थज्येष्ठस्य कमलवसतेः श्लेषोल्लेखेन नमस्कारप्रतिपादनमुद्भाव्यते तथाहि नाभिर्मध्यं, श्रीर्लक्ष्मीर्नाभौ मध्ये यस्य तत् श्रीनाभिकमलं तस्य सूनुः कमलभूरित्यर्थः । यदि वा श्रिया उपलक्षिता नाभिः श्रीनाभिस्तस्याः सूनुर्नाभिजात इति प्रसिद्धं 'ब्रह्मापि नाभिजात' इति श्लेषवचनात् तथा कामस्यापि श्रीर्लक्ष्मीस्तस्या इनः स्वामी श्रीनो नारायणस्तस्याभि सामस्त्येन सूनुः 'कामो विष्णु-

[हिन्दी अनुवाद]

श्री नाभिराजाके सुपुत्र – भगवान् वृषभदेवके वे चरणयुगल सम्बन्धी नखरूपी चन्द्रमा चिरकाल तक पृथिवीपर आनन्दको बढ़ाते रहें, जिनमें सब ओरसे नमस्कार करनेवाले देवेन्द्रों और नरेन्द्रोंके मुकुटोंमें संलग्न मरकत मणियोंका प्रतिबिम्ब हरिणके समान

१. मंह्रि ख, ग, ङ, छ, च, ज । २. बिभर्ति क० ।

चन्द्रप्रभं नौमि यदीयभासा नूनं जिता चान्द्रमसी प्रभा सा ।
नो चेत्कथं तर्हि [1]तदङ्घ्रिलग्नं नखच्छलादिन्दुकुटुम्बमासीत् ।।२।।
दुरक्षरक्षोदधियेव धात्र्यां मुहुर्मुहुर्घृष्टललाटपट्टा ।
यं स्वर्गिणोऽनल्पगुणं प्रणेमुस्तनोतु नः शर्म स धर्मनाथः ।।३।।

पुत्रः' इति पौराणिकाः । अभिशब्दो निरर्थक इति चेत्, तन्न अभिशब्दः परिच्छेदको वा एक एव सूनुः । यदि वा वाक्यालंकारे यथा सुमेरुः सुपुत्र इति । एतेनैतदुक्तं भवति श्रीनाभिसूनोरादिनाथस्य कमलवसतेर्वा चरणयुगलनखचन्द्रा भूमौ हर्षं विस्तारयन्तु इति तात्पर्यार्थः । ननु कुशब्देन मध्यभुवनमेव लभ्यते नोर्ध्वभुवनं नाधोभुवनं वा तत ऊर्ध्वाधोभुवनाभ्यां किमपराद्धं येनेदमुच्यते । सत्यमेवोक्तम् । तथापि भगवतो युगादिदेवस्य जन्मकल्याणादिमहोत्सवे भुवनत्रयलोकस्याप्येकसंवासः । यदि वा मध्यभुवनमेव चतुर्थपुरुषार्थसाधनस्थानं मोक्षहेतुत्वात् सकलभव्यपङ्क्तेश्च ।[2] अथ चोक्तिलेशः । अन्येऽपि ये किल चन्द्रा भवन्ति ते कौमुदं कुमुदानां समूहमुल्लासयन्ति । कामचरणनखेन्दवोऽपि कौमुदमेधयन्तु पुष्पायुधत्वात्तस्य । यदि वा श्रीनाभिसूनोरादिजिनस्वामिनश्चरणद्वयनखचन्द्रा ए[3] विष्णौ मुदं हरहरिरित्युक्तिभरानुस्यूतानुस्मरणप्रवाहिकां प्रीतिं कौ पृथिव्यां धयन्तु पिबन्तु समूलकाषं कषन्त्वित्यर्थः । कस्य नाम भगवच्चरणसंदर्शने हि हरिहरहिरण्यगर्भादिषु मनः प्रमोदमुद्वहति । यदुक्तम् 'मन्ये[4] वरं हरिहरादय एव दृष्टा' इत्यादि । एतेन मिथ्यात्वनिरसनद्वारेण सम्यक्त्वमुद्रोन्निद्राणाशंसनात् सकलजगज्जन्तूनामात्मनश्च मुक्तिश्रीकुचकुम्भसङ्गसुभगंमन्यतावाप्तिराशंसिता भवतीति तात्पर्यार्थः । इन्दव इति बहुवचनत्वादत्र एणप्रतिविम्बेऽपि बहुवचनं प्राप्नोतीति चेत्, तन्न, जातिवाच्यत्वात् यथा 'संपन्नो यव' इति । नखानामिन्दुरूपकता सुवृत्तत्वात्कान्तिमत्त्वात्तापापहारकत्वादाह्लादकत्वाच्च । अत्राशीर्द्वारेण नमस्क्रियानिर्देशः । अत्रावसरगर्भो रूपकोऽयमलंकारः । चिरकालमितिपदोपादानेन व्यतिरेकाभासोऽपि नखा एव चिरमेधयन्तु न चन्द्रा इति ।।१।।[5] **चन्द्रप्रभमिति**—नौमि नमस्करोमि । कम् । चन्द्रप्रभम् अष्टमतीर्थनाथम् । यदीयभासा यस्य कान्तिकलापेन, जिता पराभूता । कासौ । प्रभा । कस्य संबन्धित्वेन । चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी । सा शीतत्वाह्लादकप्रकाशकादिप्रभावप्रसिद्धा । ननु सितत्वाभिधायकविशेषणमन्तरेण नैतल्लभ्यत इति चेत्, तन्न, चन्द्रस्य प्रभेव प्रभा यस्येति विशेष्यव्युत्पत्तिद्वारेणैव सिद्धसाध्यत्वात् । नूनं निश्चितं नोचेदित्याक्षेपवचनम् । चेद्यदि नैतत्पूर्वोक्तं घटत इत्यनुमानेन दृढयन्नाह—कथं केन प्रकारेण । तर्हि तद् इन्दुकुटुम्बं चन्द्रगोत्रम् आसीदभवत् तदङ्घ्रिलग्नं तत्पादप्रणतितत्परं नखच्छलादुद्वृत्तकान्तिमन्नखव्याजात् । अनेनैव श्लोकेन शम्भोरपि नमस्क्रिया । तथाहि चन्द्रप्रभं चन्द्रेण चूडामणिस्थानो येन प्रभातीति चन्द्रप्रभं चन्द्रमौलिम् । यदि वा चन्द्रस्येव प्रभा यस्य स चन्द्रप्रभस्तस्य भस्मावधूलितत्वात् शुद्धस्फटिकवर्णत्वाच्च तं तथाभूतम् । यदीयभासा यस्य तेजसा जिता । का । प्रभा, किंविशिष्टा । चान्द्रमसी चन्द्रं मस्यति मित्रत्वान्निजकार्ये परिणामयति चन्द्रमसः कामस्तस्य 'चन्द्रो मित्रम्' इति प्रसिद्धिः । यस्येयं चान्द्रमसी कान्दर्पी । अलीकमिति चेत् । कथं तर्हि कामदाहप्रस्तावे तत्प्रणामैकरसिकचन्द्रकुटुम्बं तथासीत् । अनुमानोऽयमलंकारः ।।२।। **दुरक्षरेति**—स प्रसिद्धो धर्मनाथः पञ्चदशतीर्थकरः । शर्म सौख्यं तनोतु विस्तारयतु । केषाम् ।

सुशोभित होता था ।।१।। मैं उन चन्द्रप्रभ स्वामीकी स्तुति करता हूँ, जिनकी प्रभासे चन्द्रमाकी वह प्रसिद्ध प्रभा – चाँदनी मानो जीत ली गयी थी, यदि ऐसा न होता तो चन्द्रमाका समस्त परिवार नखोंके बहाने उनके चरणोंमें क्यों आ लगता ।।२।। दुष्ट अक्षरोंको नष्ट

१. तदङ्घ्रिलग्नं ख, ग, ङ, घ, च, ज । २. प्रत्तैश्च क० । ३. अः वासुदेवो विष्णुरित्यर्थः । अशब्दस्य सप्तम्येकवचने 'ए' इति रूपम् । ४. 'मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति । किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ।' भक्तामरस्तोत्रे मानतुङ्गस्य । ५. इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मेलनादुपजातिवृत्तम् 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति लक्षणात् ।

संप्रत्यपापाः स्म इति प्रतीत्यै वह्नाविवाह्नाय मिथः प्रविष्टाः ।
यत्कायकान्तौ कनकोज्ज्वलायां सुरा विरेजुस्तमुपैमि शान्तिम् ॥४॥
भूयादगाधः स विबोधवार्धिर्वीरस्य रत्नत्रयलब्धये वा ।
स्फुरत्पयोबुद्बुदबिन्दुमुद्रामिदं यदन्तस्त्रिजगत्तनोति ॥५॥
निर्माजिते यत्पदपङ्कजानां रजोभिरन्तःप्रतिबिम्बितानि ।
जनाः स्वचेतोमुकुरे जगन्ति पश्यन्ति तान्नौमि मुदे जिनेन्द्रान् ॥६॥

नोऽस्माकम् । अनल्पगुणं प्रभूतानन्तगुणम् । यं स्वर्गिणो देवा महेन्द्राः, प्रणेमुर्नमश्चक्रुः । तेषां विशेषणद्वारेण भक्तिभारं दर्शयन्नाह—कथंभूताः । घृष्टललाटपट्टाः अतिशयसंश्लिष्टभालतटाः । कथम् । मुहुर्मुहुर्बारंवारम् । कस्याम् । धात्र्यां पादपीठपृथिव्याम् । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते–दुरक्षरक्षोदधियेव दुष्टदेवाक्षरविनाशाभिप्रायेण । नहि परमेश्वरपादपीठघर्षणमन्तरेण भालपट्टलिखितदैवदुष्टाक्षराणां निर्माजनमित्यभिप्रायः । ननु दारिद्र्यादिदुःखोपद्रुतमनुजानामेव दैवलिपिर्बर्ण्यते न सुखाद्वैतप्राप्तानां देवानाम् । न वाच्यमेतत् संसारित्वमेव तेषां दैवलिपिरिति । यदि वा सधर्मनाथः सह धर्मैर्नवनवतियज्ञैर्वर्त्तत इति सधर्मो बलिः तं नाथते याचते इति सधर्मनाथो विष्णुः । शर्म तनोतु यं देवाः प्रणेमुः किमर्थमित्याह–दुरक्षरेत्यादि–दुष्टोऽक्षः संघातो येषां, तानि च तानि रक्षांसि च तानि द्यति शातयतीति । सा चासौ धीश्च तयेव संज्ञयेव । तत्तद्भयाद् भूमिघृष्टललाटपट्टस्पष्टसंज्ञयेति कथयन्तोऽत्र भूमौ ये रक्षःसंघातास्तान् निजहतीति तात्पर्यम्[1] ॥३॥ संप्रतीति—शान्ति षोडशतीर्थनाथम् उपैमि आश्रयामि । यत्कायकान्तौ यस्य देहप्रभायां कनकोज्ज्वलायां सुवर्णभासुरायां सुरा देवा विरेजुः शुशुभिरे । अर्थतः प्रतिबिम्बिता इति गम्यते, अतश्चोत्प्रेक्षते वह्नाविवाग्नाविव ज्वालाकलाप इव प्रविष्टाः, मिथः परस्परं प्रतीत्यै शुद्धिदानाय, अह्नाय शीघ्रम् अशुद्धो हि कालं क्षेपयति । इतिशब्दो हेत्वर्थे संप्रति सांप्रतं भगवद्दर्शनमारभ्य अपापाः स्मः पापदोषनिर्मुक्ता वर्तामिहे[2] ॥४॥ भूयादिति—स प्रसिद्धो महानगाधोऽलब्धमध्यो वीरस्यान्तिमतीर्थनाथस्य विबोधवार्द्धिर्ज्ञानसमुद्रो भूयात् प्रवर्तिषीष्ट प्रभवत्विति यावत् । केषाम् । वो युष्माकम्, कस्यै । रत्नत्रयलब्धये, रत्नानीव रत्नानि सागरतारतम्यविश्रान्तिमूलत्वात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणानि तेषां त्रयं रत्नत्रयं, 'समुद्रसेवा हि रत्नार्थ'मिति लोकानुवादः । अगाधधर्मत्वं दृढयन्नाह—यदन्तर्यन्मध्ये इदं त्रिजगत् त्रिभुवनं कर्तृ, तनोति बिभर्त्ति, काम् । स्फुरत्पयोबुद्बुदबिन्दुमुद्रां स्फुरन्तश्च ते पयोबुद्बुदबिन्दवश्च तेषां मुद्रा मूर्तिस्ताम् विलसज्जलबुद्बुदपर्यन्तसूक्ष्मबिन्दुच्छायाम् । ननु ज्ञानस्य त्रिभुवनमेव ज्ञेयम्, तद्वहिर्भूतं ज्ञेयमपि नास्ति तत्कथं ज्ञेयव्यतिरेकेण ज्ञानाधिक्यं दर्शितवान् । सत्यं, न नाम दीपस्यैकघटप्रकाशिकैव शक्तिः किन्तु यावत्संभवद्घटप्रकाशिका तथा भगवतोऽपि ज्ञानं त्रिभुवनशतसहस्रप्रकाशकमेव ततस्तस्यैकं त्रिभुवनज्ञेयं न किंचिदित्यर्थः । रूपकावसरगर्भोऽतिशयालंकारः ॥ ५ ॥ निर्माजित इति—नौमि नमामि, कान् । जिनेन्द्रान् जयन्ति कर्मारातीन् जिना गणधरदेवादयस्तेषामिन्द्राः परमैश्वर्ययुक्तास्तान् । कस्यै । मुदे अनन्तप्रमोदाय । तेषां परमानन्दप्रभावत्वं स्थापयन्नाह—जना भव्यलोका

करनेकी भावनासे ही मानो जिन्होंने पृथिवीपर बार-बार अपना ललाटतट घिसा है, ऐसे देवलोक, जिन बहुगुणधारी धर्मनाथको नमस्कार करते थे, वे धर्मनाथ हमारे सुखको बढ़ावें ॥ ३ ॥ जिनकी सुवर्णके समान उज्ज्वल शरीरकी कान्तिके बीच देवलोक ऐसे सुशोभित होते थे मानो इस समय हम निर्दोष हैं ऐसा परस्पर विश्वास करानेके लिए अग्निमें ही प्रविष्ट हुए हों—अग्नि परीक्षा दे रहे हों मैं उन शान्तिनाथ भगवान्की शरणको प्राप्त होता हूँ ॥४॥ श्री वर्द्धमानस्वामीका वह सम्यग्ज्ञान रूपी गहरा समुद्र तुम सबकी रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए हो जिसके भीतर यह तीनों लोक प्रकट हुए पानीके बबूलेकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ५ ॥ जिनके चरणकमलोंकी परागसे साफ किये हुए अपने चित्तरूपी दर्पणके भीतर प्रतिबिम्बित

१. उत्प्रेक्षालंकार । २. उत्प्रेक्षालंकार ।

रत्नत्रयं तज्जननार्त्तिमृत्युसर्पत्रयीदर्पहरं नमामि ।
यद्भूषणं प्राप्य भवन्ति शिष्टा मुक्तेर्विरूपाकृतयोऽप्यभीष्टाः ॥७॥
त्वद्भक्तिनम्रं जनमाश्रयावः साक्षादिति प्रष्टुमिवोपकर्णम् ।
चन्द्राश्मताटङ्कपदात्पदार्थौ यस्याः स्थितौ ध्यायत भारतीं ताम् ॥८॥
जयन्ति ते केऽपि महाकवीनां स्वर्गप्रदेशा इव वाग्विलासाः ।
पीयूषनिस्यन्दिषु येषु हर्षं केषां न धत्ते सुरसार्थलीला ॥९॥

जगन्ति भुवनानि पश्यन्ति अवलोकयन्ति । किंविशिष्टानि । अन्तःप्रतिबिम्बितानि अन्तर्मध्ये प्रतिफलितानि । क्व । स्वचेतोमुकुरे स्वमात्मीयं चेतः स्वचेतो यत्तदेव मुकुरस्तस्मिन् । कथंभूते । निर्मार्जिते निर्मलीकृते पवित्रिते । कैः । रजोभिः पांसुभिः । केषाम् । यत्पदपङ्कजानां यच्चरणकमलानाम् । अथ चोक्तिलेशः अन्यस्मिन्नपि मुकुरे रजोनिर्मार्जिते यथावद्वस्तु प्रतिफलति । ननु चेतो [चेतसो] अमूर्त्तत्वाद्रजसश्च मूर्तिमत्त्वात्कथं शोध्यशोधकभावः । न वाच्यम्, न नाम भगवत्पादानां रजोऽपि घटते गगनगामित्वात् । पदानां कमलरूपकतया रजःप्रस्तावः कविधर्मत्वान्नैष दोषः । किं च ज्ञानरूपं भगवन्तं चेतसि ध्यायन्तो जना ज्ञानिनो भवन्तीत्यर्थः । खण्डरूपकोऽयमलंकारः ॥ ६ ॥ रत्नत्रयमिति—नमामि नमस्करोमि । किम् । तत् तत्प्रसिद्धं रत्नत्रयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणम् । किंविशिष्टम् । जननार्त्तिमृत्युसर्पत्रयीदर्पहरं जननं जन्म, आर्त्तिः सांसारिकी पीडा मृत्युर्मरणं त एव सर्पास्तेषां त्रयी तस्या दर्पो मदस्तं हरति विनाशयतीति तत् तथाभूतम् । तन्माहात्म्यं वर्णयन्नाह—यद्भूषणं यद्रत्नत्रयमलंकरणं प्राप्य शिष्टा महाव्रतधारिणः साधवो मुक्तेर्मोक्षलक्ष्म्या विरूपाकृतयोऽपि अभीष्टा वल्लभतमा भवन्ति । अथ च विगता नष्टा रूपाकृतिर्येषां ते विरूपाकृतयः सिद्धाः । अथवा तद् रत्नत्रयमहं न मामि न परिच्छेत्तुं शक्नोमि यतः किंविशिष्टम् । जननार्त्तिमृत्यून् सर्पति जननार्तिमृत्युसर्पा सा चासौ त्रयी च तस्या दर्पोऽहंकारस्तं हरतीति तत्तथाभूतं संसारमार्गस्यैकान्तवादिदर्पहरमित्यर्थः । विविधा कपालकमण्डलुयज्ञोपवीतादिभिरुपलक्षिता रूपाकृतिर्येषां ते तथाविधा मिथ्यादृष्टयोऽपि यद् रत्नत्रयभूषणं नवाद्भुतप्रभावं प्राप्य लब्ध्वा शिष्टाः सन्तो मुक्तेरभीष्टा भवन्तीत्यर्थः । यदि वा यस्य भूर्यद्भूः यद्भुवि ऊषणं यद्भूषणं रोगित्वमरोचकत्वमिति यावत् । न मुक्तिरमुक्तिः शिष्टैस्तत्त्ववेदिभिरभिहितामुक्तिः शिष्टामुक्तिस्तस्याः शिष्टामुक्तेः संसारस्य अभीष्टा भवन्ति तद्विषयमरोचकत्वं प्राप्य विविधवेषमतानुसारिणः संसारिणो भवन्तीत्यर्थः[1] ॥७॥ त्वद्भक्तीति—तां भारतीं सरस्वतीं यूयं ध्यायत स्मरत यस्या उपकर्णं श्रवणसमीपे पदार्थौ पदं चार्थश्च पदार्थौ स्थितौ । कस्मात् । चन्द्राश्मताटङ्कपदात् चन्द्रकान्तकुण्डलव्याजात् । किं कर्तुमिव । प्रष्टुमिव आलोचयितुमिव, कथम् । साक्षात् मूर्तिमत्त्वेन । इतिशब्दः समाप्त्यर्थे । हे भगवति ! आवां पदार्थौ त्वद्भक्तिनम्रं त्वदाराधनावनतं जनम् आश्रयावोऽधिष्ठावः तद्वशवर्तिनौ भवाव इत्यर्थः । अनेन श्रियोऽपि नमस्या प्रतीयते तां लक्ष्मीं भरतस्याद्यचक्रवर्तिन इयं भारती तां चिन्तयत यस्याः कर्णसमीपे पदार्थौ स्थितौ पदं चक्रवर्तित्वलक्षणं अर्थो नवनिधानचतुर्दशरत्नादि । शेषं पूर्ववत्, उत्प्रेक्षालंकारः ॥८॥ जयन्तीति—जयन्ति नन्दन्ति ते केऽपि अनिर्वाच्याचिन्त्याद्भुतप्रभावाः । महाकवीनां वाग्विलासाः

तीनों लोकोंको मनुष्य अच्छी तरह देखते हैं—जिनके चरण प्रसादसे मनुष्य सर्वज्ञ हो जाते हैं मैं आनन्द प्राप्तिके लिये उन चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी स्तुति करता हूँ ॥६॥ मैं जन्म, सांसारिकी पीड़ा और मृत्युरूपी तीन सर्पोंके मदको हरनेवाले उस रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको नमस्कार करता हूँ, जिसका आभूषण प्राप्त कर साधुजन विरूप आकृतिके धारक होकर भी मुक्तिरूपी स्त्रीके प्रिय हो जाते हैं ॥७॥ तुम्हारी भक्तिसे नम्रीभूत मनुष्यका हम शरण लें, यह साक्षात् पूछनेके लिए ही मानो जिसके कानोंके समीप चन्द्रकान्तमणिनिर्मित कर्णाभरणोंके बहाने शब्द और अर्थ उपस्थित हैं, उस सरस्वतीका ध्यान करो ॥८॥ स्वर्ग प्रदेशकी सुषमाको धारण करनेवाले महाकवियोंके वे कोई अनुपम

१. रूपकालंकारः ।

लब्धात्मलाभाबहुधान्यवृद्ध्यै निर्मूलयन्ती वननीरसत्वम् ।
सा मेघसंघातमपेतपङ्का शरत्सतां संसदपि क्षिणोतु ॥१०॥
वियत्पथप्रान्तपरीक्षणाद्वा तदेतदम्भोनिधिलङ्घनाद्वा ।
मात्राधिकं मन्दधिया मयापि यद्वर्ण्यते जैनचरित्रमत्र ॥११॥
पुराणपारीणमुनीन्द्रवाग्भिर्यद्वा ममाप्यत्र गतिर्भवित्री ।
तुङ्गेऽपि सिध्यत्यधिरोहिणीभिर्यद्वामनस्यापि मनोऽभिलाषः ॥१२॥

सहजप्रतिभोक्तिभङ्गाः । अतः संभाव्यते स्वर्गप्रदेशा इव स्वर्गभूमिप्रदेशा इव । तेषामुभयेषां साम्यं निरूपयन्नाह—येषु पीयूषनिस्यन्दिषु अमृतनिर्झरेष्वाधारभूतेषु या सुरसार्थलीला रसश्चार्थश्च रसार्थौ सुललितौ च तौ रसार्थौ च तयोर्लीला सौभाग्यभङ्गी सा केषां चतुरचिन्तामणीनां हर्षं न धत्ते न पुष्णाति अपि तु पुष्णात्येव । द्वितीयपक्षे सुरा देवांस्तेषां सार्थः समूहो लीयते यस्यां सा सुरसार्थलीला । यदि वा देवसार्थस्य लीला प्रसिद्धा । श्लेषोपमालंकृतिः ॥९॥ **लब्धेति**—सा विदितलक्षणा सतां साधूनां संसत् सभा मे मम हरिचन्द्रस्य अघसंघातं दोषसमुच्चयं क्षिणोतु निहन्तु । न केवलं सा शरदपि सा शरद् मेघसंघातं जलदपटलम् । वर्णश्लेषेण साम्यमाह—या कथंभूता । लब्धात्मलाभा लब्धात्मप्रतिष्ठा । किमर्थम् । बहुधा अनेकप्रकारेण अन्यवृद्ध्यै परोपकाराय 'सतां हि जन्म परार्थ'मिति सिद्धान्तः । किं कुर्वन्ती । निर्मूलयन्ती घननीरसत्वं नीरसो मूर्खस्तस्य भावो नीरसत्वं घनं च तन्नीरसत्वं च तथाविधं, घनानां बहूनां वा नीरसत्वं, घनं क्रियाविशेषणं वा बहुजाड्यमित्यर्थः । अपेतपङ्का गतदोषा । शरत्पक्षे बहुधान्यवृद्ध्यै प्रचुरान्नवर्द्धनाय घना मेघास्तेषां नीरं जलं तस्य सत्त्वमस्तित्वम्, नष्टकर्दमा । श्लेषालंकारः[1] ॥१०॥ **वियदिति**—अत्रास्मिन् भरतक्षेत्रे कलिकालकलङ्कितेऽपि यज्जैनचरित्रं मया हरिचन्द्रेण वर्ण्यते विस्तार्यते मन्दधिया अल्पधिया अल्पबुद्धिविभवेन । तदेतत् कथम् । मात्राधिकं मात्रया कलयाधिकं मात्राधिकं सविशेषतरम् अशक्यानुष्ठानम् । कुतः । अम्भोनिधिलङ्घनात् समुद्रतरणात्, यदि वा समुद्रोऽपि सुतरः किमनेन । वियत्पथप्रान्तपरीक्षणाद् वियतो गगनस्य पन्था वियत्पथस्तस्य प्रान्तं तस्य परीक्षणं तस्माद्वा आकाशान्तदर्शनादप्येतद्गरीय इत्यर्थः । अत्र वा शब्दावनियमार्थौ । व्यतिरेकालंकारः ॥ ११ ॥ पूर्वोक्तस्याशक्यानुष्ठानत्वं संक्षिपन्नाह—**पुराणेति**—यद्वेत्युपायस्मरणे । मम हरिचन्द्रस्याप्यत्र चरित्रे गतिः प्रवृत्तिर्भवित्री भविष्यति । काभिः । पुराणपारंगताश्च ते मुनीन्द्राश्च ते तद्विधास्तेषां वाचस्ताभिः । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढ़यन्नाह—यद्यस्माद्धेतोर्वामनस्य खर्वशाखस्यापि मनोऽभिलाषश्चित्तेच्छा सिध्यति सिद्धिं याति । क्व विषये । तुङ्गेऽपि दुरारोहेऽपि उच्चतरप्रासादशृङ्गेऽपि । काभिः । अधिरोहिणीभिर्निश्रेणिकाभिः । दृष्टान्तोऽयमलंकारः

वचनोंके विलास जयवन्त हैं जिन अमृतप्रवाही वचनोंमें उत्तम रस और अर्थकी लीला किन पुरुषोंको आनन्द उत्पन्न नहीं करती। पक्षमें-देवसमूहसे युक्त भूमि अथवा देव समूहकी लीला किन्हें आनन्दित नहीं करती ॥९॥ विविध धान्यकी वृद्धिके लिए जिसने स्वरूप लाभ किया है, जो मेघ सम्बन्धी जलके अस्तित्वको दूर कर रही है और जिसमें कीचड़ नष्ट हो गया है वह शरद् ऋतु मेघोंके समूहको नष्ट करे। साथ ही जिसने सुविधानुसार अन्य पुरुषोंकी वृद्धिके लिए जन्म धारण किया है, जो अत्यन्त नीरसपनेको दूर कर रही है और जिसने समस्त पाप नष्ट कर दिये हैं, वह सज्जनोंकी सभा भी मेरे पापसमूहको नष्ट करे ॥१०॥ मन्दबुद्धि होनेपर भी मेरे द्वारा जो इस भरतक्षेत्रमें जिनेन्द्र भगवान्का चरित्र वर्णित किया जाता है वह समुद्रको लाँघने अथवा आकाश मार्गके अन्तके अवलोकनसे भी कुछ अधिक है—उक्त दोनों कार्य तो अशक्य हैं ही पर यह उनसे भी कुछ अधिक अशक्य है॥११॥ अथवा पुराण-रचनामें निपुण महामुनियोंके वचनोंसे मेरी भी इसमें गति हो जायेगी; क्योंकि सीढ़ियोंके द्वारा लघु मनुष्यकी भी मनोभिलाषा उत्तुङ्गभवनके शिखरके विषयमें पूर्ण हो जाती

१. अत्र प्रकृताप्रकृतयोरेकत्रस्थापनात्तुल्ययोगितालंकारः स च श्लेषानुप्राणितः ।

श्रीधर्मनाथस्य ततः स्वशक्त्या किंचिच्चरित्रं तरलोऽपि वक्ष्ये ।
वक्तुं पुनः सम्यगिदं जिनस्य क्षमेत नो वागधिदेवतापि ॥१३॥
अर्थे हृदिस्थेऽपि कविर्न कश्चिन्निग्रन्थिगी[1]र्गुम्फविचक्षणः स्यात् ।
जिह्वाञ्चलस्पर्शमपास्य पातुं श्वा नान्यथाम्भो घनमप्यवैति ॥१४॥
हृद्यार्थवन्ध्या पदबन्धुरापि वाणी बुधानां न मनो धिनोति ।
न रोचते लोचनवल्लभापि स्नुही, क्षरत्क्षीरसरिन्नरेभ्यः ॥१५॥
वाणी भवेत्कस्यचिदेव पुण्यैः शब्दार्थसन्दर्भविशेषगर्भा ।
इन्दुं विना न्यस्य न दृश्यते द्युत्तमो धुनाना च सुधाधुनीव[2] ॥१६॥

॥ १२ ॥ लब्धप्रवेशोपायः प्रारम्भं निवेदयन्नाह—श्रीति—ततस्तस्मात् स्वशक्त्या निजबुद्धिप्रागल्भ्येन किंचिदुल्लेखमात्रं तरलोऽपि चपलबुद्धिरपि तीक्ष्णमतिर्वा वक्ष्ये प्रतिपादयिष्ये । उत्तरार्द्धेन चरितगाम्भीर्योक्तिभङ्ग्या आत्मानं संभावयन्नाह—पुनरित्याक्षेपवचने । इदं जिनस्य चरित्रं सम्यग् यथार्थं च वक्तुं प्रतिपादयितुं वागधिदेवता वाचि शब्दब्रह्मणि अधिष्ठिता या देवता सा सरस्वत्यपि न क्षमेत न समर्था भवेत् जायेत । विषमोऽयमलंकारः ॥१३॥ मन्दकवीन्प्रत्याक्षिपन्नाह—अर्थ इति—कश्चित्कविरर्थे वाच्ये हृदिस्थे मनसि संकल्पितेऽपि न गुम्फविचक्षणः स्यात् न रचनाचतुरः स्यात् । यतोऽसौ निग्रन्थिगीर्ग्रन्थिलवाग् निश्चितो ग्रन्थिर्यस्यां सा निग्रन्थिः सा गीर्यस्य स तथाविधः । यदि वा ग्रन्थाः शास्त्राणि विद्यन्तेऽस्याः सा ग्रन्थिनी, निर्गता ग्रन्थिनी गीर्वाणी यस्य स तद्विधः असमग्रशास्त्रवागित्यर्थः । अथवा निग्रन्थिश्चासौ गीर्गुम्फश्च तस्मिन् विचक्षणः सरलसूक्तरचनाचतुरः । सरलवाचमन्तरेण कविहृदय एवार्थस्तिष्ठतीति दृष्टान्तयति—श्वा सारमेयः अम्भः पानीयं घनमपि हस्तिघटावगाहयोग्यमपि पातुमास्वादितुम् अन्यथा नावैति न जानाति । किं कृत्वा । जिह्वाञ्चलस्पर्शमपास्य जिह्वाग्रलेहनं परित्यज्य । दृष्टान्तोऽयमलंकारः ॥१४॥ कवीन् कटाक्षयन्नाह—हृद्येति—वाणी पदबन्धुरा शब्दोद्भटा बुधानां रसरहस्यविदुषां मनो न धिनोति न प्रीणयति यतो हृद्यार्थवन्ध्या विचारक्षमार्थशून्या । अस्यार्थस्य दृष्टान्तमाह—[3]स्नुही वज्री लोचनवल्लभा स्पृहणीयधवलिमप्रकाशिकापि न रोचते न प्रतिभासते, क्षरत्क्षीरसरित् निर्यद्दुग्धनदीकापि नरेभ्यः[4] ॥ १५॥ सरससरलललितगम्भीरार्थवाणी दुर्लभेति प्रतिपादयन्नाह—वाणीति—वाणी शब्दार्थसन्दर्भविशेषगर्भा शब्दार्थयोः संदर्भो रचना गर्भे मध्ये यस्याः सा तद्विधा, कस्यचित् कृतिनः कवेः शतसहस्रकविषु मध्ये निर्द्धारितस्य पुण्यैरेव पूर्वभवार्जितशुभैर्भवेत् जायेत न सर्वेषामित्यभिप्रायः । अमुमेवार्थमुत्तरार्द्धेन दृढयन्नाह—इन्दुं चन्द्रं विना नान्यस्य रात्रितेजस्विनो द्युद्दीप्तिर्दृश्यते, तमो धुनाना

है—बौना मनुष्य भी सीढ़ियों-द्वारा ऊँचा पदार्थ पा लेता है ॥१२॥ यद्यपि मैं चंचल हूँ तथापि अपनी शक्तिके अनुसार श्री धर्मनाथ स्वामीका कुछ थोड़ा-सा चरित्र कहूँगा । श्री जिनेन्द्र देवके इस चरित्रको अच्छी तरह कहनेके लिए तो साक्षात् सरस्वती भी समर्थ न हो सकेगी ॥१३॥ जिसे रचना करना नहीं आता ऐसा कवि अर्थके हृदयस्थ होनेपर भी रचनामें निपुण नहीं हो सकता सो ठीक ही है, क्योंकि पानी अधिक भी भरा हो फिर भी कुत्ता जिह्वासे जलका स्पर्श छोड़कर उसे अन्य प्रकारसे पीना नहीं जानता ॥१४॥ वाणी अच्छे-अच्छे पदोंसे सुशोभित क्यों न हो परन्तु मनोहर अर्थसे शून्य होनेके कारण विद्वानोंका मन सन्तुष्ट नहीं कर सकती; जैसे कि थूवरसे झरता हुआ दूधका प्रवाह यद्यपि नयनप्रिय होता है—देखनेमें सुन्दर होता है फिर भी मनुष्योंके लिए रुचिकर नहीं होता ॥१५॥ बड़े पुण्यसे किसी एक आदि कविकी ही वाणी शब्द और अर्थ दोनोंकी विशिष्ट रचनासे युक्त होती है । देखो न, चन्द्रमाको छोड़कर अन्य किसीकी किरण अन्धकारको हरने और अमृतको झराने-

१. निर्ग्रन्थिगीर्गुम्फ म० । ग्रन्थ—च, छ । २. सुधाधुनी च म० । ३. अथवा, स्नुह्या वज्र्या ['थूवर' इति प्रसिद्धायाः] क्षरन्ती निःसरन्ती वा क्षीरसरित् पयोधारा सा । ४. जनेभ्यः, दृष्टान्तोऽयमलंकारः ।

श्रव्येऽपि काव्ये रचिते विपश्चित्कश्चित्सचेताः परितोषमेति ।
उत्कोरकः स्यात्तिलकश्चलाक्ष्याः कटाक्षभावैरपरे न वृक्षाः ॥ १७ ॥
परस्य तुच्छेऽपि परोऽनुरागो महत्यपि स्वस्य गुणे न तोषः ।
एवंविधो यस्य मनोविवेकः किं प्रार्थ्यते सोऽत्र हिताय साधुः ॥ १८ ॥
साधोर्विनिर्माणविधौ विधातुश्च्युताः कथंचित्परमाणवो ये ।
मन्ये कृतास्तैरुपकारिणोऽन्ये पाथोदचन्द्रद्रुमचन्दनाद्याः ॥ १९ ॥
पराङ्मुखोऽप्येष परोपकारव्यापारभारक्षम एव साधु ।
किं दत्तपृष्ठोऽपि गरिष्ठधात्रीप्रोद्धारकर्मप्रवणो न कूर्मः ॥ २० ॥

ध्वान्तं निर्मूलयन्ती सुधाधुनीव गङ्गेव पक्षे तमः पापं । तुल्ययोगितेयमलंकृतिः ॥१६॥ समानेऽपि वैदुष्ये काव्यतत्त्वपरीक्षको विरल इति निरूपयन्नाह—**श्रव्य इति**—यथोक्तस्वरूपयुक्तं(क्ते) काव्ये रचिते निर्मापितेऽपि कश्चित् असार्वत्रिकः सचेताः विशेषज्ञो विपश्चित् सुधीः परितोषं परितः प्रमोदम् एति याति न सर्वोऽपीत्यर्थः । अस्यैव प्रतिच्छन्दकमाह— चलाक्ष्याः कटाक्षैर्वक्रावलोकितरसैस्तिलक एव तिलकवृक्ष एव उत्कोरकः स्यादुद्गत-कलिकः स्यात् नान्ये वृक्षत्वसामान्या धवखदिरपलाशादयः । अत्र दृष्टान्तच्छाया प्रतिवस्तूपमेयमलंकृतिः ॥१७ ॥ पाण्डित्यैकान्तशठानाक्षिप्य सहजशुद्धसरलमतीनुल्लासयन्नाह—**परस्येति**—यस्य साधोरेवंविधः परोत्कर्षप्रकाशनै-कप्रकारो मनोविवेकश्चेतोविचारः । एवं किमिति पूर्वार्द्धेन कथयति परस्यान्यस्य तुच्छेऽपि गुणे अतद्विचारयोग्येऽपि परः आत्मगुणाधिकसदृशोऽनुराग आदराधिक्यं स्वस्य आत्मीयस्य गुणे महत्यपि अनन्यसाधारणेऽपि न तोषो न हर्षः स साधुः किं प्रार्थ्यते किमभ्यर्थ्यते हितायाभिमताय न किंचिदित्यर्थः । यज्जनाभीष्टं तत्कर्तुमेव सतां शीलमित्यभिप्रायः । परिवृत्तिगर्भाक्षेपोऽयमलंकारः ॥ १८ ॥ साधुशीलेनाभिनन्दतस्तानेव स्तुवन्नाह—**साधोरिति**—साधोः सज्जनस्य निर्माणविधौ घटनकर्मणि विधातुर्ब्रह्मणः सकाशात् ये परमाणवः सूक्ष्मतमलवाः कथंचिदविभावितप्रकारेण च्युता भ्रष्टास्ततश्च मन्ये संभावयामि तैरेव स्वल्पतरपतिताणुभिरन्ये प्रचुरोपकारिणः कृताः । के ते ? इत्यत आह—पाथोदेत्यादि, पाथोदा मेघास्ते च चन्द्राश्च द्रुमाश्च चन्दनाश्च ते आद्या येषां तथाविधाः । अनुमानगर्भोऽयमुत्प्रेक्षालंकारः ॥ १९ ॥ अनुपकुर्वतामप्युपकाराधिकारो महतामेवेति दर्शयन्नाह—**पराङ्मुख इति**—एष परोपकारैकान्तप्रत्यक्षीकृतनिजस्वरूपः पराङ्मुखोऽपि अन्तरीकृतकार्योऽपि साधु-रेव, परोपकारव्यापारभारक्षमः परोपकार एव व्यापारस्तत्र क्षमः समर्थः । एतदर्थे दृष्टान्तयति—किमित्याक्षेप-वचने दत्तपृष्ठोऽपि कूर्मः कमठराजः । गरिष्ठेत्यादि—धात्री पृथ्वी तस्याः प्रोद्धारः अतिशयेन समुद्धारः कर्म

वाली नहीं दीखती ॥ १६ ॥ मनोहर काव्यकी रचना होनेपर भी कोई विरला ही सहृदय विद्वान् सन्तोषको प्राप्त होता है सो ठीक ही है; क्योंकि किसी चपललोचना स्त्रीके कटाक्षोंसे तिलकवृक्ष ही फूलता है अन्य वृक्ष नहीं ॥ १७ ॥ दूसरेके छोटेसे छोटे गुणमें भी बड़ा अनुराग और अपने बड़ेसे बड़े गुणमें भी असन्तोष, जिसके मनका ऐसा विवेक है उस साधुसे हितके लिए क्या प्रार्थना की जाये ? वह तो प्रार्थनाके बिना ही हितमें प्रवृत्त है ॥ १८ ॥ सज्जन पुरुषोंकी रचना करते समय ब्रह्माजीके हाथसे किसी प्रकार जो परमाणु नीचे गिर गये थे मैं मानता हूँ कि मेघ, चन्द्रमा, वृक्ष तथा चन्दन आदि अन्य उपकारी पदार्थोंकी रचना उन्हीं परमाणुओंसे हुई है ॥ १९ ॥ यद्यपि साधुपुरुष कारणवश विमुख भी हो जाता है तो भी परोपकारी कार्योंका भार धारण करनेमें समर्थ ही रहता है । माना कि कच्छप पृथिवीके प्रति

१. पीयूषप्रवाहिनी च । २. अत्रायं प्रासङ्गिकः श्लोकः—
'स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात् पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ।
मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः ॥'

निसर्गशुद्धस्य सतो न कश्चिच्चेतोविकाराय भवत्युपाधिः ।
त्यक्तस्वभावोऽपि विवर्णयोगात्कथं तदस्य स्फटिकोऽस्तु तुल्यः ॥२१॥
खलं विधात्रा सृजता प्रयत्नात्किं सज्जनस्योपकृतं न तेन ।
ऋते तमांसि द्युमणिर्मणिर्वा विना न काचैः स्वगुणं व्यनक्ति ॥२२॥
दोषानुरक्तस्य खलस्य कस्याप्युलूकपोतस्य च को विशेषः ।
अह्नीव सत्कान्तिमति प्रबन्धे मलीमसं केवलमीक्षते यः ॥२३॥
न प्रेम नम्रेऽपि जने विधत्से मित्रेऽपि मैत्रीं खल नातनोषि ।
तदेष किं नेष्यति न प्रदोषस्त्वामञ्जसा सायमिवावसानम् ॥ २४ ॥

क्रिया, गरिष्ठं महत्तरं च तद्धात्री प्रोद्धारकर्म च तत्र प्रवणो किं न भवति ? अपि तु भवत्येव । अथ च 'दत्तपृष्ठेन न किमपि कार्यं सार्यते' इति लोकानुवादः । दृष्टान्ताक्षेपोऽयमलंकार ॥२०॥ दुर्जनैः सुजनोऽपि[1] दौर्जन्यं नीयत इति निराकुर्वन्नाह—निसर्गेति—सतः साधोर्निसर्गशुद्धस्य स्वभावनिर्मलस्य कश्चिदुपाधिः कोऽपि बाह्योपरङ्गश्चेतोविकाराय मनःक्षोभाय न भवति, शतशोऽलीकवादिभिः प्रणोदितोऽपि स तदवस्थ एवेत्यर्थः । तस्यैतल्लक्षणस्य कथं केन प्रकारेण शुभ्राक्षमणिरपि तुल्यः सदृशोऽस्तु मा भूदित्यर्थः । अतोऽसौ विवर्णयोगादन्यजपादिवर्णप्रसङ्गात्त्यक्तस्वभावस्त्यक्तसहजच्छायः । आक्षेपगर्भो व्यतिरेकालंकारः ॥ २१ ॥ आक्षेपणीयनिरपेक्षं हि वस्तु नात्मत्वमपि लभत इति निवेदयन्नाह—खलमिति—तेन विधात्रा ब्रह्मणा खलं दुर्जनं सृजता निर्मापयता किं प्रयत्नात् महतादरेण सज्जनस्य नोपकृतम् अपि तूपकृतमेव तस्य सौजन्यं तेन स्थापितमित्यर्थः । केन दृष्टान्तेनेत्याह—द्युमणिरादित्यः स्वगुणं स्वस्यात्मनः प्रभावं न व्यनक्ति न प्रकटयति । कथम् । तमांसि ऋते ध्वान्तव्यतिरेकेण मणिर्वा रत्नं वा काचैर्विना न स्वगुणं व्यनक्ति । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥ २२ ॥ असद्दोषोद्भाविनो दुर्जना इति स्पष्टीकुर्वन्नाह— दोषेति—कस्याप्यगृहीतनामधेयस्य खलस्य उलूकपोतस्य घूकबालस्य च को विशेषः । का परिच्छित्तिः । न कोऽपीत्यर्थः । द्वयोरपि वर्णश्लेषेण साम्यमाह—दोषानुरक्तस्य दोषेष्वनुरक्त आसक्तस्तस्य पक्षे दोषा रात्रिः । यः खलः केवलं मलीमसं दोषमेवेक्षते पश्यति । क्व । प्रबन्धे च उक्तसमुच्चये, सत्कान्तिमति प्रशस्त[2]कान्तिलक्षणयुक्ते । कस्मिन्निव । यथा सत्कान्तिमति सुप्रकाशे दिवसे घूको ध्वान्तमेव वीक्षते तथा सोऽपीत्यर्थः । खण्डश्लेषोपमा ॥२३॥ अदोषे दोषोद्भावाग्राहिणो दुर्जनानाक्षिपन्नाह—न प्रेमेति—हे खल ! स्वभावमत्सरिन् ! नम्रेऽनुद्धतेऽपि जने न प्रेम स्नेहं त्वं विधत्से करोषि तथा मित्रेऽपि निजरहस्यकथकेऽपि न मैत्रीं प्रीतिमातनोषि विस्तारयसि । किमि-

दत्तपृष्ठ है—विमुख है फिर भी क्या वह गुरुतर पृथिवी के धारण करनेमें समर्थ नहीं है ? अवश्य है ॥२०॥ सज्जन पुरुष स्वभावसे ही निर्मल होता है अतः कोई भी बाह्य पदार्थ उसके चित्तमें विकार पैदा करनेके लिए समर्थ नहीं है । परन्तु स्फटिक विविध वर्णवाले पदार्थोंके संसर्गसे अपने स्वभावको छोड़कर अन्य रूप हो जाता है अतः वह सज्जनके तुल्य कैसे हो सकता है ?॥ २१ ॥ प्रयत्नपूर्वक दुर्जनकी रचना करनेवाले विधाताने सज्जनका क्या उपकार नहीं किया ? क्योंकि अन्धकारके बिना सूर्य और काँच के बिना मणि अपना गुण प्रकट नहीं कर सकता ॥२२॥ दोषोंमें अनुरक्त दुर्जन और दोषा—रात्रि में अनुरक्त किसी उल्लूके बच्चेमें क्या विशेषता है ? क्योंकि जिस प्रकार उल्लूका बच्चा उत्तम कान्तिसे युक्त दिनमें केवल काला काला अन्धकार देखता है उसी प्रकार दुर्जन उत्तम कान्ति आदि गुणोंसे युक्त काव्यमें भी केवल दोष ही दोष देखता है ॥ २३ ॥ रे दुर्जन, तू नम्र मनुष्यपर भी प्रेम नहीं करता और मित्रमें भी मित्रताको नहीं बढ़ाता

१. स्वजनोऽपि क० । २. श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् । अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥ नाटयशास्त्रे अ० १६ श्लोक ९० ।

श्रव्यं भवेत्काव्यमदूषणं यन्न निर्गुणं क्वापि कदापि मन्ये ।
गुणार्थिनो दूषणमाददानस्तत्सज्जनाद्दुर्जन एव साधुः ।। २५ ।।
अहो खलस्यापि महोपयोगः स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन ।
आकर्णमापूरितपात्रमेताः क्षीरं क्षरन्त्यक्षत एव गावः ।। २६ ।।
आः कोमलालापपरेऽपि या गाः प्रमादयन्तः कठिने खलेऽस्मिन् ।
शेवालशालिन्युपले छलेन पातो भवेत्केवलदुःखहेतुः ।। २७ ।।
आदाय शब्दार्थमलीमसानि यद्दुर्जनोऽसौ वदने दधाति ।
तेनैव तस्याननमेव कृष्णं सतां प्रबन्धः पुनरुज्ज्वलोऽभूत् ।। २८ ।।

त्याक्षेपे तत्तस्मादेष प्रत्यक्षः सर्वोपतापातिशयः पचेलिमपापफलविशेषः प्रदोषः प्रकटदोषस्त्वां दोषैकग्राहरसिकं किमवसानं विनाशं नेष्यति प्रापयिष्यति अपि तु नेष्यत्येव । किमिव । सायमिव यथा प्रदोषो रजनीमुखं सायं दिनावसानं नेष्यति तथा त्वामपीत्यर्थः । खण्डश्लेषोपमा ।।२४।। आत्मगुणैकान्तमयत्वेन निराकृतान्स्तुतिद्वारेण दुर्जनानुपहसन्नाह—श्रव्यमिति—यत्काव्यमदूषणं निर्दोषं तदेव श्रव्यं श्रवणार्हं भवेत् न निर्गुणं गुणरहितं क्वापि कस्मिन्नपि बुधसंनिधाने कदापि कस्मिन् प्रस्तावेऽपि । तत्तस्मादहमेवं मन्ये इति विमृशामि, गुणार्थिनो गुणग्राहकात्सज्जनाद् दुर्जन एव साधुः प्रशस्यतरः । यतोऽसौ शल्यरूपं दूषणमाकर्षन् काव्यमुपादेयं करोतीत्यर्थः । अप्रस्तुतप्रशंसेयमलंकृतिः ।। २५ ।। भङ्ग्यन्तरेणापि पिशुनानेवोपहसन्नाह—अहो इति—अहो इति वितर्कोपहासे । स्नेहद्रुहः स्नेहविनाशकस्य दुर्जनस्य महानुपयोगो गुरूपकारः । यस्य परिशीलनेन यदुपचरणेन क उपयोगः । इत्याह—एताः कवीनां गावो वाचः, अक्षतमभिलषिताधिकममृतमेव वर्षन्ति । कथम् । यथा भवति उपचितरसभाजनजनम् । आकर्णं कर्णावभिव्याप्य दुर्जनाभिशङ्कया कवयः भाव्यं श्लाघ्यतमं विदधतीत्यर्थः । अत्र च पिण्याकस्य स्नेहत्यक्तस्योपयोगेन गावो धेनवः क्षीरं वर्द्धयन्त्याकण्ठं भृतदोहनीकमित्यर्थः । अर्थश्लेषोऽपमालंकारः ।। २६ ।। वचनमाधुर्यमात्रपिहितान्तर्दुष्टत्वं दुर्जनानां प्रतिपादयन्नाह—आ इति—आ इति तद्गुणस्मरणानुतापे अन्तर्दुष्टे दुर्जनं विश्वासं मा गाः मा गमः । कस्तदवस्थ एव संगच्छत इत्याह—मधुरवचनप्रकाशकेऽपि तत्र प्रमादं गच्छतां किं फलं स्यादित्याह—यथा जम्बालजटिले शिलातले छलेन कोमलोऽयमिति व्याजेन संचरतां यत्फलं स्यात्तदेवेत्यर्थः । खलोपलयोः शेवालकोमलालापयोरुपमानोपमेयभावः । तुल्ययोगितेयमलंकृतिः ।। २७ ।। पिशुनजनपैशुन्यं वितर्कयन्नाह—आदायेति—शब्दार्थाविव तयोर्वा मलीमसानि दूषणमषीरूपाणि गृहीत्वा यदसौ मुखमारोपयति । अतश्चोत्प्रेक्षते–तेन दोषमलावलेपेन तस्याननं तद्विधं साधूनां

अतः तेरा यह भारी दोष तुझे क्या उस प्रकार नाशको प्राप्त नहीं करा देगा जिस प्रकार कि रात्रिका प्रारम्भ सन्ध्याकाल को; क्योंकि सन्ध्याकाल भी न नम्र मनुष्य के साथ प्रेम करता है और न मित्र के—सूर्य के साथ मित्रता बढ़ाता है ।। २४ ।। यतश्च दूषणरहित काव्य ही सुनने योग्य होता है और निर्गुण काव्य कहीं भी कभी भी सुनने योग्य नहीं अतः मेरा विचार है कि गुणग्राही सज्जनकी अपेक्षा दोषग्राही दुर्जन ही अच्छा है ।। २५ ।। बड़े आश्चर्यकी बात है कि स्नेहहीन खल—दुर्जनका भी बड़ा उपयोग होता है; क्योंकि उसके संसर्गसे यह रचनाएँ बिना किसी तोड़के पूर्ण आनन्द प्रदान करती हैं । [अप्रकृत अर्थ] कैसा आश्चर्य है कि तैलरहित खलीका भी बड़ा उपयोग होता है क्योंकि उसके सेवनसे यह गायें बिना किसी आघातके बर्तन भर-भर कर दूध देती हैं ।। २६ ।। अरे ! मैं क्या कह गया ? दुर्जन भले ही मधुर भाषण करता हो पर उसका अन्तरंग कठिन ही रहता है, अतः उसके विषय में प्रमाद नहीं करना चाहिए; क्योंकि शेवालसे सुशोभित पत्थर के ऊपर धोखे से गिर जाना केवल दुःख का ही कारण होता है ।। २७ ।। यतश्च दुर्जन मनुष्य शब्द और अर्थ के दोषोंको ले-लेकर अपने मुख में रखता जाता

१. प्रमोद–छ ।

गुणानधस्तान्नयतोऽप्यसाधुपद्मस्य यावद्दिनमस्तु[1] लक्ष्मीः ।
दिना[1]वसाने तु भवेद्गतश्री राज्ञः[2] सभा[3]संनिधिमुद्रितास्यः ॥ २९ ॥
उच्चासनस्थोऽपि सतां न किंचिन्नीचः स चित्तेषु चमत्करोति ।
स्वर्णाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक[4] एव ॥ ३० ॥
वृत्तिर्मरुद्द्वीपवतीव साधोः खलस्य वैवस्वतसोदरीव ।
तयोः प्रयोगे[5] कृतमज्जनो वः प्रबन्धबन्धुर्लभतां विशुद्धिम् ॥ ३१ ॥

ग्रन्थविस्तरस्तु गतदोषत्वान्निर्मलः कान्तिमानेव बभूवेत्यर्थः । अत्र च परगुणदर्शनामर्षाद्दुर्जनवदनं कृष्णमेवेति जनानुवादः । उत्प्रेक्षेयमलंकृतिः ॥ २८ ॥ निजसमयावष्टम्भेन दुर्जनो गुणानधिक्षिपन्न चिरं नन्दतीति सूचयन्नाह—**गुणानिति**—असाधुरेव पद्मोऽसाधुपद्मस्तस्य यावद्दिनं शुभदशावधि लक्ष्मीः प्रभुत्वसम्पत्तिरस्तु । कीदृशस्य । गुणानधः कुर्वतोऽपि शुभदशाप्रागल्भ्येन यथेष्टं चेष्टतामित्यर्थः । अस्यैव दुर्विलसितस्य फलं दर्शयन्नाह—पुण्यदशान्ते तु गतप्रतिष्ठो मीलितमुखः स्यान्नृपतेरधिसभम् । अथ चाधोनालकाण्डे तन्तून् सृजतो निन्द्यपद्मस्य दिवसमधिविकासोऽस्तु । सायं तु चन्द्रमःकान्तिसंनिधौ संकुचितकोशो विच्छाय इत्यर्थः । रूपकश्लेषालंकारः ॥२९॥ वाक्चापलचातुरीचुञ्चवोऽपि नीचा न सतां पुरतः प्रतिभान्तीति निवेदयन्नाह—**उच्चेति**—सोऽधमाधमो नीचः सतां चित्तेष्वनेकगुणगरिममहिमगम्भीरेषु किंचिन्मनागपि न चमत्करोति न विशेषवत्तयात्मानं निवेशयतीति । किं तदवस्थ इत्याह—उच्चासनस्थोऽपि अविशेषज्ञजनैर्महागुणिपदं स्थापितोऽपि । अमुमेवार्थमर्थान्तरद्वारेण दृढयति—मेरुशिखरकोटिमधिरूढोऽपि ध्वाङ्क्षो निश्चयेन स तादृश एव न हि नाम बाह्याधारगुणवत्त्वेनाधेयस्यापि गुणवत्त्वमित्यर्थः । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥३०॥ यथा स्वरूपेण सुजनदुर्जनवृत्तिवर्णनं संक्षिपन्नाह—**वृत्तिरिति**—साधोः सज्जनस्य वृत्तिश्चारित्रं मरुद्द्वीपवतीव गङ्गेव निर्मलत्वात्कलङ्कतापापहारकत्वाच्च । खलस्य दुर्जनस्य च वृत्तिर्वैवस्वतसोदरीव यमुनेव मलिनच्छायत्वाद्भयोत्पादकत्वाच्च । तयोः स्व [सु] जनदुर्जनवृत्तिगङ्गायमुनयोः प्रयोगे संगमे कृतमज्जनः कृतावतारो नोऽस्माकं प्रबन्ध एव बन्धुः प्रबन्धबन्धुर्भवविपत्समुद्धरणधीरत्वात्सकीर्तिविभवोत्पादनसहायत्वाच्चास्य बन्धुता । विशुद्धिं निर्मलतां लभतां प्राप्नुयात् ।

है—मुख-द्वारा उच्चारण करता है अतः उसका मुख काला होता है और दोष निकल जानेसे सज्जनोंकी रचना उज्ज्वल—निर्दोष हो जाती है ॥ २८ ॥ गुणोंका तिरस्कार करनेवाले अथवा मृणालके तन्तुओंको नीचे ले जाने वाले दुर्जन रूप कमलकी शोभा तबतक भले ही बनी रहे जबतक कि दिन है अथवा पुण्य है परन्तु दिनका अवसान होते ही जिस प्रकार कमल चन्द्रमाकी किरणोंके सम्पर्कसे मुद्रित वदन—निमीलित होकर शोभा हीन हो जाता है उसी प्रकार दुर्जन मनुष्य दिन—पुण्यका अवसान होते ही किसी न्यायी राजाकी सभामें मुँह बन्द हो जानेसे शोभाहीन हो जाता है ॥ २९ ॥ नीच मनुष्य उच्च स्थानपर स्थित होकर भी सज्जन मनुष्योंके चित्तमें कुछ भी चमत्कार नहीं करता । सो ठीक ही है; क्योंकि कौआ सुमेरु पर्वत के शिखरके अग्रभाग पर भी क्यों न बैठ जावे पर आखिर नीच कौआ कौआ ही रहता है ? ॥ ३० ॥ यतश्च सज्जन मनुष्यका व्यवहार गंगा नदीके समान है और दुर्जनका यमुनाके समान, अतः उन दोनोंके संगमरूप—प्रयाग क्षेत्रमें अवगाहन करनेवाला हमारा काव्यरूपी बन्धु विशुद्धिको प्राप्त हो । [जिस प्रकार प्रयागमें गंगा और यमुना नदीके संगममें गोता लगाकर मनुष्य शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार सज्जन और दुर्जनकी प्रशंसा तथा निन्दाके बीच पड़कर हमारा काव्य विशुद्ध—निर्दोष हो जावे] ॥ ३१ ॥

---

१. दिनं दिवसः पुण्यं च । २. राज्ञो नृपतेश्चन्द्रस्य च "राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः ।" इति कोषः । ३. असाधुपक्षे सभासंनिधि—इत्येकं पदं पद्मपक्षे स इति पृथक् पदम् । ४. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः । ५. प्रयागे—म० ।

अथास्ति जम्बूपपदः पृथिव्यां द्वीपः प्रभान्यक्कृतनाकलोकः[3] ।
यो वृद्धया मध्यगतोऽपि लक्ष्म्या द्वीपान्तराणामुपरीव तस्थौ ॥ ३२ ॥
क्षेत्रच्छदैः पूर्वविदेहमुख्यैरधःस्थितस्फारफणीन्द्रदण्डः ।
चकास्ति रुक्माचलकर्णिको यः सद्म श्रियः पद्म इवाब्धिमध्ये ॥ ३३ ॥
द्वीपेषु यः कोऽपि करोति गर्वं मयि स्थितेऽप्यस्तु स मे पुरस्तात् ।
इतीव येन ग्रहकङ्कणाङ्को हस्तो[2]ऽभ्युदस्तस्त्रिदशाद्रिदम्भात् ॥ ३४ ॥
पश्यन्तु संसारतमस्यपारे सन्तश्चतुर्वर्गफलानि सर्वे ।
इतीव यो द्विद्विदिवाकरेन्दुव्याजेन धत्ते चतुरः प्रदीपान् ॥ ३५ ॥
अवाप्य सर्पाधिपमौलिमैत्रीं छत्रद्युतिं तन्वति यत्र वृत्ते ।
धत्ते समुत्तेजितशातकुम्भकुम्भप्रभां कांचन काञ्चनाद्रिः ॥ ३६ ॥

संगमकृतस्नानजनाः शुद्धचन्तीति प्रसिद्धिः[1] ॥ ३१ ॥ अभिमतदेवस्तुत्यादिकं संक्षिप्य प्रस्तुतावतारमाह—**अथेति**—अथानन्तरं जम्बूद्वीपोपपदो जम्बूशब्दपूर्वो द्वीपोऽस्ति जम्बूद्वीप इत्यर्थः । प्रभापराभूतस्वर्गलोको यो द्वीपान्तराणामन्यद्वीपानां मध्यगतोऽपि नाभिभूतोऽपि उपरि शिरसीव तस्थौ आसांचक्रे । कयेत्याह—वृद्धयाऽद्भुतप्रभावया लक्ष्म्या । इतरमेरूच्चतरसुदर्शनादिविभूत्या । अथ च यो मध्ये भवति स कथमुपरिस्थः स्यादिति विरोधालंकारः ॥ ३२ ॥ तस्यैव स्वरूपं वर्णयन्नाह—**क्षेत्रेति**—क्षेत्राण्येव छदानि पत्राणि तैः, कानि तानीत्याह—पूर्वविदेहमुख्यैः पूर्वस्यां विदेहनाम क्षेत्रं पूर्वविदेहः स एव मुख्यः प्रधानं येषां तानि तैस्तथाविधैः । पद्मरूपकतां परिपूर्णयन्नाह—अधःस्थितस्फारस्तदनुरूपः फणीन्द्रः शेषाहिरेव दण्डं नालं यत्र स तद्विधः । पुनः कीदृक् । रुक्माचलकर्णिकः सुवर्णाचल एव कर्णिका बीजकोशो यत्र सः । अतः पद्मसाधर्म्यात् सद्म गृहं श्रियः पद्मवासायाः । शुद्धरूपकोऽयमलंकारः ॥ ३३ ॥ तस्यैव महिमगाम्भीर्यं वर्णयन्नाह—**द्वीपेष्विति**—मय्यपि जम्बूद्वीपे स्थिते ऊर्ध्वद्वीपेषु मध्ये यः कोऽपि गर्वं करोति स मे पुरस्ताद् आविर्भवतु इति गर्वोद्धुरद्वारेणेव येन हस्तोऽभ्युदस्तो बाहुरूर्ध्वीकृतस्त्रिदशाद्रिदम्भान्मेरुव्याजात् । ग्रहा एव कङ्कणानि तान्येवाङ्कोऽभिज्ञानं यत्र स तादृक् पर्यन्तभ्रमत्सोमसूर्यादिमणिकटक इत्यर्थः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३४ ॥ **पश्यन्त्विति**—सर्वे साधवोऽपारेऽनन्ते संसारतमसि भवध्वान्ते चतुर्वर्गफलानि चत्वारश्च ते वर्गाश्च पुरुषार्थकाममोक्षलक्षणास्तेषां फलान्युपभोगस्वरूपाणि पश्यन्तु विभावयन्तु इतीव हेतोरिव यश्चतुरः प्रदीपान् धत्ते उज्ज्वलयति । केनेत्याह—द्विद्विदिवाकरेन्दुव्याजेन द्वौ दिवाकरौ द्वौ च चन्द्रौ तेषां व्याजेन । अनन्ततमसि न किमपि कार्यं प्रवर्तत इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ तस्य छत्ररूपकतां निरूपयन्नाह—**अवाप्येति**—यत्र काञ्चनाद्रिर्मेरुः, समुत्तेजितशातकुम्भकुम्भप्रभाम् उज्ज्वलितसुवर्णकलशशोभां कांचनानन्यत्र दृष्टां धत्ते धारयति । क्व सति । वृत्ते जम्बूद्वीपपरिधि-

इस पृथिवीपर अपनी प्रभाके द्वारा स्वर्गलोकको तिरस्कृत करनेवाला एक जम्बूद्वीप है जो यद्यपि सब द्वीपोंके मध्यमें स्थित है फिर भी अपनी बढ़ी हुई लक्ष्मीसे ऐसा जान पड़ता है मानो सब द्वीपोंके ऊपर ही स्थित हो ॥ ३२ ॥ यह द्वीप पूर्वविदेह क्षेत्र आदि कलिकाओंसे युक्त है, उसके नीचे शेषनागरूपी विशाल मृणालदण्ड है और ऊपर कर्णिकाकी तरह सुमेरु-पर्वत स्थित है अतः ऐसा सुशोभित होता है मानो समुद्रके बीच लक्ष्मीका निवासभूत कमल ही हो ॥ ३३ ॥ मेरे रहते हुए भी द्वीपोंके बीच जो अहंकार करता हो वह मेरे सामने हो ऐसा कहनेके लिए ही मानो उस जम्बूद्वीपने सुमेरु पर्वतके बहाने ग्रहरूप कंकणसे चिह्नित अपना हाथ ऊपर उठा रखा है ॥ ३४ ॥ अपार संसाररूप अन्धकारके बीच सभी सज्जन एक साथ चतुर्वर्गके फलको देख सकें—इसलिए ही मानो यह द्वीप दो सूर्य और दो चन्द्रमाओंके बहाने चार दीपक धारण करता है ॥ ३५ ॥ यह वर्तुलाकार जम्बूद्वीप

१. उपमागर्भो रूपकालंकारः । २. हस्तो व्युदस्त–म० । ३. नाकि–म० ।

सम्यक्त्वपाथेयमवाप्यते चेदृजुस्तदस्मादपवर्गमार्गः ।
इतीव लोके निगदत्युदस्त शैलेन्द्रहस्ताङ्गुलिसंज्ञया यः ॥ ३७ ॥
पातुं बहिर्मारुतमङ्कसुप्तलक्ष्मीलसत्कुङ्कुमपङ्कपीतः ।
तदन्तरुद्भिद्य महीमहीनामभ्युत्थितो नाथ इवास्ति मेरुः ॥ ३८ ॥
चकास्ति पर्यन्तपतत्पतङ्गे यत्राम्बरं दीप इवोपरिष्टात् ।
कयापि शृङ्गाग्रघनाञ्जनानां जिघृक्षया पात्रमिव प्रदत्तम् ॥३९॥
द्यावापृथिव्योः पृथुरन्तरे यः कृतस्थितिः स्थूलरथाङ्गकान्त्योः ।
युगानुकारिध्रुवमण्डलश्रीरूर्ध्वो रथस्याक्ष इवावभाति ॥४०॥

मण्डले, किं कुर्वति । तन्वति विस्तारयति, छत्रद्युतिमातपत्रविस्तारम् । दण्डघटनामाह––किं कृत्वा । अवाप्य लब्ध्वा सर्वाधिपमौलिमैत्रीं सरलशेषाहिमस्तकस्थितिम् । अत्र दण्डोपमा शेषस्य, छत्रोपमा द्वीपमण्डलस्य, वृत्तविशेषणादनुक्ताप्यत्र झल्लरीस्थितिर्ज्ञेया समुद्रस्य, कुम्भोपमा सुमेरोरित्यर्थः ॥ ३६ ॥ तस्य मुक्तिसाधनस्थानत्वं निरूपयन्नाह––**सम्यक्त्वमिति**––यो जम्बूद्वीपो निगदति कथयतीव । कया । उदस्तशैलेन्द्रहस्ताङ्गुलिसंज्ञया शैलेन्द्र एव हस्ताङ्गुलिस्तस्याः संज्ञा तया ऊर्ध्वितमेरुतर्जनीसमभिज्ञानेन, लोकेभ्यः, किं तद् । इत्याह–– अस्मादतो भूमिभागादपवर्गमार्गो मोक्षपथ ऋजुः सुप्रापः । चेत्, किं चेद्यदि सम्यक्त्वपाथेयं रत्नत्रयं सम्बलं प्राप्यते । मानुषोत्तरबहिर्भूतेष्वसंख्यातद्वीपेषु न मोक्ष इति वाक्यार्थः । खण्डरूपोत्प्रेक्षा ॥ ३७ ॥ तत्रादिभूते मेरुरिति ख्यापयन्नाह––**पातुमिति**––तदन्तस्तन्मध्ये मेरुः शाश्वतः सुवर्णशैलोऽस्ति । अतश्चोत्प्रेक्षते––अहीनां फणिनां नाथः शेष इव । कुतोऽत्र तस्य संभावनेत्याह––महीं पृथ्वीम् उद्भिद्य ऊर्ध्वं भित्त्वा अभ्युत्थित ऊर्ध्वमाजगाम । किं कर्तुमित्याह––पातुं बहिर्मारुतं बाह्यवायुपानाय । तस्य श्वेतत्वप्रसिद्धेः कथं पीतत्वमित्याह––अङ्कसुप्तलक्ष्मीलसत्कुङ्कुमपङ्कपीतः अङ्के सुप्ता चासौ लक्ष्मीश्च तस्या लसन् विगलन्योऽसौ कुङ्कुमपङ्कस्तेन पीतः पिञ्जरः तल्पीभूतशेषाङ्कशायिका हि लक्ष्मीरिति ॥ ३८ ॥ **चकास्तीति**––यत्र मेरावुपरिष्टादूर्ध्वमम्बरमाकाशं चकास्ति शोभते । सुवर्णमयत्वादतश्चोत्प्रेक्ष्यते––दीप इव उपरि कयापि तद्दीपयोग्यया स्त्रिया प्रदत्तं स्थापितं पात्रमिव । दीपसाम्यं समर्थयन्नाह––पर्यन्ते पतन् भ्राम्यन् पतङ्गः सूर्यो यस्य स तस्मिंस्तथाविधे पक्षे पतङ्गः शलभः । किमर्थमित्याह––जिघृक्षया ग्रहीतुमिच्छया, शृङ्गाग्रे घना मेघा एवाञ्जनानि तेषाम्, पक्षे घनं बहुलम् । श्लेषोपमा ॥३९॥ **द्यावेति**––यो मेरुः कृतस्थितिः कृतनिवेशोऽन्तरे मध्ये पृथुरुपचितो द्यावापृथिव्योर्गगनमण्डलयोः । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते––रथस्य स्यन्दनस्याक्ष इव मुख्यावयव इव । अक्षसाम्यमुद्भावयति––स्थूलरथाङ्गकान्त्योः स्थूलचक्रसदृशयोर्युगानुकारिध्रुवमण्डलश्रीर्यत्र स तथाविधः ।

शेषनागके फणकी मित्रता प्राप्त कर––उसपर स्थित हो किसी छत्रकी शोभा बढ़ाता है और सुमेरु पर्वत उसपर तपाये हुए सुवर्ण-कलशकी अनिर्वचनीय शोभा धारण करता है ॥ ३६ ॥ यह जम्बूद्वीप ऊपर उठाये हुए सुमेरुपर्वतरूपी हाथकी अङ्गुलिके संकेतसे लोकमें मानो यही कहता रहता है कि यदि सम्यग्दर्शनरूपी सम्बल प्राप्त कर लिया जावे तो यहाँसे मोक्षका मार्ग सरल हो जाता है ॥३७॥ इस जम्बूद्वीपके बीचमें सुमेरु पर्वत है जो ऐसा जान पड़ता है मानो गोदमें सोयी हुई लक्ष्मीके निकलनेवाले केशरके द्रवसे पीला-पीला दिखाई देनेवाला शेषनाग ही बाहरकी वायुका सेवन करनेके लिए पृथिवीको भेद कर प्रकट हुआ हो ॥ ३८ ॥ जिसके चारों ओर पतंग––सूर्य प्रदक्षिणा दे रहा है ऐसे सुमेरु पर्वतके ऊपर आकाश ऐसा मालूम होता है मानो शिखरके अग्रभागपर लगे हुए मेघरूपी अंजनको ग्रहण करनेकी इच्छासे किसी स्त्रीने जिसके चारों ओर––पतंग––शलभ घूम रहे हैं ऐसे दीपकपर बर्तन ही औंधा दिया हो ॥३९॥ पृथिवी और आकाश किसी रथके स्थूल पहियों की तरह सुशोभित हैं और उनके बीच उन्नत खड़ा हुआ सुमेरु पर्वत उसके ठीक भौंरा की तरह जान पड़ता है। इसके पास ही जो ध्रुवताराओंका मण्डल है वह युगकी शोभा धारण करता है ॥४०॥

तद्दक्षिणं भारतमस्ति तस्य क्षेत्रं जिनेन्द्रागमवारिसेकात् ।
स्वर्गादिसंपत्फलशालि यत्र निष्पद्यते पुण्यविशेषसस्यम् ॥४१॥
यत्सिन्धुगङ्गान्तरवर्त्तिनोच्चैः शैलेन भिन्नं विजयार्धनाम्ना ।
भारेण लक्ष्म्या इव दुर्वहेन बभूव षट्खण्डमखण्डशोभम् ॥४२॥
तत्रार्यखण्डं[1] त्रिदिवात्कथंचिच्च्युतं निरालम्बतयेव खण्डम् ।
ललामवन्मण्डयति स्वकान्त्या देशो महानुत्तरकोशलाख्यः ॥४३॥
अनेकपद्माप्सरसः समन्ताद्यस्मिन्नसंख्यातहिरण्यगर्भाः ।
अनन्तपीताम्बरधामरम्या ग्रामा जयन्ति त्रिदिवप्रदेशान् ॥४४॥

ऊर्ध्वोऽतिर्यग्रूपः, अन्यस्याक्षस्य चक्रद्वयं वामदक्षिणं स्यादस्य तु न तादृक् किन्त्वध ऊर्ध्वम् । अतएव ऊर्ध्व इति भावः । रूपकोत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥ तन्मध्ये विशेषस्थानं निर्द्धारयन्नाह—तद्दक्षिणमिति—तस्य मेरोर्दक्षिणं दक्षिणदिग्भागस्थं भारतं नाम क्षेत्रमस्ति । क्षेत्रमिति शब्दसाम्यादर्थमपि स्थापयन्नाह—यत्र किं यत्र । पुण्यविशेषसस्यं धान्यं निष्पद्यते स्वर्गादिसंपत्फलशालि स्वर्गादिसंपदेव फलं तेन सश्रीकं शोभते तद् तद्विधं जिनेन्द्रागमवारिसेकात् जिनश्रुतामृतवर्षात् । श्लेषरूपकम् ॥ ४१ ॥ तस्य संस्थानं निरूपयन्नाह—यदिति—यद् विजयार्द्धनाम्ना शैलेन भिन्नं विभक्तं षट्खण्डं षड्भागं बभूव । कथमित्याह—सिन्धुगङ्गान्तरवर्तिना सिन्धुगङ्गानद्यौ तयोरन्तरे मध्ये वर्तते तेन पूर्वापरप्रवृत्तिनदीद्वन्द्वमध्यगेनेत्यर्थः । अतश्च ज्ञायते—लक्ष्म्या आत्मसंपदो दुर्वहेन भारेण षट्खण्डतां गतम्, अखण्डशोभं परिपूर्णशोभम् । अथ च यत् षट्खण्डं भवति तत्कथमखण्डशोभमिति विरोधः ॥४२॥ तस्य क्षेत्रस्य षट्खण्डानां मध्ये शुभखण्डं निरूपयन्नाह—तत्रेति—तत्र भरतक्षेत्रे उत्तरकोशलाख्य उत्तरकोशलसंज्ञो देशो मण्डयति अलंकरोति ललामवत्तिलक इव । किं मण्डयतीत्याह—आर्यखण्डनामधेयं भरतविभागम् । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—त्रिदिवात्स्वर्गात् च्युतं खण्डमिव । कया । निरालम्बतया अनाधारतया । कथंचिदज्ञातप्रकारेण ॥ ४३ ॥ देशवैभवमुद्भावयन्नाह—अनेकेति—यस्मिन् देशे ग्रामास्त्रिदिवप्रदेशान् स्वर्गभागान् जयन्ति पराभवन्ति । ग्रामाणां स्वर्गाधिक्यं स्थापयन्नाह—अनेकपद्मैरुपलक्षिता आपो येषु तानि अनेकपद्माम्पि तथाभूतानि सरांसि येषु ते तथाविधाः । असंख्यातं हिरण्यं सुवर्णं गर्भे येषां तथाविधाः । अनन्तं पीतं पिहितमम्बरमाकाशं यैस्तानि, पीताम्बराणि च तानि धामानि च । अनन्तपीताम्बरैर्धामभिः कमनीयाः, पक्षे पद्मा लक्ष्मीरप्सरसो देवाङ्गना, एकया उपलक्षिताप्सरसो येषु तथाविधाः

उस जम्बूद्वीपके दक्षिण भागमें स्थित वह जम्बूद्वीप है जो कि वास्तवमें किसी क्षेत्र—खेतकी तरह ही सुशोभित है और जिसमें तीर्थंकरोंके जन्मरूपी जलके सेचनसे स्वर्ग आदिकी सम्पत्ति रूपी फलसे सुशोभित पुण्यरूपी विशेष धान्य सदा उत्पन्न होता रहता है ॥ ४१ ॥ अखण्ड शोभाको धारण करनेवाला वह भरत क्षेत्र सिन्धु और गङ्गा नदीके मध्यवर्ती विजयार्ध नामक ऊँचे पर्वतसे विभाजित होकर छह खण्डवाला हो गया है; उससे ऐसा मालूम होता है मानो लक्ष्मीके भारी बोझसे ही चटक कर छह टूक हो गया हो ॥ ४२ ॥ उस भरत क्षेत्रमें एक आर्यखण्ड है जो ऐसा जान पड़ता है मानो निराधार होनेके कारण आकाशसे गिरा हुआ स्वर्गका एक टुकड़ा ही हो । उस आर्यखण्डको उत्तर कोशल नामका एक बड़ा देश आभूषण की तरह अपनी कान्तिसे सुशोभित करता रहता है ॥ ४३ ॥ उस देशके गाँव स्वर्गके प्रदेशोंको जीतते हैं, क्योंकि स्वर्गके प्रदेशोंमें तो एक ही पद्मा नामक अप्सरा है परन्तु उन गाँवोंमें अनेक पद्मा नामक अप्सराएँ हैं [पक्षमें कमलोंसे उपलक्षित जलके सरोवर हैं], स्वर्गके प्रदेशोंमें एक ही हिरण्यगर्भ—ब्रह्मा है परन्तु वहाँ असंख्यात हैं [पक्षमें असंख्यात—अपरिमित हिरण्य—सुवर्ण उनके गर्भ—मध्यमें हैं] और

1. यत्रार्य–ग० ।

यन्त्रप्रणालीचषकैरजस्रमापीय पुण्ड्रेक्षुरसासवौघम् ।
मन्दानिलान्दोलितशालिपूर्णा विघूर्णते यत्र मदादिवोर्वी ॥४५॥
विस्तार्य तारा रभसान्निशि द्यौः पुनः पुनर्यद्दिवसे प्रमार्ष्टि ।
उत्पुण्डरीकैः किल यत्सरोभिः स्वं लब्धसाम्यं तदमन्यमाना ॥४६॥
उत्पालिकाभ्रूस्तिमितैस्तडागचक्षुःसहस्रैरिव विस्मयेन ।
यद्वैभवं भूरपि वीक्ष्य धत्ते रोमाञ्चमुद्यत्कलमच्छलेन ॥ ४७ ॥
जनैः प्रतिग्रामसमीपमुच्चैः कृता वृषाढ्यैर्वरधान्यकूटाः ।
यत्रोदयस्ताचलमध्यगस्य विश्रामशैला इव भान्ति भानोः ॥ ४८ ॥
नीरान्तरात्तप्रतिमावतारास्तरङ्गिणीनां तरवस्तटेषु ।
विभान्ति यत्रोर्ध्वगतार्कतापात्कृतप्रयत्ना इव मज्जनाय ॥ ४९ ॥

स्वर्गाः । संख्यातः परिच्छिन्न एक एव हिरण्यगर्भो येषु ते तद्विधाः । असंख्यातः अन्तपरिच्छिन्नः एकपीताम्बरस्य धाम प्रतापो येषु तथाविधाः । ग्रामेषु स्वर्गस्थानानां प्राचुर्यमिति भावः श्लेषव्यतिरेकः ॥ ४४ ॥ **यन्त्रेति**—यत्र यस्मिन् देशे उर्वी पृथिवी मदादिवापानोद्रेकादिव विघूर्णते सलीलं दोलायते । कथमित्याह—मन्दानिलेनान्दोलितैः शालिभिः शालिक्षेत्रैः पूर्णा । आपीयास्वाद्य पुण्ड्रेक्षुरसं कृष्णेक्षुरसं मदिराप्रवाहं कैः पात्रैरित्याह—यन्त्रप्रणालीचषकैः पानकप्रणालीकोशकैः[1] ॥ ४५ ॥ **विस्तार्येति**—द्यौर्गगनं निशि रात्रौ तारा नक्षत्राणि विस्तार्य पुनः पुनरनवरतं यद्दिवसे प्रमार्ष्टि भनक्ति तदहं मन्ये यस्य देशस्य सरोभिरुत्पुण्डरीकैरुद्गतसिताम्बुजैः सह स्वमात्मानं लब्धसाम्यम् अमन्यमानातर्कयन्ती उत्पुण्डरीकतडागसादृश्यावाप्तयेऽभ्यस्यतीत्यर्थः । गगनसरसोस्तारापुण्डरीकयोश्चोपमानोपमेयभावः । अनुमानोऽयमलंकारः ॥४६॥ **उत्पालिकेति**—यस्य देशस्य वैभवं विभवाश्चर्यं वीक्ष्य भूरपि रोमाञ्चं धत्ते । केनेत्याह—उद्गच्छत्कलमाङ्कुरव्याजेन । कैर्वीक्ष्येत्याह—तडागचक्षुःसहस्रैः कीदृशैः । उच्चपालिबन्धभ्रूनिश्चलैः[2] ॥ ४७ ॥ **जनैरिति**—यत्र देशे धान्यकूटा धान्यराशयो जनैः कृता आरोपिता वृषाढ्यैः पुण्योपचितैः सवृषभैर्वा प्रतिग्रामं ग्रामाणां सीमामभिव्याप्य । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते–भानोरादित्यस्य विश्रामशैला इव विश्रान्तिपर्वता इव उदयास्ताचलमध्यगस्य उदयश्च अस्तं च तावचलौ तयोर्मध्यगतस्य । उदयास्ताचलसदृशा धान्यराशय इति भावः ॥ ४८ ॥ **नीरान्तरेति**—तरङ्गिणीनां नदीनां तटेषु तरवो वृक्षा विभान्ति नीरमध्यगृहीतप्रतिबिम्बावताराः । अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—मज्जनाय स्नानाय

स्वर्गके प्रदेश एक ही पीताम्बर—नारायणके धाम—तेजसे मनोहर हैं परन्तु गाँव अनन्त पीताम्बरोंके धामसे मनोहर हैं [पक्षमें अपरिमित उत्तुङ्ग भवनोंसे सुशोभित हैं] ॥ ४४ ॥ मन्द-मन्द वायुसे हिलते हुए धान्यसे परिपूर्ण वहाँकी पृथिवी ऐसी जान पड़ती है मानो यन्त्रोंके पनाले रूप प्यालोंके द्वारा पौंड़ा और इक्षुओंके रसरूपी मदिराको पीकर नशासे ही झूम रही हो ॥४५॥ यतश्च आकाश रात्रिके समय ताराओंको सहसा फैला देता है और दिनके समय उन्हें साफ़ कर देता है—मिटा देता है इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो वह फूले हुए कमलोंसे सुशोभित उस देशके सरोवरोंके साथ प्राप्त हुई अपनी सदृशताको स्वीकृत न कर ही मिटा देता है ॥४६॥ बन्धानरूपी भौंहों तक निश्चल तालाबरूपी हजारों नेत्रोंके द्वारा जिस देशका वैभव देखकर पृथिवी भी उगते हुए धान्यके बहाने आश्चर्यसे मानो रोमांच धारण करती है ॥४७॥ जिस देशमें प्रत्येक गाँवके समीप लोगोंके द्वारा लगाये हुए धान्यके ऊँचे-ऊँचे ढेर ऐसे जान पड़ते हैं मानो उदयाचल और अस्ताचलके बीच गमन करने वाले सूर्यके विश्रामके लिए किन्हीं धर्मात्माओंके द्वारा बनाये हुए विश्राम पर्वत ही हों ॥ ४८ ॥ जहाँ नदियोंके किनारेके वृक्ष जलके भीतर प्रतिबिम्बित हो रहे हैं और उससे ऐसे जान पड़ते हैं मानो ऊपर स्थित

१. रूपकोत्प्रेक्षालंकारः । २. रूपकोत्प्रेक्षालंकारः ।

सस्यस्थलीपालकबालिकानामुल्लोलगीतश्रुतिनिश्चलाङ्गम् ।
यत्रैणयूथं पथि पान्थसार्थाः [1]सल्लेप्यलीलामयमामनन्ति ॥ ५० ॥
आस्कन्धमृज्वी तदनल्पपत्रप्रसूनशाखावलया द्रुमाली ।
मयूरपत्रग्रथितातपत्रश्रीर्यस्य देशाधिपतित्वमाह ॥ ५१ ॥
यत्रालिमालास्थलपङ्कजानां सौरभ्यलोभादभितो भ्रमन्ती ।
विभाति लोलाध्वगलोचनानां बन्धाय सिद्धायसशृङ्खलेव ॥ ५२ ॥
यं तादृशं देशमपास्य रम्यं यत्क्षारमब्धिं सरितः समीयुः ।
बभूव तेनैव [2]जलाशयानां तासां प्रसिद्धं किल [3]निम्नगात्वम् ॥ ५३ ॥
भूकण्ठलोलन्नवपुण्डरीकस्रग्बन्धुरा [4][5] गोधनधोरणी या ।
सा यस्य दिङ्मण्डलमण्डनाय विस्तारिणी कीर्तिरिवावभाति ॥५४॥

कृतप्रयत्ना इवोर्द्ध्वगतार्कतापात् उपरिस्थितादित्यतापात्[6] ॥ ४९ ॥ **सस्येति**—यत्र पान्थसार्थाः पथिकसमूहा एणयूथं मृगकदम्बकं सल्लेप्यलीलामयं सद्वर्णोज्ज्वलपुस्तकर्म्मघटितमिव आमनन्ति वितर्कयन्ति । निश्चलकारणमाह—उल्लोलगीतश्रुतिनिश्चलाङ्गं तारगम्भीरगीतश्रवणैकाग्रचित्तं सस्यक्षेत्ररक्षकबालिकानाम् । भ्रान्तिमानलंकारः ॥ ५० ॥ **आस्कन्धमिति**—यस्य देशाधिपतित्वं देशराजत्वं द्रुमाली आह ब्रूते । मयूरपत्रग्रथितातपत्रश्रीः मयूरपत्रैर्मयूरपिच्छैर्ग्रथितं यदातपत्रं तस्येव श्रीराकृतिर्यस्याः सा तथाविधा । कथमित्याह—आस्कन्धमृज्वी स्कन्धं व्याप्य सरला दण्डवत् स्कन्धं यावत्सरलेत्यर्थः । तदनल्पेत्यादि—तैर्नीलिमकान्तिप्रसिद्धैरनल्पैः प्रचुरैः पत्रैः प्रसूनैश्च विचित्रपुष्पैरुपलक्षितं शाखामण्डलं यस्याः सा तथाविधा ॥ ५१ ॥ **यत्रेति**—यत्र स्थलपङ्कजसौरभतृष्णयाभितः सर्वतो भ्रमन्ती इतस्ततो विचञ्चूर्यमाणालिमाला विभाति । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—चञ्चलपथिकलोचनानां बन्धाय नियन्त्रणाय आयसशृङ्खलेव सिद्धा लोहहिञ्जीरवन्निष्पन्ना । स्थलनलिनखण्डोपरिभ्राम्यद्भ्रमरपङ्क्तिदर्शनरसनिर्निमेषाः पथिका इति भावः । असंगतिनामायमलंकारः ॥ ५२ ॥ **यमिति**—यं तादृशमनन्यसामान्यप्रभावं देशमपास्य त्यक्त्वा रम्यमनेकगुणगभीरं क्षारमब्धिं नामाख्यातगुणं यत् सरितो नद्यः समीयुः समाजग्मुः तेनैव हेतुना तासां निम्नगेति यथार्थाभिधानं प्रसिद्धिं ख्यातिं गतम् । विशेषणेन कारणमुद्भावयति—जलाशयानां जलमयीनां पक्षे मन्दाभिप्रायाणां किलेति सम्भाव्यते । उत्प्रेक्षागर्भोऽयमनुमानालंकारः ॥ ५३ ॥ **भूकण्ठेति**—या गोधनधोरणी गोवृन्दावली भूमिगललोलन्नवपुण्डरीकमालासदृशी सा यस्य देशस्य साक्षात्कीर्ति-

सूर्यके सन्तापसे व्याकुल होकर स्नानके लिए ही प्रयत्न कर रहे हों ॥ ४९ ॥ जिस देशके मार्गमें धानके खेत रखानेवाली लड़कियोंके अल्हड़ गीतोंके सुननेसे जिसका अंग निश्चल हो गया है ऐसे मृगसमूहको पथिक लोग उत्तम मिट्टीसे निर्मित-सा मानते हैं ॥ ५० ॥ नीचेसे लेकर स्कन्ध तक सीधी और उसके बाद बहुत भारी पत्तों, फूलों और शाखाओंके समूहसे वर्तुलाकार फैली हुई वृक्षोंकी कतार मयूरपिच्छसे गुम्फित छत्रोंके समान जान पड़ती थी और मानो वह कह रही थी कि यह देश सब देशोंका राजा है ॥ ५१ ॥ जिस देशमें गुलाबोंकी सुगन्धिके लोभसे चारों ओर घूमती हुई भ्रमरों की पङ्क्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो पथिकोंके चंचल लोचनोंको बाँधनेके लिए प्रकट हुई लोहेकी जंजीर ही हो ॥ ५२ ॥ नदियाँ, ऐसे सुन्दर देशको छोड़कर जो खारे समुद्रके पास गयी थीं उसीसे मानो उन मूर्खाओंका लोकमें निम्नगा नाम प्रसिद्ध हुआ है ॥५३॥ पृथिवीरूपी वनिताके कण्ठमें लटकती हुई नवीन सफ़ेद कमलोंकी मालाकी तरह मनोहर जो गायोंकी पंक्ति सर्वत्र फैल रही

१. सल्लेप छ, ख । २. जडाशयानां म० । जलम् आशये मध्ये यासां तासाम्, पक्षे डलयोरभेदात् जडो मन्द आशयोऽभिप्रायो यासां तासाम् । ३. नीचैर्गामित्वं पक्षेऽधःस्थानगामित्वं नदीत्वमिति यावत् । ४. लोठन्नव भ० २ । ५. भुवः कण्ठं भूकण्ठं तत्र लोलन्ती चलन्ती या नवपुण्डरीकस्रग् नूतनश्वेतकमलमाला तद्वद्बन्धुरा मनोहरा । ६. उत्प्रेक्षालंकारः ।

कल्पद्रुमान्कल्पितदानशीलान् जेतुं किलोत्तालपतत्रिनादैः ।
आहूय दूराद्वितरन्ति वृक्षाः फलान्यचिन्त्यानि जनाय यत्र ॥५५॥
तत्रास्ति तद्रत्नपुरं पुरं यद्द्वारस्थलीतोरणवेधिमध्यम् ।
अलंकरोत्यर्कतुरङ्गपङ्क्तिः कदाचिदिन्दीवरमालिकेव ॥५६॥
मुक्तामया एव जनाः समस्तास्तास्ताः स्त्रियो या नवपुष्परागाः ।
वज्रं द्विषां मूर्ध्नि नृपोऽपि यस्य वितन्वते नाम विनिश्चितार्थम् ॥५७॥
भोगीन्द्रवेश्मेदमिति प्रसिद्ध्या यद्वप्रवेषः किल पाति शेषः ।
तथाहि दीर्घान्तिकदीर्घिकास्य निर्मुक्तनिर्मोकनिभा विभाति ॥५८॥
समेत्य यस्मिन्मणिबद्धभूमौ पौराङ्गनानां प्रतिबिम्बदम्भात् ।
मन्ये न रूपामृतलोलुपाक्ष्यः पातालकन्याः सविधं त्यजन्ति ॥५९॥

रिवावभाति । विस्तारिणी प्रसरणीला, किमर्थमित्याह—दिक्चक्रालंकरणाय ॥५४॥ कल्पेति—यत्र देशे वृक्षा जनाय फलानि वितरन्ति ददति अचिन्त्यानि मनोरथाधिकानि आहूय दूरात् आकार्य पतत्रिनादैः पक्षिकोलाहलैः किमर्थमाहूयाचिन्त्यानि ददतीत्याह—कल्पद्रुमान् जेतुं पराभवितुं चिन्तितमात्रदायिनः । आकारणाचिन्तिताभ्यामधिकदानगुणेन कल्पद्रुमेभ्यो वृक्षा अतिशायिन इति व्यतिरेकः ॥५५॥ द्वीपक्षेत्रखण्डदेशवर्णनक्रमेणापतितं नगरवर्णनमुद्भावयन्नाह—तत्रेति—तत्र देशे तत्प्रसिद्धं रत्नपुरनामनगरमस्ति यद्द्वारस्थलतोरणवेदिमध्यं यस्य प्रतोलीतोरणस्तम्भिकामध्यम् अर्कतुरङ्गपङ्क्तिः सूर्यरथाश्वश्रेणी भूषयति कदाचिन्मध्याह्ने । इन्दीवरमालिकेव नीलोत्पलवन्दनमालेव मध्याह्ने तोरणस्तम्भिकान्तः समायाता तुरङ्गपङ्क्तिर्नीलत्वाद्वन्दनमालेव प्रतिभातीत्यर्थः । पर्यायोक्तिरलंकृतिः ॥५६॥ मुक्तामयेति—यस्य रत्नपुरस्य नामाभिधानं विनिश्चितार्थसार्थकमिति यावत् । एते वितन्वते कुर्वन्ति, के । इत्याह—मुक्तामया मुक्तरोगा जनाः, समस्ताः सर्वास्तास्ताः स्त्रियो याः किम् । न वपुषि शरीरेऽरागा अश्लीकाः । राजापि शत्रूणां मस्तके कुलिशं पक्षे मुक्तामया मुक्ताभिर्निर्वृत्ता नवपुष्परागा नवीनपुष्पमणिरागा वज्रं हीरकं मुक्तापुष्परागहीरकैर्भृतमिवेत्यर्थः ॥५७॥ भोगीन्द्रेति—शेषः फणिपतिर्यन्नगरं पाति रक्षति वप्रवेषः प्राकारव्याजः । इतिशब्दो हेत्वर्थे किलेति संभावनायाम्, भोगीन्द्राः[1] फणीश्वरास्तेषां वेश्म स्थानं भोगीन्द्रा विलासिनः । तथाहीति प्रत्यक्षाभिधानदर्शने । अस्य शालस्य समीपे परिखा द्राघीयसी निर्मुक्तनिर्मोकनिभा विपर्यस्तकञ्चुकसदृशी । अत्र धवलप्राकारशेषयोः परिखानिर्मोकयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥५८॥ समेत्येति—यत्र नगरे

थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो समस्त दिशाओंको अलंकृत करनेके लिए उस देशकी कीर्ति ही फैल रही हो ॥५४॥ जिस देशके वृक्ष पक्षियोंके उत्कट शब्दोंके बहाने संकल्पित दान देनेवाले कल्पवृक्षोंको जीतनेके लिए ही मानो दूर-दूरसे बुला कर लोगोंको अचिन्त्य फल देते रहते हैं ॥५५॥ उस उत्तरकोशल देशमें वह रत्नपुर नामका नगर है जिसके गोपुरकी तोरण-वेदिकाके मध्यभागको कभी—मध्याह्नके समय सूर्यके घोड़ोंकी पंक्ति, नीलकमलकी मालाकी भाँति अलंकृत करती है ॥५६॥ उस नगरके समस्त जन मुक्तामय थे—मोतियोंके बने थे [पक्षमें आमय—रोगसे रहित थे], वहाँ वही स्त्रियाँ थीं जो नूतन पुष्पराग मणिकी बनी थीं [पक्षमें—शरीरमें रागरहित नहीं थीं] और वहाँका राजा भी शत्रुओंके मस्तकपर वज्र था—हीरा था [पक्षमें वज्र—अशनि था] इस प्रकार स्त्री, पुरुष तथा राजा—सभी उसके रत्नपुर नामको सार्थक करते हैं ॥५७॥ ऐसी प्रसिद्धि है कि यह भोगीन्द्र—शेषनागका भवन है [पक्षमें बड़े-बड़े भोगियोंका निवासस्थान है] इसीलिए शेषनाग प्राकारका वेष धारण कर उस नगरकी रक्षा करता है और लम्बी-चौड़ी परिखा उसकी अभी ही छोड़ी हुई कांचली की तरह सुशोभित होती है ॥५८॥ उस नगरकी मणिखचित भूमिमें नगरवासिनी स्त्रियोंके

१. ततोऽग्रे इतिदेशवर्णनम् ख० ग० ङ० च० घ० ज० । २. 'भोगी भोगान्विते सर्पे ग्रामण्यां राज्ञि नापिते' इति विश्वलोचनः ।

प्रासादशृङ्गेषु निजप्रियार्त्या हेमाण्डकप्रान्तमुपेत्य रात्रौ ।
कुर्वन्ति यत्रापरहेमकुम्भभ्रमं द्युगङ्गाजलचक्रवाकाः ॥ ६० ॥
शुभ्रा यदभ्रंलिहमन्दिराणां लग्ना ध्वजाग्रेषु न ताः पताकाः ।
किंतु त्वचो घट्टनतः सितांशोर्नोचेत्किमन्तर्व्रणकालिकास्य ॥ ६१ ॥
कृताप्यधो भोगिपुरी कुतोऽभूदहीनभूषेत्यतिकोपकम्प्रम् ।
यज्जेतुमेतामिव खातिकाम्भश्छायाछलात्क्रामति नागलोकम् ॥ ६२ ॥
संक्रान्तबिम्बः स्रवदिन्दुकान्ते नृपालये प्राहरिकैः परीते ।
हृताननश्रीः सुदृशां चकास्ति काराधृतो यत्र रुदन्निवेन्दुः ॥ ६३ ॥

पौराङ्गनानां सविधं समीपं पातालकन्या न मुञ्चन्ति । किं कारणम् । इत्याह—रूपामृतलोलुपाक्ष्यः रूपमेवामृतं तस्मिन् लोलुपे लम्पटे अक्षिणी यासां तास्तथाभूताः । मणिबद्धभूमौ रत्नमयोत्तानपट्टपृथिव्यां समेत्य आगत्य प्रतिबिम्बदम्भात् । सहचारिप्रतिबिम्बपातालकन्ययोरुपमानोपमेयभावः । निजजातेरपि रूपावलोकनतृष्णातिरेक इत्यतिशयाभासः ॥५९॥ प्रासादेति—यत्र नगरे स्वर्गनदीचक्रवाकाः द्वितीयकाञ्चनकलशभ्रान्तिमुत्पादयन्ति—प्रासादशृङ्गेषु हेमाण्डकप्रान्तमुपेत्य अग्रेतनसुवर्णकुम्भसमीपमागत्य निजप्रियार्त्या चक्रवाकीयमिति विरहपीडया । भ्रान्तिमानलंकारः ॥ ६० ॥ शुभ्रा इति—यस्याभ्रंकषप्रासादानां केतुकोटिषु शुभ्रा याः शुभ्ररूपा लग्नाः अहमेवं मन्ये न ताः पताकाः तर्हि कास्ताः इत्याह—किन्तु निर्धारणे सितांशोश्चन्द्रमसस्त्वचः कृत्तयो घट्टनत उपरिगमनघर्षणाल्लग्ना नो चेदाक्षेपे, अस्य चन्द्रस्यान्तर्मध्ये व्रणकालिका लाञ्छनाभिधेयप्रसिद्धा किं कुतो बभूव । उत्तुङ्गध्वजाग्रोपरिगमनोच्चटितत्वगास्थानमस्य कृष्णं विभाति । अपह्नुतिः ॥ ६१ ॥ कृताप्यधो-इति—यन्नगरं खातिकाम्भश्छायाछलात् परिखाजलान्तर्गतप्रतिबिम्बव्याजान्नागलोकमधोभुवनं क्रामति गच्छतीव । किं कर्तुम् । इत्याह—जेतुमेतां भोगिपुरीं शेषराजधानीम् । यत् कथंभूतम् । अति उत्कटः कोपस्तेन कम्प्रम् । अतिकोपकारणमाह—इयं भोगिपुरी अधःकृतापि शतशो निर्जितापि कुतोऽहीनभूषा बभूव । अहीना अधिका भूषालंकरणं यस्याः सा तथोक्ता, अधिकप्रभावेत्यर्थः । पक्षे अहीनामिनः स्वामी अहीनस्तेन भूषा यस्याः सा तथा । अधःकृता तले कृता । अथ च खातिकाजलमध्यनगरप्रतिबिम्बं स्वभावतरलमेव कम्पमानमिव संभाव्यते[1] ॥ ६२ ॥ संक्रान्त इति—यत्रेन्दुश्चन्द्रमा रुदन्निव चकास्ति काराधृतो गुप्तिक्षिप्तः । किमित्याह—सुदृशां मृगाक्षीणां हृताननश्रीर्मुषितमुखलक्ष्मीको, घटनामाह—नृपालये राजधामनि यतः स्रवदिन्दुकान्ते श्चोतच्चन्द्रकान्ते संक्रान्तबिम्बः प्रतिफलितमूर्तिः । चन्द्रकान्तमयराजगृहे चन्द्रकरस्पर्श-

प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो पाताल-कन्याएँ सौन्दर्यरूपी अमृतमें लुभा कर उन स्त्रियोंकी निकटता नहीं छोड़ रही थीं॥५९॥ उस नगरमें रात्रिके समय आकाशगङ्गाके जलके समीप रहनेवाले चक्रवाक पक्षी, अपनी स्त्रियोंके वियोगसे दुःखी होकर मकानोंके शिखरोंपर स्वर्णकलशोंके समीप यह समझकर जा बैठते हैं कि यह चक्रवाकी है और इस तरह वे कलशोंपर लगे हुए दूसरे स्वर्णकलशोंका भ्रम उत्पन्न करने लगते हैं॥६०॥ उस नगरके गगनचुम्बी महलोंके ऊपर ध्वजाओंके अग्रभागमें जो सफेद-सफेद वस्तुएँ लगी हुई हैं वह पताकाएँ नहीं हैं किन्तु संघर्षणसे निकली हुई चन्द्रमाकी त्वचाएँ हैं। यदि ऐसा न होता तो इस चन्द्रमाके बीच व्रणकी कालिमा क्यों होती ? ॥ ६१ ॥ जिस भोगिपुरीको मैंने तिरस्कृत कर दिया था [पक्षमें नीचे कर दिया था] वह उत्तम आभूषणोंसे युक्त [पक्षमें शेषनागरूप आभूषणसे युक्त] कैसे हो गयी ? —इस प्रकार अत्यन्त क्रोधसे कम्पित होता हुआ जो नगर परिखाके जलमें प्रतिबिम्बित अपनी छायाके छलसे मानो नागलोकको जीतनेके लिए ही जा रहा हो ॥ ६२ ॥ जिसके चन्द्रकान्त मणियोंसे पानी झर रहा है ऐसे पहरेदारोंसे घिरे हुए उस नगरके राजभवनमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा ऐसा सुशोभित होता

१. श्लेषप्राणितोत्प्रेक्षालंकारः।

विभाति रात्रौ मणिकुट्टिमोर्वी संजाततारा प्रतिमावतारा ।
दिदृक्षया यत्र विचित्रभूतेरुत्तानिताक्षीव कुतूहलेन ।। ६४ ।।
दृङ्निर्निमेषा द्युसदां पतन्ती दोषाय मा भूदिति यस्य रात्र्या ।
उत्तार्यते मूर्ध्नि जितामरस्य नीराजनापात्रमिवेन्दुबिम्बम् ।। ६५ ।।
दंदह्यमानागुरुधूमवर्ति[1]प्रवर्तिते व्योम्नि घनान्धकारे ।
सौधेषु यत्रोद्र्ध्वनिविष्टहेमकुम्भप्रभा भाति तडिल्लतेव ।। ६६ ।।
यत्रोच्चकैश्चैत्यनिकेतनानां कूटस्थलीकृत्रिमकेसरिभ्यः ।
रात्रिंदिवं भीत इवान्तरिक्षे भ्राम्यत्युपात्तैकमृगो मृगाङ्कः ।। ६७ ।।
यत्रोच्चहर्म्येषु पतत्सपद्मव्योमापगापूरसहस्रशङ्काम् ।
वितन्वते काञ्चनकुम्भशोभा संभाव्यमानाः सितवैजयन्त्यः ।। ६८ ।।

संयोगेन समन्ततो द्रवति तन्मध्यप्रतिबिम्बितश्चन्द्रो रुदन्निव प्रतिभातीति भावः । चौरग्रहोऽपि प्राहरिकपरीते राजगृहे भवति नान्यत्रेति ।। ६३ ।। **विभातीति**—यत्र रात्रौ मणिकुट्टिमोर्वी रत्ननिबद्धा भूः संजाततारा-प्रतिमावतारा संजातस्ताराप्रतिमानामवतारोऽध्यारोपो यस्यां सा तथाविधा । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—कुतूहलेनेव उत्तानिताक्षी प्रसारितनिर्निमेषलोचना । किमर्थमित्याह—विचित्रभूतेरनेकश्रियो दिदृक्षया ।। ६४ ।। **दृङिति**—यस्य नगरस्येन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलं नीराजनापात्रमिव श्रृत्रटक (?) शरावसम्पुटमिव, रात्र्या रजन्या मूर्ध्नि के उत्तार्यते । किमर्थमित्याह—द्युसदां देवानां निर्निमेषा निमेषरहिता पतन्ती दृग् दृष्टिर्दोषाय माभून्माभवतु । देवदृष्टिदोषकारणमाह—जितामरस्य जितस्वर्गस्य ।। ६५ ।। **दंदह्यमानेति**—यत्र नगरे सौधेषु उपरिस्थित-सुवर्णकुम्भदीप्तिस्तडिल्लतेव विद्युन्मालेव भाति, व्योम्नि गगने घनान्धकारे सति बहुलान्धकारे मेघान्धकारे च, अत्यर्थं दह्यमानागुरुधूमशिखोत्पादिते ।। ६६ ।। **यत्रेति**—मृगाङ्कश्चन्द्र उपात्तैकमृग उपात्तो गृहीत एकः सर्वस्वस्थानं मृगो येन स तद्विधः । अन्तरिक्षे आकाशे भ्राम्यति, किमित्याह—देवगृहाणां श्रृङ्गभूकृत्रिमसिंहेभ्यो भीत इव रात्रिंदिवमनवरतं, देवगृहसिंहान् सजीवानिव मन्यमानस्तत्क्रमावपातभयान्नैकत्र तिष्ठतीति भावः । भ्रान्तिमानलंकारः ।। ६७ ।। **यत्रेति**—यत्र सितवैजयन्त्यो धवलध्वजपटा हैमकलशशोभासंश्लिष्यमाणा वितन्वते जनयन्ति । कां वितन्वत इत्याह—पतदित्यादि—सह पद्मैर्वर्तत इति सपद्मा सा चासौ व्योमापगा गङ्गा च तस्याः पूरसहस्रं प्रवाहसहस्रम्, एतच्च तत् सपद्मव्योमापगापूरसहस्रं च तस्य शङ्कां भ्रमं सन्देहमिति बभूव तत्तथाभूतम् । अत्र ध्वजपटव्योमापगापूरयोः काञ्चनगकुम्भपद्मयोश्चोपमानोपमेयभावः ।। ६८ ।।

है मानो स्त्रियोंके मुखकी शोभा चुरानेके अपराधसे जेलखानेमें बन्द किया गया हो और इसी दुःखसे रो रहा हो ।। ६३ ।। उस नगरकी मणिमय भूमिमें रात्रिके समय ताराओंके प्रतिबिम्ब पड़ते हैं जिससे वह ऐसी जान पड़ती है मानो वहाँकी अद्भुत विभूतिको देखनेकी इच्छासे उसने कुतूहलवश आँखें ही खोल रखी हों ।। ६४ ।। देवताओंकी टिमकार रहित पड़ती हुई दृष्टि कहीं दोष उत्पन्न न कर दे—नजर न लगा दे—यह सोचकर ही मानो रात्रि, स्वर्ग लोकको जीतनेवाले उस रत्नपुर नगरके ऊपर नीराजनापात्रकी तरह चन्द्रमाका मण्डल घुमाती रहती है ।। ६५ ।। उस नगरमें बार-बार जलती हुई अगुरु चन्दनकी धूम-वर्तिकाओंसे आकाशमें घना अन्धकार फैल रहा है (अथवा मेघरूप अन्धकार व्याप्त हो रहा है) और उस अन्धकारके बीच मकानोंके शिखरके अग्रभागपर लगे हुए सुवर्णकलशों की प्रभा बिजलीकी तरह मालूम होती है ।। ६६ ।। उस नगरके ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिरोंके शिखर प्रदेशमें जो कृत्रिम सिंह बने हुए हैं उनसे डरकर ही मानो सर्वस्वभूत एक मृगको धारण करनेवाला चन्द्रमा रात-दिन आकाशमें घूमता रहता है ।। ६७ ।। उस नगरमें ऊँचे ऊँचे महलोंके ऊपर सुवर्णमय कलशोंसे सुशोभित जो सफेद-सफेद पताकाएँ फहरा रही हैं

१. प्रार्वातिते ब० ।

यत्राश्मगर्भोज्ज्वलवेश्मभित्तिप्रभाभिराक्रान्तनभस्तलाभिः ।
दिवापि वापीपुलिने वराकी रात्रिभ्रमात्ताम्यति चक्रवाकी ।। ६९ ।।
मरुच्चलत्केतुकराङ्गुलीभिः संतर्जितानीव सिषेविरे यत् ।
अतुच्छशाखानगरच्छलेन चतुर्दिगन्ताधिपपत्तनानि ।। ७० ।।
रत्नाण्डकैः शुभ्रसहस्रकूटान्याभान्ति यस्मिञ्जिनमन्दिराणि ।
तद्द्रष्टुमुर्वीतलनिर्गताहिभर्त्रा कृतानीव वपूंषि हर्षात् ।। ७१ ।।
उदेति पातालतलात्सुधायाः सिरासहस्रं सरसीषु यत्र ।
मन्ये ततस्तासु रसाधिकत्वं मुञ्चत्युपान्तं न च भोगिवर्गः ।। ७२ ।।

यत्रेति—यत्र चक्रवाकी रात्रिभ्रमात्ताम्यति व्याकुलायते, वराकी मुग्धमानसा दिवापि दिवसेऽपि, काभिरित्याह—अश्मगर्भेत्यादि—मरकतमयोज्ज्वलगेहभित्तिदीप्तिभिर्व्याप्ताकाशाङ्गणाभिः । हरिन्मणिकिरणैर्दिनमपि रात्रिमन्यं विलोक्य गृहदीर्घिकापुलिनस्था रथाङ्गी खिद्यत इति भावः ।। ६९ ।। मरुदिति—यद्रत्नपुरं चतुर्दिगन्ताधिपपत्तनानि इन्द्रदक्षिणेशवरुणधनदनगराणि सिषेविरे उपासाञ्चक्रिरे । केनेत्याह—अतुच्छशाखानगरच्छलेन प्रचुरपर्यन्तोपनगरव्याजेन संतर्जितानीव । काभिरित्याह—मरुच्चलत्केतुकराङ्गुलीभिर्वातलोलध्वजतर्जनीभिः ।। ७० ।। रत्नाण्डकैरिति—यस्मिन् जिनमन्दिराणि जिनगृहाणि शुभ्रसहस्रकूटानि शुभ्राणि सहस्रसंख्यानि शिखराणि येषां तानि तथोक्तानि । आभान्ति, कैः रत्नाण्डकै रत्नकलशैः । अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—तत्पुरं द्रष्टुमिव हर्षात्प्रमोदाद् वपूंषि शरीराणि कृतानि । केन कृतानीत्याह—उर्वीतलनिर्गताहिभर्त्रा रसातलनिर्गतशेषराजेन । एकस्थानस्थेन एकेन शरीरेण तद् द्रष्टुं न पार्यत इति शेषेण बहुशरीराणि कृतानीति । अत्र रत्नाण्डकैः सहानुक्तैरपि शेषमणिभिर्मन्दिरैस्तु शेषशरीराणां साम्यमिति भावः ।। ७१ ।। उदेतीति—यत्र सरसीषु गम्भीरतडागेषु सुधाया अमृतस्य सिरासहस्रम् अक्षीणधारासहस्रमुदेति निर्याति । कुतः । पातालतलादमृतस्थानकुण्डात् । ततोऽहं मन्येऽनुमामि, तासु रसाधिकत्वं रसविशेषप्रभावत्वं तत एव भोगिवर्गो विलासिसमूह उपान्तं समीपं न मुञ्चति । अथ चोक्तिलेशः—यत्रामृतसम्भावना तत्रैव रसाधिक्यं न नामामृतवदनादपि

वे ऊपरसे गिरनेवाले कमलों सहित आकाशगंगाके हजारों प्रवाहोंकी शंका बढ़ा रही हैं ।।६८।। उस नगरमें इन्द्रनील मणियोंसे बने हुए मकानोंकी दीवालोंकी प्रभा आकाश तक फैल रही है जिससे वापिकाके किनारे रहनेवाली बेचारी चकवी दिनमें ही रात्रिका भ्रम होनेसे दुःखी हो उठती है ।। ६९ ।। उस नगरके चारों ओर बड़े-बड़े उपनगर हैं उनके बहाने ऐसा मालूम होता है मानो वायुसे कम्पित पताका रूप अंगुलियोंसे तर्जित होकर चारों दिक्पालोंके नगर ही उसकी सेवा कर रहे हों ।। ७० ।। सफेद-सफेद हजारों शिखरोंसे युक्त उस नगरके जिनमन्दिर अपने रत्नमय कलशोंसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो उस नगरको देखनेके लिए पृथिवीतलसे निकले हुए शेष नागके द्वारा हर्षसे बनाये हुए अनेक शरीर ही हों ।। ७१ ।। जिस नगरके सरोवरोंमें पातालतलसे अमृतकी हजारों अक्षीण धाराएँ निकलती हैं इसलिए मैं समझता हूँ कि उनमें रस—जल [पक्षमें रसविशेष] की अधिकता रहती है और इसीलिए भोगिवर्ग—भोगीजनोंका समूह [पक्षमें अष्टकुल नागोंका समूह] उनकी निकटताको नहीं छोड़ता है । भावार्थ—ऐसी प्रसिद्धि है कि पातालमें अमृतके कुण्ड हैं और उनकी रक्षाके लिए भोगी अर्थात् अष्टकुल नागोंका समूह नियुक्त है जो सदा उनके पास रहता है । रत्नपुरके सरोवरोंमें उन्हीं अमृतके कुण्डोंसे अमृतकी हजारों अक्षीण धाराएँ निकलती हैं इसलिए उनमें सदा रस अर्थात् जलकी अथवा अमृतोपम मधुर रसकी अधिकता रहती है और इसीलिए भोगिवर्ग—विलासी जनोंका समूह उनके उपान्त भागको नहीं छोड़ता है—सदा उनके तटपर क्रीड़ा किया करता है । [पक्षमें उनमें अमृतकी धाराएँ प्रकट होनेसे उनके रक्षक भोगियोंका]—कुल—नागोंका समूह उनके उपान्त भागको नहीं छोड़ता है ।।७२।।

मन्थाचलामूलविलोडितान्तर्लब्धैकसत्कौस्तुभदृष्टसारः ।
रत्नाकरः स्याज्जलधिः कुतस्तत्सेवेत नैतत्परिखामिषाच्चेत् ॥ ७३ ॥
अतीवभास्तम्भितकौस्तुभानां स्तूपान्निरूप्य ज्वलतां मणीनाम् ।
आक्रीडशैलानिव यत्र लक्ष्म्याः प्रत्येति दूरापणिकोऽपि लोकः ॥ ७४ ॥
पदे पदे यत्र परार्थनिष्ठा रसस्थितिं कामपि नाटयन्त्यः ।
वाचः कवीनामिव कस्य नोच्चैश्चेतोमुदं कन्दलयन्ति वेश्याः ॥ ७५ ॥
संगीतकारम्भरसन्मृदङ्गाः कैलासभासो वलभीनिवेशाः ।
वृन्दानि यत्र ध्वनदम्बुदानामनम्बुशुभ्राणि विडम्बयन्ति ॥ ७६ ॥
[2]रणज्झणत्किङ्किणिकारवेण संभाष्य यत्राम्बरमार्गखिन्नम् ।
मरुच्चलत्केतनतालवृन्तैर्हर्म्यावली वीजयतीव मित्रम् ॥ ७७ ॥

सुरसमस्तीति । तत्रैव च भोगिवर्गो रक्षानियुक्तोऽष्टकुलनागसमूहः ॥ ७२ ॥ **मन्थेति**—चेद्यदि एतन्नगरं जलनिधिर्न सेवेत नोपासीत परिखामिषात् खातिकाच्छलात् तस्मात् कुतः कारणाज्जलधिः रत्नाकरो रत्नालयः स्यात् । रत्नास्तित्वं निराकुर्वन्नाह—सन् प्रशस्यः कौस्तुभः सत्कौस्तुभो लब्धैकसत्कौस्तुभेन दृष्टं सारं कोशबलं यस्य सः, मन्थाचलेन मूलं तलं यावद् विलोडितं गाहितमन्तर्मध्यं यस्य सः । एककौस्तुभाकरस्य रत्नाकरत्वं तत्पुरोपासनयेत्यर्थः ॥ ७३ ॥ [3]अतीवेति—..
पद इति—यत्र नगरे वेश्या विलासिन्यः कस्य चेतोमुदं न कन्दलयन्ति विस्तारयन्ति । कवीनां वाच इव [4]पदे पदे स्थाने स्थाने [5]परार्थनिष्ठाः परद्रव्यतत्पराः पक्षे उत्तमवाच्ययुक्ताः । कामपि अनुभवैकसाध्यां रसस्थितिं नाटयन्त्यः प्रकटयन्त्यः ॥ ७५ ॥ **संगीतकेति**—यत्र वलभीनिवेशा अरिवेदिका भूभागाः कैलासभासः शुभ्रदीधितयः संगीतकारम्भरसन्मृदङ्गाः प्रेक्षणारम्भवाद्यमानमर्दलाः । एवंविधगर्जन्मेघानां पटलान्यनुकुर्वन्ति । अनम्बुशुभ्राणि शारदानीत्यर्थः ॥ ७६ ॥ **रणज्झणदिति**—यत्र हर्म्यावली गृहपङ्क्तिर्मित्रमिव मित्रं सूर्यं

मन्दरगिरि-द्वारा मूल पर्यन्त मन्थन करनेपर भीतरसे प्राप्त हुए एक कौस्तुभ मणिसे जिसकी धनवत्ता कूती जा चुकी है ऐसा समुद्र यदि परिखाके बहाने इस रत्नपुर नगरकी सेवा नहीं करता तो रत्नाकर कैसे हो जाता ? एक कौस्तुभ मणिके निकलनेसे थोड़े ही रत्नाकर कहा जा सकता है ॥ ७३ ॥ अपनी उत्कृष्ट प्रभासे कौस्तुभ मणिको तिरस्कृत करनेवाले देदीप्यमान मणियोंके उन ढेरोंको जो कि लक्ष्मीके क्रीडागिरिके समान जान पड़ते हैं, देखकर बाजारसे दूर रहनेवाले लोग भी उस नगरको पहिचान लेते हैं ॥ ७४ ॥ जो पद-पदपर दूसरोंके धनमें आस्था रखती हैं [पक्षमें प्रत्येक पदमें उत्कृष्ट अर्थसे पूर्ण हैं] और किसी अनुभवैकगम्य स्नेहकी स्थितिका अभिनय करती हैं [पक्षमें शृंगारादि रसको प्रकट करती हैं] ऐसी वेश्याएँ उस नगरमें कवियोंकी भारतीकी तरह किसके हृदयका आनन्द नहीं बढ़ातीं ? ॥ ७५ ॥ जिनमें संगीतके प्रारम्भमें मृदंग बज रहे हैं ऐसी कैलासके समान उज्ज्वल उस नगरकी अट्टालिकाएँ पानीके अभावमें सफेद-सफेद दिखनेवाले—शरद ऋतुके गरजते मेघोंके समूहका अनुकरण कर रही हैं ॥ ७६ ॥ उस नगरके मकानोंकी श्रेणी, रुन-

१. इतीव म० । २. रणद्झणत् ग० । ३. अस्य श्लोकस्य व्याख्या समुपलब्धटीकापुस्तके न प्राप्ता । अतो व्याख्यान्तरं दीयते—अतीवेति—अतीवभासा सातिशयदीप्त्या स्तम्भितस्तिरस्कृतः कौस्तुभो मणिविशेषो यैस्तेषां ज्वलतां देदीप्यमानानां मणीनां रत्नानां लक्ष्म्याः श्रिया आक्रीडशैलानिव उद्यानपर्वतानिव 'पुमानाक्रीड उद्यानं राज्ञः साधारणं वनम्' इत्यमरः । स्तूपान् राशीन् निरूप्य विलोक्य दूरापणिकोऽपि हट्टाद् दूरवर्त्यपि लोको जनः प्रत्येति प्रत्यभिजानीते यदिति शेषः । श्लिष्टोपमालंकारः ॥ ७४ ॥ ४. पदं स्थाने विभक्त्यन्ते शब्दे वाक्यैकवस्तुनोः । त्राणे पादे पादचिह्ने व्यवसायापदेशयोः' ॥ इति हैमः । ५. परश्चासावर्थश्च परार्थः श्रेष्ठवाच्यस्तस्य निष्ठा यासु ताः पक्षे परेषामन्येषां पुंसामर्थे धने निष्ठा यासां ताः ।

हारावलीनिर्झरहारितुङ्गमवाप्य कान्तास्तनशैलदुर्गम् ।
यत्र त्रिनेत्रादपि निर्विशङ्कः शङ्के स्मरो भूत्रयदुर्धरोऽभूत् ॥ ७८ ॥
केशेषु भङ्गस्तरलत्वमक्ष्णोः सरागता केवलमोष्ठयोश्च ।
मुक्त्वा तदास्यं सुदृशां न यत्र दोषाकरच्छायमवैमि किंचित् ॥ ७९ ॥
रात्रौ तमःपीतसितेतराश्मवेश्माग्रभाजामसितांशुकानाम् ।
स्त्रीणां मुखैर्यत्र नवोदितेन्दुमालाकुलेव क्रियते नभःश्रीः ॥ ८० ॥
मद्वाजिनो नोर्ध्वधुरा रथेन प्राकारमारोढुममुं क्षमन्ते ।
इतीव यल्लङ्घयितुं दिनेशः [1]श्रयत्यवाचीमथवाप्युदीचीम् ॥ ८१ ॥

वीजयतीव वातप्रचारेण सुखीकरोति । कैः । मरुच्चलत्केतनतालवृन्तैर्वातधूयमानध्वजव्यजनैः । अम्बरमार्गखिन्नं गगनपथश्रान्तं, किं कृत्वा । संभाष्य प्रियमालाप्य, केन । रणज्झणत्किङ्किणिकारवेण ॥ ७७ ॥ हारेति—यत्र नगरे स्मरः कामो भूत्रयदुर्धरोऽभूत् भुवनत्रयजित्वरो बभूव । कथम् । इत्याह—तुङ्गं दुरभिभवं कान्तास्तनशैलदुर्गं कामिनीस्तनपर्वतदुर्गम् अवाप्य लब्ध्वा हारावलीनिर्झरहारि मुक्तावलीनिर्झरमनोहरम् । अहमेवं शङ्के त्रिनेत्रादपि विषमलोचनादपि निर्विशङ्को धीरोद्धुरः । अथ च यथा कश्चित्तोयपरिपूर्णं परानभिभूतं दुर्गं प्राप्य शत्रोर्निर्विशङ्को विशेषजित्वरो भवति [तद्वदत्रापीति भावः] ॥ ७८ ॥ केशेष्विति—यत्र नगरे सुदृशां मृगाक्षीणां तत्प्रसिद्धमास्यं मुखमपास्य त्यक्त्वा अन्यन्न किंचिद् दोषाकरच्छायं चन्द्रश्रीकमहमवैमि जानामि पक्षे दोषोत्पत्तिसदृशता । केशेष्वलकेषु भङ्गो वक्रता नान्यत्र नगरादौ भङ्ग इत्यर्थः । तरलत्वं चञ्चलत्वमक्ष्णोर्लोचनयोरेव नान्यत्र पुरुषादौ । केवलं सरागता ओष्ठयोरेव नान्यत्र पुरुषादौ परस्परं द्वेषिभावः । परिसंख्येयमलंकृतिः ॥ ७९ ॥ रात्राविति—यत्र स्त्रीणां मुखैर्नभःश्रीराकाशलक्ष्मीः क्रियते । किंविशिष्टा । इत्याह—नवोदितेन्दुमालाकुलेव अदृष्टपूर्वोद्गतचन्द्रपङ्क्तिव्याप्तेव । यदि वा निष्कलङ्कत्वान्नवीनत्वम् । तासां शरीराद्यपह्नवमाह—असितांशुकानां कृष्णवाससां रात्रौ तमःपीतसितेतराश्मवेश्माग्रभाजां ध्वान्तपिहितनीलमणिगेहाग्रस्थितानाम् । गेहवस्त्रादेस्तमोरूपत्वान्मुखेन्दव एव दृश्यन्ते इति भावः ॥ ८० ॥ मद्वाजिन इति—दिनेश आदित्यो यन्नगरं लङ्घयितुमवाचीं दक्षिणामुदीचीमुत्तरां वा श्रयति । कथं सन्मुखीमेव पश्चिमां नाक्रामति । इत्याह—इति हेतोर्मनसि चिन्तयन्निव । मद्वाजिनो ममाश्वा अमुं प्राकारमत्यूर्ध्वत्वादारोढुं न क्षमन्ते न समर्था भवन्तीति । केनेत्याह—रथेन स्यन्दनेन ऊर्ध्वधुरा उत्तुङ्गिताग्रभागेन । अथ च दक्षिणायन-

---

झुन बजती हुई क्षुद्रघण्टिकाओंके शब्दों-द्वारा आकाशमार्गमें चलनेसे खिन्न सूर्यके साथ [पक्षमें मित्रके साथ] सम्भाषण कर वायुसे हिलती हुई पताकारूप पंखोंके द्वारा उसे हवा करती हुई सी जान पड़ती है ॥ ७७ ॥ ऐसा जान पड़ता है कि हारावली रूपी झरनोंसे सुन्दर एवं अतिशय उन्नत वहाँकी स्त्रियोंके स्तनरूपी पहाड़ी दुर्गको पाकर कामदेव महादेव जैसे भी निर्भय हो त्रिलोकविजयी हो गया था ॥ ७८ ॥ उस नगरमें यदि कुटिलता है तो स्त्रियोंके केशोंमें ही है अन्य किसीके हृदयमें कुटिलता [माया] नहीं है और सरागता [लालिमा] है तो स्त्रियोंके ओठोंमें ही है अन्य किसीके हृदयमें सरागता [विषय] नहीं है । इसके सिवाय मुझे पता नहीं कि उन स्त्रियोंके मुखको छोड़कर और कोई वहाँ दोषाकरच्छाय—चन्द्रमाके समान कान्तिवाला [पक्षमें—दोषोंकी खानरूप छायासे युक्त] है ॥७९॥ उस नगरमें रात्रिके समय अन्धकारसे तिरोहित नीलमणियोंके मकानोंकी छतपर बैठी हुई नीलवस्त्र पहननेवाली स्त्रियोंके मुखसे आकाशकी शोभा ऐसी जान पड़ती है मानो नवीन उदित चन्द्रमाओंके समूहसे व्याप्त ही हो रही हो ॥ ८० ॥ जिसकी धुरा बिलकुल ऊपरको उठ रही है ऐसे रथके द्वारा हमारे घोड़े इस प्राकारको लाँघनेमें समर्थ नहीं हैं—यह

---

१. श्रयत्यपाची ज०, ख० ।

[1]नीलाश्मलीलावलभीषु [2]जालव्यालम्बमानैर्निशि चन्द्रपादैः ।
प्रतारिता यत्र न मुग्धवध्वो हारावचूलेष्वपि विश्वसन्ति ॥ ८२ ॥
उपर्युपारूढवधूमुखेन्दूनुदीक्ष्य मन्दाक्षमुपैति नूनम् ।
यत्रोच्चसौधोच्चयचूलिकाभ्यो नम्रीभवन्निन्दुरतः प्रयाति ॥ ८३ ॥
प्रालेयशैलेन्द्रविशालशालश्रोणीसमालम्बितवारिवाहम् ।
विराजते निर्जरराजधानीमुड्डीय यज्जेतुमिवात्तपक्षम् ॥ ८४ ॥
अगुरुरिति सुगन्धिद्रव्यभेदे प्रसिद्धिः
सततमविभवोऽपि प्रेक्ष्यते मेष एव ।
फलसमयविरुद्धा यत्र वृक्षानपास्य
क्वचिदपि न कदाचित्केनचित्केऽपि दृष्टाः ॥ ८५ ॥

मुत्तरायणं वा सूर्यस्येति ॥ ८१ ॥ नीलाश्मेति—यत्र मुग्धवध्वो हारावचूलेष्वपि मुक्ताकलापेष्वपि न विश्वसन्ति न हस्तान्प्रसारयन्ति । किं विशिष्टाः । इत्याह—प्रतारिता विप्लाविताश्चन्द्रपादैश्चन्द्रकिरणदण्डैर्जालिव्यालम्बमानैर्जालिकान्तरेण प्रसरद्भिः । नीलाश्मलीलावलभीषु नीलमणिक्रीडागृहभित्तिषु ॥ ८२ ॥ उपरीति—यत्र नगरे इन्दुश्चन्द्रो मन्दाक्षं त्रपामुपैति याति । किं कृत्वेत्याह—उदीक्ष्यः ऊर्ध्वं वीक्ष्य । कान् । उपर्युपारूढवधूमुखेन्दून् उपरिचटितकामिनीमुखचन्द्रान् । अतः कारणान्नम्रीभवन्निम्नं व्रजन् इन्दुः प्रयाति पलायते । काभ्यः । इत्याह—उच्चसौधोच्चयचूलिकाभ्यः उदग्रप्रासादसमूहकोटिभ्यः । अन्योऽपि सर्वदाधःकृतानुपरिस्थानवलोक्य लज्जमान उच्चासनादवरुह्य परिणश्यतीति भावः ॥ ८३ ॥ प्रालेयेति—यन्नगरमन्तरिक्षमाकाशमुत्प्लुत्य निर्जरराजधानीं देवपुरं जेतुमिव विराजते । आरूढपक्षं गृहीतपक्षम् । प्रालेयेत्यादि—प्रालेयस्य हिमस्य शैलः प्रालेयशैलो हिमाचल इत्यर्थस्तद्विशालश्चासौ शालश्च प्राकारस्तस्य श्रोणी प्राग्भारस्तत्र समालम्बिता वारिवाहा मेघा यत्र तत्तथाभूतं प्राकारभित्तिलग्नमेघपक्षैः सुरपुरीजिगीषयोतिपत्सुरिवेत्यर्थः ॥८४॥ अगुरुरिति—यत्र नगरे अगुरुरिति प्रसिद्धिः सुगन्धिद्रव्यभेदे । अन्यः सर्वोऽपि सगुरुर्गौरवाधिष्ठितो वा । अवेर्मेषाद्भवतीति अविभवो मेष एव जनश्च सश्रीक एव प्रेक्ष्यते । फलसमये विभिः पक्षिभी रुद्धा व्याप्तास्तद्विधाः वृक्षा एव । पक्षे फलसमये विरुद्धाः केऽपि न । तान्वृक्षानपास्य त्यक्त्वा क्वचिदपि प्रदेशे कदाचित्काले केनचिद्

विचार कर ही मानो सूर्य उस रत्नपुरको लाँघनेके लिए कभी तो दक्षिणकी ओर जाता है और कभी उत्तरकी ओर ॥ ८१ ॥ उस नगरमें रात्रिके समय नीलमणिमय क्रीड़ाभवनोंमें झरोखोंसे आनेवाली चन्द्रमाकी किरणों-द्वारा छकायी हुई भोली-भाली स्त्रियाँ सचमुचके हारों में भी विश्वास नहीं करतीं ॥ ८२ ॥ उस नगरमें मकानोंके ऊपर बैठी हुई स्त्रियोंके मुखचन्द्रको देखकर चन्द्रमा निश्चित ही लज्जाको प्राप्त होता है। यही कारण है कि वह वहाँके मकानोंकी चूलिकाके नीचे-नीचे नम्र होता हुआ चलता है ॥ ८३ ॥ उस नगरके हिमालयके समान विशाल कोटके मध्यभागमें मेघ आकर ठहर जाते हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो उड़कर देवोंकी राजधानी—स्वर्गको जीतनेके लिए उनमें पंख ही लगा रखे हों ॥ ८४ ॥ उस नगरमें 'अगुरु' इस प्रकारकी प्रसिद्धि एक सुगन्धित द्रव्यमें ही है अन्य कोई वहाँ अगुरु [क्षुद्र] नहीं है, यदि वहाँ कोई अविभव [मेषसे उत्पन्न] देखा जाता है तो मेष ही देखा जाता है अन्य कोई अविभव [सम्पत्तिहीन] नहीं देखा जाता और इसी प्रकार वहाँ वृक्षोंको छोड़कर अन्य कोई पदार्थ कहीं भी फल समय विरुद्ध नहीं देखे जाते अर्थात् वृक्ष ही फल लगनेके समय विपक्षियों—द्वारा रुद्ध—व्याप्त होते हैं। वहाँके अन्य मनुष्य फल मिलनेके समय कभी भी विरुद्ध—विपरीत प्रवृत्तिवाले नहीं देखे जाते ॥८५॥

१. नीलाश्मभिर्निर्मिता लीलावलभ्यस्तासु । २. जालेषु वातायनेषु व्यालम्बन्त इति जालव्यालम्बमानास्तैः ।

अन्तःस्थितप्रथि राजविराजमानो
[1]यत्प्रान्तभूवलयितः पृथुसालबन्धः ।
प्रत्यर्थिनाशपिशुनः परिपूर्णमूर्ति-[2]
रिन्दोरुदारपरिवेश इवावभाति ॥८६॥

[3]इति महाकवि-श्री-हरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये नगरवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

दिदृक्षुणा केऽपि न दृष्टाः ॥ ८५ ॥ अन्तरिति—यन्नगरमिन्दोश्चन्द्रमसः परिवेष इव उपाधिबहिर्मण्डलमिवावभाति । अन्तःस्थितप्रथितराजविराजमानो मध्यप्रतिष्ठितविख्यातनृपतिशोभमानः पक्षे राजा चन्द्रः । प्रान्तभूवलयितो बाह्यपृथ्वीमण्डलीकृतः पक्षे प्रकृष्टमन्तं यस्यां सा प्रान्तभूस्तस्यां वलयितो दृश्यमानः । पृथुर्महान् शालबन्धो यस्य स तथाविधः । प्रत्यर्थिनाशे पिशुनः शत्रुनाशकथनः परिपूर्णमूर्तिरखण्डावयवः । नगरपक्षे नपुंसकत्व विशेषणानि ॥ ८६ ॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्य-श्री-ललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्ति-विरचितायां संदेहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां प्रथमः सर्गः ॥१॥

अपने भीतर स्थित प्रसिद्ध राजासे [पक्षमें चन्द्रमासे] शोभायमान एवं समीपवर्ती भूमिको चारों ओरसे घेरनेवाला वहाँका विशाल प्राकार ऐसा मालूम होता है मानो शत्रुओंके नाशको सूचित करनेवाला, पूर्ण चन्द्रका विशाल परिवेष ही हो ॥ ८६ ॥

---

१. यः प्रान्त—म० घ० ज० । २. मूर्ति ग० । ३. इति समाप्त्यर्थकः 'इति स्वरूपे सांनिध्ये विवक्षानियमेऽपि च । हेतौ प्रकारप्रत्यक्षप्रकर्षेष्ववधारणे ॥ एवमर्थे समाप्तौ स्यात्' इति हैमः ।

द्वितीयः सर्गः

अभूदथेक्ष्वाकुविशालवंशभूः स तत्र मुक्तामयविग्रहः पुरे।
नृपो महासेन इति स्वमेव यः कुलं द्विषन्मूर्धपदोऽप्यभूषयत् ॥ १ ॥
गतेऽपि दृग्गोचरमत्र शत्रवः स्त्रियोऽपि कंदर्पमपत्रपा दधुः।
किमद्भुतं [1]तद्धृतपञ्चसायके यदद्रवन्संगरसंगताः क्षणात् ॥ २ ॥
न केवलं दिग्विजये चलच्चमूभरभ्रमद्भूवलयेऽस्य जङ्गमैः।
श्रिताहितत्राणकलङ्कशङ्कितैरिव स्थिरैरप्युदकम्पि भूधरैः ॥ ३ ॥

अभूदिति—अथानन्तरं तत्र तस्मिन्नगरे स भुवनवलयोल्लसितप्रतापी महासेन इति नृपो बभूव। इक्ष्वाकुविशालवंशभूरिक्ष्वाकुरेव विशालो महान् वंशोऽन्वयस्तत्र भवतीति। मुक्तामयविग्रहस्त्यक्तरोगवपुः। यः किं चकारेत्याह—यः स्वं निजं कुलं गोत्रमभूषयदलमकरोत्। द्विषन्मूर्धपदोऽपि द्विषतां शत्रूणां मूर्ध्नि पदं चरणो यस्य तथाविधोऽपि। अथ च [2]वंशोद्भवं मुक्तामयं मौक्तिकस्वरूपं द्विषन्मूर्द्धस्थं स्वस्थानमेव भूषयति न स्थानकान्तरमिति व्यतिरेकाभासः[3] ॥ १ ॥ गतेऽपीति—अत्रास्मिन् राज्ञि दृग्गोचरं दृष्टिपथं गते प्राप्ते शत्रवः प्रतिपक्षाः कमहंकारं दर्प्पं दधुर्बिभरांबभूवुर्न कमपीत्यर्थः। स्त्रियोऽपि कामिन्योऽपि कंदर्पं कामं अपत्रपा निरर्गला निर्लज्जाः एवंविधाः। [1]तस्मिन् प्रवर्तमाने तत्किमद्भुतं किमाश्चर्यं, धृतपञ्चसायके गृहीतपञ्चाबणे यदद्रवन् पलायामासुः संगरसंगताः समरप्राप्ताः पक्षे आविर्भूतस्मरे यदद्रवन् रसरहस्यममुचन् संगरसं रतभावं प्राप्ताः, यस्मिन् दृष्टेऽपि निरहंकाराः शत्रवस्तस्मिन् धृतास्त्रे नश्यन्ति स्मेति किं चित्रम्। पक्षे यस्मिन् दृष्टमात्रे निर्लज्जाः कामावस्थां नाटयन्ति तस्मिन् कामातुरे द्रवन्ति स्मेति किमाश्चर्यमिति भावः ॥२॥ न केवलमिति—न केवलमस्य दिग्विजये विजिगीषुयात्रायां जङ्गमैर्भूधरैः पृथ्वीपतिभिरुदकम्पि उच्चकम्पे स्थिरैरपि पर्वतैरपि चलच्चमूभरभ्रमद्भूवलये विचञ्चूर्यमाणसेनाभारकम्पमानभूमण्डले। अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—श्रिताहितत्राणकलंक-

उस रत्नपुर नगरमें इक्ष्वाकु नामक विशाल वंशमें समुत्पन्न मुक्तामय [नीरोग] शरीरके धारक वह महासेन राजा थे जो कि शत्रुओंके मस्तकपर स्थित रह कर भी [पक्षमें शत्रुओंके मस्तकको पदाहत करते हुए भी] अपने ही कुलको अलंकृत करते थे ॥ १ ॥ इस राजाके दिखते ही शत्रु अहंकाररहित हो जाते थे और स्त्रियाँ कामसे पीडित हो जाती थीं। शत्रु सवारियाँ छोड़ देते थे और स्त्रियाँ लज्जा खो बैठती थीं। जब दिखनेमें ही यह बात थी तब पाँच बाणोंके धारण करने पर युद्ध में आये हुए शत्रु क्षणभरमें भाग जाते थे इसमें क्या आश्चर्य था। इसी प्रकार जब यह राजा स्वयं कामको धारण करता था तब स्त्रियाँ समागमके रसको प्राप्त होकर क्षणभरमें द्रवीभूत हो जाती थीं इसमें क्या आश्चर्य था ॥ २ ॥ चलती हुई सेना-के भारसे जिसमें समस्तभूमण्डल कम्पित हो रहा है ऐसे महाराज महासेनके दिग्विजयके समय केवल जङ्गम भूधर—राजा ही कम्पित नहीं हुए थे। किन्तु शरणागत शत्रुओंकी रक्षा

१. तद्धृत—म० घ०। २. मुक्तानां वंशेषु समुत्पत्तिर्लोकप्रसिद्धा। तथाहि—'द्विपेन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि। मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि' इत्यगस्त्यः। ३. प्रारम्भतश्चतुःसप्ततितमं वृत्तं यावत् वंशस्थवृत्तं 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात्।

तदङ्गरूपामृतमक्षिभाजनैर्यदृच्छयासेचनकं पपुः स्त्रियः ।
प्रमातुमन्तस्तदपारयन्मनाङ्मुदश्रुदम्भान्निरगादिवाङ्गतः ॥ ४ ॥
कुलेऽपि किं तात तवेदृशी स्थितिर्यदात्मजा श्रीर्न सभास्वपि त्यजेत् ।
तदङ्कलीलामिति कीर्तिरीर्ष्यया ययावुपालब्धुमिवास्य वारिधिम् ॥ ५ ॥
तदा तदुत्तुङ्गतुरङ्गमक्रमप्रहारमज्जन्मणिशङ्कुसंहिताम् ।
न भूरिबाधाविधुरोऽप्यपोहितुं प्रगल्भतेऽद्यापि महीमहीश्वरः ॥ ६ ॥
विभान्त्यमी शत्रुनिमज्जनोत्थितास्तदादि[1] तस्यासिजलस्य बिन्दवः ।
न तारका व्योम्नि कुतोऽन्यथा भवेज्झषः कुलीरो मकरश्च तास्वपि ॥ ७ ॥

शंकितैरिव कन्दरादिस्थितशत्रुरक्षणराजद्विष्टदोषशंकितैरिव[2] ॥ ३ ॥ तदङ्गेति—तदङ्गरूपामृतं तस्याङ्गलावण्यसुधारसं स्त्रियः पपुरनुबभूवुः । कैरित्याह—अक्षिभाजनैर्नयनशिप्रापुटैः । यदृच्छया अप्रतिहतप्रसरम् [3]आसेचनकमतृप्तिकारणम् बाहुल्यपानप्रीतिमाह । तद्यदृच्छया पीतं रूपामृतमङ्गान्निरगान्निरगलत् मुदश्रुदम्भाद् हर्षबाष्पव्याजात् । अन्तर्मध्ये प्रमातुं संमातुमपारयद् असमर्थं सत् । यथा केनचित्सुतृप्तेन मात्राधिकं किमपि पीतं तुच्छस्थानत्वान्निर्यातीति तथा[4] ॥ ४ ॥ कुलेऽपीति—अस्य कीर्तिर्वारिधिं समुद्रमुपालब्धुमुपालभनायेव ययौ जगाम । कया । ईर्ष्यया, साप्यभिमानेन, किमुपालब्धुमित्याह—हे तात, समर्यादोपमान । तवापि कुले भवतोऽपि गोत्रे, ईदृशी लज्जामर्यादाबहिःकृता स्थितिराचारता, किम् । यदात्मजा भवत्पुत्री लक्ष्मीः सभास्वपि महावृद्धबुधपरिषत्स्वपि तदङ्कलीलां तस्य महासेनस्यार्द्धासनोत्सङ्गक्रीडां न त्यजेत् न जह्यात् । पर्यायोक्तिरलङ्कृतिः[5] ॥ ५ ॥ तदेति—अद्यापि फणीश्वरः शेषराजो महीमपोहितुं त्यक्तुं न प्रगल्भते न समर्थः स्यात् । भूरिबाधाविधुरोऽपि शिरःशूलमहापीडाव्याकुलोऽपि । किं कारणमित्याह—तदुत्तुङ्गेत्यादि—तस्योत्तुङ्गतुरङ्गमास्तेषां क्रमप्रहाराः खुराभिघातास्तैर्मज्जयन्तो ब्रुडन्तश्च ते मणिशङ्कवः शिरोरत्नकीलकाश्च तैः संहिता प्रोता तां तथाविधाम्[6] ॥ ६ ॥ विभान्तीति—अमी प्रत्यक्षदृश्यमाना व्योम्नि गगने तस्य महासेनस्य असिजलस्य खड्गजलस्य बिन्दवः पृषतो विभान्ति । शत्रुनिमज्जनोत्थिताः शत्रुझम्पापातोच्छलिताः । न तारका न नक्षत्राणि । अथ तारका एव नामी बिन्दवः कथमिति चेदाह—कुतोऽन्यथा तासु तारकासु मध्ये झषो मीनः कुलीरः कर्को मकरश्चैते दृश्यन्ते । जलं विना जलचरा न भवन्तीति भावः[7] ॥ ७ ॥ वितीर्णेति—स राजा कस्य

रूप अपराधसे शंकित हुए स्थिर भूधर—पर्वत भी कम्पित हो उठे थे ॥ ३ ॥ स्त्रियोंने तृप्ति न करनेवाले राजाके शारीरिक सौन्दर्यरूपी अमृतको अपनी इच्छासे नेत्ररूपी कटोरोंके द्वारा इतना अधिक पी लिया था कि वह भीतर नहीं समा सका और हर्षाश्रुओंके बहाने उनके शरीरसे बाहर निकल पड़ा ॥ ४ ॥ हे तात ! क्या तुम्हारे भी कुलमें ऐसी रीति है कि पुत्री लक्ष्मी सभाओंमें भी उनके गोदकी क्रीड़ा नहीं छोड़ सकती—ऐसा उलाहना देनेके लिए ही मानो इस राजाकी कीर्ति समुद्रके पास गयी थी ॥५॥ उस समय राजा महासेनके ऊँचे-ऊँचे घोड़ोंकी टापोंके प्रहारसे धँसती हुई मणिरूपी कीलमें पृथिवी मानो खचित हो गयी थी; यही कारण है कि शेषनाग भारी बाधासे दुःखी होनेपर भी उसे अब तक छोड़नेमें असमर्थ बना है ॥६॥ यह जो आकाशमें चमकीले पदार्थ दिख रहे हैं वह तारा नहीं हैं किन्तु शत्रुओंके डूबनेसे उचटी हुई महासेन राजाकी तलवारकी पानीकी बूँदे हैं यदि ऐसा न होता तो उनमें मीन,

१. तदा तत्समयमारभ्य, तदाहितस्य ग० च० । २. उत्प्रेक्षा । ३. 'तदासेचनकं तृप्तेनास्त्यिन्तो यस्य दर्शनात्' । ४. रूपकोत्प्रेक्षा । ५. अत्रायमन्यकवीनामुत्प्रेक्षाप्रकारः—'लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे । मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती । तत्सक्तोऽयं न किंचिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता । भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥' ६. अतिशयोक्तियमकयोः संसृष्टिः । ७. अपह्नुतिरलंकारः श्लेषानुसंबलितः ।

वितीर्णमस्मभ्यमनेन संयुगे पुनः कुतो लब्धमितीव कौतुकात् ।
स कस्य पृष्ठं न नतारिभूभुजः कराग्रसंस्पर्शमिषाद् व्यलोकयत् ॥ ८ ॥
न मन्त्रिणस्तन्त्रजुषोऽपि[1] रक्षितुं क्षमाः स्वमेतद्भुजगादसेः क्वचित् ।
इतीव भीताः शिरसि द्विषो दधुस्तदंह्रि[2]चञ्चन्नखरत्नमण्डलम् ॥ ९ ॥
अतुच्छमाच्छाद्य महो महस्विनां पयोदकाले तदसौ समुद्यते ।
नवाम्बुधाराविनिपातजर्जरैर्न राजहंसैर्न पलायितं जवात् ॥ १० ॥
समुल्लसत्खङ्गलतापहस्तितक्लमं धरित्री समवाप्य तद्भुजम् ।
विषाग्निगर्भैः श्वसितैरिवाकुला मुमोच मैत्रीं फणि[3]चक्रवर्तिनः ॥ ११ ॥

नतारिभूभुजः प्रणतशत्रुपृथिवीपतेः पृष्ठं न व्यलोकयत् नापश्यत् अपि तु सर्वस्यैव दृष्टवान् हस्तदानव्याजात् इति कौतुकाद् विस्मयादिव । संयुगे संग्रामे वितीर्णं दत्तं पुनः कुतो लब्धम् । दत्तं वस्तु दातारं परित्यज्य तिष्ठति एतच्च तदवस्थमेवास्य दृश्यत इति[4] ॥ ८ ॥ नेति—द्विषः शत्रव इतीव हेतोस्तदंह्रिचञ्चन्नखरत्नमण्डलं तस्यांह्री तदंह्री तयोश्चञ्चन्तो देदीप्यमाना नखा एव रत्नानि तेषां मण्डल दशकं शिरसि मस्तके दधुर्बिभरांबभूवुः । भीता अलब्धान्यप्रतीकाराः । किंविशिष्टाः सन्त इत्याह—[5]एतद्भुजगादस्य दोर्दण्डस्थादसेः खङ्गात् स्वमात्मानं रक्षितुं गोप्तुं न क्षमा न प्रभविष्णवः । [6]मन्त्रिणोऽपि पञ्चाङ्गमन्त्रकोविदास्त[7]न्त्रजुषोऽपि प्रकृत्यादिसर्वाङ्गोपचिता अपि । अथ यथा केचिन्मन्त्रिणो गारुडविद्याभ्यासिनोऽपि तन्त्रजुषोऽपि महौषधप्रयोगिणोऽपि भुजगादात्मानं रक्षितुमपारयन्तो विषापहाररत्नमण्डलं शिरसि दधतीति भावः[8] ॥ ९ ॥ अतुच्छमिति—तदसौ तत्खङ्गे समुद्यते उत्तम्भिते पयोदकाले मेघश्यामले न न राजहंसैः समरशौण्डीरैः पलायितम् अपि तु द्रुतमेव द्रुतम् । नवाम्बुधाराविनिपातजर्जरैः नवेनाम्बुना तेजःप्रभावेण तेनोपलक्षिता धारा तस्या विनिपातो वेगसंपातस्तेन जर्जराः शतधाखण्डितास्तैस्तद्विधैः । किं कृत्वा समुद्यते इत्याह—आच्छाद्य महस्विनां प्रतापोद्भटानां महस्तेजोऽतुच्छं परानभिभूतम् । अथ महस्विनां चन्द्रादित्यादीनां महस्तेजः पराभूय पयोदकाले समुद्यते समुन्नते प्रथमशरधारासंपातस्तिमितैर्हंसैर्यथा पलाय्यते ॥ १० ॥ समुल्लसदिति—तद्भुजं तद्दोर्दण्डं लब्ध्वा धरित्री फणिचक्रवर्तिनोऽहीश्वरस्य मैत्रीं फणशयनप्रीतिं मुमोच तत्याज । किं कारणमित्याह—आकुलेव

कर्क और मकर—ये जलके जीव [पक्षमें मीनादि राशियाँ] क्यों पाये जाते ॥ ७ ॥ अरे ! यह पीठ तो इसने युद्धमें मुझे दे दी थी, [पीठ दिखा कर भाग गया था] पुनः कहाँसे पा ली—इस कौतुक से ही मानो वह राजा अपने हाथके स्पर्शके बहाने किस नम्र राजाकी पीठको नहीं देखता था ॥८॥ इसकी भुजामें स्थित तलवारसे [पक्षमें तलवाररूपी सर्पसे] अपने-आपकी रक्षा करनेमें न मन्त्री [पक्षमें मन्त्रवादी] समर्थ हैं और न तन्त्री, [पक्षमें औषध अथवा टोटका करने वाले] ऐसा सोच कर ही मानो भयभीत हुए शत्रु इसके चरणोंमें शोभायमान नखरूपी रत्नमण्डलको सदा अपने मस्तकपर धारण करते हैं—चरणोंमें नमस्कार कर सदा इसे प्रसन्न रखते हैं ॥९॥ राजाका तलवाररूपी वर्षाकाल बड़े-बड़े तेजस्वी पुरुषों [सूर्य-चन्द्रमा आदि] के विशाल तेजको आच्छादित कर ज्योंही उद्यत हुआ त्योंही नूतन जलधाराके पड़नेसे तितर-बितर हुए राजहंस पक्षियोंकी तरह बड़े-बड़े राजा लोग नवीन पानीसे युक्त धाराके पड़नेसे खण्डित होते हुए वेगसे भाग जाते थे ॥१०॥ पृथिवी विषरूपी अग्निसे मिले हुए शेषनागके श्वासोच्छ्वाससे व्याकुल हो उठी थी । अतः ज्योंही उसे चमकीली खड्गलतासे

१. मन्त्रजुषोऽपि ज० । २. तदङ्घ्रि म० घ० । ३. फण छ० । ४. उत्प्रेक्षा । ५. एतस्य भुजं बाहुं गच्छतीत्येतद्भुजगस्तस्माद् एतद्बाहुस्थितादित्यर्थः, पक्षे भुजगात्सर्परूपादसेः खङ्गात् । ६. मन्त्रिणः सचिवाः पक्षे मन्त्रवेत्तारः । ७. स्वराष्ट्रचिन्तका अपि पक्षे औषधसहिता अपि 'तन्त्रः स्वराष्ट्रचिन्तायामावापः परचिन्तनम्' 'तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये स्यात्सिद्धान्ते चौषधोत्तमे' इति मेदिनी । ८. श्लेषानुप्राणितरूपकोत्प्रेक्षे ।

नियोज्य कर्णोत्पलवज्जयश्रिया कृपाणमस्योपगमे समिद्गृहे ।
प्रतापदीपाः शमिता विरोधिनामहो सलज्जा नवसंगमे स्त्रियः ।। १२ ।।
असक्तमाकारनिरीक्षणादपि क्षणादभीष्टार्थकृतार्थितार्थिनः ।
कुतश्चिदातिथ्यमियाय कर्णयोर्न तस्य देहीति दुरक्षरद्वयम् ।। १३ ।।
उपासनायास्य बलाभियोगतः प्रकम्पमानाः कुलपर्वता इव ।
समाययुर्द्वारिमदाम्बुनिर्झराः क्षितीश्वरोपायनगन्धदन्तिनः ।। १४ ।।
निपीतमातङ्गघटाग्रशोणिता हठावगूढा सुरतार्थिभिर्भटैः ।
किल प्रतापानलमासदत्समित्समृद्धमस्यासिलतात्मशुद्धये ।। १५ ।।

संतापितेव श्वसितैर्विषानलमिश्रैः । तत्रापि भुजे कश्चिद्दोषो भविष्यतीति तन्निराकरणार्थमाह—समुल्लसत्खङ्गलतापहस्तितक्लमं समुल्लसन्ती अनन्योपमेघच्छाया सा चासौ खङ्गलता च तया अपहस्तितो निराकृतः क्लमस्तापो यत्र स तं तथाविधं विशेषतस्तापापहमित्यर्थः[२] ।। ११ ।। नियोज्येति—जयश्रिया जयलक्ष्म्या अस्य कृपाणं खङ्गं नियोज्य मेलयित्वा विरोधिनां द्विषां प्रतापदीपाः शमिता विध्यपिताः समिद्गृहे संग्रामगृहे उपगमे प्रथमसंगमे स्त्रियः [सलज्जाः सत्रपाः] अथ यथा काचिन्नवोढा समिद्गृहे विवाहगृहे कर्णोत्पलेन प्रदीपान् विध्यापयति[3] ।। १२ ।। असक्तमिति—तस्य देहीति दुरक्षरद्वयं दुष्टाक्षरयुग्मं कर्णयोरातिथ्यं विषयं न इयाय नाजगाम । कुतश्चित् कस्मादपि असक्तमनवरतं किंविशिष्टस्येत्याह—अभीष्टार्थकृतार्थितार्थिनः अभीष्टार्थैरभिलषितार्थैः कृतार्थिताः कृतार्थीकृता अर्थिनो याचका येन तस्य तथाविधस्य आकारनिरीक्षणादपि दर्शनमात्रादपि[४] । कल्पवृक्ष इव मनसि चिन्तितं ददातीति भावः ।। १३ ।। उपासनायेति—अस्य द्वारि क्षितीश्वरोपायनगन्धदन्तिनः समाययुः संजग्मिरे । अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—अस्योपासनाय सेवनाय [५]बलाभियोगतः सेनोपमर्दात् प्रकम्पमानाः कुलपर्वता इव मदाम्बुनिर्झरा मदवत्सेनासंपर्काच्छ्यामलं यदम्बु तेनोपलक्षिता निर्झरा येषां ते तद्विधाः[६] ।।१४।। निपीतेति—किलेति संभावनायाम् अस्यासिलता खङ्गयष्टिः प्रतापानलमासदत् प्रविवेश । समिदा संग्रामेण समृद्धमुपचितम् । किमर्थमित्याह—आत्मशुद्धये स्वनिर्मलतायै । अशुद्धेः कारणमाह—निपीतेत्यादि—मातङ्गाः श्वपचास्तेषां घटाः कुम्भा निपीतं मातङ्गघटेष्वग्रशोणितं यया सा तथाविधा पक्षे निपीतहस्तिघटाग्ररक्ताः । पुनः कीदृग् । हठावगूढा बलात्कारालिङ्गिता भटैः खिङ्गविटैः सुरतार्थिभिर्मैथुनोद्यतैः पक्षे भटैः सात्त्विकशूरै-

समस्त खेदको दूर करनेवाली महाराज महासेनकी भुजाका संसर्ग प्राप्त हुआ त्योंही उसने शेषनागकी मित्रता छोड़ दी ।।११।। युद्धरूपी घरमें कर्णाभरणकी तरह तलवारकी भेंट देकर ज्यों ही विजयलक्ष्मीके साथ इस राजा का समागम हुआ त्योंही शत्रुओंके प्रतापरूपी दीपक बुझ गये सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियाँ नवीन समागमके समय लज्जायुक्त होती ही हैं ।।१२।। यतश्च यह राजा क्षण भरमें ही अभीष्ट पदार्थ देकर याचकोंको कृतकृत्य कर देता था अतः 'देहि' [दो] ये दो दुष्ट अक्षर किसी भी ओरसे उसके कानोंमें सुनाई नहीं पड़ते थे मानो उसकी सूरत देखनेसे ही डरते हों ।।१३।। जिनके गण्डस्थलसे मदजलके झरने झर रहे हैं ऐसे राजाओंके द्वारा उपहारमें भेजे हुए मदोन्मत्त हाथी निरन्तर इसके द्वार पर आते रहते थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो बलाक्रमणसे काँपते हुए कुलाचल ही इसकी उपासनाके लिए आ रहे हों ।।१४।। इस राजाकी तलवाररूपी लताने हस्ति-समूहके अग्रभागका रुधिर पिया था और देवपदके इच्छुक योद्धाओंने इसका बलात् आलिंगन किया था अतः वह आत्मशुद्धिके लिए युद्धमें बढ़े हुए इस राजाके प्रतापरूपी अग्निको प्राप्त हुई थी। [जिस स्त्रीने किसी चाण्डालके घटसे रुधिरपान किया है तथा संभोगके इच्छुक परपुरुषोंके द्वारा जिसका बलात्

१. मत्त म० घ० । २. उत्प्रेक्षा । ३. समासोक्तिरूपकार्थान्तरन्यासाः । ४. आकारस्याकृतेर्दीर्घाकारस्य च । ५. सैन्यप्रयोगाच्छक्तिप्रयोगाद्वा । ६. उत्प्रेक्षा ।

ततः श्रुताम्भोनिधिपारदृश्वनो विशङ्कमानेव पराभवं तदा ।
विशेषपाठाय विधृत्य पुस्तकं करान्न मुञ्चत्यधुनापि भारती ।। १६ ।।
बभुस्तदस्त्राहतदन्तमण्डलात्समुच्छलन्तो हुतभुक्कणाः क्षणम् ।
सरक्तवान्ता वरवैरिवारणव्रजस्य जीवा इव सङ्गराजिरे ।। १७ ।।
श्रुतं च शीलं च बलं च [1]तत् त्रयं स सर्वदौदार्यगुणेन संदधत् ।
चतुष्कमापूरयति स्म दिग्जयप्रवृत्तकीर्तेः प्रथमं सुमङ्गलम् ।। १८ ।।
तदीयनिस्त्रिंशलसद्विधुंतुदे बलाद्गिलत्युद्यतराजमण्डलम् ।
निमज्ज्य धारासलिले स्वमुच्चकैर्ददुर्द्विजेभ्यः प्रविभज्य विद्विषः ।। १९ ।।

देवत्वार्थिभिः । तत्खड्गसंमुखाहता हि स्वर्गं व्रजन्तीति । यथा काचिल्लता कुलकन्यका प्रतापानलं दीप्ताग्निमिन्धनौघसमृद्धमन्त्यजसंपर्कदुराचारेण सतीत्वलोपदोषेण च जनापवादिता प्रविशतीति भावः ।। १५ ।। **तत इति**—ततो राज्ञः पराभवं विशङ्कमानेव भारती करात्पुस्तकमद्यापि न मुञ्चति । विशेषपाठायानभ्यस्तशास्त्राभ्यसनाय । कथं तेन भारती पराभूयत इत्याह—श्रुताम्भोनिधिपारदृश्वनः श्रुतसमुद्रपारमुपेयुषः श्रुताभ्यासेन ममास्य च सादृश्यं ततो विशेषमभ्यस्यामीति तदा पुस्तकमादृत्याभ्यासपतितमिदमद्यापि न जहातीति भावः । अतिशयोक्तिरलंकृतिः ।। १६ ।। **बभुरिति**—उच्छलन्त ऊर्द्ध्वं विशरारवो हुतभुक्कणा अनलस्फुलिङ्गा बभुः शुशुभिरे । कुत इत्याह—तदस्त्राहतदन्तमण्डलात् तस्यास्त्राणि खड्गपरशुमुख्यानि तैराहतं दन्तमण्डलं तद्दन्तदम्भोलिबन्धस्तस्मात् । अतश्च ज्ञायन्ते—वरवैरिवारणव्रजस्योद्धतशत्रुहस्तिघटाया जीवा इव । कथं तेषां रक्तत्वमित्याह—सरक्तवान्ताः सप्राणाभिघाताच्छोणितैः सह निर्गताः[2] ।। १७ ।। **श्रुतमिति**—स चतुष्कं मङ्गलं स्वस्तिकं पूरयति स्म रचयाञ्चकार । प्रथममादिमं सुमङ्गलं प्रस्थानं शकुनं स्यादित्याह—दिग्जयप्रवृत्तकीर्तेर्दिग्विजयस्थितयशःप्रभूते । स किं कुर्वन्नित्याह—संदधत् संगमयन् श्रुतं सर्वशास्त्रं शीलमुचिताचरणं बलं शक्तिमत्ता । एतत्त्रयमौदार्यगुणेन गम्भीरोदात्तत्वगुणेन । तस्य श्रुतादयो गुणा उदारा अनन्यसाधारणाः कीर्तिविस्तारजन्महेतव इत्यर्थः[3] ।। १८ ।। **तदीयेति**—द्विषः शत्रवः स्वमात्मानं विभज्य भागीकृत्य द्विजेभ्यः पक्षिभ्यो ददुर्वितेरुः । निमज्ज्य पतित्वा धारासलिले खड्गधारावारिणि अस्त्रसंघाते वा । क्व सतीत्याह—तदीयो निस्त्रिंशः स एव लसद्विधुंतुदः प्रसर्पद्राहुस्तस्मिन् तद्विधे । किं कुर्वति । उद्यतराजमण्डलं प्रतापिनृपचक्रं गिलति संहरति बलादात्मशक्तिप्रभावेण । अथ यथा निस्त्रिंशक्रूरराहो उद्यत राजमण्डलमुदित-

आलिङ्गन किया गया है ऐसी स्त्री जिस प्रकार आत्मशुद्धिके लिए इन्धनसे प्रदीप्त प्रकृष्ट तापसे युक्त अग्निमें प्रवेश करती है उसी प्रकार राजा की तलवारने भी आत्मशुद्धिके लिए प्रतापरूपी अग्निमें प्रवेश किया था ।।१५।। उस समय शास्त्ररूपी समुद्रके पारदर्शी राजा महासेनसे पराभवकी आशंका करती हुई सरस्वतीने विशेष पाठके लिए ही मानो पुस्तक अपने हाथमें ली थी पर उसे वह अब भी नहीं छोड़ती ।।१६।। युद्धके आँगनमें राजाके शस्त्रोंका आघात पाकर शत्रुओंके बड़े-बड़े हाथियोंके दाँतोंसे अग्निकी चिनगारियाँ निकलने लगती थीं और जो क्षणभरके लिए ऐसी जान पड़ती थी मानो रक्तके साथ उनके प्राण ही निकले जा रहे हों ।।१७।। वह राजा श्रुत, शील और बल इन तीनोंको सदा उदारता रूप गुणसे युक्त रखता था मानो दिग्विजयमें प्राप्त हुई कीर्तिके लिए मंगलरूप चौक ही पूरा करता था ।।१८।। जब राहु हठात् चन्द्रमण्डलको ग्रस लेता है तब लोग किसी नदी आदिके जलमें स्नान कर द्विजों—ब्राह्मणोंके लिए जिस प्रकार कुछ स्व-धनका विभाग कर देते हैं उसी प्रकार इस राजाके तलवाररूपी राहुने जब हठात् राजाओंके समूहरूपी चन्द्रमण्डलको ग्रस लिया तब शत्रुओंने तलवारकी धारके पानीमें निमग्न हो अपने-आपका विभाग कर—टुकड़े-टुकड़े कर द्विजों—पक्षियोंके

१. यत्त्रयं म० घ० । २. उत्प्रेक्षा । ३. परिणामालंकारः ।

उदर्कवक्रां वनितास्वभावतो विभाव्य विश्रम्भमधारयन्निव ।
व्यशिश्रणद्वैरिकुलाद्बलाहृतां स्वसंमतेभ्यो बहिरेव स श्रियम् ॥ २० ॥
विदारितारिद्विपगण्डमण्डलीसमुल्ल[1]सल्लोलशिलीमुखच्छलात् ।
कचेषु खड्गः क्रमकिङ्करीमिव क्रुधा चकर्षास्य जयश्रियं रणे ॥ २१ ॥
जगत्त्रयोत्तंसितभासि तद्यशः समग्रपीयूषमयूखमण्डले ।
विजृम्भमाणं रिपुराजदुर्यशो बभार तुच्छेतरलाञ्छनच्छविम् ॥ २२ ॥
वमन्नमन्दं रिपुवर्मयोगतः स्फुलिङ्गजालं तदसिस्तदा बभौ ।
वपन्निवासृग्जलसिक्तसंगरक्षितौ प्रतापद्रुमबीजसंततिम् ॥ २३ ॥
अवाप्तवाञ्छाभ्यधिकार्थसंपदोन्नतेषु संक्रान्त इवानुजीविषु ।
मदस्य लेशोऽपि न तस्य कुत्रचिन्महाप्रभुत्वेऽपि जनैरदृश्यत ॥ २४ ॥

चन्द्रमण्डलं ग्रसमाने सति संगमे स्नात्वा स्वं द्रव्यं द्विजेभ्यो ददतीति भावः ॥ १९ ॥ उदर्केति—स वैरिकुलात् शत्रुकुलात् हठाद्धृतां बलादाकृष्टां लक्ष्मीं स्वसम्मतेभ्यो भृत्यादिभ्यो व्यशिश्रणत् अदात् बहिरेव बहिः—प्रदेशे नानीता च । उदर्कवक्राम् आयातविपाकविक्रियाकारिणीं स्वभावतो विभाव्येति विश्रम्भं विश्वासमधारयन्निव अकुर्वन्निव । शत्रुलक्ष्मीः तत्पक्षं पुरा पुष्णातीति मत्वा स्वसेवकेभ्यो बहिरेव ददाति स्मेति भावः[2] ॥ २० ॥ विदारितारीति—अस्य खड्गः समरे जयलक्ष्मीमाजग्राह कचेष्वाम्नायदासीमिव । कयारित्येत्याह—विदारितेति, विदारिता द्विधाकृता चासौ रिपुद्विपगण्डमण्डली च तस्याः सकाशात्समुल्लसन्त इतस्ततः पर्यटन्तो लोला शिलीमुखाश्च चलालयस्तेषां छलात् । शत्रुगजमदलिप्तः खड्गः सौरभेणालिश्रेणीमाकर्षन् जयलक्ष्मीवेणिमिवाकर्षतीति भावः[3] ॥ २१ ॥ जगदिति—रिपुराजदुर्यशः शत्रुराजापकीर्तिपटलं विजृम्भमाणं प्रवर्द्धमानं बहुललाञ्छनशोभां बभार पुष्णाति स्म । कस्मिन्नित्याह—तद्यशःसमग्रपीयूषमयूखमण्डले तस्य यशःपूर्णचन्द्रमण्डले, जगत्त्रये उत्तंसिता महार्घ्यतां गता भा दीप्तिर्यस्य तत्तथाविधे । तस्य यशःपरिपूर्णचन्द्रमण्डले कृष्णत्वाद्रिपुदुर्यशो लाञ्छनमिवेत्यर्थः[4][5] ॥ २२ ॥ वमन्निति—तदसिस्तत्खड्गः स्फुलिङ्गजालमग्निकणश्रेणीं रिपुवर्मयोगतः शत्रुसन्नाहाभिघाताद् वमन्नुद्गिरन् अमन्दं मन्दभयजनकं बभौ विरराज । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—प्रतापद्रुमबीजसंततिं वपन्निवारोपयन्निव । कस्यामित्याह—असृग्जलसिक्तसंगरक्षितौ रक्तसलिलप्लावितसंग्रामक्षेत्रे[6] ॥ २३ ॥ अवाप्तेति—तस्य नृपस्य मदलेशोऽप्यहंकारलवोऽपि जनैर्नादृश्यत । क्व सति महाप्रभुत्वेऽपि अतिशयाहङ्कारकारणेऽपि । तर्हि क्व गतो मद इत्याह—अनुजीविषु भृत्येषु उद्धुरकन्धरेषु संक्रान्त इवावतीर्ण

लिए दे दिया था ॥१९॥ यह लक्ष्मी स्त्री जैसा स्वभाव रखती है अतः फलकालमें कुटिल होगी—ऐसा विचार कर विश्वास न करता हुआ वह राजा शत्रुओंके कुलसे हठपूर्वक लाई हुई लक्ष्मीको बाहर ही अपने मित्रोंको दे देता था ॥२०॥ युद्धके मैदानमें शत्रु-हस्तियोंके चीरे हुए गण्डस्थलसे जो चंचल भौंरे उड़ रहे थे उनके छलसे ऐसा जान पड़ता था मानो इस राजाका खड्ग क्रोधसे विजयलक्ष्मीको चरणदासीके समान बाल पकड़कर ही घसीट रहा हो ॥२१॥ त्रिभुवनको अलंकृत करनेवाले उस राजाके यशरूपी पूर्णचन्द्रमाके बीच शत्रुओंका बढ़ता हुआ अपयश विशाल कलंककी कान्तिको धारण कर रहा था ॥२२॥ शत्रुओंके कवचोंका संसर्ग पाकर बहुत भारी चिनगारियोंके समूहको उगलता हुआ उस राजाका कृपाण उस समय ऐसा सुशोभित होता था मानो खूनरूपी जलसे सिंची हुई युद्धकी भूमिमें प्रतापरूपी वृक्षके बीजोंका समूह ही बो रहा हो ॥२३॥ इतना बड़ा प्रभाव होने पर भी उस राजाके

१. समुल्लसल्लोल ख० ङ० ग० ज० । २–३. उत्प्रेक्षा । ४. यशसः शुक्लत्वं दुर्यशसश्च कृष्णत्वं कविसमयसिद्धं 'मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः', इत्युक्तत्वात् । ५. उपमालंकारः । ६. रूपकोत्प्रेक्षे ।

द्विषत्सु कालो धवलः क्षमाभरे गुणेषु रक्तो हरितः प्रतापवान् ।
जनेक्षणैः पीत इति द्विषां व्यधादनेकवर्णोऽपि विवर्णतामसौ ॥ २५ ॥
प्रतापवह्नौ किल दीपिते ककुप्करीन्द्रभस्त्राकरसू[1]त्कृतानिलैः ।
स काञ्चनाभां कटकं जगत्पुटे दधानमावर्तयति स्म विद्विषाम् ॥ २६ ॥
अवापुरेके रिपवः पयोनिधेः परे तु वेलां बलिनोऽस्य भूभुजः ।
ततोऽस्य मन्ये न कुतोऽप्यपूर्यत प्रचण्डदोर्विक्रमकेलिकौतुकम् ॥ २७ ॥
भयातुरत्राणमयीमनारतं महाप्रतिज्ञामधिरूढवानिव ।
न भूरिशङ्काविधुरे रिपावपि क्वचित्तदीयासिरचेष्टताहितम् ॥ २८ ॥

इव । कयोन्नतेषु । अवाप्तवाञ्छाभ्यधिकार्थसंपच्च तया तद्विधया । मनोरथातिगदानतोषाहंकारिणः पदातय एव, न स इति भावः[2] ॥ २४ ॥ द्विषत्स्वपीति—इति स द्विषां शत्रूणां बहुविधवर्णोऽपि विवर्णतां मालिन्यं व्यधादकार्षीत् । कथमनेकवर्णत्वमित्याह—द्विषत्सु कालो यम इव, धवल उद्धारधीरः क्षमाभरे भूभारे, गुणेषु रक्त आसक्तः, हरितो हरेः हरित इन्द्रात्सूर्याद्वा तेजस्वी, जनेक्षणैः पीतोऽपि निर्निमेषमवलोकितः । अथ च स्वयं पञ्चवर्णोऽपि विवर्णतां वर्णहीनतां विदधातीति विरोधः । वर्णविश्लेषविरोधोऽयमलंकारः ॥ २५ ॥ प्रतापेति—विद्विषां शत्रूणां कटकं शिविरम् आवर्तयति स्म विपील्याञ्चकार । दीपिते जाज्वल्यमाने प्रतापवह्नौ तेजोऽग्नौ । कैर्दीपित इत्याह—ककुबित्यादि—ककुप्करिणो दिग्गजास्तेषां भस्त्राकाराः शुण्डादण्डास्तेषां सूत्कृतानिलैः सूत्कारवातैः दिग्गजशुण्डध्मात्रीस्फूत्कारैः । कस्मिन्नारोप्य इत्याह—जगत्पुटे द्यावाभूमीमुखा संपुटे काञ्चनाभां निर्वाच्यामाभां वलयसम्पत्ति बिभ्राणं । यथा कश्चित्सुवर्णकारः काञ्चनाभां दधानं कटक[3]मा-भरणविशेषमावर्तयति दिग्गजादयोऽपि तत्पक्षस्थाः शत्रुसंघातं घ्नन्तीति भावः[4] ॥ २६ ॥ अवापुरिति—अस्य प्रचण्डदोर्विक्रमकेलिकौतुकं नापूर्यत न संपेदे प्रबलभुजदर्पक्रीडामनोरथो युद्धकौतूहलमनोरथ इति यावत् । कुतो नापूर्यत इत्याह—एके रिपवः समुद्रस्य वेलां समुद्रोपकण्ठवनालीम् अवापुर्जगृहुः । अपरे शेषा वेलां [समीपं] बलिनो बलयुद्धिकां दधतोऽस्य भूभुजस्ततः केन सार्द्धं युध्यत इति भावः[5] ॥ २७ ॥ भयेति—महाभयकम्पमाने

अहंकारका लेशमात्र भी दिखाई नहीं देता था । ऐसा मालूम होता था मानो उसका वह अहंकार इच्छासे अधिक सम्पदाके द्वारा उन्नतिको प्राप्त हुए सेवकोंमें संक्रान्त हो गया था ॥२४॥ वह राजा शत्रुओंके लिए काल-यम था [काला था], क्षमाका भार धारण करनेमें धवल-वृषभ था [सफेद था], गुणोंमें अनुरक्त था [लाल था], हरित-इन्द्र अथवा सूर्यसे भी अधिक प्रतापी था [हरितवर्ण तथा प्रतापी था] और मनुष्योंके नेत्रों द्वारा पीत-अवलोकित था [पीला था] इस प्रकार अनेक वर्ण-यश [रंग] से युक्त होने पर भी शत्रुओंको वर्णरहित-नीच [रंगरहित] करता था ॥२५॥ जिस प्रकार कोई स्वर्णकार धोंकनीसे प्रदीपित अग्निके बीच किसी बर्तनकी पुटमें रखकर सुवर्णके कड़ेको चलाता है उसी प्रकार वह राजा दिग्गजोंके भस्त्रारूपी शुण्डादण्डकी फुंकारसे उत्पन्न वायुके द्वारा प्रदीपित अपने प्रतापरूपी अग्निके बीच किसी अद्भुत आभाको धारण करनेवाले शत्रुओं-के कटक-सेनारूपी कड़ेको संसाररूपी पुटमें चलाता है—इधर-उधर घुमाता है ॥२६॥ कितने ही शत्रु भागकर समुद्र-तटको प्राप्त होते थे और कितने ही लौट-लौट कर इस बल-वान् राजाके समीप आते थे इससे जान पड़ता है कि इसकी शक्तिशालिनी भुजाओंके परा-क्रमका क्रीड़ा-कौतुक कहीं भी पूर्ण नहीं होता था ॥२७॥ मित्रकी बात जाने दो, भारी भय-

१. फूत्कृतानिलैः घ० म० । २. उत्प्रेक्षामूलको विशेषोक्तिरलंकारः । ३. कटकोऽस्त्री राजधान्यां सानौ सेनानितम्बयोः । वलये सिन्धुलवणे दन्तिदन्तविभूषणे ॥' इति विश्वलोचनः । ४. रूपकालङ्कारः श्लेषानुप्राणितः । ५. केचिच्छत्रवो भीत्या पयोधितीरं प्रजग्मुः केचिच्चान्यत्र शरणमलब्ध्वा तस्यैव समीपमाजग्मुस्तेनास्य भुजपराक्रमक्रीडाकौतुकं कुतोऽपि न पूर्णं बभूवेति भावः । ६. उत्प्रेक्षा ।

स कोऽपि चेदेकतमेन चेतसा क्षमेत संचिन्तयितुं फणीश्वरः ।
तदा तदीयान् रसनासहस्रभृद्गुणानिदानीमपि किं न वर्णयेत् ।। २९ ।।
निशासु नूनं मलिनाम्बरस्थितिः प्रगल्भकान्तासुरते द्विजक्षतिः ।
यदि क्विपः सर्वविनाशसंस्तवः प्रमाणशास्त्रे परमोहसंभवः ।। ३० ।।
धनुर्धराणां करवालशून्यता हिरण्यरेतस्यविनीतता स्थिता ।
अभूज्जगद्बिभ्रति तत्र केवलं गुणच्युतिर्मार्गण एव निश्चलम् ।। ३१ ।। [युग्मम्]
निरञ्जनज्ञानमरीचिमालिनं जिनेन्द्रचन्द्रं [1]दधति प्रमोदतः ।
न तस्य चेतस्यखिलक्षमापतेस्तमोऽवकाशः क्षणमप्यलक्ष्यत ।। ३२ ।।

शत्रावपि न तस्य खड्गी वधादिकं चकार । किं कारणमित्याह—महाप्रतिज्ञामलङ्घ्यव्रतमिव श्रितवान् । अनारतं यावज्जीवं भयातुरत्राणमयीं बिभ्यद्रक्षणैकशीलाम् । एतेन धर्मविजयत्वमुक्तम् ।। २८ ।। स इति—स कोऽपि प्रसिद्धिगृहीतस्वरूपः फणीश्वरः शेषाहिस्तदीयान् गुणान् किं न वर्णयेत् । साम्प्रतमपि किं न स्तवीतु । रसनानां सहस्रं बिभर्तीति स तथाविधः । यदि किम् । यद्येकेन चेतसा पटुतमेनापि संचिन्तयितुमवधारयितुं प्रगल्भेत । जिह्वासहस्राणीव यदि चेतसः सहस्राणि भवन्ति तदा शेषसदृशेन तद्गुणा वर्ण्यन्त इति भावः[2] । आक्षेपालंकारः ।। २९ ।। निशास्विति—तस्मिन् राज्ञि भुवनं पाति सति किं किमभूदित्याह—निश्चितं रात्रिष्वेव मलिनाकाशस्थितिरन्यः कोऽपि न मलिनवस्त्रः । वाणिनीसुरतोत्सव एव दन्तव्रणो न धर्मलिङ्गि-विघातः । यदि सर्वविनाशसंस्तवः सर्वलोपता दृश्यते तदा लक्षणनियुक्तक्विप्प्रत्ययस्यैव । यदि परमोहसंभव-स्तदा प्रमाणशास्त्रे तर्कग्रन्थे परमश्चासावूहश्च तस्य संभवः । नान्यत्र परमोहसंभवोऽन्यविप्रतारणस्थितिः । शरयोधानां खड्गशून्यता नान्यः खण्डितहस्तो मुण्डितशिरा वो । अविना मेषेण नीयते य उह्यते तस्य भावोऽग्नावेव । अन्यस्तु विनयतत्परः । गुणाज्ज्याबन्धाच्च्यवनं गुणच्युतिर्मार्गण एव शर एव अन्यस्तु सर्वोऽपि गुण-ग्रामणीरित्यर्थः परिसंख्येयमलंकारः ।। ३०-३१ ।। निरञ्जनेति—तस्य सर्वभूपतेर्मनसि तमोऽवकाशः कोपप्रवेशो मोहावकाशो निमेषमपि नादृश्यत । किं कुर्वतीत्याह—मोहादिजेतारमेवेन्दुं वहमाने केवलज्ञानकिरणाव-भासिनम् । अथ चन्द्राधिष्ठितं न ध्वान्तेन परिभूयत इति भावः । अथ चोक्तिलेशः—केवलज्ञानिनं जिनं

से पीडित शत्रुके ऊपर भी उसकी तलवार नहीं चलती थी, मानो वह 'भयसे पीडित मनुष्यकी रक्षा करूँगा' इस महाप्रतिज्ञाको ही धारण किये हो ।।२८।। यदि वह फणिपति अपने एकाग्र-चित्तसे उस समय उस राजाके गुणोंका चिन्तवन कर सका होता तो हजार जिह्वाओंको धारण करनेवाला वह उन गुणोंको अब भी क्यों नहीं वर्णन करता ।।२९।। जब राजा महासेन जगत्का पालन कर रहे थे तब मलिनाम्बरकी स्थिति-मलिन आकाशका सद्भाव केवल रात्रिमें ही था, अन्यत्र मलिन वस्त्रका सद्भाव नहीं था, द्विज क्षति-दन्ताघात केवल प्रौढ स्त्रीके संभोगमें ही था अन्यत्र ब्राह्मणादि वर्णों, पक्षियों अथवा धर्मवेषियोंका आघात नहीं था, सर्वविनाशसंस्तव-सर्वापहारि लोप क्विप् प्रत्ययका ही था अन्य किसीका समूल नाश नहीं था, परमोह संभव-उत्कृष्ट तर्कका सद्भाव न्यायशास्त्रमें ही था अन्यत्र अतिशय मोहका सद्भाव नहीं था, करवालशून्यता-तलवारका अभाव धनुर्धारियोंमें ही था, अन्यत्र हाथों और केशोंका अथवा हाथोंमें स्थित बालकोंका अभाव नहीं था अविनीतता-मेष-वाहनता केवल अग्निमें ही थी अन्यत्र उद्दण्डता नहीं थी और गुणच्युति-डोरीका त्याग बाणमें ही था अन्यत्र दया आदि गुणोंका त्याग नहीं था ।।३०-३१।। यतश्च वह राजा अपने हृदयमें बड़े आनन्दके साथ निर्मल ज्ञानरूपी किरणोंसे समुद्भासित जिनेन्द्ररूप चन्द्रमाको धारण करता था अतः उसके हृदयमें क्षणभरके लिए भी अज्ञानरूपी अन्धकारका अवकाश नहीं दिखाई

१. दधतः म० घ० । २. साम्प्रतमपि वर्णयितुमशक्तस्ततो ज्ञायते तदा चिन्तयितुमपि चेतसा न समर्थोऽभूदिति तात्पर्यम् ।

महानदीनोऽप्यजडाशयो जगत्यनष्टसिद्धिः परमेश्वरोऽपि सन् ।
बभूव राजापि निकारकारणं विभावरीणामयमद्भुतोदयः ।। ३३ ।।

तरङ्गिताम्भोधिदुकूलशालिनीमखर्वपूर्वापरपर्वतस्तनीम् ।
वरोरुदेशे स निधाय कोमलं करं बुभोजैकवधूमिव क्षितिम् ।। ३४ ।।

अथास्य पत्नी निखिलावनीपतेर्बभूव नाम्ना चरितैश्च सुव्रता ।
स्थितेऽवरोधे प्रचुरेऽपि या प्रभोरभूत्सुधांशोरिव रोहिणी प्रिया ।। ३५ ।।

सुधासुधारश्मिमृणालमालतीसरोजसारैरिव वेधसा कृतम् ।
शनैः शनैर्मौग्ध्यमतीत्य सा दधौ सुमध्यमा मध्यममध्यमं वयः ।। ३६ ।।

ध्यायतोऽखिलक्षमापतेः सर्वसहिष्णोस्तपस्विनो मोहावकाशो न संभाव्यत इति । श्लेषस्वभावोक्तिरलंकृतिः[1] ।। ३२ ।। महेति—सोऽरीणां विभौ शत्रुसमर्थे निकारकारणं परिभवस्थानं सर्वशत्रुविनाशको बभूवेत्यर्थः । अथ च राजा चन्द्रोऽपि सन् विभावरीणां पराभवस्थानमिति विरोधः । महानदीनामिनः स्वामी तथाविधोऽपि अजडाशयोऽतोयमध्यः पक्षे महान् गुरुरदीनो धीरोदात्तगम्भीरप्रकृतिरप्यजडाशयो ज्ञानहृदयः परमेश्वरोऽप्यनष्टसिद्धिर्न नष्टा सिद्धिर्यस्यासावनष्टसिद्धिः । ईश्वरश्चाष्टसिद्धिरष्टावणिमादयः सिद्धयो यस्य स तद्विधः । अनेन प्रकारेणायं नृपोऽचिन्त्यप्रभावः ।। ३३ ।। तरङ्गितेति—स क्षितिं पृथ्वीमेकवधूमिव सतीस्त्रीमिव बुभोज सिषेवे । वधूधर्मान् स्थापयन्नाह—तरङ्गितं तरलीकृतमम्भोधिरेव दुकूलं तेन शालिनी । पूर्वपर्वतश्चापरपर्वतश्चाखर्वौ उत्तुङ्गौ पूर्वापरपर्वताविव स्तनौ यस्याः सा तद्विधा ताम् । किं कृत्वेत्याह—कोमलं सुखदेयांशं वरोरुदेशे वरा-नदीमातृका उरवो विस्तीर्णा ये देशास्तेषु निधाय क्षिप्त्वा पक्षे कदलीगर्भकोमले गुरूरुदेशे कोमलं सुखस्पर्शं हस्तं निधाय ।। ३४ ।। अथास्येति—राजवर्णनानन्तरं महिषीवर्णनमाह—अस्य चक्रवर्तिनः कलत्रं सुव्रतेति बभूव । न केवलं नाम्ना चरितैश्च शीलप्रभावैश्च । यानेकशोऽन्तःपुरे स्थितेऽपि तत्प्रिया रहस्यस्थानं यथा चन्द्रस्य रोहिणी[2] ।।३५।। सुधेति—सा सुमध्यमा तनूदरी बालभावमतिक्रम्य[3], मध्यमं यौवनमध्यं यौवनभरमित्यर्थः वयो द्वितीयावस्थं प्रपेदे । यद् वयो विधिना निर्मितम् । कैरित्याह—सुधेत्यादि—सुधामृतं सुधारश्मिश्चन्द्रो मृणालं विसलता

देता था ।।३२।। वह राजा यद्यपि महानदीन-महासागर था तो भी अजडाशय था—जलरहित था [पक्षमें-महान् अदीन—बड़ा था, दीनतासे रहित था, बुद्धिमान् था], परमेश्वर-शिव होकर भी अनष्ट सिद्धि-अणिमादि आठ सिद्धियोंसे रहित था [पक्षमें परमेश्वर होकर भी सिद्धियोंसे युक्त था] और राजा चन्द्रमा होकर भी विभावरीणाम्—रात्रियोंके दुःखका कारण था [पक्ष में अरीणां विभौ-राजा होकर भी शत्रु राजाओंके दुःखका कारण था]—इस प्रकार वह आश्चर्यकारी उदयसे युक्त था ।।३३।। वह राजा लहराते हुए वस्त्रसे सुशोभित और पूर्वाचल तथा अस्ताचलरूप पीनस्तनोंसे युक्त पृथिवीका किसी सुन्दरी स्त्रीकी तरह उपजाऊ देशोंमें थोड़ा-सा कर लगा कर [पक्षमें उत्कृष्ट जाँघोंके बीच कोमल हाथ रखकर] उपभोग करता था ।। ३४ ।। समस्त पृथिवीके अधिपति राजा महासेनके सदाचारिणी सुव्रता नामकी पत्नी थी । यह सुव्रता बहुत भारी अन्तःपुरके रहने पर भी राजाको उतनी ही प्यारी थी जितनी कि चन्द्रमाको रोहिणी ।।३५।। सुन्दर कमरवाली उस सुव्रताने धीरे-धीरे मौग्ध्य अवस्थाको व्यतीत कर ब्रह्मा-द्वारा अमृत, चन्द्रमा, मृणाल, मालती और कमलके स्वत्वसे निर्मितकी तरह सुकुमार

---

१. नृपतिचेतसि तमोऽनवकाशत्वे जिनेन्द्रचन्द्रधारणस्य हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलंकारः स च श्लेषरूपकसमुत्थापितः । २. उपमालङ्कारः । ३. अथवा मध्यम् अमध्यमम् इतिच्छेदः अमध्यमं श्रेष्ठं मध्यं वयो यौवनमित्यर्थः ।

स्मरेण तस्याः किल चारुतारसं जनाः पिबन्तः शरजर्जरीकृताः ।
स पीतमात्रोऽपि कुतोऽन्यथागलत्तदङ्गतः स्वेदजलच्छलाद्बहिः ॥ ३७ ॥
इतः प्रभृत्यम्ब न ते मुखाम्बुजश्रियं हरिष्येऽहमितीव चन्द्रमाः ।
प्रतीतयेऽस्याः सकुटुम्बको नखच्छलेन साध्व्याश्चरणाग्रमस्पृशत् ॥ ३८ ॥
प्रयाणलीलाजितराजहंसकं विशुद्धपार्ष्णिं विजिगीषुवत्स्थितम् ।
[1]तदंह्रिमालोक्य न कोशदण्डभाग् भियेव पद्मं जलदुर्गमत्यजत् ॥ ३९ ॥
सुवृत्तमप्राप्तजडोरुसंगमं तदीयजङ्घायुगलं विलोमताम् ।
तथा दधावप्यनुयायिनं जनं चकार पञ्चेषुकदर्थितं यथा ॥ ४० ॥

मालती जाती सरोजमब्जं च तेषां सारैः सारभूतैः परमाणुभिः[2] ॥ ३६ ॥ **स्मरेणेति**—जनास्तस्या लावण्यामृतं पिबन्तः स्मरेण रक्षानियुक्तेनेव शरैः सर्वाङ्गं छिद्रिताः अलीकोक्तमिति चेदित्याह—स लावण्यरसः पानानन्तरमेव तेषामङ्गात्कथमगलदक्षरत् । सात्त्विकभावोद्गतस्वेदजलच्छलात्[3] ॥ ३७ ॥ **इत इति**—एतस्याः पतिव्रताया इन्दुः पादौ नखच्छलादस्प्राक्षीत् । प्रतीतये विश्वासशपथाय सकुटुम्बकः सनक्षत्रकः । केयं प्रतीतिरित्याह—हे अम्ब, जगज्जननि । तव मुखलक्ष्मीं न हरिष्ये न स्पर्द्धिष्ये । इतो यौवनादारभ्य तारुण्ये मुखच्छायया चन्द्रोऽधःकृतः । अंह्रिनखाश्चन्द्रवत् सकान्तिका बभूवुरित्यर्थः[4] ॥ ३८ ॥ **प्रयाणेति**—तस्याश्चरणमवलोक्य भीतमिव समुकुलनालं कोकनदं जलदुर्गं नोज्झाञ्चकार । किं भीतेः कारणमित्याह—विजिगीषुवत्स्थितम्, विजिगीषुधर्मानारोपयन्नाह—गतिविलासपश्चात्कृतकलहंससमूहं विशुद्धपार्ष्णि यथोचितपश्चिमभागं पक्षे यात्राजितराजकं, विशुद्धपार्ष्णि विशुद्धाः संधानमागताः पार्ष्णिग्राहा राजानो यस्य स तद्विधः । अन्योऽपि कोशदण्डभाग् भाण्डागारसैन्यपरिवृतो विजिगीषुभयाद् दुर्गं नोज्झति ॥ ३९ ॥ **सुवृत्तमिति**—तदीयजङ्घायुगलं[5] सुवृत्तं[6] वृत्ततयानुपूर्वम्

तारुण्य अवस्थाको धारण किया ॥३६॥ जो भी मनुष्य उसके सौन्दर्य रसका पान करते थे, कामदेव उन सबको अपने बाणों-द्वारा जर्जर कर देता था। यदि ऐसा न होता तो वह सौन्दर्यरस पीते ही के साथ स्वेदजलके बहाने उनके शरीरसे बाहर क्यों निकलने लगता ? ॥३७॥ हे माँ ! मैं आजसे लेकर कभी भी तुम्हारे मुखकमलकी शोभाका अपहरण न करूँगा—मानो यह विश्वास दिलानेके लिए ही चन्द्रमाने अपने समस्त परिवारके साथ नखोंके बहाने उस पतिव्रताके चरणोंका स्पर्श किया था ॥३८॥ जिसने अपने प्रयाणसे बड़े-बड़े राजाओंको जीत लिया है और जिसके सहायक निष्कपट हों ऐसे किसी विजिगीषु राजाको देखकर जिस प्रकार जन धन सम्पन्न राजा भी अपना दुर्ग छोड़ कर बाहर नहीं आता इसी प्रकार अपने गमनसे राजहंस पक्षियोंको जीतनेवाले एवं निर्दोष पार्ष्णि—एड़ीसे युक्त उस सुव्रताके चरणको देख कर कमल यद्यपि कोष और दण्ड दोनोंसे युक्त है फिर भी अपने जलरूपी दुर्गको नहीं छोड़ता ॥३९॥ उस सुव्रताके जंघायुगल यद्यपि सुवृत्त थे—गोल थे [पक्षमें सदाचारी थे] फिर भी स्थूल ऊरुओंका समागम प्राप्त होनेसे [पक्षमें मूर्खोंका भारी समागम प्राप्त होनेसे] उन्होंने इतनी विलोमता—रोमशून्यता [पक्षमें विरुद्धता] धारण कर ली थी कि जिससे अनुयायी मनुष्यको भी कामसे दुःखी करनेमें न चूकते थे [पक्षमें पाँच छह बाणोंसे पीड़ित करनेमें पीछे नहीं हटते थे], [कुसंगतिसे सज्जनमें भी परिवर्तन हो जाता है] ॥४०॥

१. तदङ्घ्रि घ० म० । २. उत्प्रेक्षालंकारः । ३. तदीयलावण्यमवलोक्य कन्दर्पपीडितानां जनानां शरीरात् स्वेदो निःसरति स्मेति भावः । 'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः' ॥ इति सात्त्विकभावाः तेषु 'वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिघर्माश्रयादिभिः' इति स्वेदलक्षणम् । अपह्नवोत्प्रेक्षालंकारः । ४. उत्प्रेक्षा । ५. तदीयप्रसृतायुगं 'जङ्घा तु प्रसृता समे' इत्यमरः । ६. सुवृत्तमपि सुवर्तुलमपि पक्षे शोभनाचारसहितमपि ।

उदञ्चदुच्चैस्तनवप्रशालिनस्तदङ्गकन्दर्पविलासवेश्मनः ।
वरोरुयुग्मं नवतप्तकाञ्चनप्रपञ्चितस्तम्भनिभं व्यराजत ॥ ४१ ॥
जडं गुरूकृत्य नितम्बमण्डलं स्मरेण तस्याः किल शिक्षितं कियत् ।
तथाप्यहो पश्यत सर्वतोऽमुना बुधाधिपानामपि खण्डितो मदः ॥ ४२ ॥
गभीरनाभिह्रदमज्जदुद्धुरस्मरप्रभिन्नद्विपगण्डमण्डलात् ।
[1]समुच्छलन्तीव मधुव्रतावलिर्बभौ तदीयोदररोममञ्जरी ॥ ४३ ॥
सुहृत्तमावेकत उन्नतौ स्तनौ गुरुर्नितम्बोऽप्ययमन्यतः स्थितः ।
कथं भजे [2]कान्तिमितीव चिन्तया ततान तन्मध्यमतीव तानवम् ॥ ४४ ॥

[3]आप्तजडोरुसंगमं गृहीतरसभावार्द्रोरुसंश्रयं तथा[4]नैर्लोम्यं बभार यथा [5]सहचरं पतिं [6]कामकदर्थितं व्यधात् । यथा कश्चित्सुशीलोऽपि प्राप्तमूर्खेश्वरसंसर्गो विपरीततां तथा दधाति यथा स्वजनमनेकशस्त्रकदर्थितं करोति[7] ॥ ४० ॥ उदञ्चदिति—तस्या ऊरुयुग्मं नवतप्तकाञ्चनमयस्तम्भशोभां बभार । कस्येत्याह—तदङ्गकन्दर्पविलासवेश्मनस्तदङ्गमेव कन्दर्पविलासवेश्म तद्गात्रकामचित्रशालिकायाः । कथम्भूतस्य । उदञ्चदुच्चैस्तनवप्रशालिनः उदग्रपयोधरप्राकारराजिनः । अन्यदपि विलासिगृहं यदुच्चैस्तनेन वप्रेण शालते तदग्रे तोरणेनभाव्यमिति । रूपकोऽयमलंकारः[8] ॥ ४१ ॥ जडमिति—तस्या नितम्बमण्डलं जडं लावण्यरसस्वभावं गुरूकृत्य विस्तीर्णं कृत्वा किलेति सम्भावनायां स्मरेण तत् कियत्तन्मात्रमेवाभ्यस्तं तथापि स्तोककलाकौशलेऽप्यहो आश्चर्यं बुधाधिपानामपि कलाकलापकोविदानामपि निरस्तोऽहंकारः । अथ च जडगुरोः शिष्येण किंचिज्ज्ञेन सर्वविदां मदो निरस्यत इति चित्रम्[9] ॥ ४२ ॥ गभीरेति—तदीया उदररोममञ्जरी रराज उद्गच्छन्ती भ्रमरश्रेणीव । कुत इत्याह—गभीरस्तादृक्स्वरूपः स चासौ नाभिह्रदश्च तत्र मज्जन् जलकेलयन् उद्धुरस्मर एव प्रभिन्नो मत्तो द्विपस्तस्य गण्डमण्डलं तस्मान्नाभिह्रदनिमग्नत्वेनादृश्यमानकामेभस्य कटोड्डीना भ्रमरश्रेणिरिव दृश्यते[10] ॥ ४३ ॥ सुहृत्तमाविति—तस्या मध्यप्रदेशः कृशत्वं शिश्राय । चिन्तयेव, का चिन्तेत्याह—एकत ऊर्ध्वभागे सुहृत्तमौ मनोहरौ सदुन्नतौ स्तनौ, अन्यतोऽधःप्रदेशे[11] नितम्बो गुरुर्विस्तीर्णः । ततः पर्यन्तयोरत्युन्नतत्वात् समवल्लभाङ्गेन सार्द्धं संपर्को नास्ति । अथ यथा काचित्कुलबालिका एकतः

उस सुव्रताके उत्कृष्ट ऊरुयुगल स्तनरूपी उन्नत कूटसे शोभायमान उसके शरीररूपी कामक्रीडागृहके नूतन संतप्त स्वर्णनिर्मित खम्भोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥४१॥ कामदेवने सुव्रताके जड-स्थूल [पक्षमें मूर्ख] नितम्ब मण्डलको गुरु बनाकर [पक्षमें अध्यापक बनाकर] कितनी-सी शिक्षा ली थी फिर भी देखो कितना आश्चर्य है कि उसने अच्छे-अच्छे विद्वानोंका भी मद खण्डित कर दिया ॥४२॥ उसके उदरपर प्रकट हुई रोम-राजि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो नाभिरूपी गहरे सरोवरमें गोता लगानेवाले कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीके गण्डस्थलसे उड़ती हुई भ्रमरोंकी पंक्ति ही हो ॥४३॥ इधर एक ओर घनिष्ठ मित्रों [अत्यन्त सदृश] की तरह स्तन विद्यमान हैं और दूसरी ओर यह गुरु तुल्य [स्थूल] नितम्बमण्डल स्थित है इन दोनोंके बीचमें कान्तिरूपी प्रियाकी किस प्रकार सेवा करूँ ? मानो इस चिन्ता

१. समुच्चलन्तीव म० घ० । २. कान्ति दीप्तिं पक्षे स्त्रीलिङ्गसाम्याद्वल्लभां च । ३. आप्तः प्राप्तो जडाभ्यां स्थूलाभ्यामूरुभ्यां सक्थिभ्यां सह संगमो येन तत् पक्षे प्राप्तधूर्तजनविशालसमागमं सत् । ४. रोमराहित्यं प्रतिकूलतां च । ५. पश्चादागच्छन्तं पक्षेऽनुकूलमपि । ६. पञ्च पञ्चसंख्याका इषवो बाणा यस्य सः पञ्चेषुः कामः पक्षे लक्षणया पञ्च षड् वा बाणास्तैः कदर्थितं पीडितम् । ७. श्लेषाङ्कारः । ८. रूपकोपमे । ९. अल्पज्ञेन बहुज्ञानां पराभवो विस्मयोत्पादकोऽस्तीति भावः । तस्याः स्थूलनितम्बवलयं दृष्ट्वा बुधाधिपा अपि कामेन पीडिता अजायन्तेति रहस्यम् । विभावनालंकारः । १०. रूपकोत्प्रेक्षे । ११. यथा कश्चिद् गुरुमित्रजनसमीपे मन्दाक्षात्स्ववल्लभामलभमानश्चिन्तया दिनं दिनं दुर्बलो भवति तथा तन्मध्यमपीति तात्पर्यम् ।

सती च सौन्दर्यवती च पुंवरप्रसूश्च साक्षादियमेव भूत्रये।
इतीव रेखात्रयमक्षतस्मयो विधिश्चकारात्र वलित्रयच्छलात् ॥ ४५ ॥
गुरोर्नितम्बादिह कामिकं गतः स नाभितीर्थं प्रमथेशनिर्जितः।
समुल्लसल्लोमलतारुरुच्छविः स्मरस्त्रिदण्डं त्रिवलिच्छलाद्दधौ ॥ ४६ ॥
कृतौ न चेत्तेन विरञ्चिना सुधानिधानकुम्भौ सुदृशः पयोधरौ।
तदन्तलग्नोऽपि तदा निगद्यतां स्मरः परासुः कथमाशुजीवितः ॥ ४७ ॥
सुरस्रवन्तीकनकारविन्दिनीमृणालदण्डाविव कोमलौ भुजौ।
करौ तदग्रे शुचिकङ्कणाङ्कितौ व्यराजतामब्जनिभौ च सुभ्रुवः ॥ ४८ ॥
स पाञ्चजन्यः कररुक्मकङ्कणप्रभोल्वणः स्याद्यदि कैटभद्विषः।
स्फुरन्त्रिरेखाङ्कितकण्ठकन्दलं तदोपमीयेत न वा नतभ्रुवः ॥ ४९ ॥

स्वजनावन्यतो गुरुं पितरमवलोक्य कान्तोपभोगचिन्तया तन्वी भवतीति भावः[2] ॥ ४४ ॥ सतीति—अस्यामन्यत्र तद्गुणनिवृत्त्यर्थं विधिः स्रष्टा रेखात्रयं चकार। अक्षतस्मय उद्धुराहंकारः। सतीत्वं सौन्दर्यं पुरुषरत्नप्रसवनत्वं चेति गुणत्रयं मत्कृतावेव विधेः शिल्पसीमकीर्तिरिवेत्यर्थः[3] ॥ ४५ ॥ गुरोरिति—त्रिवलिच्छलात्कामस्त्रिदण्डधारकव्रतमिव स्वीचकार। अन्योपकरणान्याह—समुल्लसल्लोमलतारुरुच्छविः समुल्लसन्ती लोमलतैव रुरुच्छविर्मृगाजिनं यस्य स तद्विधः। नाभितीर्थगतः कामिकं कामप्रमदं पृथुलनितम्बात्। तपश्चरणकारणमाह—प्रमथेशनिर्जितो विषमाक्षेणाप्रमाणितः। यथा कश्चिन्ना पुरुषः शत्रुनिर्जितोऽभितीर्थं याति गुरोर्नितम्बात् जनकस्याङ्कात् पित्रादिप्रतिषिद्धोऽपीत्यर्थः। यदि वा गुरोस्तीर्थं, गुरुरपि यत्र तीर्थे तत्रस्तपस्यतीति भावः[4] ॥ ४६ ॥ कृताविति—तस्या मृगाक्ष्याः स्तनौ विधिना सुधाशेवधिकुम्भौ कृतौ न चेद्व्यर्थसम्भावनायामुपपत्तिमाह—तदन्तस्पर्शमात्रेण परासुः शम्भुना भस्मसात्कृतः कामः कथं तत्क्षणाज्जीवितः सहसा प्रादुर्बभूव। मृतस्योज्जीविका शक्तिरमृतेनैवेति प्रसिद्धिः[5] ॥ ४७ ॥ सुरेति—तस्या मृदुबाहुलते गङ्गास्वर्णपद्मिनीविसकिसलयाविव भुजयोरग्रेषु हस्तौ पद्मकोशसदृशौ शुशुभाते शुचिकङ्कणाङ्कितौ अनर्घकङ्कणालंकृतौ, अब्जं हि पानीयसंपृक्तं भवति[6] ॥ ४८ ॥ स इति—तस्याः सुभ्रुवो रेखात्रयाङ्कितं कण्ठकन्दलमुपमां लभेत। यदि किं स्यादित्याह—यदि विष्णोः शङ्खः करकनककङ्कणप्रभापतिः स्यात्। अन्यथा स्वर्णकन्दलसदृशस्य

से ही उसका मध्यभाग अत्यन्त कृशता को बढ़ा रहा था ॥४४॥ यह सुव्रता ही तीनों लोकोंमें साक्षात् सती है, सुन्दरी है, और तीर्थंकर जैसे श्रेष्ठ पुरुषको उत्पन्न करनेवाली है—यह विचार कर ही मानो अखण्डित अभिमानको धारण करनेवाले विधाताने त्रिवलिके छलसे उसके नाभिके पास तीन रेखाएँ खींच दी थीं ॥४५॥ ऐसा जान पड़ता है मानो कामदेवने महादेवजीसे पराजित होनेके कारण उस सुव्रताके स्थूल [पक्षमें गुरुरूप] नितम्बसे दीक्षा ले नाभि नामक तीर्थ स्थानपर जाकर रोमराजिके बहाने कृष्णमृगकी छाल और त्रिवलिके बहाने त्रिदण्ड ही धारण कर लिया हो ॥४६॥ यदि विधाताने उस सुलोचनाके स्तनोंको अमृत का कोष कलश न बनाया होता तो तुम्हीं कहो उसके समीपमें लगते ही मृत कामदेव सहसा कैसे जी उठता ? ॥४७॥ उस सुन्दर भौंहों वाली सुव्रताकी भुजाएँ आकाश गङ्गाकी सुवर्ण कमलिनीके मृणाल दण्डके समान कोमल थीं और उनके अग्रभागमें निर्मल कङ्कणों [पक्षमें उज्ज्वल जलके छीटोंसे] से युक्त दोनों हाथ कमलोंकी तरह सुशोभित होते थे ॥४८॥ यदि विष्णुका वह पांचजंन्य नामका शंख उन्हींके हाथमें स्थित स्वर्ण-कंकणकी प्रभासे व्याप्त हो

१. तदङ्गलग्नोऽपि ख० ग० घ० ङ० च० छ० ज० म०। २. समासोक्तिगर्भोत्प्रेक्षा। ३. वलित्रयं सतीत्वादित्रितयसूचकरेखात्रितयमिवाचकादिति भावः। उत्प्रेक्षा। ४. यथा कोऽपि केनापि पराजितो भूत्वा कुतश्चिद्गुरोर्दीक्षां गृहीत्वा किंचित्पुण्यक्षेत्रं प्राप्य तत्र मृगाजिनं बिभ्राणः संन्यासिचिह्नभूतं त्रिदण्डं बिभर्ति तथा स्मरोऽपीति भावः। उत्प्रेक्षा। ५. स्पर्शमात्रेण मृतमदनस्य जीवनात्तस्याः कुचकलशयोः पीयूषनिधानकलशत्वमनुमीयत इति भावः। अनुमानालंकारः। ६. उपमालंकारः।

कपोलहेतोः खलु लोलचक्षुषो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकरं द्विधा ।
विलोक्यतामस्य तथाहि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवन[1]व्रणम् ।। ५० ।।
प्रवालबिम्बीफलविद्रुमादयः समा बभूवुः प्रभयैव केवलम् ।
रसेन तस्यास्त्वधरस्य निश्चितं जगाम पीयूषरसोऽपि शिष्यताम् ।। ५१ ।।
अनादरेणापि सुधासहोदरीमुदीरयन्त्यामविकारिणीं गिरम् ।
ह्रियेव काष्ठत्वमियाय वल्लकी पिकी च कृष्णत्वमधारयत्तराम् ।। ५२ ।।
ललाटलेखा शकलेन्दुनिर्गलत्सुधोरुधारेव घनत्वमागता ।
तदीयनासा द्विजरत्नसंहतेस्तुलेव कान्त्या जगदप्यतोलयत् ।। ५३ ।।
जितास्मदुत्तंसमहोत्पले[2] युवां क्व याथ इत्यध्वनिरोधिनोरिव ।
उपात्तकोपे इव कर्णयोः सदा तदीक्षणे जग्मतुरन्तशोणताम् ।। ५४ ।।

कण्ठस्य कथमस्थिपाण्डुरेण शङ्खेनोपमानोपमेयभावः । नवेत्युपमानाशक्यसंभावनायाम् । अतिशयोपमालंकारः ।। ४९ ।। कपोलेति—अस्याश्चञ्चलाक्ष्याः कपोलौ निमित्तुर्विधी राकाचन्द्रं द्विधा बिभेद । कथं ज्ञातमिति चेत् । तथाहीति प्रत्यभिज्ञानेन अङ्कव्याजेन पुनःसंधानसन्धिर्दृश्यतामिति । द्वाभ्यां चन्द्रखण्डाभ्यामेतत्कपोलौ करोमीति पश्चाद् दृष्टदोषौ तौ संदधाविति । चन्द्राधिकेन केनचिल्लावण्यद्रव्येण कपोलनिर्मितिरिति भावः[3] ।। ५० ।। प्रवालेति—तस्या अधरस्य प्रथमं पल्लवबिम्बविद्रुमादयो वर्णेन सदृशा आसन् रसेन पुनः सुधारसोऽप्यन्तेवासितामाप । माधुर्यममृतरसस्यापि तस्या अधरादेव संक्रान्तमिति भावः । व्यतिरेकालंकारः ।। ५१ ।। अनादरेणापीति—तस्यां स्वभावेनैव सुधाधारासदृशीं वाणीमुच्चरन्त्यां वल्लकी काष्ठत्वमाजगाम, पिकी कोकिला च कृष्णत्वं बभार लज्जयेव । अथ काष्ठमयत्वं कृष्णत्वं च प्रसिद्धमेव । अथ विशेषगुणदर्शके कस्मिन् केचन मूकत्वं विच्छायत्वं च भजन्तीति[4] ।। ५२ ।। ललाटेति—तस्या नासा दन्तरत्नसमुच्चयस्य तुलेव कान्त्या सौभाग्येन भुवनमप्यधश्चकार । या कथंभूता ललाटलेखैव शकलेन्दुरर्द्धेन्दुस्तस्मान्निर्गलन्ती या सुधा महाधारा सैव घनत्वमागता संस्त्याना[5] ।। ५३ ।। जितेति—तस्या ईक्षणे अन्तरक्तताम् ईयतुः । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—उपात्तकोपे इव गृहीतामर्षे इव । कं प्रतीत्याह—कर्णयोः । किमपराद्धं श्रवणाभ्यामित्याह—गमनप्रतिषेधकयोः । इति शब्दो हेत्वर्थे, युवां नयने क्व गच्छथः । किंविशिष्टे युवाम् । जितास्मदुत्तंसमहोत्पले जिते आवयोरुत्तंसमहोत्पले कर्णोत्पले यकाभ्यां ते तथाविधे । तन्नयने त्रिधा रक्ते कर्णान्तं यावदिति भावः । अन्योऽपि जेतुकामो

जावे तो उसके साथ नत भौंहों वाली सुव्रताके रेखात्रयविभूषित कण्ठकी उपमा दी जा सकती है अन्यथा नहीं ।।४९।। ऐसा लगता है मानो विधाताने उस चपललोचनाके कपोल बनानेके लिए पूर्णचन्द्रके दो टुकड़े कर दिये हों। देखो न, इसीलिए तो उस चन्द्रमामें कलंकके बहाने पीछेसे की हुई सिलाईके चिह्न मौजूद हैं ।।५०।। किसलय, बिम्बीफल और मूँगा आदि केवल वर्णकी अपेक्षा ही उसके ओठके समान थे। रसकी अपेक्षा तो निश्चय है कि अमृत भी उसका शिष्य हो चुका था ।।५१।। वह सुव्रता, संगीतकी बात जाने दो, यूँ ही जब कभी अमृतके तुल्य विकारहीन वचन बोलती थी तब वीणा लज्जाके मारे काठ हो जाती थी और कोयल पहलेसे भी अधिक कालिमा धारण करने लगती थी ।।५२।। उसकी नाक क्या थी मानो ललाटरूपी अर्धचन्द्रसे झरनेवाली अमृतकी धारा ही जम कर दृढ़ हो गयी हो। अथवा उसकी नाक, दन्तरूपी रत्नोंके समूहको तौलनेकी तराजू थी पर उसने अपनी कान्तिसे सारे संसारको तोल डाला था—सबको हलका कर दिया था ।।५३।। हमारे भूषण स्वरूप कमलको जीतकर आप लोग कहाँ जा रहे हैं ? इस प्रकार मार्ग रोकनेवाले कानोंपर कुपित हुए की तरह उसके नेत्र अन्त भागमें कुछ-कुछ लाली धारण कर रहे थे

१. सेवनव्रणं क० । २. महोत्पलै म० घ० । ३. प्रकृतकलङ्कप्रतिषेधेन पश्चात्कृतसीवनव्रणस्थापनादपह्नुत्यलंकारः । उत्प्रेक्षा वा । ४. उत्प्रेक्षा । ५. उपमा ।

इमामनालोचनगोचरां विधिर्विधाय सृष्टेः कलशार्पणोत्सुकः ।
लिलेख वक्त्रे तिलकाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति मङ्गलाक्षरम् ।। ५५ ।।
उदीरिते श्रीरतिकान्तिकीर्तिभिः[1] श्रयाम एतामिति मौनवान् विधिः ।
लिलेख तस्यां तिलकाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति संगतोत्तरम् ।। ५६ ।।
कपोललावण्यमयाम्बुपल्वले पतत्सतृष्णाखिलनेत्रपत्रिणाम् ।
ग्रहाय पाशाविव वेधसा कृतौ तदीयकर्णौ पृथुलांसचुम्बिनौ ।। ५७ ।।
स्मरेण कालागुरुपत्रवल्लि[2]मल्ललाटलेखामिषतो नतभ्रुवः ।
अशेषसंसारविशेषकैर्गुणैर्जगत्त्रये पत्रमिवावलम्बितम् ।। ५८ ।।
अनिन्द्यदन्तद्युतिफेनिलाधरप्रवालशालिन्युरुलोचनोत्पले ।
तदास्यलावण्यसुधोदधौ बभुस्तरङ्गभङ्गा इव भङ्गुरालकाः ।। ५९ ।।

जेतव्यपक्षीयेण रुद्धोऽन्तशोणताम् अन्ताय विरोधकविनाशाय शोणतां याति[3] ।। ५४ ।। इमामिति—भालफलके विधिः प्रणवमोंकारमालिलेख । असरलभ्रूवल्लरीव्याजात् । तिलकाङ्कमध्ययोः तिलकं सरत्नचित्रकम् तेन । उदीरित इति—अलंकृतं मध्यं ययोस्तयोस्तथाविधयोः । इमामनालोचनगोचरामचिन्त्यप्रभावां विधाय सृष्टेर्निजसर्गस्य कलशार्पणोत्सुकः कलशस्यार्पणं रोपणं तत्रोत्सुक उत्तालः । प्रासादादौ प्रथमं मङ्गलकलशध्वजाप्रणवप्रभृतीनि मङ्गलाक्षराणि लिख्यन्त इति प्रतिष्ठाचार्याः । तयैव ब्रह्मणः सृष्टौ रमणीया[4] ।। ५५–५६ ।। कपोलेति—तस्याः कर्णौ पाशाविव विधिना कृतौ । ग्रहाय बन्धनाय केषामित्याह—पतन्तः सतृष्णाः साभिलाषा अखिललोकानां नेत्राण्येव पतत्त्रिणः पक्षिणस्तेषां यदि वा अखिलानि निश्चितानि निर्निमेषाणि तेषां तद्विधानां कपोललावण्यमयाम्बुपल्वले कपोललावण्येन निर्वृत्तं यन्नीरपल्वलं तस्मिन्निति । अथ सरःप्रदेशे पक्षिवागुरा रच्यत इति[5] ।। ५७ ।। स्मरेणेति—स्मरेण कामैकान्तवादिनेव भुवनत्रये पत्रमिव प्रदत्तं गुणैः सकलसंसारतिलकभूतैः । कामगुणरहितो हि संसारोऽसार एव । कुत इत्याह—तस्याभङ्गुरभ्रुवः । कृष्णागुरुपत्रवल्लीचित्रितललाटलेखाव्याजात्[6] ।। ५८ ।। अनिन्द्येति—तस्या मुखलावण्यसमुद्रे कुटिलालकास्तरङ्गभङ्गा इव शुशुभिरे । समुद्रत्वं स्थापयन्नाह—उरुलोचनोत्पले उरूणि तादृक्प्रभावाणि लोचनान्येव उत्पलानि यत्र तस्मिंस्तथाविधे । अनिन्द्याः कुन्दसदृशा ये दन्तास्तेषां द्युतिर्ज्योत्स्ना तया फेनिलः फेनशोभायुक्तो योऽसावधरपल्लवस्तेन शालते तस्मिन् पक्षे प्रवालो विद्रुमः[7] ।। ५९ ।। तदेति—हे चन्द्र, तस्या मुखचन्द्रस्य तुलां

।।५४।। इस निरवद्य सुन्दरीको बना कर विधाता सृष्टिके ऊपर मानो कलश रखना चाहते थे इसीलिए तो उन्होंने तिलकसे चिह्नित भौंहोंके बहाने उसके मुखपर 'ॐ' यह मङ्गलाक्षर लिखा था ।।५५।। हम इस सुव्रताका आश्रय लें—इस प्रकार श्री, रति, कान्ति और कीर्तिने ब्रह्माजीसे पूछा पर चूंकि ब्रह्माजीके मौन था अतः उन्होंने इस सुव्रताके तिलक चिह्नित भौंहोंके बहाने 'ॐ' ऐसा संगत उत्तर लिख दिया था ।।५६।। स्थूल कन्धों तक लटकते हुए उसके कान क्या थे ? मानो कपोलोंके सौन्दर्यरूपी स्वल्प जलाशयमें प्यासके कारण पड़ते हुए समस्त मनुष्योंके नेत्ररूपी पक्षियोंको पकड़नेके लिए विधाताने जाल ही बनाये हों ।।५७।। कुटिल भौंहों वाली उस सुव्रताके ललाटपर कालागुरु चन्दनकी जो पत्र युक्त लताएँ बनी हुई थीं उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवने समस्त संसारके तिलक स्वरूप अपने श्रेष्ठ गुणोंके द्वारा प्रमाण पत्र ही प्राप्त कर लिया हो ।।५८।। दाँतोंकी उज्ज्वल कान्तिसे फेनिल, अधरोष्ठरूपी मूँगासे सुशोभित और बड़े-बड़े नेत्ररूपी कमलोंसे युक्त उसके मुखके सौन्दर्य सागरमें घुँघुराले बाल लहरोंकी तरह सुशोभित हो रहे थे ।।५९।। रे चन्द्र ! उस सुव्रताके मुखचन्द्रकी तुलनाको

१. श्रीरतिकीर्तिकान्तिभिः ख० ग० घ० च० छ० ज० म० । २. वल्लिवल्ललाट ख० ग० घ० ङ० च० छ० ज० । ३. तस्या नयने कर्णान्तायते रक्तकोणे च बभूवतुरिति भावः । उत्प्रेक्षालंकारः । ४. पूर्वश्लोकटीकागतेन—'तिलकं सरत्नचित्रकं तेन' इति पदेन संबन्धः । ५. रूपकोत्प्रेक्षे । ६. अपह्नवोत्प्रेक्षे । ७. रूपकोपमे ।

तदाननेन्दोरधिरोहता तुलां मृगाङ्कचित्तेऽपि न लज्जितं त्वया ।
यतोऽसि कस्तत्र पयोधरोन्नतौ स मूढ यत्राभ्यधिकं व्यराजत ॥ ६० ॥
समग्रसौन्दर्यविधिद्विषो विधेर्घुणाक्षरन्यायवशादसावभूत् ।
तदास्य जाने निपुणत्वमीदृशीमनन्यरूपां कुरुते यदापराम् ॥ ६१ ॥
सरस्वतीवार्थमनिन्द्यलक्षणा गुणान्विता चापलतेव धन्विनम् ।
विभेव भास्वन्तमतीव निर्मला तमेकभूपालमलंचकार सा ॥ ६२ ॥
अथैकदान्तःपुरसारसुन्दरीशिरःस्रजं तामवलोक्य तत्पतिः ।
इति स्थिरोत्तानितनेत्रमर्थिनामचिन्त्यचिन्तामणिरप्यचिन्तयत् ॥ ६३ ॥
चकार यो नेत्रचकोरचन्द्रिकामिमामनिन्द्यां विधिरन्य एव सः ।
कुतोऽन्यथा 'वेदनयान्वितात्ततोऽप्यभूदमन्दद्युति रूपमीदृशम् ॥ ६४ ॥

सदृशतां गच्छता भवता स्वमनस्यपि न लज्जितम् । किं कारणं लज्जाया इत्याह—यतः कारणात् तस्यां मेघोन्नतौ कस्त्वं भवसि । न कोऽपीत्यर्थः । मुखचन्द्रोऽपि तत्र तादृक्ष एवेति निराकुर्वन्नाह—स मुखचन्द्रो हे मूढ़, आत्मपरविभागानभिज्ञ, अभ्यधिकश्रीकं प्रतताप । पक्षे पयोधरोन्नतौ स्तनभारसंहत्याम् अथवा मृगस्य पशोरङ्का यस्य स मृगाङ्को मृगाङ्कवान् स च निष्कलङ्क इत्यपि लज्जास्थानम्[२] ॥ ६० ॥ समग्रेति—असौ विधेः सकाशात् घुणाक्षरन्यायेन प्रादुर्बभूव । कथं ब्रह्मणोऽप्यशक्यानुष्ठानमित्याह—समग्रसौन्दर्यविधिद्विषः समग्रं सौन्दर्यविधिमेकस्मिन्स्थाने द्वेष्टीति स तथाविधस्तस्मात् । अस्यांच सर्वोऽप्यसाधारणगुणग्रामो दृश्यत एव । तदास्य ब्रह्मणः शिल्पिकौशलं निश्चिनोमि यदेदृशीमपरां करोति[३] ॥ ६१ ॥ सरस्वतीति—तं महासेनं साऽभूषयत् यथा वाच्यं भारती अनिन्द्यलक्षणा शुद्धसंस्कृता पक्षे प्रशस्यस्त्रीरत्नलक्षणोपेता । यथा धनुर्यष्टिर्योधं गुणान्विता समौर्वीका पक्षे गुणाश्चातुर्यादयः । आदित्यं निर्मला दीप्तिरिव पक्षे सतीव्रतोपेता । बहूपमालंकृतिः[४] ॥ ६२ ॥ अथेति—अथ कदाचिन्महिषीचक्रचूडामणिं तां निरीक्ष्य तस्याः पतिश्चिन्तयांचकार । कथम् । यथा भवति स्थिरोत्तानितनेत्रं निश्चलनिर्निमेषलोचनं सादरचिन्तायाह्येतत्स्वभावात् । विभवादिचिन्तानिराकरणार्थमाह—याचकानामचिन्त्यचिन्तामणिश्चिन्तिताधिकदातापीत्यर्थः[५] ॥ ६३ ॥ चकारेति—एतां भुवननयनजीवनज्योत्स्नां यः ससर्ज सोऽपर एव धाता स्रष्टा । प्रस्तुतविधेः करणाशक्तित्वमाह—महापीडाकदर्थिता-

प्राप्त होते हुए तुझे चित्तमें लज्जा भी न आयी ? जिन पयोधरों [मेघों; स्तनों] की उन्नतिके समय उसका मुख अधिक शोभित होता है उन पयोधरों [मेघों] की उन्नतिके समय तेरा पता भी नहीं चलता ॥ ६० ॥ ऐसा लगता है कि मानो समस्त सौन्दर्यसे द्वेष रखने वाले ब्रह्मा जी से इस सुव्रताकी रचना घुणाक्षरन्यायसे हो गयी है। इनकी चतुराईको तो तब जाने जब यह ऐसी ही किसी अन्य सुन्दरीको बना दें ॥ ६१ ॥ जिस प्रकार अनिन्द्यलक्षणवाली [व्याकरणसे अदूषित] सरस्वती अर्थको अलंकृत करती है, गुण—प्रत्यंचासे युक्त धनुर्लता धनुर्धारी वीरको विभूषित करती है और निर्मल प्रभा सूर्यको सुशोभित करती है, उसी प्रकार उत्तम लक्षणोंसे युक्त, गुणोंसे सुशोभित और दोषोंसे अदूषित सुव्रता महाराजा महासेनको अलंकृत करती थी ॥ ६२ ॥ महाराज महासेन यद्यपि याचकोंके लिए स्वयं अचिन्त्य चिन्तामणि थे तथापि एक दिन अन्तःपुरकी ज्येष्ठ सुन्दरियोंकी मस्तकमालाकी तरह अत्यन्त ज्येष्ठ उस सुव्रताको देख कर निश्चलनेत्र खोलकर इस प्रकार विचार करने लगे ॥ ६३ ॥ जिस विधाताने नेत्र रूपी चकोरोंके लिए चाँदनीतुल्य इस सुव्रताको बनाया है वह अन्य ही है

१. वेदनया वार्धक्यजनितपीडया पक्षे ज्ञानेन अन्वितात्सहितात् 'वेदना ज्ञानपीडयोः' इति विश्वलोचनः ।
२. अये मृगाङ्क, त्वं यत्र पयोधरोन्नतौ विलुप्तो भवसि स तत्राधिकं चकासामास । अतस्तस्य तुलारोहणे त्वया चेतसि लज्जितव्यमिति भावः । व्यतिरेकालंकारः । ३. अत्र ब्रह्मणस्तदुत्पत्तिसंबन्धेऽपि तदसंबन्धवर्णनादतिशयोक्तिरलंकारः । ४.मालोपमा । ५. यो ह्यर्थिनामचिन्त्यचिन्तामणिः स कथं चिन्तयामासेति विरोधोऽपिना द्योत्यते ।

द्रुमोत्पलात्सौरभमिक्षुकाण्डतः फलं मनोज्ञां मृगनाभितः प्रभाम् ।
विधातुमस्या इव सुन्दरं वपुः कुतो न सारं गुणमाददे विधिः ॥ ६५ ॥
वपुर्वयोवेषविवेकवाग्मिताविलाशवंसव्रतवैभवादिकम् ।
समस्तमप्यत्र चकास्ति तादृशं न यादृशं व्यस्तमपीक्ष्यते क्वचित् ॥ ६६ ॥
न नाकनारी न च नागकन्यका न च प्रिया काचन चक्रवर्तिनः ।
अभूद्भविष्यत्यथवास्ति साध्विमां यदङ्गकान्त्योपमिमीमहे वयम् ॥ ६७ ॥
असारसंसारमरुस्थलीभ्रमक्लमार्त्तहृन्नेत्रपतत्रिणां मुदे ।
मृगीदृशः सिक्त इवामृतप्लवैरहो प्रवृद्धो नवयौवनद्रुमः ॥ ६८ ॥
फलं तथाप्यत्र यथर्तुगामिनः सुताह्वयं नोपलभामहे वयम् ।
अनन्यसक्तावनिभारखिन्नवन्निरन्तरं तेन मनो दुनोति नः ॥ ६९ ॥

ततः प्रसिद्धाद् ब्रह्मण ईदृशं स्पष्टतमविज्ञानसाध्यं परमकान्तिकं रूपं न जायते। पक्षे वेदमार्गप्रयुक्तात् । चकोराश्चन्द्रकलोपजीविनः पक्षिविशेषाः । व्यतिरेकालंकारः[1] ॥ ६४ ॥ द्रुमेति—विधिरेनां सिसृक्षुः कुतः पदार्थात् सारं गुणं नो जग्राह । अपि त्वाजग्राहैव । द्रुमोत्पलात्[2] शाल्मलीकवृक्षात् सौरभम् इक्षुवनात्फलम्, कस्तूरिकाया वर्णकान्तिम् । यदि न हृतास्तदैतेष्वेते गुणाः किं न दृश्यन्त इति भावः । अन्त्यक्रिया दीपकोऽयमलंकारः[3] ॥ ६५ ॥ वपुरिति—अस्यां समस्तं समुदितं तादृशं लोकोत्तरं तथा प्रतिभासत इत्याह—वपुः शरीरं वयस्तारुण्यं वेषः शृङ्गारश्रीः विवेको विदग्धता वाग्मिता वाक्सौभाग्यं विलासो मन्मथचातुर्यं वंशोऽन्वयशुद्धिः व्रतं सतीत्वं वैभवं सर्वश्रीसंपत्तिः । एतत्सर्वमपि परमप्रकर्षप्राप्तं दृश्यते नान्यत्र । समुच्चयः ॥ ६६ ॥ नेति—इमां सुव्रतां यस्या अङ्गप्रभया उपमिमीमहे वयं सदृशीकुर्मः सा न देवाङ्गना, न पातालकन्या, न काचिच्चक्रवर्तिमहिषी । भुवनत्रये नास्तीति भावः । अभूद्भविष्यतीत्यनेनातीतभविष्यत्कालयोरपि प्रतिषेधः[4] ॥ ६७ ॥ असारेति—अस्या यौवनद्रुमस्तारुण्यतरुः प्रवृद्धः पुष्पादिमहोत्सवैरुज्जृम्भते । सुधाप्रवाहैरभिषिक्त इव । अहो रसातिरेके । किमर्थमित्याह—मुदे हर्षाश्रयाय । असारेत्यादि—आसारा अनाश्रयणीया या संसार एव मरुस्थली मरुभूमिस्तस्यां भ्रमक्लमः पर्यटनतापस्तेनार्ताः पीडिता हृन्दि हृदयानि तानि च नेत्राणि च तान्येव पतत्रिणः पक्षिणस्तेषां तद्विधानां तद्विमर्शनदर्शनेनैव जनहृदयनयनानां जन्मसाफल्यमिति भावः । जाङ्गलस्थलीमधिरूढतरुः पथिकपक्ष्यादीनां महोत्सवाय[5] ॥ ६८ ॥ फलमिति—तथाप्यत्र तनूजसंज्ञं फलं नाप्नुमः । यथर्तुगामिन

अन्यथा वेदनयान्वित—वेद ज्ञानसे सहित [पक्षमें वेदनासे सहित] प्रकृत ब्रह्मासे ऐसा अमन्द कान्ति सम्पन्न रूप कैसे बन सकता है ।॥ ६४ ॥ ऐसा जान पड़ता है कि विधाताने इसका सुन्दर शरीर बनानेके लिए मानो कनेरसे सुगन्धि, इक्षुसे फल और कस्तूरीसे मनोहर रूप ले लिया था, अथवा किससे क्या सारभूत गुण नहीं लिया था ॥ ६५ ॥ शरीर, अवस्था, वेष, विवेक, वचन, विलास, वंश, व्रत और वैभव आदिक सभी इसमें जिस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, उस प्रकार कहीं अन्यत्र पृथक्-पृथक् भी सुशोभित नहीं होते ॥ ६६ ॥ न ऐसी कोई देवाङ्गना, न नागकन्या और न चक्रवर्तीकी प्रिया ही हुई है, होगी अथवा है जिसके कि शरीरकी कान्तिके साथ हम इस सुव्रताकी अच्छी तरह तुलना कर सकें ॥ ६७ ॥ असार संसार रूपी मरुस्थलमें घूमनेसे खेद-खिन्न मनुष्योंके हृदय और नेत्र रूपी पक्षियोंको आनन्द देनेके लिए इस मृगनयनीका यह नवयौवन रूपी वृक्ष मानो अमृतके प्रवाहसे सींचा जाकर ही वृद्धिको प्राप्त हुआ है ॥ ६८ ॥ यद्यपि हम ऋतुकालके अनुसार गमन करते हैं फिर

१. अत्र तत्संबन्धेऽप्यसंबन्धदर्शनादतिशयोक्तिरलंकारः । तुलना—अस्याः सर्गनिधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः । वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ (विक्रमोर्वश्याम्) । २. कर्णिकारकुसुमात् 'अथ द्रुमोत्पलः । कर्णिकारः परिव्याधः' इत्यमरः । ३. उत्प्रेक्षा च । ४. सर्वथोपमानपदातीतेयं सुन्दरीति भावः । ५. रूपकालंकारः।

सहस्रधा सत्यपि गोत्रजे जने सुतं विना कस्य मनः प्रसीदति ।
अपीद्धताराग्रहगर्भितं भवेदृते विधोर्ध्यामिलमेव दिङ्मुखम् ॥ ७० ॥

न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचींषि न [1]वामृतच्छटाः ।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥ ७१ ॥

असावनालोक्य कुलाङ्कुरं मम स्वभोगयोग्याश्रयभङ्गशङ्किनी ।
विशोषयत्युच्छ्वसितैरसंशयं मदन्वयश्रीः करकेलिपङ्कजम् ॥ ७२ ॥

नभो दिनेशेन नयेन विक्रमो वनं मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना ।
प्रतापलक्ष्मीबलकान्तिशालिना विना न पुत्रेण च भाति नः कुलम् ॥ ७३ ॥

ऋतोरनतिक्रमेण यथर्तुगामिनः चतुर्थदिवसस्नानतीर्थोपसेविनोऽपि । तेन चित्तमस्मान्व्यथते निरन्तरं संततम् । अनन्यसक्तावनिभारखिन्नवत् नान्यस्मिन् सक्तः संस्थितः स चासाववनिभारश्च तेन खिन्नं पीडितमिव । पुत्रं विना मय्येकस्मिन्नेव पृथ्वीभार इति भावः ॥ ६९ ॥ सहस्रधेति—सहस्रप्रकारे स्वजने विद्यमानेऽपि सुतं विना कस्य पितॄणामधमर्णभाजनस्य पुंसो मनः प्रसीदति तपोवनाय व्यवतिष्ठते न कस्यापीत्यर्थः । यथा चन्द्रं विना पूर्वदिग्भागः सान्धतमस एव स्यात् । इद्धताराग्रहगर्भितमपि इद्धा दीप्ताश्च ते तारा नक्षत्राणि ग्रहाः शुक्रादयश्च तैर्गर्भितं व्याप्तमपि । अत्र विधुसुतयोस्तारागोत्रजयोर्मनोदिङ्मुखयोश्चोपमानोपमेयभावः[2] ॥ ७० ॥ नेति—तनूजाङ्गसंश्लेषसुखस्यैते निश्छलां सम्यक्प्रकारां षोडशीं षोडशांशभक्तामपि कलां विभागविच्छित्तिं न प्राप्नुवन्ति । के ते । इत्याह—चन्दनंचेन्दीवराणि च हारयष्टयश्च तास्तद्विधाः, न केवलं ताश्चन्द्रपादाः, न केवलं ते, सुधासाराश्च[3] ॥ ७१ ॥ असाविति—असावनेकपर्यायागता ममान्वयलक्ष्मीः करक्रीडापद्मं म्लापयति । कैः । उच्छ्वसितैश्चिन्तादाहजनितोष्णनिःश्वासैः कुलाङ्कुरं कुलवर्धनोपायं तनूजमदृष्ट्वा । अतश्च हेतोः स्वभोगयोग्याश्रयभङ्गशङ्किनी आत्मविलासोचितनृपविनाशवितर्किका । आयुषः प्रतिक्षणविनाशवत्त्वान्महासेनस्य पश्चान्मम योग्याश्रयो नास्तीति शोकातुरेव ॥ ७२ ॥ नभ इति—अस्माकं कुलं पुत्रेण विना न शोभते । किमिवेत्याह—नभस्थलमिव प्रतापादित्येन विना, यथा सलक्ष्मीको विक्रमो न्यायेन विना, यथा बलवता सिंहेन विनारण्यं, यथा नक्तं सकान्तिना चन्द्रेण विना । यथैते प्रतापादिना एकैकेन गुणेन तथा प्रभावप्रतापलक्ष्मीबलकान्तिशालिना सर्वगुणसमन्वितेन सुतेनेति । अव्ययप्रत्ययदीपकगर्भितोऽन्त्यक्रियादीपकोऽलंकारः ॥ ७३ ॥

भी इस सुव्रतासे नवयौवन रूपी वृक्षमें पुत्रनायक फलको नहीं प्राप्त कर रहे हैं, यही कारण है कि हमारा मन निरन्तर दुखी रहता है मानो उसे इस बातका खेद है कि यह पृथिवीका भार जीवन पर्यन्त मुझे ही धारण करना होगा ॥ ६९ ॥ हजारों कुटुम्बियोंके रहते हुए भी पुत्रके बिना किसका मन प्रसन्न होता है । भले ही आकाश देदीप्यमान ताराओं और ग्रहोंसे युक्त हो पर चन्द्रमाके बिना मलिन ही रहता है ॥ ७० ॥ पुत्रके शरीरके स्पर्शसे जो सुख होता है वह सर्वथा निरुपम है, पूर्णकी बात जाने दो उसके सोलहवें भागको भी न चन्द्रमा पा सकता है, न इन्दीवर पा सकते हैं, न मणियोंका हार पा सकता है, न चन्द्रमाकी किरणें पा सकती हैं और न अमृतकी छटा ही पा सकती है ॥ ७१ ॥ यह मेरे कुलकी लक्ष्मी कुलाङ्कुर-पुत्रको न देख कर अपने भोगके योग्य आश्रयके नाशकी शंका करती हुई निःसन्देह गरम-गरम आहोंसे अपने हाथके क्रीड़ाकमलको सुखाती रहती है ॥ ७२ ॥ जिस प्रकार सूर्यके बिना आकाश, नयके बिना पराक्रम, सिंहके बिना वन और चन्द्रमाके बिना रात्रिको शोभा नहीं उसी प्रकार प्रताप, लक्ष्मी, बल और कान्तिसे शोभायमान पुत्रके बिना हमारा कुल

१. न चामृतच्छटाः क० ख० ग० घ० म० च० छ० । २. अर्थान्तरन्यासः । ३. सुतशरीरसमाश्लेषसमुद्भूतसुखं सर्वथासदृशमेवास्तीति सारः ।

क्व यामि तत्किं नु करोमि दुष्करं सुरेश्वरं वा कमुपैमि कामदम् ।
इतीष्टचिन्ताचयचक्रचालितं क्वचिन्न चेतोऽस्य बभूव निश्चलम् ॥ ७४ ॥
इत्थं चिन्तयतोऽथ तस्य नृपतेः स्फारीभवच्चक्षुषो
निर्वातस्तिमितारविन्दसरसी सौन्दर्यमुद्रामुषः ।
कोऽप्युद्यत्पुलकाङ्कुरः प्रमदजैः सिक्तश्च नेत्राम्बुभि-
र्बीजावाप इवाप वाञ्छिततरोरुद्यानपालः सभाम्[१] ॥ ७५ ॥
अथ स दण्डधरेण निवेदितो विनयतः प्रणिपत्य सभापतिम् ।
दुरितसंविदनध्ययनं सुधीरिति जगाद सुधास्नपिताक्षरम् ॥७६॥
राकाकामुकवद्दिगम्बरपथालंकारभूतोऽधुना
बाह्योद्यानमवातरद् ग्रहपथा कश्चिन्मुनिश्चारणः ।
यत्पादप्रणयोत्सवात्किमपरं पुष्पाङ्कुरच्छद्मना
वृक्षैरप्यनपेक्षितात्मसमयैः क्ष्मापाल रोमाञ्चितम् ॥७७॥

क्वेति—अस्य राज्ञश्चित्तं क्वचिदपि निश्चलं न बभूव तनूजचिन्तोत्कलिका चक्रभ्रान्तम् । चिन्तास्वरूपमाह—क्व मनोरथप्राप्तिक्षेत्रे यामि । किं वा मणिमन्त्रादिकं करोमि । सुरेश्वरं देवाधिदेवं कामदं चिन्तितप्रदं कमाश्रयामि । इति चिन्ताचक्रम् । अनिश्चितस्वरूपोऽयमलंकारः[२] ॥ ७४ ॥ इत्थमिति—तस्य नृपतेरित्थं व्याकुलचेतसो निर्निमेषचक्षुषः । अतश्च ज्ञायते निर्वातेन वाताभावेन स्तिमिता निश्चला यारविन्दसरसी पद्ममहासरस्तस्य सौन्दर्यमुद्रा शोभामूर्तिस्तां मुष्णाति अनुकरोति तथाविधस्तस्य सभां संसदं वनाधिकारी समाजगाम । अतश्च लक्ष्यते मनोरथतरोश्चिन्तितसिद्धेर्बीजावाप इव प्राप्तप्रवेश इव । अन्योऽपि यः प्ररोहोद्गमसमयो भवति सोऽप्यम्बुसेकात्साङ्कुरः । उद्यत्पुलकाङ्कुरः उद्यन्त उद्गच्छन्तः पुलकाङ्कुरा रोमसूचयो यस्य स तथाविधः हर्षाश्रुभिः सिक्तः[३] ॥ ७५ ॥ अथेति—अथ प्रतीहारप्रवेशितो नृपं सविनयं विज्ञपयाञ्चकार । सुधास्नपिताक्षरं यथा भवति । किं तत् विज्ञपयाञ्चकार । दुरितसंविदनध्ययनं दुरितं दुःखमेव संवित् पाठिका तस्यानध्ययनं प्रतिषेधकं चिन्तादुःखनिराकरणम्[४] ॥ ७६ ॥ राकेति—हे भूपतेऽधुना बाह्योद्यानं नभस्तलात् कश्चिन्मुनिश्चारणः खेचरर्द्धियुक्तोऽवातरत् । अलंचकार राकाकामुक इव चन्द्र इव श्रमणमार्गधुराधरणः पक्षे दिशश्चाम्बरञ्च तेषां पन्थास्तदलंकारभूतः । तस्याद्भुतप्रभावमाह—अपरं सचेतसां किमुच्यते वृक्षैरचेतनै-

सुशोभित नहीं होता ॥ ७३ ॥ कहाँ जाऊँ, कौन-सा कठिन कार्य करूँ, अथवा मनोरथको पूर्ण करनेवाले किस देवेन्द्रकी शरण गहूँ,—इस प्रकार इष्ट पदार्थविषयक चिन्तासमूह रूपी चक्रसे चलाया हुआ राजाका मन किसी भी जगह निश्चल नहीं हो रहा था ॥ ७४ ॥ इस प्रकार चिन्ता करते हुए राजाके नेत्र खुले हुए थे और उनसे वह वायुके अभावमें जिसके कमल निश्चल हो गये हैं उस सरोवरकी शोभाका अपहरण कर रहे थे । उसी समय एक वनपाल राजाकी सभामें आया । हर्षके अश्रुओंसे वनपालका शरीर भींग रहा था तथा उठते हुए रोमांचोंसे सुशोभित था इससे ऐसा जान पड़ता था मानो राजाके मनोरथ रूप वृक्षका बीजावाप ही हुआ हो—बीज ही बोया गया हो ॥७५॥ द्वारपालने वनपालके आनेकी राजाको खबर दी, अनन्तर बुद्धिमान् वनपालने राजाको विनयपूर्वक प्रणाम कर पापको नष्ट करने वाले निम्नलिखित वचन कहे—उसके वह वचन इतने मधुर थे मानो उनका प्रत्येक अक्षर अमृतसे नहलाया गया हो ॥७६॥ हे राजन् ! पूर्ण चन्द्रकी तरह दिगम्बर पथके [पक्षमें

१. स तम् घ० म० । २. अनुप्रासालंकारः । ३. रूपकोत्प्रेक्षे, शार्दूलविक्रीडितं छन्दः 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात् । ४. द्रुतविलम्बितवृत्तम् 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् । ५. दिशः काष्ठा एवाम्बरं वस्त्रं येषां ते दिगम्बरा निर्ग्रन्थश्रमणास्तेषां पन्था आचारमार्गस्तस्यालंकारभूतः ।

क्रीडाशैलप्रस्थपद्मासनस्थस्तत्त्वाभ्यासैः स प्रचेता इतीदम् ।
नामाख्यातं पार्श्ववर्ति'प्रतीन्द्रैः[1] कुर्वन्नास्ते तत्र संसूत्रितार्थम्[2] ॥७८॥

इत्याकस्मिकविस्मयां कलयतस्तस्मात्क्लमच्छेदिनीं
ज्योत्स्नावद्यति यामिनीशविषयां वार्तामवार्तोत्सवाम् ।
दृग्भ्यामिन्दुमणीयितं करयुगेनाम्भोजलीलायितं
पारावारजलायितं च परमानन्देन राज्ञस्तदा ॥७९॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
राजराज्ञीवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

रपि रोमाञ्चितं पुलकितं यत्पादप्रणयोत्सवात् यस्य पादा यत्पादास्तेषु प्रणयः स्नेहभरस्तस्मात्, कलिकाकदम्बव्याजेनानपेक्षिता आत्मपुष्पसमया यैस्ते तथाविधास्तैः । तत्प्रभावादकालेऽपि पुष्पिता इति भावः[3] ॥ ७७ ॥ क्रीडेति—स प्रचेता इति स्वकीयं नाम संसूत्रितार्थं निश्चितार्थं सार्थकमिति यावत् कुर्वन्नास्ते । क्रीडाशैलस्य प्रस्थं शृङ्गं तत्र पद्मासनेन तिष्ठतीति स तथाविधः । अन्योन्योरुप्रच्छादितांह्रिद्वयं पद्मासनं, तत्त्वाभ्यासैरात्मस्वरूपावलोकितैः; आख्यातं पौनःपुन्येनोच्चारितं पार्श्ववर्तिप्रतीन्द्रैः स्तुतिपरसुरेन्द्रैः[4] ॥ ७८ ॥ इतीति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण यतिचन्द्रसंबद्धां किंवदन्तीं कलयत आकर्णयतस्तस्माद्वनपालात् क्लमच्छेदिनीं चिन्तादाहविनाशिनीं चन्द्रिकामिवाकस्मिकविस्मयाम् असंभाव्यमहोत्सवामवार्तोत्सवां सत्यस्वरूपाम् । किं किमभूदित्याह—नयनाभ्यां चन्द्रकान्तायितं हर्षाश्रुवृष्टेराधिक्यं, करयुगेन पद्मकोशायितं प्रणामाञ्जलिर्बद्ध इत्यर्थः, समुद्रजलायितं महाहर्षेण । अथ च यथा राज्ञश्चन्द्रस्य ज्योत्स्नां कलयत इन्दुमणयो वर्षन्ति, अम्भोजानि संकुचन्ति, समुद्रजलानि चोद्भ्राम्यन्तीति भावः[5] ॥ ७९ ॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तादित्यदीधित्यां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

दिशा और आकाशमार्गके] अलंकारभूत कोई चारणऋद्धिधारी मुनि अभी-अभी आकाशसे बाह्य उद्यानमें अवतीर्ण हुए हैं, उनके चरणोंके स्नेहोत्सवसे औरकी क्या कहें वृक्ष भी अपना-अपना समय छोड़ कर पुष्प और अंकुरोंके बहाने रोमांचित हो उठे हैं ॥७७॥ वे मुनिराज क्रीड़ाचलके शिखर पर पद्मासनसे विराजमान हैं और तत्त्वाभ्याससे स्तुतिमें तत्पर देवेन्द्रों अथवा निकटवर्ती मुनियोंके द्वारा बतलाये हुए 'प्रचेता' नामको सार्थक कर रहे हैं ॥७८॥ इस प्रकार वनपालके मुखसे अचानक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली, सन्ताप दूर करने वाली, और अमन्द आनन्दसे भरपूर यतिचन्द्रविषयक वार्ता सुनकर राजाके नेत्र चन्द्रकान्त मणिकी तरह हर्षाश्रु छोड़ने लगे, हस्त युगल कमलकी तरह निमीलित हो गये और परम आनन्द समुद्रके जलकी तरह बढ़ने लगा ॥७९॥

इस प्रकार महाकवि श्री हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें
राजा और रानीका वर्णन करने वाला दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥२॥

---

१. व्रतीन्द्रैः ख० ग० घ० च० छ० ज० । २. संसूचितार्थम् च० छ० ज० । ३. यत्पादप्रणयोत्सवाद् वृक्षा अपि रोमाञ्चिताः का वार्ता मनुष्याणामिति भावः । अर्थापत्तिरलंकारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । ४. शालिनीच्छन्दः 'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति लक्षणात् । ५. रूपकोपमा, शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः ।

तृतीयः सर्गः

अथोत्थाय नृपः पीठाद्भानुः पूर्वाचलादिव । साधोः प्रचेतसस्तस्य दिशं प्राप्य ननाम सः ॥१॥
स तस्मै वनपालाय ददौ तोषतरोः फलम् । मनोरथ लताबीजप्राभृतस्येव निष्क्रयम् ॥२॥
आज्ञामिव पुरि क्लेशनिर्वासने[1]पटीयसीम् । मुनीन्द्रवन्दनारम्भभेरीं प्रादापयन्नृपः ॥३॥
व्यानशे ककुभस्तस्याः [2]कादम्बिन्या इव ध्वनिः । उत्कयन्निर्भरानन्दमेदुरान्पौरकेकिनः ॥४॥
चन्दनस्थासकैर्हास्यं लास्यमप्युल्लसद्ध्वजैः । पुष्पोत्करैश्च रोमाञ्चं पुरमप्याददे तदा ॥५॥
अमान्त इव हर्म्येभ्यस्तदागमनसंमदात् । पौराः प्रथितनेपथ्याः स्वेभ्यः स्वेभ्यो विनिर्ययुः ॥६॥

अथेति—अथोद्यानपालनिवेदितमुनिवार्तानन्तरं स राजा सिंहासनादुत्थाय तस्य प्रचेतस इति नामधेयस्य यतेर्दिशं प्राप्य तद्दिग्भागाभिमुखो भूत्वा नमश्चकार। यथा भानुः पूर्वाचलादुदेत्य प्रचेतसो वरुणस्य दिशं व्याप्य नम्रो भवति[3] ॥ १ ॥ स इति—स राजा तस्मै प्रमोदवार्ताकथकाय तोषतरोः फलं पारितोषिकमदात् । निष्क्रयं प्रतिपण्यमिव । कस्येत्याह—मनोरथलताबीजप्राभृतस्य चिन्तितसिद्धिबीजोपदायाः[4] ॥ २ ॥ आज्ञामिति—पुरि नगर्यां मुनीन्द्रवन्दनारम्भदुन्दुभि राजा अवीवदत् । अतश्च ज्ञायते दुःखनिष्कासनसमर्थामाज्ञामिव[5] ॥ ३ ॥ व्यानश इति—तस्या ध्वनिर्गम्भीरनादः ककुभो दिशो व्यानशे जगाहे । कादम्बिन्या मेघसंहतेरिव पुरे मयूरान् संभ्रमयन् अचिन्त्यप्रमोदपुष्टान्[6] ॥ ४ ॥ चन्दनेति—तदा नगरमपि रोमाञ्चं बभार । कैः सर्वत्र विक्षिप्तपुष्पप्रकरैः, न केवलं तत्, हास्यमपि चन्दनस्थासकैः श्रीखण्डमण्डलहस्तकैः, न केवलं तल्लास्यमपि नृत्यमपि उल्लसद्ध्वजैरुत्तभ्यमानगगनोहिताभिः ॥ ५ ॥ अमान्त इति—पौरा निजनिजगृहेभ्यो निश्चक्रमुः । अतश्च ज्ञायते—अमान्त इव तदागमनसंमदात् मुनिवार्ताकर्णनरोमाञ्चातिशयपुष्टि-

जिस प्रकार सूर्य उदयाचलसे उठकर प्रचेतस्—वरुणकी दिशा [पश्चिम] में जा कर नम्रीभूत हो जाता है उसी प्रकार राजा महासेन समाचार सुनते ही सिंहासनसे उठा और प्रचेतस् मुनिराजकी दिशामें जाकर नम्रीभूत हो गया—मुनिराजको उसने नमस्कार किया ॥१॥ राजाने वनपालके लिए सन्तोषरूपी वृक्षका फल—पारितोषिक दिया था जो ऐसा जान पड़ता था मानो मनोरथ रूप लताके बीजोपहारका मूल्य ही दिया हो ॥२॥ राजाने समस्त नगरमें क्लेश दूर करनेमें समर्थ अपनी आज्ञाके समान मुनिवन्दनाको प्रारम्भ करने वाली भेरी बजवायी ॥३॥ मेघमालाके शब्दके समान उस भेरीका शब्द आनन्दसे भरे हुए नगरवासी रूपी मयूरोंको उत्कण्ठित करता हुआ दिशाओंमें व्याप्त हो गया ॥४॥ उस समय वह नगर भी चन्दनके छिड़कावसे ऐसा जान पड़ता था मानो हँस रहा हो, फहराती हुई ध्वजाओंसे ऐसा लगता था मानो नृत्य कर रहा हो और फूलोंके समूहसे ऐसा विदित होता था मानो रोमांचित हो रहा हो ॥५॥ नगर निवासी लोग अच्छी-अच्छी वेषभूषा धारण कर अपने-अपने घरोंसे बाहर निकलने लगे मानो मुनिराजके आगमनजनित आनन्दसे इतने

१. निष्कासन—घ० म० । २. 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमरः । ३. उपमालंकारः । ४. रूपकोत्प्रेक्षे । ५. भेरीध्वनिमिषेण नगरवासिनां मुनीन्द्रवन्दनारम्भस्याज्ञां ददाविति भावः । ६. रूपकोपमे ।

बहिस्तोरणमागत्य रथाश्वेभनिषादिनः । दूता इवार्थसंसिद्धेस्तमुदैक्षन्त पार्थिवाः ॥७॥
दिगम्बरपदप्रान्तं राजापि सह कान्तया । प्रतस्थे रथमास्थाय प्रभया भानुमानिव ॥८॥
नृपाः संचारिणः सर्वे तमाविष्कृतसात्त्विकम् । मुनीन्द्रभावनारूढं[1] रसं भावा इवान्वयुः ॥९॥
सज्जालकानसौ तत्र मत्तवारणराजितान् । गृहानिव नृपान्प्रेक्ष्य पिप्रिये प्रान्तवर्तिनः ॥१०॥
प्रागेव जग्मुरुद्यानं सेवाक्षणविचक्षणाः । फलपुष्पाहरास्तस्य मूर्तिमन्त इवर्तवः ॥११॥
परस्पराङ्गसंघट्टभ्रष्टहारावचूलकैः । [2]पुरि दुःसंचरो मार्गो मार्गः पाशैरिवाभवत् ॥१२॥
दृष्ट्या कुवलयस्यापि जेता दर्शितनिग्रहः । नेत्रोत्सवाय नारीणां नारीणां सोऽभवन्नृपः ॥१३॥

योगात् प्रथितनेपथ्या विस्तारितालंकृतयः[3] ॥ ६ ॥ बहिरिति—भूपतयः सिंहद्वारतोरणमुपसृत्य तं चक्रवर्तिनमुदैक्षन्त प्रतिपालयामासुः । रथाश्चाश्वाश्च, इभा गजाश्च तेषु निषीदन्ति आरोहन्तीत्येवंशीलाः । अतश्च ज्ञायते—मनोरथप्राप्तेर्दूता इव स्वयमेव मनोरथसिद्धयाहूता इव प्रेषिताः[4] ॥ ७ ॥ दिगम्बरेति—राजा स्यन्दनमारुह्य पत्न्या सार्धं मुनिचरणसमीपं प्रचचाल । यथा स्यन्दनस्थो भानुमानादित्यः प्रभया दीप्त्या सह दिगम्बरपदप्रान्तमस्ताचलं श्रयति[5] ॥ ८ ॥ नृपा इति—सर्वे नृपा राजानमनुययुः परिवव्रुः आविष्कृतसात्त्विकं प्रकाशितप्रतापं मुनीन्द्रभावनारूढं मुनीन्द्रे भावना भक्तिभावाधिक्यं तत्राधिरूढं स्थितं यथा संचारिणो भावा भावनाधिरूढं जीवकलाश्रितं रसं नित्यभावम् आविष्कृतसात्त्विकं प्रकटितगुणविशेषमनुगच्छन्ति ॥ ९ ॥ सज्जेति—स राजा समीपपरिवारस्थान् नृपान् दृष्ट्वा तुतोष । सज्जालकान्नियन्त्रितकवरीकलापान् गन्धगजाधिरूढान् पक्षे सत् प्रशस्यानि जालकानि येषां तांस्तथाविधान् गृहान् गवाक्षयुक्तान् ॥ १० ॥ प्रागेवेति—अस्य फलपुष्पाहरा मालिकादयः प्रथममेव मुनिसमीपं ययुः । सेवाक्षणविचक्षणाः यथोचितसेवावसरवस्तुज्ञाः । अतश्च ज्ञायते—गृहीतदेहा वसन्तसमया इव संभूय वनं जगाहिरे जिनजनकसेवनाय इति ॥ ११ ॥ परस्परेति—तदा तस्यां पुरि दुःखसंचारः पन्था बभूव । कैरित्याह—परस्पराङ्गेन संघट्टोऽतिसंश्लेषविशेषस्तेन भ्रष्टास्त्रुटिता हारावचूला मुक्ताकलापास्तैस्तथाविधैः । यथा मृगाणामयं मार्गः पन्था वागुराजालैर्दुःसंचारो भवति[6] ॥ १२ ॥ दृष्ट्येति—स नृपस्तदा गच्छन् नारीणां स्त्रीणां नेत्रनिर्मितिसाफल्याय बभूव दर्शित-

अधिक पीन हो गये कि घरोंमें समा ही न सकते हों ॥६॥ जिस प्रकार दूत कार्यसिद्धिकी प्रतीक्षा करते हैं, उसी प्रकार रथ घोड़े और हाथियों पर बैठनेवाले सामन्त गण बाह्य तोरण तक आकर राजाकी प्रतीक्षा करने लगे ॥७॥ जिस प्रकार सूर्य प्रभाके साथ रथ पर आरूढ हो अस्ताचलकी ओर प्रस्थान करता है उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रियाके साथ रथ पर आरूढ होकर दिगम्बर मुनिराजके चरणोंके समीप चला ॥८॥ जिस प्रकार समस्त संचारी भाव, स्तम्भ आदि सात्त्विक भावको प्रकट करनेवाले शृङ्गारादि रसोंका अनुगमन करते हैं उसी प्रकार समस्त पुरवासी मुनिराजकी भक्ति भावनासे युक्त राजाका अनुगमन करने लगे ॥९॥ चलते समय वह राजा निकटवर्ती घरोंके समान राजाओंको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ क्योंकि जिस प्रकार घर सज्जालक थे—उत्तम झरोखोंसे युक्त थे उसी प्रकार राजा सुसज्जित अलकयुक्त थे और जिस प्रकार घर मत्तवारण राजित—उत्तम छपरियोंसे सुशोभित थे उसी प्रकार राजा भी मत्तवारण राजित मदोन्मत्त हाथियोंसे सुशोभित थे ॥१०॥ सेवाका अवसर जाननेमें निपुण सेवक मूर्तिमान् ऋतुओंकी तरह फल और फूल लेकर पहले ही उपवनमें जा पहुँचे थे ॥११॥ जिस प्रकार मृगोंका मार्ग पाशों—बन्धनोंसे दुर्गम हो जाता है उसी प्रकार नगरके उद्यानका मार्ग परस्पर शरीरके संघट्टनसे टूट-टूट कर गिरे हुए हारोंसे दुर्गम हो गया था ॥१२॥ नेत्रोंकी शोभासे कुवलय—नील कमलको जीतनेवाला सुन्दर शरीरसम्पन्न वह राजा स्त्रियोंके नेत्रोत्सवके

१. वन्दनारूढं ङ० च०, वहनारूढं घ० म० । २. पथि म० छ० । ३. उत्प्रेक्षा । ४. उपमा । ५. उपमा । ६. यमकोपमे ।

सोऽङ्गलावण्यसंक्रान्तपौरनारीनरेक्षणः । गन्धर्वैरावृतः साक्षात्सहस्राक्ष इवाबभौ ॥१४॥
बभुस्तस्य मुखाम्भोजपर्यन्तभ्रान्तषट्पदाः । अन्तर्मुनीन्दुसंधानान्निर्यद्ध्वान्तलवा[1] इव ॥१५॥
बिभ्रत्सविभ्रमश्चारुतिलकामलकावलिम् । उल्लसत्पत्रवल्लीको दीर्घनेत्रधृताञ्जनः ॥१६॥
युक्तोऽप्युत्तालपुन्नागैः सालसंगममादधत् । कामाराम इवारामपौररामाजनो ययौ ॥१७॥
[युग्मेन संबन्धः]

विग्रहः[2] अलंकृतशरीरः । दृष्ट्या नेत्रेण नीलोत्पलस्यापि जेता नारीणां न शत्रूणामुत्सवाय सुखालोकाय बभूव यतोऽसौ दर्शितविग्रहः प्रदीप्तप्रतापः । दृष्ट्या भ्रूक्षेपेण कुवलयस्यापि भूवलयस्यापि जेता । अरयः संमुखं द्रष्टुमशक्ता इत्यर्थः[3] ॥ १३ ॥ सोऽङ्गेति—स गन्धर्वैरश्वैरावृतः सहस्राक्षो दशशताक्ष इवाबभौ मूर्तिमान् रराज । किंविशिष्टः सन्नित्याह—अङ्गलावण्ये शरीरप्रभायां संक्रान्तानि प्रतिबिम्बितानि पौर-नारीनरेक्षणानि यस्य स तथाविधः पक्षे गन्धर्वा देवविशेषाः[4] ॥ १४ ॥ बभुरिति—तस्य मुखपद्मसौरभेण पर्यन्ते भ्रमन्तो भ्रमरा रेजिरे निर्यद्ध्वान्तलवा इव निर्गलत्कल्मषलेशा इव । कुत इत्याह—अन्तर्मुनीन्दुसंधानान्मध्ये यतिचन्द्र-धारणात् । चन्द्रावष्टब्धत्वं तमसा मुच्यत इति भावः ॥ १५ ॥ बिभ्रदिति—पौराङ्गनाजनो मुनिवन्दनाय वनं जगाम मकरध्वजाराम इव । श्लेषेणारामधर्मानारोपयन्नाह—बिभ्रत् धारयन् चारुतिलकामलकावलिं चारु-तिलकं चित्रकविशेषं तस्यामलको निर्मला आवलिः श्रेणी ताम् । कीदृग्भूतः । सविभ्रमः सविलासः पक्षे वीनां पक्षिणां भ्रमो यत्र स तद्विधः । पक्षे चारवस्तिलका आमलका इति नामानो वृक्षास्तेषामावलिस्ताम् । उल्लसत्पत्रवल्लीकः कृतकस्तूरीमकरिकामण्डनभङ्गविशेषः तारनिवेशिताञ्जनः पक्षे उल्लसत्पत्रैरुपलक्षिता वल्ल्यो यत्र स तथाभूतः । दीर्घनेत्रैः[5] सरलमूलैर्धृता अञ्जना[6] वृक्षा यत्र स तथाविधः । युक्तोऽप्यधिष्ठितोऽपि उत्तालपुंनागै[7]श्चाटुचटुलपुरुषप्रधानैः सालसं सलीलं गमं गमनमुद्वहन् पक्षे उच्चैस्तरपुन्नागा वृक्षविशेषाः सालस्य

लिए हुआ था परन्तु दृष्टिमात्रसे भूमण्डलको जीतने वाला तथा युद्ध दिखलाने वाला वह राजा शत्रुओंके नेत्रोत्सवके लिए नहीं हुआ था—उसे देखकर स्त्रियाँ आनन्दित होती थीं और शत्रु डरते थे ॥१३॥ उस राजाके शरीरके सौन्दर्यमें नगरनिवासी स्त्री-पुरुषोंके नेत्र प्रतिबिम्बित हो रहे थे और पास ही अनेक गन्धर्व—अश्व थे अतः वह गन्धर्वों—देव-विशेषोंसे घिरे हुए हजार नेत्रों वाले इन्द्रकी तरह सुशोभित हो रहा था ॥१४॥ उस राजाके मुख कमलके समीप जो भौंरे मँडरा रहे थे वे ऐसे ज्ञान पड़ते थे मानो अन्तरंगमें मुनि रूपी चन्द्रमाके संविधानसे बाहर निकलते हुए अन्धकारके टुकड़े ही हों ॥१५॥ उस समय जो नगरनिवासी स्त्रियाँ उपवनको जा रही थीं, वे कामोपवनकी तरह सुशोभित हो रही थीं क्योंकि जिस प्रकार स्त्रियाँ सविभ्रम थीं—हाव-भाव विलाससे सहित थीं उसी प्रकार कामोपवन भी सविभ्रम था—पक्षियोंके संचारसे सहित था, जिस प्रकार स्त्रियाँ चारु-तिलकाम् अलकावलिं बिभ्रत्—सुन्दर तिलक और अलकावलीको धारण किये थीं, उसी प्रकार कामोपवन सुन्दर तिलक और आँवलोंके वृक्षोंका समूह धारण कर रहा था, जिस प्रकार स्त्रियाँ उल्लसत्पत्रवल्लीक—केशर कस्तूरी आदिसे बनी हुई पत्र युक्त लताओंके चिह्नोंसे सहित थीं, उसी प्रकार कामोपवन भी पल्लवित लताओंसे सहित था, जिस प्रकार स्त्रियाँ दीर्घनेत्रधृताञ्जन—बड़ी-बड़ी आँखोंमें अञ्जन धारण करती थीं, उसी प्रकार कामोपवन भी बड़ी-बड़ी जड़ोंसे अञ्जन वृक्ष धारण कर रहा था, जिस प्रकार स्त्रियाँ उत्ताल पुंनागों—उत्कृष्ट पुरुषोंसे युक्त थीं, उसी प्रकार कामोपवन भी ऊँचे-ऊँचे ताड़ तथा नागके-

१. रूपकोत्प्रेक्षे। २. 'कामसंग्रामविस्तारप्रविभागेषु विग्रहः' इति विश्वलोचनः। 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः। ३. काव्यलिङ्गश्लेषयमकानां संसृष्टिः । ४. श्लिष्टोपमा । ५. 'नेत्रं मथि गुणे वस्त्रभेदे मूले द्रुमस्य च। रथे चक्षुषि नद्यां च' इति मेदिनी । ६. 'अञ्जनं कज्जले चाक्तौ सौवीरे च रसाञ्जने' इति मेदिनी । ७. 'पुंनागः पुरुषश्रेष्ठे वृक्षभेदे सितोत्पले' इति विश्वलोचनः ।

पुरन्ध्रीणां स वृद्धानां प्रतीच्छन्नाशिषः शनैः । इष्टसिद्धेरिव द्वारं पुरः प्राप महीपतिः ॥१८॥
यतिभावपरः कान्तिं बिभ्रदभ्यधिकां नृपः । निश्चक्राम पुरः श्लोकः कवीन्द्रस्य मुखादिव ॥ १९॥
शाखानगरमालोक्य पुरः प्रान्ते स पिप्रिये । तनूजमिव कान्ताया बहुलक्षणमन्दिरम् ॥२०॥
प्रागेव विक्रमश्लाघ्यो भवानीतनयोऽप्यभूत् । व्यक्तं पुनर्महासेनो महासेनावृतस्तदा ॥२१॥
उच्चैस्तनशिखोल्लासिपत्रशोभामदूरतः । वनालीं वीक्ष्य भूपालः प्रेयसीमित्यभाषत ॥२२॥
कान्तारतरवो नैते कामोन्मादकृतः परम् । अभवन्नः प्रीतये सोऽप्युद्यन्मधुपराशयः ॥२३॥

वृक्षस्य संगमं संपर्कमादधत्[1] ॥ १६–१७ ॥ पुरन्ध्रीणामिति—स जरतीनामाशिष उररीकुर्वन् मन्दमन्दं नगर्या द्वारमाप । अथ प्रस्तावान्मनोरथसिद्धेरिव [2]प्रवेशं प्राप[3] ॥ १८ ॥ यतीति—अथ शनैः शनैर्नगरतो राजा निर्जगाम कविमुखाच्छ्लोक इव मुनिभावतत्परः पक्षे सविश्रान्तिकः, अतिप्रतापलक्ष्मीं धारयन् पक्षे कान्तिः[4] काव्यगुणविशेषः[5] ॥ १९ ॥ शाखेति—स पुर्याः समीप उपनगरमालोक्य जहर्ष हृष्टो बभूव । बहुलक्षणमन्दिरं बहुलाः सप्तनवादयः [6]क्षणा भूभागा यत्र तथाविधानि मन्दिराणि यत्र तत्तथाविधम् । अथ प्रेयसी समीपे पुत्रमिव-बहुसामुद्रिकगृहम् ॥ २० ॥ प्रागेवेति—अथ प्रथममेव भवानीतनयो महासेननामा विक्रमश्लाघ्यस्तारकाक्ष-रिपुक्षयकरो बभूव । स च पुराणप्रत्यक्षः पक्षे संसार आनीतोऽवतारितो नयो धर्मारोपो येन सोऽयं पुनर्नृपतिर्व्यक्तं साक्षात् महत्या सेनया परिवारितः सन्महासेनोऽभूत् ॥ २१ ॥ उच्चैरिति—तामासन्नां वनालीं विलोक्य नृपः प्रियां वक्ष्यमाणमुवाच । उच्चैस्तनीषु शाखासु उल्लासिनी पत्रशोभा यस्यां सा तां तथाभूतां पक्षे स्तनयोः शिखा आभोगस्तत्रोल्लासिनी पत्रशोभा पत्रावली यस्याः सा तथाविधा ॥ २२ ॥ कान्तारेति—एते वनवृक्षा नोऽस्माकं प्रमोदाय बभूवुः । किंविशिष्टाः । कामोन्मादकृतः कामायोन्मादं कुर्वन्तीति, यतोऽमो उद्यन्मधुपराशय उद्यन्त उद्गच्छन्तो मधुपानां राशयः समूहो यकेभ्यः । न परं केवलं चेतसोऽप्यभूत् । स क इत्याह—कान्तार-तरवः तयो रतः कण्ठकूजितं कामोन्मादकृतः मन्मथचातुर्यसूचितः । उद्यति मधौ वसन्ते परः परवश आशयोऽ-

शरके वृक्षोंसे युक्त था और जिस प्रकार स्त्रियाँ सालसं गममादधत् आलस्य सहित गमनको धारण करती थीं उसी प्रकार कामोपवन भी सालसंगममादधत्—सालवृक्षके संगमको धारण कर रहा था ॥१६–१७॥ वह राजा वृद्धा स्त्रियोंके आशीर्वादको स्वीकृत करता हुआ धीमे-धीमे इष्ट सिद्धिके द्वारकी तरह नगरके द्वार तक पहुँचा ॥१८॥ जिस प्रकार यति—विराम स्थलसे युक्त और कान्ति नामक गुणको धारण करनेवाला श्लोक किसी महाकविके मुखसे निकलता है, उसी प्रकार यति—मुनिविषयक भक्तिसे युक्त और अतिशय कान्तिको धारण करने वाला राजा नगरसे बाहर निकला ॥१९॥ प्रियाके पुत्रकी तरह अनेक उत्सवोंके स्थान भूत [पक्षमें अनेक लक्षणोंसे युक्त] शाखा नगरको देखकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥२०॥ वह राजा विक्रमश्लाघ्य—पराक्रमसे प्रशंसनीय [पक्षमें वि—मयूर पक्षी पर संचार करनेसे प्रशंसनीय] और भवानीतनय, संसारमें नय मार्गका प्रचार करनेवाला [पक्षमें पार्वतीका पुत्र] तो पहलेसे ही था पर उस समय बड़ी भारी सेनासे आवृत होनेके कारण महासेन—बड़ी सेनासे युक्त [पक्षमें कार्तिकेय] भी हो गया था ॥२१॥ ऊँची-ऊँची डालियों पर लगे हुए पत्तोंसे सुशोभित वनकी पंक्तिको देखकर वह राजा उन्नत स्तनोंके अग्रभागपर उल्लसित पत्राकार रचनासे सुशोभित अपनी प्रियासे इस प्रकार बोला ॥२२॥ हे प्रिये ! जिनपर भौंरोंके समूह उड़ रहे हैं ऐसे कामके उन्मादको करनेवाले ये वनके वृक्ष ही हमारी प्रीतिके लिए नहीं हैं किन्तु जिसमें मदिरा पानका भाव उठ रहा है अथवा

१. श्लिष्टोपमा । २. अभ्युपायमिव 'द्वारं निर्गमनेऽपि स्यादभ्युपाये' इति मेदिनी । ३. उपमा । ४. 'यदुज्ज्वलत्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा' इति वाग्भटः । तस्यैवेत्यस्य बन्धस्यैवेत्यर्थः । ५. श्लिष्टोपमा । ६. बहुलाः क्षणा उत्सवा येषु तथाभूतानि मन्दिराणि यत्र तथाविधमिवेति वा ।

अनेकविटपस्पृष्टपयोधरतटा स्वयम् । वदत्युद्यानमालेयमकुलीनत्वमात्मनः ॥२४॥
उल्लसत्केसरो रक्तपलाशः कुञ्जराजितः । कण्ठीरव इवारामः कं न व्याकुलयत्यसौ ॥२५॥
सैन्यकोलाहलोत्तिष्ठद्विहङ्गावलयो द्रुमाः । अस्मदागमनोत्क्षिप्तपताका इव भान्त्यमी ॥२६॥
सञ्चरच्चञ्चरीकाणां धोरणिस्तोरणस्रजम् । विडम्बयति कान्तारे हरिन्मणिमयीमियम् ॥२७॥
पल्लवव्यापृतास्यानां सूरस्यन्दनवाजिनाम् । फेनलेशा इवाभान्ति द्रुमाग्रकुसुमोत्कराः ॥२८॥
त्वङ्गत्तुङ्गतुरङ्गोर्मेस्तीरगं सैन्यवारिधेः । पुञ्जिताबालशैवालशोभामभ्येति काननम् ॥२९॥
उत्क्षिप्तसहकाराग्रमञ्जरीरुक्मदण्डिकः । उत्सार्यल्लवङ्गैलालंम्बिकर्पूरचम्पकान् ॥३०॥

भिप्रायो यस्मात्स तथाविधः । बहुवचननिर्वाहः ॥ २३ ॥ अनेकेति—इयमुद्यानपङ्क्तिः स्वस्याकुलीनत्वमन्तरिक्षत्वं वदति । किंविशिष्टा सतीत्याह—अनेकैर्विटपैः शाखाभिः स्पृष्टाः संश्लिष्टाः पयोधराणां मेघानां तटा यया सा तथाविधा । अथ यथा काचित्स्वयमात्मचरितैरेव स्वस्या असतीत्वं प्रतिपादयति अनेकखिङ्गाधिपस्पृष्टस्तना ॥ २४ ॥ उल्लसदिति—असावारामः कं नाकुलीकरोति सिंह इव उल्लसत्केसरः उन्मीलद्बकुलकलिकः, रक्तपलाशः पुष्पितकिंशुकः कुञ्जराजितः लतागृहशोभितः पक्षे उद्घुषितसटाकलापः रक्तं च पलं मांसं चाश्नातीति तथाविधः । कुतः । हस्तियुद्धात् । यदि वा कुञ्जरैरजितः[२] ॥ २५ ॥ सैन्येति - अमी द्रुमा भान्ति बलतुमुलोदञ्चत्पक्षिपङ्क्तयः । अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—अस्मदागमने उत्तम्भिताः पताका यैस्ते तथाविधाः[३] ॥ २६ ॥ सञ्चरदिति—अस्मिन्वने भ्रमद्भ्रमराणां श्रेणी वन्दनमालामनुकरोति इन्द्रनीलगुलिकामयीम्[४] ॥२७॥ पल्लवेति—वृक्षाग्रे पुष्पस्तवकाः प्रतिभान्ति रविरथ्यानां मुखडिण्डीरपिण्डा इव । कथं तत्र सूराश्वानां मुखफेनसंभवः । पल्लवव्यापृतास्यानां पल्लवखादनाय व्यापृतं लम्पटं मुखं येषां ते तथाविधास्तेषाम्[५] ॥ २८ ॥ त्वङ्गदिति—सैन्यसमुद्रस्य समीपस्थं काननं पुञ्जितबृहज्जम्बालतुलामुपयाति । त्वङ्गत्तुङ्गतुरङ्गोर्मेः त्वङ्गन्तो बलगन्तस्तुङ्गा उच्चास्तुरङ्गा एवोर्मयः कल्लोला यस्य तथाविधस्य । [६]वनं नेदीयो बभूवेत्यर्थः ॥ २९ ॥ उत्क्षिप्तेति—हे मृगाक्षि, अस्माकमसौ मरुद् वायुः समीपमभ्येति । वननृपतेर्वेत्री प्रतीहार इव । सादृश्यं

जिसमें प्रकट होते हुए वसन्तके कारण अभिप्राय विवश हो रहा है ऐसा कामके उन्मादसे किया हुआ वह स्त्री-सम्भोगका शब्द भी हमारी प्रीतिके लिए है ॥२३॥ अनेक डालियोंसे मेघोंके तटका स्पर्श करनेवाली यह उद्यानमाला अपनी अकुलीनता—ऊँचाईको स्वयं कह रही है। अनेक गुण्डे जिसके स्तनतटका स्पर्श कर रहे हैं ऐसी स्त्री अपनी अकुलीनता—नीचताको स्वयं कह रही है ॥२४॥ जिसके गरदन परके बाल हवासे उड़ रहे हैं, जो खून और मांस खाता है तथा हाथियोंसे कभी भी पराजित नहीं होता ऐसा सिंह जिस प्रकार सबको व्याकुल कर देता है उसी प्रकार जिसमें वकुलके वृक्ष सुशोभित हैं, जिसमें टेसूके लाल-लाल फूल फूल रहे हैं और जो निकुंजोंसे विराजित हैं ऐसा यह वन किसे नहीं व्याकुल करता ? अर्थात् सभीको कामसे व्याकुल बना देता है ॥२५॥ सैनिकोंके कोलाहलसे जिनपर पक्षियोंके समूह उठ रहे हैं ऐसे ये वृक्ष इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं मानो हम लोगोंके आगमनके हर्षमें इन्होंने पताकाएँ ही फहरा दी हों ॥२६॥ वनमें यह जो इधर-उधर भौंरोंकी पंक्ति उड़ रही है वह नीलमणियोंकी बनी वन्दनमालाका अनुकरण कर रही है ॥२७॥ यह जो वृक्षोंके अग्रभागपर सफेद-सफेद फूलोंके समूह फूल रहे हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो पत्ते खानेके लिए मुख खोलते समय गिरे हुए सूर्यके घोड़ोंके फेनके टुकड़े ही हों ॥२८॥ उछलते हुए ऊँचे-ऊँचे घोड़े रूप तरंगोंसे सहित इस सेना रूपी समुद्रके आगे यह हरा-भरा वन ऐसा जान पड़ता है मानो समुद्रसे निकाल कर शेवालका विशाल ढेर ही लगा दिया गया हो ॥२९॥ हे मृगनयनी,

१. लाञ्चि घ० ड० प० । २. 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः । श्लिष्टोपमा । ३. उत्प्रेक्षा । ४. उपमा । ५. उत्प्रेक्षा । ३. हरितहरितं वनं सैन्यसागरस्य निकटे पुञ्जिताबालजम्बाल इव विशोभत इति भावः ।

कासारसीकरासारमुक्ताहारविराजितः । प्रेर्यमाणो मुहुर्वेल्लल्लताहस्ताग्रसंज्ञया ॥३१॥
अयमस्माकमेणाक्षि चन्दनामोदसुन्दरः । मरुदभ्यर्णतामेति वेत्रीवोद्यानभूपतेः ॥३२॥
[विशेषकम्]
तन्वाना चन्दनोद्दामतिलकं वदने किल । करोत्यक्षतदूर्वाभिर्मङ्गलं मे वनस्थली ॥३३॥
एताः प्रवालहारिण्यो मुदा भ्रमरसंगताः । मरुन्नर्तकतालेन नृत्यन्तीव वने लताः ॥३४॥
निरूपयन्निति प्रीत्या प्रियायाः प्राप्य काननम् । तत्क्षणादक्ष[1]मत्याक्षीदौद्धत्यमिव पार्थिवः ॥३५॥
तत्कालोत्सारिताशेषराजचिह्नो व्यराजत । गुरूनभिव्रजन्नेष विनयो मूर्तिमानिव ॥३६॥
नक्षत्रैरुद्धतै[2]र्युक्तैः[3] सकान्तः केलिकाननम् । कराग्रं कुड्मलीकृत्य राजा घनमिवाविशत् ॥३७॥

स्थापयन्नाह—उत्क्षिप्ता सहकारमञ्जर्येव स्वर्णदण्डिका येन स तथाविधः । किं कुर्वन् । उत्सारयन् विरलयन् । कानित्याह—लवङ्गाश्च एलाश्च लम्बिकर्पूराश्च चम्पकाश्च तान् तथाविधान् । सरो बिन्दुवर्षमुक्ताकलाप-भूषितः प्रेर्यमाणः संज्ञाप्यमानः लोलल्लताकराग्रसंज्ञया श्रीखण्डद्रववासितः[4] ॥ ३०–३२ ॥ तन्वानेति—वनस्थली मम मङ्गलं प्रवेशमङ्गलक्रियां विदधाति । कैरित्याह—अखण्डहरितालीप्रमुखमङ्गलद्रव्यैः । किं कुर्वाणा । प्रकाशयन्ती चन्दनाश्च उद्दामा उच्चाश्च तिलकाश्च तत् चन्दनोद्दामतिलकम् । अन्यापि या किल सुवासिनी मङ्गलयति सा श्रीखण्डतिलकं वदने करोति तण्डुलदधिदूर्वादिभिः सह ॥ ३३ ॥ एता इति—एता लता हर्षेण नर्तक्य इव नटन्ति । मरुदेव नर्तक उपाध्यायस्तस्य तालेन तदुपयुक्तलयेन अथ च वातान्दोलितताडेन सह बहुनटीनां मध्ये नटेन नर्तितव्यमिति भावः । पल्लवशालिन्यः पक्षे प्रवालेन विद्रुमनामकेन उपलक्षिता हाराः सन्त्यासां तास्तद्विधाः । यदि वा प्रसाधितधम्मिल्लमनोहराः षट्पदाच्छादिताः पक्षे भ्रमस्य चारीनृत्यविशेषस्य रसं भावं प्राप्ताः ॥ ३४ ॥ निरूपयन्निति—वल्लभायाः पुरत इति दर्शयन् वनोपान्त एव रथं शीघ्रमेव राजा तत्याज । औद्धत्यं गर्वमिव । किंविशिष्टम्, तत्क्षणे मुनिवन्दनसमयेऽनुचितपददत्तं, कस्य[5], ब्रह्मविवेकस्याननं प्रवेशं लब्ध्वा ॥ ३५ ॥ तत्काल इति—तस्मिन्समये राजा दूरीकृतसकलछत्रचामरादि-परिग्रहः सदेहत्वेन प्रत्यक्षविनय इव रराज गुरूनभिसंगच्छमानः ॥ ३६ ॥ नक्षत्रैरिति—सपत्नीको राजा विनयाञ्जलिं बद्ध्वा बहुलं क्रीडावनं विवेश । उद्धतैः परवशात्मभिः क्षत्रैः राजपुत्रैर्न सहितः । अथ च राजा

जिसने आम्रमंजरीरूपी सुवर्णकी छड़ी ऊपर उठायी है, जो लवंग, इलायची आलम्बिकपूर और चम्पेकी सुगन्धिको इधर-उधर फैला रहा है, जो तालाबके जलकणोंकी वर्षा करनेसे ऐसा लगता है मानो हारसे ही सुशोभित हो, जो बार-बार हिलती हुई लताओंके द्वारा मानो हाथके संकेतसे प्रेरित ही हो रहा हो और जो चन्दनकी सुगन्धिसे सुन्दर है—बड़ा भला मालूम होता है ऐसा यह पवन वनरूपी राजाके प्रतीहारके समान हम लोगोंके निकट आ रहा है ॥३०–३२॥ अपने अग्रभागमें चन्दन वृक्षसे उत्कट तिलक वृक्षको धारण करनेवाली यह वनकी वसुधा अखण्ड दूर्वाके द्वारा हम लोगोंका ठीक उसी तरह मंगल कर रही है जिस तरह कि मुखपर चन्दनका बड़ा-सा तिलक लगानेवाली सौभाग्यवती स्त्री अक्षत और दूर्वाके द्वारा किसी अभ्यागतका मंगल करती है ॥३३॥ इधर ये पल्लवोंसे मनोहर [पक्षमें मूँगासे सहित अथवा उत्तम केशोंसे रमणीय] और भ्रमरोंसे युक्त [पक्षमें परिक्रमाके आनन्दसे युक्त] लताएँ वायु रूपी नर्तककी तालका इशारा पाकर मानो नृत्य ही कर रही हों ॥३४॥ इस प्रकार प्रियाके लिए वनकी सुषमाका वर्णन करता हुआ राजा ज्यों ही उपवनके समीप पहुँचा त्यों ही उसने अहंकारकी तरह रथका परित्याग कर दिया ॥३५॥ जिसने तत्काल ही समस्त राजचिह्न दूर कर दिये हैं ऐसा राजा मुनिराजके सम्मुख जाता हुआ मूर्तिमान् विनयकी तरह सुशोभित हो रहा था ॥३६॥ जिस प्रकार उद्धत उदित नक्षत्रोंसे

१. 'अक्षस्तु पाशके चक्रे शकटे च विभीतके' इति विश्वलोचनः । २. रुन्नतैर्युक्तः घ० म० । ३. युक्तैः छ० । ४. रूपकोपमे । ५. कस्य आननं काननन् ।

ददर्शाशोकमस्तोकस्तबकैस्तत्र पाटलम् । खगैरछन्नमिवासन्नमुनीनां मुक्तमानसैः ॥३८॥
अधस्तात्तस्य विस्तीर्णे स्फाटिकोपलविष्टरे । तपःप्रगुणितागण्यपुण्यपुञ्जे[1] इव स्थितम् ॥३९॥
दत्तनेत्रोत्सवारम्भमाश्रितं मुनिसत्तमैः[2] । ऋक्षैरिव धरोत्तीर्णं क्षणं नक्षत्रनायकम् ॥४०॥
अन्तरस्तावकाशेन ज्ञानसिन्धुमहोर्मिभिः । मलेन लिप्तबाह्याङ्गे दर्शयन्तमनादरम् ॥४१॥
अत्यन्तनिःसहैरङ्गैर्मुक्ताहारपरिग्रहैः । व्यक्तयन्तमिवासक्तिं मुक्तिकान्तानुबन्धिनीम् ॥४२॥

चन्द्र उदितैस्तारकैः परिवारितः कान्तः कमनीयः किरणजालं संकोच्य मेघखण्डे प्रविशति[3] ॥ ३७ ॥ ददर्शेति—तत्र वनमध्ये बहुलपल्लवकदम्बकैररुणायमानमशोकवृक्षं राजाद्राक्षीत् । समीपस्थमुनीनां मनोरागैरिवापिहितं मुक्तमानसैस्त्यक्तहृदयैः । मुनीन्परित्यज्य रागैरशोकः परिवृतः[4] ॥ ३८ ॥ अधस्तादिति—तस्याशोकस्याधस्ताद्विस्तीर्णस्फटिकशिलासिंहासने स्थितमुपविष्टं स ददर्श । किंविशिष्टे विष्टर इत्याह—तपसा प्रगुणितमुपनीतमगण्यमप्रमाणं यत्पुण्यं तस्य पुञ्जे राशाविव[5] ॥ ३९ ॥ दत्तेति—भूमिस्थं राकामृगाङ्कमिव दत्तनयनानन्दं मुनिप्रधानपरिवारितं पक्षे ऋक्षैर्नक्षत्रैः किंविशिष्टैः सप्त मुनयः प्रशस्या येषां ते तैः[6] ॥ ४० ॥ अन्तरिति—बाह्याङ्गे कलेवरे तितिक्षां दर्शयन्तं लिप्ते मलिनेऽनादरणीयं हि संस्कारैरुपचर्यत इति भावः । केन लिप्तमित्याह—अस्नानाद्युपचितमलेन । अतश्च ज्ञायते—तमोमलेनैव अन्तरस्तावकाशेन अन्तर्मध्येऽस्तो निराकृतोऽवकाशः प्रसरो यस्य स तथाविधस्तेन । ज्ञानसिन्धुमहोर्मिभिः बोधवार्द्धिकल्लोलैः यथा समुद्रकल्लोलैर्जम्बालादिकं बाह्ये प्रक्षिप्यते[7] ॥ ४१ ॥ अत्यन्तेति—मुक्तिकान्तानुगामिनीमासक्तिमत्यन्ताभिलाषं व्यक्तयन्तं प्रकाशयन्तम् । कैरित्याह—निःसहैस्तपःकृशैरङ्गैर्मुक्ताहारपरिग्रहैः मुक्तावाहारपरिग्रहो यैस्तैः । अन्योऽपि यः

युक्त राजा—चन्द्रमा अपने कराग्र—किरणोंके अग्रभागको संकुचित कर मेघके भीतर प्रवेश करता है उसी प्रकार उद्धत—उद्दण्ड—गर्वीले साथियोंसे अयुक्त वह राजा—महासेन अपने कराग्र—हस्तके अग्रभागको जोड़ कर पत्नीके साथ क्रीडावनमें प्रविष्ट हुआ ॥३७॥ वहाँ उसने वह अशोक वृक्ष देखा जो कि बड़े-बड़े गुच्छोंसे लाल लाल हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो निकटवर्ती मुनियोंके मनसे निकले हुए राग भावसे ही व्याप्त हो रहा हो ॥३८॥ उस अशोक वृक्षके नीचे विस्तृत एवं तपसे संचित असंख्यात पुण्यकी राशिके समान दिखनेवाले स्फटिकके आसनपर विराजमान मुनिराजको राजाने देखा ॥३९॥ वे मुनिराज नेत्रोंके लिए आनन्द प्रदान कर रहे थे और अच्छे-अच्छे मुनियोंके समूहसे वेष्टित थे अतः ऐसे जान पड़ते थे मानो प्रशस्त नक्षत्रोंके साथ पृथिवीपर अवतीर्ण हुआ चन्द्रमा ही हो ॥४०॥ वे ज्ञान रूपी समुद्रकी तरंगोंसे जिसका आभ्यन्तर अवकाश दूर कर दिया गया है ऐसे मलसे लिप्त बाह्य शरीरमें अनादर प्रकट कर रहे थे ॥४१॥ वे अत्यन्त निःसह और आहार ग्रहणका त्याग करनेवाले [पक्षमें मोतियोंके हारसे सहित] अंगोंसे मुक्तिकान्ता

१. पुञ्जमिव घ० ङ० म० । २. मुनिषु यतिषु सत्तमाः श्रेष्ठतमास्तैः पक्षे मुनयः सप्तर्षिसंज्ञकास्तारा विशेषाः सत्तमाः श्रेष्ठतमा येषु तैः । ३. अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—सकान्तः कान्तया सहितः सपत्नीकः, उद्धतैः परवशात्मभिर्गर्वयुक्तैरिति यावत्, क्षत्रैः क्षत्रियैः न युक्तो न सहितः किन्तु अनुद्धतक्षत्रैः सहित इति यावत्, राजा महासेनः कराग्रं हस्ताग्रं कुड्मलीकृत्य मुकुलीकृत्य विनयाञ्जलिं बद्ध्वेति भावः । कान्तः कमनीयः उद्धतैरुदितैर्नक्षत्रैस्ताराभिर्युक्तः सहितः स प्रसिद्धो राजा चन्द्रः 'राजा चन्द्रमहीपत्योः' इति धनंजयः । कराग्रं किरणाग्रं 'वलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । कुड्मलीकृत्य मुकुलीकृत्य घनं मेघमिव केलिकाननं क्रीडावनम् । अविशत् प्रविवेश । उपमा । ४. उत्प्रेक्षा । 'रक्तत्वं कोपरागयोः' इत्यलंकारचिन्तामणिवचनाद्रागस्य रक्तत्वं कविसमयसिद्धम् । ५. उत्प्रेक्षा । ६. उपमा । ७. रूपकोत्प्रेक्षे ।

नासावंशाग्रविन्यस्तस्तोकसंकोचितेक्षणम् । भावयन्तमथात्मानमात्मन्येवात्मनात्मनः ॥४३॥
दर्शनज्ञानचारित्रतपसामेकमाश्रयम् । क्षमागारं गतागारं मुनिमैक्षिष्ट पार्थिवः ॥४४॥
[षड्भिः कुलकम्]
अथास्पदं नभोगानां स्वर्णशैलमिव स्थिरम् । गुरुं प्रदक्षिणीकृत्य स राजा विशदांशुकः ॥४५॥
इलामूलमिलन्मौलिर्नत्वा भूमौ न्यविक्षत । न परं [1]विनयः श्रीणामाश्रयः श्रेयसामपि ॥४६॥
[युग्मम्]
मङ्गलारम्भसंरम्भप्रध्वनद्दुन्दुभिध्वनिम् । विडम्बयन्नथोवाच वाचमाचारवानिति ॥४७॥
त्वत्पादपादपच्छायां चिन्तासंतापशान्तिदाम् । संप्रति प्राप्य युक्तोऽस्मि भवभ्रमपरिश्रमात्॥४८॥
यदभूदस्ति यच्चच भावि स्वं जन्म तन्मया । निर्णीतं पुण्यवन्नाथ त्वदालोकनमात्रतः ॥४९॥

कामी स कामिनीं प्रति विशेषासक्तिं भजति विरहतनुभिरङ्गैर्मुक्ताकलापभूषितैरिति ॥ ४२ ॥ नासेति—आत्मानं स्वस्वरूपं ध्यायन्तं, कया मूर्त्यवस्थयेत्याह—स्तोकं संकोचिते अर्द्धनिमीलिते च ते ईक्षणे च नासावंशाग्रे न्यस्ते नियोजिते तथाविधे ईक्षणे यस्य स तं तथाविधम् । क्व स्थितमित्याह—स्वस्मिन्नेव । केनोपकरणेन, स्वेनात्मना पृथग्भूतेन ॥ ४३ ॥ दर्शनेति—एकमनौपम्यं गतागारं दिगम्बरत्वनिवेदितपरिग्रहम् । आश्रयं स्थानं, केषामित्याह—दर्शनं जिज्ञासा, ज्ञानं तत्त्वप्राप्तिश्चारित्रं पूर्वोक्तयोः स्थितिः, तपः सर्वसावद्ययोगविरमणं, तेषां स्थानं, क्षमागारमुपशममयम् ॥ ४४ ॥ अथेति—अथ तं मुनिं प्रदक्षिणीकृत्य मेरुमिव निश्चलं भोगानां सांसारिकसौख्यानां नास्पदं न स्थानं स राजा गृहीतशुचिवस्त्रो भूतलमिलन्मस्तकः प्रणम्य पृथिव्यामुपविष्टः । यथा चन्द्रः सितकिरणो नभोगानां खेचराणां क्रीडास्थानं गुरुमुच्चैस्तरं न भवति । युक्तमेतत्—न केवलं विनयो विनयवान् लक्ष्मीणामाश्रयो भवति पुण्यानामपि ॥ ४५–४६ ॥ मङ्गलेति—स राजा आचारवान् वाङ्मयतत्त्ववेदी । अथानन्तरं स्तुतिपरमभाषत मङ्गलध्वनिमनुकुर्वन् ॥ ४७ ॥ त्वदिति—हे नाथ, त्वच्चरणकमलसंनिधिं सर्वमनोरथसंपत्तिं संप्रति प्राप्य संसारावर्ततापात्यक्तोऽस्मीति ॥ ४८ ॥ यदिति—हे नाथ, तव दर्शनमात्रतो मया आत्मीयं जन्म पुण्यवत्सपुण्यकं निर्धारितम् । किं जन्मेत्यादि—यदतीतं यच्च वर्तमानं यच्च भावि भविष्यतीति । पूर्वजन्मपुण्योदयेन हि मुनिदर्शनं भवति । तेन चागन्तुकं जन्म पुण्यवत् । साम्प्रतं

सम्बन्धी आसक्तिको प्रकट कर रहे थे ॥४२॥ उनकी अर्धोन्मीलित दृष्टि नासावंशके अग्रभागपर लग रही थी, वे अपनी आत्माका अपने आपके द्वारा अपने आपमें ही चिन्तन कर रहे थे ॥४३॥ दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके एक आधार थे, क्षमाके भाण्डार थे और गृह परित्यागी थे—राजाने उन मुनिराजके दर्शन बड़ी भक्तिसे किये ॥४४॥ जिस प्रकार निर्मल किरणोंका धारक चन्द्रमा अतिशय विशाल एवं स्थिर सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देता है उसी प्रकार उज्ज्वल वस्त्रोंको धारण करनेवाले राजाने उन वीतराग गुरुदेवकी प्रदक्षिणा दी। अनन्तर पृथिवी मूलमें मस्तक टेक नमस्कार कर जमीन पर आसन ग्रहण किया सो ठीक ही है क्योंकि विनय लक्ष्मीका ही आश्रय नहीं होता किन्तु कल्याणोंका भी होता है ॥४५–४६॥ तदनन्तर शिष्टाचारको जाननेवाले राजाने मंगल-कार्यके प्रारम्भमें बजते हुए दुन्दुभिके शब्दको तिरस्कृत करते हुए निम्न प्रकार वचन कहे ॥४७॥ हे भगवन्, चिन्ता और सन्तापसे शान्ति प्रदान करनेवाले आपके चरणरूप वृक्षकी छायाको प्राप्त कर मैं इस समय संसार-परिभ्रमणके खेदसे मुक्त हो गया हूँ ॥४८॥ हे नाथ ! आपके दर्शन मात्रसे मैंने इस बातका निर्णय कर लिया कि मेरा जो जन्म हुआ था, है और आगे होगा वह सब पुण्यशाली है

१. विनयश्रीणा—घ० ङ० च० ।

[1]भयान्वितेन सूर्येण सदोषेणेन्दुनापि किम् । यो भवानिव दृष्टोऽपि न भिनत्त्यान्तरं तमः ॥५०॥
चित्रमेतज्जगन्मित्रे नेत्रमैत्रीं गते त्वयि । यन्मे जडाशयस्यापि पङ्कजातं निमीलति ॥५१॥
युष्मत्पदप्रयोगेण पुरुषः स्याद्युदुत्तमः । अर्थोऽयं सर्वथा नाथ लक्षणस्याप्यगोचरः ॥५२॥
तथा मे पोषिता कीर्तिस्त्वद्दर्शनरसायनैः । यथास्तां त्रिदशावासे मात्यनन्तालयेऽपि न ॥५३॥
निर्निमेषं गलद्दोषं [2]निर्व्यपेक्षमपक्ष्मलम् । ज्ञानचक्षु सदोन्निद्रं न स्खलत्येव ते क्वचित् ॥५४॥
सिद्धमिष्टं त्वदालोकाज्ज्ञातं च ज्ञानिना त्वया । तत्पुनः प्रोच्यतेऽस्माभिः शंसितुं[3] जाड्यमात्मनः ॥

पुण्यवदस्तीति भावः ॥ ४९ ॥ भयेति—प्रभायुक्तेनादित्येन सरात्रिकेण च चन्द्रेण किम् । यो न हे प्रभो, आन्तरमनन्यबाध्यं मोहान्धकारं निराकरोति । पक्षे भातियुक्तेन कलङ्कितेन च ॥ ५० ॥ चित्रमिति—हे प्रभो, एतच्चित्रं, नेत्रमैत्रीं गते नयनप्रमोदप्राप्ते दृष्टे जगन्मित्रे भुवनहिते मम जडाशयस्यापि मन्दाभिप्रायस्यापि पङ्कजातं पापपटलं विलीयते । न नाम जगन्मित्रे भास्वत्युदिते सरःकमलं निमीलति संकुचति ॥ ५१ ॥ युष्मदिति—हे नाथ, त्रिभुवनगुरो, यद्भवत्पादप्रसङ्गेन पुमानुत्तमः सर्वपूज्यः स्यात्तदसावर्थः सामुद्रिकलक्षणस्याप्यगोचरो दुरवगाहः । कलशकुलिशस्वस्तिकश्रीवत्सादिभिरस्य राज्यं भविष्यतीत्येतावन्मात्रमेव निर्णीयते न तत्पदप्रणतिमतां पुण्यमिति भावः । पक्षे 'युष्मदि मध्यमः' इति सूत्रेण युष्मत्प्रयोगेण मध्यमपुरुषः स्यात् । यत्तूत्तमो भवतीत्यर्थः स शब्दशास्त्रस्यापि गवि वाण्यां चरतीति गोचरः न गोचरोऽगोचरोऽवक्तव्य इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ तथेति—हे प्रभो, त्वद्दर्शनसुधारसैर्मम कीर्तिस्तथोपचिता यथा आस्तां तिष्ठतु त्रयाणां दशानां चावासस्तस्मिन् अनन्तानामसंख्यानामालये गृहेऽपि न माति न संमिमीते । अथ च स्वर्गे पाताले च ॥ ५३ ॥ निर्निमेषमिति—तव ज्ञानचक्षुः क्वचिदपि त्रिकाले त्रिलोक्यां च न स्खलति न मन्दायते निर्निमेषमविहितप्रसरं गलद्दोषं यथावद्वस्तुप्रकाशकं निर्व्यपेक्षं निःसहायम् अपक्ष्मलवाधारहितम् इति पूर्वोक्तविशेषणैः सर्वदा प्रकाशकं सदोदितमित्यर्थः ॥ ५४ ॥ सिद्धमिति—इष्टमभिप्रेतमस्माकं सिद्धं निष्पन्नमेव त्वदालोकाद् भवच्चरणदर्शनात् यच्चास्माकं मनसीष्टं तच्चिन्ताकारणं तत्र भवता ज्ञानमेव युष्मदन्ते पुनस्तदेवास्माभिर्विज्ञाप्यते स्वस्याज्ञत्व-

॥४९॥ भा सहित [पक्षमें भय सहित] उस सूर्यसे अथवा दोष सहित [पक्षमें रात्रि सहित] उस चन्द्रमासे क्या लाभ जो कि आपकी तरह दिखते ही अभ्यन्तर अन्धकारको नष्ट नहीं कर सकता ॥५०॥ हे भगवन्! आप जगन्मित्र हैं—जगत् सूर्य हैं और मैं जलाशय—तालाब हूँ साथ ही आप दृष्टिगोचर हो रहे हैं फिर भी मेरे पंकजात—कमलोंका समूह निमीलित हो रहा है यह भारी आश्चर्यकी बात है, क्या कभी सूर्योदयके रहते कमल निमीलित रहते हैं। हे भगवन्! आप संसारके मित्र हैं आपके दिखते ही मुझ मूर्खका भी पापोंका समूह नष्ट हो जाता है यह आश्चर्यकी बात है ॥५१॥ हे नाथ! आपके चरणोंके संसर्गसे पुरुष उत्तम हो जाते हैं यह बात सर्वथा वचनोंके अगोचर है। हे नाथ! युष्मद् शब्दके योगमें उत्तम पुरुष होता है यह बात व्याकरण शास्त्रके सर्वथा विरुद्ध है ॥५२॥ भगवन्! आपके दर्शन रूपी रसायनसे मेरी कीर्ति इतनी अधिक पुष्ट हो गयी है कि वह तीस आवास [पक्षमें स्वर्ग] की बात तो दूर रहे अनन्त आवासों [पक्षमें पाताल] में भी नहीं समाती ॥५३॥ भगवन्! टिमकाररहित, दोषरहित, व्यपेक्षारहित, बिरूनीरहित, तथा सदा उन्निद्र रहनेवाला आपका ज्ञान-नेत्र कहीं भी स्खलित नहीं होता ॥५४॥ हे नाथ, यद्यपि आपके दर्शनमात्रसे ही मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया है, साथ ही मैं जो निवेदन करना चाहता हूँ उसे आप जानते हैं फिर भी अपनी जड़ता प्रकट करनेके लिए मैं कुछ कह रहा हूँ ॥५५॥

१. तपोऽन्वितेन घ० ङ० म० । २. निर्व्यपेक्ष ख० ग० घ० ङ० च० छ० म० । ३. शङ्कितुं क० ।

इयं प्राणप्रिया पत्नी समयेऽपि स्थिता सती । निष्फलेव क्रियात्यर्थमनपत्या दुनोति माम् ॥५६॥

अदृष्टसंततिः स्पृष्टमिष्टार्थप्रसवामपि । इमामहं महीं मन्ये केवलं भारमात्मनः ॥५७॥

चतुर्थपुरुषार्थाय स्पृहयालोर्ममाधुना । अदर्शनायते मोहान्नन्दनस्याप्यदर्शनम् ॥५८॥

दशामन्त्यां गतस्यापि पुंसस्तावन्न शस्यते । प्रदीपस्येव निर्वाणं यावन्नान्यं प्रकाशयेत् ॥५९॥

तत्कलत्रे कदात्रैव रसलीलालवात्मके । संपत्स्यते ममोद्भिन्नमनोरथतरोः फलम् ॥६०॥

श्रुत्वेति प्रत्युवाचेदं मुनिर्भूपालकर्णयोः । लग्नदन्तद्युतिव्याजात्सुधाधारा इवोद्गिरन् ॥६१॥

नेदृक् चिन्ताक्लमस्यासि वस्तुतत्त्वज्ञ भाजनम् । नेत्राधृष्यं क्वचित्तेजस्तमसा नाभिभूयते ॥६२॥

स्थापनाय । ज्ञातस्य हि पुनर्विज्ञप्तिका चर्वितचर्वणमिव ॥ ५५ ॥ इयमिति—असौ प्रियतमा फलयोग्ययौवनभरे वर्तमानापि मामनपत्या वाधते । यथा समयादिसामग्र्या प्रयुज्यमानापि क्रिया व्यवसायचेष्टाफलमनुत्पादयन्ती खेदयति । क्रिया हि फलाय न चेत्फलं किं क्रिययेति भावः ॥ ५६ ॥ अदृष्टेति—अहमपुत्रः सन् न केवलं पृथ्वीं भाराय मन्ये इष्टार्थप्रसवामपि वर्गत्रयकामदुघामपि स्पष्टं सर्वविदितम् ॥ ५७ ॥ चतुर्थेति—मम सांप्रतं मोक्षमभिलिप्सोरज्ञानात्पुत्रादर्शनमप्यसम्यक्त्वायते यथा मिथ्यात्वं मोक्षप्रतिषेधकं भवति तथा पुत्रादर्शनमपि प्रतिषेधकमिति भावः । कस्य राज्यं समर्प्य तपस्यामीत्यर्थः ॥ ५८ ॥ दशामिति—तावत्पुरुषस्य निर्वाणं प्रविव्रजिषोर्न प्रशस्यात् । किंविशिष्टस्यापीत्याह—अन्त्यां [1]दशां तारुण्योत्तीर्णामवस्थां प्राप्तस्यापि यावदन्यं पुत्रं कुलभारयोग्यं नोत्पादयेत् । तथा प्रदीपस्य निर्वाणमभाव इतरदीपप्रकाशे सत्येव प्रशस्यः[2] ॥ ५९ ॥ तत्कलत्र इति—तदिति प्रस्तुतवाक्ये, अस्माकमुद्गतमनोरथवृक्षस्य कदा फलं सुतलक्षणं भविष्यति । क्व उद्गतस्येत्याह—तत्र सुव्रतालक्षणे कलत्रे रसलीलायाः स्नेहसर्वस्वस्यालवालके स्थानके । यदि वा रसलीलालवात्माः कुन्तलास्तेषां के मस्तके । यस्य जलभरितस्थानके दुरूढवृक्षस्य कथं फलं न भवतीति चिन्ता प्रश्नस्थानम् ॥ ६० ॥ श्रुत्वेति—इत्युक्तं तद्भूपतिवचनं निशम्य मुनिः कालत्रयवेदी प्रतिवचनालापं चकार । नृपकर्णयोरमृतधारा इव क्षिपन् संबद्धदशनकिरणदण्डकव्याजात्[3] ॥ ६१ ॥ नेदृगिति—हे राजन्, पदार्थस्वभावज्ञ, एतावन्मात्रस्य चिन्तातापस्य स्थानं भवितुं नार्हसि येन यदा भाव्यं तेन तदैव भाव्यमिति तत्त्वं जानन्नपि किं खिद्यसे । इति भावः । यतो नेत्राधृष्यं ग्रीष्मादित्यीयं यत्तेजस्तत्क्वचिदपि क्षेत्रे समये वा ध्वान्तेन न पराभूयते ।

यह जो मेरी प्राणप्रिया पत्नी है वह सन्तानोत्पादनके योग्य समयमें स्थित होनेपर भी सन्तान रहित है अतः निष्फल क्रियाकी तरह मुझे अत्यन्त दुखी करती है ॥५६॥ यह पृथिवी यद्यपि मनोवांछित फलको उत्पन्न करनेवाली है फिर भी सन्तान न होनेसे इसे केवल अपना भार ही समझता हूँ ॥५७॥ मुझे मोक्ष पुरुषार्थकी बड़ी इच्छा है परन्तु मोहवश इस समय मेरे पुत्रका अदर्शन मिथ्यादर्शनका काम कर रहा है ॥५८॥ जिस प्रकार अन्तिमा दशा (बत्ती) को प्राप्त हुए दीपकका निर्वाण (बुझना) तब तक अच्छा नहीं समझा जाता जब तक कि वह किसी अन्य दीपकको प्रकाशित नहीं कर देता इसी प्रकार अन्तिम दशा (अवस्था) को प्राप्त हुए पुरुषका निर्वाण (मोक्ष) तब तक अच्छा नहीं समझा जाता जब तक वह किसी अन्य पुत्रको जन्म नहीं दे देता ॥५९॥ इसलिए हे भगवन् ! मैं जानना चाहता हूँ कि रसलीलाके आलवाल स्वरूप इस पत्नीके विषयमें उद्भिन्न—प्रकट हुए मेरे मनोरथ रूप वृक्षका फल कब निष्पन्न होगा ? ॥६०॥ यह सुन राजाके कानोंमें दाँतोंकी किरणोंके बहाने अमृतकी धाराको छोड़ते हुएके समान मुनिराज इस प्रकार बोले ॥६१॥ हे वस्तु स्वरूपके जानकार ! आप इस प्रकारकी चिन्तासे उत्पन्न खेदके पात्र नहीं हो । क्योंकि आँखोंमें चका-

१. 'दशा कर्मविपाकेऽपि स्याद्दशा वर्त्यवस्थयोः', इति विश्वलोचनः । २. उपमा । ३. उत्प्रेक्षा ।

धन्यस्त्वं [1]पुण्यपण्यानामापणस्त्वं महीपते । त्वमेव संश्रयः श्रीणां सरितामिव सागरः ॥६३॥
त्वत्कीर्तिजह्नुकन्याया इतो लोकत्रयातिथे । अन्तः [2]प्रपत्स्यते राजन्राजहंसश्रियं शशी ॥६४॥
न परं क्षत्रियाः सर्वे त्वामनु त्रिदिवेश्वराः । न ह्युदात्तस्य माहात्म्यं लङ्घयन्तीतरे स्वराः ॥६५
[3]क्षोदीयानहमस्मीति नात्मानमवजीगणः । भवितासि त्वमचिराज्जगत्त्रयगुरोर्गुरुः[4] ॥६६॥
गुणैर्घ[5]नोन्नते नूनं भवदावाग्निदीपितः । त्वज्जन्मना जनः शान्तिममृतेनायमेष्यति ॥६७॥
या चैषा भवतः पत्नी सुव्रता सुव्रताख्यया । ह्रेपयिष्यति सा वेलां रत्नकुक्षितयोदधेः ॥६८॥
संसारसारसर्वस्वं भूत्रयस्यापि भूषणम् । इदमेनोविषच्छेदि स्त्रीरत्नमिति बुध्यताम् ॥६९॥

अत्र राजतेजसोऽचिन्ताक्लमतमसोश्चोपमानोपमेयभावः[6] ॥ ६२ ॥ धन्य इति—हे राजन् ! त्वं धन्यः सर्वोत्तमः पुण्यपण्यानां पुण्यक्रयाणकानां प्राप्तिस्थानं तथाविधो भवानेव सर्वलक्ष्मीणामाश्रयो नदीनां समुद्र इव ॥ ६३ ॥ त्वदिति—जह्नुकीर्तेर्गङ्गाया भुवनत्रयपूज्याया मध्ये चन्द्रो राजहंसायिष्यते ॥ ६४ ॥ नेति—न केवलं क्षत्रिया राजानस्त्वामनु त्वत्सकाशात् हीनाः त्रिदशेश्वरा इन्द्रादयोऽपि हीना एव । केन दृष्टान्तेन । हि यस्मादर्थे न हि उदात्तस्य त्रिमात्रस्य स्वरस्य इतरे स्वरा एकमात्रा, माहात्म्यम् उच्चारणध्वनिं लङ्घयन्ति अतिक्रामन्ति । यदि वा धीरोदात्तस्य चक्रवर्तिन इतरे राजानो महत्त्वं न लङ्घयन्ति यतोऽमीश्वराः स्वेनैकेनात्मना राजन्ते न चक्रवर्तिवत्सर्वराजपरिवारिता इत्यर्थः[7] ॥ ६५ ॥ क्षोदीयानिति—हे राजन्, त्वमात्मानं मावमंस्था मनुष्यजन्माहमिति संभावयन् । त्वं जगत्त्रयगुरोर्देवदेवस्य पिता भविष्यसि त्वद्गृहे तीर्थकृदवतरिष्यतीति भावः ॥ ६६ ॥ गुणैरिति—गुणैः कृत्वा घना अनन्यसाधारणा उन्नतिर्यस्य स हे घनोन्नते[8] राजन् त्वज्जन्मना त्वत्तनूजेन अयं संसारी जनः शान्तिं सुखस्थितिं प्राप्स्यति अजरामरेण पक्षे घनोन्नतिजन्मना अमृतेन जलेन दावाग्निदीपिता वृक्षादयः शान्तिमुपयान्ति ॥ ६७ ॥ येति—या चेयं यौष्माकप्रिया सुव्रतानामधेया सा समुद्रस्य वेलां लज्जयिष्यति । न हि समुद्रवेलागर्भे किमपि तादृशं रत्नं यादृशं त्रिभुवनालंकरणमेषा धास्यतीति भावः ॥६८॥ संसारेति—हे राजन्निदमात्मकलत्रं स्त्रीरत्नमिति मन्येथाः । रत्नधर्मानारोपयन्नाह—

चौंध पैदा करने वाला तेज कहीं भी अन्धकारके द्वारा अभिभूत नहीं होता ॥६२॥ हे राजन् ! तुम धन्य हो, तुम पुण्य रूपी विक्रेय वस्तुओंके बाजार हो, जिस प्रकार कि नदियोंका आश्रय एक समुद्र ही होता है उसी प्रकार समस्त सम्पदाओंके आश्रय एक तुम्हीं हो ॥६३॥ आजसे लेकर तीनों लोकोंमें फैलनेवाली आपकी कीर्तिरूपी गङ्गानदीके बीच यह चन्द्रमा राजहंसकी शोभाको प्राप्त करेगा ॥६४॥ केवल सब राजा ही आपसे हीन नहीं हैं किन्तु सब देव भी आपसे हीन हैं वस्तुतः अन्य—अनुदात्तादि स्वर उदात्त स्वरके माहात्म्यका उल्लंघन नहीं कर सकते ॥६५॥ मैं क्षुद्र हूँ ऐसा समझ कर अपने आपका अनादर मत करो, तुम शीघ्र ही लोकत्रयके गुरु—पिता होने वाले हो ॥६६॥ हे राजन् ! तुम अपने गुणोंसे मेघके समान समुन्नत हो, संसार रूप दावानलसे पीडित हुए ये लोग तुम्हारे पुत्र रूप जलसे शान्तिको प्राप्त होंगे ॥६७॥ यह जो आपकी सदाचारिणी सुव्रता पत्नी है वह शीघ्र ही श्रेष्ठ गर्भ धारण कर समुद्रकी वेलाको लज्जित करेगी ॥६८॥ याद रखिए, यह स्त्री रत्न संसारका सर्व श्रेष्ठ सर्वस्व है, तीनों

---

१. गुणपण्यानां घ० म० । २. संपत्स्यते ख० छ० । ३. एष श्लोकः छपुस्तके नास्त्येव । ४. 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवः । ५. घनोन्नतैर्नूनं च० छ० । ६. अर्थान्तरन्यासः । ७. अप्रस्तुतप्रशंसा । ८. पक्षे घन इव मेघ इवोन्नतिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ हे घनोन्नते ।

क्षुद्रतेजःसवित्रीभिः स्त्रीभिर्दिग्भिरिवात्र किम् । धन्येयं या जगच्चक्षुर्ज्योतिः[1] प्राचीव धास्यति ॥
षण्मासादूर्ध्वमेतस्याः सरस्याः प्रतिमेन्दुवत् । चतुर्दशाधिको गर्भे दिवस्तीर्थकृदेष्यति ॥७१॥
कृतार्थाविति मन्येथामात्मानौ तद्युवामिह । न ह्यन्यो भविनां लाभः सुतादेवंविधात्परः ॥७२॥
जन्म वा जीवितव्यं वा गृहमेधाथवा द्वयोः । आकल्पं युवयोरेव यास्यति श्लाघ्यतामितः ॥७३॥

इत्थं [2]ग्रन्थमिव प्रमथ्य कृतिना तेनोरुचिन्ताभरं
वागर्थाविव तौ प्रसादमधिकं तं प्रापितौ दम्पती ।
अन्तर्गूढगभीरभावपिशुनं यं भावयन्तश्चिरा-
ज्जातास्ते प्रमदेन पीनपुलकप्रोल्लासिनः सज्जनाः ॥७४॥

अथ तथाविधभाविसुतोदयश्रवणतः प्रणतः पुनरप्यसौ ।
प्रमदगद्गदवागिति वाग्मिनां पतिरुवाच वचांसि मुनिं नृपः ॥७५॥

संसारसारस्य सर्वस्वमवधिभूतद्रव्यं जगत्त्रयचूडामणिस्थानं कल्मषविषदर्पहरम् ॥ ६९ ॥ क्षुद्रेति—अन्याभिः स्त्रीभिर्दिग्व्याभिर्वा किं कार्यं न किमपीत्यर्थः । अल्पप्रभाववत्पुरुषजननीभिः । इयं भवत्पत्न्येव धन्या जगच्चक्षुस्त्रिभुवनभासकं तीर्थकरलक्षणं ज्योतिस्तेज उत्पादयिष्यति । यथा पूर्वा जगच्चक्षुरादित्याभिधानं दधातीति ॥ ७० ॥ षण्मासादिति—षण्मासानन्तरं भवत्पत्न्या अस्याः कुक्षौ पञ्चदशतीर्थकरोऽवतरिष्यति गर्भे बाधाविवर्जितः सरस्या गर्भे चन्द्रप्रतिबिम्बमिव दिवः सर्वार्थसिद्धेर्विमानात् ॥ ७१ ॥ कृतार्थाविति—तत्तस्मात्सिद्धसाध्यायुवामात्मानौ कृतार्थौ लब्धसांसारिकफलसर्वस्वौ जानीतां नह्येवंविधाज्जगदुद्धरणधीरात्सुतात्संसारिणामन्यः श्लाघ्यतमलाभोऽस्ति ॥ ७२ ॥ जन्मेति—आकल्पार्कमाचन्द्रार्कं भवतोरेव श्लाघ्यतां जन्मादिकं यास्यति गृहमेधा गृहस्थत्वम् ॥ ७३ ॥ इत्थमिति—इत्थमिति कथ्यमानसंहारे प्रकारे च तेन मुनिना चिन्तां निर्णाश्य तौ जायापती प्रकाशप्रमोदं लम्भितौ यं प्रसादं ध्यायन्तः स्वजना हर्षेण कठोरपुलककण्टकिनो बभूवुः । यथा कश्चित्कृती कवीन्द्रो ग्रन्थमनेकशास्त्ररहस्यं पौन.पुन्येन विचार्य वाक् चार्थश्च वागर्थौ प्रसादलक्षणं गुणं प्रापयति यं क्षोदक्षमगभीरमर्थं संविचारयन्तो रसज्ञाः पुलकिता भवन्ति[3] ॥ ७४ ॥ अथेति—अथानन्तरं पुनरप्यसौ

लोकोंका आभूषण है और पाप रूपी विषको नष्ट करनेवाला है ॥६९॥ क्षुद्रतेजको उत्पन्न करनेवाली दिशाओंकी तरह अन्य स्त्रियोंसे क्या लाभ ? यही एक धन्य है जो कि पूर्व दिशाकी भाँति अपनी ज्योतिसे संसार-भरके नेत्रोंको धारण करेगी—सन्तुष्ट करेगी [जिस प्रकार पूर्व दिशा जगच्चक्षु–सूर्यको धारण करती है उसी प्रकार यह तीर्थंकर रूप ज्योतिको धारण करेगी] ॥७०॥ जिस प्रकार सरसीके बीच चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब अवतीर्ण होता है उसी प्रकार छह मास बाद इस सुव्रताके गर्भमें स्वर्गसे पन्द्रहवें तीर्थंकर अवतीर्ण होंगे ॥७१॥ इसलिए आप दोनों अपने आपको कृतकृत्य समझो क्योंकि संसारी प्राणियोंके ऐसे पुत्रसे बढ़कर अन्य लाभ नहीं होता ॥७२॥ आजसे लेकर तुम दोनोंका ही जन्म, जीवन अथवा गार्हस्थ्य कल्पान्तकाल तक प्रशंसाको प्राप्त होता रहेगा ॥७३॥ जिस प्रकार कुशल टीकाकार किसी ग्रन्थके कठिन स्थलकी व्याख्या कर शब्द और अर्थको अत्यन्त सरल बना देता है जिससे अत्यन्त गूढ़ एवं गम्भीर भावको सूचित करनेवाले उस अर्थका चिन्तन करते हुए पुरुष चिरकाल तक आनन्दित होते रहते हैं उसी प्रकार उन कुशल मुनिराजने विशाल चिन्ताका भार नष्ट कर उन दोनों दम्पतियोंको अधिक प्रसन्न किया था जिसमें गूढ़ तत्त्वको सूचित करनेवाले उस भावी पुत्रका चिरकाल तक चिन्तन करते हुए सज्जन पुरुष आनन्द से रोमांचित हो उठे ॥७४॥ तदनन्तर मेरे तीर्थंकर पुत्रका जन्म होगा—यह समाचार सुनकर जो अत्यन्त नम्र हो

---

१. ज्योति ग० च० । द्योभिः छ० म० । २. ग्रन्थिमिव घ० च० म० । ३. यथा कश्चित्कृती व्याख्याता नैकशास्त्ररहस्यं समुद्घाट्य शब्दार्थौ सरलतां प्रापयति तेन च तद्रहस्यं चिन्तयन्तो लोकाश्चिरं परमानन्दं प्राप्नुवन्ति तथात्रापीति भावः । उपमालंकारः शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ।

स्वर्गं सम्प्रति कं पुनात्ययमथो कुत्रास्य जन्मन्यभू-
ल्लाभस्तीर्थकरत्वदानसुहृदः सम्यक्त्वचिन्तामणेः।
इत्थं वाग्भववैभवव्यतिकरं त्वं ब्रूहि जन्मार्णवो-
त्तीर्णस्यास्य भविष्यतो जिनपतेः शुश्रूषुरेषोऽस्म्यहम् ॥७६॥

इति प्रीतिप्रायं बहलपुलकस्यास्य सकलं कलङ्कातङ्कानामपशकुनमाकर्ण्य वचनम्।
मुनिः स्पष्टं द्रष्टुं तदपरभवोदारचरितं प्रकर्षेणाकार्षीदवधिनयनोन्मीलनविधिम् ॥७७॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये मुनिदर्शनो नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

नृपस्तं मुनिं वचांसि बभाषे सुवचसां पतिर्हर्षस्खलितवाक् अद्भुतप्रभावभविष्यत्पुत्रोदयाकर्णनात्प्रणतो विनयपरः ॥ ७५ ॥ स्वर्गमिति—हे वाग्भववैभव, वाग्ब्रह्मलक्ष्मीक, अस्य संसारसमुद्रोत्तीर्णस्य भविष्यज्जिनस्य व्यतिकरं कथासंबन्धं कथय अहं श्रोतुमिच्छुरस्मि। किं कथमित्याह—सांप्रतमसौ कं स्वर्गं पालयति। कस्मिन् जन्मन्यस्य सम्यक्त्वचिन्तामणे रत्नत्रयचिन्तारत्नस्य। किंविशिष्टस्य तीर्थकरत्वदानसुहृदः तीर्थकरत्वलक्षणं यच्चिन्तितदानं तस्य सुहृद् दाता तस्य। सांप्रतं कस्मिन् स्वर्गेऽस्ति। कस्मिन् जन्मनि सम्यक्त्वलाभो बभूवेति प्रतिपादयेति भावः[2] ॥ ७६ ॥ इतीति—मुनिरवधिज्ञानलोचनप्रयोजनविधिं चकार। तस्य जन्मान्तरकथां स्पष्टमेव लोकयितुं प्रकर्षेण विशेषेण। अस्य पुलकितस्य राज्ञः परिपूर्णवचनं निशम्य दोषभयानां प्रतिषेधकं तीर्थकृतचरित्रं कथयतो न कोऽपि मौनभङ्गदोषः। प्रीतिप्रायं स्नेहसदृशम्[3] ॥७७॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशस्कीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

रहा है ऐसे प्रशस्त वचन बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ राजा महासेनने हर्षसे गद्‌गद होकर मुनिराजसे पुनः इस प्रकारके वचन कहे ॥७५॥ हे वचनवैभवको धारण करनेवाले मुनिराज! इस समय यह किस स्वर्गको पवित्र कर रहा है! और तीर्थंकर पद की प्राप्तिमें कारणभूत सम्यग्दर्शनरूपी चिन्तामणिकी प्राप्ति इसे किस जन्ममें हुई!—यह सब कहिए। मैं संसार समुद्रसे पार हुए इस भावी जिनेन्द्रदेवके कथा सम्बन्धको सुनना चाहता हूँ ॥७६॥ इस प्रकार आनन्द से रोमांचित राजा महासेनके प्रीतिसे भरे एवं पापके आतंकको नष्ट करनेवाले समस्त वचन सुनकर प्रचेतस् मुनिराजने भावी जिनेन्द्रके पूर्वभवका उदार चरित स्पष्ट रूपसे जाननेके लिए अपना अवधिज्ञानरूपी नेत्र खोला ॥७७॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्रविरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें मुनिदर्शनका वर्णन करनेवाला तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥३॥

---

१. द्रुतविलम्बितवृत्तम्। २. शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्। ३. शिखरिणीच्छन्दः 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति लक्षणात्।

चतुर्थः सर्गः

अथापनिद्रावधिबोधचक्षुः स्वहस्तमुक्तावदवेक्षमाणः[1] ।
जिनस्य तस्यापरजन्मवृत्तं वृत्तान्तसाक्षीव मुनिर्बभाषे ॥१॥

यत्पृष्टमिष्टं भवतार्थसिद्ध्यै तत्पार्थिवाकर्णय वर्ण्यमानम् ।
कथा कथंचित्कथिता श्रुता वा जैनी यतश्चिन्तितकामधेनुः ॥२॥

स धातकीखण्ड इति प्रसिद्धे द्वीपेऽस्ति विस्तारिणि पूर्वमेरुः ।
नभो निरालम्बमवेक्ष्य केनाप्युत्तम्भितस्तम्भ इवेक्ष्यते यः ॥३॥

विभूषयन्पूर्वविदेहमस्य सीतासरिद्दक्षिणकूलवर्ती ।
एकोऽप्यनेकेन्द्रियहर्षहेतुर्वत्साभिधानो विषयोऽस्ति रम्यः ॥४॥

राजन्ति यत्र स्फुटपुण्डरीकप्रकाशिनः [3]शाड्वलशालिवप्राः ।
च्युता निरालम्बतया कथंचिदाकाशदेशा इव चारुताराः ॥५॥

अथेति—अथ प्रश्नानन्तरं तस्य धर्मनाथजिनस्य पूर्वजन्मान्तरचरित्रं मुनिरुवाच करतलमुक्ताफलवत् पश्यन् किंविशिष्टः सन्नित्याह—विकसितावधिज्ञानलोचनः । क इव । वृत्तान्तसाक्षीव वृत्तान्ते साक्षी समीपस्थ-प्रतिपाद्य इव[4] ॥ १ ॥ यदिति—यदभिप्रेतं त्वया पृष्टं तन्मनोरथसिद्ध्यै कथ्यमानं शृणु यतः कारणाज्जैनी कथा कथकश्रावकयोरपि चिन्तितप्रदानम् ॥ २ ॥ स इति—धातकीखण्डनाम्नि प्रसिद्धं सविस्तरद्वीपे पूर्वमेरुरस्ति यः केनचित्समारोपितकाञ्चनस्तम्भ इव दृश्यते निरालम्बनभसः पतनशङ्कया[5] ॥ ३ ॥ विभूषयन्निति—वत्साभिधानो देशस्तत्रास्ति । किंविशिष्टः । सीतानामधेया सरिन्नदी तस्या दक्षिणतटे वर्तत इति सः । किं कुर्वन् । तस्यैव मेरोः पूर्वविदेहाख्यक्षेत्रमलंकुर्वन् । सर्वेन्द्रियप्रमोदकारणम् अथ चैकेन विषयेण स्पर्शादिविषय-मध्यगेन एकस्यैवेन्द्रियस्य प्रमोद उत्पद्यते न पञ्चेन्द्रियाणामिति विरोधः[6] ॥ ४ ॥ राजन्तीति—यत्र देशे हरितशालिकेदारा अन्तरान्तरा विकसितपुण्डरीकमिश्राः प्रतिभान्ति अनालम्बत्वेन पतिताः सतारका नीलाकाश-

---

तदनन्तर जिनका अवधिज्ञान रूपी नेत्र खुल रहा है, और जो अपने हाथपर रखे हुए मुक्ताफलकी तरह समस्त वृत्तान्तको स्पष्ट देख रहे हैं ऐसे प्रचेतस् मुनिराज भावी तीर्थंकरके पूर्व जन्मका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगे मानो वह वृत्तान्त वे साक्षात् ही देख रहे हों ॥१॥ हे राजन् ! प्रयोजनकी सिद्धिके लिए जो तुमने इष्ट वार्ता पूछी है मैं उसे कहता हूँ सुनो, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान्की कथा किसी भी प्रकार क्यों न कही अथवा सुनी जाय चिन्तित पदार्थको पूर्ण करनेके लिए कामधेनुके समान है ॥२॥ धातकीखण्ड इस नामसे प्रसिद्ध बड़े भारी द्वीपमें वह पूर्वमेरु है जो कि आकाशको निराधार देख किसी धर्मात्मा द्वारा खड़े किये हुए खम्भेकी तरह दिखाई देता है ॥३॥ इस मेरुसे पूर्व विदेह क्षेत्रको सुशोभित करता हुआ सीता नदीके दक्षिण तटपर स्थित वत्स नामका वह रमणीय देश है जो कि एक होकर भी अनेक इन्द्रियोंके हर्षका कारण है ॥४॥ जिस देशमें खिले हुए कमलोंसे सुशोभित हरी-हरी घाससे युक्त धानके खेत ऐसे जान पड़ते हैं मानो निराधार होनेके कारण किसी तरह गिरे

---

१. अवेक्ष्यमाणः घ० इ० म० च० । २. -प्युज्जृम्भितः स्तम्भ घ० म० । ३. शाद्वल घ० म० । ४. उपजातिवृत्तम् । ५. उत्प्रेक्षा । ६. एकोऽद्वितीयः विषयो जनपद इति परिहारः ।

उद्गायतीव भ्रमदिक्षुयन्त्रं चीत्कारनादैः श्रुतिसुन्दरैर्यः ।
प्रनृत्यतीवानिललोलसस्यैः स्वसंपदुत्कर्षमदेन मत्तः ॥६॥

अग्रे भजन्तो विरसत्वमन्तः सग्रन्थयो निष्फलमुन्नमन्तः ।
अचेतना इक्षव एव यत्र निष्पील्यमाना[1] रसमुत्सृजन्ति ॥७॥

द्रष्टुं चिरेणात्मकुलप्रसूतां श्रियं विशिष्टाभ्युदयामुपेताः ।
यस्मिन्नुदन्वन्त इवावभान्ति विस्फारिताम्भोजदृशस्तडागाः ॥८॥

फलावनम्राम्रविलम्बिजम्बूजम्बीरनारङ्गलवङ्गपूगम् ।
सर्वत्र यत्र प्रतिपद्य पान्थाः पाथेयभारं पथि नोद्वहन्ति ॥९॥

यत्रानुकूलं ज्वलदर्ककान्तैर्विलीनकार्तस्वरपूरशङ्काम् ।
मध्यंदिनेऽम्भोजरजःपिशङ्गं क्षणं विधत्तेऽम्बु तरङ्गिणीनाम् ॥१०॥

विभागा इव ॥५॥ उद्गायतीति–यो देश आत्मविभवातिशयमदेन विह्वल इव पील्यमानेक्षुयन्त्रनादैरुद्गायतीव च अनिलान्दोलितसस्यभूभागैर्नटतीव । मत्तस्य हि गाननृत्यादिका क्रिया प्रशस्यते[2] ॥६॥ अग्र इति—यत्र देशे एवंप्रकारा इक्षवः अग्रे आयतिपरिणामे विरसत्वं विरागित्वमाश्रयन्तः अन्तः सग्रन्थयो हृदयकठिना निष्फलमुन्नमन्तोऽस्थानकृतोरुप्रयासा अचेतना अज्ञानिनो लोभाग्रहान्निःपीडयमाना एव रसं द्रव्यमुत्सृजन्ति न पुरुषाः पक्षे इक्षुलतायाः स्वभावोऽयं यत्प्रान्ते नीरसता मध्ये ग्रन्थिलता निष्फलता अचेतनता यन्त्रनिपीलनेन रसत्यागः ॥७॥ द्रष्टुमिति—यस्मिन् देशे विकसितपद्मलोचनास्तडागाः समुद्रा इव भान्ति चिरप्रवासितां निजतनूजां लक्ष्मीं विशिष्टाभ्युदयां संजातातिशयप्रभावां द्रष्टुमिवागताः । यथा कश्चिदात्मदुहितरं प्रणेतृगृहे प्राप्तविशेषश्रीकां चिरविरहितो विस्फारितलोचनोऽतिस्नेहाद्द्रष्टुमागच्छति[3] ॥८॥ फलेति—यत्र पान्थाः संबलं ताम्बूलादिकं मार्गे न गृह्णन्ति । पदे पदे फलपाकभरभूलुठितशाखान् चूतादिवृक्षान् नागवल्लीक्रमुकांश्चावलोक्य ॥९॥ यत्रेति—यत्र पिङ्गपद्मरागपिङ्गलं नदीनां जलं गलितस्वर्णरसप्रवाहभ्रमं जनयति । कैः कृत्वेत्याह—ज्वालाजटालसूर्यकान्तैस्तटसमीपे

हुए सुन्दर ताराओंसे शोभित आकाशके प्रदेश ही हों ॥ ५ ॥ जो देश इक्षुपीडन यन्त्रोंके कर्णकमनीय शब्दोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो गा ही रहा हो और मन्द-मन्द वायुसे हिलते हुए धानके पौधोंसे ऐसा मालूम होता है मानो अपनी सम्पत्तिके उत्कर्षके मदसे नृत्य ही कर रहा हो ॥ ६ ॥ जिस देशमें अग्रभागमें नीरसता धारण करनेवाले, मध्यमें गठीले, और निष्फल बढ़नेवाले अचेतन इक्षु ही पेले जाने पर रस छोड़ते हैं। वहाँ ऐसे मनुष्य नहीं हैं जो प्रारम्भमें नीरस हों, हृदयमें गाँठदार—कपटी हों, और निष्प्रयोजन बढ़ते हों ॥ ७ ॥ जिस देशमें कमलोंसे सुशोभित तालाब ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने कुलमें उत्पन्न वैभवशालिनी लक्ष्मीको देखनेके लिए चिरकाल बाद समुद्र ही आये हों और उन्होंने कमलों के बहाने मानो नेत्र ही खोल रखे हों ॥ ८ ॥ जिस देश में पथिकोंको सर्वत्र फलसे झुके हुए आम, जामुन, जम्बीर, सन्तरे, लौंग और सुपारियों के वृक्ष मिलते हैं अतः वे व्यर्थ ही पाथेयका बोझ नहीं उठाते ॥ ९ ॥ जिस देश में मध्याह्नके समय कमलोंकी परागसे पीला-पीला दिखनेवाला नदियोंका पानी ऐसा सन्देह उत्पन्न करने लगता है मानो किनारेके समीप जलते हुए सूर्यकान्त मणियोंकी गर्मीसे कहीं लटका सोना ही तो गलकर नहीं भर गया है, ॥ १० ॥

---

१. निष्पीडयमाना घ० म० । २. उत्प्रेक्षा । ३. तथोदन्वन्तोऽपि समागता इति भावः । उत्प्रेक्षा ।

८

काले प्रजानां जनयन्ति तापं करा रवेरेव न यत्र राज्ञः ।
स्याद्भोगभङ्गोऽपि भुजङ्गमानां [1]स्वस्थे कदाचिन्न पुनर्नराणाम् ॥११॥

तटे तटिन्यास्तरवः समृद्धिं संप्राप्य यत्र प्रतिनिष्क्रयाय ।
छायाच्छलात्तज्जलदेवताभ्यो दातुं फलानीव विशन्ति मध्ये ॥१२॥

निर्माय निर्माय पुरीः सुराणां यच्छिक्षितं शिल्पकलासु दाक्ष्यम् ।
तस्यैव धात्रा विहितास्ति तत्र प्रकर्षसीमा नगरी सुसीमा ॥१३॥

नितम्बभूचुम्बिवनान्तरीया यानावृतोच्चैस्तनवप्रभागम् ।
वातोच्छलत्पुष्परजःपटेन ह्रीता वधूवत्स्वमुपावृणोति ॥१४॥

अधृष्यमन्यैरधिरुह्य सालं नीलाश्मकूटांशुमिषेण यस्याः ।
रुणद्धि रुद्धो बहुधान्धकारः क्रुधेव तिग्मांशुकरप्रचारम् ॥१५॥

मध्याह्ने[2] ॥१०॥ काल इति—यत्रादित्यस्यापि किरणाः काले मध्य एव यदि तापं जनयन्ति न मरुस्थलीवत्सर्वदिवसं, न भूपते राजदेयभागाः । यदि च विलासभङ्गः स्यात्तदा सर्पाणामेव भोगभङ्गो, न पुनर्नृणां मध्ये कस्मिंश्चिदपि पुरुषे । परिसंख्येयमलंकृतिः ॥११॥ तट इति—यत्र नद्या सकाशात्फलपुष्पादिकां संपदमवाप्य प्रतिबिम्बदम्भात् नदीजलदेवतागणाय फलानीव दातुं वृक्षा मध्ये प्रतिनिष्क्रयाय प्रत्युपकाराय । तत्राचेतना वृक्षा अपि न कृतघ्ना इति भावः ॥१२॥ अथ नगरीं वर्णयितुमाह—निर्मायेति—तत्र सुसीमानगर्यस्ति यातिशयावधिर्ब्रह्मणा कृता । कस्यातिशयावधिरित्याह—तस्य दाक्ष्यस्य कलाकौशलस्य यत्पौनःपुन्येनामरनगरकरणादभ्यस्तम् ॥१३॥ नितम्बेति—या नगरी अनाच्छादितोच्चैस्तनप्राकारभागमात्मीयं पिदधाति । वातोद्धूतकुसुमपरागवसनेन नितम्बभूप्राग्भारस्तत्र भुवि संश्लेषिवनान्येवान्तरीयमधोवसनं यस्याः सा तथाविधा । अन्यापि सान्तरीया आत्मोच्चपयोधरभागमनावृतं वीक्ष्य लज्जमाना पुष्पवासितोत्तरीयेणावृणोति ॥१४॥ अधृष्यमिति—यस्या नगर्या इन्द्रनीलकपिशीर्षककिरणजालव्याजेन अन्यापरिभूतं प्राकारमारुह्यान्धकार आदित्यकरप्रचारं निवारयति । अन्यत्र बहुधा रुद्धः कोटिशः परिभूत इति क्रोधेनेव । अत्युच्चैस्तरत्वात्प्राकारस्यास्तामन्यप्रतिपक्ष

जिस देशमें सूर्यकी किरणें ही समय पाकर प्रजाको सन्ताप पहुँचाती थीं, राजाके कर—टैक्स नहीं। इसी प्रकार भोगभङ्ग—फणा का नाश अथवा शरीरकी वक्रता यदि होता था तो सर्पोंके ही होता था। वहाँके मनुष्योंके स्वस्थ रहते हुए भोगभङ्ग—विषयका नाश नहीं होता था ॥ ११ ॥ जिस देशमें नदियोंके किनारेके वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो वहाँ वृद्धि पाकर बदला चुकाने की भावनासे छायाके बहाने जलदेवताओंको फल देनेके लिए ही भीतर प्रवेश कर रहे हों ॥ १२ ॥ उस देशमें विधाताने देवोंकी नगरियोंको बना-बनाकर शिल्पकलामें जो कुछ चातुर्य सीखा है उसकी अन्तिम सीमाकी तरह विधाताके द्वारा बनायी हुई सुसीमा नामक नगरी है ॥ १३ ॥ वनरूपी वस्त्र उस नगरीके नितम्ब तुल्य भूमिका चुम्बन कर रहे थे, प्राकार आदि उन्नत प्रदेश वन रहित होनेके कारण अनावृत थे और वायुके वेगसे उड़-उड़ कर फूलोंका कुछ-कुछ पराग उन उन्नत प्रदेशों पर पड़ रहा था जिससे वह नगरी उस लजीली स्त्रीकी तरह मालूम होती थी जिसका कि उत्तरीय वस्त्र ऊपरसे खिसककर नीचे आ गिरा हो, पीन स्तन खुल गये हों और जो वस्त्र द्वारा अपने खुले हुए स्तन आदिको ढँक रही हो ॥ १४ ॥ यतश्च सूर्य अन्धकारको सर्वत्र रोका करता है अतः अन्धकार नीलमणिमय शिखरोंके बहाने उस नगरीके ऊँचे प्राकार पर चढ़कर क्रोधसे सूर्यकी किरणोंके प्रसारको ही मानो रोक रहा

---

१. सुस्थे क० । २. संशयालंकारः ।

यत्रोच्चहर्म्याग्रजुषामुदग्रात्पश्यन्मुखेन्दून्निशि सुन्दरीणाम् ।
ग्राह्ये तुषारत्विषि जातमोहः क्षणं भवेत्पर्वणि सैंहिकेयः ॥१६॥

कामं प्रति प्रोज्झितकृष्णवर्त्मा दृष्ट्यापि देहीति निमील्य शब्दम् ।
लोके दधानोऽपि महेश्वरत्वं न दृश्यते यत्र जनो विषादी ॥१७॥

यत्रोच्चहर्म्याग्रहरिन्मणीनां प्रभासु दूर्वाङ्कुरकोमलासु ।
क्षणं क्षिपन्तो वदनान्यनूरुं रवेस्तुरङ्गाः परिखेदयन्ति ॥१८॥

व्यापार्य सज्जात्मकसंनिवेशे करानभिप्रेङ्खति यत्र राज्ञि ।
द्रवत्यनीचैःस्तनकूटरम्या कान्तेव चन्द्रोपलहर्म्यपङ्क्तिः ॥१९॥

आदित्योऽपि । तमस्तक्रमधिरुह्य तापयतीति भावः[1] ॥१५॥ यत्रेति—यत्र सैंहिकेयो राहुः पर्वणि ग्रहणदिने उपरज्यचन्द्रे जातभ्रान्तिः स्यात् । किं कुर्वन्नित्याह—उच्चैस्तरशुद्धसौधचूलिकास्थितानां विलासिनीनां मुखचन्द्रान् पश्यन् । तत्रस्थश्चन्द्रोऽपि न तमसा पराभूयते किं पुनः शरणागतः[2] ॥१६॥ काममिति—यत्र जनो महापतित्वं दधानोऽपि न विषादी न दुःखयुक्तः । यः किंविशिष्टः । प्रोज्झितकृष्णवर्त्मा प्रोज्झितं त्यक्तं कृष्णं पापलोभात्मकं वर्त्माचरणं येन स तद्विधः । दृष्ट्यापि दर्शनमात्रेणापि याचकानां देहीति शब्दं निर्मार्ज्य तथा कृतार्थिता यथा देहीति न वदन्ति याचकाः । कामं प्रति अतिशयेनेत्यर्थः । अथ च दृष्ट्या तृतीयाक्षेण स्मरं प्रति मुक्ताग्निशिखः शम्भुः । किमर्थमित्याह—देहीति सदेहोऽयमिति काम इति वार्तामपि निमील्य अनङ्गीकृत्येत्यर्थः । य एवं स्यान्महेश्वरः स विषादी विषमत्तीति सः । अयं च जातो न तथा । अतिविरोधः ॥१७॥ यत्रेति—यत्रादित्यतुरङ्गाः सारथिं व्याकुलयन्ति दूर्वाग्रासलालसाः सन्तः उच्चैरिन्द्रनीलगृहकूटकिरणैर्विप्रतारिताः । अतश्च पुनःपुनर्नोदिता अपि न चलन्तीति खेदकारणम् । भ्रान्तिमानलंकारः ॥१८॥ व्यापार्येति—यत्र चन्द्रकान्तगृहश्रेणी श्चोतति परमोदयं चन्द्रे प्रयाति । स किं कृत्वा प्रेङ्खतीत्याह—उच्चप्रधानजालिकाप्रदेशे प्रथमतः किरणान् प्रसार्य । अथ च सज्जायुक्ता मालादिनालंकृताश्च तेऽलकाश्च तेषु गृहीत्वा

है ॥ १५ ॥ जिस नगरीमें रात्रिके समय ऊँचे-ऊँचे महलोंकी छतों पर बैठी हुई स्त्रियोंके मुख देखकर पूर्णिमाके दिन राहु अपने ग्रसने योग्य चन्द्रमाके विषयमें क्षण भरके लिए भ्रान्त हो जाता है—धोखा खा जाता है ॥ १६ ॥ उस नगरीके लोगोंने कामदेवके प्रति अपनी दृष्टिसे अग्नि छोड़कर उसे शरीर रहित किया है [पक्षमें काम-सेवनके लिए मलिन मार्ग छोड़कर 'देहि' इस याचना शब्दको नष्ट किया है] और इस तरह वे महेश्वरपना [पक्षमें धनाढ्यपना] धारण करते हैं फिर भी विषादी—विषपान करनेवाले [पक्षमें खेदयुक्त] नहीं देखे जाते—यह आश्चर्य है ॥ १७ ॥ जिस नगरीमें दूर्वाके अङ्कुरके समान कोमल ऊँचे-ऊँचे महलोंके अग्रभागमें लगे हुए हरे-हरे मणियोंकी प्रभामें मुँह डालते हुए सूर्यके घोड़े अपने सारथिको व्यर्थ ही खेदयुक्त करते हैं ॥ १८ ॥ जब प्राणवल्लभ सँभले हुए केशोंके बीच धीरे-धीरे अपने हाथ चलाता है तब जिस प्रकार पीन स्तनोंसे सुशोभित स्त्री कामसे द्रवीभूत हो जाती है उसी प्रकार जब राजा—चन्द्रमा उस नगरीके सुन्दर झरोखोंके बीच धीरे-धीरे अपनी किरणें चलाता है तब ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे सुशोभित उस नगरीकी चन्द्रकान्तमणि निर्मित महलोंकी

---

१. अपह्नवोत्प्रेक्षे । २. भ्रान्तिमानलंकारः ।

प्रक्षिप्य पूर्वेण मही महीभृत्करेण यान्स्वीकुरुतेऽपरेण ।
अन्तर्ययाप्तुं ग्रहकन्दुकांस्तान्हस्ता जिनागारमिषादुदस्ताः ॥२०॥

सारेषु रत्नेषु यया गृहीतेष्वब्धिर्वृथा वीचिभुजैः प्रनृत्यन् ।
रत्नाकरत्वेन न लज्जते यत्ततः स मे भाति जडस्वभावः ॥२१॥

मुहुर्मुहुः स्फाटिकहर्म्यभित्तौ निरीक्ष्य रागापनिनीषयास्ये ।
स्वच्छामपि क्रान्तरदच्छदाभां दन्तच्छविं यत्र वधूः प्रमार्ष्टि ॥२२॥

स्वस्थो धृताछद्मगुरूपदेशः श्रीदानवारातिविराजमानः ।
यस्यां करोल्लासितवज्रमुद्रः पौरो जनो जिष्णुरिवावभाति ॥२३॥

कस्मिंश्चिद्भूपतौ सर्वाङ्गं स्पृशति कापि कान्ता द्रवतीति प्रसिद्धमेव ॥१९॥ प्रक्षिप्येति—यया नगर्या जिनचैत्यालयमिषात् प्रगुणिता हस्ताः । किं कर्तुमित्याह—ग्रहा एव कन्दुकास्तान् गृहीतुं मार्गान्तराले यान् कन्दुकान् । पृथ्वी पूर्वाचलकरेणोच्चलयन्ती चरमाचलेन गृह्णीते । पूर्वाचलसदृशा जिनालया इत्यर्थः ॥२०॥ सारेष्विति—यदसौ जलधिरर्थेन शून्येन रत्नाकरत्वेन न जिह्रेति ततो ममायं [1]जडस्वभावः प्रतिभाति । कुतोऽस्य मूर्खत्वमित्याह—यया नगर्या सारेषु गृहीतेष्वपि असौ न विलक्षः किन्तु विशेषत एव निरर्थकं नृत्यत्येव लहरीबाहुभिः । अन्योऽपि यः कश्चिन्मूर्खः सोऽपि सहर्ष इति लक्षयितव्यः[2] ॥२१॥ मुहुरिति—यत्र मुग्धस्त्री शुभ्रनिर्मलामपि दन्तश्रेणीं घर्षयति संजातबिम्बाधररागप्रतिमाम् । किमर्थं प्रमार्ष्टीत्याह—रागापनिनीषया ताम्बूलरसरागनिर्माजनाय स्फाटिकगृहभित्तौ निजमुखं पश्यन्ती दन्तेष्वधरच्छायां दन्तरागमिव मन्यत[3] इत्यर्थः ॥२२॥ स्वस्थ इति—यत्र पौरलोकः शक्र इव शोभते । किंविशिष्ट इत्याह—स्वस्थः परिपूर्णमनोरथो धृतोऽच्छद्मना त्रिधाशुद्धत्वेन गुरूणामुपदेशो येन स तथा । श्रीदानं श्रीवितरणं तस्य वारोऽप्रतिषेधस्तेनातिशोभमानः । करे उल्लासिता वज्रमुद्रा हीरकाङ्गुलीयिका यस्य सः । स्वर्गस्थो धृतसाधुबृहस्पतिमन्त्रः श्रीदैत्यारिणा विराजमानः

पंक्ति भी द्रवीभूत हो जाती है—उस से पानी झरने लगता है ॥ १९ ॥ पृथिवी जिन गृहरूपी गेदोंको पूर्वाचल रूप हाथसे उछालकर अस्ताचल रूप दूसरे हाथसे झेल लिया करती है उन्हें बीचमें ही लेनेके लिए इस नगरीने जिन मन्दिरोंके बहाने मानो बहुत-से हाथ उठा रखे हैं ॥ २० ॥ समुद्रके जितने सार रत्न थे वे सब इस नगरीने ले लिये हैं फिर भी वह तरङ्गरूपी भुजाओंको फैलाकर नृत्य कर रहा है और अपने आपको रत्नाकर कहता हुआ लज्जित नहीं होता इसीलिए वह मुझे जड़ स्वभाव—मूर्ख [पक्ष में जल स्वभाव] जान पड़ता है ॥ २१ ॥ एक विचित्र बात सुनो । वहाँ किसी स्त्रीके दाँतोंकी पंक्ति बहुत ही स्वच्छ है परन्तु ओठ की लाल-लाल प्रभासे उसमें कुछ-कुछ लाली आ गयी । यतश्च वह भी अपने मुँहमें लाली रहने ही न देना चाहती है अतः स्फटिक मणिसे बने हुए मकानकी दीवालमें देख-देखकर दाँतोंको बार-बार साफ करती है ॥ २२ ॥ जिस सुसीमा नगरीके नागरिकजन ठीक इन्द्रकी तरह जान पड़ते हैं क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र निष्कपट भावसे बृहस्पतिका उपदेश धारण करता है, उसी प्रकार नागरिकजन भी निष्कपट भावसे अपने गुरुओंका उपदेश धारण करते हैं, जिस प्रकार इन्द्र श्रीदानवाराति—लक्ष्मीसहित उपेन्द्रसे सुशोभित है उसी प्रकार नागरिकजन भी श्रीदानवारा—सम्पत्ति का दान करनेके लिए संकल्पनार्थ लिये हुए जलसे अति विराजमान—सुशोभित हैं और जिस प्रकार इन्द्रके हाथमें वज्र नामक शस्त्र समुल्लसित है उसी

---

१. धूर्तनिसर्गः, पक्षे डलयोरभेदात् जलस्वभावः । २. यया सारेषु रत्नेषु गृहीतेषु सागरस्य रत्नाकरत्वं हास्यास्पदमस्तीति भावः । ३. तद्गुणभ्रान्तिमन्तौ ।

तद्यत्र चित्रं यदणीयसापि स्नेहेन हीनाः स्मरदीपिकास्ताः ।
नैतत्पुनर्यन्नकुलप्रसूता भुजङ्गमोहं जनयन्ति वेश्याः ॥२४॥

यां सारसर्वस्वविधानकुम्भीं संवेष्ट्य शश्वत्परिखामिषेण ।
उद्भिद्य पातालतलान्युदीर्णा विषप्रपूर्णा भुजगी प्रयाति ॥२५॥

निःशेषनम्रावनिपालमौलिमालारजःपिञ्जरितांह्रिपीठः[1] ।
स भूपतिस्तत्र बभूव शास्ता रथं जना यं दशपूर्वमाहुः ॥२६॥

अनेन कोपज्वलनेन दग्धाः सहासपुष्पाः खलु पत्रवल्ल्यः ।
त्वक्पाण्डिमा वैरिवधूकपोले कुतोऽन्यथा भस्मवदुल्ललास ॥२७॥

अन्ये भियोपात्तपयोधिगोत्राः क्षोणीभुजो जग्मुरगम्यभावम् ।
लक्ष्मीस्ततो वारिधिराजकन्या तमेकमेवात्ममतिं चकार ॥२८॥

करगृहीतदम्भोलिमुष्टिः ॥२३॥ तद्यत्रेति—यत्र नगर्यां तदाश्चर्यम् । किमाश्चर्यमित्याह—यद्वेश्या विलासिन्योऽणीयसापि स्तोकेनापि स्नेहेन हीना अपि स्मरदीपिकाः कामोन्मादकारिण्यः । एतत्पुनर्न चित्रं यन्नकुलप्रसूता मुग्धगोत्रजा अकुलीना इत्यर्थः तथाविधाश्च ता भुजङ्गमोहं भुजङ्गा विटास्तेषां मा लक्ष्मीस्तस्या ऊहो वितर्कः कामुकद्रव्यमभिलषन्तीत्यर्थः । पक्षे स्तोकेनापि तैलादिना हीना यत्कामजागरदीपिका एतच्चित्रं न पुनर्यद्बभ्रुमुतनूजाः सर्पमूर्च्छामुत्पादयन्ति ॥२४॥ यामिति—यां नगरीं खातिकामिषेण शेषाहिमहिषी रक्षयति । किं कारणमित्याह—सर्वसारनिरवधिनिधेः कलशीं संवेष्ट्य परिवार्य शश्वदनवतरतं पातालमूलानि भेदयित्वा जलपरिपूर्णा । परिखागाम्भीर्यवर्णनम्[2] ॥२५॥ निःशेषेति—तत्र स राजा प्रभुरभूद् यं जना दशरथाभिधं समाह्वयन्ति । सकामभूपमौलिदामपरागपिञ्जरितपादपीठः ॥२६॥ अनेनेति—अनेन राज्ञा शत्रुस्त्रीकपोले याः पत्रवल्ल्यस्ताः प्रतापाग्निना दग्धाः । हासा एव पुष्पाणि हासपुष्पाणि तैः सह । न चेत् कुतस्त्वक्पाण्डिमा चर्मपाण्डुरता भासितमिव प्रादुर्बभूव[3] ॥२७॥ अन्य इति—समुद्रोद्भवा श्रीस्तमेव नृपं पतिमकार्षीत् कथमन्यं नोपास्तेत्याह—अन्ये भयेन प्राप्तसमुद्रान्तपर्वतास्तत एवानाश्रयणीयतां प्रापुरिति । अथ च येन किल आत्म-

---

प्रकार नागरिक जनोंके हाथोंमें भी वज्र—हीरे की अँगूठियाँ समुल्लसित हैं ॥२३॥ जिस नगरीमें यह बड़ा आश्चर्य है कि वहाँकी वेश्याओंमें थोड़ा-सा भी स्नेह—तेल [पक्षमें अनुराग] नहीं है फिर भी वे कामदीपिका—काम सेवनके लिए प्रज्वलित दीपिकाएँ हैं [पक्षमें कामकी उत्तेजना करनेवाली हैं] किन्तु इसमें जरा भी आश्चर्य नहीं है कि वे नकुलप्रसूत—नीच कुलमें उत्पन्न होकर [पक्षमें नेवलोंमें उत्पन्न होकर] भुजङ्ग—विटोंको [पक्षमें सर्पोंको] मोह उत्पन्न करती हैं ॥ २४ ॥ यह नगरी मानो सर्वश्रेष्ठ खजानेकी कलशी है इसीलिए तो विषसे [पक्षमें जलसे] भरी हुई सर्पिणी पातालको भेदनकर परिखाके बहाने इसे निरन्तर घेरे रहती है ॥ २५ ॥ उस सुसीमा नगरीका वह राजा था जिसका कि पादपीठ समस्त नम्रीभूत राजाओंके मुकुटकी मालाओंके परागसे पीला रहता था और लोग जिसे दशपूर्वक रथ—दशरथ कहते थे ॥ २६ ॥ इस राजाने अपने क्रोधानलसे शत्रुस्त्रियोंके कपोलों पर सुशोभित हास्यरूपी फूलोंसे युक्त पत्रलताओंको निश्चित ही जला दिया था । यदि ऐसा न होता तो भस्मकी तरह उनकी त्वचामें सफेदी कैसे झलक उठती ? ॥ २७ ॥ जब अन्य राजा भयसे भाग कर समुद्र और पर्वतोंमें जा छिपे [पक्षमें समुद्रका गोत्र स्वीकार कर चुके] अतः अगम्य भावको प्राप्त हो गये थे [कहीं भाईके साथ भी विवाह होता है ?] तब समुद्रराजकी

---

१. ताङ्घ्रि घ० ङ० म० । २. रूपकापह्नुतौ । ३. रूपकमूलकानुमानालंकारः ।

वैधव्यदग्धारिवधूप्रहारहारावचूलच्युतमौक्तिकौघाः ।
बभुः प्रकीर्णाः सकलासु दिक्षु यशस्तरोर्बीजकणा इवास्य ।।२९।।

युक्तं तदाछिद्य वशीकृतेऽस्मिन् गोमण्डले तेन वृषोत्तमेन[1] ।
रक्ताक्षता बिभ्रदियाय रोषाद्वैरी वनं यन्महिषीभिरेव ।।३०।।

यत्पुण्डरीकाक्षमपि व्यपास्य स्मराकृतेस्तस्य वशं गता श्रीः ।
सेर्ष्यं विरूपाक्ष इतो व्यधासीद्देहार्धनद्धां किल शैलपुत्रीम् ।।३१।।

दोषोच्चयेभ्यश्चकितः स विद्वान् गताःपुनस्ते प्रपलाय्य तस्मात् ।
इत्यस्य विस्तारियशश्छलेन विरुद्धमद्यापि दिशो हसन्ति ।।३२।।

सकज्जलाश्रुव्यपदेशनिर्यद्भृङ्गावली वैरिविलासिनीनाम् ।
राज्ञा कृतं तेन रसाब्धिलोल-हृत्पद्मसंकोचमवोचदुच्चैः ।।३३।।

गोत्रिणो भवन्ति वारिधिवत्समर्यादाश्च ये राजानस्तेषां कन्यकास्तांस्तान्नोपयच्छन्ति ।।२८।। वैधव्येति—वैधव्यदुःखेनास्फालितहृदयानां शत्रुस्त्रीणां त्रुटितहारपतिता मुक्ताकणाः शुशुभिरे । अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—अस्य भूपतेर्यशोवृक्षस्य बीजकणा इव सर्वदिशासु प्रक्षिप्ताः[2] ।।२९।। युक्तमिति —एतद्युक्तमेव यत्तेन वृषोत्तमेन धर्मविजयिना भूमण्डले बलात्करदीकृते सति पट्टराज्ञीभिः सार्धं यद्वैरी वने वासमगात् । पक्षे धवलधुरीणेन गोवृन्दे विभागीकृते यथा कश्चिन्महिषतां बिभ्रत्पृथगेव महिषोभिः सार्धं वनं प्रयाति ।।३०।। यदिति—यत्तस्य स्मरसदृशस्य लक्ष्मीर्नारायणमपि त्यक्त्वा वशंगता बभूव । किलेत्यनुमाने । विरूपाक्षो विषमलोचनः सेर्ष्यं सरोषं विमर्शन् गौरीं देहमग्नां देहार्धनद्धामकार्षीत् । कमललोचनस्त्यक्तो लक्ष्म्या मां भीष्मलोचनमेषा कथं न हास्यतीति बन्धकारणम् ।।३१।। दोषोच्चयेभ्य इति—अस्य राज्ञ एतद्विरुद्धमसंभाव्य कुतूहलमद्यापि ककुभो हसन्ति प्रसृतयशोव्याजात् । किं विरुद्धमित्याह—स विद्वान् तत्त्ववेदी दोषसमूहेभ्यो भीतस्ते दोषाः पुनस्तस्मान्नृपान्नष्टा दूरं गताः । यो हि यं भीषयते न स तस्माद् बिभेतीति हास्यकारणम् ।।३२।। सकज्जलेति—शत्रुस्त्रीणां सकज्जलाश्रुधाराव्याजेन निर्गच्छन्ती भृङ्गावली बभाषे । किमवोचदित्याह—तेन राज्ञा पिहितं रसाब्धौ लोलं सश्रीकं

पत्नी लक्ष्मीने इसी एक दशरथ राजाको अपना पति बनाया था ।। २८ ।। वैधव्यसे पीड़ित शत्रु-स्त्रियों द्वारा तोड़े हुए हारोंसे निकल-निकल कर जो मोतियोंके समूह समस्त दिशाओंमें फैल रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो इस राजाके यश-रूप वृक्षके बीज ही हों ।। २९ ।। जिस प्रकार जब कोई बलवान् बैल छीनकर समस्त गोमण्डल—गायोंके समूहको अपने अधीन कर लेता है तब भैंसा निराश हो अपनी भैंसोंके साथ ही वनको चला जाता है उसी प्रकार जब इस धर्मात्मा राजाने शत्रुओंसे छीन कर समस्त गोमण्डल—पृथिवी मण्डलको अपने अधीन कर लिया तब शत्रु क्रोधसे लाल-लाल नेत्र करता हुआ अपनी रानियोंके साथ वनको चला गया यह उचित ही था ।। ३० ।। जब विरूप नेत्रोंको धारण करनेवाले महादेवजीने देखा कि लक्ष्मी कमलों-जैसे सुन्दर नेत्रोंवाले नारायणको छोड़कर कामके समान सुन्दर राजा दशरथके पास चली गयी तब यदि पार्वती मुझे छोड़ कर उसके पास चली जाये तो आश्चर्य ही क्या ? ऐसा विचार कर ही मानो उन्होंने बड़ी ईर्ष्याके साथ पार्वतीको अपने शरीरार्धमें ही बद्ध कर रखा था ।। ३१ ।। देखो न, इतना बड़ा विद्वान् राजा जरा-से दोषोंके समूहसे डर गया और वे दोष भी उसके पाससे भाग कर अन्यत्र चले गये—इस प्रकार विस्तृत यशके छलसे दिशाएँ अब भी मानो इसके विरुद्ध हँस रही हैं ।। ३२ ।। इस राजाकी

---

१. वृषोन्नतेन घ० म० । २. रूपकोत्प्रेक्षा ।

उत्खातखड्गप्रतिबिम्बिताङ्गो रराज राजा समरप्रदोषे ।
जयश्रियासावभिसारणाय नीलेन संवीत इवांशुकेन ॥३४॥

अनारतं वीररसाभियोगैरायासितेव क्षणमस्य यूनः ।
विलासिनी भ्रूलतिकाग्ररङ्गच्छायासु विश्राममियाय दृष्टिः ॥३५॥

सरागमुर्व्या मृगनाभिदम्भादपारकर्पूरपदेन कीर्त्या ।
रत्यापि दन्तच्छदरुक्छलेन स एकहेलं सुभगोऽवगूढः ॥३६॥

असत्पथस्थापितदण्डलब्धस्थामातिवृद्धो विहितस्थितिर्यः ।
स एव रक्षार्थमशेषलक्ष्म्या क्षात्रोऽस्य धर्मोऽजनि सौविदल्लः ॥३७॥

हृत्पद्मं मानसाम्बुजं तस्य संकोचं निमीलनं पक्षे चन्द्रेण संकोचितमित्याख्यात्यनाश्रया भ्रमन्ती भ्रमरावलिः । अनुमानोऽयमलंकारः[1] ॥३३॥ उत्खातेति—स राजा समरराजान्धकारे आकृष्ट-खड्गमध्यप्रतिफलितमूर्तिरतश्च ज्ञायते जयलक्ष्म्या प्रच्छन्नरतायान्धपटेन व्यावृतः[2] ॥३४॥ अनारतमिति—अस्य नृपस्य तरुण्युपमा विलासिनी[3] भ्रूलताभिनवशोभा दृष्टिर्विश्रान्तिमापत्प्रयासितेव खेदितेव वीररसाभियोगैः[4] प्रतापप्रयासैरहर्निशमभियोगखिन्नो हि शीतलच्छायामाश्रयति ॥३५॥ सरागमिति—स सुभगोऽवगूढः परिरेभे युगपत्, कया कयावगूढ इत्याह—मृगमदोद्वर्तनव्याजात्पृथिव्या, कर्पूरचूर्णोद्वर्तनच्छलेन कीर्त्या, रत्यानुरागलक्ष्म्या बिम्बाधरप्रभाच्छलेन । सुभगत्वात्सपत्न्योऽप्येकत्र स्थिताः । समुच्चयोऽयमलंकारः ॥३६॥ असदिति—अस्याशेषश्रीरक्षणाय राजधर्म एव जरन्महल्लको बभूव । विहिता स्थितिर्नीतिनिश्चलता येन । अतिवृद्धः परमप्रकर्षं प्राप्तः । पुनः कथंभूतः । असत्पथेऽन्यायिमार्गे स्थापितो दण्डो निग्रहस्तेन लब्धं स्थाम प्रभावोऽतिशयो येन स तथाभूतः, पक्षे

शत्रुस्त्रियोंके नेत्रोंसे कज्जल मिश्रित आँसुओंके बहाने जो भौंरोंकी पंक्ति निकलती थी वह मानो स्पष्ट कह रही थी कि इस राजाने उन शत्रुस्त्रियोंके रस-सागरमें लहरानेवाले हृदय-कमलको निमीलित कर दिया है—बन्द कर दिया है ॥ ३३ ॥ प्रहार करनेके लिए ऊपर उठायी हुई तलवारमें उस राजाका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था अतः वह ऐसा जान पड़ता था मानो युद्ध रूप सायंकालके समय विजयलक्ष्मीने अभिसार—प्रच्छन्न रति करनेके लिए उसे नील वस्त्रसे अवगुण्ठित कर रखा हो ॥ ३४ ॥ निरन्तर वीर-रसके अभियोगसे खेदको प्राप्त हुई इस युवाकी चञ्चल दृष्टि भृकुटि रूपी लताकी छायामें क्षण भरके लिए ठीक इस तरह विश्रामको प्राप्त हुई थी जिस प्रकार युवा पुरुषके द्वारा निरन्तरके उपभोगसे खेदित विलासिनी—स्त्री किसी छायादार स्थानमें विश्रामको प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥ कस्तूरीके बहाने पृथ्वीने, कपूरके बहाने कीर्तिने और ओठोंकी लाल-लाल कान्तिके बहाने रतिने एक साथ उसका आलिंगन किया था—बड़ा सौभाग्यशाली था वह राजा ॥ ३६ ॥ कुमार्गमें स्थापित दण्डसे जिसे स्थिरता प्राप्त हुई है [पक्षमें पृथिवीपर टेकी हुई लाठीसे जिसे बल प्राप्त हुआ है] जो अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त है [पक्षमें—जो अतिशय बूढ़ा है] और मर्यादाकी रक्षा करनेवाला है [पक्षमें—एक स्थान पर स्थित रहनेवाला है] ऐसा इसका क्षात्र धर्म ही इसकी राजलक्ष्मीकी रक्षा

१. तत्र च रूपकं मूलम् । २. उत्प्रेक्षा । ३. विलासवती पक्षे कामिनी । ४. वीररसस्याभियोगाः प्रयोगास्तैः पक्षे सुरतचेष्टाभिः ।

प्रयच्छता तेन समीहितार्थान्नूनं निरस्तार्थिकुटुम्बकेभ्यः ।
व्यर्थीभवत्त्यागमनोरथस्य चिन्तामणेरेव बभूव चिन्ता ॥३८॥

दूरात्समुत्तंसितशासनोरुसिन्दूरमुद्रारुणभालमूलाः ।
यस्य प्रतापेन नृपाः कचाग्रकृष्टा इवाजग्मुरुपासनाय ॥३९॥

निधाय कान्तारसमाश्रितांस्तान्हारावसक्तान्विदुषो द्विषश्च ।
क्रीडन् स लीलारसलालसाभिरासीच्चिरं चञ्चललोचनाभिः ॥ ४० ॥

अथैकदा व्योम्नि निरभ्रगर्भे क्षणं क्षपायां क्षणदाधिनाथम् ।
अनाथनारीव्यथनैनसेव स राहुणा प्रैक्षत[1] गृह्यमाणम् ॥४१॥

किं सीधुना स्फाटिकपानमात्रमिदं रजन्याः परिपूर्यमाणम् ।
चलद्द्विरेफोच्चयचुम्ब्यमानमाकाशगङ्गास्फुटकैरवं वा ॥४२॥

विषममार्गे निवेशितयष्टिप्रातपदप्रचारबलः ॥३७॥ प्रयच्छतेति—तेन दीनकुलेभ्यो दुःखचिन्ता निष्कासिता, कामितार्थाद्यथाभिलाषितार्थाच्चिन्ता गता। ततः सा चिन्ता चिन्तामणेरेव बभूव। किंविशिष्टस्येत्याह—निष्फलितदानमनोरथस्य एनं राजानमेवार्थिनोऽर्थयन्ति न कोऽपि मामिति चिन्तास्थानम्। परिवृत्तिरियमलंकृतिः ॥ ३८ ॥ दूरादिति—यस्य तेजसा केशेषु गृहीता इव नृपाः प्रणामाय समाययुः। वन्दितराजादेशमुद्रासिन्दूरेण शोभितललाटाः सन्तः[2] ॥ ३९ ॥ विधायेति—इति जिगीषुतां प्राप्य राजा चटुलाक्षीभिश्चिरं रमयंस्स्थितवान् गुणगरीयसो विलासिनीरसं प्रापितान्कृत्वा हारावसक्तान् मुक्ताकलापभूषितान् द्विषः शत्रूंश्च कान्तारे वने समाश्रितान् हारावसक्तान् हाहाकारयुक्तान् विधाय ॥ ४० ॥ अथ कदाचित्स राजा निर्मलनभस्तले राहुणा ग्रस्यमानं चन्द्रं ददर्श। कृष्णत्वाद् विरहिणीजनपीडनपातकेनेव[3] ॥४१॥ किमिति, ऐरावणस्येति, क्षणमिति—तथाविधं वितर्कयन्नाह—किमिदं रात्रिविलासिन्याः स्फटिकचषकं मदिरया परिपूर्यते। आहोस्विच्च-

---

करनेके लिए कंचुकी हुआ था ॥ ३७ ॥ चूँकि यह राजा सबके लिए इच्छानुसार पदार्थ देता था अतः याचकोंके समूहसे खदेड़ी हुई चिन्ता केवल उस चिन्तामणिके पास पहुँची थी जिसके कि दानके मनोरथ याचक न मिलनेसे व्यर्थ हो रहे थे ॥ ३८ ॥ जिनके ललाटका मूल भाग सिन्दूरकी मुद्रासे लाल-लाल हो रहा है ऐसा राजा लोग आज्ञा शिरोधार्य कर दूर-दूरसे इसकी उपासनाके लिए इस प्रकार चले आते थे मानो इसका प्रताप उनके बाल पकड़ उन्हें खींच-खींच कर ही ले आ रहा हो ॥ ३९ ॥ इस प्रकार वह राजा विद्वानों और शत्रुओंको कान्तारसमाश्रित—स्त्रियोंके रसको प्राप्त [पक्षमें वनको प्राप्त] तथा हारावसक्त—मणियोंकी मालासे युक्त [पक्षमें हाहाकारसे युक्त] करके लीलामें लालसा रखनेवाली चपल लोचनाओंके साथ चिरकाल तक क्रीडा करता रहा ॥ ४० ॥ तदनन्तर उसने एक दिन पूर्णिमाकी रात्रिको जब कि आकाश मेघरहित होनेसे बिलकुल साफ था, पतिहीन स्त्रियोंको कष्ट पहुँचानेके पापसे ही मानो राहुके द्वारा ग्रसे जानेवाले चन्द्रमाको देखा ॥४१॥ उसे देख कर राजाके मनमें निम्न प्रकार वितर्क हुए—क्या यह मदिरासे भरा जानेवाला रात्रिका स्फटिक मणिनिर्मित कटोरा है ? या चंचल भौंरोंके समूहसे चुम्बित आकाशगङ्गाका खिला हुआ सफेद

---

१. प्रैक्षयत म० घ० । २. उत्प्रेक्षा । ३. उत्प्रेक्षा ।

ऐरावणस्याथ करात्कथंचिच्च्युतः सपङ्को बिसकन्द एषः ।
किं व्योम्नि नीलोपमदर्पणाभे सश्मश्रु वक्त्रं प्रतिबिम्बितं मे ॥४३॥
क्षणं वितर्क्येति स निश्चिकाय चन्द्रोपरागोऽयमिति क्षितीशः ।
[1]दृङ्मीलनाविष्कृतचित्तखेदमचिन्तयच्चैवमुदारचेताः ॥४४॥ (विशेषकम्)
हा हा महाकष्टमचिन्त्यधाम्नि किमेतदत्रापतितं हिमांशौ ।
यद्वा किमुल्लङ्घयितुं कथंचित्केनापि शक्यो नियतेर्नियोगः ॥४५॥
सुधाद्रवैर्मन्मथमात्मबन्धुमुज्जीव्य नेत्राग्निशिखावलीढम् ॥
क्रुधेव तद्वैरिविनिष्क्रयार्थं स्थाणोरसौ मूर्ध्नि पदं निधत्ते ॥४६॥
कुतश्चिरं जीवति वाडवाग्नौ वर्तेत वार्धिः सह जीवनेन ।
अनेन चेच्चारु वसु प्रपञ्चैर्नीयेत न प्रत्यहमेव वृद्धिम् ॥४७॥
सुधाकरेणाप्यजरामरत्वं नीताः सुरा एव मयात्र नान्ये ।
इतीव पूर्णोऽप्यतिलज्जमानः पुनः पुनः कार्श्यमसौ व्यनक्ति ॥४८॥

ञ्चरीकचक्रवालचालितं गगनगङ्गाविकसितकैरवमिति । अथवा सुरगजहस्तात्सकर्दमः क्रीडाबिसकन्दः पतित उतस्विन्नीलमणिदर्पणाभे नभसि मम सकूर्चं मुखं प्रतिबिम्बितम् । संशयोऽयमलंकारः । क्षणमात्रमिति विकल्प्य स निश्चयं चकार चन्द्रोपरागोऽयं सोमग्रहणमिति न केवलं निश्चिकाय चिन्तयाञ्चकार च । नयननिमीलनप्रकटितदुःखं यथा स्यादिदं वक्ष्यमाणम् ॥४२-४४॥ हा हेति—हाहेति दुःखोद्गिरणेऽचिन्त्यधाम्नि अद्भुतप्रभावतेजसि चण्डीशचूडामणौ चन्द्रे किमेतन्महाकष्टमापन्नं । यद्वेति सत्प्रसिद्धौ दैवस्य परिणामः केनापि बलवता कथंचित्प्रकारशतैरपि समुल्लङ्घयितुं शक्योऽपि तु नेत्यर्थः ।।४५।। एतद्गुणान् संस्मरन्नाह—सुधेति—असौ चन्द्रः स्थाणोस्त्रिनयनस्य मस्तके स्थानं करोति कोपेनेव प्रत्यपकारार्थं नयनाग्निज्वालादग्धं काममात्ममित्रं किरणपीयूषवर्षैः प्रत्युज्जीव्य नान्य एष इव [2]शत्रुहतौ ॥४६॥ कुत इति—वाडवाग्नौ जाज्वल्यमाने सति जीवनेन जलेन सार्द्धं कथं वर्तेत । न वर्तेतेत्यर्थः । अनेन चन्द्रेण यदि किरणपीयूषवर्षैर्वृद्धिं न नीयेत । समुद्रोऽपि समुद्रोऽनेन मित्रेणेत्यर्थः । आक्षेपोऽयमलंकारः । अथ चोक्तिलेशः—यथा कश्चिन्महादरिप्रेमसमुदिते सति केनचिन्मित्रेण द्रव्यविस्तारैर्यदि न वर्ध्यते तथा क्षीयत एव ॥४७॥ सुधेति—असौ चन्द्रः सलज्ज इव पुनः-पुनः परिपूर्णीभूय कृशतां प्रकटयति । किं लज्जाकारणमित्याह—मया पीयूषसमुद्रेणापि त्रिदशा एवाजरामरत्वं

कमल है ? या ऐरावत हाथीके हाथसे किसी तरह छूटकर गिरा हुआ पंकयुक्त मृणालका कन्द है ? या नीलमणिमय दर्पणकी आभासे युक्त आकाशमें मूँछ सहित मेरा मुख ही प्रतिबिम्बित हो रहा है ? इस प्रकार क्षण-भर विचारकर उदार हृदय राजाने निश्चय कर लिया कि यह चन्द्रग्रहण है और निश्चयके बाद ही नेत्र बन्द कर मनका खेद प्रकट करता हुआ राजा इस प्रकार चिन्ता करने लगा ॥ ४२-४४ ॥ हाय ! हाय ! अचिन्त्य तेजसे युक्त इस चन्द्रमाके ऊपर यह क्या बड़ा भारी कष्ट आ पड़ा ? अथवा क्या कोई किसी तरह नियतिके नियोगका उल्लंघन कर सकता है ? ॥ ४५ ॥ नेत्रानलसे जले हुए अपने बन्धु कामदेवको अमृत निष्यन्द-से जीवित कर यह चन्द्रमा उस बैरका बदला लेनेके लिए ही मानो क्रोधसे महादेवजीके मस्तक पर अपना पद—पैर [स्थान] जमाये हुए है ॥ ४६ ॥ यदि यह चन्द्रमा अपनी सुन्दर किरणोंके समूह द्वारा प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त नहीं कराता तो यह समुद्र वडवानलके जीवित रहते चिरकालतक अपने जीवन—जिन्दगी [पक्षमें जल] से युक्त कैसे रहता ? यह तो कभी का सूख जाता ? ॥ ४७ ॥ मैंने अमृतकी खान होकर भी केवल देवोंको ही अजरामरता प्राप्त

१. दृशोर्नेत्रयोर्मीलनेनाविष्कृतः प्रकटितश्चित्तखेदो यस्मिन्कर्मणि यथा स्यात्तथा । २. अन्योऽपि प्रबलो वैरप्रतिनिर्यातनाय शत्रोः शिरसि पदाघातं करोतीति भावः ।

सुदुर्धरध्वान्तमलिम्लुचानामुत्सार्य सेनामनिवार्यतेजाः ।
रतेर्गलग्रन्थिमिवाबलानां मानं भिनत्त्येष चिरात्कराग्रैः ॥४९॥

इत्येष निःशेषजगल्ललामलीलायमानप्रसरद्गुणोऽपि ।
राजा दशां प्रापदिहेदृशीं चेत्को नाम तत्स्यात्सुखपात्रमन्यः ॥५०॥

उपागमे तद्विपदामवश्यं पश्यामि किंचिच्छरणं न जन्तोः ।
अपारपाथोनिधिमध्यपातिपोताच्च्युतस्येव विहङ्गमस्य ॥५१॥

नीरोषितताया अपि सर्वदास्याः पश्यामि नार्द्रं हृदयं कदाचित् ।
युक्तं ततः पुंसि कलामयेऽपि स्थिरो न लक्ष्म्याः प्रणयानुबन्धः ॥५२॥

अल्पीयसि स्वस्य फले यदेषा विस्तारिता श्रीः परिवारहेतोः ।
गुडेन संवेष्ट्य ततो मयात्मा मत्कोटकेभ्यः किमु नार्पितोऽयम् ॥५३॥

प्रापिता नान्यमनुष्यादयः । अन्योऽपि कृती महाकोशे सति स्वस्य कृपणत्वं विचिन्त्य जिह्रेतीति भावः[1] ॥४८॥ **सुदुर्धरेति**—असौ महातमश्चोराणामवपातं निगृह्य प्रौढतेजाश्चन्द्रिकाया इव [2]रतेरनुरागश्रियो गलशृङ्खलामिव मनस्विनीनां मानं निजकरैर्निराचकारातिचिरमनन्याभेद्यम्[3] ॥४९॥ **इत्येषेति**—त्रिभुवनतिलकायमानगुणोऽनन्यसाधारणप्रभावो राजा चन्द्रः कश्चिन्नृपो वा यदीदृशीं व्यसनदुर्दशामवस्थां जगाम इह संसारे को नामान्योऽल्पप्रायः स्वस्थः सुखी स्यादिति ॥५०॥ **उपागम इति**—जीवस्य किंचिच्छरणं प्रतिषेधरूपं न पश्यामि । पूर्वकर्मकृतानामापदां निपाते सति समुद्रान्तर्वर्तिनः प्रवहणात्पतितस्य पत्रिणो नान्यत्स्थानं पोतव्यतिरेकात् ॥५१॥ **नीरोषितताया इति**—विरक्तो लक्ष्मीं निन्दयन्नाह—अस्या लक्ष्म्या नीरे स्थिता उषिता तस्यास्तथाभूतायाः समुद्रजन्मनोऽपि हृदयमास्नेहलं न पश्यामि । यदि वा नीरोषितताया अपि अकोपितताया अपि सर्वेषां दासी सर्वदासी तस्याः पक्षे सर्वकालमस्यास्तस्मादेवंविधाया यन्न प्रणयानुबन्धो न स्नेहबन्धो निश्चलः कलामये चन्द्रमसि सकलकलाविज्ञाननिधाने पुरुषे च तद्युक्तमेव ॥५२॥ **अल्पीयसीति**—यदेषा राज्यलक्ष्मीर्मया विस्तारिता लोकोपभोगाय । अल्पोपयोगत्वान्मम फले स्वल्पे सति तत्कुतः कारणान्मया गुडेन वेष्टयित्वा आत्मा

करायी संसारके अन्य प्राणियोंको नहीं अपनी इस अनुदारतासे लज्जित होता हुआ ही मानो यह चन्द्रमा पूर्ण होकर भी बार-बार अपनी कृशता प्रकट करता रहता है ॥ ४८ ॥ अनिवार्य तेजको धारण करनेवाला यह चन्द्रमा सघन अन्धकार रूप चोरोंकी सेनाको हटाकर रतिक्रियामें फाँसीकी तरह बाधा पहुँचानेवाले स्त्रियोंके मानको अपनी किरणोंके अग्रभागसे [पक्षमें हाथके अग्रभागसे] नष्ट करता है ॥ ४९ ॥ जिसके गुण समस्त संसारमें आभूषणकी तरह फैल रहे हैं ऐसा चन्द्रमा भी [पक्षमें राजा भी] जब ऐसी आपत्तिको प्राप्त हुआ है तब दूसरा सुखका पात्र कौन हो सकता है ? ॥ ५० ॥ जिस प्रकार अपार समुद्रके बीच चलनेवाले जहाजसे बिछुड़े हुए पक्षीको कोई भी शरण नहीं है उसी प्रकार विपत्तियोंके आनेपर इस जीवको कोई शरण नहीं है ॥ ५१ ॥ यह लक्ष्मी चिरकाल तक पानीमें रही [पक्षमें क्रोधसे दूर रही] फिर भी कभी मैंने इसका हृदय आर्द्र—गीला [पक्षमें दयासम्पन्न] नहीं देखा अतः विद्वान् मनुष्यमें भी यदि इसका स्नेह स्थिर नहीं रहता तो उचित ही है ॥ ५२ ॥ निजका थोड़ा-सा प्रयोजन होने पर भी मैंने परिवारके निमित्त जो यह लक्ष्मी बढ़ा रखी है सो क्या मैंने अपने आपको गुड़से लपेटकर मकोड़ोंके लिए नहीं सौंप दिया है ? ॥ ५३ ॥

---

१. उत्प्रेक्षा । २. पक्षे सुरतचेष्टायाः । ३. चन्द्रस्योद्दीपनविभावत्वात्तदुदये मानवतीमानविनाशः सिद्ध एव ।

अहेरिवापातमनोरमेषु भोगेषु नो विश्वसिमः कथंचित् ।
मृगः सतृष्णो मृगतृष्णिकासु प्रतार्यते तोयधिया न धीमान् ॥५४॥
अन्याङ्गनासङ्गमलालसानां जरा कृतेर्ष्येव कुतोऽप्युपेत्य ।
आकृष्य केशेषु करिष्यते नः पदप्रहारैरिव दन्तभङ्गम् ॥५५॥
क्रान्ते तवाङ्गे [1]वलिभिः समन्तान्नश्यत्यनङ्गः किमसावितीव ।
वृद्धस्य कर्णान्तिगता जरेयं हसत्युदञ्चत्पलितच्छलेन ॥५६॥
[2]रसाढ्यमप्याशु विकासिकाशसंकाशकेशप्रसरं तरुण्यः ।
उदस्थिमातङ्गजनोदपानपानीयवन्नाम नरं त्यजन्ति ॥५७॥
आकर्णपूर्णं कुटिलालकोर्मि रराज लावण्यसरो यदङ्गे ।
वलिच्छलात्सारणिधोरणीभिः प्रवाह्यते तज्जरसा नरस्य ॥५८॥

मत्कोटकेभ्यो भक्षणाय समर्पितः[3] ॥५३॥ अहेरिति—अविचारितरमणीयेषु भोगेषु साम्प्रतं केनापि प्रकारेण न विश्वसिमः सर्पस्येव भोगेषु शरीरेषु । मुग्धः सतृष्णो मृग एव मरुमरीचिकाभिर्विप्लाव्येत जलबुद्धया विचारवान्नास्मादृशः[4] ॥५४॥ अन्येति—[5]जरा कोपना स्त्रीवास्माकं दन्तपातं विधास्यति पदप्रहारैरचिन्तितोपस्थिता । अथ च ज्ञायते कृतेर्ष्येव कृता ईर्ष्या यया सा कृतेर्ष्या । किंविशिष्टानामन्यललनोपभोगलम्पटानाम् । केशेषु व्याप्य प्रथमं जरा शिरःपलिते याति पश्चाद् दन्तपातादिक्रियासु प्रभवतीत्यर्थः[6] ॥५५॥ क्रान्त इति—जराजीर्णस्य कर्णसमीपस्था जरा पलितकुन्तलव्याजेन हसतीव । किं हसतीत्याह—किं ते नाम वलिवेष्टिते शरीरेऽसौ कामः पलायते समन्तादतिशयेन । अथ च वलिभिः सुभटैराक्रान्तेऽनङ्गो निर्गतवपुर्नश्यतीति हास्यस्थानम्[7] ॥५६॥ रसाढ्यमिति—युवत्यो मानवं जहति विकसितकाशकुसुमसदृशपलितप्रकाशं चतुरचाटुचञ्चुमपि संकेतोत्तम्भितास्थिनलकश्वपचसरःपानीयमिव परिपूर्णान्यसामग्रीकमपि जरिणं प्रति कलत्राण्यपि विरुज्यन्ति[8] ॥५७॥ आकर्णेति—यत् कामकान्तिसरः शुशुभे मनुष्यवपुषि किं विशिष्टं । कुटिला अलका एवोर्मयो यत्र तत्तथाविधम् । श्रवणसश्रीकं पक्षे आपालीपर्यन्तं तदेव जरया निर्गाल्यते सारणिश्रेणीभिः । वलितशरीर-

साँपके शरीरकी तरह प्रारम्भमें ही मनोहर दिखनेवाले इन भोगोंमें अब मैं किसी प्रकार विश्वास नहीं करता क्योंकि मृगतृष्णाको पानी समझ प्यासा मृग ही प्रतारित होता है। बुद्धिमान् मनुष्य नहीं॥ ५४॥ वह ईर्ष्यालु जरा कहींसे आकर अन्य स्त्रियोंके साथ समागमकी लालसा रखनेवाले हम लोगोंके बाल खींच कुछ ही समय बाद पैरकी ऐसी ठोकर देगी कि जिससे सब दाँत झड़ जायेंगे॥ ५५॥ अरे तुम्हारा शरीर तो बड़े-बड़े बलवानोंसे [पक्षमें बुढ़ापाके कारण पड़ी हुई त्वचाकी सिकुड़नोंसे] घिरा हुआ था फिर वह अनंग क्यों नष्ट हो गया—कैसे भाग गया ?—इस प्रकार यह जरा वृद्धमानवोंके कानोंके पास जाकर उठती हुई सफ़ेदी के बहाने मानो उसकी हँसी ही करती है॥ ५६॥ भले ही यह मनुष्य श्रृङ्गारादि रसोंसे परिपूर्ण हो [पक्षमें जलसे भरा हो] पर जिसके बालोंका समूह खिले हुए काशके फूलोंकी तरह सफ़ेद हो चुका है उसे युवती स्त्रियाँ हड्डियोंसे भरे हुए चाण्डालके कुएँके पानीकी तरह दूरसे ही छोड़ देती हैं॥ ५७॥ मनुष्यके शरीरमें कुटिल केशरूपी लहरोंसे युक्त जो यह सौन्दर्यरूपी सरोवर लबालब भरा होता है उसे बुढ़ापा त्वचाकी सिकुड़नोंके बहाने मानो

१. वलिभिः त्वक्संकोचैः पक्षे श्लेषाद्बवयोरभेदाद् बलिभिः सुभटैः । २. स्नेहसहितं पक्षे सजलमपि । ३. निदर्शनालंकारः । ४. दृष्टान्तः । ५. जरा वृद्धावस्था, स्त्रीलिङ्गसाम्यात् काचित्कोपनशीला स्त्री च । ६. वार्धक्ये केशाः शुक्ला भवन्ति दन्ताश्च पतन्तीति निसर्गसिद्धम् । समासोक्तिगर्भोत्प्रेक्षा । ७. बहुभिः सुरक्षितात्स्थानात् कस्यचित्पलायनं हास्यस्थानं भवत्येव । ८. वर्णं सितं वीक्ष्य शिरोरुहाणां स्थानं जरापरिभवस्य तदेव पुंसाम् । आरोपितास्थिशकलं परिहृत्य यान्ति चाण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ॥ -भर्तृहरेर्वैराग्यशतके ।

[1]असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टे[2]र्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥५९॥
इत्थं पुरः प्रेष्य जरामधृष्यां दूती[3]मिवापत्प्रसरोग्रदंष्ट्रः ।
यावन्न कालो ग्रसते बलान्मां तावद्यतिष्ये परमार्थसिद्धयै ॥६०॥
इत्येष संचिन्त्य विनिश्चितार्थो वैराग्यवान् प्रातरमात्यबन्धून् ।
पप्रच्छ राजा तपसे यियासुः किंवा विमोहाय विवेकिनां स्यात् ॥६१॥
तं प्रेक्ष्य भूपं परलोकसिद्धयै साम्राज्यलक्ष्मीं तृणवत्त्यजन्तम् ।
मन्त्री सुमन्त्रोऽथ विचित्रतत्त्वचित्रा[4]यमाणामिति वाचमूचे ॥६२॥
देव त्वदारब्धमिदं विभाति नभःप्रसूनाभरणोपमान[5]म् ।
जीवाख्यया तत्त्वमपीह नास्ति कुतस्तनी तत्परलोकवार्ता ॥६३॥

मकिंचित्करमित्यर्थः[6] ॥५८॥ असंभृतमिति—ततः पूर्वं उपरितनकायो यस्य स तथाविधो जराजीर्णो विचञ्चरीति अधोऽधो भुवस्तलमवलोकयन्निव । किं पश्यन्नित्याह—एतदनन्यसाधारणं ममाङ्गलताया मण्डनं तारुण्यरत्नं क्व पतितमिति वार्धक्यकुब्जताया उत्प्रेक्षा[7] ॥५९॥ इत्थमिति—यावद्यमो मां न कवलयति तावत्प्रतिविदधामि अजरामरत्वसिद्धय[8] च यतिष्ये यत्नं करिष्ये । किं कृत्वा मां ग्रसत इत्याह—जरां चेटीमिव प्रस्थानीकृत्य । किंविशिष्टाम् । आपत्प्रसर एव उग्रदंष्ट्रा यस्य । कालः समेष्यतीति जरा दूती कथयति । रोगग्रस्ताः कालदंष्ट्रान्तरवर्तिन इत्यर्थः[8] ॥६०॥ इत्येष इति—इति स्वसंवेगो राजा ज्ञातसंसारतत्त्वार्थ आदित्योदये मन्त्रिणः स्वजनांश्च तपश्चरणोद्यतः पप्रच्छ । तत्त्ववेदिनां मोहोत्पादकं राज्यादिकं किं स्यात् । न स्यादित्यर्थः[9] ॥६१॥ तमिति—तं राजानं मुक्तये तृणतुल्यया तादृशं साम्राज्यपदं त्यजन्तमवलोक्य सुमन्त्रनामा मन्त्री नास्तिकमतं विस्तारयन् वक्ष्यमाणां वाचमूचे ॥६२॥ देव इति, नेति—हे देव, तवारब्धमेतत् प्रत्यक्षवादिनामस्माकं गगनकुसुममालामण्डनसदृशं नोपपत्तिं संपनीपद्यते विचारासहत्वात् । कुत इत्याह—जीवसंज्ञं द्रव्यमेव नास्ति तस्माद् भवान्तरप्राप्तिः कौतस्कुती कुतस्तनी । नास्तीत्यर्थः । नन्विन्द्रियादिभिर्दशभिः प्राणैर्जीवति जीविष्यति अजीवीत् पूर्वं जीवः प्रसिद्ध एवमेतैरनन्यसाधारणैर्धर्मैस्तदुपलब्धिरबलाबालगोपालादिभिरप्युप-

नहरें खोलकर ही बहा देता है ॥ ५८ ॥ जो बिना पहने ही शरीरको अलंकृत करनेवाला आभूषण था वह मेरा यौवनरूपी रत्न कहाँ गिर गया ? मानो उसे खोजनेके लिए ही वृद्ध मनुष्य अपना पूर्व भाग झुकाकर नीचे-नीचे देखता हुआ पृथिवी पर इधर-उधर चलता है ॥ ५९ ॥ इस प्रकार जरारूपी चंट दूतीको आगे भेजकर आपदाओंके समूह रूप पैनी-पैनी डाढ़ोंको धारण करनेवाला यमराज जबतक हठात् मुझे नहीं ग्रस लेता है तबतक मैं परमार्थकी सिद्धिके लिए प्रयत्न करता हूँ ॥ ६० ॥ ऐसा विचारकर वैराग्यवान् राजाने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और प्रातःकाल होते ही तपके लिए जानेकी इच्छासे मन्त्री तथा बन्धुजनोंसे पूछा सो ठीक ही है वह कौन वस्तु है जो विवेकीजनोंको मोह उत्पन्न कर सके ? ॥ ६१ ॥ राजाका एक सुमन्त्र मन्त्री था, जब उसने देखा कि राजा परलोककी सिद्धिके लिए राज्यलक्ष्मीका तृणके समान त्याग कर रहे हैं तब वह विचित्र तत्त्वसे आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले वचन कहने लगा ॥ ६२ ॥ हे देव ! आपके द्वारा प्रारम्भ किया हुआ यह कार्य आकाशपुष्पके आभूषणोंके समान निर्मूल जान पड़ता है । क्योंकि जब जीव नामका कोई पदार्थ ही

१. असन्निभं क० । २. अयं प्रथमः पादः कुमारसंभवस्य १।३३ श्लोकेन समानः । ३. –मिवाप प्रसरोग्र ख० घ० म० । ४. चित्रीयमाणा ख० ग० घ०ङ० च० छ० म० । ५. –मन्तः क० । ६. वलिभिः पुरुषस्य सौन्दर्यं नश्यतीति भावः । रूपकालंकारः । ७. वृद्धो हि जनो नतशरीरत्वादधोऽधो भुवि पश्यंश्चलत्येव तत्र प्रभ्रष्टयौवनरत्नमार्गणोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालंकारः । ८. मरणात्प्राक् कल्याणस्य चिन्ता श्रेयस्करीति भावः । ९. अर्थान्तरन्यासः ।

न जन्मनः प्राङ् न च पञ्चतायाः परो विभिन्नेऽवयवे न चान्तः ।
विशन्न निर्यन्न च दृश्यतेऽस्माद्भिन्नो न देहादिह कश्चिदात्मा ॥६४॥
किं त्वत्र भूवह्निजलानिलानां संयोगतः कश्चन यन्त्रवाहः ।
गुडान्नपिष्टोदकधातकीनामुन्मादिनी शक्तिरिवाभ्युदेति ॥६५॥
विहायतद्दृष्टमदृष्टहेतोर्वृथा कृथाः पार्थिव मा प्रयत्नम् ।
को वा स्तनाग्राण्यवधूय धेनोर्दुग्धं विदग्धो ननु दोग्धि शृङ्गम् ॥६६॥

लभ्यते कथं नास्तीत्यभिहितवानसि । ननु सत्यमेवोक्तं तथापि सति सिद्धे धर्मिणि धर्माः प्रतीयन्ते नासिद्धे । तस्य च विवादाधिष्ठितत्वादेतद्वन्ध्यासुतगुणगौरवसंगानमिव । किंच निःश्वसिताविनाभावत्वे सति धर्मैर्धर्मी साध्यते ते निश्वासादयश्चान्यत्र ध्मात्रादावप्युपलभ्यते ततो व्यभिचारित्वान्न किंचिदेव । अथ चेतनैव लिङ्गं यस्यासौ चेतनालक्षणो जीव इति पक्षकक्षां विवक्षसि । तदपि न किंचिदपि अविचारितरमणीयत्वात् । केयं नाम चेतना । तद्गुणीभूता तादात्मिका वा । प्रथमपक्षे धर्मिणस्तदवस्थ एव विवादः । पृथग्भूते तस्मिन् बहुव्रीहिणा संबन्धः । एतेन वास्मन्मतमेव सिद्धं भवति । चेतनैव लक्षणं यस्य भूतसमवायस्येति । नापि द्वितीयः पक्षो द्रव्यत्वहानिप्रसङ्गात् । चेतनैव चेदात्मा । के तस्य गुणाः । अन्यस्य गुणत्वाभावान्निर्गुणत्वाद् द्रव्यत्वहानिरेव भवतीत्यर्थः । किं कार्यं गुणैरिति चेद् । 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इति विरुध्येत । अथ यत्राहमित्यनुपचरितप्रत्ययः स आत्मेति मतं तदपि मुग्धभाषितम् । अहमिति प्रत्ययो हि चेतनशक्त्यात्मके भूतसमवाय एव दृश्यते न शरीरे अतिप्रसङ्गात्, आकाशस्यापि जीवत्वप्रसङ्गे सुखदुःखादिका परिच्छित्तिः । स्वशरीरस्यैव तच्चेन्मतप्रयोगभूतबहिर्भूतं वस्तु नास्ति अकालत्वे सत्यभूतस्वरूपत्वात् । यद्-यद् अकालत्वे सत्यभूतस्वरूपं तत्-तत् नास्ति यथा खरविषाणम् अभूतस्वरूपं चेदं तस्मान्नास्त्येव । तस्य नित्यत्वं निराकुर्वन्नाह—इह विचार्यमाणे तत्त्वे देहाद्भिन्नः पृथगुपलभ्यमानो जीवो न दृश्यते, न केवलं तत्रस्थ एव न दृश्यते तत्र प्रविशन्नपि न दृश्यते । तथा तस्मान्निर्गच्छन्नपि, खण्डशः कृतेऽपि देहे मध्येऽपि च न दृश्यते । समुत्पत्तेः पूर्वं मरणस्यानन्तरं च न दृश्यत इति । किंच नाम चेतनालिङ्गत्वेन नित्यत्वं भवता परिकल्प्यते । सा च शरीरचयापचयानुसारिणी । कथं नामान्याश्रयो गुणोऽन्यत्र संबन्ध्यते । किंचास्याक्षयित्वं क्वचित् सर्वथा प्रकृष्यते क्षीयमाणत्वात् जाज्वल्यमानचुल्लीस्थालीजलवत् । संकुचितप्रदेशत्वान्नास्य हानिरिति चेत् । सत्यम्, अमूर्त्तस्यानवयवस्याकाशस्येव संकोचाभावात् तर्हि कुत एतदित्याह ॥६३-६४॥ किं त्वत्रेति—पृथ्वीजलतेजोवायूनां शुक्रशोणितरूपाणां सामग्रीसंयोगे कश्चित्तादृशे तस्मिन्नेव परिपाके दृश्यमानोऽयं यन्त्रवाहश्चेतनाभिधः प्रभावविशेषः । कथमचेतनेभ्यो नाम चेतनोत्पत्तिरित्याह—यथा धातक्यादिभ्योऽचेतनेभ्यो मदिराशक्तिरुन्मादिकेति । ननु सदृशात्सदृशोत्पत्तिस्तत्कथं मूर्तेभ्योऽमूर्तसंभवः । सत्यम्, भूतानां शक्तिरमूर्तैव ॥६५॥ विहायेति—हे प्रभो, प्रत्यक्षं साम्राज्यसौख्यं परित्यज्य परोक्षाय मोक्षाय मा चिकीर्ष । सौख्यं संसार एव अन्यत्राभावात् प्रयासपरम्परैवास्मिन्प्रयत्ने । को वा प्रेक्षापूर्वकारो हिताहितलिप्सुतित्यक्षुर्गवादीनां दुग्धस्थानानि परित्यज्य भीतिकारिषु

नहीं है तब उसके परलोककी वार्ता कहाँ हो सकती है ? ॥ ६३ ॥ इस शरीरके सिवाय कोई भी आत्मा न तो जन्मके पहले प्रवेश करता ही दिखाई देता है और न मरनेके बाद निकलता ही। इसी प्रकार किसी अवयवके खण्डित हो जाने पर भीतर प्रवेश करता और निकलता हुआ दिखाई देता है ॥ ६४ ॥ किन्तु जिस प्रकार गुड़, अन्नचूर्ण, पानी और आँवलोंके संयोगसे एक उन्माद पैदा करनेवाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी, अग्नि, जल और वायुके संयोगसे कोई इस शरीर रूपी यन्त्रका संचालक उत्पन्न हो जाता है ॥ ६५ ॥ इसलिए राजन् ! प्रत्यक्ष छोड़कर परोक्षके लिए व्यर्थ ही प्रयत्न न करो। भला, ऐसा

श्रुत्वेत्यवादीन्नृपतिर्विधुन्वन् भानुस्तमांसीव स तद्वचांसि ।
अपार्थमर्थं वदतः सुमन्त्र नामापि ते नूनमभूदपार्थम् ।।६७।।
जीवः स्वसंवेद्य इहात्मदेहे सुखादिवद्बाधकविप्रयोगात् ।
काये परस्यापि स बुद्धिपूर्वव्यापारदृष्टेः स्व इवानुमेयः ।।६८।।
तत्कालजातस्य शिशोरपास्य प्राग्जन्मसंस्कारमुरोजपाने ।
नान्योऽस्ति शास्ता तदपूर्वजन्मा जीवोऽयमित्यात्मविदा न वाच्यम् ।।६९।।
ज्ञानैकसंवेद्यममूर्तमेनं मूर्ता परिच्छेत्तुमलं न दृष्टिः ।
व्यापार्यमाणापि कृताभियोगैर्भिनत्ति न व्योम शितासियष्टिः ।।७०।।

विषाणेषु प्रवर्तते[1] ।।६६।। श्रुत्वेति—निरर्थकतया तद्वचनानि विधुरयन्नृपतिरुवाच ध्वान्तानीव भास्करो हे सुमन्त्र, अर्थशून्यं विसंवादार्थं जल्पतो भवतः सुमन्त्र इति नामापि निरर्थकमभूदिति पूर्वोक्तस्य प्रतिविदधानमाह—।।६७।। जीव इति—जीव इति स्वेनैवात्मना वेद्य इह बुद्धिपूर्वककार्यकारिणि संबन्धितशरीरे सुखदुःखवेदी, बाधककारणाभावात् । परस्यापि शरीरे बुद्धिमत्कार्यदर्शनादनुमीयते स्वशरीर इव । ननु चक्षुरादिना वेदितुमशक्यत्वात् । साधकप्रमाणाभावाद्वा जोवस्य नास्तीत्यभिधीयते । न नामान्धस्य दर्शनाशक्तिकत्वेन घटादीनामभावो न च चक्षुरादिना गृहीतमशक्यस्य स्पर्शग्राह्यस्य वायोर्नास्तित्वं तथेतरेन्द्रियविषयस्य च । किं च यच्चक्षुषा पश्यामि तदस्तोति जल्पतो भवतश्चक्षुरेव नास्तित्वम् । तस्यात्मविषयत्वात् । नापि द्वितीयः पक्षः, तत्साधकप्रमाणानां सुलभत्वात् । तथाहि प्रत्यक्षं हि विशदरूपतया प्रतिभासनं तच्चात्मनः स्वानुभवनेन विशिष्टतममेवानुभवो हि प्रत्यक्षपरमप्रकर्षः स चात्मनि दृष्टोऽन्यत्राप्युपचर्यते । न नाम घटादोनां परस्परं प्रत्यक्षता तेषामबोधस्वरूपत्वात् । यच्चोक्तं क्ष्मात्र्यादौ जीवधर्मसंभवस्तर्हि नास्तिकमतविकल्पावलीजालं कथं तस्मान्नोल्लसति साधारणधर्माविशेषत्वात् । किंच धारणप्रेरणद्रवत्वोप्लवस्वभावानां भूतानां कथं चेतनास्वभावः । कथं नामाभावप्रमाणं प्रवृत्तिमियर्ति । 'गृहीत्वा वस्तु सद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया' । ततो भवता कुत्रचिद्दृष्टे जीवेऽन्यत्र प्रतिषेधो वाच्यः ।।६८।। तत्कालेति—तत्कालजातस्य बालस्य पूर्वजन्मसंस्कारमपहाय स्तनपानक्रियायां कः शिक्षकः । न कोऽपि, किन्तु पूर्वजन्मसंस्कार एव स्तनपाने शिक्षाप्रदः । जीवोऽयं नवीन उत्पद्यते किन्तु पूर्वजन्मपरित्याग एव तथास्याभ्यासयोगात्स्तनपानादिका जन्मनि जन्मनि क्रिया तथैव[2] ।।६९।। तर्हि कथं न दृश्यत इत्याह—ज्ञानैकेति—ज्ञानेनैकेन केवलेन संवेद्यते ज्ञानैकसंवेद्यस्तं तथाविधममूर्त्तमिन्द्रियापरिच्छेद्यं जीवं मूर्ता चर्ममयी दृष्टिः परिच्छेत्तुं न समर्था । तदर्थे दृष्टान्तमाह—

कौन बुद्धिमान् होगा जो गायके स्तनको छोड़ सींगोंसे दूध दुहेगा ? ।। ६६ ।। मन्त्रीके बचन सुन जिस प्रकार सूर्य अन्धकारको नष्ट करता है उसी प्रकार उसके वचनोंको खण्डित करता हुआ राजा बोला—अये सुमन्त्र ! इस निःसार अर्थका प्रतिपादन करते हुए तुमने अपना नाम भी मानो निरर्थक कर दिया ।। ६७ ।। हे मन्त्रिन् ! यह जीव अपने शरीरमें सुखादिकी तरह स्वसंवेदनसे जाना जाता है, क्योंकि उसके स्वसंविदित होनेमें कोई भी बाधक कारण नहीं है और चूँकि बुद्धिपूर्वक व्यापार देखा जाता है अतः जिस प्रकार अपने शरीरमें जीव है उसी प्रकार दूसरेके शरीरमें भी वह अनुमानसे जाना जाता है ।। ६८ ।। तत्कालका उत्पन्न हुआ बालक जो माताका स्तन पीता है उसे पूर्वभवका संस्कार छोड़कर अन्य कोई भी सिखानेवाला नहीं है इसलिए यह जीव नया ही उत्पन्न होता है—ऐसा आत्मज्ञ मनुष्यको नहीं कहना चाहिए ।। ६९ ।। चूँकि यह आत्मा अमूर्तिक है और एक ज्ञानके द्वारा ही जाना जा सकता है अतः इसे मूर्तिक दृष्टि नहीं जान पाती । अरे ! अन्यकी बात जाने दो, बड़े-बड़े निपुण मनुष्योंके द्वारा भी चलायी हुई पैनी तलवार क्या कभी आकाशका भेदन कर सकती

१. अर्थान्तरन्यासः छेकानुप्रासश्च । २. प्राग्जन्मसंस्कारादेव जोवो जनन्याः स्तनं धयतीति भावः ।

संयोगतो भूतचतुष्टयस्य यज्जायते चेतन इत्यवादि ।
मरुज्ज्वलत्पावकतापिताम्भःस्थाल्यामनेकान्त[1] इहास्तु तस्य ॥७१॥

उन्मादिका शक्तिरचेतना या गुडादिसंबन्धभवा न्यदर्शि ।
सा चेतने ब्रूहि कथं विशिष्टदृष्टान्तकक्षामधिरोहतीह ॥७२॥

तस्मादमूर्तश्च निरत्ययश्च कर्ता च भोक्ता च सचेतनश्च ।
एकः कथंचिद्विपरीतरूपादवेहि देहात्पृथगेव जीवः ॥७३॥

निसर्गतोऽप्यूर्ध्वगतिः प्रसह्य द्राक्कर्मणा हन्त गतीर्विचित्राः ।
स नीयते दुर्धरमारुतेन हुताशनस्येव शिखाकलापः ॥७४॥

तदात्मनः कर्मकलङ्कमूलमुन्मूलयिष्ये सहसा तपोभिः ।
मणेरनर्घस्य कुतोऽपि लग्नं को वा न पङ्कं परिमार्ष्टि तोयैः ॥७५॥

यत्नपरैः पुरुषैर्निशितासिलता व्यापार्यमाणापि गगनं न कृन्तति किन्तु मूर्तं स्तम्भादिकमेव[2] ॥७०॥ संयोगत इति—यच्च भवता भूतचतुष्टयसंयोगेन जीवः समुत्पद्यते इत्युक्तं तदपि व्यभिचार्येव । वातजाज्वल्यमानवह्नितापिता म्भःकुम्भ्यां तस्य हेतोर्व्यभिचारः । तत्र तप्तोदकस्थाल्यामपि भूतचतुष्टयं समस्ति परं न च तत्र जीवसंभव इति[3] ॥७१॥ उन्मादिकेति—या चोन्मादिका-उन्मादिनीशक्तिर्भवता दृष्टान्तीकृता सा चेतने दर्शनज्ञानोपयोगलक्षणे जीवे कथं निदर्शनं स्यात् । सदृशस्य गुणसादृश्येन दृश्यन्त इति दृष्टान्तवादिनः । तच्च भवद्दर्शितं निदर्शनमचेतनं न सचेतने दृष्टान्त इति ॥७२॥ तस्मादिति—ज्ञानवेद्यत्वेनामूर्तः । एतेन चार्वाको निरस्तः, निरत्ययो नित्यो न बौद्धकल्पितवत् क्षणक्षयी, य एव कर्ता स एव भोक्ता, न प्रकृतिः करोति फलमात्मोपभुनक्तीति सांख्यमतवत् । सचेतनो ज्ञानस्वरूपो न वैशेषिकमतवज्जडस्वरूपः । एको नौपम्यः, कथंचिन्निर्वाच्ययुक्त्या विपरीतरूपाज्जडस्वभावादन्य एवात्मा ॥ ७३ ॥ तथाविधस्य कथं देहान्तरे संचरणमित्याह । निसर्गत इति—स जीवो निसर्गात्सहजादूर्ध्वगतिस्वभावोऽपि प्रसह्य बलात्कारस्वभावेन द्राक्समयमध्ये कर्मणा निजपरिणामेन कष्टं नानायोनीः प्राप्यते । यथाग्निशिखाकलाप ऊर्ध्वज्वलनस्वभावो वायुना तिर्यग् नीयते ॥७४॥ तदात्मन इति—तच्चातुर्गतिकसंसारकारणं मिथ्यापरिणामदोषमूलं तपःखनित्रैरुत्पाटयिष्यामि । को वा तत्त्ववेदकोऽनर्घरत्नस्य कुतोऽपि बाह्यस्वभावान्मलं लग्नं न प्रक्षालयति जलैरिति

है ? ॥ ७० ॥ भूतचतुष्टयके संयोगसे जीव उत्पन्न होता है—यह जो तुमने कहा है उसका वायुसे प्रज्वलित अग्निके द्वारा संतापित जलसे युक्त बटलोईमें खरा व्यभिचार है क्योंकि भूतचतुष्टयके रहते हुए भी उसमें चेतन उत्पन्न नहीं होता ॥ ७१ ॥ और गुड़ आदिके सम्बन्धसे होनेवाली जिस अचेतन उन्मादिनी शक्तिका तुमने उदाहरण दिया है वह चेतनके विषयमें उदाहरण कैसे हो सकती है ? ॥ ७२ ॥ इस प्रकार यह जीव अमूर्तिक, निर्बाध, कर्ता, भोक्ता, चेतन, और कथंचित् एक है तथा विपरीत स्वरूपवाले शरीरसे पृथक् ही है ॥ ७३ ॥ जिस प्रकार अग्निकी शिखाओंका समूह स्वभावसे ऊपरको जाता है परन्तु प्रचण्ड पवन उसे हठात् इधर-उधर ले जाता है इसी प्रकार यह जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगति है—ऊपरको जाता है परन्तु पुरातन कर्म इसे हठात् समय मात्रमें अनेक गतियोंमें ले जाता है ॥ ७४ ॥ इसलिए मैं आत्माके इस कर्म कलंकको तपश्चरणके द्वारा शीघ्र ही नष्ट करूँगा क्योंकि अमूल्य मणि-

---

१. व्यभिचारः । २. मूर्ता खड्गयष्टिरमूर्तं गगनं भेत्तुं न शक्नोति न तथा मूर्ता दृष्टिर्जीवं परिच्छेत्तुं शक्नोतीति भावः । ३. यदि भूतचतुष्टयस्य संयोगाज्जीवो जायते तर्हि मरुदादिसंयोगवत्यां स्थाल्यामपि स जायेत किन्तु न जायते तस्मात्सदोषं तन्निवेदनमिति भावः ।

दत्वा स तस्योत्तरमित्यबाधं ददौ सुतायातिरथाय राज्यम् ।
यन्निर्व्यपेक्षा परमार्थलिप्सोर्धात्रीं [1] तृणायापि न मन्यते धीः ॥७६॥
अथैनमापृच्छ्य सबाष्पनेत्रं पुत्रं प्रपित्सुर्वनसंनिवेशम् ।
प्रजाः स भास्वानिव चक्रवाकीराक्रन्दिनीस्तत्प्रथमं चकार ॥७७॥
त्यक्तावरोधोऽपि सहावरोधैर्नक्षत्रमुक्तानुपदोऽपि राजा ।
प्रापद्वनं पौरहृदि स्थितोऽपि को वा स्थितिं सम्यगवैति राज्ञाम् ॥७८॥
तद्वाहनं श्रीविमलादिमादौ नत्वा गुरुं भूपशतैरुपेतः ।
तत्रोग्रकर्मक्षयमूलशिक्षां दीक्षां स जैनीमभजज्जितात्मा ॥७९॥

॥७५॥ दत्त्वेति—तस्य सुमन्त्रस्य पूर्वोक्तप्रकारेण सुनिश्चितमुत्तरं दत्त्वाधिरथनामधेयपुत्राय राज्यमदात् । यस्मात्कारणात् सर्वनिरभिलाषा बुद्धिर्मुमुक्षोः साम्राज्यं तृणतुलयापि न गणयति [2] ॥७६॥ अथैनमिति—अथैनं राज्याधिष्ठं सुतमुत्कलाप्य ततो वनं यियासुः स्नेहवत्सलत्वेन स राजा प्रजा रुरुदिपूरकार्षीत् । यथादित्यश्चक्रवाकीर्वनसंनिवेशं जलराशिं पतितुमिच्छुर्विरहविधुरिताः करोति [3] ॥७७॥ त्यक्तेति—स नृपः पौरजनैः संस्मर्यमाणो वनं जगाम, मुक्तान्तःपुरादिपरिवारो निर्विषयैर्भावैः सह न क्षत्रियाः स्थापिता अनुपदं प्रतिदेशस्थानं येन स तथाभूतः । अथ च यः किल पौरहृदयस्थो भवति स कथं वने स्यात् । यश्च त्यक्तावरोधः स सावरोधः कथम् । नक्षत्राणां मुक्तं स्थानं येन स तथाविधश्चन्द्रः कथमिति विरोधः । को वा नीतिज्ञोऽपि नृपतीनां चित्तस्थितिं जानाति । यदि वा नो क्षत्रैर्मुक्तं पार्श्वं यस्य स तथाविधः । कैश्चिद्राजपुत्रैर्युक्तः प्रस्ताव [4] इत्यर्थः [5] ॥७८॥ तद्वाहनमिति—स राजा श्रीविमलवाहननामानं गुरुं नमस्कृत्य भूपशतसहितो

पर किसी कारणवश लगे हुए पंकको जलसे कौन नहीं धो डालता ? ॥ ७५ ॥ इस प्रकार महाराज दशरथने सुमन्त्र मन्त्रीके प्रश्नका निर्बाध उत्तर देकर अतिरथ नामक पुत्रके लिए राज्य दे दिया सो ठीक ही है क्योंकि परमार्थको प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यकी निःस्पृह दृष्टि पृथिवीको तृण भी नहीं समझती ॥ ७६ ॥ तदनन्तर जिस प्रकार अस्तोन्मुख सूर्य चकवियोंको रुलाता है उसी प्रकार रोते हुए पुत्रसे पूछ कर वनकी ओर जाते हुए राजाने अपनी प्रजाको सबसे पहले रुलाया था ॥ ७७ ॥ वह राजा यद्यपि अवरोध—अन्तःपुरको छोड़ चुके थे फिर भी अवरोधसे सहित थे [अवरोध—इन्द्रियदमन अथवा संवरसे सहित थे] और यद्यपि नक्षत्रों—ताराओंने उनका सन्निधान छोड़ दिया था फिर भी राजा—चन्द्रमा थे [अनेक क्षत्रिय राजाओंसे युक्त थे] और यद्यपि नगरवासी लोगोंके हृदयमें स्थित थे तो भी वनमें जा पहुँचे थे । [नगर निवासी लोग अपने मनमें उनका चिन्तन करते थे सो ठीक ही है क्योंकि राजाओंको ठीक-ठीक स्थितिको कौन जानता है ? ॥ ७८ ॥ उन जितेन्द्रिय

१. 'मन्यकर्मण्यनादरे' इति चतुर्थी । २. निःस्पृहस्य किं राज्येनेति भावः । ३. एतस्य वनगमनात्प्राक् प्रजा कदापि नाक्रन्दनं चकारेति भावः । ४. दीक्षावसरे इत्यर्थः । ५. अत्रेदं सुगमं व्याख्यानम्—स नृपस्त्यक्तो मुक्तोऽवरोधो बन्धनं येन तथाभूतोऽपि सन् अवरोधैर्बन्धनैः सह वर्तमान इति विरोधः । पक्षे त्यक्तो मुक्तोऽवरोधः शुद्धान्तो राजसद्म वा येन स इति परिहारः । 'अवरोधस्तु शुद्धान्तेऽप्यन्तर्द्धौ राजसद्मनि' इति विश्वलोचनः । नक्षत्रैस्ताराभिर्मुक्तं त्यक्तमनुपदं सामीप्यं यस्य तथाविधोऽपि सन् राजा नक्षत्रपतिश्चन्द्र इति यावद्, बभूवेति विरोधः । पक्षे क्षत्रैः क्षत्रियैर्मुक्तानुपदं न भवतीति नक्षत्रमुक्तानुपदो राजा नृपो बभूवेति परिहारः । पौराणां नागरिकाणां हृदि चेतसि स्थितोऽपि विद्यमानोऽपि वनं काननं प्रापज्जगामेति विरोधः। पौरहृदयैः संस्मर्यमाणोऽपि वनं जगामेति परिहारः । अथ श्लेषेण परिहृतमपि विरोधं सामान्योक्त्या परिहरति—राज्ञां नृपाणां स्थितिं मर्यादां सम्यक् सुष्ठु को वावैति को वा जानीते न कोऽपीत्यर्थः । विरोधाभासोऽलंकारः 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति लक्षणात् ।

तथा समुद्रामधिबिभ्रदुर्वीं धुन्वन्नरातीनपि विग्रहस्थान् ।
मुक्तोत्तमालंकरणः प्रजापो वनेऽपि साम्राज्यपदं बभार ॥८०॥
ध्यानानुबन्धस्तिमितोरुदेहो मित्रेऽपि शत्रावपि तुल्यवृत्तिः ।
व्यालोपगूढः स वनैकदेशे स्थितश्चिरं चन्दनवच्चकासे ॥८१॥
पूषा तपस्यल्परुचिः सदोषः शशी शिखावानपि कृष्णवर्मा ।
गुणोदधेस्तस्य ततो न कश्चित्तमः समुन्मूलयतः समोऽभूत् ॥८२॥
निरामयश्रीसदनाग्रनीवं तीव्रं तपो द्वादशधा विधाय ।
धन्योऽथ संन्यासविसृष्टदेहः सर्वार्थसिद्धिं स मुनिर्जगाम ॥८३॥

जितेन्द्रियो जैनीं दीक्षां महाव्रतभारधरां बभार । उग्राणि च तानि कर्माणि तेषां क्षयो विनाशस्तस्य मूलशिक्षां प्रथमकारणम् ॥७९॥ तथेति—तथा बाह्याभ्यन्तरद्वादशप्रकारतपश्चरणप्रकारेणोर्वीं भुवनपूज्यां मुद्रां धारयन् देहस्थानिन्द्रियादीन् शत्रूनपि निघ्नन् त्यक्तप्रधानभूषणः प्रजापः सिद्धमन्त्रमुच्चरन् तथा सन् स राजा वनेऽपि साम्राज्यपदमिव बभार । तथा तदवस्थाश्चत्वारः समुद्रा यस्यां तां पृथिवीं पालयन् संग्रामस्थानरातीन् कम्पयन् मुक्ताफलप्रधानालंकरणः प्रजां पातीति[1] ॥८०॥ ध्यानेति—स राजा ध्यानकाष्ठा निःष्पन्दाङ्गयष्टिः श्रीखण्डमनुचकार वनप्रदेशस्थितः सर्पमालितः शत्रुमित्रसमसौरभपरिणामः[2] ॥ ८१ ॥ पूषेति—तस्य गुणसमुद्रस्यान्तरं मोहलक्षणं तमः प्रक्षालयत आदित्यः सदृशो न बभूव । कुत इत्याह—यतोऽसौ तपश्चरणे महाभिलाषः पक्षे माघे मासि मन्दतेजाः । चन्द्रश्च सरजनीकः पक्षे सापवादः । अग्निरपि मलिनमार्गः प्रसिद्धः[3] ॥८२॥ निरामयेति—स मुनिः सर्वार्थसिद्धिनामधेयमनुत्तरविमानं प्रपेदे । किं कृत्वेत्याह—

राजाने सर्वप्रथम श्रीविमलवाहन गुरुको नमस्कार किया और फिर उन्हींके पास सौ राजाओंके साथ-साथ भयंकर कर्मोंके क्षयकी शिक्षा देनेवाली जिनदीक्षा धारण की ॥ ७९ ॥ वह मुनि समुद्रान्त पृथिवीको धारण कर रहे थे [पक्षमें पृथिवी-जैसी निश्चल मुद्राको धारण कर रहे थे] युद्धमें स्थित शत्रुओंको नष्ट कर रहे थे, [पक्षमें शरीरमें स्थित काम, क्रोधादि शत्रुओंको नष्ट कर रहे थे], मोतियोंके उत्तम अलंकार धारण किये हुए थे [पक्षमें उत्तम अलंकारोंको छोड़ चुके थे] और प्रजाकी रक्षा कर रहे थे [पक्षमें प्रकृष्ट जाप कर रहे थे] इस प्रकार वनमें भी मानो साम्राज्य धारण किये हुए थे ॥ ८० ॥ इन मुनिराजका विशाल शरीर ध्यानके सम्बन्धसे बिलकुल निश्चल था, शत्रु और मित्रमें उनकी समान वृत्ति थी, तथा शरीरमें सर्प लिपट रहे थे अतः वनके एकदेशमें स्थित चन्दन वृक्षकी तरह सुशोभित हो रहे थे ॥ ८१ ॥ सूर्यकी तपमें अल्प इच्छा है [माघ मासमें कान्ति मन्द पड़ जाती है] परन्तु मुनिराजकी तपमें अधिक इच्छा थी, चन्द्रमा सदोष है [रात्रि सहित है] परन्तु मुनिराज निर्दोष थे और अग्नि कृष्णवर्मा है—मलिनमार्गसे युक्त है [कृष्णवर्त्मा अग्निका नामान्तर है] परन्तु मुनिराज उज्ज्वल मार्गसे युक्त थे अतः अन्धकारको नष्ट करनेवाले उन गुणसागर मुनिराजकी समानता कोई भी नहीं कर सका था ॥ ८२ ॥ तदनन्तर वे धन्य

१. अस्येदं सुगमं व्याख्यानम्—तथा तेन प्रकारेण स नृपः । उर्वीं त्रिभुवनपूज्यां पृथिवीं मुद्रां संस्थानविशेषम् । अधिबिभ्रद् दधत् पक्षे आसमुद्रां चतुःसमुद्रान्ताम् उर्वीं पृथिवीम् अधिबिभ्रत् पालयन् विग्रहे शरीरे तिष्ठन्तीति विग्रहस्थास्तान् क्रोधादीन् अरातीन् रिपूनपि धुन्वन् नाशयन् पक्षे विग्रहे युद्धे तिष्ठन्तीति विग्रहस्थास्तान् अरातीनपि धुन्वन् उत्सारयन् 'विग्रहः कायविस्तारविभागे ना रणेऽस्त्रियाम्' इति मेदिनी । मुक्तानि त्यक्तान्युत्तमान्यलंकरणानि श्रेष्ठभूषणानि येन स निष्परिग्रहत्वादिति यावत् । पक्षे मुक्ताभिः प्रोतमुक्ताफलैरुत्तमान्यलंकरणानि यस्य तथाभूतः । प्रकृष्टः जापो यस्य स प्रजापः पक्षे प्रजां पातीति रक्षतीति प्रजापः । एवंभूतः सन् वनेऽपि कान्तारेऽपि साम्राज्यपदं साम्राज्यचिह्नं बभार । श्लेषः ॥ २. उपमालंकारः । ३. अस्येदं व्याख्यानं सुगमम्—पूषा सूर्यस्तपसि तपश्चरणे, अल्परुचिरल्पेच्छः अयं तु महाभिलाष इति विशेषः । पक्षे पूषा

तत्र त्रयस्त्रिंशदुदन्वदायुर्देवो[1]ऽहमिन्द्रः स बभूव पुण्यैः ।
निर्वाणतोऽर्वागधिकावधीनां मूर्तः सुखानामिव यः समूहः ॥८४॥
सा तत्र मुक्ताभरणाभिरामा यन्मुक्तिरामा निकटीबभूव ।
मन्ये मनस्तस्य ततोऽन्यनारीविलासलीलारसनिर्व्यपेक्षम् ॥८५॥
तस्य प्रभाभासुररत्नगर्भा विभ्राजते रुक्मकिरीटलक्ष्मीः ।
अव्याजतेजोनिवहस्य देहे [2]द्राघीयसी प्रज्वलतः शिखेव ॥८६॥
रेखात्रयाधिष्ठितकण्ठहारिहारावली तस्य विभोर्विभाति ।
सुदर्शनस्यात्यनुरक्तमुक्तिमुक्ताकटाक्षप्रसरच्छटेव ॥ ८७ ॥
नूनं सहस्रांशुसहस्रतोऽपि तेजोऽतिरिक्तं न च तापकारि ।
शृङ्गारसाम्राज्यमनन्यतुल्यं न चाभवत्तस्य मनो विकारि ॥ ८८ ॥

षड्विधं बाह्यं षड्विधाभ्यन्तरमिति द्वादशप्रकारं तपस्तप्त्वा । किंविशिष्टम् । नित्यमुक्तिलक्ष्मीगृहवलीकं तीव्रमनन्यकरणीयं संन्यसनपरमयोगेन स्वस्वरूपावलोकनेन मुक्तो देहो येन स तथाविधः ॥८३॥ तत्रेति— तत्र सर्वार्थसिद्धिविमाने त्र्यधिकत्रिंशत्सागरोपमायुः परिणामोऽहमिन्द्रो देवो बभूव । कैस्तपश्चरणोपार्जितैः पुण्यैः । अथ च ज्ञायते स सुखानां मूर्तिमान् समूह इव अधिकावधीनां निःसीम्नाम् । कथम् । अर्वाक्, कस्मात् । मुक्तिपदात् । मोक्षसुखमेव ततो विशिष्टतरं नान्यदित्यर्थः ॥८४॥ सेति—सात्मप्रभावसदृशी मुक्तिस्त्री तस्य निकटीबभूव । या किंविशिष्टा । [3]मुक्तैराभरणैरेवाभिरमणीया नान्यनारीवत्सालंकरणा । ततश्चानुमामि तस्य देवस्येतरस्त्रीविलासक्रीडाभावपराङ्मुखं मनो बभूव । तत्र विमाने देवानां मन्मथादयो भावाः न सन्तीत्यर्थः ॥८५॥ तस्येति—जाज्वल्यमानमहारत्नकण्टकिता सुवर्णमुकुटलक्ष्मीस्तस्य शोभते सहजप्रमाणतेजोनिवहस्य दीर्घतरा भासमानस्य शरीरे ॥८६॥ रेखात्रयेति—रेखात्रयाङ्कितकण्ठे रमणीयं यथाभवत्येवं मुक्तावली राजते सुदर्शनस्य यथोक्तसम्यक्त्वस्य पक्षे सुदर्शनीयस्य । केव राजत इत्याह—अतिशयाभिलाषुकमोक्षलक्ष्मीप्रेषितकटाक्षविचरत्पङ्क्तिरिव ॥८७॥ नूनमिति—निश्चितं तस्यादित्यसहस्रेभ्योऽपि तेजोऽधिकमेव। तर्हि तद्वत्तापकारि भविष्यति । तत्र न संतापकारकम् । शृङ्गारसर्वस्वं तस्यानन्यसदृशं, तर्हि कामोद्रेकादिरपि भविष्यति । तत्र न

मुनिराज मोक्ष-महलकी पहली नींवके समान बारह प्रकारके कठिन तप तपकर समाधिपूर्वक शरीर छोड़ते हुए सर्वार्थसिद्धि विमानमें जा पहुँचे ॥ ८३ ॥ वहाँ वे अपने पुण्यके प्रभावसे तेतीस सागरकी आयुवाले वह अहमिन्द्र हुए जो कि मोक्षके पहले प्राप्त होनेवाले सर्वोत्कृष्ट सुखोंके मानो मूर्तिक समूह ही हों ॥ ८४ ॥ चूँकि वहाँ सिद्ध परमेष्ठी रूप आभरणोंसे मनोहर मुक्तिरूपी लक्ष्मी निकटस्थ थी इसीलिए मानो उस अहमिन्द्रका मन अन्य स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करनेमें निःस्पृह था ॥ ८५ ॥ देदीप्यमान रत्नोंसे खचित उस अहमिन्द्रका सुवर्णमय मुकुट ऐसा जान पड़ता था मानो शरीरमें प्रकाशमान स्वाभाविक तेजके समूहकी लम्बी शिखा ही हो ॥ ८६ ॥ अत्यन्त सुन्दर [पक्षमें सम्यग्दर्शनसे युक्त] अहमिन्द्रके तीन रेखाओंसे सुशोभित कण्ठमें पड़ी हुई मनोहर हारोंकी माला ऐसी जान पड़ती थी मानो अनुरागसे भरी हुई मुक्ति लक्ष्मीके द्वारा छोड़ी हुई कटाक्षोंकी छटा ही हो ॥ ८७ ॥ निश्चित ही उस अहमिन्द्रका तेज हजारों सूर्योंसे अधिक था पर सन्ताप करनेवाला नहीं था, और शृंगारका

सूर्यस्तपसि माघमासेऽल्परुचिरल्पकान्तिः 'तपा माघे' इत्यमरः । शशी चन्द्रः सदोषो दोषसहितः अयं तु दोषरहितः पक्षे सदोषः सरजनीकः । शिखावानपि वैश्वानरोऽपि कृष्णवर्त्मा मलिनमार्गः । अयं तूज्ज्वलमार्गः पक्षे कृष्णवर्त्मेत्यग्नेर्नामान्तरम् । एवं तम आन्तरं ध्यानं मोहमिति यावत् समुन्मूलं यतो दूरीकुर्वतो गुणोदधेर्गुणार्णवस्य तस्य समः सदृशः कश्चित्कोऽपि नो बभूव । श्लेषमूलको व्यतिरेकालंकारः ॥

१. देवोऽयमिन्द्रः घ० म० । २. अतिशयेन दीर्घा द्राघीयसी । ३. मुक्ताः भगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिनः एवाभरणानि भूषणानि तैरभिरामा मनोहरा पक्षे मुक्तानां मुक्ताफलानामाभरणानि भूषणानि तैरभिरामा ।

नवं वयो लोचनहारि रूपं प्रभूतमायुः पदमद्वितीयम् ।
सम्यक्त्वशुद्धाश्च गुणा जगत्सु किं किं न लोकोत्तरमस्ति तस्य ॥ ८९ ॥

तस्य त्रियामाभरणाभिरामान्वक्तुं गुणान्वाञ्छति यः समग्रान् ।
आप्लावयन्तं जगतीं युगान्ते मुग्धस्तितीर्षत्युदधिं स दोर्भ्याम् ॥ ९० ॥

शरद्दलादूर्ध्वमितश्च्युतः[1] सन्नस्याः स गर्भे भवतः प्रियायाः ।
शुक्तेरिव स्वातिभवोदबिन्दुर्मुक्तात्मकोऽग्रेऽवतरिष्यतीह ॥ ९१ ॥

इति निशम्य स सम्यगुदीरितां यमवतान्यभवस्थितिमर्हतः ।
ससुहृदुत्पुलकस्तिलको भुवः स्फुटकदम्बकदम्बकवद्बभौ ॥ ९२ ॥

अथोचितसपर्यया मुनिमनिन्द्यविद्यास्पदं
प्रपूज्य [2]सपरिग्रहो विधिवदेनमानम्य च ।

च विषयाभिलाषि चित्तम् । व्यतिरेकोऽयमलंकारः ॥८८॥ नवमिति—सर्वदा तत्र तारुण्यं तादृक् प्रभावं च रूपं प्रचुरं जीवितं प्रभुत्वं चानन्यसदृशं रत्नत्रयाङ्गिभूताश्च गुणास्ततस्तस्य किं किं न लोकाधिकं वर्तते । समुच्चयोऽयमलंकारः ॥८९॥ तस्येति - तस्याहमिन्द्रस्य चन्द्रकरविशदान् सकलगुणगणान् विवक्षति यः स कल्पान्ते भूवलयं गिलन्तं समुद्रं तरीतुमिच्छति मुग्ध आत्मनो भुजाभ्याम् । [3]आक्षेपोऽयमलंकारः ॥९०॥ शरदिति—हे राजन् ! षण्मासानन्तरमेतस्माद्विमानाच्च्युतः सन् अस्मिन्नगरे भवत्पत्न्याः सुव्रताया गर्भेऽवतरिष्यति स्वातिनक्षत्रजलबिन्दुरिव मुक्ताफलस्वरूपः पक्षे मोक्षयोग्यः ॥९१॥ इतीति—स राजा पृथिव्यास्तिलको मण्डनीभूतःपुलकितो गोत्रजैः सह । अतश्च संभाव्यते विकसत्कदम्बपुष्पस्तवक इव । किं कृत्वा रराजेत्याह—भविष्यज्जिनस्य पूर्वभववृत्तान्तमाकर्ण्य तेन मुनिना यथावत्प्रतिपादितम्[4] ॥९२॥ अथेति—अथानन्तरं मुक्ताष्टप्रकारपूजया मुनिपादारविन्दान्यर्चयित्वा यथाविधि नत्वा च सपरिवारो राजा गृहं जगाम द्रुतं

साम्राज्य अनुपम था पर मनको विकृत करनेवाला नहीं था ॥ ८८ ॥ उसकी नूतन अवस्था थी, नयनहारी रूप था, विशाल आयु थी, अद्वितीय पद था, और सम्यक्त्वसे शुद्ध गुण थे । वस्तुतः उसकी कौन-सी वस्तु तीनों लोकोंमें लोकोत्तर नहीं थी ? ॥ ८९ ॥ जो मूर्ख उस अहमिन्द्रके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल समस्त गुणोंको कहना चाहता है वह प्रलयकालके समय पृथिवीको डुबानेवाले समुद्रको मानो अपनी भुजाओंसे तैरना चाहता है ॥ ९० ॥ जिस प्रकार स्वाति नक्षत्रके जलकी बूँद मुक्तारूप होकर सीपके गर्भमें अवतीर्ण होती है उसी प्रकार यह अहमिन्द्र आजसे छह मास बाद आपकी इस प्रियाके गर्भमें प्रायः मुक्तरूप होता हुआ अवतीर्ण होगा ॥ ९१ ॥ इस प्रकार मुनिराजके द्वारा अच्छी तरह कहे हुए श्री तीर्थंकर भगवान्के पूर्वभवका वृत्तान्त सुनकर राजा महासेन अपने मित्रों सहित रोमांचित हो उठा, जिससे ऐसा जान पड़ने लगा मानो खिले हुए कदम्बके फूलोंका समूह ही हो ॥ ९२ ॥ अनन्तर राजाने अपने परिजन अथवा रानीके साथ प्रशंसनीय विद्याके आधारभूत उन मुनिराजकी योग्य सामग्री द्वारा पूजा की, विधिपूर्वक उन्हें नमस्कार किया और फिर यथासमय

१. शरदो हायनस्य दलमर्धभागस्तस्मात् मासषट्कात् 'हायनोऽस्त्री शरत्समा' इत्यमरः । २. सपरिजनः सपत्नीको वा 'परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारशापयोः' इति विश्वलोचनः । ३. तस्य समग्रगुणवर्णनं भुजाभ्यां कल्पान्तपयोनिधितरणमिवेति निदर्शनालंकारः । ४. द्रुतविलम्बितवृत्तम्, उपमालंकारश्च ।

यथासमयमेष्यतां [१]सुमनसामिवातिथ्यविद्
विधातुमयमर्हणां द्रुतमगादगारं नृपः ॥ ९३ ॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये जिनापरभववर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

शीघ्रम् । द्रुतत्वकारणमाह—आगमिष्यतां देवानां स्वागतपूजां कर्तुमिव । यतोऽसौ किंविशिष्टः । आतिथ्यवेदी, यथासमयं गर्भावतारजन्मोत्सवादिषु[४] ॥९३॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्ये भवान्तरवर्णने श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यश्रीयशःकीर्तिविरचितायां संदेहध्वान्तदीपिकायां चतुर्थः सर्गः ॥४॥

आनेवाले देवोंका सम्मान करनेके लिए वह अतिथि-सत्कारका जाननेवाला राजा शीघ्र ही अपने घर वापिस चला गया ॥ ९३ ॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें पूर्वभव वर्णन करनेवाला चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

---

१. 'सुमनाः पुष्पमालत्योः स्त्रियां धीरे सुरे पुमान्' इति विश्वलोचनः । २. पृथ्वीच्छन्दः 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति लक्षणात् ।

पञ्चमः सर्गः

तत्र कारयितुमुत्सवं मुदा यावदेष सदसि न्यविक्षत ।
तावदम्बरतटावतारिणीः प्रैक्षतामरविलासिनीर्नृपः ॥१॥

तारकाः क्व नु दिवोदितद्युतो विद्युतोऽपि न वियत्यनम्बुदे ।
क्वाप्यनेधसि न वह्नयो महस्तत्किमेतदिति दत्तविस्मयाः ॥२॥

कंधरावधि तिरोहिता घनैः क्वाप्यभिन्नमुखमण्डलश्रिया ।
यामिनोरिपुजिगीषयोद्यतं सोमसैन्यमनुकुर्वतीः क्षणम् ॥३॥

रत्नभूषणरुचा प्रपञ्चिते वासवस्य परितः शरासने ।
अन्तरुद्धुरतडित्त्विषो जनैः स्वर्णसायकततीरिवेक्षिताः ॥४॥

कान्तिकाण्डपटगुण्ठिताः पुरा व्योमभित्तिमनुवर्णकद्युतिम् ।
तन्वतीस्तदनुभाविताकृतीस्तूलिकोल्लिखितचित्रविभ्रमम् ॥५॥

तत्रेति—तत्र निजसभायां यावन्मङ्गलं कारयितुमुपविष्टस्तावद्गगनतलादुत्तरन्तीर्देवाङ्गना अद्राक्षीत् । एतत्समाहितमलंकरणम्[1] ॥१॥ तारका इति—किंविशिष्टास्ताः प्रैक्षतेत्याह—उत्पादितभ्रमाः संभाविकारणाभावात् । एतास्तारका भविष्यन्ति । तन्न, तासां दिवसे प्रतिषिद्धत्वात् । तर्हि विद्योतमानास्तडितः स्युः । तन्न, निर्घने नभसि तासामभावात् । ज्वलनशिखाश्च काष्ठादिक्कालकमन्तरेण न भवन्ति तदेतत्तेजः कुतस्त्यमिति संशयालंकारः ॥२॥ कंधरेति—किंविशिष्टास्ताः । कस्मिंश्चिद् गमनप्रदेशे ग्रीवां यावन्मेघैः पिहिता यामिनीनाथप्रतापमनुकुर्वाणा यामिनीरिपोरादित्यस्य जिगीषा जेतुमिच्छा तया समुद्यतं संनद्धं सर्वासां सदृशमुखसमूहलक्ष्म्या ॥३॥ रत्नेति—सुवर्णभल्लिपङ्क्तय इतीवोत्प्रेक्षिता विद्युल्लतासंनिभाः पञ्चरत्नालंकरणतेजसा शक्रधनुषि विस्तारिते परितो बहिर्वलये तन्मध्ये संस्थिता इव ॥४॥ कान्तीति—ता गगनादवतरन्तीः पूर्वं निजदेहप्रभाभारपिहिता आलेख्यपञ्चवर्णवर्णकचित्रितामिव नभोभित्तिं कुर्वतीः पश्चादासन्नतयोपलभ्यमानमुखस्वरूपाः सूक्ष्मकूर्चिकोन्मीलितचित्राकारं दर्शयन्तीः । ता व्योमभित्तौ चित्रपुत्रिका इव विरेजुरित्यर्थः ॥५॥

राजा महासेन हर्षसे उत्सव करानेके लिए सभामें बैठे ही थे कि उनकी दृष्टि आकाशतटसे उतरती हुई देवियोंपर जा पड़ी ॥१॥ तारकाएँ दिनमें कहाँ चमकतीं ? बिजलियाँ भी मेघरहित आकाशमें नहीं होतीं और अग्निकी ज्वालाएँ भी इन्धन रहित स्थानमें नहीं रहतीं, फिर यह तेज क्या है ? इस प्रकार वे देवियाँ आश्चर्य उत्पन्न कर रही थीं ॥२॥ वे देवियाँ ऊपरसे नीचेकी ओर आ रही थीं, उनका नीचेसे लेकर कन्धे तकका भाग मेघोंसे छिप गया था। मेघोंके ऊपर उनके केवल मुख ही प्रकाशमान हो रहे थे जिससे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो सूर्यको जीतनेकी इच्छासे एकत्रित हुई चन्द्रमाकी सेना ही हो ॥३॥ उन देवियोंके रत्नाभरणोंकी कान्ति सब ओर फैल रही थी जिससे खासा इन्द्रधनुष बन रहा था, उस इन्द्रधनुषके बीच बिजलीके समान कान्तिवाली वे देवियाँ मनुष्योंको सुवर्णमय बाणोंके समूहके समान दीख पड़ती थीं ॥४॥ पहले तो वे देवियाँ आकाशकी दीवालपर कान्तिरूपी परदासे ढके हुए अनेक रंगोंकी शोभा प्रकट कर रही थीं, फिर कुछ-कुछ आकारके दिखनेसे तूलिकाके द्वारा चित्रका

१. षडशीतितमश्लोकं यावत् रथोद्धता वृत्तम् 'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ।

शीतदीधितिधियाभिधावितैः सैंहिकेयनिकुरम्बकैरिव ।
सौरभादभिमुखालिमण्डलैर्भ्राजितानि वदनानि बिभ्रतीः ॥६॥
स्वानुभावधृतभूरिमूर्तिना पद्मरागमणिनूपुरच्छलात् ।
भानुना क्षणमिह प्रतीक्ष्यतामित्युपात्तचरणाः स मन्मथम् ॥७॥
निष्कलङ्कगलकन्दलीलुठत्तारहारलतिकापदेशतः ।
संगता इव चिरेण गौरवादन्तरिक्षसरितावगूहिताः ॥८॥
[1]पीवरोच्चकुचमण्डलस्थितिप्रत्ययानुमितमध्यभागया[2] ।
दुर्वहोरुजघना जगल्लघूकुर्वतीरतुलरूपसंपदा ॥९॥ [नवभिः कुलकम्]
पारिजातकुसुमावतंसकस्पर्शमन्थरमरुत्पुरःसराः ।
पश्यतोऽथ नृपतेः सभान्तिकं ताः समोरणपथादवातरन् ॥१०॥
तत्र कोकनदकोमलोपलस्तम्भमिन्दुमणिमण्डपं पुरः ।
ताः प्रतापधृतमद्भुतोदयं भूपतेर्यश इव व्यलोकयन् ॥११॥

शीतेति—किंविशिष्टास्ताः । मुखानि धारयन्तीः, किंविशिष्टान्युपशोभितानि संमुखाभिपतितैर्भ्रमरपटलैर्गन्धलोभाद्राहुचक्रैरिव चन्द्रबुद्धया समुपढौकितैः । भ्रान्तिमानलंकारः ॥६॥ स्वानुभावेति—पुनः किंविशिष्टास्ताः । सकामालापं गृहीतचरणाः क्षणमात्रमत्रैव मम समीपे अर्घपाद्यादिकं कार्यतामिति चाटुवचनवतादित्येन रक्तोपलतुलाकोटिव्याजात् । कथं नैकरूपतेत्याह—आत्मकामरूपत्वप्रभावधृतबहुमूर्तिना ॥७॥ निष्कलङ्केति—किंविशिष्टास्ताः । नभोमार्गप्रवहन्त्याकाशगङ्गयाश्लिष्टा इव चिरेण मिलिताः प्रेमभरात् निर्मलगलकन्दललोलत्तरलहारमालाव्याजात् चिरमिलितस्य कण्ठे ह्याश्लेषक्रमः ॥८॥ पीवरेति—ताः किंविशिष्टाः । अनुपमरूपलक्ष्म्या भुवनं निरहंकारभारं कुर्वतीः नृपतिरद्राक्षीत्[3] । अतिविशालजघनाः किंविशिष्टया । पीवरेत्यादि—पीनोत्तुङ्गस्तनमण्डलस्थितिप्रत्ययेनानुमितो ज्ञातो मध्यभागो यस्यां सा तथा तया, तथाहि अस्ति मध्यभागोऽस्याः कुचमण्डलस्थितेस्तदाधारमन्तरेणान्यथानुपपत्तेरिति तुलितं मध्यमिति भावः ॥९॥ पारिजातेति—तथा सवितर्कं तस्य नृपतेरवलोकयतस्ता मध्येसभमापतन् । पारिजातप्रभृतिदेववृक्षकुसुमकर्णपूराश्लेषमन्दवायुपूरसभा मन्दारपरिमलेन प्रतीहाररूपेण सत्यापिता इत्यर्थः ॥१०॥ तत्रेति—तत्र सभायां ता अग्रतश्चन्द्रकान्तमण्डपं पद्मरागस्तम्भमद्राक्षुः तस्यैव भूपतेर्महाप्रभावं यशोमण्डलमिव पौरुषोत्तम्भितम् । अत्र यशोमण्डपयोः

भ्रम करने लगी थीं ॥५॥ उनके मुखोंके पास सुगन्धिके कारण जो भौंरे मँडरा रहे थे वे ऐसा जान पड़ते थे मानो मुखोंको चन्द्रमा समझ ग्रसनेके लिए राहुओंका समूह ही आ पहुँचा हो ॥६॥ उन देवियोंके चरणोंमें पद्मराग मणियोंके नूपुर थे, जिनके छलसे ऐसा मालूम होता था मानो सूर्यने अपने प्रभावसे अनेक रूप धारणकर 'आप लोग क्षणभर यहाँ ठहरिए' यह कहते हुए कामवश उनके चरण पकड़ रखे हों ॥७॥ उनके निर्मल कण्ठोंमें बड़े-बड़े हार लटक रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो बहुत समय बाद मिलनेके कारण आकाशगंगा ही बड़े गौरवसे उनका आलिंगन कर रही हो ॥८॥ उन देवियोंकी कमर इतनी पतली थी कि दृष्टिगत नहीं होती थी। केवल स्थूल स्तनमण्डलके सद्भावसे उसका अनुमान होता था ? साथ ही उनके नितम्ब भी अत्यन्त स्थूल थे इस प्रकार अपनी अनुपम रूप-सम्पत्तिके द्वारा वे समस्त संसारको तुच्छ कर रही थीं ॥९॥ पारिजात पुष्पोंके कर्णाभरणके स्पर्शसे ही मानो जिनके आगे मन्द मन्द वायु चल रही है ऐसी वे देवियाँ राजाके देखते-देखते आकाशसे सभाके समीप आ उतरीं ॥१०॥ वहाँ सामने ही लाल-लाल कमलोंके समान कोमल पद्मराग

१. नवमदशमश्लोकयोः क्रमभेदः घ० म० ज० (क० पुस्तकेऽपि क्रमभेदोऽस्ति किन्तु पश्चात्केनापि संशोधितः)
२. मध्यसारया छ । ३. प्रथमश्लोकगतेन 'प्रैक्षत' इति क्रियापदेन संबन्धः ।

तत्प्रतिक्षणसमुल्लसद्यशोराजहंसनिकुरम्बकैरिव ।
कामिनीकरविवर्तनोच्छलच्छुभ्रचामरचयैर्विराजितः ॥१२॥
दाक्षिणात्यकविचक्रवर्तिनां हृच्चमत्कृतिगुणाभिरुक्तिभिः ।
पूरितश्रुतिशिरो विघूर्णयन्नेतुमन्तरिव तद्रसान्तरम् ॥१३॥
[1]सुस्वरश्रुतिमुदाररूपकां रागिणीं पृथगुपात्तमूर्च्छनाम् ।
गीतिमिन्दुवदनामिवोज्ज्वलां भावयन् मुकुलितार्धलोचनः ॥१४॥

प्रतापस्तम्भयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥११॥ तदिति—ताभिर्देवाङ्गनाभिः स राजा दृष्टः कामिनीचलितैर्धवलचामरचक्रैर्वीजितः । कैरिव । साक्षात् तादृशप्रतिसमयसंभवत्कीर्तिस्तवकरूपराजहंससमूहैरिव ॥१२॥ दाक्षिणात्येति—ताभिर्नृपतिरैक्षि दक्षिणदेशीयकविपुङ्गवानां हृदयचमत्कारिगुणैर्वचनभङ्गैः पूरितश्रवणं यथा भवत्येवं मस्तकं कम्पयन् । अतश्च विभाव्यते—तत्कर्णसंस्थं काव्यरसं मध्ये प्रापयितुमिव । यथा पिशङ्गिकादावमात् वस्तु धूनयित्वा मध्ये क्षिप्यते[2] ॥१३॥ सुस्वरेति—श्रवणसुखातिशयेन स्तिमितनिमीलितार्द्धनयनः । किंविशिष्टां । सुखाकर्णनीया सप्तस्वरेषु श्रुतिर्यस्यां सा तथाविधा ताम् । उदाररूपकां उदारा उत्कटा रूपका गानविशेषा यस्यां सा ताम् । रागिणीं श्रीरागादिरागमयीं पृथगुपात्तमूर्च्छनां पृथग् भिन्नस्वरूपेण उपात्ता गृहीता एकोनविंशतिसंख्या मूर्च्छना यस्यां सा तथाविधा ताम् । उज्ज्वलां निर्वाच्यरूपाम् । अतएव ज्ञायते चन्द्रमुखीमिवोपभुञ्जन् किंविशिष्टां । कोकिलामञ्जुभाषिणीम्, अतिशायिरूपयुक्तां रागिणीं प्रेमैकरसिकां पृथगुपात्तमूर्च्छनां

मणियोंके खम्भोंसे सुशोभित चन्द्रकान्त मणियोंका बना सभामण्डप उन देवियोंने ऐसा देखा मानो प्रतापसे रुका हुआ और आश्चर्यकारी अभ्युदयसे सम्पन्न राजाका निर्मल यश ही हो ॥११॥ [उस सभामण्डपमें सुमेरुपर्वतके समान ऊँचे सुवर्णमय सिंहासनपर बैठे और उदित होते हुए चन्द्रमाके समान सुन्दर राजाको उन देवियोंने बड़े हर्षके साथ देखा] । उस समय राजा प्रत्येक क्षण बढ़ते हुए अपने यशरूपी राजहंस पक्षियोंके समूहके समान दिखनेवाले स्त्रियोंके हस्तसंचारसे उच्छलित सफेद चमरोंके समूहसे सुशोभित हो रहा था ॥१२॥ पास बैठे हुए दक्षिण देशके बड़े-बड़े कवि हृदयमें चमत्कार पैदा करनेवाली उक्तियाँ सुना रहे थे, उन्हें सुनकर राजा अपना सिर हिला रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो उन उक्तियोंके रसको भीतर ले जानेके लिए ही हिला रहा हो ॥१३॥ उस समय जो वहाँ गीति हो रही थी वह किसी चन्द्रमुखीके समान जान पड़ती थी । क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमुखीका स्वर (शब्द) अच्छा होता है उसी प्रकार उस गीतिका स्वर [निषाद गान्धर्व आदि] भी अच्छा था, जिस प्रकार चन्द्रमुखीका रूप अच्छा होता है उसी प्रकार गीतिका रूपक भी [अलंकार विशेष अथवा गानविशेष] अच्छा था, जिस प्रकार चन्द्रमुखी राग सहित होती है उसी प्रकार वह गीति भी राग [श्री राग आदि ध्वनि विशेष] से सहित थी, जिस प्रकार चन्द्रमुखी पृथक् भाव—विरहावस्थामें मूर्च्छना—विह्वलता धारण करती है उसी प्रकार

१. अत्रेदं सुस्पष्टं व्याख्यानम्—मुकुलितं निमीलितमर्धलोचनमर्धनयनं यस्य तथाभूतः सन् । इन्दुवदनामिव चन्द्रमुखीमिव गीतिं संगीतिकां भावयन्ननुभवन् । अथोभयोः सादृश्यमाह—सुष्ठु स्वराणां निषादादीनां श्रुतिः श्रवणं यस्यां तां गीतिं पक्षे सुस्वरस्य कोकिलावन्मञ्जुभाषणस्य श्रुतिः श्रवणं यस्यास्तां । उदारमुत्कृष्टं रूपकमलंकारविशेषो गीतिविशेषो वा यस्यां तां पक्षे उदारमुत्कृष्टं रूपं सौन्दर्यं यस्यास्तां बहुव्रीहौ कसमासान्तः । रागिणीं श्रीरागादिरागमयीं पक्षे प्रेमैकरसिकाम्, पृथग् भिन्नस्वरूपेणोपात्ता गृहीता मूर्च्छना एकोनविंशतिसंख्या मूर्च्छनाः स्वराणामारोहावरोहक्रमा यस्यां तां पक्षे पृथक्भावे विरहे सतीति यावत् उपात्तं मूर्च्छनं मोहविह्वलत्वं यया ताम् उज्ज्वलां निर्दोषां पक्षे साध्वीम् । श्लिष्टोपमा । २. संगीतादौ श्रोतॄणां शिरःप्रकम्पनं लोकप्रसिद्धमेव । उत्प्रेक्षालंकारः ।

एणनाभिमभिवीक्ष्य कक्षयोः क्षिप्तभीततिमिरानुकारिणीम्[१] ।
[२]रत्नकुण्डलमिषेण भानुना सेन्दुना किमपि संश्रितश्रुतिः ॥१५॥

अङ्गवङ्गमगधान्ध्रनैषधैः कीरकेरलकलिङ्गकुन्तलैः ।
विभ्रमादपि समुत्क्षिपन् भ्रुवं भीतभीतमवनीश्वरैः श्रितः ॥१६॥

तत्र हेममयसिंहविष्टरे काञ्चनाचल इवोच्चकैः स्थितः ।
सप्रमोदमुदितेन्दुसंनिभस्ताभिरैक्षि सदसि क्षितीश्वरः ॥१७॥

कर्मकौशलदिदृक्षयात्र नः प्राप्त एष पुरतोऽपि किं प्रभुः ।
सत्स्वपोहितुमितः प्रभृत्यथो दौःस्थ्यमर्थपतिरभ्युपस्थितः ॥१८॥

एकका इह निशम्य नश्छलाद्बाधितुं मनसिजोऽथवा गतः ।
अन्यथा स्म वसुधामिमामतिक्रामति द्युतिरमानुषी कुतः ॥१९॥

विरहे सति मोहविह्वलाम्, उज्ज्वलां साध्वीम् ॥१४॥ एणेति—पुनः किंविशिष्टः । आश्रितकर्णयुग्मः सचन्द्रेणादित्येन रत्नकुण्डलव्याजेन, किं कर्णलग्नयोः सोमसूर्ययोरालोचकारणमित्याह—मृगमदं कादिशीकतमःसदृशं बाहुमूलयोर्निक्षिप्तं दृष्ट्वा । अन्योऽपि जिगीषुः कक्षास्थितं दुर्जनमवलोक्यायं जगद् द्रोहीति शनैः कथयित्वा निष्कासयति[३] ॥१५॥ अङ्गेति—किंविशिष्टः स दृष्टः । सकलवलयभूपालैः सेवितः । निजस्वभावलीलयैकभ्रुवं चालयति न चादयोऽतिभीरुतयास्मान् भ्रुवमुत्क्षिपतीति वितर्कयन्ति ततो भीतभीतं श्रित इति । कीरकेरलादिदेशाभिधानेन राज्ञामभिधानम् ॥१६॥ तत्रेति—स्वर्णसिंहासने पुरुषप्रमाणे समुपविष्टस्ताभिर्देवाङ्गनाभिर्ददृशे नृपः सहर्षं यथा मेरौ स्थितः समुदितश्चन्द्रो देवैर्दृश्यते तत्र नृणामभावात् ॥१७॥ कर्मेति—राजानं दृष्ट्वा-रूपप्रभावभ्रान्ता वितर्कयन्ति—किमस्माकं सुव्रतां देवीं प्रति शुश्रूषा भक्तिकौशलं प्रच्छन्नतया दृष्टुमग्रत एव स्वामी शक्रः समागत एषः, आहोस्वित्साधुषु दारिद्रयं निकर्तुं धनदः प्रकटो बभूवातोऽनन्तरं सतां दौस्थ्यं नास्तीत्यर्थः ॥१८॥ एकका इति—अथवास्मानेकाकिनीः श्रुत्वा कामोऽयं पीडयितुं समाययौ । व्यर्थमिति चेत् ।

गीति भी पृथग् मूर्च्छना—स्वरोंके चढ़ाव-उतारको धारण कर रही थी और चन्द्रमुखी जिस प्रकार उज्ज्वल होती है उसी प्रकार गीति भी उज्ज्वल—निर्दोष थी। राजा अर्धोन्मीलित नेत्र होकर उस गीतिका रसानुभव कर रहा था ॥१४॥ राजाकी दोनों बगलोंमें काली-काली कस्तूरी लगी हुई थी और कानोंमें मणिमय कुण्डल देदीप्यमान थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो कस्तूरीके छलसे छिपे हुए भयभीत अन्धकारको नष्ट करनेके लिए कुण्डलोंके बहाने सूर्य और चन्द्रमा ही उसके कानोंके पास आये हों ॥१५॥ अंग, वंग, मगध, आन्ध्र, नैषध, कीट, केरल, कलिंग और कुन्तल देशके राजा पास बैठ कर उसकी उपासना कर रहे थे। क्रोधकी बात जाने दो यदि वह राजा विलाससे भी अपनी भौंह ऊपर उठाता था तो अन्य राजा डर जाते थे ॥१६॥ उस सभामण्डपमें सुमेरु पर्वतके समान ऊँचे सुवर्णमय सिंहासनपर बैठे और उदित होते हुए चन्द्रमाके समान सुन्दर राजाको उन देवियोंने बड़े हर्षके साथ देखा ॥१७॥ हमारे कार्यकी चतुराई देखनेके लिए क्या स्वामी—इन्द्रमहाराज ही पहलेसे आकर विराजमान हैं! अथवा आजसे लेकर सज्जनोंकी दरिद्रताको दूर भगानेके लिए कुबेर ही आकर उपस्थित हैं ॥१८॥ अथवा हम लोगोंको अकेला सुन कर तंग करनेके लिए राजाके बहाने साक्षात् कामदेव ही यहाँ आ पहुँचे हैं। अन्यथा इनकी लोकोत्तर कान्ति इस पृथिवी-

---

१. कारिणम् घ० म० । २. न्यस्त छ० । ३. उत्प्रेक्षा ।

तर्कयन्त्य इति ताः परस्परं सप्रमोदमुपसृत्य भूपतिम् ।
जीव नन्द जय सर्वदा रिपूनित्यमन्दमुदचीचरन्वचः ।।२०।। [त्रिभिर्विशेषकम्]
ताः स यत्नपरकिंकरार्पितेष्वासनेषु नृपतिर्न्यवीविशत् ।
वारिदात्ययदिनोपबृंहितेष्वम्बुजेष्विव विरोचनो रुचः ।।२१।।
ताः क्षितीश्वरनिरीक्षणक्षणे रेजुरङ्कुरितरोमराजयः ।
अङ्गमग्नविषमेषुमार्गणव्यक्तपुङ्खलवलाञ्छिता इव ।।२२।।
निर्मलाम्बरविशेषितत्विषः संस्फुरच्छ्रवणहस्तभूषणाः ।
कान्तिमन्तममराङ्गना नृपं तारका इव विधुं व्यभूषयन् ।।२३।।
सोऽथ दन्तकरकुन्दकुड्मलस्रग्विभूषितसभं सभापतिः ।
आतिथेयवितथीकृतक्लमा इत्युवाच सुरसुन्दरीर्वचः ।।२४।।

कथमस्य तेजः प्रभावः पृथ्वीमतिक्रम्य वर्तते मनुष्याणामीदृशी द्युतिर्न भवतीत्यमानुषीविशेषणम् ।।१९।। तर्कयन्त्य इति—इति ता अन्योऽन्यं शङ्कमाना सहर्षं भूपतिसमीपमासृत्य आशीर्वचनमुच्चारयांचक्रुरायुष्मान् भव, प्रतापेन वर्द्धस्व, प्रतिपक्षान्निर्दलयेति ।।२०।। ता इति—मनःसंचारानुवर्तिभिः किंकरैः समुपढौकितेषु समुचितासनेषु राजा निवेशयामास देवाङ्गनाः यथा शरद्दिवसप्रकाशितेषु पद्मेषु भास्करोऽर्चिर्निवेशयति[1] ।।२१।। ताः क्षितीश्वरेति—ता देवाङ्गना राजावलोकनसमये पुलकसूचीनिचिताश्चकासिरे वपुरन्तःप्रविष्टकामशरबाह्यस्थितदृश्यमानपुङ्खाग्रभागनिचिता इव । ताः सर्वाङ्गकामशरशल्यिता बभूवुरित्यर्थः[2] ।।२२।। निर्मलेति—ता प्रान्त उपविष्टा देवाङ्गनाः•प्रतापिनं राजानमलंचक्रुः । किंविशिष्टा इत्याह—धौतवसनप्रकाशितद्युतयो देदीप्यमानकर्णहस्तालंकरणाः चन्द्रमसं तारका इव निरभ्रगगनविशेषकान्तयः स्फुरता श्रवणाभिधानेन हस्ताभिधानेन च भूषणं यासां तास्तथाविधाः[3] ।।२३।। सोऽथेति—अथानन्तरं स सभापतिर्नृपतिस्ताः कर्मतापन्ना वचनमुवाच । कथं यथा भवति दन्तकिरणकुन्दकलिकामालाविभूषितसभामण्डपं । यथा स्यात् । किंविशिष्टास्ताः । आतिथेय-

को मात क्यों करती ? ।।१९।। इस प्रकार तर्कणा करती हुई वे देवियाँ बड़े आनन्दके साथ राजा महासेन के समीप पहुँचीं और 'चिरंजीव रहो, समृद्धिमान् रहो तथा सर्वदा शत्रुओंको जीतो' इत्यादि वचन जोर-जोरसे कहने लगीं ।।२०।। राजाने उन देवियोंको यत्नमें तत्पर किंकरोंके द्वारा लाये हुए आसनों पर इस प्रकार बैठाया जिस प्रकार कि शरद् ऋतु के द्वारा खिले हुए कमलों पर सूर्य अपनी किरणोंको बैठाता है ।।२१।। राजाके देखते ही उन देवियोंके शरीरमें रोमराजि अंकुरित हो उठी थी जिससे वे देवियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो शरीरमें धँसे हुए कामदेवके बाणोंकी बाहर निकली हुई मूठोंसे ही चिह्नित हो रही हैं ।।२२।। जिस प्रकार निर्मल आकाशमें चमकती और श्रवण तथा हस्त नक्षत्र रूप आभूषणोंसे युक्त तारिकाएँ कान्तिमान् चन्द्रमाको सुशोभित करती हैं उसी प्रकार निर्मल वस्त्रोंसे सुशोभित एवं हाथ और कानोंके आभूषणोंसे युक्त देवाङ्गनाएँ कान्तिमान् राजाको सुशोभित कर रही थीं ।।२३।। तदनन्तर दाँतोंकी किरण रूप कुन्द-कुड्मलोंकी मालासे सभाको विभूषित करते हुए राजाने, अतिथि-सत्कारसे जिनका खेद दूर कर दिया गया है ऐसी उन देवियोंसे

१. उपमालंकारः । २. उत्प्रेक्षा । ३. अस्येदं सुगमं व्याख्यानम्—कान्तिमन्तं दीप्तिमन्तं तं नृपममराङ्गना देव्यस्तारका विधुमिव चन्द्रमिव व्यभूषयन्नलंचक्रुः । उभयोः सादृश्यमाह—निर्मलान्युज्ज्वलानि यान्यम्बराणि वस्त्राणि तैर्विशेषिता त्विट् कान्तिर्यासां ता देव्यः, पक्षे निर्मलेन धूल्यादिसंपर्करहितेनाम्बरेण गगनेन विशेषिता वाधिता त्विट् कान्तिर्यासां ताः । स्फुरन्ति देदीप्यमानानि श्रवणस्य हस्तस्य च भूषणान्याभरणानि यासां ताः पक्षे स्फुरती देदीप्यमाने श्रवणहस्तावेव तन्नामनक्षत्र एव भूषणे यासां ताः कान्तिमन्तमिति विशेषणं नृपविधुपक्षे समानमेव । उपमालंकारः ।

यद्गुणेन गुरुणा गरीयसीं स्वर्बिभर्त्ति गणनां जगत्स्वपि ।
मन्दिराणि किमपेक्ष्य ताः स्वयं भूभुजामपि नृणामुपासते ॥२५॥
किन्तु सा स्थितिरथातिधृष्टता व्याजमेतदथवाभिभाषणे[1] ।
त्वादृशेऽपि यदुपागते जने किं प्रयोजनमिहेति जल्प्यते ॥२६॥
भारतीमिति निशम्य भूपतेः श्रीरुवाच सुरयोषिदीरिता ।
दन्तदीधितिमृणालनालकैः कर्णयोर्निदधती सुधामिव ॥२७॥
मा वदस्त्वमिति भूपते भवद्दास्यमेव भुवि नः प्रयोजनम् ।
वासरैस्तु कतिभिः पुरंदरोऽप्यत्र कर्मकरवद्यतिष्यते ॥२८॥
निर्जरासुरनरोरगेषु ते कोऽधुनापि गुणसाम्यमृच्छति ।
अग्रतस्तु सुतरां यतो गुरुस्त्वं जगत्त्रयगुरोर्भविष्यसि ॥२९॥
उक्तमागमनिमित्तमात्मनः [2]सूत्रवत्किमपि यत्समासतः ।
तस्य [3]भाष्यमिव विस्तरान्मया वर्ण्यमानमवनीपते शृणु ॥३०॥

वातव्यजनादिना निराकृतक्लमो मार्गपरिश्रमो यासां तास्तथाविधाः ॥२४॥ यद्गुणेनेति—यन्माहात्म्येन स्वर्गः सर्वभुवनेषु मध्ये महतीं संभावनां धारयति ता अप्सरसो मादृशां मनुष्यमात्राणां किं कारणमुररीकृत्य गृहाणि सेवन्ते। देवाङ्गनाभिः स्वर्गस्य स्वर्गता तासां स्वयमत्रागमनं महच्चित्रमिति भावः ॥२५॥ किन्त्विति—हे श्रीः त्वादृशे पृथक्मात्रातीतोपजने समागते सति तवात्रागमने किं कार्यमिति यज्जल्प्यते पृच्छ्यते सा स्थितिः स आचारः अथवातिधाष्टर्यमभिलम्पकता अथवा प्रश्नकरणोपायः ॥२६॥ भारतीमिति—इति तस्य भूपतेः प्रश्नवाचं श्रुत्वान्यदेवीभिः प्रणोदिता श्रीनामधेया तासामग्रेसरी बभाषे भूपतेः कर्णयोः सुधाधारामिव निक्षिपन्ती दन्तकिरणमृणालदण्डप्रणालिकाभिः ॥२७॥ मा वद इति—हे राजन् ! आत्मलघुसंभावनयैवं मा भाषिष्ठाः। यौष्माककिङ्करत्वमेव भूतलेऽस्माकं प्रयोजनम्। किंच, कैश्चिद्दिनैरतिक्रान्तैः शक्रोऽप्यत्र भवद्गृहे क्रीतदासयिष्यते ॥२८॥ निर्जरेति—हे राजन् ! देवदानवप्रभृतिषु मध्ये साम्प्रतमपि को भवतो गुणगौरवतुलां स्पर्शति। अग्रतस्तु पञ्चदशमासानन्तरं किमुच्यते। यतो जगत्त्रयगुरोस्तीर्थंकरदेवस्य गुरुः पिता भवितासीति सुतरां प्रतीतम् ॥२९॥ उक्तमिति—यदागमनकारणं सूत्रवत् संक्षिप्तं तस्य विवरणमिव वर्ण्यमानं विस्तरतः कथ्यमान-

निम्न प्रकार वचन कहे ॥२४॥ जब कि स्वर्ग अपने श्रेष्ठ गुणसे तीनों लोकोंमें गुरुतर गणनाको धारण करता है तब आप लोग क्या प्रयोजन लेकर भूमिगोचरी मनुष्योंके घर पधारेंगी ? ॥२५॥ किन्तु यह एक रीति ही है अथवा धृष्टता ही है अथवा वार्तालाप करनेका एक बहाना ही है जो कि आप जैसे निरपेक्ष व्यक्तियोंके पधारनेपर भी पूछा जाता है कि आपके पधारने का क्या प्रयोजन है ? ॥२६॥ राजाके उक्त वचन सुन देवियों द्वारा प्रेरित श्री देवी दाँतोंकी किरण रूप मृणालकी नलीसे कानोंमें अमृत उँडेलती हुई सी बोली ॥२७॥ हे राजन् ! आप ऐसा न कहिए। आपकी सेवा करना ही हम लोगोंके पृथिवी पर आनेका प्रयोजन है अथवा हम तो हैं ही क्या ? कुछ दिनों बाद साक्षात् इन्द्र महाराज भी साधारण किंकरकी तरह यह कार्य करेंगे ॥२८॥ हे राजन् ! अब भी देव दानव और मनुष्योंके बीच ऐसा कौन है जो आपके गुणोंकी समानता प्राप्त कर सके ? फिर आगे चल कर तो आप लोकत्रयके गुरुके गुरु [पिता] होने वाले हैं ॥२९॥ हे राजन् ! मैंने अपने आने का सूत्रकी तरह संक्षेपसे जो कुछ कारण कहा है उसे अब मैं भाष्यकी तरह विस्तारसे कहती

१. -दथवातिभाषणे ख० ग० घ० ङ० च० छ० ज० झ० । २. सूत्रलक्षणम्—अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ ३. भाष्यलक्षणम्—सूत्रस्थं पदमादाय वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः । स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

यच्चतुष्टयमनन्ततीर्थतोऽनर्धहायनमुदन्वतामगात् ।
तस्य पल्यदलमन्तिमं तथा भारतेऽभवदधर्मदूषितम् ॥३१॥
तेन धर्मपरिवर्तदस्युना शुद्धदर्शनमणौ हृते छलात् ।
वीक्षमाण इव केवलीश्वरं वासवोऽनिमिषलोचनोऽभवत् ॥३२॥
अद्य भूप भवतोऽस्ति या प्रिया सुव्रता तदुदरे जिनोऽन्तरम् ।
अर्धवत्सरमतीत्य धर्म इत्येष्यतीत्यवधितो विवेद सः ॥३३॥
तत्प्रयात जननीं जिनस्य तां भाविनीं चिरमुपाध्वमादरात् ।
इत्थमादिशदशेषनाकिनां नायकः समुपहूय नः क्षणात् ॥३४॥
आगतोऽयमिह तत्तवाज्ञया प्रेयसीं नृप निशान्तवर्तिनीम् ।
ध्यातुमिच्छति सुराङ्गनाजनः कौमुदीमिव कुमुद्वतीगणः ॥३५॥
संवदन्तमिति भारतीं मुनेर्वाक्प्रपञ्चमवधार्य स श्रियः ।
उत्सवं द्विगुणितादरो द्वयेऽप्याशु धाम्नि पुरि च व्यदीधपत् ॥३६॥
ताश्च कञ्चुकिपुरस्सरास्ततस्तेन तूर्णमवरोधमन्दिरम् ।
भास्वताग्रचरसंमदा रुचश्चन्द्रमण्डलमिव प्रवेशिताः ॥३७॥

माकर्णयेति ॥३०॥ यच्चतुष्टयेति—अनन्तनाथतीर्थस्य पश्चात् भरतक्षेत्रे सागरोपमचतुष्टयं गतं षण्मासहीनं तस्य चतुष्टयस्य मध्ये यदन्तिमपल्यं तस्यार्धं धर्मरहितं बभूव ॥३१॥ तेनेति—तेन पूर्वकथितेन धर्मनाशचोरेण निर्मलसम्यक्त्वरत्ने चोरिते सति छलात्तीर्थकररक्षकमन्तरेण ततोऽनन्तरं शक्रः सर्वदा प्रसारितलोचनो बभूव केवलज्ञानिनमादराद् द्रष्टुमिव । अथ चोक्तिलेशः—यथा केनचिद्धृते वस्तुनि कश्चित् केवलिकानिमित्तज्ञं पश्यति ॥३२॥ अद्येति—हे राजन् ! शक्रोऽवधिज्ञानेनेति विवेद । किं विवेदेत्याह—भवतः पत्नी सुव्रता तस्या गर्भे धर्मनामजिनः षण्मासानन्तरमवतरिष्यतीति ॥३३॥ तत्प्रयातेति—तत इति ज्ञानान्तरमस्मानाकार्य देवेन्द्र आदिष्टवान् । तां सुव्रतां जिनस्य भविष्यन्मातरमाराद्धुं यूयं सर्वाः प्रयातेति ॥३४॥ आगत इति—तस्मादयं देवीसमूहस्तवादेशेन भवत्प्रियामन्तःपुरस्थितां निषेवितुं समीहते । यथा कुमुदिनीनां गणश्चन्द्रिकां निषेवितुमभिलषति ॥३५॥ संवदन्तमिति—पूर्वोक्तप्रकारेण श्रीदेव्या वाग्विस्तारं निशम्य किंविशिष्टं। संवदन्तं पूर्वकथितस्य मुनिना कथानकस्य संवादमागच्छन्तं । तदनन्तरं सविशेषादरो राजा महामङ्गलानि पुरे निजगृहे चाधिकं कारयामास ॥३६॥ ताश्चेति—ता देवाङ्गनाः स राजा सौविदल्लदर्शितमार्गा अन्तःपुरं प्राजीहयन् । यथादित्येन

हूँ, सुनिए ॥३०॥ श्री अनन्तनाथका तीर्थ प्रवृत्त होने के बाद जो छह माह कम चार सागर व्यतीत हुए हैं उनके पल्यका अन्तिम भाग इस भारतवर्षमें अधर्मसे दूषित हो गया था ॥३१॥ जबसे उस अधर्म रूपी चोरने छल पूर्वक शुद्ध सम्यग्दर्शनरूपी रत्न चुरा लिया है तभीसे इन्द्र भी जिनेन्द्रदेवकी ओर देख रहा है—उनकी प्रतीक्षा कर रहा है और इसीलिए मानो वह तभीसे अनिमेष लोचन हो गया है ॥३२॥ हे राजन् ! अब आपकी जो सुव्रता नामकी पत्नी है छह माह बाद उसके गर्भमें श्री धर्मजिनेन्द्र अवतार लेंगे—ऐसा इन्द्रने अवधिज्ञानसे जाना है ॥३३॥ और जानते ही समस्त देवोंके अधिपति इन्द्र महाराजने हम लोगोंको बुलाकर यह आदेश दिया है कि तुम लोग जाओ और श्रीजिनेन्द्र देवकी भावी माताकी आदर पूर्वक चिरकाल तक सेवा करो ॥३४॥ इसलिए हे राजन् ! जिस प्रकार कुमुदिनियोंका समूह चन्द्रिकाका ध्यान करता है उसी प्रकार आया हुआ यह देवियोंका समूह आपकी आज्ञासे अन्तःपुरमें विराजमान आपकी प्रिय वल्लभाका ध्यान करना चाहता है—शुश्रूषा करना चाहता है ॥३५॥ इस प्रकार जब राजाने मुनिराजके वचनोंसे मिलते-जुलते श्रीदेवीके वचन सुने तब उनका आदर पहलेसे दूना हो गया और उन्होंने नगर तथा घर दोनों ही जगह शीघ्र ही उत्सव कराये ॥३६॥ तदनन्तर जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंको

तत्र [1]भूरिविबुधावतंसकप्रीतिपूरिगुणपूरपूरिताम् ।
[2]अङ्गसौरभविसर्पिषट्पदां पारिजाततरुमञ्जरीमिव ॥३८॥
संभ्रमभ्रमितलोललोचनप्रान्तवान्तशुचिरोचिषां चयैः ।
अद्भुतं धवलितालयामपि श्यामलीकृतविपक्षयोषितम् ॥३९॥
कामसिद्धिमिव रूपसंपदो जीवितव्यमिव यौवनश्रियः ।
चक्रवर्तिपदवीमिव द्युतेश्चेतनामिव विलासवेषयोः ॥४०॥
तामनेकनरनाथसुन्दरीवृन्दवन्दितपदां द्युयोषितः ।
हारिहेमहरिविष्टरे स्थितां मानुषेशमहिषीं व्यलोकयन् ॥४१॥
[चतुर्भिः कलापकम्]

तामुदीक्ष्य जितनाकनायिकाकायकान्तिमबलामिलापतेः ।
ताभिरप्रतिमकालसंचितोऽप्युज्झितः सपदि चारुतामदः ॥४२॥

निजदीधितयश्चन्द्रमण्डलं प्रवेश्यन्ते । अग्रचरः संमदो हर्षो यासां तास्तथाविधाः । प्रथमं हि हर्षः पश्चात्प्रसादेन रुचिप्रदानं 'क्षीणश्चन्द्र आदित्यात्तेज आददातीति गणक इति ॥३७॥ तत्रेति—तत्रान्तःपुरगर्भस्थितां भूपतिप्रियां ता अद्राक्षुः पारिजाततरोः पुष्पितमञ्जरीमिव मञ्जरीधर्मानारोपयन्नाह—अनेकदेवकर्णपूरदोहदपूरकगुणसमूहमयीं पक्षे सर्वविपश्चिच्छ्रोतव्यगुणग्रामां सहजसौरभातिशयप्रान्तभ्रान्तभ्रमरपटलाम् ॥३८॥ संभ्रमेति—सहजविलासचलितलोचनाग्रहप्रसरधवलतेजसां वितानैर्धवलितगृहभागामपि तां चित्रमेतद्यत् निर्जितसेवागतम्लानीकृतशत्रुवनितामेवंविधां तां पश्यन्ति स्म ॥३९॥ कामेति—पुनः किंविशिष्टां तामित्याह—रूपलक्ष्म्याः स्वच्छन्दपरमसिद्धिमिव, रूपश्रिया निजस्वच्छन्दप्रभावं दर्शयितुमिव, इदं रूपं धृतमिति भावः । अथ यौवनश्रियो जीवितव्यमिव परवर्तनसर्वस्वमिव तरुणताया अपि तरुणत्वप्रतिष्ठा, जीवमिव, द्युतेश्च लावण्यप्रभायाश्चक्रवर्तिपदवीमिव परमप्रकर्षभूमिमिव, ततः परं लावण्यप्रकर्षो नास्तीति भावः । विलासवेषयोश्चेतनामिव विभ्रमश्रृङ्गारादयोऽपि तस्यां सजीवा इव प्रतिभासन्त इति भावः । अनेकोपमेयमलंकृतिः ॥४०॥ तामिति—तां नृपतिपट्टराज्ञीं मनोहरसुवर्णमयसिंहासनमलंकुर्वाणामनेकपृथ्वीपतिस्त्रीचक्रसेवितचरणां ता देवाङ्गना ईक्षांबभूवुः ॥४१॥ तामिति—तां पृथ्वीपतेः प्रियामवलोक्य निर्भर्त्सितसुराङ्गनासौभाग्यां ताभिः सर्वदेवाङ्गनाभिरना-

चन्द्रमण्डलमें भेज देता है उसी प्रकार राजाने उन प्रसन्नचित्त देवियोंको कंचुकीके साथ शीघ्र ही अन्तःपुरमें भेज दिया ॥३७॥ वहाँ उन देवियोंने सोनेके सुन्दर सिंहासनपर बैठी हुई रानी सुव्रताको देखा । वह सुव्रता विद्वानोंके कर्णाभरणकी प्रीतिको पूरा करनेवाले गुणोंके समूहसे पूरित थी । शरीरकी सुगन्धिके कारण उसके आस-पास भौंरे मँडरा रहे थे जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो कल्पवृक्षकी मंजरी ही हो ॥३८॥ क्या ही आश्चर्य था कि वह यद्यपि संभ्रमपूर्वक घुमाये हुए चंचल लोचनोंके छोरसे निकली हुई सफेद किरणोंके समूहसे समस्त मकानको सफेद कर रही थी पर पास ही बैठी हुई सपत्नी स्त्रियोंको मलिन कर रही थी ॥३९॥ वह ऐसी जान पड़ती थी मानो सौन्दर्य-सम्पदाकी इष्टसिद्धि ही हो, तारुण्य लक्ष्मीकी मानो जान ही हो, कान्तिकी मानो साम्राज्य पदवी ही हो, और विलास तथा वेषकी मानो चेतना ही हो ॥४०॥ इसके सिवाय अनेक राजाओंकी रानियोंके समूह उसके चरणोंको वन्दना कर रहे थे तथा वह सोनेके सुन्दर सिंहासन पर स्थित थी ॥४१॥ उन देवियोंने चिरकालसे जो सुन्दरताका अहंकार संचित कर रखा था उसे देवांगनाओंके शरीरकी कान्तिको

१. विबुधानां देवानामवतंसकप्रीतिं कर्णाभरणप्रीतिं पूरयन्तीति विबुधावतंसकप्रीतिपूरिणः; ते च ते गुणाश्च, भूरयो ये विबुधावतंसकप्रीतिपूरिगुणास्तेषां पूरेण समूहेन पूरिता संभृता ताम् । २. आङ्ग घ० ।

श्रीरशेषसुखदा प्रियंवदा भारतीरतिरभेद्यकिंकरी ।
सौम्यदृष्टिरपि कर्णमोटिका कालिका च रचितालकावलिः ॥४३॥
शीलवृत्तिरपराजिता जने सा वृषप्रणयिनी मनःस्थितिः ।
ह्लीप्रसत्तिधृतिकीर्तिकान्तयः स्पर्द्धयेव कुलमण्डनोद्यताः ॥४४॥
देव्य इत्यलमिमामुपासते प्रागपि प्रगुणिताः गुणैः स्वयम् ।
तन्निदेशरसपेशलं हरेर्ब्रूत कर्म किमु कुर्महेऽधुना ॥४५॥

[त्रिभिर्विशेषकम्]

दिकालसंचितोऽपि लज्जमानाभिः स्वरूपाहंकारः सर्वथा त्यक्तः ॥४२॥ श्रीरिति—या देव्यो निषेवितुमागतास्तासां गुणैः प्रथममेव तां सेवितां पश्यन्ति स्म । तथाहि श्रीः प्रभावलक्ष्मीरिमामनूपास्ते सर्वसुखदायित्वात् । अस्याः सौम्यदृष्टिरतिदीर्घत्वात् कर्णमोटिका कर्णप्रणोदिका कर्णान्तिममिति यावदित्यर्थः । कालिका चात्र रचिता प्रसाधितालकपङ्क्तिर्यया सा तथेति । पक्षे श्रीसरस्वतीचामुण्डाकालिकादय इमामुपासते ॥४३॥ शीलेति—तस्या या शीलवृत्तिः साध्वीव्रतता सा जनेऽपराजिता जगत्यन्यस्य सा नास्तीति भावः । तस्या मनःस्थितिर्मनोवृत्तिर्वृषप्रणयिनी धर्मानुरागिणी ह्लीर्लज्जा, प्रसत्तिः सहजप्रसन्नता, धृतिः संतोषस्थितिः, कीर्तिर्यशःप्रसरता, कान्तिः सौभाग्यलक्ष्मीरिति । एताः सर्वा अपि निजयोग्यस्वरूपमण्डननिरता अस्यामिति । पक्षे शीलवृत्याद्या देव्य इमामुपाश्रयन्ते ॥४४॥ देव्य इति—देवाङ्गना एवं वर्त्तयन्ति यदेता अस्मादृश्य देव्य एनां पुरत एव

जीतनेवाली राजाकी रानीको देखते ही एक साथ छोड़ दिया था ॥४२॥ इसकी श्री-शोभा [पक्षमें श्रीदेवी] सब प्रकारका सुख देनेवाली है, भारती-वाणी [पक्षमें सरस्वती देवी] प्रिय वचन बोलनेवाली है, रति-प्रीति [पक्षमें रतिदेवी] अभेद्य दासीकी तरह सदा साथ रहती है, सौम्यदृष्टि, कर्णमोटिका—कानों तक मुड़ी हुई है [पक्षमें चामुण्डादेवी इसपर सदा सौम्यदृष्टि रखती है] सुसज्जित केशोंकी आवलि कालिका—कृष्णवर्ण है [पक्षमें कालिका देवी इसके केश सुसज्जित करती है] ॥४३॥ शीलवृत्ति, अपराजित-अखण्डित है, [पक्षमें अपराजिता देवी सदा इसके स्वभावानुकूल प्रवृत्ति करती है] मनःस्थिति, वृषप्रणयिनी—धर्मके प्रेमसे ओत-प्रोत है [पक्षमें इन्द्राणीदेवी सदा इसके मनमें है] ह्री—लज्जा, प्रसत्ति-प्रसन्नता, धृति—धीरज, कीर्ति—यश और कान्ति—दीप्ति [पक्षमें ह्री आदि देवियाँ] एक दूसरेकी स्पर्धासे ही मानो इसके कुलको अलंकृत करनेमें उद्यत हैं ॥४४॥ इस प्रकार श्री आदि देवियाँ

१. ४३–४५ श्लोकानां सुगममिदं व्याख्यानम्—श्रीरिति—शीलेति—ह्रीति—श्रीर्लक्ष्मीदेवी, अशेषसुखदा निखिलसुखप्रदात्री, पक्षे श्रीः शोभा, अशेषेभ्योऽखिलदर्शकेभ्यः सुखं शर्म ददातीति तथाभूता । भारती सरस्वती प्रियं वदतीति प्रियंवदा मधुरभाषिणी पक्षे वाणी प्रियंवदा मधुरा । रतिः कामकामिनी अभेद्यकिङ्करी अखण्डदासी पक्षे रतिः प्रीतिः सर्वदा संनिधात्री । कर्णमोटिका देवीविशेषाऽपि सौम्यदृष्टिः प्रसन्नतरा पक्षे सौम्यदृष्टिप्रशान्तदृगपि कर्णमोटिका कर्णान्तप्रणोदिका कर्णान्तमायतेति यावत् । कालिका काली देवी रचिता सुसज्जिता अलकानां चूर्णकुन्तलानामावलिः पङ्क्तिर्यया तथाभूता पक्षे सुसज्जितकेशपङ्क्तिः कालिका श्यामवर्णा । अपराजिता तन्नामदेवी शीलनं शीलः सेवेत्यर्थः तस्मिन्वृत्तिर्यस्याः सा पक्षे शीलवृत्तिः साध्वीव्रतता जने जनविषयेऽपराजिता अखण्डिता । तादृशी शीलवृत्तिर्जगत्यन्यस्य नास्तीति भावः । सा प्रसिद्धा वृष्ण इन्द्रस्य प्रणयिनी पत्नी इन्द्राणीति यावत् 'वृष चैरावणाधिपः' इति धनंजयः, मनसि स्थितिर्यस्यास्तथाभूता पक्षे मनःस्थितिश्चेतःस्थितिः वृषस्य धर्मस्य प्रणयिनी पक्षपातिनी । ह्री-प्रसत्ति-धृति-कीर्तिकान्तयो देवीविशेषाः पक्षे लज्जा-प्रसन्नता-धैर्य-यशो-दीप्तयः स्पर्धयेव मात्सर्येणेव कुलमण्डनोद्यताः कुलालंकरणतत्पराः सन्ति । इतीत्थं गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभिः प्रागपि पूर्वमपि प्रगुणिता वशीभूता देव्यः । इमां राज्ञीं स्वयमेव स्वत एव अप्रेरिता अपीति यावत् । अलं पर्याप्तं यथा स्यात्तथा उपासते सेवन्ते । तत् हरेरिन्द्रस्य निदेशरसपेशलम् आज्ञारसानुकूलम् अधुना साम्प्रतं किमु कर्म कार्यं कुर्महे विदध्मः । इति ब्रूहि निवेदय ॥ श्लेषालंकारः ।

इत्युदीर्य च मिथः प्रणम्य च स्वं निवेद्य च तदिन्द्रशासनम् ।
स्वःस्त्रियस्त्रिभुवनेशमातरं तां निषेवितुमिहोपचक्रिरे ॥४६॥
अश्मगर्भमयमूर्ध्वमुद्धृतं छत्रमिन्दुमणिदण्डमेकया ।
भ्राजते स्म सुदृशोऽन्तरुत्तरज्जाह्नवौघमिव मण्डलं दिवः ॥४७॥
कापि भूत्रयजयाय वल्गतो वल्गु तूणमिव पुष्पधन्वनः ।
पुष्पचारु कबरी प्रसाधनं मूर्ध्नि पार्थिवमृगीदृशो व्यधात् ॥४८॥
अङ्गरागमिव कापि सुभ्रुवः सान्ध्यसंपदिव निर्ममे दिवः ।
यामिनीव शुचिरोचिषां परा चारुचामरमचालयच्चिरम् ॥४९॥
मूर्ध्नि रत्नपुरनाथयोषितः सा कयापि रचितालकावलिः ।
या मुमोष मुखपद्मसंनिधौ गन्धलुब्धमधुपावलिश्रियम् ॥५०॥
एणनाभिरसनिर्मितैकया पत्रभङ्गिमकरो कपोलयोः ।
अभ्यधत्त सुतनोरगाधतामुल्लसल्लवणिमाम्बुधेरिव ॥५१॥

सेवन्ते । किंविशिष्टाः । शारीरिकैरेव गुणैरुपनताः । ततो वयं शक्रादेशरसेन मनोहरं कर्म कथं साम्प्रतं कुर्मः ॥४५॥ इतीति—पूर्वोक्तप्रकारेण परस्परं वार्तयित्वा नत्वा सुरपतेरादेशागमनमिति कथयित्वा च स्वर्गाङ्गना जिनजननीं सेवितुमुपचक्रिरे ॥४६॥ अश्मगर्भेति—तासां मध्ये कयाचिन्मरकतमयोपरितनमण्डलमिव । अत्र छत्रगङ्गयोश्चोपमानोपमेयभावः[1] ॥४७॥ कापीति—नृपप्रियाया मन्दारादिदेवपुष्पैर्मनोहरकुन्तलकलापबन्धं रचयांचकार काचन । त्रिभुवनजिगीषोः पुष्पायुधस्य पुष्पशरैः पूर्णं तूणं भस्त्रकमिव[2] ॥४८॥ अङ्गेति—काचिच्च तस्या विलेपनं विदधौ यथा संध्याश्रीर्गगनस्य रागं करोति । अपरा च रात्रिरिव चन्द्रमिव धवलचामरं चिरं चालयामास[3] ॥४९॥ मूर्ध्नीति—अनेकभङ्गीमनोहरा कयाचन कुटिलालकवल्लरी निर्मिता या तस्या मुखपद्मसमीपे भ्राम्यद्भ्रमरपङ्क्तिलक्ष्मीमपजहार ॥५०॥ एणेति—कयाचित्तस्याः कपोलभित्तौ मृगमदमयी या मकरिका लिखिता सा जनाय गम्भीरतां कथयामास । कस्य गम्भीरतेत्याह—तस्या वपुषि वर्द्धिष्णोर्लावण्यसमुद्रस्य ।

गुणोंसे वशीभूत होकर पहलेसे ही इसकी सेवा कर रही हैं, फिर कहो इस समय इन्द्रकी आज्ञानुसार हम क्या कार्य करें ? ॥४५॥ इस प्रकार परस्पर कहकर उन देवियोंने पहले तो त्रिलोकीनाथकी माताको प्रणाम किया, अपना परिचय दिया, इन्द्रका आदेश प्रकट किया और फिर निम्न प्रकार सेवा करना प्रारम्भ किया ॥४६॥ किसी देवीने इन्द्रकान्त मणिके दण्डसे युक्त नीलमणियोंका बना छत्र उस सुलोचना—सुव्रता रानीके ऊपर लगाया जो ऐसा जान पड़ता था मानो जिसके बीच आकाशगंगाका पूर उतर रहा हो ऐसा आकाशका मण्डल ही हो ॥४७॥ किसी देवीने रानीके मस्तक पर फूलोंसे सुशोभित चूडाबन्धन किया था जो ऐसा जान पड़ता था मानो त्रिभुवन विजयकी तैयारी करनेवाले कामदेवका तूणीर ही हो ॥ ४८ ॥ जिस प्रकार सन्ध्याकी शोभा आकाशमें लालिमा उत्पन्न करती है उसी प्रकार किसी देवीने रानीके शरीरमें अंगराग लगाकर लालिमा उत्पन्न कर दी और जिस प्रकार रात्रि चन्द्रमाको घुमाती है उसी प्रकार कोई देवी चिरकाल तक सुन्दर चमर धुमाती रही ॥४९॥ रानीके मस्तकपर किसी देवीने वह केशोंकी पंक्ति सजायी थी जो कि मुख कमलके समीप सुगन्धिके लोभसे एकत्रित हुए भ्रमर समूहकी शोभाको चुरा रही थी ॥५०॥ किसी देवीने रानीके कपोलोंपर कस्तूरी रससे मकरीका चिह्न बना दिया था जो ऐसा जान पड़ता था

१. अस्येदं व्याख्यानमपूर्णं खण्डितं च प्रतिभातीत्यतोऽन्यद् व्याख्यानं दीयते । एकया कयाचिद्देव्या सुदृशः सुनयनायाः सुव्रताया ऊर्ध्वमुपरि उद्धृतमुन्नमितमश्मगर्भमयं नीलमणिमयमिन्दुमणिदण्डं चन्द्रकान्तमणिदण्डयुक्तं छत्रमातपत्रम्, अन्तर्मध्ये उत्तरन् जाह्नवीौघो गङ्गाप्रवाहो यस्य तत्, दिवो गगनस्य मण्डलं चक्रवालमिव 'चक्रवालं तु मण्डलम्' इत्यमरः । भ्राजते स्म शोभते स्म । उत्प्रेक्षा । २. उपमा । ३. उपमा ।

निष्कलङ्कमणिभूषणोच्चयैः सा कयापि सुमुखी विभूषिता ।
तारतारकवतीन्दुसुन्दरी शारदीव रजनी व्यराजत ॥५२॥
तावदेव किल कापि वल्लकीवेणुहारि हरिणेक्षणा जगौ ।
यावदर्थपतिकान्तयोदितां नाश्रृणोदमृतवाहिनीं गिरम् ॥५३॥
एकया गुरुकलत्रमण्डले धृष्टकामुक इवाधिरोपितः ।
रागचञ्चलकराग्रलालितः कूजति स्म हतमानमानकः ॥५४॥
वलितभ्रु नवविभ्रमेक्षणं वेपितस्तनमुदस्तहस्तकम् ।
चारुचित्रपदचारमेकया नर्तितस्मरमनर्त्ति तत्पुरः ॥५५॥

अन्यत्रापि यत्र सरसि मकरादयो दृश्यन्ते तद्गम्भीरतममिति ज्ञायते ॥५१॥ निष्कलङ्केति—सा कयापि अनेकालंकरणसमूहैः प्रसाधिता विकसितमुखी तरलनक्षत्रमालिनी शारदी रात्रिरिव शुशुभे । अत्र सुव्रताराज्यो-र्मुखचन्द्रयोर्भूषणतारकयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥५२॥ तावदेवेति—तावत्किल काचिद् वीणावंशादिध्वनि-मिश्रां गीतिं चकार यावन्नृपप्रियोच्चरितां सुधामधुरां वाणीं नाकर्णयत् । तस्यां भाषमाणायां वीणापि काक-क्रौङ्कारानुकारिणी न कस्यापि वरं प्रतिभासत इति भावः ॥५३॥ एकयेति—कयाचन निजोत्सङ्गे धृतः पटहः शब्दायते स्म वादनकलया त्वरमाणाभिः कराङ्गुलीराहतो हतमानं प्रकटिततालं यथा स्यात् । यथा प्रगल्भ-कामुकः कयाचिज्जघनमारोपितः कामकलिरसान्तरे करपेटिकाहतो रागतमकण्ठे कूजति स्म[1] ॥५४॥ वलितेति—एकया तस्याः पुरतो नृत्यं चक्रे । किंविशिष्टमित्याह—सप्तप्रकारनर्तितभ्रूलतं षड्विंशतिप्रकार-चालितलोचनं नवविधनर्तितकानीनिकं षट्प्रकारनासिकं षट्प्रकाराधरं षट्प्रकारकपोलं सप्तप्रकारचिबुकं नव-प्रकारलोचनपक्ष्मपुटं तथा त्रयोदशविधं शिरोनृत्यं पश्चात्पूर्वोक्तानि तथा मुखच्छायाश्रृङ्गाररौद्रात्मभेदेन चतुर्धा तथा रङ्गमध्येऽष्टौ वीक्षणगुणा नवप्रकारं ग्रीवानृत्यम्, एते वदननृत्यसंख्यानामसंक्षिप्तभेदानुरोनृत्यं पञ्चविधं तथा पार्श्वनृत्यं च तथोदरं त्रिविधं चतुःषष्टिप्रकारं हस्तकनृत्यं तथा बाहुनृत्यं दशविधं तथा करकर्माणि विंशतिः, कटीनृत्यं पञ्चविधं तथा पञ्चविधा जङ्घा तथा पादकर्म षड्विधं तथा द्वात्रिंशत्पादचारिकाः षोडश-प्रकारा भूमिगाः षोडशप्रकारा आकाशगाः षट्प्रकारमङ्गं तथाङ्गहारा द्वात्रिंशत्प्रकाराः । तथाष्टोत्तरशतं करणानि तथा रङ्गभूमौ प्रथमप्रवेशे षट्स्थानानि । तथाहि वैप्लवसमपादमण्डलवैशाखालीढलक्षणानि नाममात्र-कथितं ग्रन्थगौरवभयाद्विशेषप्रयोगानुभवो न व्याख्यातः । चालितभ्रु नवीनविभ्रमलोचनं कम्पितस्तनमुत्क्षिप्त-

---

मानो उसके सौन्दर्य सागरकी गहराई ही प्रकट कर रहा हो ॥५१॥ किसी देवीने उस सुवदनाको निर्मल मणियोंके समूहसे ऐसा सजा दिया था कि जिससे वह बड़े-बड़े ताराओं और चन्द्रमासे सुन्दर शरद् ऋतुकी रात्रिकी तरह सुशोभित होने लगी ॥५२॥ कोई मृगनयनी देवी वीणा और बांसुरी बजाती हुई तभी तक गा सकी थी जब तक कि उसने रानीके द्वारा कही हुई अमृतवाहिनी वाणी नहीं सुनी थी ॥५३॥ किसी एक देवीके द्वारा स्थूल नितम्ब-मण्डलपर धारण किया हुआ पटह रागसे चंचल हस्तके अग्रभागसे ताडित होता हुआ धृष्ट कामीकी तरह अधिक शब्द कर रहा था ॥५४॥ किसी एक देवीने रानीके आगे ऐसा नृत्य किया जिसमें भौंहें चल रही थीं, नेत्र नये-नये विलासोंसे पूर्ण थे, स्तन काँप रहे थे, हाथ उठ रहे थे, चरणोंका सुन्दर संचार आश्चर्य उत्पन्न कर रहा था, और काम स्वयं नृत्य कर रहा

---

१. अस्येदं व्याख्यानं सुगमम्—एकया सुरबालया गुरुकलत्रमण्डले स्थूलनितम्बबिम्बे अधिरोपितोऽधिष्ठापितः । आनकपटहो रागेण संगीतकप्रसिद्धध्वनिविशेन चञ्चलश्चपलतमो यः कराग्रो हस्ताग्रस्तेन लालितस्ताडितः सन् धृष्टकामुक इव धृष्टनायक इव हतमानं प्रमाणातीतमधिकमिति यावत् कूजति स्म शब्दायते स्म । धृष्ट-नायकस्य लक्षणमिदम् 'धृष्टो ज्ञातापराधोऽपि न विलक्षोऽवमानितः' इति वाग्भटः । कामुकपक्षे रागेण मदनाति-शयेन चञ्चलेन कराग्रेण लालित इति विशेषः ।

[1]यत्तदिष्टतममुत्तमं च यज्जात[2]पूर्वमिह यच्च किंच न ।
तत्तदाभिरभिकर्मकौशलं स्पर्धयेव विधिवद् व्यधीयत ॥५६॥
सर्वतोऽपि सुमनोरमार्पितालंकृतिर्गुणविशेषशालिनी ।
भारतीव सुकवेरभूत्तदा शुद्धविग्रहवती नृपप्रिया ॥५७॥
रात्रिशेषसमये किलैकदा सा सुखेन शयिता व्यलोकयत् ।
स्वप्नसंततिमिमां दिवोऽर्हतस्तीर्थपद्धतिमिवोत्तरिष्यतः ॥५८॥
संचरत्पदभरेण निर्भरं भज्यमानदृढकूर्मकर्परम् ।
कल्पगन्धवहलोलमुद्धुरं राजताद्रिमिव गन्धसिन्धुरम् ॥५९॥

हस्तकं रमणीयनानाप्रकारपदप्रचारं समुन्मत्तमदनं यथा स्यादेवं काचिन्नरीनर्त्ति ॥५५॥ यत्तदिष्टेति—ताभिः श्रीप्रभृतिभिर्देवाङ्गनाभिस्तत्कलाकौशलं निर्मितं स्पर्धया अहमहमिकयेव । यत्किमित्याह—यत्तस्या इष्टतमं मनोवल्लभं यच्चोत्तमं सर्वप्रशस्यं यच्च जातपूर्वमग्रे केनापि न प्रकटितं तत्सर्वं साचारं कृतमिति ॥५६॥ सर्वतोऽपीति—तदा सा नृपप्रिया समयपुण्यलक्ष्मीविशेषितप्रभावा शुद्धशरीरगुणविशेषशालिनी गर्भग्रहणयोग्या बभूव सुकवेर्वाणीव चित्तचमत्कारालंकारयुक्ता औदार्यादिकाव्यगुणयुक्ता यथोक्तसमासाबद्धेति[3] ॥५७॥ रात्रिशेषेति—सा कदाचिदरुणोदये सुखेन शयनस्था वक्ष्यमाणान् स्वप्नानद्राक्षीत् । सर्वार्थसिद्धेर्विमानादुत्तितीर्षोर्जिनेन्द्रस्य सोपानपरम्परामिव ॥५८॥ संचरदिति—रौप्यपर्वतमिव धवलगन्धगजं ददर्श । किंविशिष्टम् । अतिपीडयमानभूभारधारककूर्मपृष्ठकर्परम् । केन । संचरच्चरणप्रचारभारेण कल्पान्तवातवन्मदकम्पमानम् उद्धुर-

था ॥५५॥ उस समय उन देवियोंने सेवाका वह समस्त कौशल—जो कि उन्हें अत्यन्त इष्ट था, उत्तम था, और जिसे पहले किसीने प्रकट नहीं किया था—स्पर्धासे ही मानो प्रकट किया था ॥५६॥ उस समय वह राजाकी प्रिया किसी उत्तम कविकी वाणीकी तरह जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार उत्तम कविकी वाणीमें सब ओरसे विद्वानोंको आनन्दित करनेवाले उपमादि अलंकार निहित रहते हैं उसी प्रकार राजाकी प्रियाको भी देवियोंने सब ओरसे कटकादि अलंकार पहना रखे थे, उत्तम कविकी वाणी जिस प्रकार माधुर्यादि गुणोंसे सुशोभित होती है उसी प्रकार राजाकी प्रिया भी दया दाक्षिण्यादि गुणोंसे सुशोभित थी और उत्तम कविकी वाणी जिस प्रकार शुद्ध विग्रह—प्रकृति-प्रत्यय आदिके निर्दोष विभागसे युक्त रहती है उसी प्रकार राजाकी प्रिया भी शुद्ध विग्रह—शुद्ध शरीरसे युक्त थी ॥५७॥ किसी एक दिन सुखसे सोयी हुई रानीने रात्रिके पिछले समय निम्नलिखित स्वप्नोंका समूह देखा जो ऐसा जान पड़ता था मानो स्वर्गसे उतरकर आनेवाले जिनेन्द्रदेवके लिए सीढ़ियोंका समूह ही बनाया गया हो ॥५८॥ सर्वप्रथम उसने वह मदोन्मत्त हाथी देखा, जिसके कि चलते हुए चरणोंके भारसे पृथिवीका भार धारण करनेवाले कच्छपका मजबूत कर्पर भी टूटा जा रहा था और जो ऐसा जान पड़ता था मानो प्रलय कालकी वायुसे चंचल हुआ ऊँचा कैलास

१. यद्यदिष्टतम -घ० म० । २. यज्ज्ञान—क० ख० ग० घ० च० छ० ज० म० । ३. अस्येदं व्याख्यानं सुस्पष्टम्—तदा तस्मिन् काले नृपप्रिया राजवल्लभा सुकवेः कविश्रेष्ठस्य भारतीव वाणीव अभूद्बभूव । अथोभयोः सादृश्यमाह—सर्वतोऽपि समन्तादपि सुमनोरमाभिर्विबुधवल्लभाभिरर्पिताः प्रदत्ताः अलंकृतयः कटककेयूरादयो यस्यास्तथाभूता नृपप्रिया पक्षे सुमनोरमा विद्वत्प्रिया अर्पिताः स्थापिता अलंकृतय उपमारूपकादयो यस्यां तथाभूता । गुणविशेषैर्दयादाक्षिण्यादिभिः शालते शोभत इत्येवंशीला पक्षे गुणविशेषैर्माधुर्यौजःप्रसादादिभिः शालिनी शोभमाना । शुद्धविग्रहवती निर्मलशरीरवती पक्षे निर्दोषवाक्यविन्यासा 'वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः' इति सिद्धान्तकौमुदी । श्लिष्टोपमा ॥

श्रृङ्ग[1]संगतिकदर्थितग्रहं शारदाभ्रमिव शुभ्रविग्रहम् ।
भूत्रयोत्सवविधायिनं[2]वृषं मूर्तिमन्तमिव बिभ्रतं वृषम्[3] ॥६०॥
[4]गर्जितग्लपितदिग्गजावलीगण्डमण्डलमदाम्बुनिर्झरम् ।
एणकेतनकुरङ्गलिप्सयेवान्तरिक्षरचितक्रमं हरिम् ॥६१॥
[5]रावरोषदलिताम्बुदावलीलग्नलोलरुचिसंचयामिव ।
कन्धरामुरुकडारकेसरोल्लासिनीं दधतमुद्धतं हरिम् ॥६२॥

[पाठान्तरम्]

[6]स्फारकान्तिलहरीपरम्पराप्लावितप्रकृतिकोमलाकृतिम् ।
[7]तत्क्षणभ्रमदमन्दमन्दरक्षुब्धवारिधिगतामिव श्रियम् ॥६३॥
संभृतभ्रमर[8]भङ्गिविभ्रमं स्रग्द्वयं शुचि विकासिकौसुमम् ।
व्योम्नि दिग्गजमदाविलं द्विधा जाह्नवौघमिव वायुना कृतम् ॥६४॥

मुत्तुङ्गितशुण्डादण्डं गर्जन्तमिति ॥५९॥ श्रृङ्गेति—वृषं धवलवदनमपश्यत् शारदमेघमिव शुभ्रशरीरं श्रृङ्गसंघट्ट-घर्षितनक्षत्रं पक्षे शिखरसंश्लेषेण प्रच्छादितचन्द्रग्रहम् । अतश्च तादृशप्रभावत्वात् मङ्गलकारिणं सदेहं धर्ममिव बिभ्राणं धर्मस्यापि शुभ्रवर्णत्वेन वर्ण्यमानत्वात् ॥६०॥ गर्जितेति—निरालम्बसज्जितक्रमं सिंहं ददर्श मृगाङ्क-मृगजिघृक्षयेव । पुनः किंविशिष्टमित्याह—सिंहनादशोषितदिग्गजमण्डलीकपोलपालिमदजलप्रवाहं, गर्जितेन भूमिस्थान् दिग्गजान् जित्वा चन्द्रमृगं जिघांसतीति भावः ॥६१॥ रावेति—दीर्घपिङ्गलकेसरसटाभासुरां ग्रीवां दधानं सिंहं ददर्श । किंविशिष्टमित्याह—गर्जिताकर्णनजनितरोषविदारितमेघसंघेभ्यो निराधारत्वेन पतित-लग्नविद्युच्चयामिव । अत्र कन्धराकेसराणां विद्युतामुपमानोपमेयभावः ॥६२॥ स्फारेति—ततो लक्ष्मीं ददर्श निजप्रसारितेजःकल्लोलमालास्नपितसहजसुभगमूर्तिम् । अतश्च किंविशिष्टामिव । मथनकालभ्राम्यन्मन्दराद्रि-फेनिलसमुद्रगर्भगतामिव । कायकान्तिकलापस्य क्षुभितवारिधेश्चोपमानोपमेयभावः ॥६३॥ संभृतेति—[9]भ्रमर-

अथवा विजयार्ध पर्वत ही हो ॥५९॥ तदनन्तर सींगोंकी संगतिसे ग्रहमण्डलको कष्ट पहुँचाने एवं शरद्ऋतुके मेघके समान सफेद शरीरको धारण करनेवाला वह बैल देखा जो कि तीनों लोकोंमें उत्सव करानेवाले मूर्तिमान् धर्मके समान जान पड़ता था ॥६०॥ तदनन्तर जिसने अपनी गर्जनासे दिग्गज समूहके कपोल मण्डलपर झरते हुए मदजलके झरने सुखा दिये हैं और जो चन्द्रमण्डलमें स्थित मृगको पानेकी इच्छासे ही मानो आकाशमें छलाँग भर रहा है ऐसा सिंह देखा ॥६१॥ तदनन्तर अपनी गर्जनाके रोषसे खण्डित हुए मेघमण्डलकी बिजलियों-का समूह ही मानो जिसमें आ लगा हो ऐसी, लम्बी और पीली सटाओंसे सुशोभित ग्रीवाको धारण करनेवाला उछलता हुआ सिंह देखा ॥६२॥ तदनन्तर वह लक्ष्मी देखी जिसका कि शरीर विशाल कान्तिरूप तरंगोंकी परम्परासे प्लावित और स्वभावसे ही कोमल था एवं ऐसी जान पड़ती थी मानो तत्काल घूमते हुए मन्दरगिरि रूपी विशाल मन्थन दण्डसे मथित समुद्रसे अभी-अभी निकली है ॥६३॥ तदनन्तर बैठे हुए भ्रमरोंके समूहसे सुशोभित खिले हुए

१. संतति घ० म० च० छ० । श्रृङ्गयोर्विषाणयोः पक्षे श्रृङ्गस्याग्रभागस्य संगत्या कदर्थिताः पीडिता ग्रहा सूर्याचन्द्रादयो येन तं तथाविधम् । २. वृषभम् । ३. धर्मम् । ४. गर्जितेन स्वशब्देन ग्लपिताः क्षपिताः दिग्गजा-वल्याः काष्ठाकरिसमूहस्य गण्डमण्डलेभ्यः कपोलसमूहेभ्यो मदाम्बूनां दानाम्भसां स्रोतांसि येन तम् । ५. रावरोषेण शब्दरोषेण दलिता खण्डिता याम्बुदावली मेघमाला तस्या लग्नः संपृक्तो लोलरुचीनां विद्युतां चयः समूहो यस्यां तामिव । ६. स्फारा विपुलविपुला याः कान्तिलहर्यो दीप्तिकल्लोलास्तेषां परम्परया संतत्या प्लाविता स्नापिता प्रकृतिकोमला स्वभावमृदुलाकृतिर्यस्यास्ताम् । ७. तत्क्षणं तत्काले भ्रमन् घूर्णमानो योऽमन्दो विपुलो मन्दरः सुमेरुस्तेन क्षुब्धं मथितो यो वारिधिः सागरस्तत्र गतामिव । ८. सङ्गि घ० म० । ९. संभृतो धृतो भ्रमरभङ्ग्या मधुकरमालया विभ्रमः शोभा येन तत् ।

उग्रदग्धमधिरोप्य लाञ्छनच्छद्मनात्म[1]भुवमङ्कमात्मनः ।
ओषधीरसनिषेवणैरिवोज्जीवयन्तमुदितौषधीश्वरम् ॥६५॥
कौमुदीरसविलासलालसं मीनकेतुनृपतेः पुरोधसम् ।
कामिनीषु [2]नवरागसंभ्रमाद्वैतवादिनमतिग्मतेजसम् ॥६६॥

[पाठान्तरम्]

[3]सर्वथाहमपदोष एव किं ध्यामलो जन इति प्रतिज्ञया ।
लब्धशुद्धिमुडुदिव्यतण्डुलैश्च[4]र्वितैरिव कृतोत्सवं रविम् ॥६७॥
[5]स्तम्भितभ्रमितकुञ्चिताञ्चितस्फारितोद्वलितवेल्लितादिभिः ।
प्रक्रमैर्विहरदम्बुधौ युगं मीनयोर्नयनयोरिव श्रियः ॥६८॥

पटलकर्बुरं विकसितपुष्पमालायुग्ममद्राक्षीत् व्योम्नि निरालम्बम् । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—दिग्गजमदबिन्दुभिरन्तरान्तरा चन्द्राङ्कितं गगनगाङ्गप्रवाहमिव । कथं द्वित्वमित्याह—मध्यधारासंचारिणा प्रचण्डवायुना विभक्तमिव ॥६४॥ उग्रेति—उदितौषधीश्वरं पूर्णचन्द्रमपश्यत् त्रिनयनज्वालादग्धमदनं निजोत्सङ्गे स्थापयित्वा अङ्कमृगव्याजेन ओषधीरसविधानैः पुनर्नवं कुर्वाणम् । यथा कश्चिद्भिषग् ज्वलनादिना दग्धनिजतनूजमतिवत्सलत्वादङ्कमारोप्य प्रत्युज्जीवयति । चन्द्रोदये ह्योषध्योऽतिसरसत्वाद्रसं द्रवन्त्यो मदनमुन्मदयन्ति ॥६५॥ कौमुदीति—अतिग्मरोचिषं हिमरश्मिमीक्षाञ्चक्रे चन्द्रिकारसप्रकाशलम्पटं जगज्जिगीषोः पुष्पायुधस्य पुरोधसं ब्रह्मगुरुं गुरोराशीर्वादप्रभावमन्तरेण न जिगीषोर्जिगीषुतेति भावः । कामिनीषु च रागवशकरणे एकान्तवादिनम् । चन्द्रोदये सति कामोत्सवं विनान्यस्य वार्तापि नास्तीति भावः ॥६६॥ सर्वथेति—उद्गच्छन्तमादित्यं ददर्श । किंविशिष्टमित्याह—कृतोत्सवं लब्धानन्दं, यतः कथंभूतम् । लब्धशुद्धिम् । कैः । निर्णाशितैर्नक्षत्रतण्डुलैः, किमर्थं चर्वितैरित्याह इति प्रतीतिहेतवे, इतीति किम् । अहं सर्वथा नाशितरात्रिकस्ततोऽयं लोकः कुलः सान्धकारः । अथ च यथा कश्चिदात्मानं निर्दोषं जानन् सुजनान् प्रति वदति यूयं किं म्लानमुखा इति जल्पयित्वा दिव्यतण्डुलान् चर्वितान् दर्शयित्वा शुद्धः सन् कृतोत्सवो भवति ॥६७॥ स्तम्भितेति—मत्स्ययुग्ममीक्षाञ्चक्रे

फूलोंसे युक्त दो उज्ज्वल मालाएँ देखीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो वायुके द्वारा आकाशमें दो भागोंमें विभक्त दिग्गजोंके मदसे मलिन आकाशगंगाका प्रवाह ही हो ॥६४॥ तदनन्तर उदित होता हुआ वह चन्द्रमा देखा जो कि ऐसा जान पड़ता था मानो कलंकके छलसे महादेवजी द्वारा जलाये हुए कामदेवको अपनी गोदमें रखकर ओषधियोंके रसका सेवन कर जीवित ही कर रहा हो—ओषधिपति जो ठहरा ॥६५॥ तदनन्तर वह चन्द्रमा देखा जिसकी कि चाँदनीके साथ रसक्रीड़ा करनेमें लालसा बढ़ रही थी, जो कामदेवका पुरोहित था, और स्त्रियोंमें एक नवीन राग सम्बन्धी सम्भ्रमके अद्वैतका प्रतिपादन कर रहा था—स्त्रियोंमें केवल राग ही राग बढ़ा रहा था ॥६६॥ तत्पश्चात् मैं तो सर्वथा निर्दोष हूँ [पक्षमें रात्रिरहित हूँ] लोग मेरे विषयमें मलिनाशय क्यों हैं ? इस प्रकार प्रतिज्ञा द्वारा नक्षत्ररूपी दिव्य [मन्त्रित] चावल खाकर जिसने शुद्धि प्राप्त की है और उसी उपलक्ष्यमें जिसने उत्सव किया है ऐसा सूर्य देखा ॥६७॥ तदनन्तर लक्ष्मीके नयनयुगलकी तरह स्तम्भित, भ्रमित, कुंचित, अंचित,

१. कामं पक्षे पुत्रम् । २. नवरागसंभ्रमस्य नूतननूतनानन्दोल्लासस्याद्वैतवादिनमेकान्तवादिनम् । ३. अहं सर्वथा सर्वप्रकारेण अपदोष एवापगतरात्रिक एव पक्षे निर्दोष एवास्मि जनो लोको ध्यामलो ध्वान्तपूर्णः पक्षे मलिनमुखः किं कथमस्तीति प्रतिज्ञया दृढवाक्येन लब्धशुद्धिः प्राप्तपावित्र्यः । अतएव चर्वितैः राशितैः उडून्येव दिव्यतण्डुलास्तैर्नक्षत्रमनोरमशालेयैः कृतोत्सवमिव कृतानन्दमिव रविं सूर्यम् । ४. चर्चितैः घ० म० च० छ० । ५. स्तम्भितादयो मीनानां गतिविशेषाः नयनपक्षे स्तम्भितं सहजनिश्चलम्, भ्रमितं प्रत्यग्रपदार्थविलोकनेच्छया परितः संचारः, कुञ्चितं कोणेनावलोकनम्, अञ्चितं स्मेरोल्लसितम्, स्फारितमद्भुतवस्तुविलोकनजन्याश्चर्यभावविस्तृतम् उद्वलितं, स्मरलज्जादिनाधोमुखीभवनम्, वेल्लितं पुनः पुनः कामघूर्णितमिति विशेषो बोध्यः ।

प्राग्रसातलगतस्य तत्क्षणान्निर्यतः सुकृतमत्तदन्तिनः ।
कुम्भयोरिव युगं समौक्तिकं शातकुम्भमयपूर्णकुम्भयोः ॥६९॥
अभ्युपात्तकमलैः कवीश्वरैः [1]संश्रुतं कुवलयप्रसाधनम् ।
द्रावितेन्दुरसराशिसोदरं सच्चरित्रमिव निर्मलं सरः ॥७०॥
पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुरं सज्जनक्रमकरं समन्ततः ।
अब्धिमुग्रतरवारिमज्जितक्ष्माभृतं पतिमिवावनीभुजाम् ॥७१॥

समुद्रे लक्ष्म्या नयनयुग्ममिव प्रक्रमैः स्वच्छन्दप्रचारैर्विचरत् । कैः प्रक्रमैरित्याह—नयनचारधर्मानारोपयति—स्तम्भितैः सहजनिश्चलैः कुञ्चितैः कुतश्चिद् विस्मयाद्विकसितैः वलितैः स्मरलज्जादिनाधोमुखैः वेल्लितैः पुनः पुनः कामघूर्णितैरिति ॥६८॥ प्रागिति—मुक्तापूरितयोः सुवर्णकुम्भयोर्युगं ददर्श । अतश्च ज्ञायते—धर्ममत्तहस्तिनः कुम्भयुगलमिव तदपि समौक्तिकं भवति । कथमन्यदङ्गं न दृश्यत इत्याह—प्राग्रसातलगतस्य तीर्थकराभावात् पातालनिमग्नस्य । तत्क्षणात् जिनसंभवसमयान्निर्गच्छतः । ह्रदादेर्निर्गच्छतो हि हस्तिनः प्रथमं कुम्भस्थलं दृश्यते पश्चादन्यदङ्गमिति ॥६९॥ अभ्युपात्तेति—निर्मलं सरोवरं दृष्टवती, गलितचन्द्रबिम्बरसपूरसदृशं कुवलयप्रसाधनं कैरवमण्डनं संश्रुतमानं गृहीतं, कैः । कवीश्वरैः जलपक्षीश्वरैः हंसादिभिः । अभ्युपात्तकमलैर्भक्षणार्थं गृहीतपद्मैः । अथवा संभाव्यते—सज्जनचरित्रमिव, सर्वाह्लादकारित्वाच्चन्द्ररसवत् भूवलयमण्डनम्, उपार्जितलक्ष्मीकैः कवीन्द्रैरुपश्लोकितम्[2] ॥७०॥ पीवरेति—समुद्रं ददर्श । उच्चलाभ्रंकषकल्लोलपरम्परासमुद्धतं सज्जनक्रमकरं सज्जाः प्रबला नक्रा जलचरविशेषात्मका यत्र तं तथाभूतम्, भीष्मगभीरजलप्लावितपर्वतम् । अतश्च जिगीषुमिव । तमपि कथंभूतमित्याह—पीवरा वहला उच्चला उत्पतनशीला ये हरिव्रजा

स्फारित, उद्वलित और वेल्लित आदि गतिविशेषोंसे समुद्रमें क्रीड़ा करता हुआ मछलियोंका युगल देखा ॥६८॥ तदनन्तर मोतियोंसे युक्त सुवर्णमय पूर्ण कलशोंका वह युगल देखा जो कि ऐसा जान पड़ता था मानो पहले रसातल जाकर उसी समय निकलनेवाले पुण्यरूपी मत्त हाथीके गण्डस्थलोंका युगल ही हो ॥६९॥ तदनन्तर वह सरोवर देखा जो कि किसी सत्पुरुषके चरित्रके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सत्पुरुषका चरित्र लक्ष्मी प्राप्त करनेवाले बड़े-बड़े कवियोंके द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार वह सरोवर भी कमल पुष्प प्राप्त करनेवाले अच्छे-अच्छे जलपक्षियोंसे सेवित था । जिस प्रकार सत्पुरुषका चरित्र कुवलयप्रसाधन—महीमण्डलको अलंकृत करनेवाला होता है उसी प्रकार वह सरोवर भी कुवलयप्रसाधन—नीलकमलोंसे सुशोभित था और सत्पुरुषका चरित्र जिस प्रकार पिघले हुए चन्द्ररस अथवा कर्पूररसके समान उज्ज्वल होता है उसी प्रकार वह सरोवर भी पिघले हुए चन्द्ररस अथवा कर्पूररसके समान उज्ज्वल था ॥७०॥ तदनन्तर वह समुद्र देखा जो कि श्रेष्ठ राजा के समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार श्रेष्ठ राजा पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुर—मोटे-मोटे उछलते हुए घोड़ोंके समूहसे युक्त होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुर—मोटी और ऊँची लहरोंके समूहसे युक्त

१. संयुतं क०, सुश्रुतं ख० । २. अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—सतः साधोश्चरित्रमिवोपाख्यानमिव निर्मलं विमलं सरः कासारम् प्रेक्ष्येत्युत्तरेण संबन्धः । अथोभयोः सादृश्यमाह—अभ्युपात्तानि गृहीतानि कमलानि सरोजानि यैस्तैः वीनां पक्षिणामीश्वराः श्रेष्ठा वीश्वराः, के जले विद्यमाना वीश्वरा इति कवीश्वरास्तैः संश्रुतं सेवितं सरः । पक्षेऽभ्युपात्ता प्राप्ता कमला लक्ष्मी यैस्तैः कवीश्वरैः कवीन्द्रैः संश्रुतं संवितं चर्चितं समाकर्णितं वा । कुवलयान्युत्पलानि प्रसाधनानि भूषणानि यस्य तत् सरः । पक्षे कुवलयस्य महीमण्डलस्य प्रसाधनमलंकरणम् । द्रावितस्य विलीनस्येन्दुरसस्य चन्द्ररसस्य कर्पूररसस्य वा यो राशिस्तस्य सोदरं सदृशम् । उभयत्र वैशद्येन तात्पर्यम् । श्लिष्टोपमा ॥

[1]स्वस्वदीधितिपरिग्रहग्रहग्रामवेष्टितमिवाद्रिशेखरम् ।
चित्ररत्नपरिवेषमुच्चकैश्चारुहेमहरिणारिविष्टरम् ॥७२॥
अश्मगर्भमणिकिङ्किणीचयैः सानुभावमकृताश्रयैरिव ।
[2]दिव्यगन्धहृतलोलषट्पदैः सस्वनैः सुरविमानमन्वितम्[3] ॥७३॥
मत्तवारणविराजितं स्फुरद्वज्रहेतिभरतोरणोल्वणम् ।
लोलकेतुपृतनाकदम्बकं नाकिनामिव विमानमम्बरे ॥७४॥

[पाठान्तरम्]

अश्वसंघातास्तै रुद्धम् । सज्जनानां क्रममाचारं करोतीति तं तथाविधं प्रचण्डखड्गमथनेन जितनृपचक्रमिति[4] ॥७१॥ स्वस्वेति—निजनिजयथास्वरूपतेजःपरिवारग्रहचक्रवेष्टितं मेरुमिव पञ्चवर्णरत्नजटितं स्वर्णसिंहासनं ददर्श । अत्र सिंहासनमेर्वोर्ग्रहचक्ररत्नसमूहयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥७२॥ अश्मेति—देवविमानं ददर्श । दिव्यपरिमलाकृष्टैः सशब्दैश्चञ्चलचञ्चरीकैः समन्वितम् । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—शब्दायमाननीलमणिकिङ्किणीचयैरिव । किंविशिष्टैः । अकृताश्रयैर्निरालम्बैः यतः सानुभावं स प्रभावम् ॥७३॥ मत्तेति—देवविमानमपश्यत् किंविशिष्टमनेकगवाक्षशोभितं जाज्वल्यमानहीरकप्रभाभारं यत्तोरणं तेनोल्वणमुत्कटं, पुनः किंविशिष्टम् । चञ्चलध्वजालीमालितम्, विशेषणमेवोपमानविशेष्यं करोति । तथाहि नाकिनां सेनाकदम्बकमिव तदपि कि-

था । जिस प्रकार श्रेष्ठ राजा सज्जन क्रमकर—सज्जनोंके क्रम-आचारको करनेवाला होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सज्जनक्रमकर—सजे हुए नाकुओं और मगरोंसे युक्त था और जिस प्रकार श्रेष्ठ राजा उग्रतरवारिमज्जितक्ष्माभृत्—पैनी तलवारसे शत्रु राजाओंको खण्डित करनेवाला होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उग्रतरवारिमज्जितक्ष्माभृत्—गहरे पानीमें पर्वतोंको दबानेवाला था ॥७१॥ तदनन्तर चित्र-विचित्र रत्नोंसे जड़ा हुआ सुवर्णका वह ऊँचा और सुन्दर सिंहासन देखा जो कि अपनी-अपनी किरणोंसे सुशोभित ग्रहोंके समूहसे वेष्टित पर्वतके शिखरके समान जान पड़ता था ॥७२॥ देवों का वह विमान देखा जो कि रुनझुन करती हुई नीलमणिमयक्षुद्रघण्टिकाओंसे सुशोभित था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो स्थान न मिलनेसे शब्द करनेवाले दिव्यगन्ध द्वारा आकर्षित चंचल भ्रमरोंके समूहसे ही सहित हो ॥७३॥ तदनन्तर आकाशमें देवोंका वह विमान देखा जो कि किसी सेनाके समूहके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सेनाका समूह मत्तवारणविराजित—मदोन्मत्त हाथियोंसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह देवोंका विमान भी मत्तवारणविराजित—उत्तम वरण्डकोंसे सुशोभित था, जिस प्रकार सेनाका समूह स्फुरद्वज्रहेतिभरतोरणोल्वण—चमकीले वज्रमय शस्त्रोंके समूहसे होनेवाले युद्ध द्वारा भयंकर होता है उसी प्रकार देवोंका विमान भी स्फुरद्वज्रहेतिभरतोरणोल्वण—देदीप्यमान हीरोंकी किरणोंके समूहसे निर्मित तोरण द्वारसे युक्त था और जिस प्रकार सेनाका समूह लोलकेतु—चंचलध्वजासे

१. स्वस्वदीधितीनां निजनिजरश्मीनां परिग्रहोऽङ्गीकरणं परिवारो वा येषां तथाभूता ये ग्रहाश्चन्द्रादयस्तेषां ग्रामेण समूहेन वेष्टितं परिवृतम् । २. दिव्यगन्धेन लोकोत्तरसौरभ्येण हृता आकृष्टा ये लोलषट्पदाः चञ्चलचञ्चरीकास्तैः । ३. -मञ्चितम् क० । ४. अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—अवनिभुजां राज्ञां पतिं स्वामिनमिव । अब्धिं सागरम् । प्रेक्ष्येत्युत्तरेण संबन्धः । उभयोः सादृश्यं यथा—पीवराः स्थूला उच्चला उच्छलन्तश्च ये हरयोऽश्वास्तेषां व्रजेन समूहेनोद्धुरं राजानं, पक्षे पीवरोच्चाः स्थूलोत्तुङ्गा या लहरयस्तासां व्रजेन समूहेनोद्धुरस्तम् । समन्ततो विष्वक् सज्जनानां साधूनां क्रमस्याचारस्य करस्तं पक्षे सज्जास्तत्परा नक्रमकरा जलजन्तुविशेषा यस्मिंस्तम् । उग्रेण तीक्ष्णेन तरवारिणा कृपाणेन मज्जिताः, खण्डिताः क्ष्माभृतो राजानो येन तं पक्षे उग्रतरं गंभीरतरं यद् वारि जलं तस्मिन् मज्जिता ब्रुडिताः क्ष्माभृतः पर्वता यस्मिंस्तम् ॥ श्लिष्टोपमा ॥

[1]अन्तरूद्‌र्ध्वफणिविस्फुरत्फणास्थालकोल्वणमणिप्रदीपकैः ।
[2]निष्फलीकृतरिरंसुभोगिनीफूत्कृतोद्यममहीन्द्रमन्दिरम् ॥७५॥
क्व प्रयासि परिभूय मेदिनीं दौस्थ्य मत्पुर इतीव रोषतः ।
चित्ररत्नचयमुल्लसत्करैः स्फारितोरुहरिचापमण्डलम् ॥७६॥
तीर्थकर्तुरहमिन्द्रमन्दिरादेष्यतः पथि समृद्धिभावतः ।
अग्निमग्निकणसंततिच्छलादुत्क्षिपन्तमिव लाजसंचयम् ॥७७॥
प्रेक्ष्य तत्क्षणविनिद्रलोचना सा विहाय तलिनं सुभूषणा ।
पत्युरन्तिकमुपेत्य सुव्रता स्वप्नसङ्घमखिलं तमब्रवीत् ॥७८॥

विशिष्टं । लोलकेतनं मत्तहस्तिविराजितं ज्वलदम्भोलिप्रहरणभरातसंग्रामोल्वणम्[3] ॥७४॥ अन्तरिति—नागालयमीक्षामास । किं विशिष्टम् । निष्फलीभूतसुरतप्रवृत्तलज्जमाननागस्त्रीफूत्कारप्रयासम् । कैरित्याह—ऊर्ध्वदीपिकादण्डायमानसर्पप्रसरत्फणापात्राद्भुतरत्नकलिकादीपकैः । अन्तर्मध्ये । तैलदीपिका हि फूत्कारैर्विध्याप्यन्ते न रत्नदीपिका इति ॥७५॥ क्वेति—भूवासिनं जनं कदर्थयित्वा ममाग्रतः क्व गच्छसीति रोषेणाक्षिप्येव निर्जैर्नानाप्रकारैः किरणैरिन्द्रचापं दर्शयन्तं रत्नराशिम् । अन्योऽपि तेजस्वी निजपोष्यं पराभूय गच्छन्तं शत्रुं वीक्ष्य पुरोभूय धनुष्टङ्कारयति ॥७६॥ तीर्थकर्तुरिति—निर्धूमत्वेन जाज्वल्यमानमग्निं ददर्श स्फुलिङ्गजालव्याजात् मार्गे मङ्गलार्थे लाजप्रकरमिव विक्षिपन्तम् । कस्येत्याह—सर्वार्थसिद्धेरिहावतरिष्यतस्तीर्थकरस्य समृद्धिभावतो मङ्गलार्हत्वाद्योग्यस्य ॥७७॥ प्रेक्ष्येति—तस्मिन् समये प्रबुद्धा सती शय्यां परित्यज्य सालंकरणा भर्तुः

सहित होता है उसी प्रकार वह देवोंका विमान भी लोलकेतु—फहराती हुई ध्वजासे सहित था॥७४॥—तदनन्तर नागेन्द्रका वह भवन देखा जिसमें कि ऊपर उठे हुए नागोंके देदीप्यमान फणारूप बर्तनोंमें सुशोभित मणिमय दीपकोंके द्वारा संभोगकी इच्छुक नागकुमारियोंके फूंकनेका उद्योग व्यर्थ कर दिया जाता है ॥७५॥ तदनन्तर रे दारिद्र्य ! समस्त पृथिवीको दुखी कर मेरे सामनेसे अब कहाँ जाता है? इस प्रकार क्रोधके कारण देदीप्यमान किरणोंके बहाने मानो जिसने बड़ा भारी इन्द्रधनुषका मण्डल ही तान रखा था ऐसा चित्र-विचित्र रत्नोंका समूह देखा ॥७६॥ तदनन्तर उस अग्निको देखा जो कि निकलती हुई चिनगारियोंके बहाने, अहमिन्द्रके विमानसे आनेवाले तीर्थंकरके पुण्यप्रतापसे उनके मार्गमें मानो लाई(लावा)के समूहकी वर्षा ही कर रही हो ॥७७॥ यह स्वप्न देखते ही रानी सुव्रताकी आँख खुल गयी, उसने शय्या छोड़ी, वस्त्राभरण सँभाले और फिर पतिके पास जाकर उसने समस्त स्वप्नोंका समाचार

१. ऊर्ध्वफणिनामुन्नमितपन्नगानां विस्फुरन्त्यो विस्तरणशीला याः फणाः फटास्ता एव स्थालकानि भाजनानि तेषूल्वणा उत्कटा ये मणिप्रदीपका रत्नमयप्रदीपास्तैः । २. निष्फलीकृतो व्यर्थीकृतो रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां भोगिनीनां नागनारीणां फूत्कृतस्य विध्यापनोपायस्योद्यमः प्रयत्नो यस्मिंस्तत् । ३. अत्रेदं सुगमं व्याख्यानम्—अम्बरे विहायसि पृतनाकदम्बकमिव सैन्यसमूहमिव नाकिनां देवानां विमानं व्योमयानं 'व्योमयानं विमानोऽस्त्री' इत्यमरः । उभयोः सादृश्यमाह—मत्तवारणो वरण्डकस्तेन विराजितं शोभितं पक्षे मत्तवारणा मत्तगजास्तैर्विराजितं शोभितम् । स्फुरन् देदीप्यमानो यो वज्रहेतिभरो हीरककिरणकलापस्तेन निर्मितं यत्तोरणं बहिर्द्वारं तेनोल्वणमुत्कटं पक्षे स्फुरन् प्रकाशमानो यो वज्रहेतिभरः पविरूपायुधातिशयस्तस्मात् । रणेन संग्रामेणोल्वणं समुत्कटम् । लोलकेतु चपलध्वजम् । उभयत्र समानम् 'हेतिः स्यादायुधज्वाला सूर्यतेजः सुयोषिति' इति मेदिनी । श्लिष्टोपमा ।

बन्धुरं तमवधार्य तस्य सद्बन्धुरन्तकरमेनसां फलम् ।
व्याजहार स रदाग्रदीधितिव्याजहारमुरसि प्रकल्पयन् ॥७९॥
तं निशम्य हृदि मौक्तिकावलीं दन्तजैर्द्विगुणयन् मरीचिभिः ।
प्रीतिकन्दलितरोमकन्दलीसुन्दराकृतिरवीवदन्नृपः ॥८०॥

[पाठान्तरम्]

देवि धन्यचरिता त्वमेव या स्वप्नसंततिमपश्यदीदृशीम्[1] ।
श्रूयतां सुकृतकन्दलि क्रमाद्वर्ण्यमानमनपायि तत्फलम् ॥८१॥
वारणेन्द्रमिव दानबन्धुरं सौरभेयमिव धर्मधूर्धरम् ।
केशरीशमिव विक्रमोदितं श्रीस्वरूपमिव सर्वसेवितम् ॥८२॥
माल्यवत्प्रथितकोर्तिसौरभं चन्द्रवन्नयनवल्लभप्रभम् ।
भानुवद्भुवनबोधकोविदं मीनयुग्मवदमन्दसंमदम् ॥८३॥
कुम्भयुग्ममिव मङ्गलास्पदं निर्मलं सर इव क्लमच्छिदम् ।
तोयराशिमिव पालितस्थितिं सिंहपीठमिव दर्शितोन्नतिम् ॥८४॥

समीपं गत्वा तानि दृष्टानि षोडश स्वप्नानि यथावृत्तेन सुव्रता कथयामास ॥७८॥ बन्धुरमिति—स राजा महासेनस्तस्य स्वप्नसंघातस्य फलमाचचक्षे । किं कुर्वन् । दन्तज्योत्स्नाव्याजेन हृदये हारं द्वितीयमिवाकल्पयन् । किंविशिष्टं फलमित्याह—परिपूर्णं ज्ञात्वा, किंविशिष्टः । सतां बन्धुः, विनाशकरं पापानाम् ॥७९॥ तमिति—तं स्वप्नसंघातं श्रुत्वा उरोहारं द्विगुणयन् दन्तकिरणैरतिपुलकितो राजाभाषिष्ट ॥८०॥ देवीति—दे देवि ! त्रिभुवनस्त्रीणां त्वमेव धन्यजन्मजीविता या त्वमीदृशीं स्वप्नसंततिमद्राक्षीः । तस्याः फलं साम्प्रतमाकर्ण्यताम् । मया निजबुद्धया कथ्यमानमनन्तं धर्ममूलम् ॥८१॥ वारणेन्द्रमिति—त्वमेवं गुणशालिनम् [आत्मजम्] प्राप्स्यसि । किंविशिष्टमित्याह—गजेन्द्रदर्शनात् प्रार्थितदायिनं गजपक्षे दानं मदः । वृषमिव धर्मधुराधैरेयम् । सिंहमिवापराभूतम् । लक्ष्मीस्वरूपमिव सर्वसेवितम् ॥८२॥ माल्यवदिति—मालायुग्ममिव यशःपरिमलमहमहितत्रिभुवनं, चन्द्रमिव [लोचनहारिसुषमम्]; [दिनकरमिव जगज्जागरण—] पण्डितं, मत्स्ययुग्ममिव सर्वदा प्रमोदितम् ॥८३॥ कुम्भेति—कलशयुगलमिव दृष्टमपि मङ्गलकारकम्, प्रकृतिनिर्दोषं तापापहं च सर इव, समुद्र इव गभीरिम-श्रीजन्म—समर्यादादिगुणोपेतं, सिंहासनमिव दर्शितप्रभुत्वोत्साहम् ॥८४॥ देवतेति—

कहा ॥७८॥ सज्जनोंके बन्धु राजा महासेन उन मनोहर स्वप्नोंका विचार कर दाँतोंके अग्रभागकी किरणोंके बहाने रानीके वक्षःस्थलपर हारकी रचना करते हुए उन स्वप्नोंका पापहारी फल इस प्रकार कहने लगे ॥७९॥ स्वप्न समूहको सुन प्रीतिसे उत्पन्न हुई रोमराजिसे जिनका शरीर अत्यन्त सुन्दर मालूम हो रहा था ऐसे राजा महासेन दाँतोंकी किरणोंके द्वारा रानीके हृदयपर पड़े हुए हारको दूना करते हुए इस प्रकार बोले ॥८०॥ हे देवि ! एक तुम्हीं धन्य हो, जिसने कि ऐसा स्वप्नोंका समूह देखा । हे पुण्यकन्दलि ! मैं क्रमसे उसका फल कहता हूँ सुनो ॥८१॥ तुम इस स्वप्नसमूहके द्वारा गजेन्द्रके समान दानी, वृषभके समान धर्मका भार धारण करनेवाला, सिंहके समान पराक्रमी, लक्ष्मीके स्वरूपके समान सबके द्वारा सेवित, मालाओंके समान प्रसिद्ध कीर्तिरूप सुगन्धिका धारक, चन्द्रमाके समान नयनाह्लादी कान्तिसे युक्त, सूर्यकी तरह संसारके जगानेमें निपुण, मीन युगलके समान अत्यन्त आनन्दका धारक, कलश युगलके समान मङ्गलका पात्र, निर्मल सरोवरकी तरह संतापको नष्ट करनेवाला, समुद्रकी तरह मर्यादाका पालक, सिंहासनकी तरह उन्नतिको

१. अपश्य ईदृशीम् घ० म० ।

देवतागमकरं विमानवद्गीततीर्थमुरगस्य हर्म्यवत् ।
सद्गुणाढ्यमिह रत्नराशिवत्प्लुष्टकर्मगहनं च वह्निवत् ॥८५॥
लप्स्यसे सपदि भूत्रयाधिपं तीर्थनाथममुना त्वमात्मजम् ।
जायते व्रतविशेषशालिनां स्वप्नवृन्दमफलं हि न क्वचित् ॥८६॥
[पञ्चभिः श्लोकैः कुलकम्]

इत्थं तदर्थकथया हृदि कुल्ययेव
श्रोत्रान्तरप्रहितया हृदयेश्वरेण ।
देवी प्रमोदसलिलैरभिषिच्यमाना
वप्रावनीव विलसत्पुलकाङ्कुराभूत् ॥८७॥
स श्रीमानहमिन्द्र इत्यभिधया देवस्त्रयस्त्रिंशतो-
दन्वद्भिः प्रमितायुषो व्यपगमे सर्वार्थसिद्धेश्च्युतः ।
चन्द्रे बिभ्रति रेवतीप्रणयितां[1] वैशाखकृष्णत्रयो-
दश्यां गर्भमवातरत्करितनुः श्रीसुव्रतायास्तदा ॥८८॥
आगत्यासनकम्पकल्पितचमत्कारासुराः सर्वतो
जम्भारातिपुरस्सराः सपदि तां गर्भे जिनं बिभ्रतीम् ।
स्तोत्रैस्तुष्टुवुरिष्टभूषणचयैरानर्चुरुच्चैर्जगु-
र्भक्त्या नेमुरनर्त्तिषुर्नवरसैस्तत्किं न यत्ते व्यधुः ॥८९॥

विमानमिव चतुर्णिकायामरागमनकारकम्, नागालयमिव गीतस्थानं 'पुरा पातालाद्गीतं प्रवर्तितम्' इति प्रसिद्धिः। अनेकगुणमयं रत्नसंचयमिव, दग्धकर्मवनं च ज्वलनमिव ॥८५॥ लप्स्यस इति—अनेन स्वप्नसमूहेन जगन्नाथं तीर्थकरं पुत्रं प्राप्स्यसि । यस्मादविकल्पचेतसां सूर्योदयदृष्टं स्वप्नं सत्यमेवेति स्वप्नज्ञाः ॥८६॥ इत्थमिति—अनेन प्रकारेण प्राणपतिना स्वप्नार्थकथया कर्णपुटप्रहितया सुधासारिण्येव प्रसिच्यमाना देवी केदारभूमिरिव पुलकाङ्कुरसूचीमयीव बभूव[2] ॥८७॥ स इति—अहमिन्द्रनामा स देवस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुः क्षये सति सर्वार्थसिद्धेर्विमानाच्च्युतः सुव्रताया गर्भे हस्तिरूपधारी प्रविवेश । कदा गर्भेऽवततारेत्याह—रेवतीनक्षत्रं चन्द्रे गते सति । वैशाखमासे कृष्णपक्षे त्रयोदश्याम्[3] ॥८८॥ आगत्येति—तां सुव्रतां गर्भस्थितं धर्मनाथतीर्थकरं धारयन्ती दशदिग्भागात् निजनिजासनकम्पेनोत्पादितश्चमत्कारो येषां ते तथा । जिनगर्भजन्मादौ तेषामासनानि कम्पन्त इति श्रुतम् । सौधर्मेन्द्रप्रमुखा देवा आगत्य तद् रत्नपुरं नगरं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य तौ जिनस्य माता-

दिखानेवाला, विमानकी तरह देवोंका आगमन करनेवाला, नागेन्द्रके भवनके समान प्रशंसनीय तीर्थसे युक्त, रत्नोंकी राशिके समान उत्तम गुणोंसे सहित और अग्निकी तरह कर्मरूप वनको जलानेवाला, त्रिलोकी नाथ तीर्थंकर पुत्र प्राप्त करोगी सो ठीक ही है क्योंकि व्रतविशेषसे शोभायमान जीवोंका स्वप्नसमूह कहीं भी निष्फल नहीं होता ॥८२-८६॥ इस प्रकार हृदयवल्लभ द्वारा कर्णमार्गसे हृदयमें भेजी हुई नहरके समान स्वप्नोंकी उस फलावलीने देवीको आनन्दरूप जलोंसे खूब ही सींचा जिससे वह खेतकी भूमिकी तरह रोमांचरूप अंकुरोंसे सुशोभित हो उठी ॥८७॥ वह अहमिन्द्र नामका श्रीमान् देव अपनी तैंतीस सागर प्रमाण आयुके पूर्ण होनेपर सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होकर जब कि चन्द्रमा रेवती नक्षत्रपर था तब वैशाख कृष्ण त्रयोदशीके दिन हाथीका आकार रख श्री सुव्रता रानीके गर्भमें अवतीर्ण हुआ ॥८८॥ आसनोंके कम्पित होनेसे जिन्हें चमत्कार हो रहा है ऐसे इन्द्रादिदेव सभी ओरसे तत्काल दौड़े आये। उन्होंने राजा महासेनके घर आकर गर्भमें जिनेन्द्रदेवको

१. रेवतीप्रणयतां म० घ० । २. उपमालंकारः, वसन्ततिलकावृत्तम् । ३. शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ।

अहमिहमहमीहे यावदुच्चैर्विधातुं
कथमिव पुरुहूतोत्पादितं तावदीक्षे।
इति मनसि विलक्षं तं क्षितीशं स रत्न-
त्रिदशकुसुमवृष्टिच्छद्मना द्यौरहासीत् ॥९०॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये गर्भावतारो नाम पञ्चमः सर्गः ॥५॥

पितरौ श्लेषयांचक्रुः, अभिमतालंकरणैरलंचक्रुरतिभक्तिभरास्तयोः पुरतो गायन्ति नृत्यन्ति स्म। किं बहुना। तु तत् किमपि नास्तीति यदभीष्टं तैर्न कृतमिति[1] ॥८९॥ अहमिति—तं राजानं गगनं जहास। रत्नमिश्रदेवमुक्तपुष्पवृष्टिव्याजात्। किंविशिष्टं तं। मनसि विलक्षं निष्फलचिकीर्षम्। कथं विलक्षमित्याह—यावदहं गर्भाचारमङ्गलक्रियां चिकीर्षामि कथं नाम तावत्सर्वमपि शक्रकृतं पश्यामि। मया यन्मनसि चिन्तितं तदिन्द्रः कृतमेव दर्शयति। ततो मयानवकाशत्वात्स्वयंकरणमनोरथा न पूर्यन्त इति विलक्षताकारणम्[2] ॥९०॥

इति महाकवि श्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्ये गर्भावतारवर्णने श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यश्रीयशःकीर्तिविरचितायां संदेहध्वान्तदीपिकायां पञ्चमः सर्गः ॥५॥

धारण करनेवाली रानी सुव्रताकी स्तोत्रों द्वारा स्तुति की, इष्ट आभूषणोंके समूहसे पूजा की, खूब गाया, भक्ति पूर्वक नमस्कार किया, और नव रसोंके अनुसार नृत्य किया। वह क्या था जिसे उन्होंने न किया हो? ॥८९॥ मैं यहाँ किसी तरह भारी उत्सव करने की इच्छा करता हूँ कि उसके पहले ही उस उत्सवको इन्द्र द्वारा किया हुआ देख लेता हूँ—इस प्रकार मनमें लज्जित होते हुए राजाकी रत्न और कल्पवृक्षके पुष्पोंकी वर्षाके बहाने आकाश मानो हँसी ही कर रहा था ॥९०॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें गर्भावतारका वर्णन करनेवाला पंचम सर्ग समाप्त हुआ ॥५॥

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्। २. मालिनीवृत्तम्, उत्प्रेक्षालंकारः।

षष्ठः सर्गः

सा भारतीव [1]चतुरातिगभीरमर्थं
वेलेव गूढमणिमण्डलमम्बुराशेः ।
पौरन्दरी दिगिव मेरुतिरोहितेन्दुं
गर्भं तदा नृपवधूर्दधती रराज ॥१॥

तामादरादुदरिणीं रहसि प्रहृष्टा
दृष्टिः प्रतिक्षणमुदैक्षत भूमिभर्त्तुः ।
दैवादवाप्य तपनीयनिधानकुम्भीं
साशङ्करङ्ककुलमूलकुटुम्बिनीव ॥२॥

अन्तर्वपुः प्रणयिनः परमेश्वरस्य
निर्यद्यशोभिरिव सा परिरभ्यमाणा ।
स्वल्पैरहोभिरभितो घनसारसार-
क्लृप्तोपदेहमिव देहमुवाह देवी ॥३॥

तृष्णाम्बुधेरपरपारमुपागतं च
निर्बन्धनं च तनयं जनयिष्यतीयम् ।

सेति—सा नृपवधूः सुव्रता तं मुक्तस्वरूपं गर्भं बिभ्रती बभासे अनेकोपमानान्याविर्भावयति । यथा कस्यचित्कवीन्द्रस्यानेकलक्षणगुणालंकारयुक्ता वाणी अनन्यसदृशमनन्यप्राप्यं सर्वतः प्रतिभासमर्थं धारयति । अथवा यथा समुद्रस्य वेला शेवालादिपिहितं रत्नसमूहं बिभर्त्ति । आहोस्वित् यथा पूर्वा दिक् मेरुपर्वतान्तरितं चन्द्रं वहति[2] ॥१॥ तामादरादिति—तां निजप्रियां गर्भभारालसां पर्यङ्किकादिपरिकरितगर्भगृहगर्तस्थितां पुनः पुनरतिरामणीयकवत्पार्थिवस्य प्रमोदविकसिता दृष्टिरद्राक्षीत् । दैवादचिन्तितोपस्थितभाग्योदयाभिधानस्वर्णघटीं लोकपरिज्ञानाद्बिभ्यती महादरिद्रकुटुम्बवृद्धभार्येव । आत्मानुचितलाभान्महाप्रयत्नसूचनम्[3] ॥२॥ अन्तर्वपुरिति—सा देवी कर्पूरपूररचितालेपमिव शरीरं बभार । अथ च गर्भवासिनो जिनस्य निर्गच्छद्भिर्यशोभिराश्लिष्यमाणेव स्तोकैर्दिनैर्मासचतुष्टयलक्षणैरिति[4] ॥३॥ तृष्णेति—तस्या अन्यपदार्थविषये दोहदानि मनो नाभिललाष । परं क्रीडार्थं गृहीतशुकसारिकामोक्षं परित्यज्य तयेति दोहदवत्या पञ्जरस्थशुकादयो मोचिता

उस समय गर्भको धारण करनेवाली रानी सुव्रता चतुर एवं गभीर अर्थको धारण करनेवाली वाणीकी तरह अथवा गुप्त मणियोंके समूहको धारण करनेवाली समुद्रकी वेलाकी तरह अथवा मेरु पर्वतसे छिपे हुए चन्द्रमाको धारण करनेवाली प्राची दिशाके समान सुशोभित हो रही थी ॥१॥ जिस प्रकार किसी दरिद्र कुलकी वृद्ध गृहिणी भाग्यवश सुवर्णका कलश पाकर कोई इसे ले न जावे इस आशंकासे उसे देखती रहती है इसी प्रकार राजा महासेनकी प्रसन्न दृष्टि उस गर्भवती सुव्रताको एकान्तमें बड़े आदरके साथ प्रतिक्षण देखती रहती थी ॥२॥ उस देवीका शरीर कुछ ही दिनोंमें कर्पूरके स्वत्वका लेप लगाये हुएके समान सफेद हो गया था जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो शरीरके भीतर स्थित श्री॰तीर्थंकर भगवान्‌के बाहर

१. चतुरो विदग्धजनगम्यः, अतिगभीरो मनीषिमनोगम्यः चतुरश्चासावतिगभीरश्चेति चतुरातिगभीरस्तम् । २. वसन्ततिलकावृत्तम्, एकपञ्चाशत्तमवृत्तं यावत् । मालोपमालंकारः । ३. उपमा । ४. उत्प्रेक्षा ।

तेनावरुद्धकलकेलिशकुन्तमुक्ति
मुक्त्वान्यवस्तुषु बबन्ध न दौहृदानि[1] ।।४।।
वृद्धिं परामुदरमाप यथा यथास्याः
श्यामाननः स्तनभरोऽपि तथा तथाभूत् ।
यद्वा नितान्तकठिनां प्रकृतिं भजन्तो
मध्यस्थमप्युदयिनं न जडाः सहन्ते ।।५।।
तस्याः कपोलफलके स्फटिकाश्मकान्तौ
कंदर्पदर्पण इव प्रतिबिम्बिताङ्गः ।
रात्रावलक्ष्यत जनैर्यदि लाञ्छनेन
श्रीकण्ठकण्ठजरठच्छविना मृगाङ्कः ।।६।।
एकेन तेन बलिना स्वबलेन तस्या
भङ्क्त्वा बलित्रयमवर्धत मध्यदेशः ।
तेनैव संमदरसेन सुहृत्तदाभू-
दत्यन्तपीवरतरः कुचकुम्भभारः ।।७।।

इत्यर्थः । यतः कारणादियं तनूजं प्रसविष्यति । किंविशिष्टम् । तृष्णासमुद्रोत्तीर्णं ततोऽस्याः सर्ववस्तुनिरभिलाषिता । निर्बन्धनं कर्मबन्धरहितं प्राणिनां कर्मबन्धोन्मोचकं तत इयं बद्धान्मोचयति ।।४।। वृद्धिमिति—यथा यथास्या उदरमुन्नतिं भेजे तथा तथा कुचभारोऽपि कृष्णमुखो बभूव । यदि वा सत्यमेतत् प्रकृतिकठिना अन्तर्दुष्टा दुर्जना मध्यस्थं समशत्रुमित्रमप्युदयं गच्छन्तं नाभिनन्दन्ति । यतोऽमी जडास्तथा तत्त्वविचाराक्षमाः पक्षे कठिनत्वं स्तनस्वभाव उदरं च स्तनजघनयोर्मध्ये तिष्ठत्येव, जडाः सरसलावण्यस्वभावाः[2] ।।५।। तस्या इति—तस्याः कपोलफलके गर्भप्रभावजनितसितिमनि कामदेवादर्शसदृशे नक्तं प्रतिबिम्बितश्चन्द्रः सदृशवर्णत्वात्कथं लक्ष्यते स्मेत्याह—विसदृशवर्णेन लाञ्छनमृगेण नीलकण्ठगलसदृशकान्तिनामुनेति । यदिशब्दः संदेहवाची ।।६।। एकेनेति—तस्या मध्यप्रदेशो ववृधे । किं कृत्वा । बलित्रयसंनिवेशं निर्नाश्य । तेनैकेनानन्यसदृशप्रभावेण गर्भप्रभावेण बलिना महाशक्त्यात्मकेन स्वबलेन निजपराक्रमेण । इति करणस्य करणम् । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते तेनैव प्रमोदरसोपचयेन स्तनतटप्रसारः पीनतरो बभूव । शोभनं हृदयं येन स सुहृद् । अथ चोक्तिलेशः—यथा केनचित् सुभटमल्लेन दोर्दण्डपरिच्छदेन मल्लत्रयं पराभूतं दृष्ट्वा सुजनबन्धुवर्गो हर्षोल्लसितो भवति[3] ।।७।।

निकलनेवाले यशसे ही आलिंगित हो रही हो ।।३।। यह सुव्रता तृष्णारूप समुद्रके द्वितीय तटको प्राप्त हुए बन्धनहीन पुत्रको उत्पन्न करेगी—यह सूचित करनेके लिए ही मानो उसने पिंजड़ोंमें बन्द क्रीड़ापक्षियोंकी मुक्तिको छोड़कर अन्य वस्तुओंमें इच्छा नहीं की थी—उसकी यही एक इच्छा रहती थी कि पिंजड़ोंमें बन्द समस्त तोता-मैना आदि पक्षी छोड़ दिये जावें ।।४।। इस सुव्रताका उदर ज्यों-ज्यों वृद्धिको प्राप्त होता जाता था त्यों-त्यों उसका स्तनमण्डल कृष्णमुख होता जाता था सो ठीक ही है । क्योंकि अत्यन्त कठोर प्रकृतिको धारण करनेवाले जड़ पुरुष मध्यस्थ [राग-द्वेषसे रहित, प्रकृतमें बीचमें रहनेवाले] पुरुषका भी अभ्युदय नहीं सह सकते ।।५।। स्फटिक मणिके समान कान्तिवाला उस सुव्रताका कपोलफलक कामदेवके दर्पणके समान मालूम होता था । रात्रिके समय उसमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाको यदि लोग देख पाते थे तो महादेवजीके कण्ठके समान कठोर कान्तिवाले कलंकके द्वारा ही देख पाते थे ।।६।। उस सुव्रताका मध्यदेश गर्भस्थित एक बली [बलवान्] के द्वारा तीन बलियोंको [पक्षमें नाभिके नीचे स्थित तीन रेखाओंको] नष्टकर वृद्धिको प्राप्त हो

१. दोहदानि ग० घ० च० छ० ज० म० । २. ईर्ष्यालवो दुर्जना उदासीनस्याप्युदयं न क्षमन्ते किमुत प्रपञ्चपातितस्येति भावः । अर्थान्तरन्यासः । ३. उत्प्रेक्षा ।

उत्खातपङ्किलविसाविव राजहंसौ
शुभ्रौ सभृङ्गवदनाविव पद्मकोशौ ।
तस्याः स्तनौ हृदि रसैः सरसीव पूर्णे
संरेजतुर्गवलमेचकचूचुकाग्रौ ॥८॥

गर्भे वसन्नपि मलैरकलङ्किताङ्गो
ज्ञानत्रयं त्रिभुवनैकगुरुर्बभार ।
तुङ्गोदयाद्रिगहनान्तरितोऽपि धाम[1]
किं नाम मुञ्चति कदाचन तिग्मरश्मिः ॥९॥

काले कुलस्थितिरिति प्रतिपद्य विद्वान्
कर्तुं यदैच्छदिह पुंसवनादि कर्म ।
स्वः स्पर्द्धयेव तदुपेत्य पुरन्दरेण
प्रागेव निर्मितमुदैक्षत स क्षितीशः ॥१०॥

सा गर्भनिर्भरतया सफलाङ्गसाद-
मासाद्य निष्क्रियतनुस्तरुणेन्दुगौरी ।
आलोकिता स्फटिककृत्रिमपुत्रिकेव
भर्तुस्तदा मदयति स्म मनो मृगाक्षी ॥११॥

उत्खातेति—तस्याः स्तनौ महिषश्रृङ्गवत् शुशुभाते । प्रेमरसैः परिपूर्णे हृदये सरसि गृहीतकर्दमसम्बलितविसौ राजहंसाविव, अथवा पुण्डरीकमुकुलाविव मुखोपविष्टभ्रमरौ । अत्र हंस-पद्मकोश-स्तनानां कर्दम-भृङ्ग-कृष्ण-चूचुकानां चोपमानोपमेयभावः[2] ॥८॥ **गर्भ इति**—स परमेश्वरो गर्भवासे वसन्नपि गर्भमलैरस्पृष्टो ज्ञानत्रय-विराजित एव । नासंभाव्यमेतत्, न नामादित्य उत्तुङ्गपूर्वाचलतटीतिरोहितोऽपि निजप्रतापं मुञ्चति[3] ॥९॥ **काल इति**—स महासेनो राजा नवमादिमासे कुलस्थितिं मत्वा प्रसवमङ्गलादिकाः क्रिया या ईहाञ्चक्रे ताः सर्वा अपि प्रथममेव शक्रेण कुलकिङ्करेण झटित्यागत्य चक्रिरे । स्पर्द्धया अन्यो मयि सति करिष्यतीतीर्ष्यालुनेव स्वः स्वर्गादुपेत्य ॥१०॥ **सेति**—सा चञ्चलाक्षी राज्ञो मनोऽतिप्रेमासक्तेः कातरयांचकार । किंविशिष्टा सती । उपचीयमानगर्भप्रभावात् स्फटिकोपलघटितपाञ्चालीव पुत्तलिकेवेति यावत् जरठचन्द्रधवला निष्क्रिय-तनुव्यापराङ्गवती । कुतो निष्क्रियत्वमित्याह—महागर्भोपचयनिःसहतया सर्वाङ्गालस्यं प्राप्य ॥११॥

रहा था अतः उसके स्तन-कलश हर्षसे ही मानो अत्यन्त स्थूल हो गये थे ॥७॥ जलभृत सरोवरके समान प्रेमसे ओत-प्रोत हृदयमें भसेके सींगके समान काले-काले चूचकोंसे युक्त उस सुव्रताके दोनों स्तन ऐसे जान पड़ते थे मानो जिन्होंने कीचड़युक्त मृणाल उखाड़ा है ऐसे राजहंस ही हों अथवा जिनके अग्रभागपर भ्रमर बैठे हैं ऐसे सफेद कमलों के कुड्मल ही हों ॥८॥ गर्भमें रहने पर भी जिनका शरीर मलसे कलंकित नहीं है ऐसे वह त्रिभुवन गुरु मति-श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंको धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि सूर्य उत्तुङ्ग उदयाचलके वन में छिपकर भी क्या कभी अपना तेज छोड़ता है ॥९॥ राजा कुलकी रीतिका खयालकर योग्य समय जिस पुंसवन आदि क्रियाके करने की इच्छा करते थे इन्द्र उस कार्यको स्वर्गकी स्पर्धासे पहले ही आकर कर देता था और राजा उस क्रियाको बड़े आश्चर्यसे देखते थे ॥१०॥ तरुण चन्द्रमाके समान गौर वर्णको धारण करने वाली रानी सुव्रता गर्भ के भारसे समस्त शरीरमें खेदका अनुभव कर निश्चल शरीर हो रही थी जिससे स्फटिकमणिकी पुतलीके समान जान पड़ती थी । दृष्टिके सामने आते ही वह अपने स्वामीका

१. 'धाम तेजो गृहे रश्मौ' इति हैमः । २. मालोपमा । ३. दृष्टान्तालंकारः ।

वज्रानलादि न ससर्ज न चोज्जगर्ज
साश्चर्यमैलबिल इत्यपरोऽम्बुवाहः ।
अष्टौ च सप्त च जिनेश्वरजन्मपूर्वान्
मासान्व्यधत्त नृपधामनि रत्नवृष्टिम् ॥१२॥
पुष्यं[1] गते हिमरुचौ तपसो[2] वलक्ष-
पक्षाश्रितां तिथिमथ त्रिजया[3]मवाप्य ।
प्राचीव भानुमभिनन्दितसर्वलोकं
सासूत सूत्रितनयं तनयं मृगाक्षी ॥१३॥
शातोदरी शयनसंनिहितेन तेन
[4]प्रोत्तप्तकाञ्चनसकाशरुचा चकाशे ।
कंदर्पदर्पजयिना नयनानलेन
कामद्विषः शिरसि चान्द्रमसी कलेव ॥१४॥
अष्टोत्तरां दशशतीं शुभलक्षणानां
बिभ्रत्स पुण्यविपणिः सहसापि दृष्टः ।
स्वर्गादृतेऽपि परमोत्सवनिर्निमेषाः
काश्चित्रमत्र न चकार चकोरनेत्राः ॥१५॥

वज्रेति—धनदोऽयमपूर्वो मेघः । कथमपरत्वमित्याह—विद्युज्ज्वलनं न मुमोच न च गर्जं चकार । विद्युत्वांश्च गर्जन् वर्षति । अपरं च षण्मासान् गर्भावतारपूर्वं नवमासान् गर्भस्थितेरेवं पञ्चदशमासान् नृपगृहे रत्नवृष्टिं कृतवान् । प्रस्तुतस्तु न तथा रत्नवृष्टिं चकार किन्तु जलवृष्टिमेव ॥१२॥ पुष्यमिति—सा मृगाक्षी पुत्रं जनयांचकार । सूत्रितनयं दर्शितसकलनीतिमार्गं प्रमोदितत्रिभुवनकम् । कदेत्याह—माघशुक्लपक्षे तृतीया चासौ जया च अर्थात् त्रयोदश्यामेव चन्द्रे पुष्यनक्षत्राश्रिते । यथा पूर्वादित्यमुद्गमयति[5] ॥१३॥ शातोदरीति—सा क्षामोदरी शयनसमीपस्थेन तेन तप्ततपनीयप्रभेण बभासे । शम्भोः शिरसि तन्वी चन्द्रकलेव कामदर्पापहेन तृतीयनयनज्वलनेनेव । अत्र शिरःशयनयोः सुव्रताचन्द्रकलयोः सूनुतृतीयनयनयोश्चोपमानोपमेयभावः[6] ॥१४॥ अष्टोत्तरामिति—स पुण्याकरस्तीर्थनाथो जातमात्रोऽप्यष्टोत्तरसहस्रमनन्यसदृशलक्षणानां बिभ्राणो दृष्टः सन् काश्चञ्चलाक्षीर्निर्निमेष-

मन आनन्दित कर देती थी ॥११॥ बड़े आश्चर्यकी बात है कि कुबेर नामक अनोखे मेघने न तो वज्र ही गिराया था और न जोरकी गर्जना ही की थी। वह चुपचाप जिनेन्द्र भगवान्के जन्मसे पन्द्रह माह पूर्व तक राजमन्दिरमें रत्नवृष्टि करता रहा ॥१२॥ जिस प्रकार पूर्व दिशा सर्वलोक समूहको आनन्द प्रदान करनेवाले सूर्यको जन्म देती है उसी प्रकार उस मृगनयनी रानीने माघ शुक्ल त्रयोदशीके दिन पुष्य नक्षत्रमें संसारको नीतिका मार्ग दिखानेवाले एवं सबके लिए आनन्ददायक पुत्रको जन्म दिया ॥१३॥ जिस प्रकार महादेवजीके मस्तक पर कामदेवका गर्व जीतनेवाले नेत्रानलसे चन्द्रमाकी कला सुशोभित होती है उसी प्रकार शय्यापर पास ही पड़े हुए संतप्त सुवर्णके समान कान्तिवाले उस बालकसे वह कृशोदरी माता सुशोभित हो रही थी ॥१४॥ पुण्यकी दूकानके समान एक हजार आठ लक्षणोंको धारण करनेवाले उस बालकने दिखते ही स्वर्गके बिना ही किन चकोर-लोचनाओं-

१. पुष्पं म० घ० । २. 'तपा माघे' इत्यमरः । ३. नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा च तिथयः क्रमात्' इति प्रतिपदमारभ्य पञ्चदिवसेषु पञ्च तिथयो भवन्ति । प्रथमजया तृतीया, द्वितीयजयाष्टमी, तृतीयजया त्रयोदशीति स्पष्टम् । ४. प्रोत्तप्तस्य निष्टप्तस्य काञ्चनस्य तपनस्य सकाशा सदृशी रुक् कान्तिर्यस्य तेन । ५. उपमालंकारः । ६. उपमा ।

गच्छन्नधश्चिरतरं जिनजन्मदत्त-
हस्तावलम्ब इव निर्मलपुण्यराशिः ।
अप्रेरितोऽपि भवनामरमन्दिरेषु
निःसंख्यशङ्खनिवहः सहसोज्जगर्ज ॥१६॥

रे रे भवभ्रमणजन्मजरान्तकायाः
सद्यः प्रयात शममेष जिनोऽवतीर्णः ।
इत्थं प्रशासदिव [1]डिण्डिमचण्डिमोच्चैः
खं व्यन्तरानकशतध्वनिराततान ॥१७॥

एको न केवलमनेकपमण्डलस्य
गण्डाच्छिखण्डिगलकज्जलकान्तिचौरः ।
ज्योतिर्गृहग्रहिलसिंहसहस्रनादै-
रुत्कन्धरः स जगतोऽपि मदो निरस्तः ॥१८॥

लोचना न चकार परमोत्सवेन रूपातिशयेन स्वर्गं विनापि । स्वर्गे निर्निमेषा भवन्तीति तत्र चित्रम् । अत्र तु पुनरिदमाश्चर्यमेव[2] ॥१५॥ गच्छन्निति—धरणेन्द्रप्रमुखभवनवासिनां विमानेष्वसंख्यातशङ्खसमूहो दध्मौ अवादितोऽपि निर्मलपुण्यसमुद्र इव । किमर्थं गर्जतीत्याह—जिनजन्मना तीर्थकरोत्पादेन दत्तो हस्तावलम्बः साधारो यस्य तथाविधः पाताले ब्रुडन् । अन्योऽपि यः कूपादौ निपतन् हस्तेनावलम्ब्य स्थिरीक्रियते स सोत्साहो भवति[3] ॥१६॥ रे रे भवेति—व्यन्तरविमानेषु पटहशतानां यो ध्वनिः स्वयमुद्गतः स गगनं व्यानशे । अनेन प्रकारेणैतान् शिक्षयन्निव । कान् शिक्षयन्नित्याह—रे रे इत्याक्षेपामन्त्रणे भवः संसारस्तस्य भ्रमणं, जन्म योन्यन्तरसंक्रमणोत्पादः, जरा वृद्धत्वम्, अन्तको मृत्युः । एते आलाप्यन्ते, किमालाप्यन्त इत्याह—यूयं शमं यातापसरतेति । यतो भवन्निग्रहकारी देवः प्रादुर्भूत इति डङ्कुरकप्रचण्डोच्चैस्तरं यथा भवति ॥१७॥ एक इति—न केवलमेक एव मतङ्गजसमूहस्य कपोलाद्विगलन्मदः शोषितः । द्वितीयस्त्रिभुवनस्यापि मदोऽहंकारो निरस्तः । कैरित्याह—ज्योतिर्गृहेषु चन्द्रादित्यविमानेषु ग्रहिला उच्छृङ्खला ये सिंहनादाः सिंहशब्दितानि तैः । ज्योतिर्गृहेषु जिनजन्मज्ञापनाय

को भारी उत्सवसे निमेषरहित नहीं कर दिया था ॥१५॥ भवनवासी देवोंके भवनोंमें बिना बजाये ही असंख्यात शङ्खोंका समूह बज उठा जो उस पुण्यसमूहके समान जान पड़ता था जो कि पहले चिरकालसे नीचे जा रहा था परन्तु अब जिनेन्द्र भगवान्के जन्मका हस्तावलम्बन पाकर आनन्दसे ही मानो चिल्ला उठा हो ॥१६॥ व्यन्तरोंके भवनोंमें जोर-जोरसे बजती हुई सैकड़ों भेरियोंके शब्दने आकाशको व्याप्त कर लिया था वह मानो इस बातकी घोषणा ही कर रहा था कि—रे रे जन्म-बुढ़ापा-मरण आदि शत्रुओ ! अब तुम लोग शीघ्र ही शान्त हो जाओ क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अवतीर्ण हो चुके हैं ॥१७॥ ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें जो हठीले हजारों सिंहोंका नाद हो रहा था उसने न केवल हाथियोंके गण्डमण्डलसे मयूरकी ग्रीवा और कज्जलकी कान्तिको चुरानेवाला काला-काला मद दूर किया था किन्तु समस्त संसार का बढ़ा हुआ मद—अहंकार भी दूर कर दिया था ॥१८॥

१. डिण्डिमेन वाद्यभेदेन चण्डिमा तैक्ष्ण्यं यस्य तथाभूतः । व्यन्तरानकशतध्वनिरित्यस्य विशेषणम् । 'वाद्यभेदा डमरुमड्डुडिण्डिमझर्झराः' इत्यमरः । २. सद्यः प्रसूतस्य जिनशिशोर्लोकोत्तरलावण्यं विलोक्य सर्वाः कामिन्यः परमोत्सवेन निमेषशून्या बभूवुरिति भावः । ३. उत्प्रेक्षा ।

तत्काललास्यरसलालसमोक्षलक्ष्मी-
विक्षिप्तपाणिमणिकङ्कणरावरम्यैः।
जन्मन्यनल्पतरकल्पनिवासिवेश्म-
घण्टास्वनैः स्वयमपूरि जगज्जिनस्य ॥१९॥
बालस्य तस्य महसा सहसोद्यतेन
प्रध्वंसितान्धतमसे सदने तदानीम्।
सेवागताम्बरमुनीनिव सप्त काचि-
द्दीपान्व्यबोधयत केवलमङ्गलार्थम् ॥२०॥
जन्मोत्सवप्रथमवार्तिकमात्मजस्य
तस्य प्रमोदभरदुर्ललितो नरेन्द्रः।
नोर्वीशमौलिमणिमालिकयाज्ञयैव
लक्ष्म्या पुनर्नियतमात्मसमीचकार ॥२१॥
ते गन्धवारिविरजीकृतसर्ववर्त्म-
न्यभ्राददभ्रघृणयो मणयो निपेतुः।
[1]यैस्तत्क्षणोप्तसुकृतद्रुमबीजपुञ्ज-
निर्यत्प्ररोहनिकराकृतिरन्वकारि ॥२२॥

सिंहनिनादा बभूवुरित्यर्थः। उत्कन्धरोऽनन्यनिरस्तः ॥१८॥ तत्कालेति—प्रचुरसौधर्मेन्द्रकल्पनिवासि विमानेषु यः स्वयं समुद्भूतघण्टाध्वनिः स भुवनं पूरयामास। कैः सहेत्याह—तत्कालेऽतिप्रमोदात् या लास्यरसलम्पटा मुक्तिश्रीस्तया विक्षिप्तौ हस्तकप्रचारेण चालितौ यौ हस्तौ तयो रत्नकङ्कणानि तेषां रावा रणज्झणत्कारास्तेषां रम्यैर्भङ्गैः। अथवा रावरम्यैरिति घण्टास्वनविशेषणं वा। तदा किंविशिष्टैः कङ्कणारावरम्यैः। जिनस्य जन्मोत्सवे ॥१९॥ बालस्येति—तस्य शिशोर्जिनस्य तेजसा प्रथमोदितेन प्रसूतिगृहे तमसि निराकृते सति केवलं तदा [2]मङ्गलार्थमेव काचित्सप्तसंख्यान् दीपान् प्रज्वालयामास। विशेषज्ञानात्प्रथममेवागतान् सप्तमुनीनिव ॥२०॥ जन्मोत्सवेति—नरेन्द्रो महासेनस्तस्य प्रथमतनूजस्य जन्मोत्सववार्ताकथकं प्रथमं महाहर्षपूरविसंस्थुलचित्त आज्ञया चक्रवर्तिपदाभिधयैव सकलराजमौलिवन्दनीययावर्जितया सर्वलक्ष्म्या आत्मतुलां निनाय। तुष्टेन सफलमपि साम्राज्यं दत्तम् आज्ञा तु नेत्यर्थः ॥२१॥ ते गन्धेति—गन्धोदवर्षोपशमितरजस्के राजमार्गे धनदेन ते ते मणयो रत्नानि ववृषिरे गगनादमिततेजसो यैः किमकारीत्याह—यैस्तत्कालोप्तधर्मद्रुमबीजपुञ्जेभ्यो निर्गच्छदङ्कुरा अनुचक्रिरे।

जिनेन्द्र भगवान्‌के जन्मके समय कल्पवासी देवोंके घर बजते हुए बहुत भारी घंटाओंके उन शब्दोंने समस्त संसारको भर दिया था जो कि तत्काल नृत्य करनेमें उत्सुक मोक्षलक्ष्मीके हिलते हुए हाथोंके मणिमय कंकणोंके शब्दके समान मनोहर थे ॥१९॥ उस बालकके सहसा प्रकट हुए तेज से प्रसूतिगृहका समस्त अन्धकार नष्ट हो चुका था अतः उस समय किसी स्त्रीने केवल मंगलके लिए जो सात दीपक जलाये थे वे सेवाके लिए आये हुए सप्तर्षि ताराओं-के समान जान पड़ते थे ॥२०॥ सर्वप्रथम पुत्रजन्मका समाचार देनेवाले नौकरको आनन्दके भारसे भरे हुए राजाने केवल राजाओं के मुकुटोंपर पड़ी हुई मणिमालाके समान सुशोभित आज्ञासे ही अपने समान नहीं किया था किन्तु लक्ष्मीके द्वारा भी उसे अपने समान किया था ॥२१॥ उस समय सुगन्धित जलसे धूलिरहित किये हुए राजमार्गमें आकाशसे बड़ी-बड़ी

१. तत्क्षणं तत्कालमुप्तानि संतानितानि यानि सुकृतद्रुमबीजानि पुण्यमहीरुहबीजानि तेषां पुञ्जाः समूहास्तेभ्यो निर्यन्तो निर्गच्छन्तो ये प्ररोहनिकरा अङ्कुरसमूहास्तेषामाकृतिः संस्थानम्। २. दीप्त्यैव ध्वान्तविनाशे दीपानां कावश्यकतेति भावः।

[1]उत्क्षिप्तकेतुपटपल्लवितान्तरिक्षे
चिक्षेप तीक्ष्णरुचिरत्र पुरे न पादान् ।
मन्ये पतत्त्रिदशपुष्परसप्रवाह-
संदोहपिच्छिलपथच्छलपातभीतः ॥२३॥
संवाहयन्निव मनाक् चिरबन्धमुक्ता-
स्त्वङ्गद्विसंस्थुलपदाः प्रतिपक्षवन्दीः ।
मन्दारदाममधुसीकरभारवाही
मन्दोऽतिमन्दगतिरत्र बभूव वायुः ॥ २४ ॥
तौर्यो ध्वनिः प्रतिगृहं लयशालि नृत्तं
गीतं च चारु मधुरा नवतोरणश्रीः ।
इत्याद्यनेकपरमोत्सवकेलिपात्रं
द्रागेकगोत्रमिव भूत्रितयं बभूव ॥ २५ ॥
शुभ्रं नभोऽभवदभूदपकण्टका भू-
र्भक्त्येव भानुरभिगम्यरुचिर्बभूव ।

अत्र धर्मबीजमणीनां किरणप्ररोहाणां चोपमानोपमेयभावः[2] ॥२२॥ उत्क्षिप्तेति—तीक्ष्णरुचिरादित्योऽत्र नगरे किरणान्न प्रससार रचितगगनोड्डिकाचन्द्रोदयादिपटलपिहिन्तान्तरिक्षे । ततोऽवकाशाभावादादित्यपादानां प्रसारो नास्तीति भावः । ततोऽनुमामि देवसमूहमुक्तमन्दारमकरन्दरसपङ्किले पथि स्खलनपतनभीरुकः । अन्योऽपि पङ्किमार्गे पतनभयात्सहसालोकहास्यताभीरुः पादं न ददाति[3] ॥२३॥ संवाहयन्निवेति—तदात्र नगरे वायुर्मन्दगामी बभूव । अग्रे तर्हि शीघ्रगतिर्भविष्यति तन्न । मन्दोऽपि किंविशिष्टः । मन्दारमालामकरन्दबिन्दुसमूहमहाभारखिन्नः । किमर्थमिव मन्दोऽप्यतिमन्द इत्याह—कारागृहचिरकालमोचिताः शत्रुनृपावरोधमहिषीः संवाहयन्निव चिरबन्धवशात्खञ्जायमानत्वेन विसंस्थुलाः स्खलन्तः पादा यासां ताः । अन्योऽपि कश्चिद्बलिष्ठो दयार्द्रः खञ्जमानां स्त्रियं दृष्ट्वा मार्गेऽङ्गमर्दनाद्युपचारेण प्रतिपालयन् गच्छति । तदा वायुरतिमन्दोऽभूद् वन्द्यो मुक्ताश्चेति भावः ॥२४॥ तौर्य इति—तदा जिनजन्मोत्सवे सममेव द्राक् शीघ्रं वा त्रिभुवनमप्येकगोत्रसदृशं बभूव । अनेकमङ्गलमहोत्सवकारित्वेन । कथमित्याह—लोकत्रयेऽपि गृहे तौर्यध्वनिः । तथा यथोक्तलक्षणशोभितं गीतं नृत्तञ्च तथा सर्वत्रवन्दनमाला मौक्तिकचतुष्कनवीनतोरणादिलक्ष्मीदृश्यमानत्वेन[4] ॥२५॥ शुभ्रमिति—

किरणोंको धारण करनेवाले वे मणि बरसे थे जो कि तत्काल बोये हुए पुण्यरूपी वृक्षके बीज-समुदायके निकलते हुए अंकुरोंके समूहकी आकृतिका अनुकरण कर रहे थे ॥२२॥ फहरायी हुई पताकाओंके वस्त्रोंसे जिसका समस्त आकाश व्याप्त हो रहा है, ऐसे उस नगरमें सूर्य अपने पाद—पैर [पक्षमें किरण] नहीं रख रहा था मानो उसे इस बातका भय लग रहा था कि कहीं ऊपरसे पड़ते हुए देवपुष्पोंके रस प्रवाहके समूहसे पंकिल मार्गमें फिसल कर गिर न जाऊँ ॥२३॥ मन्दारमालाओंके मधुकणोंका भार धारण करनेवाला मन्द वायु और भी अधिक मन्द हो गया था मानो चिरकाल बाद बन्धनसे मुक्त अतएव लँगड़ाते पैरोंसे चलनेवाली शत्रुराजाओं की स्त्रियोंकी प्रतीक्षा करता हुआ चल रहा था ॥२४॥ उस समय घर-घर तुरही बाजोंके शब्द हो रहे थे, घर-घर लयसे सुशोभित नृत्य हो रहे थे, घर-घर सुन्दर गीत हो रहे थे और घर-घर उत्तमोत्तम नये-नये तोरण बाँधे जा रहे थे। अधिक क्या कहा जाये ? तीनों लोक एक कुटुम्बकी तरह अनेक उत्सवोंके क्रीडापात्र हो रहे थे ॥२५॥ उस

१. उत्क्षिप्तैः उत्स्फुरितैः केतुपटैः पताकावस्त्रैः पल्लवितं व्याप्तमन्तरिक्षं यस्मिन् तस्मिन् पुरे । २. गगनात्पतन्तो मणिनिवहास्तत्क्षणोप्तपुण्यपादपबीजसमूहनिर्गच्छदङ्कुरनिकरा इव बभुरिति भावः । ३. उत्प्रेक्षा । ४. तस्मिन् जिनजन्मनि लोकत्रयं सोत्सवं जातमिति भावः ।

आरोग्यवानजनि जानपदोऽपि लोक-
स्तत्किं न यत्सुखनिमित्तमभूत्तदानीम् ॥ २६ ॥
स्नाता इवातिशयशालिनि पुण्यतीर्थे
तस्मिन् रजोव्यपगमात्सहसा प्रसन्नाः ।
एष्यन्निजप्रणयिनां त्रिदिवात्तदानीं
संयोगयोग्यसमयाः ककुभो बभूवुः ॥ २७ ॥
रङ्गावलिध्वजपटोच्छ्रयतोरणादि-
व्यग्रे निधीश्वरपरिग्रहचक्रवाले ।
उद्वेल्लनोल्लसितरत्नरुचा हसद्भि-
र्निर्यामिकैरिव चिराच्चलितं निधानैः ॥ २८ ॥
जाते जगत्त्रयगुरौ [1]गरिमाम्बुराशि-
नीरान्तरान्तरितविश्वमहिम्नि तत्र ।
कोऽन्यस्य राज्यमहिमेति किल प्रभाव-
शक्त्या हतं हरिहयासनमाप कम्पम् ॥ २९ ॥

गगनतलं दुर्दिनाभिरहितं बभूव पृथिवी च विषसर्पकण्टकादिवर्जिता, चण्डरुचिश्च सुखस्पर्शतेजा बभूव । एते जिनं प्रति भक्तिभारं वितन्वन्त इवेदृशा बभूवुरित्यर्थः । आरोग्यवानित्यादि—व्याधिपीडितश्च लोको देशेऽस्मिन्नीरोगो बभूव । अन्यदपि यत्सुखकारणं तत्सर्वं समजनिष्ट ॥२६॥ स्नाता इति—दिगङ्गनास्तदानीमागमिष्यद्दिक्पालसंयोगयोग्यसमग्रा बभूवुः । धूलीपटलोपशमान्निर्मलास्तस्मिन् जिनजन्मलक्षणपवित्रोदतीर्थे महाप्रभावयुक्तेऽभिषिक्ता इव । यथा काश्चिच्चतुर्थदिवसस्नाताः पुष्पस्रावविगमेन निर्मलतमाः स्त्रियो निजकान्तोपभोगयोग्या भवन्ति[2] ॥२७॥ रङ्गावलीति—तदा जिनजन्मप्रभावान्निधानैरप्राहरिकैरिवाविर्भूतं भूतललुठनविगलन्मणिपूरतेजसा सहासैरिव । क्व गताः प्राहरिका इत्याह—स्वस्तिककेतुपटरचना नवीनतोरणादिकरणे पृथिव्यां धनदकिंकरसमूहे व्याकुले सति जिनजन्मनि धनदेन तोरणादि कर्त्तव्यं स च सपरिवारस्तत्करणे व्याकुलतमस्ततो निधयः शून्याः । अथ चोक्तिलेशः—यथा कश्चिच्चिरवन्दीकृतोऽप्राहरिकमात्मानं मत्वा पलायते ॥२८॥ जात इति—महेन्द्रसिंहासनं चकम्पे तस्य प्रभावबलेनान्दोलितमिव । कथमित्याह—तस्मिन् त्रिभुवनप्रभौ महामहिमसमुद्रजलपिहितसर्वतेजस्विप्रभावे जिने जाते सति कोऽयं नामान्यस्येतरप्रभावस्य शक्रादे राज्यलक्ष्मीचिह्नं

समय आकाश स्वच्छ हो गया था, पृथिवी कण्टकरहित हो गयी थी, सूर्य भक्तिसे ही मानो सेवनीय किरणोंसे युक्त हो गया था और देशके लोग नीरोग हो गये थे। वह क्या था जो सुखका निमित्त न हुआ हो ॥२६॥ उस समय दिशाएँ [पक्षमें स्त्रियाँ] रज [धूली, पक्षमें ऋतुधर्म] का अभाव होनेसे अत्यन्त निर्मल हो गयी थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अत्यन्त सुशोभित पुण्यरूपी तीर्थ [सरोवरके घाट] में नहाकर आनेवाले अपने-अपने पतियों [दिक्पालों, पक्षमें पतियों] के समागमके योग्य ही हो गयी हों ॥२७॥ उधर जब तक खजानेके रक्षक लोग रंगोंके द्वारा चौक पूरने, पताकाएँ फहराने, तथा तोरण आदिके बाँधनेमें उलझे रहे तब तक खजानोंने देखा कि अब कोई पहरेदार नहीं है इसलिए उलटफेरसे फैलनेवाली रत्नोंकी किरणोंके बहाने पहरेदारोंकी मूर्खतापर हँसते हुएके समान उन्होंने भागना शुरू कर दिया ॥२८॥ अपने गौरवरूप समुद्रके जलके भीतर जिन्होंने सबकी महिमा तिरोहित कर ली है ऐसे जिनेन्द्रदेवके उत्पन्न हो चुकनेपर अब और किसकी राज्य-महिमा स्थिर रह सकती है ? इस प्रकार प्रभुकी प्रभाव शक्तिसे आहत होकर ही मानो इन्द्रका आसन कम्पित

१. गरिमाम्बुराशेर्गौरवसागरस्य नीरान्तरे जलाभ्यन्तरेऽन्तरितः पिहितो विश्वमहिमा निखिलजनमाहात्म्यं येन तथाविधे । २. समासोक्तिः ।

तत्कम्पकारणमवेक्षितुमक्षमाणि
ज्ञात्वा शतान्यपि दशोज्ज्वललोचनानाम् ।
अत्यन्तविस्मयरसोत्सुकचित्तवृत्ति-
रिन्द्रोऽवधिं समुदमीलयदेकनेत्रम्[1] ।।३०।।

तेनाकलय्य जिनजन्म जवेन पीठा-
दुत्थाय तद्दिशि पदान्यपि सप्त गत्वा ।
देवो दिवस्तमभिवन्द्य मुदाभिषेक्तुं
प्रस्थानदुन्दुभिमदापयत क्षणेन ।।३१।।

उन्निद्रयन्निव चिराय शयालुधर्मं
तस्य ध्वनिर्भरितभूरिविमानरन्ध्रः ।
हर्म्याणि मेदुरतरोऽपि सुरासुराणां
द्राक्पारितोषिकमिवार्थयितुं जगाम ।।३२।।

ते षोडशाभरणभूषितदिव्यदेहाः
स्वस्वोरुवाहनजुषः सपरिग्रहाश्च ।
हृल्लग्नजैनगुणसंततिकृष्यमाणा-
श्चेलुर्बलादिव दशापि दिशामधीशाः ।।३३।।

सिंहासनादिप्रभावः । अन्यदपि यद्वस्तु कम्पते तत्प्रतियोगी येनाहतं सत्कम्पते नान्यथेति भावः ।।२९।। तत्कम्पेति— शक्रस्तस्यात्मसिंहासनस्य कम्पकारणं ज्ञातुमवधिलक्षणं तृतीयलोचनमुन्निद्रयामास—अवधिज्ञानं प्रायुङ्क्त इत्यर्थः । किंविशिष्टः । [2]अतिशयाश्चर्यरसोत्तालमनोव्यापारः । इतरत् सहस्रमपि लोचनानां तत्राक्षममिति मत्वा[3] ।।३०।। तेनेति—तत् सौधर्मेन्द्रेण जिनजन्मप्रभावादिदं कम्पितमिति ज्ञात्वा झटिति सिंहासनादुत्थाय सप्तपदानि तस्यां दिशि गत्वा जिनं प्रणनाम । पश्चात् स्वर्गस्य पतिर्हर्षव्याकुलो मेरुमस्तके जिनाभिषेकज्ञापनाय महादुन्दुभीरवीवदत् ।।३१।। उन्निद्रयन्निति—स बहुलतरो दुन्दुभिनादश्चिरकालसुप्तं धर्मं जागरयन्निव सर्ववैमानिकानां गेहान् जगाहे । द्राक् च शीघ्रं च । शीघ्रकारणमाह—पारितोषिकं याचितुमिव । अन्योऽपि यः कश्चित्पुत्रजन्मादिकथाकथकत्वेन पारितोषिकं यियाचिषुः स सर्वेषां पुरत एव प्रयाति ।।३२।। ते षोडशेति— ततस्तेन दुन्दुभिध्वनिना ज्ञातजैनजन्मानो दशापि [4]दिक्पालाश्चलन्ति स्म । किंविशिष्टा इत्याह—षोडशालङ्करणैर्मण्डितं दिव्यं तेजोमयमङ्गं येषाम् । 'केयूरहाराङ्गदकुण्डलानि प्रलम्बसूत्रं मकुटं द्विमुद्रिके । शस्त्री च पट्टः

हो उठा था ।।२९।। जब इन्द्रने जाना कि हमारे एक हजार नेत्र आसनके कम्पित होनेका कारण देखनेके लिए असमर्थ हैं तब उसने बड़े आश्चर्यसे उत्सुकचित्त होकर अपना अवधिज्ञान रूप एक नेत्र खोला ।।३०।। इन्द्रने उस अवधिज्ञान रूप नेत्रके द्वारा जिनेन्द्र भगवान्‌का जन्म जानकर शीघ्र ही सिंहासन छोड़ दिया और उस दिशामें सात कदम जाकर प्रभुको नमस्कार किया तथा अभिषेक करनेके लिए उसी क्षण बड़े हर्षसे प्रस्थान दुन्दुभी बजवा दी ।।३१।। उस भेरीका शब्द चिरकालसे सोनेवाले धर्मको जगाते हुए की तरह विमानोंके प्रत्येक विवरमें व्याप्त हो गया और स्वयं सम्पन्न होकर भी पारितोषिक माँगनेके लिए ही मानो समस्त सुरों तथा असुरोंके भवनोंमें जा पहुँचा ।।३२।। जिनके दिव्य शरीर सोलह प्रकारके आभूषणोंसे सुशोभित हैं ऐसे दशों दिक्पाल अपनी-अपनी सवारियोंपर बैठ अपने-अपने परिवारके

---

१. देकनेत्राम् घ० म० । २. अत्यन्तविस्मयरसेन सातिशयाद्भुतरसेनोत्सुकोत्कण्ठिता चित्तवृत्तिर्यस्य तथाभूतः । ३. अवधिज्ञानेन शक्रः स्वसिंहासनकम्पननिमित्तं ज्ञातुं तत्परोऽभूदिति भावः । ४. इन्द्राग्नियमनिऋतिवरुणवायुकुबेरैशानसोमधरणेन्द्राः क्रमेण पूर्वादीनां ककुभामधीशाः सन्ति ।

स्वर्दन्तिनं तदनु दन्तसरःसरोज-
राजीनटल्ल[1]टहनाकवधूनिकायम् ।
उत्फुल्ललोचनरुचां निचयैर्विचित्रैः
संचित्रयन्निव दिवस्पतिरारुरोह ।।३४।।
ऐरावणश्चटुलकर्णझलं[2]झलाभि-
रड्डीनगण्डमधुपावलिराबभासे ।
यात्रोद्यतः पथि जिनस्य पदे पदेऽसौ
निर्मुच्यमान इव पापलवैस्त्रुटद्भिः ।।३५।।
गच्छन्ननल्पतरकल्पतरुप्रसून-
पात्रोपवित्रकरकिङ्करचक्रवालैः ।
सोढुं तदीयविरहार्तिमशक्नुवद्भिः
क्रीडावनैरिव रराज स पृष्ठलग्नैः ।।३६।।
अन्योऽन्यघट्टनरणन्मणिभूषणाग्र-
वाचालितोच्चकुचकुम्भभराः सुराणाम् ।
उल्लासिलास्यरसपेशलकांस्यताल-
लोलाश्रिता इव रसाल्ललनाः प्रचेलुः ।।३७।।

कटकश्च मेखला ग्रैवेयकं नूपुरकर्णपूरौ' । इति षोडशाभरणानि । निजनिजतादृशगजादिवाहनस्थिताः सपरिग्रहाः कलत्रादिपरिवारयुक्ता अतश्च हृदयसंबद्धपरमेश्वरगुणसमूहैराकृष्यमाणा बलाद् हठादिव । वरत्रया बद्धमन्यदप्याकृष्यते ।।३३।। स्वर्दन्तिनमिति—स्वर्गपतिरैरावणपृष्ठमलंचकार । किंविशिष्टं स्वर्गदन्तिनमित्याह—तस्य विक्रियाप्रभावाद् यानि द्वात्रिंशन्मुखानि प्रतिमुखमष्टावष्टौ दन्ताः । सर्वेषु तेषु मुखेषु षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्यानि (२५६) दन्तमुसलानि । दन्तं दन्तं प्रति यत्सरोवरं सरसि सरसि द्वात्रिंशत्पद्मानि दले दले स्थितरम्भाप्रमुखदेवाङ्गनाभिरभिनीतं सर्वसमुदायनाटकं तथाविधं स्वर्दन्तिनमारुरोह । किं कुर्वन् शक्र इत्याह—विकसितसहस्रनेत्रतेजसां पटलैर्विचित्रैः कृष्णरक्तधवलैरैरावणं चित्रभङ्गीयुक्तं कुर्वन्निव । यात्रायां हि पञ्चवर्णैर्हस्तिनश्चित्र्यन्ते ।।३४।। ऐरावण इति—चञ्चलकर्णाहतिभिरुत्पतितभ्रमरपटलैरावृतो बभासे । जिनं विवन्दिषुरसौ तत्प्रभावान्निर्गलद्भिः पदे पदे कृष्णैः कल्मषबिन्दुभिरिव परित्यज्यमानः[3] ।।३५।। गच्छन्निति—स जिनजन्ममहोत्सवं चिकीर्षुरिन्द्रः शुशुभे । बहुकल्पवृक्षपुष्पपटलकालंकृतहस्तैः किंकरसमूहैरनुव्रजद्भिस्तद्वियोगदुःखं क्षणमपि सोढुं कातरैर्नन्दनप्रमुखैः स्वर्गकेलिवनैरिव ।।३६।। अन्योऽन्येति—परस्परं संघट्टझणज्झणाय-

साथ ऐसे चले मानो हृदयमें लगे हुए जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंका समूह उन्हें बलपूर्वक खींच ही रहा हो ।।३३।। तदनन्तर जिसके दाँतोंपर विद्यमान सरोवरोंके कमलोंकी पंक्तिपर सुन्दर देवांगनाओंका समूह नृत्य कर रहा है ऐसे ऐरावत हाथीपर सौधर्मेन्द्र आरूढ़ हुआ । वह सौधर्मेन्द्र अपने विकसित नेत्रोंकी चित्र-विचित्र कान्तिके समूहसे उस हाथीपर चित्र खींचता हुआ-सा जान पड़ता था ।।३४।। चंचल कानोंकी फटकारसे जिसके कपोलोंपर बैठे हुए भ्रमर इधर-उधर उड़ रहे हैं ऐसा ऐरावत हाथी ऐसा जान पड़ता था मानो चूँकि वह जिनेन्द्रभगवान्‌की यात्राके लिए जा रहा था अतः पद-पदपर टूटते हुए पापोंके अंशोंसे ही मानो छूट रहा हो ।।३५।। कल्पवृक्षके पुष्पोंके बड़े-बड़े पात्र हाथमें लिये हुए अनेक किंकरोंके समूह इन्द्रके साथ चल रहे थे जिनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो विरहजन्य दुःखको सहनेके लिए असमर्थ हुए क्रीड़ा वन ही उसके पीछे लग गये हों ।।३६।। परस्परके आघातसे

१. लडह घ० म० । २. 'गजकर्णगतिर्झलंझलेत्युच्यते' इति कामन्दकीयनीतिसारटीका (१।४५) ।
३. उत्प्रेक्षालंकारः ।

गायन्नटन्नमदनुव्रजदप्यमन्दं
　　वृन्दं तदा दिविषदां मिलदासमन्तात् ।
देवः पृथक्पृथगुपात्तविशेषभावै-
　　स्तुल्यं सहस्रनयनो नयनैर्ददर्श ॥३८॥
उद्दामरागरससागरमग्नहूहू-
　　हाहादिकिन्नरतरङ्गितगीतसक्तिः[1] ।
संत्रासहेतुषु नदत्स्वपि तूर्यलक्षे-
　　ष्वन्तर्न शीतकिरणं हरिणो बबाधे ॥३९॥
क्रूरः कृतान्तमहिषस्तरणेस्तुरङ्गा
　　ज्योतिः[2]कुरङ्गरिपवः पवनस्य चैणः ।
सर्वे समं ययुरमी जिनमार्गलग्नाः
　　के वा त्यजन्ति न परस्परवैरभावम् ॥४०॥

मानरत्नालंकरणशब्दितस्तनभाराप्सरसः संचलन्ति स्म । रसात्प्रमोदादाविर्भवन्नाटचरसमनोहरकांस्यतालाभिनययुक्ता इव । अत्र स्तनानां संघट्टवशाच्चक्रीकृतकांस्यतालोपमानम् । स्वयं नृत्यन्ति स्तनलक्षणकंसतालांश्च दर्शयन्तीत्यर्थः ॥३७॥ गायदिति—तदा महेन्द्रो देवानां वृन्दं चतुर्दिगन्तादागत्य परिवारीभवदालोकयामास । कैः । सहस्रनयनैः । किंविशिष्टैः । अन्यान्यविशेषरसैः । किंविशिष्टं वृन्दमित्याह—गीतं प्रकटयत्, नृत्यमभिनयत्, दृष्टे लगत्, अमन्दं सप्रमोदं मिलत्, निजगृहादागच्छत्, नयनानां प्राचुर्यात् सर्वतः स्थितान् देवान् तोषरोषहास्यसंकेतादिभावयुक्तैर्नयनैः संभावयतीत्यर्थः ॥३८॥ उद्दामेति—देववृन्दस्वरूपं निरूपयति । चन्द्रोत्सङ्गस्थो मृगो नोल्ललयाञ्चकार । संत्रासकारकेषु दुन्दुभिलक्षेष्वपि वाद्यमानेषु । किं कारणमित्याह—यतोऽसौ किंविशिष्टः । महागीतिरससमुद्रमध्यगहूहूहाहादिध्वनिविशेषैः किन्नरैर्देवविशेषैस्तरङ्गितं यद्गीतं तत्र सक्तिरतिशया भक्तिर्यस्य स तथाविधः । हूहूहाहादयः शब्दा हि पशूनां त्रासहेतवः तांश्च गीतरसमग्नो मृगो नाकर्णयति ततो न चन्द्रं दुःखीकरोतीति भावः ॥३९॥ क्रूर इति—परस्परं विरोधिनः पशवस्तदागच्छन्तो न कलहायन्त इत्याह—स्वभावभीष्मोऽयं महिषः आदित्यस्य तुरङ्गमा ज्योतिष्कदेवानां च सिंहा वातस्य वाहनमृगश्चामी वैरायमाणा जग्मुः । अथवा युक्तमेतत् वीतरागमार्गानुसारिणः के वा जीवाः चिरकालसंचितवैरमुत्सृजन्ति न । अपि तु

जिनके मणिमय आभूषणोंके अग्रभाग खनक रहे हैं तथा साथ ही जिनके उन्नत स्तनकलश शब्द कर रहे हैं ऐसी देवांगनाएँ बड़े हर्षसे इस प्रकार जा रही थीं मानो प्रारब्ध नृत्यके अनुकूल काँसेकी झाँझें ही बजाती जाती हों ॥३७॥ उस समय देवोंके झुण्डके झुण्ड चारों ओरसे आकर इकट्ठे हो रहे थे। उनमें कोई गा रहा था, कोई नृत्य कर रहा था, कोई नमस्कार कर रहा था, और कोई चुपचाप पीछे चल रहा था; खास बात तो यह थी कि हजारों नेत्रोंवाला इन्द्र पृथक्-पृथक् विशेष भावोंको धारण करनेवाले अपने नेत्रोंसे उन सबको एक साथ देखता जाता था ॥३८॥ यद्यपि भय उत्पन्न करनेवाले लाखों तुरही बज रहे थे फिर भी चन्द्रमाका हरिण उत्कट रागरूपी रसके समुद्रमें निमग्न हूहू हाहा आदि किन्नरोंके द्वारा पल्लवित गीतमें इतना अधिक आसक्त था कि उसने चन्द्रमाको कुछ भी बाधा नहीं पहुँचायी थी ॥३९॥ यमराजका वाहन क्रूर भैंसा, सूर्यके वाहन घोड़े, ज्योतिषी देवोंके वाहन सिंह, तथा पवनकुमारका वाहन हरिण—ये सब परस्परका वैरभाव छोड़कर साथ-साथ जा रहे थे सो ठीक ही है

१. सक्तः घ० म० । २. द्योतिः घ० म० ।

पुष्पैः फलैः किसलयैर्मणिभूषणैश्च
तैस्तैर्विचित्रवरचीवरसंचयैश्च ।
कर्तुं जिनेन्द्रचरणार्चनमुत्तरन्तः
कल्पद्रुमा इव वियत्यमरा विरेजुः ॥४१॥

अन्योऽन्यसंचलनघट्टितकर्कशोरः-
क्षुण्णोरुहारमणयो नटतां सुराणाम् ।
तारापथात्करिघटाचरणप्रचार-
संचूर्णितोडुनिचया इव ते निपेतुः ॥४२॥

[1]सूर्योपगामिभिरिभैर्मरुतां कराग्र-
व्यापारिताभिरभितापिनि गण्डमूले ।
गण्डूषवारिविसरप्रसरच्छटाभि-
र्दध्रे क्षणं श्रवणचामरचारुलक्ष्मीः ॥४३॥

रक्तोत्पलं हरितपत्रविलम्बितीरे
त्रिस्रोतसः स्फुटमिति त्रिदशद्विपेन्द्रः ।
बिम्बं विकृष्य सहसा तपनस्य मुञ्चन्-
धुन्वन्करं दिवि चकार न कस्य हास्यम् ॥४४॥

त्यजन्त्येव ॥४०॥ पुष्पैरिति—गगनादुत्तरन्तो देवाः शुशुभिरे निजभक्तिभराज्जिनपूजां कर्तुं साक्षात्कल्पवृक्षा इव । किंविशिष्टाः । उपलक्षिता जिनपूजार्थं गृहीतैस्तादृशैः पुष्पमालादिभिः ॥४१॥ अन्योऽन्येति—तदा प्रमोदग्रथिलानां देवानां नरीनृत्यतामन्योन्यं परस्परं संघट्टघर्षितकठिनहृदये क्षुण्णाश्चूर्णिताः स्थूला हारमणयो मुक्ताफलानि गगनात्पतन्ति स्म । अतश्च ज्ञायन्ते सुरसेना गजघटापादभारचूर्णितास्तारागणा इव ॥४२॥ सूर्येति—आदित्यमण्डलसमीपे संचरद्भि[2]र्देवानां गजेन्द्रैः पुष्करमुखोद्गीर्णाभिः कपोलमूले मदतापशमनार्थं जलशीकरच्छटाभिः कर्णालंकरणचामरमनोहरश्रीरूहे चामरसदृश्यो बभूवुरित्यर्थः ॥४३॥ रक्तोत्पलमिति—ऐरावणो गगनगङ्गायास्तीरे नीलदलविकसत्कोकनदभ्रान्त्या रविं गृहीत्वा ततः शीघ्रमुष्णत्वेन दग्धपुष्करः परित्यजन् [3]पुष्करं च ससूत्कारं कम्पयन् नभसि केषां स्मेरमुखं न चकार अपि तु चकारैव । पक्षे हरित्पत्रं हरितवाहनं

क्योंकि जिनमार्गमें लीन हुए कौन मनुष्य परस्परका वैरभाव नहीं छोड़ते ?॥४०॥ पुष्पों, फलों, पल्लवों, मणिमय आभूषणों और विविध प्रकारके अच्छे-अच्छे वस्त्रोंके समूहसे जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी पूजा करनेके लिए आकाशमें उतरते हुए वे देव कल्पवृक्षोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥४१॥ नृत्य करनेवाले देवोंके कठोर वक्षःस्थल परस्पर एक दूसरेके सम्मुख चलनेसे जब कभी इतने जोरसे टकरा जाते थे कि उससे हारोंके बड़े-बड़े मणि चूर-चूर हो आकाशसे नीचे गिरने लगते थे और ऐसे मालूम होते थे मानो हस्तिसमूहके चरणोंके संचारसे चूर-चूर हुए नक्षत्रोंके समूह ही गिर रहे हों ॥४२॥ सूर्यके समीप चलनेवाले देवोंके हाथी अपने संतप्त-गण्डस्थलपर सूँड़से निकले हुए जलसमूहके जो छींटे दे रहे थे उन्होंने क्षणभरके लिए कानोंके पास लटकते हुए चामरोंकी सुन्दर शोभा धारण की थी ॥४३॥ आकाशगंगाके किनारे हरे रंगके पत्तेपर यह लालकमल फूला हुआ है यह समझकर ऐरावत हाथीने पहले तो बिना विचारे सूर्यका बिम्ब खींच लिया पर जब उष्ण लगा तब जल्दीसे छोड़कर सूँड़को फड़-

१. सूर्यापगामिभि- घ० म०, स्वाग्रोपगामिभि- च० । २. देवानाम् । ३. शुण्डाग्रभागम् ।

तारापथे विचरतां सुरसिन्धुराणां
सूत्कारनिर्गतकराम्बुकणा इवारात्।
ताराः सुरैर्ददृशिरेऽथ मिथोऽङ्गसङ्ग-
त्रुटयद्विभूषणमणिप्रकरानुकाराः ॥४५॥
त्रैविक्रमक्रमभुजङ्गमभोगमुक्ता
निर्मोकरज्जुरिव [1]दृष्टविषातिरेका।
व्योमापगा द्युपुरगोपुरदेहलीव
देवैर्व्यलोकि घटिता स्फटिकोपलेन ॥४६॥
रेजे जिनं स्नपयितुं पततां सुराणां
शुभ्रा विमानशिखरध्वजपङ्क्तिरभ्रे।
आनन्दकन्दलितरूपशतं पतन्ती
ज्ञात्वा निजावसरमम्बरनिम्नगेव ॥४७॥
जाते जिने भुवनशास्तरि संचरन्तः
स्वर्दन्तिनो नभसि नीलपयोदखण्डम्।
नाथादृते प्रथममिन्दुपुरप्रतोल्यां
दत्तं कपाटमिव लोहमयं बभञ्जुः ॥४८॥

नीलाश्वमिति यावत्[2] ॥४४॥ तारापथ इति—गगने गच्छतां सुरकरिणां सूत्कारनिर्युक्तशीकरकणा इव देवैस्तारा उत्प्रेक्षांचक्रिरे। अथवा द्रव्यत्वस्वभावयोगात्परस्परवपुःसंघट्टत्रुटितालंकरणरत्नप्रचया इव विभाविताः[3] ॥४५॥ त्रैविक्रमेति—बलिबन्धनोद्यतप्रसृतनारायणपादसर्पशरीरोज्झितकञ्चुलिकावल्लीव दृष्टपानीयातिशया पक्षे दृष्टगरलातिरेका नभोमन्दाकिनी देवैर्ददृशे। अथवा त्रिदिवपुरप्रतोलीदेहलीव स्फटिकोपलनिर्मिता ॥४६॥ रेज इति—जिनजन्माभिषेकं कर्तुमुत्तरतां देवानां धवला विमानकूटध्वजपटश्रेणी गगने शुशुभे। केव शुशुभ इत्याह—जिनसेवायोग्यं जिनस्नानसमयं ज्ञात्वा प्रमोदविरचितरूपशतं यथा भवत्येवं देवनदीव पतन्ती। अत्र ध्वजपटानां गङ्गारूपशतानां चोपमानोपमेयभावः ॥४७॥ जात इति—त्रिभुवनगुरौ जिनेश्वरे समुत्पन्ने जन्मप्रभावनायामागच्छन्त ऐरावतप्रमुखदेवगजेन्द्रा नभोमार्गे पदभारेण नीलस्थूलमेघपटलं चूर्णयांचक्रुः। अतश्च संभाव्यते जिनस्वामिनं विना बाह्यस्वर्गप्रतोल्यां दत्तं कपाटमिव विघटयामासुः। साम्प्रतं जिनदर्शनात्प्राणिनां

फड़ाने लगा। यह देख आकाशमें किसे हँसी न आ गयी थी ॥४४॥ आकाशमें देवोंने ताराओंको प्रथम तो ऐसा देखा मानो वे घूमते हुए देवोंके हाथियोंके सूत्कार शब्दके साथ निकले हुए सूँड़के जलके छींटे ही हों और उसके बाद ऐसा देखा मानो वे परस्परके शरीरके संघट्टसे टूटते हुए आभूषणोंके मणियोंके समूह ही हों ॥४५॥ कुछ और नीचे आकर देवोंने विषजल [पक्षमें गरल] से लबालब भरी एवं स्फटिकमणियोंसे जड़ी हुई वह आकाशगंगा देखी जो कि विष्णुके तृतीय चरणरूप सर्पके द्वारा छोड़ी हुई कांचुलीके समान अथवा स्वर्गरूप नगरके गोपुरकी देहलीके समान जान पड़ती थी ॥४६॥ जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक करनेके लिए आकाशमें आनेवाले देवोंके विमानोंके शिखरोंपर फहरानेवाली सफेद-सफेद ध्वजाओंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो अपना अवसर जान आनन्दसे सैकड़ों रूप धारण कर आकाशगंगा ही आ रही हो ॥४७॥ त्रिभुवनके शासक श्री जिनेन्द्रदेवके उत्पन्न होनेपर आकाशमें इधर-उधर घूमते हुए देवोंके हाथियोंने उन काले-काले मेघोंके समूहको खण्डित किया था—तोड़ डाला था जो कि स्वामीके न होनेसे चन्द्रलोककी प्रतोलीमें लगाये

१. दृष्टिविषातिरेका म०। २. भ्रान्तिमान्। ३. उत्प्रेक्षा।

अव्याहतप्रसरवातविवर्तमान–
नीलान्तरीयविवरस्फुरितोरुदण्डा ।
बाह्यच्छविव्यपनयार्पितगर्भशोभा–
रम्भेव कस्य न मनो हरति स्म रम्भा ॥४९॥

यावज्जिनेश्वरपुरं हरिराजधान्याः
स्वर्गौकसां नभसि धोरणिरापतन्ती ।
लोकस्य शास्तरि जिने दिवमारुरुक्षो–
र्निश्रेणिकेव सुकृतेन कृता रराज ॥५०॥

वल्गद्घनोरुलहरीनिवहान्तराल–
हेलोल्लसन्मकरमीनकुलीरपोतात्[1] ।
[2]ते यानपात्रपटलप्रतिमैर्विमानै–
रुत्तेरुरम्बरमहाम्बुनिधेरमर्त्याः ॥५१॥

द्वारि द्वारि नभस्तलान्निपतितैः स्तूपैर्मणीनां मुनि-
क्रीडापीतपयोधिभूतलमिव व्यालोकयद्यद्यपि ।

निरर्गलः स्वर्गमार्गो गम्यत इति भावः । अथ च निरर्थं मन्दिरं दत्तकपाटं भवतीति प्रसिद्धिः ॥४८॥ अव्याहतेति—रम्भा देवाङ्गना सुरसार्थमध्यस्था कदलीव शोभते स्म । किंविशिष्टेत्याह—अव्याहतप्रसरेण वायुना धूयमानं यन्नीलान्तरीयं कृष्णाधोवसनं तस्य विवरमुभयप्रान्तयोः सन्धिस्तेन स्फुरिते, क्षणमात्रं दृष्टावूरुदण्डौ यस्याः सा तथाविधा । बाह्यानां वस्त्राभरणादीनां छविव्यपनयेन तेजोनिराकरणेन अर्पिता दर्शिता गर्भशोभा निजाङ्गप्रभा यया सा तथाविधा । अन्तरीयादीनि समुद्भिद्य यस्या अङ्गप्रभा निष्क्रान्तेत्यर्थः । पक्षे वातवशाल्लब्धे प्रान्ते दृष्टसरलयष्टिका बाह्यत्वचा निराकरणेन दृष्टा गर्भशोभा यस्याः सा तथाविधा ॥४९॥ यावदिति—रत्नपुरं महेन्द्रपुरं च व्याप्यान्तराले देवानां पङ्क्तिर्बभासे जिननाथे धर्मोपदेशके सति भव्यजनस्य स्वर्गं यियासोर्धर्मोपनीता निःश्रेणिकेव सोपानपङ्क्तिरिव ॥५०॥ वल्गदिति—ते देवा गगनसमुद्रात्प्रवहणसदृशैर्विमानैरुत्तरन्ति स्म । किंविशिष्टादित्याह—मिलन्मेघा इव महोर्मिसमूहास्तेषां मध्ये समुल्लसन्ति मीनमकरकर्कराशिप्रभृतीनि ज्योतींषि यत्र तस्मात् पक्षे उदञ्चद्बहलमहाकल्लोलपटलमध्ये युगपद्दृश्यमाना मकरादयो जलचरा यत्र[3] ॥५१॥ द्वारि द्वारीति—देवराजो यद्यपि अगस्त्यमुनिपीतरत्नसमूहावशेषसमुद्रपृथ्वीतलसदृशं रत्नपुरं

हुए लोहेके किवाड़ों की तरह जान पड़ते थे ॥४८॥ तेज वायु द्वारा हिलनेवाले नील अधोवस्त्रके छिद्रोंके बीचसे जिसके उत्तम ऊरुदण्ड प्रकाशमान हो रहे हैं ऐसी रम्भा नामक अप्सरा उस रम्भा—कदलीके समान सबका मन हरण कर रही थी जिसकी कि बाहरकी मलिन कान्तिके दूर होनेसे भीतरकी सुन्दर शोभा प्रकट हो रही है ॥४९॥ इन्द्रकी राजधानीसे लेकर जिनेन्द्र भगवान्के नगर तक आकाशमें आनेवाली देवोंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान्के शासनकालमें स्वर्ग जानेके लिए इच्छुक मनुष्योंके पुण्यसे बनी हुई नसैनी ही हो ॥५०॥ चंचल मेघरूपी बड़ी-बड़ी लहरोंके बीच जिसमें मकर, मीन और कर्कराशियाँ [पक्षमें जलजन्तु विशेष] अनायास सुशोभित हो रही हैं ऐसे आकाशरूप महासागरसे वे देव लोग जहाजोंके तुल्य विमानोंके द्वारा शीघ्र ही पार हो गये ॥५१॥

१. पोतान् घ० म० । २. ये यान घ० म० । ३. रूपकालंकारः ।

एकस्येव जगद्विभूषणमणेस्तस्यार्हतो जन्मना
मेने रत्नपुरं तथापि मरुतां नाथस्तदा सार्थकम् ।।५२।।
पुरमिव पुरुहूतः प्राञ्जलिस्त्रिःपरीत्य
त्रिभुवनमहनीयं हर्म्यमस्यातिरम्यम् ।
समुपनयनबुद्धा विश्वविद्याधिपत्यं
श्रियमिव सहसान्तः[1] प्रेषयामास कान्ताम् ।।५३।।

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये देवागमो नाम षष्ठः सर्गः ।।६।।

ददृशे । कैः । गृहद्वारे धनदवृष्टै रत्नराशिभिः । तथापि तथाविधरत्नप्राचुर्योपेतस्य जिनस्य त्रिभुवनभूषणैकरत्नस्य जन्मत्वेन रत्नपुरं सार्थकं सव्युत्पत्तिकममंस्त[2] ।।५२।। पुरमिवेति—महेन्द्रो रत्नपुरं नगरं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य पश्चात्त्रिभुवनपूज्यमस्य गृहं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्यातिरम्यं महाप्रभावं ततः प्रसूतिगृहे शचीं विससर्ज जिनानयनाभिप्रायेण । किंविशिष्टां कान्तामित्याह—सर्वभुवनसाम्राज्यलक्ष्मीमिव[3] ।।५३।।

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां देवागमवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ।।६।।

यद्यपि वह नगर प्रत्येक दरवाजेपर आकाशसे पड़े हुए रत्नोंके समूहसे ऐसा जान पड़ता था मानो अगस्त्यमुनि द्वारा क्रीड़ावश पिये हुए समुद्रका भूतल ही हो, फिर भी इन्द्रने जगत्को विभूषित करनेवाले एक जिनेन्द्र भगवान् रूप मणिके जन्मसे ही उस नगरका रत्नपुर यह नाम सार्थक माना था ।।५२।। इन्द्रने हाथ जोड़कर नगरकी तरह श्री जिनेन्द्रदेवके अत्यन्त सुन्दर एवं त्रिलोकपूज्य भवनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और फिर समस्त संसारके अधिपति श्री जिनेन्द्र देवको लानेकी इच्छासे लक्ष्मीके समान सुशोभित इन्द्राणीको भीतर भेजा ।।५३।।

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्यमें देवागमका वर्णन करनेवाला छठा सर्ग समाप्त हुआ ।।६।।

---

१. सहसातः ख० । २. तथाविधरत्नप्राचुर्येऽपि त्रिभुवनभूषणैकरत्नस्य तस्य जिनस्य जन्मत्वेनैव रत्नपुरं सव्युत्पत्तिकममंस्त मरुतां नाथ इति भावः ।। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । ३. मालिनीच्छन्दः ।

सप्तमः सर्गः

प्रविश्य सद्मन्यथ सुव्रतायाः समर्प्य मायाप्रतिरूपमङ्के ।
शची जिनं पूर्वपयोधिवीचेः समुज्जहारेन्दु[1]मिवोद्यतं द्यौः ॥१॥
अवाप्य तत्पाणिपुटाग्रमैत्रीं प्रकाशमाने जिनयामिनीशे ।
करारविन्दद्वितयं तदानीं विडौजसः कुण्डलतां जगाम ॥२॥
प्रमोदबाष्पाम्बुकरम्बितेन दृशां सहस्रेण सहस्रनेत्रः ।
अपश्यदस्याकृतिलक्षणानां सकष्टमष्टाभ्यधिकं सहस्रम् ॥३॥
अपारयन्नप्रतिरूपमङ्गं जिनस्य तस्येक्षितुमीक्षणाभ्याम् ।
[2]सहस्रनेत्राय तदा समूहः सुरासुराणां स्पृहयांबभूव ॥४॥
तमादरादर्भकमप्यदभ्रैर्गुणैर्गरीयांसमशेषलोकात् ।
कृतप्रणामाय पुरंदराय समर्पयामास पुलोमपुत्री ॥५॥

प्रविश्येति—अथानन्तरं सुव्रताया जिनमातुः प्रसूतिगृहे प्रविश्य मायानिर्मिततादृशं जिनप्रतिबिम्बमुत्सङ्गे समर्प्य इन्द्राणी बालजिनेन्द्रं जग्राह । यथा द्यौर्गगनं पूर्वसमुद्रकल्लोलात् प्रथमोदितमात्रं चन्द्रमुत्सङ्गयति । अत्र सुव्रतावीच्योर्जिनचन्द्रयोरिन्द्राणीदिवोश्चोपमानोपमेयभावः[3] ॥१॥ अवाप्येति—तस्याः शच्याः करपल्लवे स्थितिं प्राप्य प्रकाशमाने आत्मानं दर्शयति सति जिनचन्द्रे सौधर्मेन्द्रस्य पाणिपद्मद्वयमञ्जलिबन्धतां प्राप । शचीहस्ते जिनं दृष्ट्वा हस्तौ योजयन् नमस्कारं कृतवानित्यर्थः । अथ चारविन्दं चन्द्रे दृश्यमाने संकुचतीति प्रसिद्धिः[4] ॥२॥ प्रमोदेति—सहस्रनेत्रो महेन्द्रो हर्षाश्रुनिर्झरेण नेत्रसहस्रेण परमेश्वरस्याष्टोत्तरसहस्रं लक्षणानां कलशकुलिशालकतिलकादीनां व्यलोकयत् । सकष्टं लोचनदरिद्रतोपेतं यथा स्यात् । अतिशायिलावण्यलक्षणसहस्रेषु नयनसहस्रमतिशयसक्तं ततो यन्नयनं यत्र स्थितं तत्तत्रैव शयद् (?) शिष्टाष्टलक्षणनिरीक्षणे दरिद्रत्वाल्लोचनसहस्रेणापि न यथेष्टरूपरमानुभवनं कर्तुं शक्नोतीति भावः ॥३॥ अपारयन्निति—तदा देवदानवानां मण्डलं लोचनसहस्रप्राप्तिमनोरथं चकार । किं कारणमित्याह—तस्य जिनस्य निरुपमानं सर्वतो मनोहरं शरीरं द्वाभ्यां लोचनाभ्यां द्रष्टुमशक्नुवन् सहस्रनेत्रवदस्माकमपि यदि लोचनसहस्रं स्यात्ततो वयमपि सकलं जिनाङ्गं युगपद् अपश्याम इत्यर्थः ॥४॥ तमादरादिति—तं जिनलक्षणं बालकं गुरुभिर्गुरुतममशेषलोकात्

तदनन्तर इन्द्राणीने प्रसूति-गृहके भीतर प्रवेश किया और सुव्रताकी गोदमें मायामय बालकको छोड़कर जिन बालकको इस प्रकार उठा लिया जिस प्रकार कि पूर्व समुद्रकी लहरीके बीच प्रतिबिम्बको छोड़कर नवीन उदित हुए चन्द्रमाको आकाश उठा लेता है ॥१॥ उस समय चूँकि जिन बालकरूपी चन्द्रमा इन्द्राणीके हस्ततलकी मित्रताको पा कर प्रकाशमान हो रहे थे इसलिए इन्द्रके दोनों हस्तकमल, कुड्मलताको प्राप्त हो गये थे ॥२॥ इन्द्र हर्षाश्रुओंसे भरे हुए अपने हजार नेत्रोंके द्वारा भगवान्के एक हजार आठ लक्षणोंको बड़ी कठिनाईसे देख सका था ॥३॥ उस समय दो नेत्रोंके द्वारा जिनेन्द्र भगवान्का अनुपम रूप देखनेके लिए असमर्थ होता सुर और असुरोंका समूह हजार नेत्रोंवाले इन्द्रके इन्द्रत्वकी इच्छा कर रहा था ॥४॥ जो बालक होनेपर भी अपने विशाल गुणोंकी अपेक्षा समस्त संसारसे वृद्ध थे ऐसे जिनेन्द्रदेवको

१. -मिवोदितं ख० ग० घ० च० छ० ज० म० । २. सहस्रं नेत्राणि यस्य स तस्मै । 'स्पृहेरीप्सितः' इति चतुर्थी । ३. उपमा, उपेन्द्रवज्रावृत्तम् । ४. रूपकम् ।

ससंभ्रमेणाभ्रमुवल्लभस्य न्यधायि मूर्ध्नि त्रिदिवेश्वरेण ।
जयेति वाचं मुहुरुच्चरद्भिः कराञ्जलिः स्वस्य सुरैरशेषैः ॥६॥
स तत्र चामीकरचारुमूर्तिः स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ती ।
अनम्बुधारा[1]धरतुङ्गश्रृङ्गे नवोदितश्चन्द्र इवाबभासे ॥७॥
[2]तदंह्रियुग्मस्य नखेन्दुकान्तिर्द्युदन्तिनो मूर्धनि विस्फुरन्ती ।
बभौ तदाक्रान्तिविभिन्नकुम्भस्थलोच्छलन्मौक्तिकमण्डलीव ॥८॥
अथाभिषेक्तुं सुरशैलमूर्ध्नि तमुद्वहंस्तीर्थकरं कराभ्याम् ।
पथा ग्रहाणां स गजाधिरूढश्चचाल सौधर्मपतिः ससैन्यः ॥९॥
ध्वनत्सु तूर्येषु हरिप्रणीता स्तुतिस्तदाश्रावि सुरैर्न जैनी ।
मुहुस्तदारम्भचलाधरौष्ठप्रवाललीलाभिरवेदि किं तु ॥१०॥
अखण्डहेमाण्डकपुण्डरीकव्रजस्य दम्भात्त्रिदशोद्धृतस्य ।
[3]सुवर्णकुम्भान्स्वशिरोभिरुद्वहन् निनाय तस्य स्नपनाय शेषः ॥११॥

त्रिभुवनात् कृतनमस्काराय सुरेन्द्राय शची सादरं समर्पयामास ॥५॥ ससंभ्रमेणेति—स जिनेश्वरो महतादरेण सौधर्मेन्द्रेण ऐरावणस्य च मूर्ध्नि कुम्भस्थले स्थापितः । सर्वैर्देवैश्च निजकराञ्जलिर्भक्तिभरान्निजमस्तके स्थापितः । जय जय नन्द नन्देति पौनःपुन्येन जल्पद्भिर्जिनं गजमस्तकमारोप्यमाणं दृष्ट्वा सुरैर्हस्तौ मस्तके कृतौ ॥६॥ स तत्रेति—स तत्र शुभ्रैरावते स्वर्णवर्णशरीरो विशन्निजतेजोमण्डलवर्ती अनम्बुधाराधरतुङ्गश्रृङ्गे परिकरितः शुशुभे शारदाभ्रमहाकूटे प्रथमोदितः पिङ्गलश्चन्द्र इव । अत्रैरावतशारदाभ्रयोः प्रथमोदितपूर्णेन्दुजिनेन्द्रयो-रुपमानोपमेयभावः ॥७॥ तदंह्रीति—तस्य जिनेन्द्रस्य पादनखतेजोमञ्जरीशक्रगजस्य शिरसि समुल्लसन्ती रराज । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—तस्यानन्तशक्तिकस्य गरिमनिधानस्याक्रमणेन भारपीडनेन यद् विभिन्नं स्फुटितं कुम्भस्थलं तस्मादुच्छलन्तीं मौक्तिकश्रेणीमिव संभावयामः ॥८॥ अथेति—अथानन्तरमुत्सङ्गस्थं तीर्थकरं धारयन् मेरुशिखरे स्नपयितुं नभोमार्गेण चतुर्णिकायामरपरिवा तः सौधर्मः स्वर्गनाथः प्रतस्थे ॥९॥ ध्वनत्स्विति—सार्धद्वादशकोटिषु तूर्येषु वाद्यमानेषु शक्रेण प्रणीता जिनस्तुतयो देवैर्न श्रुताः । कथं स्तुवन् तर्हि ज्ञात इत्याह—पुनः पुनर्वर्णोच्चारणविशेषेण चलन्तौ यावधरपल्लवौ तयोर्लीलाभिः साभिज्ञानरीतिभिः स्तौतीति जिनमसौ निश्चितम् ॥१०॥ अखण्डेति—देवैरुद्धृतस्य परिपूर्णस्वर्णकुम्भमण्डितसितातपत्रसमूहस्य व्याजा-दहीश्वरः स्वर्णकलशान् स्वमस्तकैः सहस्रसंख्यैर्धारयन्नाजगाम । अत्र छत्रशेषयोः स्वर्णाण्डकलशयोश्चोपमानोप-

इन्द्राणीने नमस्कार करनेवाले इन्द्रके लिए बड़े आदरके साथ सौंप दिया ॥५॥ इन्द्रने जिन-बालकको ऐरावत हाथीके मस्तकपर रखा और अन्य समस्त देवोंने अपनी हस्तांजलि अपने मस्तकपर रखी—हाथ जोड़ मस्तकसे लगाये ॥६॥ सुवर्णके समान सुन्दर शरीरको धारण करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् देदीप्यमान प्रभामण्डलके बीच ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निर्जल मेघके उन्नत शिखरपर नवीन उगा हुआ चन्द्रमा ही हो ॥७॥ उनके चरणयुगलके नखरूपी चन्द्रमाकी कान्ति ऐरावत हाथीके मस्तकपर पड़ रही थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो उनके आक्रमणके भारसे मस्तक फट गया हो और उससे मोतियोंका समूह उछल रहा हो ॥८॥ तदनन्तर हाथीपर आरूढ़ हुआ सौधर्मेन्द्र सुमेरुपर्वतके शिखरपर अभिषेक करनेके लिए उन तीर्थंकरको अपने दोनों हाथोंसे पकड़े हुए सेनाके साथ आकाशमार्गसे चला ॥९॥ उस समय इतने अधिक बाजे बज रहे थे कि इन्द्र-द्वारा की हुई जिनेन्द्रदेवकी स्तुति देवोंके सुननेमें नहीं आ रही थी; हाँ, इतना अवश्य था कि उसके प्रारम्भमें जो ओष्ठरूपी प्रवाल चलते थे उनकी लीलासे उसका कुछ बोध अवश्य हो जाता था ॥१०॥ उस समय देवोंने सुवर्णके अखण्ड कलशोंसे युक्त जो सफ़ेद छत्रोंके समूह तान रखे थे वे ऐसे जान

१. धारावर म० घ० । २. तदङ्घ्रि घ० म० । ३. अयं वंशस्थपादोऽत्र प्रमादापतित इति भाति ।

विधूयमानामरमण्डलीभिः प्रभोरुपान्ते सितचामराली ।
रराज [1]रागोत्सुकमुक्तिमुक्तकटाक्षविक्षेपपरम्परेव ॥१२॥

प्रदह्यमानागुरुधूमलेखाकरम्बितं व्योम बभौ तदानीम् ।
जिनस्य जन्माभिषवोत्सवार्थमिवागताशेषभुजङ्गलोकम् ॥१३॥

तमिन्दु शुभ्रध्वजनिर्मलोर्मिः सितातपत्रस्फुटफेनपुञ्जः ।
सुरासुराणां निवहोऽभिषेक्तुं रराज दुग्धाब्धिरिवानुगच्छन् ॥१४॥

बभौ पिशङ्गः कनकोज्ज्वलाभिः प्रभाभिरस्याभ्रमुजीवितेशः ।
प्रभुं तमायान्तमवेत्य भक्त्या स संमुखायात इवाद्रिराजः ॥१५॥

सुधाप्रवाहैरिव हारिगीतैस्तरङ्गिते व्योममहाम्बुराशौ ।
भुजभ्रमोल्लासितलास्यलीलाछलात्प्लवन्ते स्म मरुत्तरुण्यः ॥१६॥

मेयभावः ॥११॥ विधूयमानेति—देवसमूहैर्दोधूयमाना शुभ्रचामरपङ्क्तिस्तस्य प्रभोः समीपे शुशुभे । अत्युत्कण्ठितमोक्षलक्ष्मीप्रसारितकटाक्षपरम्परेव । धवलत्वान्निर्मलत्वात्सरलतिर्यक्पातित्वाच्च चामराणां कटाक्षच्छटोपमा ॥१२॥ प्रदह्यमानेति—तदा दंदह्यमानकृष्णागुरुधूमशिखा वल्लरीभिर्मण्डितं व्योममण्डपं बभासे जिनस्य जन्माभिषेकमहोत्सवे मिलितसकलपातालवासिनीलसर्पकुलमिव ॥१३॥ तमिति—तदा देवदानवानां समूहोऽभिषेक्तुं जिनमनुगच्छन् निजसमयागतो दुग्धसमुद्र इव रराज । समुद्ररूपकतामुद्भावयति—चञ्चलधवलध्वजा एव निर्मलाः सदृशा ऊर्मयः कल्लोला यत्र । धवलातपत्राण्येव विसारिडिण्डीरपिण्डा यत्र । अत्र ध्वजोर्म्योश्छत्रखण्डफेनपुञ्जयोर्निवहाब्ध्योश्चोपमानोपमेयभावः[2] ॥१४॥ बभाविति—अस्य जिनस्य देहप्रभाभिः सुवर्णभासुराभिः पिञ्जरितः सुरगजः शुशुभे । तं देवदेवमागच्छन्तं ज्ञात्वा काञ्चनाद्रिरिव प्रत्युज्जगाम ॥१५॥ सुधेति—तदा पीयूषरसमधुरैर्देववृन्दगीतैर्गगनसमुद्रे सर्वतः कल्लोलिते सति हस्तकभ्रमविशेषैः प्रकटितस्य वाद्यलीलाविशेषस्य व्याजात् देवाङ्गनास्तरन्ति । देववृन्दस्यातिप्रमोदवशादुच्छृङ्खलगीतनृत्यसूचनम् ॥१६॥

पड़ते थे मानो प्रभुका अभिषेक करनेके लिए अपने सिरोंपर सोनेके कलश रखकर शेषनाग ही आया हो ॥११॥ प्रभुके समीप ही देवसमूहके द्वारा ढोली हुई सफ़ेद चमरोंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो रागसे उत्कण्ठित मुक्तिरूप लक्ष्मीके द्वारा छोड़ी कटाक्षोंकी परम्परा ही हो ॥१२॥ उस समय जलते हुए अगुरुचन्दनके धुएँकी रेखाओंसे व्याप्त आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उसमें जिनेन्द्र भगवान्के जन्माभिषेक सम्बन्धी उत्सवके लिए समस्त नाग ही आये हों ॥१३॥ चन्द्रमाके समान उज्ज्वल पताकाएँ ही जिसमें निर्मल तरंगें हैं और सफेद छत्र ही जिसमें फेनका समूह है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्के पीछे-पीछे जाता हुआ सुर और असुरोंका समूह ऐसा जान पड़ता था मानो अभिषेक करनेके लिए क्षीर समुद्र ही पीछे-पीछे चल रहा हो ॥१४॥ प्रभुकी सुवर्णोज्ज्वल प्रभासे ऐरावत हाथी पीला-पीला हो गया था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो प्रभुको आता देख सुमेरुपर्वत ही भक्तिसे सामने आ गया हो ॥१५॥ अमृतके प्रवाहके समान सुन्दर गीतोंसे लहराते हुए आकाशरूपी महासागरमें देवांगनाएँ भुजाओंके-से उल्लासित नृत्यलीलाके छलसे ऐसी मालूम होती थीं

१. रागेणोत्सुका या मुक्तिर्मोक्षलक्ष्मीस्तया मुक्ता ये कटाक्षविक्षेपास्तेषां परम्परेव सन्ततिरिव ।
२. रूपकोत्प्रेक्षा ।

दिवोऽपि संदर्शितविभ्रमायाः सितैकवेणीमिव वृद्धमूर्तेः ।
स निर्जराणामधिपः पतन्तीं मुमोच दूरेण सुरस्रवन्तीम् ॥१७॥
सचित्रमन्तर्हितभानुकान्त्या प्रभोरमुष्योपरि मेघखण्डम् ।
सहेमकुम्भस्य बभार शोभां मयूरपत्रातपवारणस्य ॥१८॥
प्रयाणवेगानिलकृष्यमाणा घना विमानानि तदानुजग्मुः ।
तदग्रवेदीमणिमण्डलांशुस्फुरन्मरुच्चापजिघृक्षयेव ॥१९॥
स वारिधेरन्तरनन्तनालस्फुरद्धरित्रीवलयारविन्दे ।
उपर्यटत्षट्पदकर्णिकाभं ददर्श मेरुं सपयोदमिन्द्रः ॥२०॥
अधःकृतस्तावदनन्तलोकः श्रिया किमुच्चैस्त्रिदशालयो मे ।
इत्यस्य रोषादरुणाब्जनेत्रं भुवाभ्युदस्तास्यमिवेक्षणाय ॥२१॥

दिव इति—वेगवशात् झगिति प्राप्तां गगनगङ्गामधः प्रवहन्तीं दूरेण दिवाधिपस्तत्याज । दिवोऽङ्गनायाः पलितवेणीमिव वृद्धमूर्तेरनवधिस्वरूपायाः । यथा कश्चित्तरुणोत्तमः कृतचाटुशताया अपि जरत्याः उत्पलितां वेणीं नाकर्षयति । पक्षे संदर्शितविभ्रमाया दर्शितपक्षिभ्रमायाः[1] ॥१७॥ सचित्रमिति—अस्य जिनस्य नभोमार्गे गच्छत् उपरिस्थितं मेघखण्डं स्थगितरविबिम्बं सचित्रं पीतरक्तादिवर्णयुक्तं स्वर्णकुम्भमण्डितायाः श्रीकर्याः श्रियं बभार । अत्र मेघखण्डश्रीकर्यो रविबिम्बकुम्भयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥१८॥ प्रयाणेति—तदागमनातिवेगवायुभिः प्रेर्यमाणा मेघाः सुरविमानान्यनुगच्छन्ति स्म । ततश्च ज्ञायते विमानवेदिकापञ्चवर्णरत्नपटलकिरणनिर्मितेन्द्रचापानां गृहीतुमिच्छयेव । मेघानां हि शक्रचापाधिकारित्वादलंकरणत्वाच्च ॥१९॥ स वारिधेरिति—अथानन्तरमप्रमाणगमनमतिक्रम्य महेन्द्रो मेरुं ददर्श । किंविशिष्टम् । कृष्णाभ्रमण्डितम् । अतश्चानन्तलक्षणे नाले समुल्लसद्यद्भूवलयं तदेव पद्मं तस्मिन्नुपरिभ्राम्यद्भ्रमरपटलपिहितकर्णिकासदृशं लवणसमुद्रमध्ये । अत्र भूवलयपद्मयोः शेषनालयोर्मेरुकर्णिकयोर्भ्रमरमेघयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥२०॥ अध इति—सरोषया पृथिव्या स्वर्गलोकविलोकनाय वदनमिवोर्द्ध्वीकृतमेरुं ददर्शेति षोडशभिः संबन्धः । अरुण आदित्यसारथिरब्जश्चन्द्र-

मानो तैर ही रही हों ॥१६॥ जिस प्रकार तरुण पुरुष वृद्धा स्त्रीकी सफेद वेणीको भले ही वह हाव-भाव क्यों न दिखला रही हो दूरसे ही छोड़ देता है उसी प्रकार उस इन्द्रने अतिशय विशाल एवं पक्षियोंका संचार दिखलानेवाले आकाशकी सफेद वेणीके समान पड़ती हुई आकाशगंगाको दूरसे ही छोड़ दिया था ॥१७॥ जाते-जाते भीतर छिपे हुए सूर्यकी कान्तिसे चित्र-विचित्र दिखनेवाला एक मेघका टुकड़ा भगवान्के ऊपर आ पहुँचा जो ऐसा जान पड़ता था मानो सुवर्ण कलशसे सहित मयूर-पिच्छका छत्र ही हो ॥१८॥ उस समय प्रयाणके वेगसे उत्पन्न वायुसे खिंचे हुए मेघ विमानोंके पीछे-पीछे जा रहे थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो उन विमानोंकी अग्रवेदीमें लगे हुए मणिमण्डलकी किरणोंसे उत्पन्न इन्द्रधनुषको ग्रहण करनेकी इच्छासे ही जा रहे हों ॥१९॥ तदनन्तर इन्द्रने मेघोंसे सहित वह सुमेरुपर्वत देखा जो कि समुद्रके बीच शेषनाग रूप मृणाल दण्डसे सुशोभित पृथिवीमण्डलरूपी कमलकी उस कर्णिकाके समान जान पड़ता था जिसपर कि काले-काले भौंरे मँडरा रहे हैं ॥२०॥ सुमेरु पर्वत क्या था ? मैंने अनन्तलोक—पाताललोक [पक्षमें अनन्त जीवोंके लोक] को तो

१. अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—निर्जराणां देवानां पक्षे यूनामधिपः स्वामी इन्द्रः तरुणश्रेष्ठश्च पतन्तीमधोवहन्तीं पक्षेऽधोलम्बमानां सुरस्रवन्तीमाकाशगङ्गाम्, संदर्शितो विभ्रमो विहङ्गमसंचारो यस्यां सा तथाभूतायाः पक्षे संदर्शितविलासाया अपि वृद्धमूर्तेर्विशालरूपायाः पक्षे जरत्याः दिवो गगनस्य, सितैकवेणीमिव श्वेतकेशवल्लरीमिव दूरेण मुमोच तत्याज । यथा कश्चित्तरुणश्रेष्ठो विभ्रमं दर्शयन्त्या अपि कस्याश्चिज्जरत्या नायिकाया लम्बमानां सितां वेणीं न स्पृशति तद्वदत्रापि योज्यम् । लिङ्गसाम्याद् दिव्शब्देन स्त्रियाः कल्पनम् ।

परिस्फुरत्काञ्चनकायमाराद्विभावरीवासरयोर्भ्रमेण ।
विडम्बयन्तं नवदम्पतिभ्यां परीयमाणानलपुञ्जलीलाम् ॥२२॥

रवीन्दुरम्योभयपार्श्वमन्तर्धृतेन्द्रनीलद्युतिहेमकायम् ।
स चक्रशङ्खस्य पिशङ्गवस्त्रां त्रिविक्रमस्याकृतिमुद्वहन्तम् ॥२३॥

घनानिलोत्थैः स्थलपङ्कजानां परागपूरैरुपबृंहिताग्रम् ।
मुहुर्जिनस्यापततोऽतिदूरादुदञ्चितग्रीवमिवेक्षणाय ॥२४॥

दिगन्तरेभ्यो द्रुतमापतद्भिर्घनैर्घनाखण्डलचापचित्रैः ।
[1]उपात्तरत्नप्रकरोपहारैर्धरैरिवाद्रीन्द्रमुपास्यमानम् ॥२५॥

स्तावेव नेत्रे यत्र । अस्य स्वर्गस्योपर्यस्या भुवो रोषकारणमाह—तावन्निजस्थितिसंभावनायां मया तावदनन्तलोको नागलोकोऽधस्तात्कृतः कथं त्रिदशालयः स्वर्गः प्रभावसंपत्त्या उच्चैः स्यादिति पृथ्वी मेरुवदनेन स्वर्गं रोषाद्वीक्षते । अथ च येनानन्ता असंख्याता लोका भुवनान्यधःकृतानि भवन्ति तस्य संख्यातानां त्रयो[2]दशानामालयः श्रियोत्कटः स्यादिति रोषकारणम् ॥२१॥ परिस्फुरदिति—देदीप्यमानहेमशरीरं रात्रिदिवसयोः प्रान्तपर्यटनेन परिणीयमानजायापतिभ्यां प्रदक्षिणीक्रियमाणं ज्वलनज्वालाकलापमनुकुर्वाणम् । अत्र रात्रिस्त्रियोर्दिवसपुरुषयोर्मेरुज्वलनयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥२२॥ रवीन्दुरम्येति—नारायणस्य प्रतिमां धारयन्तमिव । किंविशिष्टस्य । धृतसुदर्शनपाञ्चजन्यस्य । पीतवसनं किंविशिष्टं तमित्याह—सूर्यचन्द्राभ्यां प्रशस्यौ वामदक्षिणभागौ यस्य तं तथाविधम् । मध्ये धृतमरकतशिलाकिरणजालश्यामलं स्वर्णमयम् । अत्र चक्रादित्ययोः शङ्खचन्द्रयोर्हेमकायवस्त्रयोरिन्द्रनीलत्रिविक्रमयोश्चोपमानोपमेयभावः[3] ॥२३॥ घनेति—प्रचण्डवातोद्धूताभिः स्थलपङ्कजानां किञ्जल्कवात्याभिर्वर्धितशृङ्गम् । अथवागच्छतो जिनस्य दूरादेव दिदृक्षयोत्तम्भितग्रीवमिव[4] ॥२४॥ दिगिति—दिग्विभागेभ्यः शीघ्रमागच्छद्भिरिन्द्रचापचित्रितैर्मेघैराश्रीयमाणं गृहीतरत्नसंचयप्राभृतैः पर्वतैरिव ।

नीचे कर दिया फिर यह त्रिदशालय—स्वर्ग [पक्षमें तीनगुणित दश—तीस जीवोंका घर] लक्ष्मी-द्वारा मुझसे उच्च—उत्कृष्ट [पक्षमें ऊपर] क्यों है ? इस प्रकार स्वर्गको देखनेके लिए पृथिवीके द्वारा उठाया हुआ मानो मस्तक ही था। उस सुमेरु पर्वतपर जो लाल-लाल कमल थे वे मानो क्रोधसे लाल-लाल हुए नेत्र ही थे ॥२१॥ उस सुमेरु पर्वतका सुवर्णमय शरीर चारों ओरसे चमचमा रहा था और दिन तथा रात्रि उसकी प्रदक्षिणा दे रहे थे इससे ऐसा जान पड़ता था मानो नवीन दम्पतिके द्वारा परिक्रम्यमाण अग्नि-समूहकी शोभाका अनुकरण ही कर रहा हो ॥२२॥ उस पर्वतके दोनों किनारे सूर्य और चन्द्रमासे सुशोभित थे, साथ ही उसका सुवर्णमय शरीर भीतर लगे हुए इन्द्रनीलमणियोंकी कान्तिसे समुद्भासित था अतः वह सुमेरु पर्वत चक्र और शंख लिये तथा पीतवस्त्र पहने हुए नारायणकी शोभा धारण कर रहा था ॥२३॥ उसका अग्रभाग मेघकी वायुसे उड़ी हुई स्थलकमलोंकी परागसे कुछ-कुछ ऊँचा उठ रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो आने वाले जिनेन्द्र भगवान्को दूरसे देखनेके लिए वह बार-बार अपनी गरदन ही ऊपर उठा रहा हो ॥२४॥ बड़े-बड़े इन्द्रधनुषोंसे चित्र-विचित्र मेघ दिग्दिगन्तसे आकर उस पर्वतपर छा जाते थे जिससे ऐसा जान पड़ता था कि मानो चूँकि यह पर्वतोंका राजा है अतः रत्नसमूहकी भेंट लिये हुए पर्वत ही इसकी

१. उपान्त घ० म० । २. त्रयश्च दश च इति द्वन्द्वे त्र्यधिका दश इति तत्पुरुषे वा 'त्रेस्त्रय' इत्यनेन त्रिशब्दस्य स्थाने 'त्रयस्' इत्यादेशस्य नित्यत्वेन त्रयोदश इति रूपं भवति । न तु त्रिदश इति । अतः त्रिर्दश त्रिदशा इति सुजर्थे बहुव्रीहिः कर्तव्यः । तेन त्रिदशानां त्रिंशत् आलयस्त्रिदशालय इति बोध्यम् । ३. रूपकानुप्राणितोपमा । ४. उत्प्रेक्षा ।

सिताब्दरुद्धार्थहिरण्यदेहं शिरःस्फुरत्पाण्डुशिलार्धचन्द्रम् ।
कपालमालाललितोडुपङ्क्त्या धृतार्धनारीश्वरमूर्तिशोभम् ॥२६॥

अमी भ्रमन्तो [1]विततः स्थलान्मे ग्रहा ग्रहीष्यन्ति सुवर्णकोटीः ।
इतीव तेषां प्रसरं निरोद्धुं घनानुपान्ते दधतं सचापान् ॥२७॥

नितम्बिनीः संततमेव भास्वत्कराभिमृष्टोच्चपयोधराग्राः ।
समासजन्तं सरितां प्रवाहैस्तटीः सरत्स्वेदजलैरिवार्द्राः ॥२८॥

असह्यहेतिप्रसरैः परेषां प्रभञ्जनात्प्राप्तहिरण्यलेशैः ।
महस्विसैन्यैः [2]कटकेष्वटद्भिर्[3]निषेवितं साधु महीधरेन्द्रम् ॥२९॥

अतश्च ज्ञायते सत्यं पर्वतराजमिति ॥२५॥ सिताब्देति—क्वचिद्धवलमेघप्रच्छादितहेममयार्द्धशरीरम् उपदृश्यमानपाण्डुनामधेयशिलैवार्द्धचन्द्रो यस्य, कपालमालास्थाने ललिता शोभिता नक्षत्रपङ्क्तिस्तया । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—अर्द्धनारीश्वररूपधारिणम्[4] ॥२६॥ अमीति—सेन्द्रचापान्मेघान् धारयन्तम् । नक्षत्राणां तेजःप्रच्छादनार्थमिति संभावयन्निव । अमी प्रान्ते विपर्यटन्तो विततः सर्वतो विस्तृता ग्रहाः सोमसूर्यादयः पक्षे ग्रहाश्चौराः छलान्ममान्यमनस्कस्य स्वर्णराशींश्चोरयिष्यन्तीति हेतोः । यथा कश्चिच्चौराद् रक्षार्थं योधान् धत्ते[5] ॥२७॥ नितम्बिनीरिति—तटीराश्रयन्तम् । नितम्बिनीर्महाप्राग्भारयुक्ताः सूर्यकिरणैरभिस्पृष्टतुङ्गमेघशृङ्गा नदीप्रवाहशीकरैरभिषिक्ताः । यथा कश्चिद् विलासी निजहस्तस्पृष्टस्तनीः सात्त्विकस्वेदाकुला नितम्बिनीराश्लिष्यति[6] ॥२८॥ असह्येति—सोमसूर्यादिज्योतिर्मण्डलैरुपासितम् । किंविशिष्टैः अन्येषां दुःसहकिरणप्रसरैर्वातवशाद् गृहीतस्वर्णधूलिलवैः शृङ्गेषु सर्पद्भिः । अथ च साधु सत्यमेव महीधरेन्द्रं जिगीषुमिव । जिगीषुरपि प्रतापवद्भिः

उपासना कर रहे हों ॥२५॥ उसका सुवर्णमय आधा शरीर सफेद-सफेद बादलोंसे रुक गया था, उसके शिखरपर [पक्षमें शिरपर] पाण्डुकशिला रूप अर्ध चन्द्रमा सुशोभित था और पास ही जो नक्षत्रोंकी पंक्ति थी वह मुण्डमालाकी तरह जान पड़ती थी अतः वह ऐसा मालूम होता था मानो उसने अर्धनारीश्वर—महादेवजीके ही शरीरकी शोभा धारण कर रखी हो ॥२६॥ ये घूमते हुए सब ओर व्याप्त ग्रह [पक्षमें चोर] मेरे स्थलसे सुवर्णकी कोटियाँ—उत्तम कान्तिके समूहको [पक्षमें करोड़ोंका स्वर्ण] ले जावेंगे—इस भयसे ही मानो यह पर्वत उनका प्रसार रोकनेके लिए धनुष युक्त मेघोंको धारण कर रहा था ॥२७॥ जो उत्तम नितम्ब—मध्यभाग [पक्षमें जघन] से युक्त हैं, जिनपर छाये हुए मेघोंके अग्रभाग सूर्यकी किरणोंके द्वारा स्पृष्ट हो रहे हैं [पक्षमें जिनके उन्नत स्तन देदीप्यमान हाथसे स्पृष्ट हो रहे हैं] और जो निकलते हुए स्वेद जलके समान नदियोंके प्रवाहसे सदा आर्द्र रहती हैं—ऐसी तटी रूपी स्त्रियोंका वह पर्वत सदा आलिंगन करता था ॥ २८ ॥ चूँकि वह पर्वत महीधरों—राजाओं [पक्षमें पर्वतों] का इन्द्र था अतः असह्य शस्त्रोंके समूहको धारण करनेवाले [पक्षमें दूसरोंके असह्य किरणोंसे युक्त], शत्रुओंको नष्ट करनेसे स्वर्ण खण्डोंका पुरस्कार प्राप्त करनेवाले, [पक्षमें वायुके वेगवश सुवर्णका अंश प्राप्त करनेवाले] एवं शिविरोंमें [पक्षमें

१. विततस्थलान्मे म० घ० । २. –ष्वतद्भि । ३. निषेवितुं । ४. रूपकानुप्राणितोपमा । ५. उत्प्रेक्षा । ६. अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—नितम्बिनीर्मध्यभागयुक्ताः पक्षे प्रशस्तकटिपश्चाद्भागयुक्ताः संततमेव निरन्तरमेव भास्वतः सूर्यस्य करैः किरणैरभिमृष्टाः सम्यक्स्पृष्टा उच्चपयोधराग्रा उन्नतमेघाग्रा यासां ताः पक्षे भास्वता देदीप्यमानेन करेण हस्तेनाभिमृष्टाः सम्यक् संमर्दिता उच्चपयोधराग्राः पीवरस्तनाग्रा यासां ताः, क्षरत्स्वेदजलैरिव प्रकटीभवत्स्वेदसलिलैरिव आर्द्राः सजलाः पक्षे सस्वेदशरीराः तटीः पक्षे लिङ्गस्य विशेषणानां वा सादृश्येन समासोक्तिवशात् नायिकाः समासजन्तं समाश्लिष्यन्तम् । विटमिव स्थितमिति भावः ।

मरुद्ध्वनद्वंशमनेकतालं रसालसंभावितमन्मथैलम् ।
धृतस्मरातङ्कमिवाश्रयन्तं वनं च गानं च सुराङ्गनानाम् ॥३०॥
तटैरुदञ्चन्मणिमण्डलांशुच्छटैरुदूढोच्छिखबर्हिशङ्काम् ।
सचेतसोऽपि प्रथयद्भिरुच्चैः प्रतारितानेन विडालपोतम् ॥३१॥
विशालदन्तं घनदानवारिं प्रसारितोद्दामकराग्रदण्डम् ।
उपेयुषो दिग्गजपुङ्गवस्य पुरो दधानं प्रतिमल्ललीलाम् ॥३२॥

सैन्यैः स्कन्धावारे प्रविशद्भिः प्रचण्डप्रहरणप्रसरैः परेषां शत्रूणां प्रभञ्जनाद्विध्वंसनात् प्राप्तसुवर्णकोशैर्निषेव्यते[1] ॥२९॥ मरुदिति—अप्सरसां गानं भजमानम् । किंविशिष्टमित्याह—सहचरदेवैर्ध्वन्यमानवंशवीणादिकम्, अनेकतालमसंख्यातलयम्, रसयुक्तसत्कृतमन्मथं मदनोद्रेककारकगीतिविशेषं यत्र । अतश्च गृहीतकामभयमिव तद्योग्यं वनमप्याश्रयन्तम् । तदपि किंविशिष्टमित्याह—वातपूरणवशाच्छब्दायमानकीचकम्, असंख्याततालतमालादिकम्, सरसगृहीतमदनैलम्[2] ॥३०॥ तटैरिति—विप्लावितासंख्यमार्जारबालम् । कैरित्याह—तटैरुल्लसन्मणिपञ्चवर्णमण्डलमयूखनिकरैः सचेतनस्यापि पुरुषस्य, उद्गतचूडस्य कलापिनो भ्रमं समुत्पादयद्भिः किंपुनर्मुग्धविडालबालानाम्[3] ॥३१॥ विशालेति—आगच्छत ऐरावतस्याग्रे प्रतिगजभ्रमं वितन्वानम् । किं-

शिखरोंपर] घूमनेवाले तेजस्वी सैनिक [पक्षमें ज्योतिष्क देवोंका समूह] उसकी सेवा कर रहे थे यह उचित ही था ॥ २९ ॥ वह पर्वत मानो कामका आतंक धारण कर रहा था अतः जिसमें वायुके द्वारा वंश शब्द कर रहे हैं, जिसमें ताड़के अनेक वृक्ष लग रहे हैं और जिसमें आम्र वृक्षोंके समीप मदन तथा इलायचीके वृक्ष सुशोभित हैं ऐसे वनका एवं जिसमें देव लोग बाँसुरी बजा रहे हैं, जो तालसे सहित है, रससे अलस है, और कामवर्धक गीतबन्ध विशेषसे युक्त है ऐसे देवांगनाओंके गानका आश्रय लिये हुए था ॥ ३० ॥ उस पर्वतके तटोंसे ऊपरकी ओर अनेक वर्णके मणियोंकी किरणें निकल रही थीं जिससे अच्छे-अच्छे बुद्धिमानोंको भी संशय हो जाता था कि कहीं ऊपर अपना कलापका भार फैलाये हुए मयूर तो नहीं बैठा है ? वह पर्वत अपने इन ऊँचे-ऊँचे तटोंसे विलावके बच्चोंको सदा धोखा दिया करता था ॥ ३१ ॥ वह सुमेरु पर्वत सम्मुख आनेवाले ऐरावत हाथीके आगे उसके प्रतिपक्षीकी

१. अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—परेषामन्येषाम् असह्यो दुःखेन सोढुं शक्यो हेतीनां किरणानां प्रसरः समूहो येषां तैः, पक्षेऽसह्यो हेतीनामायुधानां प्रसरो येषां तैः । प्रभञ्जनाद् वायुवशात्प्राप्ता हिरण्यलेशाः पवनोत्पतितस्वर्णांशा येषां तैः पक्षे परेषां शत्रूणां प्रभञ्जनाद् विध्वंसनात् पुरस्काररूपेण प्राप्ता लब्धा हिरण्यलेशाः स्वर्णखण्डानि यैस्तैः । कटकेषु शिखरेषु पक्षे शिविरेषु अटद्भिर्भ्रमद्भिः महस्विनां ज्योतिषां देवानां सैन्यानि समूहास्तैः पक्षे महस्विसैन्यैस्तेजस्विसैन्यैः साधु सत्यं यथा स्यात्तथा निषेवितं सहितं पक्षे समुपासितं महीधरेन्द्रं पर्वतपतिं पक्षे राजेन्द्रम् ॥ श्लिष्टोपमा ॥ २. अस्येदं सुगमं व्याख्यानम्–धृतस्मरातङ्कमिव धृतकामभयमिव तन्निवारणयोग्यं वनं सुराङ्गनानां गानं देवीजनगीतं चाश्रयन्तं सेवमानम् । अथोभयोः सादृश्यमाह—मरुता पवनेन ध्वनन्तः शब्दं कुर्वाणाः वंशाः कीचका यस्मिंस्तत्तथाभूतं वनं, मरुद्भिर्देवैर्वाद्यमानत्वेन ध्वनन्तो वंशा मुरल्यो यस्मिंस्तत्तथाभूतं गानम् । अनेके ताला डलयोरभेदात्ताडवृक्षा यस्मिंस्तथाभूतं वनं अनेके ताला स्वरावरोहारोहक्रमा यस्मिंस्तथाभूतं गानम् । रसालैराम्रैः संभावितः सहिता मन्मथा मदनवृक्षा एलाश्चन्द्रवालाश्च यस्मिंस्तत्तथाभूतं वनं रसेनालसं रसालसं, भाविता सद्भावं प्रापितो मन्मथैला मदनविकारोत्तेजकगीतबन्धविशेषो यस्मिंस्तत्तथा गानम् । श्लेषानुप्राणितोत्प्रेक्षालंकारः । ३. अस्येदं सुगमं व्याख्यानम्—उपेयुष आगतवतो दिग्गजपुङ्गवस्यैरावतस्य पुरोऽग्रे प्रतिमल्लस्य प्रतिगजस्य लीलां शोभां दधानम् । अथोभयोः सादृश्यमाह—विशाला विपुला दन्तास्तटाश्चत्वारो गजदन्तपर्वता वा यस्य तं सुमेरुम्, विशाला महान्तो दन्ता रदना यस्य तमैरावतम्, घनाः प्रचुरा दानवानामरयो—देवा यस्मिंस्तं सुमेरुं पक्षे घनं प्रभूतं दानवारि मदजलं यस्य तमैरावतम्, प्रसारिता उद्दामकराग्रदण्डा उत्कटकिरणाग्रदण्डा यस्य तं सुमेरुं पक्षे प्रसारितो वितानित उद्दामकराग्रदण्ड उन्नतशुण्डाग्रभागो यस्य तम् । श्लिष्टोपमा ॥

अधिश्रियं नीरदमाश्रयन्तीं नवान्नुदन्तीमतिनिष्कलाभान् ।
स्वनैर्भुजङ्गान् शिखिनां दधानं प्रगल्भवेश्यामिव चन्दनालीम् ।।३३।।
गजभ्रमान्मुग्धमृगाधिनाथैर्विदार्यमाणान्नखरप्रहारैः ।
तडिच्छलान्निर्गलदस्रधारान्दधानमामेखलमम्बुवाहान् ।।३४।।

विशिष्टमित्याह—विशिष्टा उच्चैस्तराः शाला एव दन्ता यस्य, पक्षे महादन्तम्, घना मेघा एव दानवारि मदजलं यस्य तं तथाविधं [पक्षे घना बहवो दानवारयो देवा यस्मिंस्तम्, प्रसारिता उद्दामकराग्रा एव उत्कटकिरणाग्रा एव दण्डा यस्मिंस्तं] पक्षे प्रचण्डाग्रशुण्डादण्डम् ।।३२।। अधिश्रियमिति—चन्दनवृक्षश्रेणीं धारयन्तम् अधिकश्रीकं मेघं स्पृशन्तीम् नवान् सर्पान् दर्पात्तमयूरकेकाभिस्त्रासयन्तीमथ च श्रीखण्डललाटिकां धारयन्तीं प्रगल्भवेश्यामिव, तामपि किं कुर्वन्तीम् । नीरदं निर्गताः पतिता रदा दन्ता यस्य तं तथाभूतं जरन्तमपि यतोऽधिश्रियमधिकलक्ष्मीकं समुपासमानां तरुणान् भुजङ्गान् शिखिनां चेटानां वचनैर्निष्कासयन्तीम्, किंविशिष्टान् तरुणानित्याह—अतिनिष्कलाभान् अतिक्रान्तो निष्कस्य सुवर्णस्य लाभो येभ्यस्तान् निर्द्रव्यानित्यर्थः । प्रगल्भत्वात्तान्मुखेन न निष्कासयति किन्तु दासादिवचनेन[1] ।।३३।। गजेति—आमेखलं नितम्बवासिनो मेघान् बिभ्राणं गर्जितादिभ्रान्तैर्बालसिंहैर्वध्यमानान् नखप्रहारैस्ततो विद्युद्व्याजान्निर्गलितरुधिर-

---

शोभा धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार ऐरावत हाथी विशालदन्त—बड़े-बड़े दाँतोंसे युक्त था उसी प्रकार वह पर्वत भी विशाल दन्त—बड़े-बड़े तट अथवा बड़े-बड़े चार गजदन्त पर्वतोंसे युक्त था, जिस प्रकार ऐरावत हाथी घनदानवारि—अत्यधिक मद जलसे सहित था उसी प्रकार वह पर्वत भी घनदानवारि—बहुत भारी देवोंसे युक्त था और जिस प्रकार ऐरावत हाथी अपने उत्कट कराग्रदण्ड—शुण्डाग्रदण्डको फैलाये हुए था उसी प्रकार वह पर्वत भी अपने उत्कट कराग्र—किरणाग्र दण्डको फैलाये हुए था।। ३२ ।। वह पर्वत चन्दन वृक्षोंकी जिस पंक्तिको धारण कर रहा था वह ठीक प्रौढवेश्याके समान जान पड़ती थी। क्योंकि जिस प्रकार प्रौढवेश्या अधिश्रियं—अधिक सम्पत्तिवाले पुरुषका भले ही वह नीरद—दन्तरहित—वृद्ध क्यों न हो आश्रय करती है उसी प्रकार वह चन्दन वृक्षोंकी पंक्ति भी अधिश्रियं—अतिशय शोभा सम्पन्न नीरद—मेघका आश्रय करती थी—अत्यन्त ऊँची थी और जिस प्रकार प्रौढ वेश्या अतिनिष्कलाभान्—जिनसे धन-लाभकी आशा नहीं है ऐसे नवीन भुजंगान्—प्रेमियोंको शिखिनाम्—शिखण्डियों—हिंजड़ोंके शब्दों द्वारा दूर कर देती है उसी प्रकार वह चन्दन वृक्षोंकी पंक्ति अतिनिष्कलाभान्—अतिशय कृष्ण नवीन भुजंगान्—सर्पोंको शिखिनाम्—मयूरोंके शब्दों द्वारा दूर कर रही थी ।। ३३ ।। वह पर्वत अपनी मेखलापर बिजलीसे सुशोभित जिन मेघोंको धारण कर रहा था वे ऐसे जान पड़ते थे मानो मूर्ख सिंहोंने हाथीके भ्रमसे अपने नखोंके द्वारा उनका विदारण ही किया हो और बिजलीके बहाने उनमें खूनकी

---

१. अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—प्रगल्भवेश्यामिव प्रौढवाराङ्गनामिव चन्दनालीं चन्दनवृक्षश्रेणीं धारयन्तम् । अथोभयोः सादृश्यमाह—अधिका श्रीः शोभा यस्य तं तथाभूतां नीरदं नीरं ददातीति नीरदस्तं मेघम् आश्रयन्तीमुत्तुङ्गत्वेन सेवमानाम्, पक्षे अधिका श्रीः सम्पत्तिर्यस्य तं लक्ष्मीसंपन्नं निर्गता रदा यस्य तं तथाभूतं पतितदन्तं वृद्धमित्यर्थः आश्रयन्तीं रममाणाम् । नवान् नूतनान्, अतिनिष्कला मलिना कृष्णा आभा येषां तान् भुजङ्गान् सर्पान् शिखिनां मयूराणां स्वनैः शब्दैः नुदन्तीं प्रेरयन्तीम्, पक्षेऽतिक्रान्तो निष्कस्य स्वर्णस्य लाभो येभ्यस्तान् निर्द्रव्यान् नवान् तरुणान् भुजङ्गान् विटान् शिखिनां दासानां स्वनैर्वचनैर्नुदन्तीं निष्कासयन्तीम् श्लिष्टोपमा ।

जिनागमे प्राज्यमणिप्रभाभिः प्रभिन्नरोमाञ्चमिव प्रमोदात् ।
[1]समीरणान्दोलदबालतालैर्भुजैरिवोल्लासितलास्यलीलम् ॥३५॥
अकृत्रिमैश्चैत्यगृहैर्जितानां कृतः पवित्रोऽयमिति प्रयत्नात् ।
सुरेश्वरेणानमता प्रदत्तप्रतिष्ठयेवोच्छिरसं महत्या ॥३६॥
विलङ्घ्य पन्थानमथामराणां पतिः स निष्कम्पचमूध्वजाग्रः ।
नितान्तवेगेन तमुत्सुकत्वात्किलागतं संमुखमाससाद ॥३७॥ [इति कुलकम्]
उपेयुषोऽनन्तपथाध्वनीनाननेनसस्ताञ्शिरसा प्रतीच्छन् ।
निरन्तराया विबुधानुवृत्तेः फलं व्यनक्ति स्म तदामराद्रिः ॥३८॥
हरेर्द्विपो हारिहिरण्यकक्षः क्षरन्मदक्षालितशैलश्रृङ्गः ।
बभौ तडिद्दण्डविहारसारः शरत्तडित्वानिव तत्र वर्षन् ॥३९॥
सलीलमैरावणवामनाद्यैर्धृतानि यैरेव गजैर्जगन्ति ।
स्थिरं दधत्तानपि मूर्ध्नि मेरुर्धराधराख्यामधरीचकार ॥४०॥

धारान् ॥३४॥ **जिनेति**—जिनागमप्रमोदादनेकरत्नकिरणाङ्कुरै रोमाञ्चितमिव । प्रकटितनाटचलीलमिव, कैः । वातान्दोलितोत्तालतालैर्भुजरूपैः यदि वा भुजैः किंविशिष्टैः । प्रकटितमानैः ॥३५॥ **अकृत्रिमैश्चैत्येति**—उच्छिरस-मूर्द्धश्रृङ्गं कया । अनन्यसाधारणया महेन्द्रदत्तया महाप्रतिष्ठया । किं कुर्वता महेन्द्रेणेत्याह—नमस्कारं कुर्वता । अकृत्रिमैः कर्तृव्यापारविवर्जितैर्जिनचैत्यालयैरयं पवित्रीकृतः सर्वपूज्य इत्यर्थ इति महेन्द्रनतिहेतुः[2] ॥३६॥ **विलङ्घ्येति**—अथानन्तरमनन्तं गगनपथमतिक्रम्यातिवेगेन चित्रलिखितायमानसेनाध्वजपटो मेरुमस्तकं हरिः प्राप जिनदर्शनश्रद्धालुमिव तथात्युत्सुकत्वात्संमुखागतमिव[3] ॥३७॥ **उपेयुष इति**—तदा मेरुर्विबुधानुवृत्तेः शिष्टाचरणस्य फलं स्वरूपं दर्शयामास । किं कुर्वन्नित्याह—तान् देवान् शिरसा प्रतीच्छन् मस्तके स्थापयन् अनेनसो निष्पापान्·पक्षे·अनन्तेन यथा दूरमार्गेणागतान् ॥३८॥ **हरेरिति**—तदा सुवर्णवस्त्रामण्डितो गलन्मद-जलस्नपितशैलश्रृङ्ग ऐरावतो विद्युन्मालामण्डितशुभ्रशारदाभ्रसदृशः शुशुभे । अत्र विद्युत्कक्षयोः शारदाभ्रैरा-वतयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥३९॥ **सलीलमिति**—मेरुर्धरां पृथ्वीं धरतीत्याख्यामप्रमाणीचकार । न केवलं धरामेव दधाति धराधरानपि दधातीत्यर्थः । किं कुर्वन्नित्याह—यैरेरावतमुख्यैरष्टभिर्दिग्गजैर्भुवनानि धृतानि

धारा ही बह रही हो ॥ ३४ ॥ वह पर्वत उत्तमोत्तम मणियोंकी किरणोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान्का आगमन होनेवाला है अतः हर्षसे रोमांचित ही हो रहा हो और वायुसे हिलते हुए बड़े-बड़े ताड़ वृक्षोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भुजाएँ उठाकर नृत्यकी लीला ही प्रकट कर रहा हो ॥ ३५ ॥ यह पर्वत जिनेन्द्र भगवान्के अकृत्रिम चैत्या-लयोंसे पवित्र किया गया है—यह विचार प्रयत्नपूर्वक नमस्कार करनेवाले इन्द्रने जो इसे बड़ी भारी प्रतिष्ठा दी थी उससे ही मानो वह पर्वत अपना शिर—शिखर ऊँचा उठाये था ॥ ३६ ॥ जिसकी सेनाका ध्वजाग्र अत्यन्त निश्चल है ऐसा इन्द्र मार्ग तय कर इतने अधिक वेगसे उस सुमेरु पर्वत पर जा पहुँचा मानो उत्सुक होनेसे वह स्वयं ही सामने आ गया हो ॥ ३७ ॥ उस समय वह पर्वत आकाशमार्गसे समीप आये हुए निष्पाप देवोंको अपने शिर-पर [शिखरपर] धारण कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो सदासे विबुधों—देवों [पक्षमें विद्वानों] की जो संगति करता आया है उसका फल ही प्रकट कर रहा हो ॥ ३८ ॥ जिसके गलेमें सुवर्णकी सुन्दर मालाएँ पड़ी हैं और जिसके झरते हुए मदसे सुमेरु-पर्वतका शिखर धुल रहा है ऐसा ऐरावत हाथी उस पर्वत पर इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो बिजलीके संचारसे श्रेष्ठ बरसता हुआ शरद ऋतुका बादल ही हो ॥ ३९ ॥ जिन ऐरावत तथा वामन आदि हाथियोंके द्वारा तीनों लोक धारण किये जाते हैं उन हाथियोंको

---

१. समीरणेन वायुना आन्दोलन्तो येऽबालताला महान्तस्ताडतरवस्तैः । २. उत्प्रेक्षा । ३. उत्प्रेक्षा ।

सविक्रमं क्रामति हास्तिके यन्ननाम यो नाम मनागिनरीन्द्रः ।
असंशयं सा जिनभक्तिरेव स्थिरा चकारास्य महाचलत्वम् ॥४१॥
मदेन मूर्धन्यमणिप्रभाभिर्विनिर्गतान्तस्तमसेव गण्डात् ।
निरुद्धदृष्टिप्रसराः सुराणां शनैःशनैर्गन्धगजाः प्रसस्रुः ॥४२॥
हिरण्यभूभृद्‌द्विरदैस्तदानीं मदाम्बुधारास्नपितोत्तमाङ्गः ।
स दृष्टपूर्वोऽपि सुरासुराणामजीजनत्कज्जलशैलशङ्काम् ॥४३॥
मदाञ्जनेनालिखितां गजेन्द्रैः सहेषमुत्क्षिप्तखुराग्रटङ्काः ।
हयाः किलोच्चार्यशिलासु[1] जैनीमिहोत्किरन्ति स्म यशःप्रशस्तिम् ॥४४॥
[2]कुशाञ्चनैः किंचिदवाञ्चितास्याः पुरःप्रविष्टापरकायमश्वाः ।
इह प्लुतोल्लङ्घनवल्गनाद्यैर्मुदेव लास्यं पुरतोऽस्य चक्रुः ॥४५॥

तानप्यज्ञातपरिश्रमं निष्प्रकम्पं मस्तके धारयन्निति ॥४०॥ **सविक्रममिति**—यत्सदर्पोद्धटं हस्तिचक्रे क्रीडति सति न किंचिदपि मेरुश्चकम्पे तदसंशयं निश्चितं मन्ये अस्य जिनं प्रति या निश्चला भक्तिः सैव महाचलत्वं पर्वतेन्द्रप्रतिष्ठां निःप्रकम्पत्वं वा चकार ॥४१॥ **मदेनेति**—मन्दं मन्दं गन्धगजाः प्रचेलुः । किंविशिष्टा इत्याह—निरुद्धो दृष्टिप्रसरो येषां, मदेन कृष्णत्वात्कपोलमध्यविनिर्गतध्वान्तेनेव । कथं निर्गतं तम इत्याह—मूर्धन्यमणिप्रभाभिः मुक्ताकिरणप्रणोदनाभिः । मदान्धा इत्यर्थः ॥४२॥ **हिरण्येति**—हेमभूमिवर्षुकैर्गजैर्मदजलधाराभिः सर्वतः श्यामलितस्तदा हेमाद्रिरनेकशो दृष्टोऽपि देवगणस्याञ्जनगिरिभ्रममुत्पादयामास ॥४३॥ **मदेति**—तदा देवाश्वा रत्नशिलासु जिनयशःप्रशस्तिवर्णावलिं लिपिषूत्कीर्णयांचक्रुः । किंविशिष्टामित्याह—प्रथमतो मदमषीरसेनालिखितां करिभिः । किंविशिष्टा इत्याह—उत्क्षिप्ता आहताः खुराग्रा एव टङ्का यैः । सहेषं हेषारवमिश्रम् । अतश्च हेषारवशब्देनोच्चारं कृत्वोत्किरन्ति ॥४४॥ **कुशाञ्चनैरिति**—अस्य जिनस्य पुरतो हयाप्लुताद्यैर्गतिविशेषैर्नृत्यमिव चक्रुः । किंविशिष्टा इत्याह—वल्गाकर्षणैः स्तोकमात्रं वक्रितमुखाः पूर्वकाये पश्चिमकायप्रवेशं

भी यह पर्वत अपने शिखर पर बड़ी दृढ़ताके साथ अनायास ही धारण कर रहा था इसलिए इसने अपना धराधर नाम छोड़ दिया था—अब वह 'धराधरधर' हो गया था ॥ ४० ॥ हाथियोंका समूह बड़े पराक्रमके साथ इधर-उधर घूम रहा था फिर भी वह पर्वत रंचमात्र भी चंचल नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि जिनेन्द्र भगवान्‌की दृढ़ भक्तिने ही इस पर्वतको महाचल—अत्यन्त अचल [पक्षमें सबसे बड़ा पर्वत] बनाया था ॥ ४१ ॥ देवोंके मदोन्मत्त हाथी नेत्र बन्द कर धीरे-धीरे मद झरा रहे थे । उनका वह काला-काला मद ऐसा जान पड़ता था मानो मस्तकके भीतर स्थित मणियोंकी प्रभाके द्वारा गण्डस्थलसे बाहर निकला हुआ अन्तरंगका अन्धकार ही हो ॥ ४२ ॥ हाथियोंने अपने मदजलकी धारासे जिसका शिखर तर कर दिया है ऐसा वह सुवर्णगिरि यद्यपि पहलेका देखा हुआ था फिर भी उस समय सुर और असुरोंको कज्जलगिरिकी शंका उत्पन्न कर रहा था ॥ ४३ ॥ पर्वतकी शिलाओं पर हाथियोंका मद फैला था और घोड़े हिनहिनाकर उनपर अपनी टापें पटक रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो हाथियोंके द्वारा मदरूपी अंजनसे लिखी हुई जिनेन्द्रदेवकी कीर्तिगाथाको घोड़े ऊपर उठायी हुई टापरूपी टाँकियोंके द्वारा जोर-जोरसे उच्चारण कर उकीर ही रहे हों ॥ ४४ ॥ लगाम खींचनेसे जिनके मुख कुछ-कुछ ऊपर उठे हुए हैं ऐसे घोड़े अपने शरीरका पिछला भाग अगले भागमें प्रविष्ट कराते हुए कभी ऊँची छलाँग भरने लगते थे और कभी तिरछा चलने लगते थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे

१. किलाहार्यशिलासु ख० ग० घ० च० छ० ज० म० । अहार्यः पर्वतस्तस्य शिलासु । २. कशाञ्चनैः घ० प० छ० ।

१६

कृतश्रमा ये नववीथिकासु[1] तुरङ्गमाः [2]साधितपञ्चधाराः ।
इहोच्चनीचं चरणैस्त एव विलङ्घ्य चान्ये नभसीव जग्मुः ॥४६॥
दृढैस्तुरङ्गाग्रखुरप्रहारैरिहोच्छलन्तो ज्वलनस्फुलिङ्गाः ।
बभुर्विभिद्येव महीं विभिन्नफणीन्द्रमौलेरिव रत्नसङ्घाः ॥४७॥
समन्ततः काञ्चनभूमिभागास्तथा रथैश्चुक्षुदिरे सुराणाम् ।
यथा विवस्वद्रथनेमिधारा पथेऽरुणस्यापि मतिभ्रमोऽभूत् ॥४८॥
नितम्बमाघ्राय मदादुदञ्चच्छिरः समाकुञ्चितफुल्लघोणम् ।
अनुव्रजन्तं चमरीं महोक्षमिहारुणत्कष्टमहो महेशः[3] ॥४९॥

यथा स्यादिति संकुचिता इत्यर्थः ॥४५॥ **कृतश्रमा इति**—अन्ये केचित्तुरङ्गाः साधिताः शिक्षिताः धौरितवल्गितौत्तेजितोत्तेरितप्लुतलक्षणाः पञ्चधारा यैस्ते तद्विधाः । यदि वा विक्रम-वल्गित-उपकण्ठ-जव-उपजवाख्याः पञ्चधाराः । पञ्च सान्नाह्यवीथयः । तथाहि—काकं मायूरं जव उपजवश्चेति । चतस्र उपवाह्यवीथयः तथाहि नीचैर्गतं तारौष्ट्रं स्खलितमर्द्धस्खलितं चेति । अन्ये त्वेवमाहुः चतस्रः सान्नाह्यवीथयः । तथाहि ततुरस्रं काकं मायूरमर्द्धमायूरमिति । पञ्च उपवाह्यवीथयः—वल्गनमनीचैर्गतं लङ्घनं धारणं तारौष्ट्रमिति । एतासु नवसु वीथिषु कृताभ्यासाः । उच्च नीचं विलङ्घ्य वेगेन नभसेव गताः ॥४६॥ **दृढैरिति**—इह मेरुशिलासु तुरङ्गमखुराभिघातैरग्निकणा उद्गच्छन्तः शुशुभिरे महाभिघातेन पृथ्वीं भेदयित्वेव शेषमौलिसहस्ररत्नसमूहा इव ॥४७॥ **समन्तत इति**—रथचक्रचक्रैस्तथा सुवर्णभूरजांस्यालोडयांचक्रिरे यथा मेरुपर्यन्तगामिनो रविसारथेरपि चक्रधारामार्गविषये मतिमोहो बभूव । सर्वत्राप्यसंख्या रविरथमार्गसदृशा मार्गा बभूवुरित्यर्थः ॥४८॥ **नितम्बमिति**—वृषभध्वजः कष्टेन निजवाहनं वृषं रुरोध । किंविशिष्टमित्याह—मदान्नितम्बमाघ्रायोद्धृत-

मानो भगवान्‌के आगे आनन्दसे नृत्य ही कर रहे हों ॥ ४५ ॥ पाँच प्रकारकी चालोंको सीखनेवाले जो घोड़े नव प्रकारकी वीथियोंमें चलते समय खेद उत्पन्न करते थे वे ही घोड़े इस सुमेरु पर्वतपर ऊँचे-नीचे प्रदेशोंको अपने चरणों द्वारा पार कर आकाशमें इतने वेगसे जा रहे थे मानो दूसरे ही हों ॥ ४६ ॥ घोड़ोंके अगले खुरोंके कठोर प्रहारसे जो अग्निके तिलगे उछट रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो खुरोंके आघातने पृथिवीका भेदन कर शेषनागका मस्तक भी विदीर्ण कर दिया हो और उससे रत्नोंके समूह ही बाहर निकल रहे हों ॥ ४७ ॥ देवोंके रथोंने सुवर्णमय भूमिके प्रदेशोंको चारों ओरसे इस प्रकार चूर्ण कर दिया था कि जिससे सूर्यके रथके मार्गमें अरुणको भी भ्रम होने लगा था ॥ ४८ ॥ महेश नामक देवकी सवारीका बैल चमरी मृगके नितम्बको सूँघ मदसे शिरको ऊँचा उठा तथा नाकके नथुनोंको फुलाकर जब उसके पीछे-पीछे जाने लगा तब महेश उसे बड़ी कठिनाईसे रोक सका ॥ ४९ ॥

१. वीथयो नवाश्वानां सर्वत्र धारादार्ढ्यार्थाः परिमिताः प्रचारदेशाः । ताश्च तिस्र इत्येके नवेत्यन्ये । तत्रोत्तरपक्षमाश्रित्योक्तं कविना नववीथिकास्विति । यथाह भोजः—'वीथ्यस्तिस्रोऽथ धाराणां लघ्वी मध्योत्तमा क्रमात् । तासां स्याद्धनुषां मानमशीतिर्नवतिः शतम् ॥ श्रेष्ठमध्योत्तमानां तु वाजिनां वीथिकाः स्मृताः । नवानां कथिता वीथ्यो दुष्टानां क्रमणक्रमे ॥ अन्येषामपि सर्वत्र गतिदार्ढ्यार्थमीरिताः ।' 'समोन्नता सा विषमाम्बुकीर्णा शुद्धा नताग्रा तृणवीरुदाढ्या । स्थाणुप्रकीर्णोपलसंप्रकीर्णा पार्श्वोन्नताख्या नवधेति वीथ्यः ॥ सर्ववीथीषु यो वाजी दृढशिक्षासमन्वितः । तेन राजा रणे नित्यं मृगयायां मुदं व्रजेत् ॥' अन्ये तु उरसाल्यादयो गतिविशेषा वीथय इत्याहुः । 'उरसाली वरश्वाली पृथुलो मध्यनामकः । आलीढः शोभनैरङ्गैः प्रत्यालीढस्तथापरः । उपधेनव उक्तं च पादचाली च सर्वगः । निर्दिष्टा वीथयस्त्वेताः ।' इति । २. धारा गतिभेदाः । 'अश्वानां तु गतिधारा विभिन्ना सा च पञ्चधा । आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम् ।' इति वैजयन्ती 'गतयोऽमूः पञ्चधाराः' इत्यमरश्च । अश्वशास्त्रे तु संज्ञान्तरेणोक्ताः 'गतिः पुला चतुष्का च तद्वन्यध्यजवा परा । पूर्णवेगा तथा चान्या पञ्च धाराः प्रकीर्तिताः ॥' ३. महेभः म० छ० ।

द्युयोषितां कर्षितकुन्तलाग्राः स्तनोरुजङ्घाजघनं स्पृशन्तः ।
शनैरभीका इव संविचेरुस्तरङ्गिणीतीरसरोजवाताः ॥५०॥
वियोगनामापि न सोढुमीशं दिवः स्वमुद्यानमिवावतीर्णम् ।
हरिः प्रपेदे सुमनोऽभिरामं वनं स तस्मिन्[1] पृथुपाण्डुकाख्यम् ॥५१॥
अथो जिनेन्द्रानुचराः सुराणामपास्तविस्तीर्णकुथच्छलेन ।
विचित्रकर्मावरणैरशेषैश्चिरादमुच्यन्त मतङ्गजेन्द्राः ॥५२॥
स वारितो मत्तमरुद्द्विपौघः प्रसह्य कामश्रमशान्तिमिच्छन् ।
रजस्वला अप्यभजत्स्रवन्ती रहो मदान्धस्य कुतो विवेकः ॥५३॥
गजो न वन्यद्विपदानदिग्धं पपौ पिपासाकुलितोऽपि तोयम् ।
स्वजीवितेभ्योऽपि महोन्नतानामहो गरीयानभिमान एव ॥५४॥

मुखं चमरीं गामनुगच्छन्तम्[3] ॥४९॥ **द्युयोषितामिति**—तदा नदीतटपद्मगन्धवाता मन्दं मन्दं संचरन्ति स्म निःशङ्का इव । किं कुर्वन्तो निःशङ्का इत्याह—देवाङ्गनानां स्तनभारोरुयुग्मादिकं सर्वाङ्गं संस्पृशन्तो विलुलितालकाः । अन्यो यः कश्चित्परस्त्रीणां कुन्तलाकर्षणाङ्गस्पर्शादिकं करोति स भीरुकः स्याद् वाताश्च न तथा ॥५०॥ **वियोगेति**—तत्र मेरुमस्तके विशालं पाण्डुकनामधेयं सौधर्मेन्द्रो वनमाससाद । अतश्च शक्रविरहं सोढुमसमर्थं निजं स्वर्गवनमिवाग्रतोभूय तत्र संप्राप्तम् ॥५१॥ **अथो इति**—अथानन्तरं देवगजेन्द्रा रत्नकम्बलैर्मुमुचिरेऽनादिसंसारोपार्जितकर्मपटलैरिव पञ्चवर्णत्वान्नानाप्रकारकर्मावरणोपमानम् ॥५२॥ **स इति**—स देवगजसमूहोऽत्यर्थमार्गश्रमोपशममिच्छन् पद्ममकरन्दकर्दमिला नदीर्जगाहे वारितः पानीयात्, निषिद्धः । अथ चोक्तिलेशः—यथा कश्चिन्मदिरामत्तो मदनकष्टोपशान्ति वाञ्छन् ऋतुमतीरपि स्रवन्तीः पुष्पवर्षिणीरपि सिषेवे । अथवा युक्तमेतन्मदान्धस्य विचारो नास्तीति[4] ॥५३॥ **गज इति**—कश्चिद्गजो वन्यकरिमदमिश्रमति-

नदी तटके कमलोंसे सुवासित पवन, कामी पुरुषोंके समान देवांगनाओंके केश खींचते एवं उनके स्तन, ऊरू, जंघा और जघनका स्पर्श करते हुए धीरे-धीरे चल रहे थे ॥ ५० ॥ तदनन्तर इन्द्र फूलोंसे सुन्दर उस विशाल पाण्डुक वनमें पहुँचा जो कि ऐसा जान पड़ता था मानो वियोगका नाम भी न सह सकनेके कारण स्वर्गसे अवतीर्ण हुआ उसका वन ही हो ॥ ५१ ॥ तदनन्तर देवोंके हाथियों परसे बड़ी-बड़ी झूलें उतारकर नीचे रखी जाने लगीं जिससे ऐसा जान पड़ता था कि चूँकि हाथी जिनेन्द्रदेवके अनुचर थे अतः मानो चिरकालके लिए समस्त कर्मावरणोंसे ही मुक्त हो गये हों ॥ ५२ ॥ जिस प्रकार अतिशय कामी मनुष्य निषेध करने पर भी कामशान्तिकी इच्छा करता हुआ रजस्वला स्त्रियोंका भी उपभोग कर बैठता है उसी प्रकार वह देवोंके मत्त हाथियोंका समूह वारितः—जलसे [पक्षमें निषेध करने पर भी] इच्छानुसार थकावट दूर होनेकी इच्छा करता हुआ रजस्वला—धूलियुक्त नदियोंमें जा घुसा सो ठीक ही है क्योंकि मदान्ध जीवको विवेक कहाँ होता है ? ॥ ५३ ॥ चूँकि नदीका पानी

१. तत्र 'ज' पुस्तकं विहाय सर्वत्र 'तत्र' इति पाठः परन्तु तस्मिन् छन्दोभङ्गो भवति । २. कर्माचरणै–घ० म० । ३. स्वभावोक्तिः । ४. अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—मत्ता मदजलयुक्ता ये मरुद्द्विपा देवगजास्तेषामोघः समूहो वारितो जलात् कामं यथेच्छं यथा स्यात्तथा श्रमस्य मार्गकृच्छ्रस्य शान्तिम् इच्छन्नभिलषन् प्रसह्य हठात् रजस्वला अपि पद्मकर्दमयुक्ता अपि स्रवन्तीर्नदीरभजत् सिषेवे इत्यहो आश्चर्यम् । अथवा मदेन दानेनान्धो विचारमूढस्तस्य विवेको हिताहितज्ञानं कुतो भवति । न भवतीति भावः । अत्र यथा कश्चिन्मत्तो जनः प्रसह्य बलात्कारेण कामस्य स्मरस्य श्रमः खेदस्तस्य शान्ति वाञ्छन् वारितोऽपि निषिद्धोऽपि स्रवन्तीः पुष्पवर्षिणी रजस्वला अपि ऋतुमतीरपि स्त्रीः सेवते तद्वदिति भावः । मदेन कामातिरेकेणान्धो विचारविमूढस्तस्य कुतो विवेको भजनीयाभजनीयपरिज्ञानं कुतो भवति । न भवतीति यावत् । अत्र समासोक्त्यार्थान्तरप्रतीतिः ।

करी करोत्क्षिप्तसरोरुहास्योच्छलन्निलीनालिकुलच्छलेन ।
कचेष्विवाकृष्य हठेन यान्तीं बुभोज वामामपि तां स्रवन्तीम् ॥५५॥
अबालशेवालदलान्तरीयं व्युदस्य मध्यं स्पृशति द्विपेन्द्रे ।
तटाग्रभूमिर्जघनस्थलीव जलैरुदप्लावि वनापगायाः ॥५६॥
पयस्युदस्तोरुकरं मिमङ्क्षोर्द्विपाधिपस्योत्पतितं कपोलात् ।
उपर्यलीनां वलयं चकासे सदण्डनीलातपवारणाभम् ॥५७॥
[1]विलासवत्याः सरितः प्रसङ्गमवाप्य विस्फारि-पयोधरायाः[2] ।
गजो ममज्जात्र कुतोऽथवा स्यान्महोदयः स्त्री व्यसनालसानाम् ॥५८॥
दलानि संभोगभरार्पितानि नखक्षतानीव सरोरुहिण्याः ।
दधन्नदाम्भस्तलिनात्कथंचिदवातरल्लब्धरसो[3] महेभः ॥५९॥

तृषितोऽपि जलं न पिबति स्म । महोन्नतानां महान्तश्च ते उन्नताश्च तेषां गजसदृशानामात्मप्राणेभ्योऽपि अभिमान एव गुरुतमः । प्रांया यान्तु न पुनरभिमान इत्यर्थः ॥५४॥ करीति—कश्चित्करी वेगप्रवाहिकां नदीं जगाहे । यथा कश्चिद्वामां लज्जयानभिलषन्तीं नवोढां वा कुन्तलेष्वाकृष्य स्रवन्तीं दर्शितसात्त्विकभावां समुद्विवदनपद्मः पक्षे पद्मगर्भोत्पतितभ्रमरकुलव्याजात् ॥५५॥ अबालेति–जरठशेवालमुत्क्षिप्य गजेन्द्रे मध्यं गाहमाने महाकायपरिणाहप्रणोदितैर्जलैर्वननद्यास्तटस्थलं प्लावितम् । अथ चोक्तिलेशः—शेवालसुकुमार-मध्यवस्त्रमाकृष्य कस्मिंश्चित्कामुके नाभिमूलं स्पृशति सति कस्याश्चिद् वाणिन्याः कामजलैर्जघनस्थलं प्लाव्यते ॥५६॥ पयसीति—ऊर्ध्वशुण्डादण्डस्य सिस्नासोर्गजस्य जलप्लावभयादुड्डीनं कपोलभ्रमरमण्डलं गगने शुशुभे दण्डमण्डितनीलच्छत्रमिव । अत्र शुण्डादण्डयोरतिवलयच्छत्रयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥५७॥ विलासेति—अत्र पक्षिकोलाहलवत्या नद्याः संसर्गं लब्ध्वा बहुलजलधारिण्या गजो ब्रुडितः । यथा कश्चित् कामैकरसिकः पीन-पयोधराया विलासवत्याः कस्याश्चित्संगमं प्राप्य द्रव्येण जीवितेन च विनश्यति । अथवा युक्तमेतत् स्त्रीव्यसनैक-रसिकानां कुतो महानुदयः स्यान्न स्यादित्यर्थः ॥५८॥ दलानीति—पद्मदलचित्रितगात्रो ह्रदसलिलशय्याया

जंगली हाथीके मदसे युक्त था अतः सेनाके हाथीने प्याससे पीड़ित होने पर भी वह पानी नहीं पिया सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंको अपने जीवनकी अपेक्षा अभिमान ही अधिक प्रिय होता है ॥ ५४ ॥ एक हाथीने अपनी सूँड़से कमलका फूल ऊपर उठाया, उठाते ही उसके भीतर छिपे हुए भ्रमरोंके समूह उड़ पड़े उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो वह हाथी प्रतिकूल जाती हुई नदीरूपी स्त्रीके बाल पकड़ जबर्दस्ती उसका उपभोग ही कर रहा हो ॥ ५५ ॥ किसी गजेन्द्रने विशाल शेवालरूप वस्त्रको दूर कर ज्योंही वन नदीके मध्यभागका स्पर्श किया—उसमें अवगाहन किया त्योंही स्त्रीकी जघनस्थलीके समान उसकी तटाग्रभूमि जलसे आप्लुत हो गयी ॥ ५६ ॥ कोई एक हाथी अपनी सूँड़ ऊपर उठा पानीमें गोता लगाना चाहता था, अतः उसके कपोलके भौंरे उड़कर आकाशमें वलयाकार भ्रमण करने लगे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो दण्डसहित नील छत्र ही हो ॥ ५७ ॥ पक्षियोंके संचारसे युक्त [पक्षमें हाव-भावसे युक्त] एवं विशाल जलको धारण करनेवाली [पक्षमें स्थूल स्तनोंको धारण करने-वाली] नदीका [पक्षमें स्त्रीका] समागम पाकर हाथी डूब गया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री-लम्पटी पुरुषोंका महान् उदय कैसे हो सकता है ? ॥ ५८ ॥ कोई एक हाथी जब नदीसे बाहर निकला तब उसके शरीरपर कमलिनीके लाल-लाल पत्ते चिपके हुए थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो संभोग कालमें दिये हुए नखक्षत ही धारण कर रहा हो । वह हाथी रस—

१. वीनां पक्षिणां लासः संचारो विलासः सोऽस्ति यस्याः सा विलासवती तस्याः पक्षे विलासा हावभावादयः सन्ति यस्यास्तस्या विलासवत्याः । २. विस्फारि पयसां बहुलजलानां धरा तस्याः पक्षे विस्फारिणौ पीवरौ पयोधरौ स्तनौ यस्यास्तस्याः । ३. लब्धरसो गृहीतजलः पक्षे प्राप्तरतिरहस्यानन्दः ।

वनेऽत्र सप्तच्छदगन्धदत्तप्रतिद्विपभ्रान्तिविधूतवीतीन्[1] ।
प्रयुज्य सामैव शनैर्गजेन्द्रान् विनिन्युरालानपदं नयज्ञाः ॥६०॥
निषादिने साधुनयप्रयुक्ताः स्वयं स्वकायाकलनाय वारीम् ।
ददुर्महेभाः क्रियते कथं वा जडात्मकैरात्महितप्रवृत्तिः ॥६१॥
खलीनपर्याणमपास्य कृच्छ्रात्सुरैर्मुखारोपितवध्रनद्धाः ।
हयाननाहेषितदत्तकर्णा विनिन्यिरेऽश्वा भुवि वेल्लवाय ॥६२॥
इतस्ततो लोलनभाजि वाजिन्यभिच्युताः फेनलवा विरेजुः ।
तदङ्गसङ्गत्रुटितोरुहारप्रकीर्णमुक्ताप्रकरा इवोर्व्याः ॥६३॥
नदान्मिलच्छैवलजालनीला निरीयुराक्रम्य पयस्तुरङ्गाः ।
दिनोदये व्योम समुत्पतन्तः पयोधिमध्यादिव हारिदश्वाः[2] ॥६४॥

नखक्षतकर्बुर इव कश्चिद्गजो निर्जगाम लब्धरसोऽनुभूतरससर्वस्वः[3] ॥५९॥ वन इति—गजशिक्षाशास्त्रज्ञा अनेक चाटुलालनानि प्रयुज्य बन्धनस्तम्भं गजेन्द्रान्प्रापयामासुः । अस्मिन् मेरुवने सप्तपर्णकपुष्पगन्धस्य समुत्पादितगजभ्रान्त्यावगणिताङ्कुशः सन् ॥६०॥ निषादिन इति—स्वयमेव गजा निजबन्धवरत्रिकामारोहकाय समर्पयामासुः साधुनयप्रयुक्ताः सत्यगजशास्त्रज्ञप्रेरिताः । अथवा मदान्धैर्मूर्खैः स्वस्य हितं चरित्रं न क्रियते किन्तु आत्मक्षयकरमेव ॥६१॥ खलीनेति—कविकादिकमुन्मोच्य मुखनद्धकच्छिकया अश्वा देवैर्भुवि वेल्लनाय चक्रिषिरे कृच्छ्रात्कष्टेन । कष्टं कथमित्याह—हयानना अश्वमुखकिन्नरी तस्या हेषितं तत्र दत्तौ कर्णौ यैः ॥६२॥ इतस्तत इति—वामदक्षिणतो लोलनलालसेऽश्वे तत्प्रान्ते तस्य फेनकणा विरेजिरे । तस्या अश्वस्याङ्गसङ्गत्रुटितनिपतिताः स्थूलमुक्ताफलप्रकरा इव पृथिव्याम् ॥६३॥ नदादिति—लग्नशैवालजालजटिलाः सलिलमवगाह्य तुरङ्गमा नदान्निर्जग्मुः । अतश्च संभाव्यते—प्रभाते गगनाभिमुखं सर्पन्तः समुद्रमध्यान्नीला आदित्याश्वा

जल [पक्षमें संभोगजन्य आनन्द] ग्रहण कर नदीके जलरूपी तल्पसे किसी तरह नीचे उतरा था ॥ ५९ ॥ इस वनमें जहाँ-तहाँ सप्तपर्णके वृक्ष थे । उनके फूलोंसे हाथियोंको शत्रु गजकी भ्रान्ति हो गयी जिससे वे इतने अधिक बिगड़ उठे कि उन्होंने अंकुशोंकी मारकी भी परवाह न की । नीतिके जानकार महावत ऐसे हाथियोंको शान्तिसे समझाकर ही धीरे-धीरे बाँधनेके स्थान पर ले गये ॥ ६० ॥ जिनके साथ उत्तम नीतिका व्यवहार किया गया है ऐसे कितने ही बड़े-बड़े हाथियोंने अपना शरीर बाँधनेके लिए स्वयं ही रस्सी उठा कर महावतके लिए दे दी सो ठीक ही है क्योंकि मूर्ख लोग आत्म-हितमें प्रवृत्ति किस प्रकार कर सकते हैं ? ॥ ६१ ॥ लगाम और पलान दूर कर जो मुखमें लगी हुई चमड़ेकी मजबूत रस्सीसे बाँधे गये हैं ऐसे घोड़े चूँकि किन्नरी देवियोंके शब्द सुननेमें दत्तकर्ण थे अतः पृथिवीपर लोटानेके लिए देवों द्वारा बड़ी कठिनाईसे ले जाये गये थे ॥ ६२ ॥ जब घोड़ा इधर-उधर लोट रहा था यह उसके मुखसे कुछ फेनके टुकड़े निकलकर पृथिवी पर गिर गये थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो उसके शरीरके संसर्गसे पृथिवी रूप स्त्रीके हारके मोती ही टूट-टूटकर बिखर गये हों ॥ ६३ ॥ जिस प्रकार प्रातःकालके समय आकाशकी ओर जानेवाले सूर्यके हरे-हरे घोड़े समुद्रके मध्यसे निकलते हैं उसी प्रकार शरीर पर लगे हुए शेवाल दलसे हरे-हरे दिखनेवाले घोड़े पानी

१. 'वीतिरङ्कुशकर्मणि' । २. हरिदश्वः सूर्यः 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः' इत्यमरः । तस्येमे हारिदश्वाः सूर्यसंबन्धिन इत्यर्थः । ३. यथा कश्चित्कामी कामिन्याः संभोगावसरप्रदत्तानि नखक्षतानि दधानोऽनुभूतरतिरहस्यः कथंचित्तल्पादवतरति तद्वदिति भावः ॥

इह क्षरन्निर्झरवारिहारिण्यनल्पकल्पद्रुणि कल्पनाथः ।
निवेशयामास यथायथं स स्थलाम्बुशाखाचरवाहनानि ॥६५॥

तदादिभूमौ शिशुवत् क्रमाभ्यां सकौतुकं क्रामति नाकिचक्रे ।
बभार दृग्दोषनिषेधयित्रीं यमश्छविं कज्जललाञ्छनस्य ॥६६॥

भूदेव्याः शिरसीव कुन्तलतुलालम्बिद्रुमश्यामले
लीलोत्तंसितकेतकीकिसलयस्योन्मुद्रयन्तीं युतिम् ।
शृङ्गे स्वर्णगिरेः स धूर्जटिजटाजूटाग्रपिङ्गत्विषि
प्रेङ्खत्पाण्डुशिलां कलामिव विधोः कल्पाधिपः प्रैक्षत ॥६७॥

संसारार्तिमिव व्यतीत्य पदवीं शुक्लेन दिग्दन्तिना
ध्यानेनेव महीभृतस्त्रिभुवनस्येवास्य मूर्ध्नि स्थिताम् ।

इव ॥६४॥ इहेति—इह पाण्डुकवने निर्गलन्निर्झरसलिलमनोहरे कल्पवृक्षछायाविताने कल्पनाथः सौधर्मेन्द्रो निजनिजोचितस्थाने स्थलजलशाखाचराणि वाहनानि अतिष्ठिपत् । शाखाचराः पक्षिणः ॥६५॥ तदादीति—देववृन्दे गगनगतिमुत्सृज्य तत्प्रथमं कौतुकेन पादाभ्यां रमणीयमेकभूमौ चलति सति बालकवत् । ततश्च कज्जलपुञ्जश्यामलस्य यमस्य कालिमा चक्षुर्दोषनिराकरणायेव राजते । कज्जललाञ्छनस्य मषीतिलकस्य[1] ॥६६॥ भूदेव्या इति—पाण्डुकनामधेयां शृङ्गे शक्रः शिलां ददर्श । वसुधावध्वाः शिरसि मस्तके कुन्तलसदृशप्रलम्बवृक्षकृष्णे लीलोत्तंसीकृतकेतकीदलस्याकृतिं दर्शयन्तीमथवा धूर्जटेरीश्वरस्य पिङ्गकपर्दसदृशे चन्द्रकलामिव । अत्र केतकीदलसदृशी अर्द्धचन्द्राकारा योजनशतदीर्घा पञ्चाशद्योजनविस्तारा योजनाष्टपिण्डा पाण्डुकशिला[2] ॥६७॥ संसारार्तिमिवेति—तामर्द्धचन्द्रसदृशीं शिलां प्राप्य महेन्द्रो हृष्टो बभूव । अनन्तां पदवीं मार्गं शुभ्रैरावतगजेनातिक्रम्य कैवल्यशिलां शुक्लध्यानेन संसारार्तिं व्यतिक्रम्य जिननिरतो यतिर्यथा निर्वृतो

चीरकर नदीके बाहर निकले ॥ ६४ ॥ चूँकि यह वन झरते हुए झरनोंके जलसे सुन्दर तथा बहुत भारी कल्पवृक्षोंसे युक्त था अतः स्थल, जल और शाखाओंपर चलनेवाले वाहनोंको इन्द्रने उनकी इच्छानुसार यथायोग्य स्थान पर ही ठहराया था ॥ ६५ ॥ उस वनकी प्रथम भूमिमें देवोंका समूह कौतुकवत् बालकके समान पैरोंसे प्रवेश कर रहा था उन सबमें जो काला-काला यमराज था वह दृष्टि-दोषको दूर करनेवाले काजलके चिह्नकी शोभा धारण कर रहा था ॥ ६६ ॥ तदनन्तर महादेवजीके जटा-जूटके अग्रभागके समान पीली कान्तिको धारण करनेवाले उस सुवर्णाचलके शिखर पर इन्द्रने चन्द्रमाकी कलाके समान चमचमाती हुई वह पाण्डुकशिला देखी जो कि ऐसी जान पड़ती थी मानो चूर्ण कुन्तलोंके समान सुशोभित वृक्षोंसे श्यामवर्ण पृथिवी देवीके सिर पर लीलावश लगाये हुए केतकीके पत्रकी शोभा ही प्रकट कर रही हो ॥ ६७ ॥ जिस प्रकार अर्हद्भक्त व्रती शुक्लध्यानके द्वारा संसारकी व्यथाको पार कर त्रिभुवनके शिखरपर स्थित सिद्ध शिलाको पाकर सुखी हो जाता है उसी प्रकार वह इन्द्र

१. बालकस्यापि मुखादिषु दृष्टिदोषनिवारणाय कज्जलबिन्दुं कुर्वन्ति । २. शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ।

तां कैवल्यशिलामिवार्धरजनीप्राणाधिनाथाकृतिं[1]
प्राप्यार्हन्निरतो व्रतीव समभूदाखण्डलो निर्वृतः[2] ॥६८॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
पाण्डुकवनवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

भवति। अत्र संसारदुःखमार्गयोः शुक्लध्यानैरावतयोर्मेरुत्रिभुवनयोः पाण्डुकशिलामोक्षशिलयोर्व्रत्याखण्डलयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥६८॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविराचितायां संदेहध्वान्त-
दीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां सप्तमः सर्गः ॥७॥

शुक्लवर्ण ऐरावत हाथीके द्वारा माग पार कर इस सुमेरु पर्वतके शिखरपर स्थित अधचन्द्राकार पाण्डुक शिलाको पाकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ ॥ ६८ ॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्रविरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें पाण्डुकवनका
वर्णन करनेवाला सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।.७॥

---

१. अर्द्धचन्द्राकृतिम् । २. निर्वृतः क० । निर्वृतो मुक्तः संतुष्टश्च ।

अष्टमः सर्गः

अथ सरभसमस्यां न्यस्तविस्तीर्णभास्वन्—
मणिमयहरिपीठं निर्भरोत्साहयोगः।
शरभमिव हिमाद्रेरभ्रमातङ्गकुम्भा-
ज्जिनपतिमवतार्य स्थापयामास जिष्णुः ॥१॥

मदनभिदमधास्यन्नूनमेनं न मूर्ध्ना
यदि कथमपि शेषस्तच्छिलापद्मवेषः।
अपि मृदुलमृणालीकोमलस्तद्दुरापां
स कथमितरथाप्स्यत्क्ष्माभरोद्धारकीर्तिम् ॥२॥

किमतनुतरपुण्यैः स्विद्यशोभिः स्वयं वा
निजसमयसमेतैरूर्मिभिः क्षीरसिन्धोः।
इति सुरपरिपाट्या [1]शङ्क्यमानैः शिलायाः
शिरसि सितमयूखैः श्लिष्यमाणः स रेजे ॥३॥

अथेति—अथानन्तरं ससंभ्रममस्यां शिलायां रचितविस्तीर्णदेदीप्यमानरत्ननिर्मितसिंहासने ऐरावताद्दुत्तीर्य जिनेश्वरं न्यवीविशत् हिमालयशृङ्गादष्टापदमिव निर्भरोत्साहयोगः अतिप्रमोदोद्यमयुक्तो महेन्द्रः[2] ॥१॥ **मदनेति**—कोमलविसलतासुकुमाराङ्गः शेषो भूमिभारोद्धरणप्रसिद्धिं कथमलप्स्यत अन्येन प्रकारेण। यदि किं नाकरिष्यदित्याह—यद्येनं जिनेश्वरं पाण्डुकशिलाकमलवेषधारी नावक्ष्यत्। पाण्डुकशिलारूपेण प्रथमतः शेषेण जिनः शिरसा धृतः। तत्पुण्यप्रभावाद्भूभारोद्धारे। शक्यसंभावनायामपि तत्प्रसिद्धिरभूदिति तात्पर्यार्थः। शेषभोगवत् शुभ्रा शिलेति कथितम् ॥२॥ **किमिति**—तस्याः स्फटिकशिलाया धवलकिरणैराश्लिष्यमाणः स जिनः शुशुभे देवसमूहैरिति तर्क्यमाणः। कथमित्याह—मूर्तिमद्भिरत्युपचितैः प्रचुरतरपुण्यैराहोस्वित्स्वयमेव संघटमानैर्निर्मलकीर्तिकल्लोलैरुतस्विन्निजसेवावसरं ज्ञात्वा मिलितैर्दुग्धाब्धिकल्लोलैरिति।

तदनन्तर इन्द्रने बड़ी शीघ्रताके साथ हिमालयके समान उत्तुंग ऐरावत हाथीके मस्तकसे अष्टापदकी तरह श्रीजिनेन्द्रदेवको उतारकर बड़े ही उत्साहके साथ इस पाण्डुक शिला पर रखे विस्तृत एवं देदीप्यमान मणिमय सिंहासनपर विराजमान किया॥ १॥ यदि बालमृणालके समान कोमल शरीरको धारण करनेवाला शेषनाग किसी तरह उस पाण्डुक शिलाका वेष रख इन मदन विजयी जिनेन्द्रदेवको धारण नहीं करता तो वह अन्य प्रकारसे समस्त पृथिवीका भार उठानेकी कीर्ति कैसे प्राप्त कर सकता था जब कि वह उसे अत्यन्त दुर्लभ थी ॥ २॥ क्या यह विशाल पुण्य है? अथवा यश है? अथवा अपने अवसर पर उपस्थित हुई क्षीरसमुद्रकी लहरें हैं?—इस प्रकार जिनके विषयमें देवोंको सन्देह उत्पन्न हो रहा है ऐसी पाण्डुक शिलाकी जो सफेद-सफेद किरणें भगवान्के सिरपर पड़ रही थीं उनसे वह बहुत ही

१. शङ्कमानैः घ० म०। २. मालिनीवृत्तम् 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति लक्षणात्। उपमालंकारः।

अनुगुणमनुभावस्यानुरूपं विभूतेः
समुचितमनुवृत्तेर्देशकालानुकूलम् ।
अविकलमकलङ्कं निस्तुलं तस्य भर्तुः
स्नपनविधिममर्त्याः प्रारभन्ते स्म तस्मिन् ॥४॥
अवकरनिकुरम्बे मारुतेनापनीते
कुरुत घनकुमाराः साधुगन्धोदवृष्टिम् ।
तदनु च मणिमुक्ताभङ्गरङ्गावलीभि-
र्विरचयत चतुष्कं सत्वरं दिक्कुमार्यः ॥५॥
स्वयमयमिह धत्ते छत्रमीशाननाथ-
स्तदनुगतमृगाक्ष्यो मङ्गलान्युत्क्षिपन्तु ।
जिनसविधममर्त्या नर्तिता बालवाल-
व्यजनविधिसनाथाः सन्तु सानत्कुमाराः ॥६॥
वलिफलकुसुमस्रग्गन्धधूपाक्षताद्यैः
प्रगुणयत विचित्राण्यत्र[1] पात्राणि देव्यः ।
सलिलमिह [2]पयोब्धेरेष्यति व्यन्तराद्याः
पटुपटहमृदङ्गादीनि तत्सज्जयन्तु ॥७॥

धवलैकगुणाश्रितेयम् । अनेकोपमालंकृतिः ॥३॥ **अनुगुणमिति**—तस्य जिनस्य चतुर्णिकायसुरेन्द्रास्तस्मिन् मेरुमस्तकेऽभिषेकविधिं प्रारेभिरे । किंविशिष्टमित्याह—निजप्रभावसदृशमष्टमहासिद्धिलक्षणाया विभूतेरनुरूपं योग्यमनुवृत्तेर्जिनभक्तेः समुचितं देशस्य मेरुमस्तकलक्षणस्य चतुर्थकालस्यानुकूलं संघटयमानमविकलं सर्वसामग्रीपरिपूर्णमकलङ्कं निर्दूषणं निस्तुलं निरुपमानम् । स्वभावोक्तिरलंकारः ॥४॥ **अवकरेति**—इन्द्रादेशाद्धनदप्रतीहारः सुरसार्थमुवाचेति पञ्चभिः संबन्धः । कचवारपटले वातकुमारैर्निर्णाशिते सति हे मेघकुमाराः ! यूयं रजःपटलशमनार्थं दिव्यगन्धोदकं वर्षतेति । पश्चाद् विशुद्धमुक्ताफलभङ्गीविशेषैर्देवकुमार्यः स्वस्तिकान् विरचयत निर्मापयत सत्वरं शीघ्रम् ॥५॥ **स्वयमिति**—अत्र जन्माभिषेकमहोत्सवे स्वयमीशानेन्द्रश्छत्रं धत्ते तस्येशानेन्द्रस्य देवाङ्गना अष्टौ दर्पणादीनि मङ्गलद्रव्याणि धारयन्तु । एते तु सनत्कुमारकल्पवासिनो देवा जिनसमीपे चालितचारुचामरनियोगाधिष्ठिता भवन्तु ॥६॥ **बलिफलेति**—अन्याप्सरसोऽष्टविधैः पूजाद्रव्यैः संभृतानि पात्राण्यासूत्रयन्तु । जलं दुग्धाब्धेरागमिष्यति । व्यन्तरज्योतिष्कभवनवासिनश्च देवा

अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥ ३ ॥ देवोंने वहाँ भगवान्की वह अभिषेक विधि प्रारम्भ की जो कि उनके प्रभावके अनुकूल थी, वैभवके अनुरूप थी, अपनी भक्तिके योग्य थी, देश कालके अनुरूप थी, स्वयं पूर्ण थी, अनुरूप और निर्दोष थी ॥ ४ ॥ हे मेघकुमारो ! इधर वायुकुमारने कचड़ेका समूह दूर कर दिया है अतः आप लोग अच्छी तरह सुगन्धित जलकी वर्षा करो और उसके बाद ही दिक्कुमारी देवियाँ मणियों और मोतियोंके चूर्णकी रंगावलीसे शीघ्र ही चौक बनावें ॥ ५ ॥ इधर ऐशानेन्द्र स्वयं छत्र धारण कर रहा है, उसके साथकी देवियाँ मङ्गल-द्रव्य उठावें और ये सनत्कुमार स्वर्गके देव भगवान्के समीप बड़े-बड़े चंचल चमर लेकर खड़े हों ॥ ६ ॥ इधर ये देवियाँ नैवेद्य, फल, फूल, माला, चन्दन, धूप, अक्षत आदिसे नाना प्रकारके पात्रोंको सजावें और चूँकि यहाँ क्षीरसमुद्रसे जल आवेगा अतः व्यन्तर आदि

१. -ण्यन्न—घ० म० । २. पयोधे- घ० म० ।

प्रवणय वरवीणां वाणि रीणासि कस्मात्-
किमपरमिह ताले [1]तुम्बुरो त्वं वरोऽसि ।
इह हि भरत रङ्गाचार्य विस्तार्य रङ्गं
त्वरयसि नटनार्थं किं न रम्भामदम्भाम् ॥८॥
समुचितमिति कृत्यं जैनजन्माभिषेके
त्रिदशपतिनियोगाद् ग्राहयन्नाग्रहेण ।
कलितकनकदण्डोद्दण्डदोर्दण्डचण्डः
सुरनिवहमवादीद् द्वारपालः कुबेरः ॥९॥ [कुलकम्]
बहलमलयजन्मोन्मिश्रकर्पूरपांसु-
प्रसरपरिमलान्धाः श्रेणयः षट्पदानाम् ।
जिनपतिमभिषेक्तुं वाञ्छतां त्रुटयदेनो-
निगलवलयतुल्या निर्लुठन्ति स्म तस्मिन् ॥१०॥
[2]अयमतिशयवृद्धो [3]निम्नगानामधीशः
कथमिममधिरोहत्वम्बुनाथो नगेन्द्रम् ।
इति तमुपरि मेरोर्नेतुमुत्क्षिप्य देवाः
कलितकनककुम्भामारभन्ते स्म पङ्क्तिम् ॥११॥

मृदङ्गपटहादीन् प्रगुणयन्तु ॥७॥ प्रवणयेति—हे सरस्वति ! किं खिन्नेव दृश्यसे । कथं वीणां न प्रवणयसि । हे तुम्बुरो ! तालकलायां त्वमेव वरः प्रवीणः । इह हीति इहार्थे, हे भरत ! रङ्गाचार्य ! रङ्गं सूत्रयित्वा रम्भां नृत्यार्थं कथं न प्रेरयसि । अदम्भां नृत्यकलाकौशलसत्याम् ॥८॥ समुचितमिति—इति तत्कालोचितं गम्भीरध्वनिनादरेण ग्राहयन् कनकदण्डमण्डितभुजदण्डो देवेन्द्रादेशात् धनदो देवगणं साक्षेपमादिदेश ॥९॥ बहलेति—तदा हरिचन्दनमिश्रकर्पूरपरागप्रसरपरिमलान्धा भ्रमरश्रेणयो भ्राम्यन्ति जिनं सिस्नापयिषतां जनानां तत्कालविगलितपापश्रृङ्खलासदृशानि पतन्ति स्मेव ॥१०॥ अयमिति—देवाः क्षीरसमुद्रं यावत् श्रेणीं रचयांचक्रुः कलितकनककुम्भां हस्तगृहीतस्वर्णकलशाम् । किमर्थमित्याह—तं क्षीरसमुद्रं जिनाभिषेकार्थं मेरोः शिरसि नेतुं यतोऽयमतिशयवृद्धोऽदृष्टपरपारोऽधोगामिनीनां स्वामी । अधो जलचरविशेषस्तस्याधारः । अथ च

देव उत्तम नगाड़े, मृदङ्ग आदिको ठीक करें ॥ ७ ॥ हे वाणि ! अपनी वीणा ठीक करो, उदास क्यों बैठी हो ? हे तुम्बुरो ! तुमसे और क्या कहूँ ? तुम तालमें बहुत निपुण हो और हे रङ्गाचार्य भरत ! तुम रंगभूमिका विस्तार कर निष्कपट रम्भाको नृत्यके लिए शीघ्र प्रेरित क्यों नहीं करते ? ॥ ८ ॥ इस प्रकार धारण की हुई सुवर्णकी छड़ीसे जिसका बलशाली भुजदण्ड और भी अधिक तेजस्वी हो गया है ऐसा द्वारपाल कुबेर इन्द्रकी आज्ञासे जिनेन्द्रदेवके जन्माभिषेकका कार्य योग्यतानुसार देवोंको सौंपता हुआ देवसमूहसे कह रहा था ॥ ९ ॥ उस समय अत्यधिक चन्दनसे मिली कर्पूर-परागके समूहकी सुगन्धिसे अन्धे भ्रमरोंकी पंक्तियाँ जहाँ-तहाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक करनेकी इच्छा करनेवाले देवोंकी टूटती हुई पापरूप बेड़ियोंके कड़े ही हों ॥ १० ॥ यह अतिशय विशाल [पक्षमें अत्यन्त बूढ़ा] एवं नदियोंका स्वामी [पक्षमें नीचे जानेवालोंमें श्रेष्ठ] समुद्र इस पर्वत पर कैसे चढ़ सकता है ? यह विचार उसे उठाकर सुमेरु पर्वतपर ले जानेके लिए ही

१. तुम्बरो घ० म० । २. अतिशयेन वृद्धो विस्तृतः पक्षे अतिशयेन वृद्धः स्थविरः । ३. निम्नगानां नदीनां पक्षेऽधोगामिनामधीशः स्वामी श्रेष्ठ इति यावत् ।

अभिनवमणिमुक्ताशङ्खशुक्तिप्रवाल-
प्रभृतिकमतिलोलैर्दर्शयन्नूर्मिहस्तैः ।
जडजठरतयैक्षि [१]व्याकुलान्मुक्तकच्छः
स्थविरवणिगिवाग्रे स्वर्गिभिः क्षीरसिन्धुः ।।१२।।
उपचितमतिमात्रं वाहिनीनां सहस्रैः
पृथुलहरिसमूहैः क्रान्तदिक्चक्रवालम् ।
अकलुषतरवारिक्रोडमज्जन्महीध्रं
नृपमिव विजिगीषुं मेनिरे ते पयोधिम् ।।१३।।
अनुगतभुजगेन्द्रान्मन्दराद्रीनिवोच्चै-
र्दधतममलमुक्तामालिनः स्वर्णकुम्भान् ।
सुरनिकरमुपेतं वारिधिर्वीक्ष्य भूयो-
ऽप्यतिमथनभियेव व्याकुलोर्मिश्चकम्पे ।।१४।।

अत्यन्तवृद्धोऽधोगमनैकशीलो लोचनहीनो यथा साधर्मिकैरुत्थाप्य जिनालयं नीयते ।।११।। **अभिनव इति**—देवैः क्षीरसिन्धुरीक्षांचक्रे वृद्धो हट्ट किराट इव । कथं किराटत्वमित्याह—अभिनवमणिमौक्तिकशङ्खशिप्रा-विद्रुमप्रभृतीनि विक्रेयद्रव्याणि कम्पमानैर्दीर्घकल्लोलकरैः प्रसारयन् जडजठरतया सलिलपूर्णागाधमध्यभावेन व्याकुलान् कल्लोलचापलान् मुक्तकच्छस्तटनिक्षिप्तकूर्मः पक्षे स्थूलोदरभावेन शिथिलान्तरीयोऽदत्तकच्छः ।।१२।। **उपचितमिति**—ते देवाः क्षीराब्धिं सार्वभौममिव शशङ्किरे । सेनानां नदीनां च सहस्रैः संभृतं, व्याप्तदिङ्मण्डलं प्रबलकल्लोलसमूहैः पक्षे पृथुलैरश्वसमूहैः, निर्मलतरसलिलमध्यमग्नपर्वतं पक्षे निशाततरवारिनिपातितशत्रुसंघातम् ।।१३।। **अनुगतेति**—मुक्तामालामण्डनान् स्वर्णकलशान् बिभ्राणं सुरसार्थमवलोक्योत्ताल-

मानो देवोंने सुवर्णके कलश धारण करनेवाली पंक्ति बनाना शुरू की थी ।। ११ ।। देवोंने अपने आगे वह क्षीरसमुद्र देखा जो कि ठीक उस वृद्ध व्यापारीके समान जान पड़ता था जो कि काँपते हुए तरंगरूप हाथोंसे नये-नये मणि, मोती, शंख, सीप तथा मूँगा आदि दिखला रहा था, स्थूल पेट होनेसे जो व्याकुल था [पक्षमें जलयुक्त होनेसे पक्षियों द्वारा व्याप्त था] और इसी कारण जिसकी काँछ खुल गयी थी [पक्षमें जिसका जल छलक-छलककर किनारेसे बाहर जा रहा था अथवा किनारेपर जिसने कछुआको छोड़ रखा था] ।। १२ ।। देवोंने उस समुद्रको विजयाभिलाषी राजाकी तरह माना था क्योंकि जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा हजारों वाहिनियों—सेनाओंसे युक्त होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी हजारों वाहिनियों—नदियोंसे युक्त था, जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा पृथुलहरि समूह—स्थूलकाय घोड़ोंके द्वारा दिङ्मण्डलको व्याप्त करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी पृथुलहरिसमूह—बड़ी-बड़ी लहरोंके समूहसे दिङ्मण्डलको व्याप्त कर रहा था और जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा अकलुषतरवारिक्रोडमज्जन्महीध्र—अपनी उज्ज्वल तलवारके मध्यसे अनेक राजाओंका खण्डन करनेवाला होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अकलुषतरवारिक्रोडमज्जन्महीध्र—अत्यन्त निर्मल जलके मध्यमें अनेक पर्वतोंको डुबानेवाला था ।। १३ ।। देव लोग निर्मल

१. व्याकुलो ख० ग० घ० म० च० छ० ज० । २. अस्येदं सुगमं व्याख्यानम्—ते देवास्तं पयोधिं क्षीरसागरं विजिगीषुं विजयाभिलाषिणं नृपमिव मेनिरे । अथोभयोः सादृश्यमाह—पयोधिपक्षे वाहिनीनां नदीनां सहस्रैरतिमात्रं प्रभूततरम् उपचितं वृद्धिगतं पक्षे वाहिनीनां सेनानां सहस्रैरतिमात्रमुपचितं, पृथुलहरीणां स्थूलतरङ्गाणां समूहैः क्रान्तदिक्चक्रवालं व्याप्ताशामण्डलं पक्षे पृथुलाः स्थूला ये हरयोऽश्वास्तेषां समूहैः व्याप्तदिङ्मण्डलम् । अकलुषतरेऽतिशयेन स्वच्छे वारिक्रोडे जलमध्ये मज्जन्तो ब्रुडन्तो महीध्राः पर्वता यस्मिंस्तं पक्षे अकलुषस्य उज्ज्वलस्य तरवारेः कृपाणस्य क्रोडे मध्ये मज्जन्तः खण्डिनीभवन्तो महीध्रो राजानो यस्य तम् ।।१३।।

उदधिनिहितनेत्रान्वीक्ष्य वाग्विभ्रमाणां
निधिरमृतभुजस्तान्पालकः केलिपात्रम् ।
विहितमुदमवोचद्वाचमेतामनुक्तो-
ऽप्यवसरमुखरत्वं प्रीतये कस्य न स्यात् ॥१५॥
नियतमयमुदञ्चद्वीचिमालाछलेनो-
च्छलति जलदमार्गे ज्ञातजैनाभिषेकः ।
तदनु जडतयोच्चैर्नाधिरोढुं समर्थः
पतति पुनरधस्तात्सागरः किं करोतु ॥१६॥
प्रशमयितुमिवार्तिं दुर्वहामौर्ववह्ने-
र्यदधिरजनि चान्द्रीः शीलयामास भासः ।
तदयमिति मतिर्मे क्षीरसिन्धुर्जनाना-
मजनि हृदयहारी हारनीहारगौरः ॥१७॥
द्विरदतरुतुरङ्गश्रीसुधाकौस्तुभाद्याः
कति कति न ममार्था हन्त धूर्तैर्गृहीताः ।
इति मुहुरयमुर्वीं ताडयन्नूर्मिहस्तै-
र्ग्रहिल इव विरावैः सागरो रोरवीति ॥१८॥

कल्लोलमालाभिः समुद्रो भयेनेव कम्पं दधौ । किं भयकारणमित्याह—नेत्रीकृतशेषाहिवेष्टितान् सहस्रसंख्यान् मन्दरपर्वतानिव । अतश्च पुनरप्यनेकमन्दरमथनभयेनेव ॥१४॥ उदधीति—ततः समुद्रालोकनविस्मितान् देवगणान् तान् पालकनामा क्रीडापात्रं चाटुवचनानां निधिः समोदां वाणीमभाषिष्ट एतां वक्ष्यमाणाम् अनालपितोऽपि । सत्यमेतत्—अवसरे वाचाटतापि कस्य प्रीतिहेतवे न स्यात् । ॥१५॥ नियतमिति—निश्चितमहमेवं मन्ये उल्लसत्कल्लोलव्याजेनासौ जलनिधिर्मेरुमस्तकं जिनमहोत्सवे जिगमिषति ततोऽसौ गगनमार्गे कल्लोलैरुल्लसति पुनरपि जलभारेण तथैव निपतति ॥१६॥ प्रशमयितुमिति—अन्तर्जाज्वल्यमानवडवाग्निदुःसहतापपीडाशमनार्थमिव याश्चन्द्रकला उपजीवयांचकार ततोऽहं वितर्कयामि–तेनायं जनमनोहारी मुक्ताहिमगौरो बभूव ॥१७॥ द्विरद इति—विरावैः जलपक्षिकोलाहलैः करुणास्वरैर्वा समुद्र आक्रन्दति कल्लोललक्षणैर्दीर्घहस्तैर्भूमिघातं कुर्वन् धृतविचित्तबाल इव । किमर्थं रोरवीत्याह—ऐरावणोच्चैःश्रवणकल्पवृक्षलक्ष्मीपीयूषकौस्तुभमणिप्रभृतयः के के मे पदार्थाः अनन्यसाधारणा धूर्तैर्देवदानवैः कष्टं मथित्वा न

मोतियोंकी मालाओंसे युक्त जिन बड़े-बड़े सुवर्ण कलशोंको लिये थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शेषनागसे सहित मन्दरगिरि ही हों। उन कलशोंको लेकर जब देव समुद्रके पास पहुँचे तब उन्हें देख चंचल तरंगोंके बहाने समुद्र इस भयसे ही मानो काँप उठा कि हमारा फिरसे भारी मन्थन होनेवाला है ॥ १४ ॥ वचन वैखरीके भाण्डार पालक नामक कौतुकी देवने जब देखा कि इन सब देवोंकी दृष्टि समुद्रपर ही लग रही है तब वह आदेशके बिना ही निम्नलिखित आनन्ददायी वचन बोलने लगा सो ठीक ही है क्योंकि अवसर पर अधिक बोलना किसे अच्छा नहीं लगता ॥ १५ ॥ निश्चित ही यह समुद्र जिनेन्द्र भगवान्‌के अभिषेकका समय जानकर उछलती हुई तरंगोंके छलसे आकाशमें छलाँग भरता है परन्तु स्थूलताके कारण [पक्षमें जलरूपताके कारण] ऊपर चढ़नेमें असमर्थ हो पुनः नीचे गिर पड़ता है बेचारा क्या करे ॥ १६ ॥ मेरा तो ऐसा खयाल है कि चूँकि इस क्षीरसमुद्रने वड़वानलकी तीव्र पीड़ाको शान्त करनेके लिए रात्रिके समय चन्द्रमाकी किरणोंका खूब पान किया था इसलिए ही मानो वह मनुष्योंके हृदयको हरनेवाला हार और बर्फके समान सफ़ेद हो गया है ॥ १७ ॥ ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा घोड़ा, लक्ष्मी, अमृत तथा कौस्तुभ आदि मेरे कौन-कौन पदार्थ

पवनजववशेनोत्पत्य दूरं पतन्तो
जलधिजलतरङ्गाः कम्बुकिर्मीरभासः ।
उपरि विततमुक्तासंग्रहोत्तालबुद्धया
झटिति कलिततारामण्डला वा विभान्ति ।।१९।।

[1]घनतरतरुणाढ्येनात्र देशेन केना-
[2]प्यतिगुरुगिरिणा वा दुर्निवारप्रचाराः ।
स्वयमिममभिसस्रुर्यत्समस्ताः स्रवन्त्यो
निरुपममिदमस्मादस्य सौभाग्यमब्धेः ।।२०।।

अयमुपरि सविद्युत्तोयमादातुमब्धे-
र्व्यतिषजति तमालश्यामलो वारिवाहः ।
तुहिनकिरणकान्तं कान्तया श्लिष्यमाणः
शिशयिषुरिव शौरिः शेषपर्यङ्कपृष्ठम् ।।२१।।

गृहीता अपितु गृहीता एवेति स्मारं स्मारं मुह्यन् ।।१८।। **पवनेति**—वातवेगवशेन समुद्रकल्लोला गगने दूर-मूर्ध्वं गत्वा शीघ्रं पतन्तो वितर्यन्ते–किमर्थमुत्पतन्तीत्याह–गगनतले विक्षिप्तमुक्ताफलसंग्रहत्वरिताभिप्रायेण पश्चादासन्नतया तारामण्डलमिति ज्ञात्वा विलक्ष्य झगिति व्याघुटन्ति ।।१९।। **घनतरेति**—अस्य समुद्रस्य सौभाग्यमस्माद् दृष्टप्रत्ययान्निरुपमम् । कस्मात्प्रत्ययादित्याह—यत्सर्वा अपि नद्य एनं स्वयमेवाभिजग्मुः । किंविशिष्टाः । अनिषेध्यप्रसराः, केन । प्रचुरतरवृक्षेण समृद्धेन देशेन अत्युच्चैस्तरेण महता पर्वतेन वा पक्षे घनतरैः प्रचुरैस्तरुणैर्युवभिराढ्येन महता गुरुगिरिणा गुरुपित्रादिना वा । स्रवन्त्यः कामद्रवार्द्राः कामिन्यो यथा कंचित्सुभगमाश्रयन्ति ।।२०।। **अयमिति**—अयं विद्युन्मालामण्डनो जलं गृहीतुं तमालवृक्षनीलो मेघ उपरिष्टादवतरति स्वर्णप्रभाभासुरया लक्ष्म्यालिङ्ग्यमानो [[3]मुरारिः शयितुमिच्छुः शशिसुन्दरं शेषपर्यङ्काभोगमिवे]

इन धूर्तोंने नहीं छीन लिये हैं ? इस प्रकार तरंग रूप हाथोंके द्वारा पृथ्वीको पीटता हुआ यह समुद्र पागलकी भाँति पक्षियोंके शब्दके बहाने मानो रो ही रहा है ।। १८ ।। शंखों द्वारा चित्र-विचित्र कान्तिको धारण करनेवाली ये समुद्रके जलकी तरंग वायुके वेगवश बहुत दूर उछलकर जो नीचे पड़ रही हैं वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो आकाशमें फैले ताराओंको मोती समझ उनका संग्रह करनेके लिए ही उछल रही हों और लौटते समय तैरते हुए शंखोंके बहाने मानो ताराओंके समूहको लेकर ही लौट रही हों ।। १९ ।। अत्यन्त सघन वृक्षों और बड़े-बड़े पर्वतोंसे युक्त [पक्षमें तरुण पुरुष और गुरुजनोंसे युक्त] किसी भी देशके द्वारा जिनका प्रचार नहीं रोका जा सका ऐसी समस्त नदियाँ [पक्षमें स्त्रियाँ] अपने-आप इसके पास चली आ रही हैं अतः इस समुद्रका यह अनुपम सौभाग्य ही समझना चाहिए ।। २० ।। इधर देखो, यह बिजली सहित तमालके समान काला-काला मेघ जल लेनेके लिए समुद्रके ऊपर आ लगा है जो ऐसा जान पड़ता है मानो चन्द्रमाके समान सुन्दर शेषनागके पृष्ठपर

---

१. घनतराः अतिशयेन सान्द्रास्तरवो वृक्षा यस्मिंस्तेन घनतरुणाः, आढ्येन समृद्धेनेति पृथग्विशेषणद्वयं देशस्य पक्षे घनाश्च ते तरुणाश्चेति घनतरुणाः प्रचुरयुवानस्तैराढ्येन सहितेनेति समस्तं पदं देशस्य विशेषणम् । २. अतिगुरवो विशालतरा गिरयो यत्र पक्षेऽतिगुरुर्गिरिरिव यत्र तेन । ३. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः टीकायां नोपलभ्यते ।

[1]स्फुटकुमुदपरागः सागरो मातरं नः
क्षितिमहह कदाचित्प्लावयिष्यत्यशेषम्[2] ।
इति किल जलवेगं रोद्धुमाबद्धमालाः
कथमपि तटमस्य क्ष्मारुहो न त्यजन्ति ॥२२॥

रतिविरतिषु वेलाकानने किंनरीभिः
पुलकितकुचकुम्भोत्तम्भमासेव्यतेऽस्मिन् ।
चपलकलभलीला भिन्नकङ्कोलकैला-
परिमलमिलितालिध्वानधीरः समीरः ॥२३॥

अयमिह जटिलोर्मिर्भाति कङ्केलिवल्ली-
किसलयललिताभिर्विद्रुमाणां लताभिः ।
ज्वलिततनुरिवान्तर्वाडवाग्नेः शिखानां[3]
विततिभिरतिगाध्योत्साहवंहीयसीभिः ॥२४॥

इह हि मिलितरङ्गत्प्रौढसिन्धुप्रियायाः
पुलिनजघनरङ्गोत्संगसंगात्पयोधिः ।
सरभसमुपकूजत्कुक्कुहक्वाणदम्भान्
मसृणमणितलीलोल्लासमभ्यस्यतीव ॥२५॥

त्युपमानोपभेयभावः ॥२१॥ स्फुटेति—विकसितकुमुदधवलः कदाचित् क्षीराब्धिरस्मन्मातरं पृथ्वीं प्लावयिष्यतीति चिन्तयन्तो वृक्षा अस्य वेलावनश्रेणीरूपाः स्थानं न त्यजन्ति । अथ च स्फुटो भ्रष्टः कुः पृथ्वी तस्या विषये मुद् हर्षस्तेनापरागो बद्धमत्सरः ॥२२॥ रतीति—अत्र वेलाकानने सुरतावसानेषु किन्नरराजपत्नीभिरुद्धृतस्तनमण्डलोच्छ्वासं यथा भवति क्रीडारतोत्तालबालकलभमोटिताः कङ्कोलैलादयो वृक्षविशेषास्तेषां विशेषगन्धेन मिलितभ्रमरपटलध्वनिसुभगः शीतलो वातः सेव्यते ॥२३॥ अयमिति—अयमशोकवल्लीपल्लवसदृशीभिः प्रवालकलताभिः कर्बुरितकल्लोलः शोभते । अतितृषायोगदीर्घतमाभिर्मध्यवाडवाग्निज्वालानां पङ्क्तिभिरिव देदीप्यमानवपुः ॥२४॥ इहेति—जलधिः कोकूयमानः कुक्कुहाः पक्षिविशेषास्तेषां क्वाणो ध्वनिस्तस्य व्याजात् सरसनिभृतकण्ठकूजितलीलाप्रकाशमभ्यस्यतीव । कुतः कण्ठकूजाभ्यासं करोतीत्याह—संगतनृत्यन्महानदीवल्लभायाः पुलिनजघनरङ्गोत्सङ्गं तस्य सङ्गात् सरभसमविश्रामोत्तालम् । अन्येऽपि प्रौढकामी-

शयन करनेकी इच्छा करनेवाले लक्ष्मी द्वारा आलिंगित कृष्ण ही हों ॥ २१ ॥ चूँकि यह समुद्र पृथिवीके हर्षसे विद्वेष रखनेवाला है [पक्षमें कुमुदोंकी गिरी हुई परागसे युक्त है] अतः सम्भव है कि कभी हमारी माता रूप समस्त पृथिवीको डुबो देगा इसलिए जलका वेग रोकनेके लिए ही मानो वृक्ष कतार बाँधकर इसका किनारा कभी नहीं छोड़ते ॥ २२ ॥ इस समुद्रके किनारेके वनमें किन्नरी देवियाँ संभोगके बाद अपने उन्नत स्तन कलशोंको रोमांचित करती हुई चंचल हाथियोंके बच्चेकी क्रीड़ासे खण्डित कवाक चीनी और इलायचीकी सुगन्धिसे एकत्रित भ्रमरोंकी गुंजारसे भरी वायुका सेवन करती हैं ॥ २३ ॥ इधर, इस समुद्रकी लहरें अशोक-लताओंके पल्लवोंके समान सुन्दर मूँगाकी लताओंसे व्याप्त हैं अतः ऐसा जान पड़ता है मानो अतिशय तृष्णाके संयोगसे बढ़ी बड़वानलकी ज्वालाओंके समूहसे इसका शरीर जल ही रहा हो ॥ २४ ॥ इधर, मिली हुई नदीरूपी प्रौढ़ प्रियाके तटरूपी जघन प्रदेशके साथ इस समुद्रका बार-बार सम्बन्ध हो रहा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो समीप ही शब्द करनेवाले जल-पक्षियोंके शब्दके छलसे संभोग कालमें होनेवाले मनोहर शब्दका

१. स्फुटः कुमुदानां परागो यस्मिन् स पक्षे स्फुटः प्रकटितः कुमुदि पृथिवीहर्षेऽपरागो विद्वेषो यस्य सः । २. अशेषाम् च. ज. घ. म. । ३. शिखायां च. ।

सकलजगदधृष्यस्यैकगाम्भीर्यभाजो
बहुलहरियुतस्य प्रोल्लसत्कङ्कणस्य ।
इति निगदति तस्मिन्नाकिलोकस्य तस्या-
प्यजनि सलिलराशेरन्तरं नैव किंचित् ॥२६॥
सुरसमितिरसंख्यैः क्षीरपाथोधिनीरं
यदुरुकनककुम्भैरुच्चुलुम्यांचकार ।
चुलुककलितवार्धेः स्मारयामास नश्यद्-
वरुणनगरनारीस्तेन कुम्भोद्भवस्य ॥२७॥
स्नपनविधिनिमित्तोपात्तपानीयपूर्णाः
सपदि दिवमुदीयुः शातकुम्भीयकुम्भाः ।
दृषद इव तदन्ये यच्च रिक्ता निपेतुः
प्रकटमिह फलं तज्जैनमार्गानुवृत्तेः ॥२८॥

जघनमधिरूढः पारापतादिध्वनिना [1]मणितयति ॥२५॥ सकलेति—इति तस्मिन् देवक्रीडापात्रे निगदति सति देववृन्दस्य समुद्रस्य च न किमप्यन्तरमभूत् पयोधिरासन्नो बभूवेत्यर्थः । पक्षे न किमपि विसदृशतालक्षणम् । सकलैर्जगद्भिरध्यक्षमनुल्लङ्घनीयं पक्षे सकलजगतः सकाशात् प्रभावाधिकस्यासदृशगाम्भीर्ययुक्तस्य प्रचुरकल्लोल-युक्तस्य पक्षे बहुलहरयः प्रचुरेन्द्रास्तैर्युतस्य । प्रोल्लसत्पानीयकणस्य देदीप्यमानकङ्कणस्य च[2] ॥२६॥ सुरेति—देवसमूहो योजनाष्टविस्तीर्णकुक्षिभिर्द्वादशयोजनोत्सेधैर्योजनैकमुखपरिणाहैः सुवर्णकलशैर्जलं यत्स-मुद्रध्रे तन्निजचुलुकारोपितसमुद्रस्यागस्त्यमुनेर्विस्मयद्वरुणपुरन्ध्रीकर्मतापन्ना असस्मरन् प्रचुरपानीयानयनसूचनम् ॥२७॥ स्नपनेति—प्रत्स्नपनार्थं गृहीतपानीयपूर्णाः कनककुम्भा ऊर्ध्वमुज्जग्मुः यच्चान्ये कुम्भाः पाषाणा इव रिक्ता भूमौ निपेतुस्तत् सर्वविदितमत्र जिनमार्गानुवर्तनप्रकटं फलम् । जिनमार्गानुभाविन ऊर्ध्व-

अभ्यास ही कर रहा हो ॥ २५ ॥ पालकके ऐसा कहने पर देवसमूह और समुद्रके बीच कुछ भी अन्तर नहीं रह गया था क्योंकि जिस प्रकार देवसमूह समस्त संसारके द्वारा अधृष्य—सम्माननीय था उसी प्रकार वह समुद्र भी समस्त संसारके द्वारा अधृष्य—अनाक्रमणीय था, जिस प्रकार देवसमूह मुख्य गाम्भीर्य—धीरताको प्राप्त था उसी प्रकार वह समुद्र भी मुख्य गाम्भीर्य—अधिक गहराईको प्राप्त था, जिस प्रकार समुद्र बहुलहरियुत—बहुत तरंगोंसे युक्त था उसी प्रकार देवसमूह भी बहुलहरियुत—अधिक इन्द्रोंसे सहित था और जिस प्रकार देवसमूह शोभायमान कंकणों—हस्ताभरणोंसे सहित था उसी प्रकार वह समुद्र भी शोभायमान कंकणों—जलकणोंसे सहित था ॥ २६ ॥ देवोंके समूहने सुवर्णके बड़े-बड़े असंख्यात कलशोंके द्वारा जो क्षीर समुद्रका जल उलीच डाला था उसने नष्ट होनेवाले वरुणके नगरकी स्त्रियोंको चुल्लूमें समुद्र धारण करनेवाले अगस्त्य महर्षिकी याद दिला दी ॥ २७ ॥ जो सुवर्ण कलश जिनेन्द्र भगवान्‌के अभिषेकके लिए भरे हुए जलसे पूर्ण थे वे शीघ्र ही ऊपर आकाशमें जा रहे थे और जो खाली थे वे पत्थरकी तरह नीचे गिर रहे थे इससे जिनेन्द्र

१. मणितं सुरतशब्दं करोतीति मणितयति 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् 'मणितं रतिकूजितम्' ।
२. अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—इति पूर्वोक्तप्रकारेण तस्मिन् पूर्वोक्ते पालके निगदति सति उच्चरति सति तस्य नाकिलोकस्य देवसमूहस्य सलिलराशेः सागरस्य च अन्तर्मध्ये किंचित्किमपि अन्तरं विप्रकृष्टत्वं वैशिष्ट्यं च नैवाजनि नाभूत् । अथोभयोः सादृश्यमाह—सकलजगद्भिर्निखिललोकैरधृष्यमतिरस्कार्यं यद् गाम्भीर्यं स्थैर्यं तद् भजतीति तथा तस्य पक्षे गाम्भीर्यमगाधत्वम्, बहुलाः प्रचुरा ये हरय इन्द्रास्तैर्युतस्य पक्षे बहुलहरिभिः प्रभूततरङ्गैर्युतस्य, प्रोल्लसन्तः देदीप्यमानाः कङ्कणाः करवलया यस्य तस्य तथा भूतस्य पक्षे प्रोल्लसन्तः समुत्पतन्तः कङ्कणा जलकणा यस्य तस्य ॥२६॥

अनुगतभुजमालालीलयारभ्यमाणै-
मणिघटपरिवर्तावर्तनैः क्षीरसिन्धोः ।
उदकमुपनयद्भिर्देववृन्दैस्तदानी-
मभिनवमभिनीतं वार्घटीयन्त्रचक्रम् ।।२९।।
[1]घनसुषिरततानामुद्धुरानद्धनादे
[2]तिरयति रवमुच्चैर्भिन्नभूमीध्ररन्ध्रे ।
प्रसरति नवनाट्यप्रक्वणत्किङ्किणीना-
ममरसहचरीणां मङ्गलोद्गारराव ।।३०।।
कलुषमिह विपक्षं दर्शनादेव जित्वा
[3]स्वगुणगरिमहेलाक्रान्तसिंहासनस्य ।
प्रथमममरनाथा भूत्रयस्येव राज्ये
कनककलशतोयैश्चक्रुरस्याभिषेकम् ।।३१।। [युग्मम्]
जरठविशदकन्दप्रोज्ज्वलायां शिलायां
प्रचरदरुणमुग्धस्निग्धपाणिप्रवालः ।
अमृतमधुरनीरैः सिच्यमानः स देवै-
रभिनव इव रेजे पुण्यवल्लीप्ररोहः ।।३२।।

मुद्गच्छन्ति तद्विपरीतास्तु विपरीतं गच्छन्ति ।।२८।। **अनुगतेति**—तदा देववृन्दैः क्षीरसमुद्रस्य जलमुच्चुलुम्पद्भिरदृष्टपूर्वोऽरघट्ट आरब्धः । कैर्जलमुपनयद्भिरित्याह—स्नपनघटानां परिवर्त्तैः पौनःपुन्येन तदानयनैस्तेषामावर्तनैर्हस्ताद्धस्ते संचारणैः । किंविशिष्टैः । अनुगताः परस्परे संबद्धा भुजा एव मालाघटीबन्धनवरत्रिका तया आरभ्यमाणैः परिगृह्यमाणैः ।।२९।। **घनेति**—घनं झल्लरीकंसतालादिकं सुषिरं वंशादिकं ततं तन्त्रीवाद्यं विततं मर्दलादिकम् एतेषां वाद्यानामुद्धुरमुत्कटं यथा स्यादेवमानद्धादिसंजातमहाध्वनौ पातितपर्वतगुहान्तरेऽन्यशब्दान्तरमाच्छादयति सति अप्सरसां च मङ्गलगीते प्रवर्द्धमाने नवीभूतमपूर्वं यन्नाट्यं तस्याभिनयेन रणज्झणायमानक्षुद्रघण्टिकानाम् ।।३०।। **कलुषमिति**—अस्य जिनस्य चतुर्णिकायामरेन्द्राः प्रथमं त्रिभुवनसाम्राज्यस्येव कनककलशैरभिषेकमकार्षुः । किंविशिष्टस्येत्याह—अनन्यसाधारणासंख्यनिजगुणमहिमलीलाक्रान्तसिंहासनस्य पापनामानं प्रतिपक्षं दृष्टिमात्रेणापि निर्णाश्य पक्षे दर्शनात् सम्यक्त्वात् ।।३१।। **जरठेति**—महाधवलमृणालकन्दसदृश्यां पाण्डुशिलायां पीयूषसोदरैः क्षीरजलैः सिच्यमानो धर्मलताङ्कुर इव व्यराजत । प्रचलन्तौ शोणौ कोमलौ स्निग्धपाणी एव प्रवालौ यस्य । अत्राङ्कुरोद्गतिस्कन्द-शिलयोर्जिनपुण्य-

भगवान्के मार्गानुसरणका फल स्पष्ट प्रकट हो रहा था ॥ २८ ॥ उस समय क्षीरसमुद्रसे जल ले जानेवाले देवोंके समूहने परस्पर मिली हुई भुजाओंकी लीलाके द्वारा प्रारम्भ किये मणिमय घटोंके आदान-प्रदानसे एक नूतन जलघटी यन्त्र बनाया था ॥ २९ ॥ जब पर्वतकी गुफाओंको भिन्न करनेवाला भेरीका उच्च शब्द घन सुषिर और तत नामक बाजोंके शब्दको दबा रहा था, एवं नये-नये नृत्योंके प्रारम्भमें बजनेवाली किंकिणियोंसे युक्त देवांगनाओंके मंगलगानका शब्द जब सब ओर फैल रहा था ॥ ३० ॥ तब इन्द्रोंने दर्शनमात्र [पक्षमें सम्यग्दर्शन मात्र] से ही पाप रूप शत्रुको जीतकर अपने गुणोंकी गरिमासे अनायास सिंहासनपर आरूढ़ होनेवाले जिनेन्द्रदेवका सुवर्णमय कलशोंके जलसे मानो त्रिलोकका राज्य देनेके लिए ही सर्वप्रथम अभिषेक किया था ॥ ३१ ॥ अत्यन्त सफ़ेद कन्दके समान उज्ज्वल पाण्डुक शिलापर कुछ-कुछ हिलते हुए लाल मनोहर एवं चिकने हाथरूपी पल्लवोंसे युक्त जिन-

१. 'ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् । वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम् ।' इत्यमरः ।
२. तिरस्कुर्वति सति । ३. स्वगुणानां गरिम्णा गौरवेण हेलया क्रान्तं सिंहासनं येन तस्य ।

हिमगिरिमिव मेरुं नीरपूरैः सृजद्भिः
स्नपयितुमपि पृथ्वी[1]माशु पृथ्वीं[2] समर्थैः ।
शिशुरपि जिननाथश्चुक्षुभे नो मनाग-
प्यहह सहजधैर्यं दुर्निवार्यं जिनानाम् ॥३३॥
यदधरितसुधौघै[3]रर्हतः स्नानतोयैः
सममसमसमृद्ध्या नेनिजुः श्रद्धयाङ्गम् ।
जगति खलु जरायां सर्वसाधारणायां
तदसुलभममर्त्या भेजिरे निर्जरत्वम् ॥३४॥
[4]नटदमरवधूनां दृक्कटाक्षच्छटायाः
कनकरुचिकपोले तीर्थकर्तुः स्फुरन्तीः ।
स्नपनसलिलशेषाशङ्कया मार्जयन्ती
व्यधित हरिपुरन्ध्री[5] कस्य न स्मेरमास्यम् ॥३५॥
विशदमणिमयाभ्यां वज्रसूचीविभिन्न-
श्रवणयुगमिताभ्यां कुण्डलाभ्यां स रेजे ।
किमपि समधिगन्तुं तत्त्वविद्यारहस्यं
सुरगुरुभृगुपुत्राभ्यामिव ज्ञानसिन्धुः ॥३६॥

कन्दलयोः पाणिप्रवालानां पुण्यवल्ल्योश्चोपमानोपमेयभावः ॥३२॥ हिमगिरिमिति—महती पृथ्वीप्लावनसमर्थैर्मेरुं धवलतया हिमालयसदृशं कुर्वद्भिर्बालोऽपि जिननाथः क्षीराब्धिजलैः किंचिदपि न व्याकुलो बभूव । अहहेति–सप्रमोदापूर्वगुणस्मरणे । जिनानामनन्तवीर्ययुक्तानां धैर्यं स्वभावः निष्प्रकम्पत्वं दुर्निवार्यमनन्यचाल्यम् ॥३३॥ यदिति—तिरस्कृतामृतप्रवाहैर्जिनगन्धोदकैः सममेककालं श्रद्धया महाशक्त्याऽसमसमृद्ध्या गुरुतमया देवा निजं वपुः प्रक्षालयामासुस्तदहं मन्ये सर्वैकस्वरूपायां जरायामतिचङ्क्रममाणायां दुष्प्रापं युवत्वमेव प्रापुः । जिनगन्धोदकेन देवा निर्जरा इति भावः ॥३४॥ नटदिति—देवनर्तकीनां धवलकटाक्षरुचिं स्नपनक्षीरशङ्कया शची प्रोञ्छयन्ती कस्य सहास्यमास्यं न चकार अपितु चकारेति ॥३५॥ विशदेति—वज्रसूचीभिन्नश्रवणयुगले स्थापिताभ्यां निर्मलरत्ननिर्मिताभ्यां कुण्डलाभ्यां स शुशुभे शुक्रबृहस्पतिभ्यां परमज्ञानस्वरूपं

बालक ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो देवोंके द्वारा अमृतके समान मधुर जलसे सींचे गये पुण्य रूप लताके नवीन अंकुर ही हों ॥ ३२ ॥ यद्यपि जिनेन्द्रदेव उस समय बालक ही थे और जिस जलसे उनका अभिषेक हो रहा था वह मेरुपर्वतको सफेदीके कारण मानो हिमालय बना रहा था और विशाल पृथ्वीको एक साथ नहलानेमें समर्थ था फिर भी उसके द्वारा वे रंचमात्र भी क्षोभको प्राप्त नहीं हुए सो ठीक ही है क्योंकि जिनेन्द्रदेवका स्वाभाविक धैर्य अनिवार्य एवं आश्चर्यकारी होता है ॥ ३३ ॥ चूँकि अमृत प्रवाहका तिरस्कार करनेवाले अर्हन्त भगवान्के स्नान जलसे देवोंने बड़ी भक्ति और श्रद्धाके साथ अपना-अपना शरीर प्रक्षालित किया था इसीलिए संसारमें जराके सर्वसाधारण होनेपर भी उन्होंने वह निर्जरपना प्राप्त किया था जो कि उन्हें अन्यथा दुर्लभ ही था ॥ ३४ ॥ तीर्थंकर भगवान्के सुवर्णके समान चमकीले कपोलों पर, नृत्य करनेवाली देवांगनाओंके कटाक्षोंकी जो प्रभा पड़ रही थी उसे अभिषेकका बाकी बचा जल समझकर पोंछती हुई इन्द्राणीने किसका मुख हास्यसे युक्त न किया था ॥ ३५ ॥ वज्रकी सूचीसे छिदे दोनों कानोंमें स्थित निर्मल मणिमय कुण्डलोंसे

१. विशालम् । २. महीम् । ३. अधरितस्तिरस्कृतः सुधानां पीयूषाणामोघो यैस्तैः । ४. नटन्त्यश्च ता अमरवध्वस्तासाम् । ५. इन्द्राणी ।

१८

[१]त्रिगुणवलितमुक्तातारहारापदेशा-
दुरसि वरणमालाः प्रक्षिपन्त्यस्तदानीम् ।
[२]अहमहमिकयोर्वी श्रीश्च मुक्तिश्च तिस्रः
स्वयमपि वृणते स्म प्रेमवत्यस्तमेकम् ॥३७॥

निरुपममणिमाला तन्मुखेन्दोरुपान्ते
विगलदमृतधाराकारमुन्मुद्रयन्ती ।
शशिनममलकान्त्याक्रम्य वन्दीकृतानां
विततिरिव विरेजे तत्प्रियाणामुडूनाम् ॥३८॥

मणिमयकटकाग्रप्रोतरत्नग्रहश्रीः
स घनकनककाञ्चीमण्डलाभोगरम्यः ।
त्रिदशरचितभूषाविभ्रमो हेमगौरः
कनकगिरिरिवान्यो मेरुशृङ्गे रराज ॥३९॥

ज्ञातुमाश्रित इति ॥३६॥ त्रिगुणेति—तदा स्नानमहोत्सवानन्तरमहमहमिकया पृथ्वी लक्ष्मीर्मोक्षलक्ष्मीश्च तमेकं प्रेमप्रेरितास्तिस्रोऽपि उपयेमिरे। किं कुर्वन्त्य इत्याह—कण्ठे स्वयंवरमालाः प्रक्षिपन्त्यः त्रिसरितमुक्ताहारव्याजात् ॥३७॥ निरुपमेति—तस्य जिनस्य मुखसमीपे कण्ठनिक्षिप्ता एकावली मुखचन्द्रविगलत्पीयूषबिन्दुश्रेणीमनुकुर्वती शुशुभे हठात् मुखप्रभया जिनस्य चन्द्रस्य वन्दीकृतानां रोहिणीप्रभृतीनां तारकाणां श्रेणिरिव । अत्र मुखचन्द्रयोर्नक्षत्रमालामणिमालयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥३८॥ मणिमयेति—स मेरुशृङ्गेऽपरमेरुरिव रराज । किंविशिष्ट इत्याह—मणिमयकटकेषु कङ्कणादिहस्तालंकरणेषु प्रोताः संबद्धा ये रत्नग्रहा रत्नेष्वधिष्ठिता ग्रहा रत्नग्रहास्तेषां श्रीर्यस्य संजातनवग्रहकङ्कणलक्ष्मीक इत्यर्थः । प्रचुरसुवर्णमेखलावलयाभोगरम्यस्त्रिदशरचितालंकरणविभ्रमः सुवर्णगिरिः पक्षे मणिमयशृङ्गस्थितसूर्यादिग्रहरमणीयः स्वर्णकटकिनीमण्डितस्त्रिदशौ रचितौ भुवि पृथिव्यां मुषा विभ्रमौ स्थितिचङ्क्रमणे यस्य ॥ ३९ ॥

यह ज्ञानके समुद्र जिन बालक ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो तत्त्व विद्याका कुछ रहस्य सीखनेके लिए बृहस्पति और शुक्र ही उनके समीप आये हों ॥ ३६ ॥ उस समय उनके वक्षःस्थलपर तीन लड़का मोतियोंका बड़ा भारी हार पहिनाया गया था उसके बहाने ऐसा मालूम होता था मानो प्रेमसे भरी पृथिवी, लक्ष्मी और मुक्ति रूप तीन स्त्रियोंने शीघ्रताके साथ अपनी-अपनी वरण मालाएँ पहिनाकर उन्हीं एकको अपना पति चुना हो ॥ ३७ ॥ उनके मुख रूपी चन्द्रमाके समीप झरती अमृतधाराका आकार प्रकट करनेवाली अनुपम मणियोंकी माला ऐसी जान पड़ती थी मानो अपनी निर्मल कान्तिके द्वारा चन्द्रमाको जीतकर कैद की हुई उसकी तारारूप स्त्रियोंका समूह ही हो ॥ ३८ ॥ जिनके मणिमय कड़ोंके अग्रभागमें खचित रत्न, ग्रहोंके समान सुशोभित हैं, जो सुवर्णकी चुस्त करधनीके मण्डलसे रमणीय है एवं देवोंने आभूषण पहिनाकर जिन्हें अलंकृत किया है ऐसे सुवर्णके समान पीत वर्णको धारण करनेवाले वे जिनेन्द्र ऐसे जान पड़ते थे मानो सुमेरुके शिखर पर स्थित दूसरा सुमेरु ही हो। [क्योंकि सुमेरु पर्वतके मणिमय कटकों—शिखरों पर रत्नोंके समान सूर्यादि ग्रह अपनी शोभा बिखेर रहे थे, सुवर्णमय कटनियोंके विस्तारसे वह रमणीय था, देवोंके द्वारा उसकी भूमि पर सदा स्थिति और संचार होता रहता था अथवा देवोंके द्वारा उसकी भूमि पर सदा उषा—प्रातःकालकी लालीका विभ्रम—संशय किया जाता रहता था और सुवर्णके

१. त्रिगुणैर्वलितो यो मुक्तानां तारहारो विशालहारस्तस्यापदेशो व्याजं तस्मात् । २. अहंपूर्विकया ।

ध्रुवमिह भवितायं धर्मतीर्थस्य नेता
स्फुटमिति स मघोना धर्मनाम्नाभ्यधायि ।
न खलु मतिविकासादर्शदृष्टाखिलार्थाः
कथमपि वितताथीं वाचमाचक्षते ते ॥४०॥
किमपि [1]मृदुमृदङ्गध्वानविच्छेदमूर्च्छ-
च्छ्रुतिसुखसुषिरास्यप्रस्वनोल्लासिलास्ये ।
परिणमति सुधात्माधीनगन्धर्वगीते
व्यतिकरपरिरम्ये तत्र तौर्यत्रिकस्य ॥४१॥
दलितकमठपृष्ठं चारुचारीप्रयोगै-
[2]र्भ्रमितभुजनिरस्तस्रस्तविस्तारितारम् ।
प्रकटघटितलिङ्गाकारमावर्तवृत्त्या
प्रमदविवशमिन्द्रैस्तत्पुरस्तादनर्ति ॥४२॥ [युग्मम्]
इति निरुपमभक्तिं शक्तिमप्यात्मनीनां
स्नपनविनययुक्त्या व्यक्तयन्तः सुरेन्द्राः ।

ध्रुवमिति—निश्चयेनासौ धर्मतीर्थस्य नायको भविष्यतीति मत्वा सौधर्मेन्द्रेण स्फुटं त्रिभुवनप्रकटं धर्माभिधानेनालापितः धर्मनाथ इति नामकृत इत्यर्थः । युक्तमेतत् न खलु सौधर्मेन्द्रप्रमुखा अवधिज्ञानिनोऽसत्यां वाचं ब्रुवन्ति । मतिविकास एवादर्शस्तस्मिन् दृष्टा याथातथ्येन सकलपदार्था यैस्तथाविधाः॥४०॥ किमपीति—तदग्रत इन्द्रैरनर्तीति युग्मेन संबन्धः । क्व सतीत्याह—तौर्यत्रिकस्य गीतवाद्यनृत्यलक्षणस्य व्यतिकरसमागमे सति पीयूषस्वरूपसदृशे गन्धर्वगीते, परिपाकं भजमाने । पुनः क्व सति । कोमलमर्दलनिनादविश्रान्तिसंभवत्कर्णसुखदायिवंशविवरप्रकाशितध्वन्यनुगतनृत्ये ॥४१॥ दलितेति—तदग्रतोऽतिप्रमोदवशात्सुरेन्द्रैर्ननृते । कथम् । यथा भवति । दलितभूम्याधारकूर्मपृष्ठं यथा भवति । कैः । पदप्रचारप्रयोगैर्नर्तितदीर्घभुजध्वस्तपतितनक्षत्रं यथा भवति । आवर्तवृत्त्या अतिभ्रमणपरिपाट्या प्रकटघटितलिङ्गाकारं यथा स्यात् । अतिभ्रमणेनोर्द्ध्वाकार एव उपलभ्यते न हस्तपादादयोऽवयवा इति भावः ॥४२॥ इतीति—इति स्नानगीतनृत्याद्यनन्तरं सर्वेऽपि

द्वारा वह पीला-पीला दिखाई देता था] ॥ ३९ ॥ निश्चित ही यह जिनेन्द्र इस भरतक्षेत्रमें धर्म तीर्थके नायक होंगे—यह विचार इन्द्रने उन्हें धर्मनाथ नामसे सम्बोधित किया था सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिके विकास रूप दर्पणमें समस्त पदार्थोंको देखनेवाले इन्द्र किसी भी तरह मिथ्या वचन नहीं कहते ॥ ४० ॥ जब मृदंगकी कोमल ध्वनिके विच्छेद होनेपर बढ़नेवाली कर्णकमनीय बाँसुरी आदि बाजोंकी सुमधुर ध्वनिसे सुशोभित नृत्य हो रहा था, जब गन्धर्वोंका अमृतमय संगीत जम रहा था, और जब नृत्य, गीत तथा वादित्रकी सुन्दर व्यवस्था थी ॥ ४१ ॥ तब इन्द्रने आनन्दके विवश हो भगवान् धर्मनाथके आगे ऐसा नृत्य किया कि जिसमें सुन्दर चारीके प्रयोगसे कच्छपका पीठ दलमला गया, घुमायी हुई भुजाओंसे दूर-दूरके तारे टूट-टूटकर गिरने लगे, एवं आवर्ताकार भ्रमणसे जिसमें लिंगाकार ही प्रकट था—अत्यन्त शीघ्र भ्रमणसे केवल दण्डाकार शरीर ही दिखाई देता था, हाथ पाँव आदि अवयव नहीं ॥ ४२ ॥ इस प्रकार अभिषेककी क्रिया द्वारा समस्त इन्द्र अपनी अनुपम भक्ति

१. मृदुः कोमलो यो मृदङ्गध्वानो मृदङ्गशब्दस्तस्य विच्छेदे मूर्च्छन् वर्धमानः श्रुतिसुखः कर्णसुखदायी यः सुषिरास्यानां वंशादिवाद्यानां प्रस्वनः प्रकृष्टनिनादस्तेनोल्लसतीति शीलं यल्लास्यं नृत्यं तस्मिन् । २. भ्रमितैर्भुजैर्निरस्तस्रस्तास्त्रुटितपतिता विस्तारितारा अतिदूरवर्तिनक्षत्राणि यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा ।

स्तुतिभिरवितथाभिः स्तुत्यमेनं समस्ताः
शिरसि निहितहस्ताः स्तोतुमारेभिरे ते ॥४३॥
अखिलमलिनपक्षं पूर्वपक्षे निधाय
प्रथममुदितमात्रस्यापि संपूर्णमूर्तेः ।
जिनवर तव कान्त्या यत्कलामात्रशेषः
प्रतिपदमृतभानुः स्पर्धते तन्मुधैव ॥४४॥
मुनिभिरमलबोधैरप्यशक्यासु कर्तुं
स्तुतिषु तव गुणानामप्रगल्भप्रभेव ।
वरद मुहुरमन्दानन्दसन्दोहदम्भा-
त्स्खलति गलगुहान्तर्निर्भरं भारती नः ॥४५॥
स्पृशति किमपि चेतश्चुम्बकग्रावगत्या
त्वयि जिन जनतायाः स्वस्वकार्योद्यतायाः ।
किमु कुतुकमपूर्वं नाथ यत्पूर्वजन्म-
व्रजवृजिनघनायःशृङ्खला[1] निर्गलन्ति ॥४६॥
अमितगुणगणानां त्वद्गतानां प्रमाणं
भवति समधिगन्तुं यस्य कस्यापि वाञ्छा ।

मस्तकन्यस्तहस्तास्तादृशीभिरात्मोचिताभिरेनं स्तवाहं स्तोतुमारभन्ते स्म । किं कुर्वन्त इत्याह—आत्मनो भक्तिं शक्तिं च तथा प्रकारेण प्रकटयन्तः ॥४३॥ अखिलेति—हे जिनोत्तम ! प्रतिपच्चन्द्रो यत्तव प्रभया सार्द्धं स्पर्द्धां कुरुते तन्न किंचित् । किं विशिष्टस्येत्याह—प्रथममुत्पन्नमात्रस्यापि परिपूर्णशरीरस्य । स चैककलामात्रः, किं कृत्वोदितस्येत्याह—अखिलं मलिनपक्षे कर्मपटलं पूर्वपक्षे गतभवपरिपाट्यां विधाय, पक्षे कृष्णपक्षं पश्चात्कृत्य ॥४४॥ मुनिभिरिति—हे वरद ! अस्मद्वचनपरिपाटी अतिप्रमोदव्याजान्नोपसर्पति निर्मलज्ञानैर्मुनिभिरपि अशक्यानुष्ठानेषु स्तवेषु अप्रभविष्णुरिव । सर्वेऽपीन्द्रादयो देवा महाप्रमोदेन गद्गदवाच इत्यर्थः ॥४५॥ स्पृशतीति—हे जिन ! निजकार्यव्यग्रमानसानामपि जनानां यदि कथमपि सामग्रीसंयोगेन चित्तं त्वयि स्पृशति त्वामाश्लिष्यति किमप्येकदेशे चुम्बकपाषाणरीत्या ततः किं चित्रम् । यत्पूर्वजन्मसहस्रकर्मलोहशृङ्खलापि विघटते । अथ च चुम्बकपाषाणेन स्पृष्टा लोहशृङ्खलास्त्रुटचन्तीति प्रसिद्धिः ॥४६॥ अमितेति—हे अनघ !

और शक्ति प्रकट करते हुए वास्तविक स्तुतियोंसे स्तुति करने योग्य श्री जिनेन्द्रकी इस प्रकार स्तुति करने लगे। स्तुति करते समय सभी इन्द्रोंने हाथ जोड़कर अपने मस्तकसे लगा रखे थे ॥ ४३ ॥ हे जिनेन्द्र ! जब कि चन्द्रमा मलिन पक्ष [कृष्ण पक्ष] को उत्तर पक्षमें [आगामी पक्षमें] रखकर उदित होता है तब आप समस्त मलिन पक्ष [दूषित सिद्धान्त]को पूर्व पक्षमें [शंका पक्षमें] स्थापित कर उदित हुए हैं। इसी प्रकार जब कि चन्द्रमा एक कला रूपमें उदित होता है तब आप उदित होते ही सम्पूर्ण मूर्ति हैं इसलिए एक कलाका धारी प्रतिपदाका चन्द्रमा कान्तिके द्वारा जो आपके साथ ईर्ष्या करता है वह व्यर्थ ही है ॥ ४४ ॥ हे वरद ! निर्मल ज्ञानके धारक मुनि भी आपकी स्तुति नहीं कर सकते यही कारण है कि हम लोगोंकी वाणी अनल्प आनन्द समूहके बहाने कुण्ठित सी होकर कण्ठरूप कन्दराके भीतर ही मानो ठिठक जाती है ॥ ४५ ॥ हे जिनेन्द्र ! कैसा अनोखा कौतुक है कि यद्यपि जनता अपने अपने कार्यमें लीन है फिर भी ज्यों ही आप चुम्बकके पत्थरकी तरह उसके चित्तका स्पर्श करते हैं त्योंही उसके पूर्व जन्म सम्बन्धी पापरूपी लोहेकी मजबूत साँकलें तड़-तड़कर एकदम टूट

१. पूर्वजन्मनां व्रजे समूहे यानि वृजिनानि पापानि तान्येव घनाः निविडा अयः शृङ्खला लोहशृङ्खलाः ।

प्रथममपि स तावद्व्योम कत्यङ्गुलानी-
त्यनघ सुगमसंख्याभ्यासमङ्गीकरोतु ॥४७॥
मनुज इति मुनीनां नायकं नाकिनाम-
प्यवगणयति यस्त्वां निर्विवेकः स एकः ।
सकलविदकलंकः क्षीणसंसारशङ्क-
श्चकितजनशरण्यः [1]कस्त्रिलोक्यां त्वदन्यः ॥४८॥
न खलु तदपि चित्रं यत्त्वयोदेष्यतापि
प्रथममयमकारि प्राप्तपुण्यो जनोऽत्र ।
प्रतिशिखरि वनानि ग्रीष्ममध्येऽपि कुर्यात्
किमु न जलदकालः प्रोल्लसत्पल्लवानि ॥४९॥
तव वृषमधिरूढो योऽपि तस्य द्युलोकः
स खलु कियति दूरे यो जनेनापि लभ्यः ।
यदि च तुरगमाप्तः प्राप्तवांस्तद्दुरापं
तदपि जिन जनोऽयं जन्मकान्तारतीरम् ॥५०॥

तवानन्तगुणानां यः प्रमाणं जिज्ञासति स प्रथमं गगनं कतिसंख्योपेतान्यङ्गुलान्यस्तीति सुगमं प्रमाणं जानातु पश्चात् त्वद्गुणानिति । त्वद्गुणप्रमाणापेक्षया गगनप्रमाणं सुगममिति भावः ॥४७॥ मनुज इति—हे नाथ ! यस्त्वामवमन्यते स एक एव निर्विवेको नान्यः । किंविशिष्टं त्वामित्याह—मुनीनां प्रभुं, न केवलं मुनीनां देवानामपि । किंचिद्यन्नावगणयतीत्याह—मनुज इति मनुष्यजन्मेति त्वां विना त्रिभुवने कोऽन्यः । सर्वज्ञो रागादिविनिर्मुक्तः संसारबाह्यभूतो भवतीति जनसमुद्धरणे न कोऽपीत्यर्थः ॥४८॥ नेति[2]— ॥४९॥ तवेति—यस्त्वोक्तं धर्ममाश्रितस्तस्य स्वर्गः किमतिदूरे । यः किम् । यो जनेन मिथ्यादृष्टिनापि सुप्रापः । यदि पुनस्तव तुरङ्गं चारित्रभारमाश्रितस्तदा भवगहनपारं दुरापमनन्याचरणं प्राप्य प्राप्तवानत एवायं जनः । अथ चोक्तिलेशः—तत्र वृषभादिरूढो यो गव्यूतिद्वयं प्राप्यं मार्गं सुखेन गच्छति । यदि वाश्वाधिरूढोऽपि

जाती हैं ॥ ४६ ॥ हे निष्पाप ! आपके अपरिमित गुणसमूहका प्रमाण जाननेकी जिस किसी-की इच्छा हो वह पहले आकाश कितने अंगुल है यह नापकर सरलतासे संख्याका अभ्यास कर ले ॥ ४७ ॥ हे मुनिनायक ! आप मनुष्य हैं यह समझ देवोंके बीच यदि कोई आपका अनादर करता है तो वह अद्वितीय मूर्ख है । सर्वज्ञ, निष्कलंक, संसारकी शंकासे रहित और भयभीत जनको शरण देनेवाला आपके सिवाय इस त्रिभुवनमें दूसरा है कौन ? ॥ ४८ ॥ हे भगवन् ! इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं कि आपने अपने जन्मके पूर्व ही लोगोंको पुण्यात्मा बना दिया । क्या वर्षा काल अपने आने के पूर्व ही ग्रीष्मकालमें ही पहाड़ोंपर वनोंको लहलहाते पल्लवोंसे युक्त नहीं कर देता ॥४९॥ हे जिन ! जो आपके [सम्यग्दर्शन रूप] धर्मको प्राप्त हुआ है उसे वह स्वर्ग कितना दूर है जो कि साधारण मनुष्यके द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है । हाँ, यदि आपके चारित्रको प्राप्त कर सका तो यह निश्चित

१. कस्त्वदन्यस्त्रिलोक्याम्. क. । २. अस्य श्लोकस्य 'क'पुस्तके संस्कृतटीका नास्ति केवलमिति पाठो वर्तते 'संप्राप्तो वनानि निर्दर्शितपललवानि करोति' इति । लेखक प्रमादात् भ्रष्टः पाठ इति तर्कयामि । निश्चयेन तदपि चित्रमद्भुतं नास्ति यत्त्वयोदेष्यतापि जन्म गृहीष्यतापि नवमासानन्तरमिति यावत् । अत्र भुवनेऽयं जनः प्राप्तपुण्यः समर्जितसुकृतः प्रथमं जन्मनः प्रागेव अकारि । तदेवोदाहरणेन दृढयति—प्रतिशिखरि प्रतिपर्वत-मागमिष्यन् जलदकालः प्रावृट्समयः ग्रीष्ममध्येऽपि निदाघमध्येऽपि वनानि काननानि प्रोल्लसन्तः पल्लवा येषां तानि तथाभूतानि किमु न कुर्यादपि तु कुर्यादेव ॥

सर इव मरुमार्गे स्वच्छतोयं तृषार्तै-
स्तरुरिव रविरश्मिव्याकुलैरत्र सान्द्रः ।
निधिरिव चिरदुःस्थैः शर्मणेऽस्माभिरेकः
कथमपि भवभीतैर्नाथ दृष्टोऽसि दिष्ट्या ॥५१॥
स्वगुणगरिमदौःस्थ्यं रोदसी रन्ध्ररोषाद्-
व्यतिषजति जिनेश त्वद्यशश्चन्द्रगौरम् ।
कथय कथममन्दां मन्दिरोद्योतशक्तिं
प्रकटयति घटान्तर्वर्तिरूपः प्रदीपः ॥५२॥
गुणपरिकरमुच्चैः कुर्वतैव त्वयैते
क्षपितकलुषदोषा रोषितास्तद्विपक्षाः ।
अथ न कथममीषां [1]नेक्ष्यते त्वद्द्रयेन
त्वदनुगतजनेऽपि प्रायशः प्रीतिलेशः ॥५३॥
इति पिहितपदार्थे सर्वथैकान्त वल्ग-
न्निविडतमतमोभिर्विश्ववेश्मन्यकस्मात् ।

तदानन्यवाहनप्रायं प्राप्यमाणं मार्गं वनप्रान्तं गत एव ॥५०॥ सर इति—हे नाथ ! त्वं मरुस्थलीमार्गे निर्मलं सर इवातितृषितैर्ग्रीष्मकिरणकरालितैर्बहलस्तरुरिव सर्वदा दरिद्रैर्महानिधिरिवास्माभिः सुखाय दृष्टः दिष्ट्या मङ्गलाय ॥५१॥ स्वगुणेति—हे जिनेश ! धवलं त्वद्यशो रोदसीरन्ध्ररोधात्संकीर्णपृथ्वीगगनान्तरालसंकोचात् आत्मगुणगौरवदरिद्रतामाश्रयति—पृथ्वीगगनयोरन्तराले न माति तत आत्मप्रसरं न लभत इत्यर्थः । यथा घटान्तर्निक्षिप्तो दीपो गृहोद्योतप्रभां न प्रकटयति ॥५२॥ गुणेति—त्वया गुणपरिवारं संभावयता तथा एते पापादयो दोषाः प्रकोपितास्तद्विपक्षा गुणशत्रवो यथा तेषां गुणानां त्वद्द्रयेन तव भक्तजनेष्वपि नासन्नीभवन्ति । यथा कश्चिन्निजं शत्रुं स्वामिना चटूकृतं दृष्ट्वा स्वामिपरिवारमपि विरागान्नालापयति ॥५३॥ इहेति—इह संसारे एकान्तवादेन विजृम्भमाणानि घनतमतमांसि तैः पदार्थे वस्तुस्वरूपे आच्छादिते सति

है कि यह संसार रूप अटवीके दुर्लभ तीरको प्राप्त कर लेगा। [हे जिन ! जो आपके बैलपर सवार हुआ है उसे वह स्वर्ग कितना दूर है जो कि एक ही योजन चलनेपर प्राप्त हो सकता है। हाँ, यदि यह जन आपके घोड़ेपर सवार हो सका तो इस संसार रूप अटवीसे अवश्य पार हो जावेगा] ॥५०॥ हे नाथ ! जिस प्रकार मरुस्थलमें प्याससे पीडित मनुष्योंके द्वारा दिखा स्वच्छ जलभृत्—सरोवर उन्हें आनन्द देनेवाला होता है, अथवा सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त मनुष्योंके द्वारा दिखा छायादार सघन वृक्ष जिस प्रकार उन्हें सुख पहुँचानेवाला होता है, अथवा चिरकालके दरिद्र मनुष्योंके द्वारा दिखा खजाना जिस प्रकार उन्हें आनन्ददायी होता है उसी प्रकार सौभाग्य वश हम भयभीत मनुष्योंके द्वारा दिखे हुए आप, हमलोगोंको आनन्द दे रहे हैं ॥५१॥ हे जिनेन्द्र ! आपका चन्द्रोज्ज्वल यश इस पृथिवी और आकाशके बीच अपने गुणोंकी अधिकताके कारण बड़ी संकीर्णतासे रह रहा है। आप ही कहिए; घटके भीतर रखा हुआ दीपक समस्त मन्दिरको प्रकाशित करनेकी अपनी विशाल शक्ति कैसे प्रकट कर सकता है ? ॥५२॥ हे क्षीण दोष ! गुणसमूहको ऊँचा उठानेवाले आपने ही तो इन गुणविरोधी दोषोंको कुपित कर दिया है। यदि ऐसा नहीं है तो आपकी बात जाने दो आपके अनुगामी किसी एक जनमें भी इन दोषोंके प्रेमका थोड़ा भी अंश क्यों नहीं देखा जाता ? ॥५३॥ सर्वथा एकान्तवाद

१. नेष्यते क. ।

त्वमसि स खलु दीपः केवलालोकहेतुः
शलभसुलभलीलां लप्स्यते यत्र कामः ॥५४॥
अलमलममृतेनास्यादितं त्वद्वचश्चेत्
किममरतरुलक्ष्म्या त्वय्यपि प्रार्थ्यमाने ।
जिन जगदतमस्कं कुर्वति त्वत्प्रबोधे
किमहिमरुचिना वा कार्यमत्रेन्दुना वा ॥५५॥
दुरितमुदितं पाकोद्रेकात्पुराकृतकर्मणां
झटिति घटयत्यर्हद्भक्तेः स्वशक्तिविपर्ययम् ।
उपजलतरुच्छायाच्छन्ने जने जरठीभवद्—
द्युमणिकिरणैर्भीष्मो ग्रीष्मो न किं शिशिरायते ॥५६॥
इत्याराध्य त्रिभुवनगुरुं तत्र जन्माभिषेके
भक्त्या मातुः पुनरपि तमुत्सङ्गभाजं विधाय ।
भूयोभूयस्तदमलगुणग्रामवार्ताभिरुद्य-
ल्लोमानस्ते त्रिदशपतयः स्वानि धामानि जग्मुः ॥५७॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये जन्माभिषेको नामाष्टमः सर्गः ॥८॥

भुवनगृहे केवलज्ञानप्रकाशी त्वमेव दीपः । एकान्तवादिमोहिते जने अनेकान्तवादप्रतिबोधकस्त्वमेवेत्यर्थः ॥५४॥ अलमिति—हे जिन ! तव वचनं यदि श्रुतं पूर्यतें पीयूषेण । कल्पवृक्षलक्ष्म्यापि किं प्रयोजनम् । त्वयि याच्यमाने सति । अपरं च गतध्वान्तं भुवनं त्वज्ज्ञाने कुर्वति सति चन्द्रेण सूर्येण वा किं कार्यं न किञ्चिदित्यर्थः । अत्र वचनामृतयोः प्रबोधचन्द्राद्योरुपमानोपमेयभावः ॥५५॥ दुरितमिति—पूर्वभवोपार्जितानां कर्मणां महाविपाकाद्दुरितमशुभफलमुदयमागतमपि जिनभक्तिप्रभावाच्छीघ्रमेव स्वशक्तिविपर्ययं घटयति । यथा यथा जलतटवृक्षच्छायाश्रितानां जनानां भीष्म उष्णकालो रौद्रोऽपि ग्रीष्मः शीतकालायते । कैर्भीष्म इत्याह—देदीप्यमान खरकिरणकिरणैः[1] ॥५६॥ इतीति—इति पूर्वोक्त प्रकारेण जिनस्नपनोत्सवं विधाय तथैव पुनः-पुनर्जिननिर्मलगुणसञ्चयवार्ताभिः रोमाञ्चिता इन्द्रा निजानि गृहाणि प्रपेदिरे[2] ॥५७॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशस्कीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्त-दीपिकायामष्टमः सर्गः ॥८॥

रूप सघन अन्धकारके द्वारा जिसके समस्त पदार्थ आच्छादित हैं ऐसे इस संसार रूप घरमें केवलज्ञान रूप प्रकाशको करनेवाले आप ही एक ऐसे दीपक हैं जिसमें कि कामदेव पतंग-सुलभ लीलाको प्राप्त होगा—पतंगकी तरह नष्ट होगा ॥५४॥ हे जिन ! यदि आपके वचनोंका आस्वादन कर लिया तो अमृत व्यर्थ है, यदि आपसे प्रार्थना कर ली तो कल्पवृक्षकी क्या आवश्यकता है । यदि आपका ज्ञान संसारको अन्धकारहीन करता है तो सूर्य और चन्द्रमासे क्या लाभ ? ॥५५॥ पूर्वकृत कर्मोंके उदयसे प्राप्त हुआ दुःख भी अर्हन्त देवकी भक्तिके प्रभाव वश शीघ्र ही अपनी शक्तिका विपर्यय कर लेता है—सुख रूप बदल जाता है । सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे भयंकर ग्रीष्म ऋतु क्या जलके समीपस्थ वृक्षकी छायामें बैठे हुए मनुष्यके आगे शिशिर ऋतु नहीं बन जाती ? ॥५६॥ इस प्रकार इन्द्रोंने जन्माभिषेकके समय सुमेरुपर्वतपर त्रिभुवनपति श्री जिनेन्द्र देवकी भक्ति वश आराधना कर उन्हें पुनः माताकी गोदमें सौंपा और आप उन के निर्मल गुणोंकी चर्चासे रोमांचित होते हुए अपने-अपने स्थानपर गये ॥५७॥

इस प्रकार महाकवि श्री हरिचन्द्रविरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें जिनाभिषेकका वर्णन करनेवाला आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥८॥

१. अर्थान्तरन्यासः । हरिणीच्छन्दः । २. मन्दाक्रान्ताच्छन्दः ।

नवमः सर्गः

सिक्तः सुरैरित्थमुपेत्य विस्फुरज्जटालवालोऽथ स नन्दनद्रुमः ।
छायां दधत्काञ्चनसुन्दरीं नवां सुखाय वप्तुः सुतरामजायत ॥१॥
चित्रं किमेतज्जिनयामिनीपतिर्यथा यथा वृद्धिमनश्वरीमगात् ।
सीमानमुल्लङ्घ्य तथा तथाखिलं प्रमोदवार्धिर्जगदप्यपूर्यत ॥२॥
लप्स्यामहे तीर्णभवार्णवं पुनर्विवेकिनं क्वैनमितीव तं प्रभुम् ।
बाल्याङ्गसंस्कारविशेषसत्क्रियाः किमप्यहंपूर्विकया सिषेविरे ॥३॥
लोकस्त्रिलोक्यां सकलोऽपि सप्रभः[1] प्रभावसंभावितमेकमर्भकम् ।
ज्योतिर्ग्रहाणामिव मण्डलो ध्रुवं ध्रुवं समन्तादनुवर्तते स्म तम् ॥४॥
तैस्तैस्त्रिसन्ध्यं मणिभूषणैः प्रभुं तमेकमेवोपचचार वासवः ।
को वा दुरापां समवाप्य संपदं विचक्षणः क्षेमविधौ विमुह्यति ॥५॥

सिक्त इति—इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण स नन्दनः सुत एव द्रुमः । वप्तुर्जनकस्यातिसुखाय बभूव । किंविशिष्ट इत्याह—विस्फुरन्तः सकान्तिका जटिलाः कुन्तला यस्य स पक्षे विस्फुरन्मूलस्थानकः स्वर्णभासुरां प्रभां धारयन् पक्षे कांचनानिर्वाच्यां महातपोच्छेदिनीं छायां वप्तुरारोपकस्य[2] ॥१॥ चित्रमिति[3]— ॥२॥ लप्स्यामह इति—बालत्वेऽङ्गसंस्कारविशेषसत्क्रियाः चूडाकरणादिव्यवहारमङ्गलक्रिया अहमहमिकया तं प्रभुं सिषेविरे इति चिन्तयन्त्य इव उत्तीर्णसंसारसमुद्रमेनं पतिं क्व प्राप्स्याम इति ॥३॥ लोकेति—तं महाप्रभावं बालं महेन्द्रादिस्तेजस्वी लोकस्त्रिभुवने सर्वोऽपि तं परिवारयामास निश्चितं नक्षत्रमण्डलं ध्रुवमण्डलमिव ॥४॥ तैस्तैरिति—तैस्तैरिन्द्रभावोपनीतैः कटककुण्डलादिरत्नालंकरणैस्तं बालजिनं सौधर्मेन्द्र आनर्च । अथवा युक्तमेतत् तादृशीं महापुण्यपरीपाकलभ्यां विभूतिं प्राप्य कः प्रेक्षापूर्वकारी लब्धपरिरक्षणोपाये मूढो

इस प्रकार देवोंके द्वारा अभिषिक्त [पक्षमें सींचा हुआ] घुँघुराले बालोंसे शोभित [पक्षमें मूल और क्यारीसे युक्त] सुवर्ण जैसी सुन्दर और नूतन कान्तिको धारण करनेवाला [पक्षमें अद्भुत-नूतन छायाको धारण करनेवाला] वह पुत्र रूपी वृक्ष [पक्षमें नन्दनवनका वृक्ष] पिताके लिए [पक्षमें बोनेवालेके लिए] अतिशय सुखकर हुआ था ॥१॥ इसमें क्या आश्चर्य था कि जिनेन्द्र रूपी चन्द्रमा ज्यों-ज्यों अविनाशी वृद्धिको प्राप्त होते जाते थे त्यों-त्यों आनन्द रूपी समुद्र सीमाका उल्लंघन कर समस्त संसारको भरता जाता था ॥२॥ संसार समुद्रको तरनेवाले ऐसे विवेकी स्वामीको हमलोग पुनः कहाँ पा सकती हैं ?' यह सोचकर ही मानो बाल्यकालीन शरीर संस्कारकी विशेष क्रियाएँ शीघ्रताके साथ उनकी सेवा कर रही थीं ॥३॥ जिस प्रकार ग्रहोंका मण्डल सदा ध्रुवताराका अनुसरण करता है उसी प्रकार तीनों लोकोंमें जो भी प्रभापूर्ण मनुष्यके वे सब प्रभावसे परिपूर्ण उसी एक बालकका अनुसरण करते थे ॥४॥ इन्द्र दिनकी तीनों सन्ध्याओंमें उत्तमोत्तम आभूषणोंसे एक उन्हीं प्रभुकी

१. सप्रभुः च. ज. (प्रभुभिः सह वर्तते इति सप्रभुः च. टि.)। २. श्लेषानुप्राणितरूपकालंकारः । इन्द्रवंशा-वंशस्थयोर्मिश्रणादुपजातिवृत्तम् । ३. अस्य श्लोकस्य 'क' पुस्तके टीका नोपलभ्यते ततो व्याख्यानान्तरं दीयते—एतत् किं चित्रं किमाश्चर्यं विद्यते यद् जिनयामिनीपतिर्जिनेन्द्रचन्द्रो यथा यथा येन येन प्रकारेण अनश्वरीमविनाशिनीं वृद्धिं शरीरोपचयं कलावृद्धिं च अगात्प्राप्नोत् तथा तथा तेन तेन प्रकारेण प्रमोदवार्द्धिरानन्दाम्बुधिर्जगत इति शेषः सीमानं मर्यादामुल्लङ्घ्य अखिलं समग्रमपि जगद् भुवनम् अपूरयत् पूर्णं चकार । वयतिरेकानुप्राणितो रूपकालंकारः ॥

औत्सुक्यनुन्ना शिशुमप्यसंशयं चुचुम्ब मुक्तिर्निभृतं कपोलयोः ।
माणिक्यताटङ्ककरापदेशतस्तथाहि ताम्बूलरसोऽत्र संगतः ॥६॥
प्राच्या इवोत्थाय स मातुरङ्कतः कृतावलम्बो गुरुणा महीभृता ।
भून्यस्तपादः सवितेव बालकश्चचाल वाचालितकिङ्किणीद्विजः ॥७॥
रिङ्खन्पदाक्रान्तमहीतले बभौ स्फुरन्नखांशुप्रकरेण स प्रभुः ।
शेषस्य बाधाविधुरेऽस्य धावता कुटुम्बकेनेव निषेवितक्रमः ॥८॥
बभ्राम पूर्वं सुविलम्बमन्थरप्रवेपमानाग्रपदं स बालकः ।
विश्वम्भरायां पदभारधारणप्रगल्भतामाकलयन्निव प्रभुः ॥९॥
पुत्रस्य तस्याङ्गसमागमक्षणे निमीलयन्नेत्रयुगं नृपो बभौ ।
[1]अन्तर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयोः संघटयन्निव द्वयम् ॥१०॥

भवति, न कोऽपीत्यर्थः । न हि जिनपूजाविधौ द्रव्यव्ययमन्तरेण लक्ष्मीर्भवान्तरेऽपि पुरुषमनुगच्छतीति भावः ॥५॥ औत्सुक्येति—अतिप्रमोदोत्कण्ठिता मोक्षलक्ष्मीर्निभृतं बालमपि जिनं चुम्बति स्म । अलीकं चेद् दृश्यतामत्र कपोलयोस्ताम्बूलरसोऽयं लग्नः पद्मरागमयकुण्डलकिरणव्याजात् ॥६॥ प्राच्या इति—स जनन्युत्सङ्गादुत्थाय जनकाङ्गुलीविलग्नो रणज्झणत्किङ्किणीकः पद्भ्यां क्रामति स्म यथा पूर्वस्यां दिश उत्सङ्गादुत्थायाचलावलम्बीकृतः पक्षिकोलाहल आदित्यश्चलति ॥७॥ रिङ्खन्निति—स प्रभुः पदाङ्गुलीनखकिरणदण्डकैर्भूतले चङ्क्रम्यमाणो रराज महाभारपीडितस्य शेषस्य मिलितेन कुलेनेव मा मैनं पीडयेति सेवितपादपद्मः ॥८॥ बभ्रामेति—स पूर्वं विश्रद्धामन्दं कम्पमानाग्रपादं यथा स्यादेवं बालकश्चचाल पृथिव्यां निजपदभारधारणशक्तिं संभावयन्निव बभौ । इयं भूमिर्मम भारं क्षमेत न वेति मन्दं मन्दं क्रामतीति भावः ॥९॥ पुत्रस्येति—तस्य निजतनूजस्य निर्भरालिङ्गनकाले नेत्रे निमीलयन्नृपतिः शुशुभे । शरीरापवरकमध्ये सुखं प्रस्थाप्य कपाटयुग्मं मेलयन्निव । अत्र शरीरगृहयोर्नयनयुगकपाटयुगयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥१०॥

उपासना करता था सो ठीक ही है क्योंकि दुर्लभ सम्पदाको पाकर ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो कल्याणके कार्यमें प्रमाद करता हो ॥५॥ यद्यपि उस समय भगवान् बालक ही थे फिर भी मुक्ति रूपी लक्ष्मीने उत्कण्ठासे प्रेरित हो उनके कपोलोंका निःसन्देह जमकर चुम्बन कर लिया था इसीलिए तो मणिमय कर्णाभरणकी किरणोंके बहाने उनके कपोलोंपर मुक्ति लक्ष्मीके पान-का लाल रस लग गया था ॥६॥ जिस प्रकार सूर्य पूर्व दिशाकी गोदसे उठकर उदयाचलका आलम्बन पा पक्षियोंको चहचहाता और पृथिवीपर पद [किरण] रखता हुआ धीरे-धीरे चलता है उसी प्रकार वह बालक भी माताकी गोदसे उठकर पिताका आलम्बन पा किंकिणी रूप पक्षियोंको वाचालित करता और पृथिवीपर पैर रखता हुआ धीरे-धीरे चलता था ॥७॥ चरणोंके द्वारा आक्रान्त पृथिवीपर चलते हुए वे भगवान् नखोंसे निकलनेवाली किरणोंके समूहसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो शेषनागको बाधा होनेपर उसके कुटुम्बके लोग दौड़ आकर उनकी चरणोंकी सेवा ही कर रहे हों ॥८॥ वह बाल जिनेन्द्र कुछ-कुछ काँपते हुए अपने अगले पैरको बहुत देर बाद धीरेसे पृथिवीपर रखकर चलते थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो सबका भार धारण करनेवाली पृथिवीमें हमारे पैरका भार धारण करनेकी सामर्थ्य है या नहीं—यह देख रहे हों ॥९॥ पुत्रके शरीरका समागम पाकर राजा महासेन आनन्दसे अपने नेत्र बन्द कर लेते थे और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो गाढ़ आलिंगन करनेसे उत्पन्न सुखको शरीर रूपी घरके भीतर रखकर किवाड़ोंकी जोड़ी ही बन्द कर रहे हों ॥१०॥

---

१. घ– छ –पुस्तकयोरेवं पाठः—'अन्तः कियद्गाढनिपीडनाद्वपुः प्रविष्टमस्येति निरूपयन्निव' ॥

उत्सङ्गमारोप्य तमङ्गजं नृपः परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ।
[1]अन्तः कियद्गाढनिपीडनाद्वपुः प्रविष्टमस्येति निरूपयन्निव ॥११॥
चित्रं प्रचिक्रीड यथा यथा करप्रकीर्णपांसुप्रकरैः कुमारकैः।
आदर्शवन्निर्मल एव सोऽभवत्तथा तथान्तःफलितावनीत्रयः ॥१२॥
कः पण्डितो नाम [2]शिखण्डिमण्डने मराललीलागतिदीक्षकोऽथवा।
नैसर्गिकज्ञाननिधेर्जगद्गुरोर्गुरुश्च शिक्षासु बभूव तस्य कः ॥१३॥
शस्त्रेषु शास्त्रेषु कलासु चाभवन्मनीषिणां यश्चिरसंचितो मदः।
ज्ञानापणे तत्र पुरःस्थितेऽगलच्छरीरतः स्वेदजलच्छलेन सः ॥१४॥
बाल्यं व्यतिक्रम्य समुन्नतिं क्रमाद् दधत्समस्तावयवानुवर्तिनीम्।
लक्ष्मीं स निःशेषकलाजुषस्तदा पुपोष पीयूषमयूखमालिनः ॥१५॥
मध्यंदिनेनेव सहस्रदीधितेर्महाध्वराग्नेर्हविषेव भूयसा।
बाल्यव्यपायेन किमप्यपूर्ववज्जिनस्य नैसर्गिकमप्यभून्महः ॥१६॥

उत्सङ्गेति—तमङ्काश्रितं तनूजमाश्लिष्यन् महासुखानुभवननिमीलितलोचनो राजा रराज अस्य सुतस्य निर्भराश्लेषात्कियन्मात्रमङ्गं मयाङ्गमध्ये प्रविष्टमिति पश्यन्निव। बहिर्मुखा हि दृष्टिर्बाह्यं पश्यति अन्तर्मुखा च मध्यमिति प्रसिद्धिः ॥ ११ ॥ चित्रमिति—नानाप्रकारदेवकुमारकैर्बालभावादुत्क्षिप्तधूलिपटलैः सह यथायथा क्रीडां चकार तथातथा दर्पण इवान्तर्भुवनत्रयप्रतिबिम्बाधारो निर्मलो निर्दोष एव शुशुभे। यथादर्शः पांसुप्रकरेण निर्मलो भवति तथा सोऽपीत्यर्थः ॥१२॥ क इति—मयूरकलापचित्रकर्मणि को नाम चित्रकारो हंसानां वा लीलागतौ शिक्षकस्तथा च तस्य त्रिभुवनगुरोः सहजज्ञाननिधानस्य विद्यासु क उपाध्यायो न कोऽपीत्यर्थः ॥१३॥ शस्त्रेष्विति—यो विदुषां गुणगौरवगर्वोऽभूत् स तत्र परमेश्वरे ज्ञाननिधौ पुरःस्थिते विजगाल प्रस्वेदसलिलव्याजात्। ते सर्वेऽपि मनीषिणः स्तम्भस्वेदादिभावैरुपलक्षिताः [रूपवर्जितमदा] बभूवुरित्यर्थः ॥१४॥ बाल्यमिति—शिशुभावमतिक्रम्य क्रमेण समुन्नतिं दधानः सकलावयवकलापपरिपूर्णां राकामृगाङ्कस्य शोभां बभार ॥१५॥ मध्यमिति—बालभावातिक्रमणे जिनस्य सहजमपि तेजोऽपूर्व-

उस पुत्रको गोदमें रख आलिंगन करते हुए राजा हर्षातिरेकसे जब लोचन बन्द कर लेते थे तब ऐसे जान पड़ते थे मानो गाढ़ आलिंगन करनेसे इनका शरीर हमारे भीतर कितना प्रविष्ट हुआ—यही देखना चाहते हों ॥११॥ जिनकी अन्तरात्मामें तीनों लोक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ऐसे जिनबालक अपने हाथों द्वारा धूलि-समूहको बिखेरनेवाले अन्य बालकोंके साथ ज्यों-ज्यों क्रीड़ा करते थे त्यों-त्यों दर्पणकी तरह वे निर्मल ही होते जाते थे—यह एक आश्चर्यकी बात थी ॥१२॥ मयूरको अपना कलाप सुसज्जित करनेकी शिक्षा कौन देता ? अथवा हंसको लीला पूर्ण गति कौन सिखाता ? इसी प्रकार स्वाभाविक ज्ञानके भाण्डार स्वरूप उन जगद्गुरुको शिक्षा देनेके लिए कौन गुरु था। वह स्वतः स्वयंबुद्ध थे ॥१३॥ शस्त्र, शास्त्र और कलाके विषयमें विद्वानोंका जो चिरसंचित अहंकार था वह ज्ञानके बाजार रूप जिनेन्द्र देवके सामने आनेपर स्वेद जलके बहाने उनके शरीरसे निकल जाता था ॥१४॥ जब उन जिनेन्द्रने क्रम-क्रमसे बाल्य अवस्था व्यतीत कर समस्त अवयवोंमें बढ़नेवाली उन्नति धारण की तब वे सोलहों कलाओंसे युक्त चन्द्रमाकी शोभाको पुष्ट करने लगे—पूर्ण चन्द्रमाके समान सुशोभित होने लगे ॥१५॥ जिस प्रकार मध्याह्नसे सूर्यका और भारी साकल्यसे महायज्ञकी अग्निका तेज बढ़ जाता है उसी प्रकार बाल्यावस्थाके व्यतीत होनेसे भगवान्का स्वाभाविक

१. 'अन्तर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयोः संघटयन्निव द्वयम्' ॥ घ० छ० २. शिखण्डमण्डने घ० म०।

तस्योद्धृताद्रिर्दशकन्धरो मुदे वहन्न येनैक्षि महीमहीश्वरः ।
आश्चर्यकृत्तस्य बभूव तद्द्वयं स येन दृष्टस्त्रिजगद्धुरंधरः ॥१७॥
चक्राब्जशङ्खादिविलोकनोत्थया स्वकान्तसंकेतनिवासशङ्कया ।
मन्ये न लक्ष्मीर्नवपल्लवारुणं तदं[1]ह्रिपङ्केरुहयुग्ममत्यजत् ॥१८॥
उद्यत्पदाङ्गुष्ठनखांशुदण्डिकां[2]प्रकाण्डगर्भं[3] युगमस्य जङ्घयोः ।
कार्तस्वरस्तम्भविशेषशालिनीं जहास दोलां नवधर्मसंपदः ॥१९॥
अत्यन्तमव्याहतवेगवीर्ययोर्जगत्त्रयीनेत्रमनोगजेन्द्रयोः ।
स्तम्भाविवोरू दृढबन्धहेतवे व्यधायिषातां ध्रुवमस्य वेधसा ॥२०॥
कण्ठीरवेणेव नितान्तमुन्नतं नितम्बबिम्बं परिणाहि बिभ्रता ।
एनोमयी तेन जनस्य दर्शनात्प्रमत्तमातङ्गघटा विघट्टिता ॥२१॥
तप्तो ध्रुवं प्राग्जिननाभिपल्वले विवेश दानोद्धुरधर्मसिन्धुरः ।
समुल्लसल्लोमलतापदेशतो मदाम्बुधारा कथमन्यथा तटे ॥२२॥

वत्प्रादुर्बभूव । मध्याह्नेन चण्डरोचेरिव, वा महता होमद्रव्येण यज्ञाग्नेरिव ॥१६॥ तस्येति—येन शेषराजो भूमिं धारयन् दृष्टस्तस्योत्पाटितकैलासो रावण आश्चर्यकारी न बभूव । येन च स परमेश्वरस्त्रिभुवनधरां धारयन् दृष्टस्तस्य पूर्वोक्तं शेषरावणलक्षणं युग्मं चित्रकृन्न बभूव ॥१७॥ चक्राब्जेति—तस्य जिनस्य नवीनाशोकपल्लवसदृशं चरणकमलयुगलं लक्ष्मीर्न रहयांचकार इति शङ्के निजपतिसंकेतगृहभ्रान्त्या । किंविशिष्टशङ्कयेत्याह—सुदर्शनपाञ्चजन्यप्रभृतिकविलोकनोत्पन्नया चक्रादीनि लक्षणानि संकेतार्थं विष्णुनेह मुक्तानीति मत्वा । विष्णुमार्गमेवालोकयन्ती लक्ष्मीरत्र चिरं तिष्ठतीवेति भावः ॥१८॥ उद्यदिति—अस्य जिनस्य पिण्डिकयोर्युगलं धर्मलक्ष्म्या लीलान्दोलां विडम्बयामास । किंविशिष्टामित्याह—सुवर्णस्तम्भविशेषमण्डितां । चरणाङ्गुष्ठनखकिरणाग्रस्थितदण्डिकाश्रीकाम् । अत्र जङ्घासुवर्णस्तम्भयोर्नखांशुदण्डिकयोश्चोपमानोपमेयभावः[४] ॥१९॥ अत्यन्तमिति—अस्य ब्रह्मणा स्तम्भाविव कृतौ । किमर्थमित्याह—अतिशयदुर्निवारवेगशक्तिकयोस्त्रिभुवननेत्रचित्तमातङ्गयोराकलनहेतवे । तस्योरुयुगं त्रिभुवननयनमनांसि पश्यन्ति नान्यत्र चरन्तीति भावः[५] ॥२०॥ कण्ठीरवेणेवेति—तेन सिंहेनेव परिणाहयुक्तं नितम्बं धारयता कल्पषमयी मातङ्गघटा निर्णाशिता लोकस्य, दर्शनमात्रादेव पक्षे सम्यक्त्वात् ॥२१॥ तप्त इति—जिनजन्मपूर्वं मिथ्यात्व-

तेज कुछ अपूर्व ही हो गया था ॥१६॥ पर्वतका भार उठानेवाला रावण उसीके लिए आनन्ददायी हो सकता है जिसने कि पृथिवीका भार धारण करनेवाला शेषनाग नहीं देखा और जिसने तीनों जगत्का भार धारण करनेवाले उन धर्मनाथ जिनेन्द्रको देख लिया था उसे वह दोनों ही आश्चर्यकारी नहीं थे ॥१७॥ चक्र, कमल और शंख आदि चिह्नोंके देखनेसे उत्पन्न अपने पतिके निवासगृह की शंकासे ही मानो लक्ष्मी नूतन पल्लवके समान लाल दिखनेवाले उनके चरणकमलोंके युगलको नहीं छोड़ रही थी ॥१८॥ श्रेष्ठ मध्य भागसे युक्त उनकी दोनों जंघाओंका युगल, पदांगुष्ठके नखोंसे उठनेवाली किरणों रूपी छड़ीसे युक्त एवं सुवर्ण निर्मित खम्भोंसे सुशोभित नूतन धर्मलक्ष्मीके झूलाकी हँसी उड़ा रही थी ॥१९॥ उनकी दोनों जाँघें ऐसी जान पड़ती हैं मानो जिनका वेग और बल कोई नहीं रोक सका ऐसे तीनों लोकोंके नेत्र और मन रूपी हाथीको बाँधनेके लिए ब्रह्माने दो खम्भे ही बनाये हों ॥२०॥ सिंहके समान अत्यन्त उन्नत और विशाल नितम्बको धारण करनेवाले उन जिनेन्द्र देवके द्वारा दर्शनमात्रसे ही मनुष्योंके पाप रूपी मदोन्मत्त हाथियोंकी घटा विघटा दी जाती थी ॥२१॥

१. तदङ्घ्रि घ० म० । २. दण्डिका म० घ० । दोलामित्यस्य विशेषणम् । ३. श्रेष्ठमध्यम् युगमित्यस्य विशेषणम् । ४. उपमा । ५. रूपकोत्प्रेक्षा ।

लक्ष्मीरिहान्तःपुरसुन्दरी चिरं गुणैः सह स्थास्यति सौविदल्लकैः ।
जानन्नितीवास्य मनोहितं विधिर्व्यधाद्विशालं हृदयं दयावतः ॥२३॥
तस्यैकमुच्चैर्भुजशीर्षमुद्वहन् सहेलमालम्बितभूत्रयो भुजः ।
भूभारनियुंक्तशिरःसहस्रकं फणीश्वरं दूरमधश्चकार सः ॥२४॥
रेखात्रयेणेव जगत्त्रयाधिकां निरूपयन्तं निजरूपसंपदम् ।
तत्कण्ठमालोक्य ममज्ज लज्जया विशीर्यमाणः किल कम्बुरम्बुधौ ॥२५॥
यन्निस्तुलेनापि तदाननेन्दुना व्यधात्तुलारोहणमुग्रपातकम् ।
अद्यापि हेमद्युतिरुद्यतस्ततो भवत्यसौ श्वित्रविपाण्डुरः शशी ॥२६॥
स्निग्धा बभुर्मूर्धनि तस्य कुन्तलाः कलिन्दकन्याम्बुतरङ्गभङ्गुराः ।
फुल्लाननाम्भोरुहि सारसौरभे निलीननिःशब्दमधुव्रता इव ॥२७॥

सूर्यतापेन तप्तः सन् धर्मकरीन्द्रो जिननाभिसरसि प्रविष्टः । कथं ज्ञायत इति चेत् । समुल्लसद्रोमराजीव्याजात् । यथा नाभिह्रदतटे मदजलधारा दृश्यते ॥२२॥[1] लक्ष्मीरिति—अस्य जिनस्य कपाटविस्तीर्णं हृदयं विधिर्विघटयामास । विधाता तस्य मनोहितमभिलिखितं जानन्निव । किं जानन्नित्याह—वृद्धैर्महागुणैः परिचारितमहल्लकैरिव सार्द्धं श्रीश्चिरं स्थास्यतीति । ततो बह्वाश्रयत्वाद्विस्तीर्णमिति[2] ॥२३॥ तस्येति—तस्य भुजो दोर्दण्ड एकपृथ्वीभारधारणाकुलीभूतदशशतमस्तकं शेषं जिगाय । किंविशिष्ट इत्याह—उद्धृतलोकत्रयः । तर्हि शिरांस्यपि बहूनि भविष्यन्ति । तन्न, एकं स्कन्धं दधानः सहेलमनायासेन[3] ॥२४॥ रेखेति—शङ्खो लज्जाविदीर्यमाणहृदयो जलनिधौ पपात तस्य जिनस्य गलकन्दलमालोक्य । किंविशिष्टमित्याह—निजरूपलक्ष्मीं प्रतिपादयन्तं जितत्रिभुवनाम् । केन । रेखात्रयेणेव[4] ॥२५॥ यदिति—यन्निरुपमेन तस्य मुखचन्द्रेण सार्द्धं चन्द्र उपमानतामगात् । तेन महापातकेनेव प्रथमत उद्यन् हेमप्रभः पश्चात्पाण्डुरुत्कुष्ठप्रभः स्यात्[5] ॥२६॥ स्निग्धा इति—तस्य शिरसि यमुनातरङ्गश्यामलाः सकान्तिकाः कुन्तला विरेजिरे । मुख-

ऐसा जान पड़ता है कि दानसे उत्कट धर्मरूपी हाथी संतप्त होकर पहले ही श्रीजिनेन्द्रकी नाभि रूप जलाशयमें जा घुसा था। यदि ऐसा न होता तो उस प्रकट होनेवाली रोमराजिके बहाने तटपर उसके मदजलकी धारा क्यों होती ? ॥२२॥ यहाँ पर अन्तःपुरकी श्रेष्ठ सुन्दरी लक्ष्मी अपने गुणरूपी कंचुकियोंके साथ चिरकाल तक निवास करेगी—इस प्रकार ब्रह्मा उन दयालु भगवान्‌के हितकारी मनको पहलेसे ही जानता था इसीलिए तो उसने उनका वक्षःस्थल चौड़ा बनाया था ॥२३॥ यद्यपि भगवान्‌की भुजा एक ही सिर (कन्धा) धारण करती थी फिर भी चूँकि उस ने तीनों लोकोंका भार अनायास धारण कर लिया था अतः केवल पृथिवीका भार धारण करनेके लिए जिसके हजार सिर व्यापृत हैं ऐसे शेषनागको उसने दूरसे ही अधस्कृत—तिरस्कृत [पक्षमें नीचे] कर दिया था ॥२४॥ जो अपनी तीन रेखाओंके द्वारा मानो यही प्रकट कर रहा था कि मेरी सौन्दर्य सम्पत्ति तीनों लोकोंमें अधिक है ऐसे भगवान्‌के कण्ठको देख बेचारा शंख लज्जासे ही मानो जीर्ण-शीर्ण हो समुद्रमें जा डूबा ॥२५॥ यह निश्चित था कि भगवान्‌का मुख चन्द्र सर्वथा निरुपम है फिर भी चन्द्रमा उसकी उपमा रूप भयंकर पाप कर बैठा। यही कारण है कि वह अब भी उदित होते समय तो सुवर्ण जैसी कान्तिवाला होता है पर कुछ समयके बाद ही उस भयंकर पापके कारण कोढ़से सफेद हो जाता है ॥२६॥ यमुना जलकी तरङ्गोंके समान टेढ़े-मेढ़े सचिक्कण काले केश भगवान्‌के मस्तकपर ऐसे सुशोभित होते थे मानो श्रेष्ठ सुगन्धिसे युक्त मुख रूप प्रफुल्लित

१. रूपकम् । २. रूपकानुप्राणितोत्प्रेक्षा । ३. व्यतिरेकः । ४. उत्प्रेक्षा । ५. हेतूत्प्रेक्षा ।

वज्राब्जसारैरिव वेधसा कृतं तमास्पदं विक्रमसौकुमार्ययोः ।
उर्व्याः [1]करं ग्राहयितुं न केवलं बभूव वध्वा अपि वप्तुराग्रहः ॥२८॥
तं यौवराज्ये नयशीलशालिनं व्यधात्तनूजं नवयौवनं नृपः ।
प्रागेव लोकत्रयराज्यसंपदां निधानमेनं न विवेद भूपतिः ॥२९॥
तस्मिन्गुणैरेव नियम्य कुर्वति प्रकाममाज्ञावशवर्तिनः परान् ।
[2]आसीन्नृपोऽन्तःपुरसारसुन्दरीविलासलीलारसिकः स केवलम् ॥३०॥
श्रृङ्गारवत्या दुहितुः स्वयंवरे प्रतापराजेन विदर्भभूभुजा ।
दूतः कुमारानयनार्थमीरितः समाययौ रत्नपुरप्रभोर्गृहम् ॥३१॥
भर्तुः प्रतीहारनिवेदितस्ततः प्रविश्य संसद्गृहमाहितानतिः ।
भ्रूभेददत्तावसरः स कर्णयोः क्षरत्सुधासारमुवाच वाचिकम् ॥३२॥
किंचाग्रतस्तेन निरीक्ष्य भूपतेः कुमारमाकारविनिर्जितस्मरम् ।
तद्रूपशोभासुभगोऽस्य दर्शितो जगन्मनोलुण्ठनलम्पटः पटः ॥३३॥
पीयूषधारागृहमत्र नेत्रयोर्निरीक्ष्य कन्याप्रतिबिम्बमद्भुतम् ।
किं तथ्यमित्थं भवितेति चिन्तयन् पुरो नृपः श्लोकमिमं व्यलोकयत् ॥३४॥

सौरभपानसक्ता निःशब्दमत्सरा इव[3] ॥२७॥ वज्राब्जेति—तं कुलिशकमलसारैरिव कृतबलसुकुमारतागृहं दृष्ट्वा पितुः साम्राज्यपददानाय विवाहाय च चिन्ता बभूव ॥२८॥ तमिति—तं नयविनययुक्तं यौवराज्यपदे स्थापयामास । अग्रेऽपि त्रिभुवनस्य राज्यमस्यास्तीति न जानाति स्म ॥२९॥ तस्मिन्निति—तस्मिन् यौवराज्यस्थे निजगुणैरेव अन्यान् परान् वशवर्तिनः कुर्वति सति राजा अन्तःपुरनारीविलासरसिक एवासीत् ॥३०॥ श्रृङ्गारवत्या इति—श्रृङ्गारवतीनाम्न्याः पुत्र्याः स्वयंवरे विदर्भदेशाधिपतिना कुमाराकारणाय दूतः प्रेषितः सन् रत्नपुरनाथस्य गेहमाजगाम ॥३१॥ भर्तुरिति—स प्रतीहारनिवेदितः सन् कृतप्रणामः सभामण्डपागतो भ्रूभङ्गसंज्ञया दत्तावसरः श्रवणयोः सुधासदृशं संदेशमचकथत् ॥३२॥ किंचेति—न केवलं तेन विदर्भभूकथायितं वाचिकं कथितं नृपतेरग्रत उपविष्टं निजरूपप्रभावनिर्जितकामं कुमारं निरीक्ष्य त्रिभुवनचित्तचोरणचञ्चुः पटोः दर्शितः । तस्याः कन्यकाया रूपशोभा तया सुभगः ॥३३॥ पीयूषेति—अमृतधारादुर्दिनं

कमल पर चुपचाप बैठे हुए भ्रमरोंके समूह ही हों ॥२७॥ वह धर्मनाथ पराक्रम और सौकुमार्य दोनोंके आधार थे मानो ब्रह्माने वज्र और कमल दोनोंका सार लेकर ही उनकी रचना की हो । उन्हें सब प्रकारसे योग्य देख पिता महासेनकी न केवल पृथिवीका ही कर [टैक्स] ग्रहण करानेकी इच्छा हुई किन्तु स्त्रीका भी ॥२८॥ नय और शीलसे सुशोभित नवयौवन सम्पन्न पुत्रको राजाने युवराज पद पर नियुक्त किया पर उन्होंने यह नहीं समझा कि यह तो पहलेसे ही त्रिभुवनकी राज्यसम्पदाके भाण्डार हैं ॥२९॥ चूँकि युवराज धर्मनाथने अपने गुणोंके द्वारा ही [गुणरूपी रस्सियोंके द्वारा ही] बाँध कर अन्य समस्त राजाओंको अपनी आज्ञाके अधीन कर लिया था अतः राजा महासेन केवल अन्तःपुरकी श्रेष्ठ सुन्दरियोंके साथ क्रीडा करनेमें तत्पर रहने लगे ॥३०॥ एक दिन पुत्री श्रृंगारवतीके स्वयंवरमें कुमार धर्मनाथको बुलानेके लिए विदर्भ देशके राजा प्रतापराजके द्वारा भेजा हुआ दूत महाराज महासेनके घर आया ॥३१॥ द्वारपालने राजाको उसकी खबर दी । अनन्तर सभागृहके भीतर प्रवेश कर उसने नमस्कार किया और भौहोंके भेदसे अवसर पा कानोंमें अमृत झरानेवाला संदेश कहा ॥३२॥ साथ ही महाराज महासेनके समीप बैठे आकारसे कामदेवको जीतनेवाले कुमार धर्मनाथको देख उस दूतने जगत्के मनको लूटनेमें निपुण चित्रपट, यह विचार कर दिख-

१. राजस्वं पक्षे पाणि च । २. अन्तःपुरस्य सारसुन्दरीणामनवद्यकामिनीनां लीलासु केलिषु रसिकस्तथाभूतः । ३. रूपकोपमा ।

अस्याः स्वरूपं कथमेणचक्षुषो यथावदन्यो लिखितुं प्रगल्भताम् ।
धातापि यस्याः प्रतिरूपनिर्मितौ घुणाक्षरन्यायकृताकृतेर्जडः ॥३५॥
ततोऽधिकं विस्मितमानसो नृपः सुतस्य तस्याश्च विलोक्य विग्रहम् ।
तच्चारुरूपासवपानघूर्णितोत्तमाङ्गसंसूचितमित्यचिन्तयत् ॥३६॥
यः स्वप्नविज्ञानगतेरगोचरश्चरन्ति नो यत्र गिरः कवेरपि ।
यं नानुबध्नन्ति मनःप्रवृत्तयः स हेलयार्थो विधिनैव साध्यते ॥३७॥
क्वायं जगल्लोचनवल्लभो युवा क्व कन्यकारत्नमतर्क्यमीदृशम् ।
सत्सर्वथा दुर्घटकर्मनिर्मितिप्रगल्भमानाय नमोऽस्तु वेधसे ॥३८॥
नूनं विहायैनमियं स्वयंवरे वरार्थिनी नापरमर्थयिष्यति ।
इन्दुं सदानन्दविधायिनं विना किमन्यमन्वेति कदापि कौमुदी ॥३९॥
यत्कन्यकायामुपवर्ण्यते बुधैः कुलं च शीलं च वयश्च किंचन ।
सर्वत्र संबन्धविधानकारणं प्रियस्य यत्प्रेम गुणैर्विशिष्यते ॥४०॥

कन्याप्रतिपूर्वमदृष्टपूर्वं दृष्ट्वा सत्यमेतत् किं वास्मन्मनोविप्रतारणाय मायास्वरूपमिदं किंचिद्वेति चिन्तयन् नृपो वक्ष्यमाणमेनं श्लोकं पटस्याधोलिखितं ददर्श ॥३४॥ अस्या इति—अस्या मृगाक्ष्या यथास्वरूपमालिखितुं कथं नामेतरः प्रायः प्रगल्भः स्यात् यस्याः प्रतिरूपनिर्मितौ ब्रह्माप्यसमर्थः । किंविशिष्टाया इत्याह—घुणाक्षरन्यायकृताकृतेः घुणाक्षरन्यायेन कृता आकृतिर्यस्याः । ब्रह्मापीदृशीं द्वितीयाकृतिं कर्तुं न शक्नोतीति भावः[1] । ॥३५॥ तत इति—ततोऽद्भुतरूपावलोकनाद्विस्मितमानसो द्वयोरपि रूपमनन्यसदृशमालोक्य ततो रूपमधुपानघूर्णितेन मस्तकेन मथितमहाप्रभावं यथा स्यादेवं चिन्तयांचकार ॥३६॥ य इति—यद्दुर्घटं स्वप्नेऽपि न दृश्यते, विज्ञानेनापि न ज्ञायते, कविवाचोऽपि न यत्र प्रसरन्ति, मनसापि न यन्नानुभूयते स पदार्थः सुखेन विधिना दृश्यते । किन्तु दुर्घटमित्याह ॥३७॥ क्वायमिति—क्वायमसंभावनीयरूपलक्ष्मीको भुवनलोचनप्रियतमो युवा क्व चास्य योग्यं कन्यकारत्नमनन्यत्र दृष्टमीदृशं तस्माद्दुर्घटकर्मकरणप्रभविष्णवे ब्रह्मणे नमस्कारोऽस्तु ॥३८॥ नूनमिति—निश्चितमेनं युवानं पतिं मृगयमाणा परित्यज्यान्यं न वरिष्यति यथा चन्द्रं मुक्त्वा चन्द्रिका नान्यमुपसर्पति ॥३९॥ यदिति—अपरं च यत्कुलकन्यकायां विवाहकरकारणं कुलशीलादिकं

लाया कि यह इनके सौन्दर्यके अनुकूल होगा ॥३३॥ उस चित्रपट पर नेत्रोंके लिए अमृतके धारागृहके समान कन्याका अद्भुत प्रतिबिम्ब देख यथार्थमें यह कन्या क्या ऐसी होगी ? इस प्रकार राजा महासेन विचार ही कर रहे थे कि उनकी दृष्टि अचानक सामने लिखे हुए इस श्लोक पर पड़ी ॥३४॥ इस मृगनयनीका वास्तविक स्वरूप लिखनेके लिए अन्य मनुष्य कैसे समर्थ हो सकता है ? जिसका कि प्रतिरूप लिखनेमें ब्रह्मा भी जड है । एक बार जो वह इसे बना सका था वह केवल घुणाक्षर न्यायसे ही बना सका था ॥३५॥ यह श्लोक देख राजाका मन बहुत ही विस्मित हुआ, वह कभी धर्मनाथके शरीरकी ओर देखते थे और कभी चित्रलिखित कन्याकी ओर। अन्तमें उस कन्याके सौन्दर्यरूपी मदिराके पानसे कुछ-कुछ सिर हिलाते हुए इस प्रकार सोचने लगे ॥३६॥ जो स्वप्न विज्ञानका अविषय है, जहाँ कवियोंके भी वचन नहीं पहुँच पाते और मनकी प्रवृत्ति भी जिसके साथ सम्बन्ध नहीं रख सकती वह पदार्थ भी भाग्यके द्वारा अनायास सिद्ध हो जाता है ॥३७॥ जगत्के नेत्रोंको प्यारा यह युवराज कहाँ ? और तर्कका अविषय यह कन्यारत्न कहाँ ? अतः असंभव कार्योंके करनेमें सामर्थ्य रखनेवाले विधाताको सर्वथा नमस्कार हो ॥३८॥ स्वयंवरमें वरकी इच्छा करनेवाली यह कन्या निश्चयसे इनको छोड़कर दूसरेकी इच्छा नहीं करेगी, क्योंकि कौमुदी सदा आनन्द देनेवाले चन्द्रमाको छोड़कर क्या कभी अन्यका अनुसरण करती है ? कभी

१. अतिशयोक्तिः ।

प्रत्यङ्गलावण्यविलोकनोत्सुकः कृतस्पृहोऽस्यां युवराजकुञ्जरः ।
दृष्ट्यापि रागोल्बणया विभाव्यते करी यथान्तर्मददर्पदुःसहः ॥४१॥
इत्थं विचिन्त्यैष कृतार्थनिर्णयो नृपः सुतं दारपरिग्रहक्षमम् ।
प्रस्थापयामासससैन्यमादराद्विदर्भभूवल्लभपालितां पुरीम् ॥४२॥
राज्ञा च दूतेन च तेन चोदितस्ततो ध्वजिन्या च मुदा च संयुतः ।
रूपेण चास्यास्त्वरितः स्मरेण च प्रभुः प्रतस्थे स विदर्भमण्डलम् ॥४३॥
शोभां स बिभ्रत्करवालशालिनीं सुवर्णसारं कटकं प्रकाशयन् ।
भव्यं च भीमं च तदा प्रसाधनं बभार नारीहितपूरणक्षमम् ॥४४॥
दन्तीन्द्रमारुह्य स[1] दानभोगवान् पथि प्रवृत्तश्च [2]गुरोरनुज्ञया ।
शोभामसंप्राप्तसहस्रचक्षुषः पुरंदरस्यानुचकार सुन्दरीम् ॥४५॥

तत्सर्वमस्यां परिपूर्णमस्त्येव । अथवा तदिदं परिपूर्णमपि परिपूर्णं परिणेतुः स्नेहगुणैः ॥४०॥ प्रत्यङ्गेति—यथा अङ्गं अङ्गं प्रति अस्या लावण्यं दिदृक्षति तथा ज्ञायते युवराजकरीन्द्रोऽस्यै स्पृहयति । सरागया दृष्ट्यापि स्पृहयालुरिति ज्ञायते ॥४१॥ इत्थमिति—इत्थं चिन्तयित्वा निर्द्धारितार्थो राजा परिणयनक्षमं विदर्भराजपुरीं ससैन्यं सुतं प्रस्थापयामास ॥४२॥ राज्ञेति—स प्रभुर्विदर्भदेशं प्रति प्रस्थानं ददौ । राज्ञा महासेनेन तेन चागतदूतेन प्रोत्साहितस्ततोऽनन्तरं सैन्येन हर्षेण च संगतः । कन्यारूपेण कामेन वाचालीकृतः ॥४३॥ शोभामिति—स यात्राकाले यात्रोचितं मण्डनं दधौ शत्रुमनोरथदलनक्षमं ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयोपेतं शिविरं धारयन् शोभितां लक्ष्मीं दधानः पक्षे प्रसाधनं गजाश्वादिसैन्यं न रिपूणां वाञ्छितपूरणं स्वर्णमयकटककुण्डलाद्याभरणं करवालशालिनीं हस्तकुन्तलोल्लासिनीं लक्ष्मीम्[3] ॥४४॥ दन्तीन्द्रमिति—स पितुरनुज्ञया करीन्द्रस्कन्धमधिरूढः,

नहीं ॥३९॥ कन्यामें बुद्धिमान् पुरुष यद्यपि कुल, शील और वयका विचार करते हैं किन्तु उन सबमें वे सम्बन्धको पुष्ट करनेवाला प्रेम ही विशेष मानते हैं ॥४०॥ चूँकि यह युवराज इस कन्याके प्रत्येक अंगका सौन्दर्य देखनेमें उत्सुक है अतः मालूम होता है कि यह इसे चाहता है। यही क्यों ? रागसे भरी हुई दृष्टिसे भी तो यह उस हाथीकी तरह जान पड़ता है जो कि भीतर रुके हुए मदके गर्वसे उत्तेजित हो रहा है ॥४१॥ ऐसा विचार कर राजाने कर्तव्यका निर्णय किया और विवाहके योग्य पुत्रको सेना सहित बड़े आदरके साथ विदर्भराजके द्वारा पालित नगरीकी ओर भेजा ॥४२॥ इस प्रकार राजा महासेन और दूतने जिन्हें प्रेरणा दी है तथा श्रृंगारवतीके रूप और कामने जिन्हें शीघ्रता प्रदान की है ऐसे धर्मनाथ युवराज सेना और हर्षसे युक्त हो विदर्भ देशकी ओर चले ॥४३॥ उस समय वह धर्मनाथ हाथों और केशोंसे विभूषित शोभाको धारण कर रहे थे, और सुवर्णके श्रेष्ठ कड़े उनके हाथमें चमक रहे थे अतः स्त्रियोंके हितको पूर्ण करनेमें समर्थ सुन्दर वेष धारण कर रहे थे [पक्षमें वह धर्मनाथ तलवारसे विभूषित शोभाको धारण कर रहे थे और जहाँ-तहाँ ब्राह्मणादि वर्णोंसे युक्त पड़ाव डालते थे अतः शत्रुओंके मनोरथको पूर्ण करनेमें असमर्थ भयंकर सेना

१. धर्मनाथपक्षे स इति पृथक् पदम्, दानभोगौ विद्यते यस्य सः दानभोगवान्, पुरंदरपक्षे सदा सर्वदा, नभोगा गगनगामिनो देवा विद्यन्ते यस्य सः । २. धर्मनाथपक्षे गुरोः पितुः । पुरंदरपक्षे गुरोर्देवमन्त्रिणो बृहस्पतेः । ३. अत्रेदं सुगमं व्याख्यानम्—तदा यात्रावसरे स युवराजतीर्थंकरो भव्यं मनोरमं प्रसाधनमाभरणं भीमं भयावहं प्रसाधनं गजाश्वादिसैन्यं च बभार । कथंभूतं प्रसाधनम् । नारीहितपूरणक्षमम् भव्यपक्षे नारीणां स्त्रीणां हितस्य पूरणे क्षमं समर्थं भीमपक्षे न अरीणां शत्रूणामीहितस्य पूरणे क्षमं समर्थम् । पुनश्च कथंभूतः स इत्याह—करवालशालिनीं हस्तकुन्तलोल्लासिनीं शोभां लक्ष्मीं बिभ्रत् दधत् पक्षे कृपाणशोभिनीं शोभां शौर्यसम्पत्ति दधत्, सुवर्णसारं कनत्काञ्चनश्रेष्ठं कटकं करवलयं प्रकाशयन् प्रकटयन् पक्षे ब्राह्मणादिवर्णश्रेष्ठं कटकं शिविरं स्थापयन् । श्लेषालंकारः ।

धुन्वन्निवोर्वीं दलयन्निवाम्बरं गिलन्निवाशाश्चलयन्निवाचलान् ।
प्रस्थानशंसी पटहध्वनिस्तदा समुज्जजृम्भे जगदाक्षिपन्निव ॥४६॥
ओङ्कारवत्प्रस्तुतमङ्गलश्रुतेः समुत्थिते व्योमनि शङ्खनिस्वने ।
कण्ठेऽपतद्द्युप्रसवच्छलात्प्रभोः स्वयंवरस्रङ्निहितैव कान्तया ॥४७॥
राज्ञा प्रयुक्ताः स्वयमाहितौजसः समर्पितालंकृतयः क्षितीश्वराः ।
तं साधुशब्दा इव साध्यसिद्धये मनश्चमत्कारिणमर्थमन्वयुः ॥४८॥
भद्राश्च मन्दाश्च मृगाश्च केऽपि ये नदीगिरीन्द्रोभयवर्त्मचारिणः ।
ते तस्य संकीर्णसमन्विताः पुरो बभूवुरैरावतवंशजा गजाः ॥४९॥
काम्बोजवानायुजवाह्लिकाः हयाः सपारसीकाः पथि चित्रचारिणः ।
शैलूषसभ्या इव दृष्टिनर्तकीमनर्तयन्नृत्यविचक्षणाः प्रभोः ॥५०॥
तां नेत्रपेयां विनिशम्य सुन्दरीं सुधामलङ्कामयमान उत्सुकः ।
क्रामन्नपाचीं हरिसेनया वृतो बभौ स काकुत्स्थ इवास्तदूषणः ॥५१॥

सह दानभोगाभ्यां वर्तत इति, अजातनयनसहस्रस्य महेन्द्रस्याकृतिमनुचकार । पक्षे सर्वकालं नभोगा देवा विद्यन्ते यस्य, गुरुर्देवमन्त्री[1] ॥४५॥ धुन्वन्निति—तस्य प्रस्थाननिवेदको डिण्डिमवाद उत्तस्थौ, महाघोर-गम्भीरनादत्वात्पृथ्वीं कम्पयन्निव गगनं भेदयन्निव, दिशः कवलयन्निव, पर्वतानुत्थापयन्निव, किंबहुना त्रिभुवनं तर्जयन्निव ॥४६॥ ओङ्कारवदिति—उपरि पतत्त्रिदशमुक्तमन्दारदामव्याजात् स्वयंवरमाला कान्तया मुक्ता प्रभोः कण्ठे पपातेव । गगने देवशङ्खध्वनौ विजृम्भमाणे अभिलषितकन्यालाभक्षणमङ्गलाकर्णनस्य प्रणवोद्गार इदम् ॥४७॥ राज्ञेति—तं युवराजं महासेनादिष्टाः प्रतापिनो दत्ताभरणादिप्रसादा राजानोऽनुजग्मुः । यथा कविप्रयुक्ताः श्रोतव्यशब्दाः सालंकारा गृहीतौजोगुणविशेषा उत्पाद्यमर्थमनुगच्छन्ति ॥४८॥ भद्राश्चेति—ये भद्रमन्द्रमृगसंकीर्णजातयो नर्मदाविन्ध्यतटद्वयमार्गचारचुञ्चव ऐरावतगोत्रजास्ते समं प्रचेलुः ॥४९॥ काम्बोजेति—ये काम्बोजप्रभृतयो नानादेशजा अश्वास्ते नववीथिकाचारचारिणोऽस्य प्रभोर्दृष्टिनर्तकीं नर्तयामासुः । सर्वेषु दर्शनलालसत्वाच्चञ्चलां चक्रुरित्यर्थः ॥५०॥ तामिति—स प्रभुर्दक्षिणां दिशं गच्छन्

साथ लिये थे] ॥४५॥ चूँकि वह धर्मनाथ दानभोगवान्—दान और भोगोंसे युक्त थे, [पक्षमें सदा नभोगवान्—सर्वदा आकाशगामी देवोंसे युक्त थे] और गुरु—पिता [पक्षमें बृहस्पति] की आज्ञासे गजेन्द्र [पक्षमें ऐरावत] पर आरूढ हो मार्गमें जा रहे थे अतः हजार नेत्रोंसे रहित इन्द्रकी शोभाका अनुकरण कर रहे थे ॥४५॥ उस समय प्रस्थानको सूचित करनेवाला भेरीका वह भारी शब्द सब ओर बढ़ रहा था, जो कि पृथिवीको मानो कँपा रहा था, आकाशको मानो खण्डित कर रहा था, दिशाओंको मानो निगल रहा था, पर्वतोंको मानो विचलित कर रहा था, और संसारको मानो डाँट दिखा रहा था ॥४६॥ उसी समय आकाशमें शंखका शब्द गूँजा जो प्रारम्भ किये जानेवाले मंगल रूप शास्त्रके ओंकारके समान जान पड़ता था और आकाशसे पुष्प वर्षा हुई जिसके छलसे ऐसा जान पड़ा मानो कान्ता श्रृंगारवतीने प्रभुके गलेमें वरमाला ही डाली हो ॥४७॥ जिस प्रकार विद्व पुरुष द्वारा उच्चरित, ओजस् गुणसे युक्त एवं उपमादि अलंकारोंसे सहित निर्दोष शब्द चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाले अर्थके पीछे जाते हैं उसी प्रकार राजाके द्वारा प्रेरित अनेक प्रतापी राजा अच्छे-अच्छे आभूषण धारण कर साध्यकी सिद्धिके लिए युवराज धर्मनाथके पीछे-पीछे गये ॥४८॥ नदी पर्वत तथा दोनों ही मार्गोंमें चलनेवाले जो भद्र मन्द अथवा मृग-जातिके हाथी थे वे सब एकत्रित हो युवराजके आगे ऐरावतके वंशजसे हो रहे थे ॥४९॥ चित्र-विचित्र कदम भरनेवाले काम्बोज, वानायुज, वाह्लीक, और पारसीक देशके जो घोड़े

१. श्लेषव्यतिरेकानुप्राणितोपमालंकारः ।

कल्पद्रुचिन्तामणिकामधेनवस्तटेऽपि मग्नाः खलु दानवारिधेः ।
स्तोत्रैरजस्रं कथमन्यथार्थिनो धनार्थमस्यैव यशांसि तुष्टुवुः ॥५२॥
रत्नावनीबिम्बितचारुमूर्तयो विरेजिरे तस्य चमूचराः प्रभोः ।
विज्ञाय सेवावसरं रसातलाद्विनिःसरन्तो भवनामरा इव ॥५३॥
लावण्यकासारतरङ्गसीकरव्रजैरिवोद्वृत्तभुजाग्रपातिभिः ।
लाजैस्तमानर्चुरुदग्र[1]मन्मथद्रुमप्रसूनैरिव पौरयोषितः ॥५४॥

राम इव शुशुभे । अश्वसेनापरिवृतः तां कन्यां लोचनाय लावण्यरसां श्रुत्वा सुन्दर्येव सुधा सुन्दरीसुधा ताम् अलमतिशयेन कामयमान उपबुभुक्षुः पक्षे तां सीतां नेत्रपेयां श्रुत्वा हनुमत्कथितां सुगेहलङ्काम् अयमानो गच्छन् अस्तदूषणो निर्दोषः ध्वस्तदूषणनामराक्षसः । अश्वाः पक्षे हरयो नाम मर्कटाः[2] ॥५१॥ कल्पेति—निरुपमदानसमुद्रस्य जिनस्य कल्पवृक्षादयो ब्रुडिताः समीपेऽपि समीपस्थाः कीदृशा अपि नेत्यर्थः । यतो हि चिन्तितलिप्सवो जना अस्य गुणानेव स्तुवन्ति स्म । तिष्ठतु दूरे जिनस्तस्य नामैव गृहीतं प्रार्थितं ददातीति भावः ॥५२॥ रत्नावनीति—स्फटिकोत्तानपट्टभूतलफलितमूर्तयस्तस्य परिवारराजानो [परिवारराजाः] ज्ञातयात्रावसराः पातालपुराद्विनिर्गच्छन्तो धरणेन्द्रप्रमुखा इव शुशुभिरे ॥५३॥ लावण्येति—पौराङ्गनास्तस्योपरि लाजैर्ववृषुः निजलावण्यसरःकल्लोलबिन्दुसमूहैरिव । अथवा तत्कालजिनरूपामृतसिक्तस्य

थे वे मार्गमें नृत्यनिपुण नटोंकी तरह प्रभुकी दृष्टि रूपी नर्तकीको नचा रहे थे ॥५०॥ उस समय वह धर्मनाथ ठीक रामचन्द्रके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार रामचन्द्र अतिशय सुन्दरी सीताको नेत्रोंके द्वारा दर्शनीय सुनकर बड़ी उत्सुकताके साथ सुधामलंकामयमान हो रहे थे—उत्तमोत्तम महलोंसे युक्त लंका नगरीको जा रहे थे उसी प्रकार वह धर्मनाथ भी सुधाम् सुन्दरीं नेत्रपेयां विनिशम्य अलं कामयमान थे—सुन्दरी शृंगारवती रूपी अमृतको नेत्रोंके द्वारा पान करनेके योग्य सुनकर बड़ी उत्सुकताके साथ उसकी इच्छा कर रहे थे। जिस प्रकार रामचन्द्र हरिसेना—वानरोंकी सेनासे युक्त होकर दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे थे उसी प्रकार धर्मनाथ भी हरिसेना—घोड़ोंकी सेनासे युक्त होकर दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे थे और जिस प्रकार रामचन्द्र अस्तदूषण थे—दूषण नामक राक्षसको नष्ट कर चुके थे उसी प्रकार धर्मनाथ भी अस्तदूषण थे—मद मात्सर्य आदि दूषणोंको नष्ट कर चुके थे ॥५१॥ निश्चित था कि कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, और कामधेनु दान रूप समुद्र के तट पर ही डूब गये थे, यदि ऐसा न होता तो याचक जन धनके लिए स्तोत्रों द्वारा इन्हीं एकके यशकी क्यों स्तुति करते ? ॥५२॥ रत्नमयी पृथिवीमें जिनके सुन्दर शरीरोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है ऐसे भगवान् धर्मनाथके सैनिक उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी सेवाका अवसर जान कर रसातलसे भवनवासी देव ही निकल रहे हों ॥५३॥ नगरकी स्त्रियाँ ऊपर उठायी भुजाओंके अग्रभागसे गिराये हुए जिन लाजोंसे उन धर्मनाथकी पूजा कर रही थीं वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सौन्दर्य रूप सरोवरकी तरंगोंके जलकणोंका समूह ही हो अथवा

१. उदग्रः समुन्नतो यो मन्मथ एव काम एव द्रुमो वृक्षस्तस्य प्रसूनानि पुष्पाणि तैः । २. अस्येदं व्याख्यानं सुगमम्—अपाचीं दक्षिणदिशां क्रामन् गच्छन् स धर्मनाथः काकुत्स्थ इव राम इव बभौ शुशुभे । अथोभयोः सादृश्यमाह—तां पूर्वोक्तां सुन्दरीं सुधां पीयूषरूपां शृङ्गारवतीं नेत्रपेयां नयनैः पेयां दर्शनीयामिति यावत् ! पक्षे तां सुन्दरीं सीतामिति यावत् नेत्रपेयां दर्शनीयां जीवितामिति यावत् विनिशम्य श्रुत्वा अलमतिशयेन कामयमानो वाञ्छन् पक्षे सुष्ठु धामानि यस्यां तथाभूता या लङ्का दशास्यनगरी ताम् अयमानो गच्छन् उत्सुक उत्कण्ठित उभयत्र समानम्, हरिसेनया अश्वसेनया पक्षे वानरसेनया वृतः परिवेष्टितः अस्तदूषणो निर्दोषः पक्षेऽस्तदूषणनामराक्षसः । श्लिष्टोपमालंकारः ।

जीवेति नन्देति जयेति चोच्चकैरुदीरिताशीर्जरतीभिरात्मनः ।
सिद्धेरिव द्वारमवाप तत्क्षणं पुरस्तदानीं युवराजकुञ्जरः ॥५५॥
अग्रे प्रसर्पच्चतुरङ्गविस्तृतां कृशां च मध्ये विशिखावरोधतः ।
पश्चादतुच्छामपि तां पताकिनीं प्रियामिव प्रेक्ष्य स पिप्रिये प्रभुः ॥५६॥
हर्म्यैरिवोत्तम्भितकुम्भशोभितैरुपात्तनानावलभीमतैर्गजैः ।
निर्यान्तमुत्केव वियोगविक्लवा तमन्वगात्सालसमुन्नतैः पुरी ॥५७॥
रम्याननेन्दोर्धृतकाननश्रियः श्रितस्य सद्भिः सदनाश्रयस्य च ।
वेगेन भर्तुः पथि गच्छतोऽन्तरं महत्तदा तस्य पुरस्य चाभवत् ॥५८॥

कामद्रुमस्य पुष्पैरिव सर्वा अपि तरुण्यः कामकदर्थिता इत्यर्थः ॥५४॥ जीवेति—जीवेति मङ्गलवचनैर्वृद्धाभिरुदीरिताशीर्वादो गच्छन् नगरीद्वारमवाप निजमनोरथसिद्धेः प्रथमप्रवेशमिव ॥५५॥ अग्र इति—निजसेनां प्रतोलीबाह्ये सप्रसरां प्राकारमध्ये वापि सविस्तरां मध्यबाह्ययोरन्तराले रथ्यासंकीर्णमार्गत्वात् तुच्छाम् अतश्च परिणाहिपयोधरालसां पृथुजघनफलककामिनीमिव ॥५६॥ हर्म्यैरिति —तं प्रभुं निर्गच्छन्तमवलोक्य विरहं सोढुमपारयन्ती पुरी अनुजगाम । कैर्गजैर्गेहैरिव । उत्तम्भितकुम्भस्थलशोभितैः पक्षे समारोपितकनककलशैरुपात्तं गृहीतं नानाबलैरनेकसैन्यैः भीमतं भङ्गाभिप्रायो येभ्यः पक्षे नानाप्रकारवलभीमतैः सालसं समन्दप्रचारमुन्नतैरुच्चैस्तरैः पक्षे प्राकारसमुन्नतैः ॥५७॥ रम्येति—तस्य गच्छतो जिनस्य महदन्तरालमभूत् । अथ च नगरं मुक्त्वा दूरं जगामेति भावः । किंविशिष्टस्येत्याह—जगदानन्दकमुखचन्द्रस्य नगरस्य च धृतवनलक्ष्मीकस्य सज्जनाश्रयस्य गेहाश्रयस्य वेगेन गच्छतः स्थावरस्य च, अथ च कुत्सितमाननं काननं धृता काननश्रीर्येन, सतां साधूनामनाश्रयः सदनाश्रयः । जिनः सर्वथा सप्रभाव इत्यर्थः।[1]

कामदेव रूपी उन्नत वृक्षके फूल ही हों ॥५४॥ जीव, नन्द, जय—इस प्रकार वृद्धा स्त्रियों द्वारा जिन्हें उच्च स्वरसे आशीर्वाद दिया जा रहा है ऐसे श्रेष्ठ युवराज धर्मनाथ शीघ्र ही नगरके द्वार तक पहुँचे मानो अपनी सिद्धिके द्वार तक ही पहुँचे हों ॥५५॥ जो आगे और पीछे रथादि चार अंगों [पक्षमें नितम्ब द्वय और स्तन द्वय] के द्वारा विस्तृत है तथा मध्यमें मार्गकी संकीर्णतासे कृश है ऐसी उस सेनाको प्रियाकी तरह देख कर धर्मनाथ अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥५६॥ मकानोंकी तरह उत्तम कलशोंसे सुशोभित [पक्षमें उत्तम गडस्थलोंसे युक्त], बनी हुई नाना प्रकारकी वलभियों—अट्टालिकाओंसे प्रसिद्ध [पक्षमें नाना प्रकारके बलसे भयंकरता धारण करनेवाले] और उत्तुंग प्राकारसे युक्त [पक्षमें आलस्ययुक्त] एवं ऊँचे अथवा सागोनके वृक्षके समान ऊँचे हाथियोंसे वह सेना ऐसी जान पड़ती थी मानो वियोगसे दुःखी हो नगरी, बाहर जानेवाले युवराजके पीछे-पीछे ही जा रही हो ॥५९॥ जब कि युवराजका मुखचन्द्र अतिशय आनन्ददायी था और वह नगर कानन—कुत्सित मुखको धारण करनेवाला था [पक्षमें कानन—वनकी शोभा धारण करनेवाला था] युवराज सत्पुरुषोंके आश्रय थे परन्तु वह नगर सदनाश्रय था—सत्पुरुषोंका आश्रय नहीं था [पक्षमें सदनों—भवनोंका आश्रय था] इस प्रकार वेगपूर्वक मार्गमें जानेवाले धर्मनाथ और उस रत्नपुर नगरमें बड़ा अन्तर था—क्षेत्रकृत और गुणकृत—दोनों ही प्रकारका अन्तर था

१. अस्येदं सुगमं व्याख्यानम्—तदा तस्मिन्नवसरे पथि मार्गे वेगेन रयेण गच्छतो भर्तुर्धर्मनाथस्य तस्य पुरस्य नगरस्य च महत्प्रचुरम् अन्तरं दूरीभावः अभवत् । पक्षे विपुलं वैशिष्ट्यं पार्थक्यमिति यावत् अभवत् । तदेव दृढयति—भर्तुः पक्षे रम्याननेन्दो रमणीयमुखचन्द्रस्य पुरपक्षे कुत्सितमाननं काननं तस्य श्रीः काननश्रीः धृता काननश्रीर्येन तस्य पक्षे धृता काननानां वनानां श्रीः शोभा येन तस्य । भर्तुः पक्षे सद्भिः सज्जनैः श्रितस्य सेवितस्य पुरस्यपक्षे सतां सज्जनानामनाश्रयोऽनाधारस्तस्य, पक्षे सदनानां भवनानामाश्रयस्तस्य ।

श्रेणीव रेणूद्गमनिष्ठितावनिस्फुटीभवच्छेषफणामणित्विषाम् ।
सर्पत्सु सैन्येषु रराज दन्तिनां मदस्रुतिस्तत्क्षणपातलोहिनी ॥५९॥
कम्पाद्भुवः क्षुभ्यदशेषवा[1]रिधेस्तदाभविष्यज्जगतोऽप्युपप्लवः ।
अस्या व्यधास्यन्भरभङ्गुराकृतेर्गजा न चेद्दानजलाभिषेचनम् ॥६०॥
प्रायोऽपदस्पृष्टमहीतलाः खुरैर्वियद्गमाभ्यासरसं हया व्यधुः ।
तन्मत्तमातङ्गचमूभराद्भुवो विभावयामासुरमी विपर्ययम् ॥६१॥
लीलाप्रचारेषु यथा यथा व्यधुर्नखाग्रभागोल्लिखनं तुरङ्गमाः ।
[2]उत्सर्पिपांसुप्रसरै[3]च्छलादभूत्तदा तथोर्व्याः पुलकाङ्कुरोद्गमः[4] ॥६२॥
अन्तःस्खलल्लोहखलीननिर्गलद्विलोललालाजलफेनिलाननाः ।
चेलुः पिबन्तः पवनातिरंहसो द्विषद्यशांसीव तुरङ्गपुङ्गवाः ॥६३॥
तस्योत्क्रमालक्ष्यत पार्श्वयोर्द्वयोः समुल्लल[5]ल्लोलपृथुप्रकीर्णका ।
ध्यानान्नभोवर्त्मगतेरसंशयादुदीर्णपक्षेव तुरङ्गमावलिः ॥६४॥

॥५८॥ श्रेणीवेति—तत्कालपातिता दन्तिनां मदधारा ताम्रवर्णा बभासे शेषफणामणितेजसां पङ्क्तिरिव । कथं दृश्यत इत्याह—रेणूद्गमेन समूलधूलिपटलसमुड्डयनेन निष्ठिता निर्णाशिता अवनिः पृथ्वी तस्यामिति, सैन्यमहासंमर्देन भूर्धूलिभावमासाद्य समस्ताप्युड्डीना ततः शेषमणिदर्शनमिति भावः ॥५९॥ कम्पादिति—मूलाच्चलायमानसमुद्रस्य पृथिव्याः कम्पेन भुवनस्याप्युपप्लवोऽनिष्टमभविष्यत् न चेदस्य गजेन्द्रा मदजलाभिषेचनमकरिष्यन् महाभाराद्विभङ्गमूर्तेः ॥६०॥ प्राय इति—यदमी तुरङ्गमाः खुरैर्महीतलमस्पृशन्तो गगनगमनाभ्यासमकार्षुस्तदहं वितर्कयामि मावत्करिघटाप्रचारभारात् पृथिव्याः विपर्ययं विघटनं शशङ्किरे । यथा कश्चिदाधारं महाभरभज्यमानं दृष्ट्वा दूरेणोत्पतति ॥६१॥ लीलेति—तुरङ्गमलीलाचटुलगतिषु यथा यथा खुरैर्भुवनं समुच्चरन्तुः तथा तथा प्रसरत्पांसुच्छलात् पृथिव्या हर्षकण्टकोद्गमः संबभूव । यथा कस्मिश्चित् कामुकैः नखैरङ्गं समुल्लिखति । कस्यचित् प्रेमवत्या हर्षरोमोद्गमः स्यात् ॥६२॥ अन्तरिति—मध्यव्यालोड्यमानकविकासंघर्षान्निर्गलद्बहुललालाजलसफेनमुखास्तुरङ्गमा दधाविरे शत्रूणां यशोदुग्धं पिबन्त इव वायुवेगात् ॥६३॥ तस्येति—तस्य प्रभोश्चतुरगमनवल्गनादुत्पतिताग्रपादा पार्श्वयोर्द्वयोर्विचञ्चूर्यमाण-

॥५८॥ उस समय सैनिकोंके चलने पर तत्काल गिरनेके कारण लाल लाल दिखनेवाली हाथियोंकी मदस्रुति ऐसी जान पड़ती थी मानो निरन्तर धूलि उड़ती रहनेसे पृथिवी समाप्त हो चुकी हो और शेषनागके फणाके मणियोंकी किरणोंका समूह ही प्रकट हो रहा हो ॥५९॥ यदि भारसे झुकी हुई इस पृथिवीका हाथी दानरूप जलसे अभिषेक न करते तो समस्त पृथिवीके कम्पित होनेसे समस्त समुद्र क्षुभित हो उठते और सारे संसारमें उपप्लव मच जाता ॥६०॥ खुरोंके द्वारा प्रायः पृथिवीतलका स्पर्श न कर घोड़े आकाशमें चलनेका जो अभ्यास कर रहे थे उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो मत्त मातंगों—हाथियों [पक्षमें चाण्डालों] की सेनाके भारसे पृथिवीको अस्पृश्य ही समझ रहे हों ॥६१॥ लीलापूर्वक गमन करते समय ज्यों-ज्यों घोड़े नखके अग्रभागसे पृथिवीको खुरचते थे त्यों-त्यों उड़ती हुई धूलि के बहाने उसके रोमाञ्च निकल रहे थे ॥६२॥ भीतर पड़ी लोहेकी लगाम के कारण निकलते हुए लार रूप जलसे जिनके मुख फेनिल हो रहे हैं ऐसे पवनके समान वेगशाली घोड़े ऐसे जा रहे थे मानो शत्रुओंके यशका पान ही कर रहे हों ॥६३॥ जिसके दोनों ओर बड़े-बड़े चंचल चमर ढोले जा रहे हैं ऐसी छलाँग भरने को उद्यत घोड़ोंकी पंक्ति इस

१. वारिधिः म० घ० । २. तत्सर्पि घ० म० । ३. प्रकरच्छलात् म. । ४. –रोद्गमम् घ० । ५. समुल्लसल्लोल म० घ० ज० ।

तस्य व्रजद्वीरतुरङ्गसंनिधौ मयूरपत्रातपवारणव्रजः ।
वीचीचयोल्लासितशैवलावलीविलासमासादयति स्म तोयधेः ॥६५॥
दुष्प्रेक्ष्यतामस्य बलाभियोगतो रजोभिरुत्सर्पिभिरम्बरे गते ।
रक्तोऽपि दोषैकभयादिवोच्चकैर्न दिक्षु चिक्षेप दिवाकरः करान् ॥६६॥
आसिन्धुगङ्गाविजयार्धसिंहलादभिद्रवद्दुर्वहवाहिनीभृतः ।
त्रस्यद्धरित्रीधरवज्रपञ्जरो बलोदधिस्तस्य बभूव दुर्धरः ॥६७॥
तापापनोदाय सदैव भूत्रयोविहारखेदादिव पाण्डुरद्युतिम् ।
कीर्तेर्वयस्यामिव भर्तुरग्रतो विलोक्य गङ्गां बहु मेनिरे नराः ॥६८॥
शम्भोर्जटाजूटदरीविवर्तनप्रवृत्तसंस्कार इव क्षितावपि ।
यस्याः प्रवाहः पयसां प्रवर्तते सुदुस्तरावर्ततरङ्गभङ्गुरः ॥६९॥
पर्यन्तकान्तारसमीरविस्फुरत्तरङ्गविस्फारितफेनलाञ्छिता ।
प्रालेयशैलोरगराजरेचितप्रलम्बनिर्मोकनिभा विभाति या ॥७०॥

पृथुलचामरा तुरङ्गपङ्क्तिः शुशुभे । निश्चितमहमेवं मन्ये—अत्यन्तगगनगमनध्यानादुद्गतपक्षतिरिव ॥६४॥ तस्येति—गच्छतां तुरङ्गचक्राणां समीपे श्रीकरीसमूहः कल्लोलमालोत्तम्भितजम्बालजालश्रियमाश्रयतिस्म ॥६५॥ दुष्प्रेक्ष्यतामिति—तस्य बलसंमर्दनप्रसूतै रेणुभिराच्छन्नं गते गगने रात्रिरभूदिति मन्यमानो दिनकरः करान्न प्रससार । बहुलधूलिपटलप्रसरतया रात्रिमन्ये दिने विवस्वान्न दृश्यत इति भावः । अथ चोक्तिलेशः—कश्चित्कामी सदासक्तोऽपि पुष्पप्लुतं वस्त्रं दृष्ट्वा दोषभयान्निजाङ्गनास्वपि हस्तं न प्रसारयति ॥६६॥ आसिन्धिवति—तस्य सेनासमुद्र उद्भटो बभूव । किंविशिष्ट इत्याह—सिन्धुप्रमुखदेशेभ्य आगच्छन्तीभिः सेनाभिः संभृतः बिभ्यद्भूमिपालरक्षणवज्रपञ्जरः पक्षे सिन्धुगङ्गाप्रभृतिभ्यो देशेभ्य आगच्छन्तीभिर्नदीभिः पूरितः महेन्द्रमुक्तवज्रेण पक्षच्छेदभयेन पलायितानां पर्वतानां शरणम् ॥६७॥ तापेति—अग्रतो गच्छन्तस्वभूचरा गङ्गां प्रभोः कीर्तेः सखीमिव विलोक्य बहुमानं मेनिरे । किंविशिष्टामित्याह—त्रिभुवनतापनिराकरणाय योऽसौ प्रचारस्तत्र खेदस्तस्मादिव पाण्डुरद्युतिम् । महामार्गखिन्नो हि पाण्डुरद्युतिः स्यात् । कीर्तिरपि त्रिभुवनक्लमच्छेदिनी त्रिभुवनविहारिणी च ततस्तया सादृश्यम् ॥६८॥ शम्भोरिति—यस्याः प्रवाह आवर्तभ्रमरभङ्गुरः प्रवहति । कुत इत्याह—शङ्करसंकटजटाबन्धविवरविवर्तनैः संजातसंतताभ्याससंस्कार इव पृथिव्यामपि तमभ्यासं न मुञ्चतीति भावः ॥६९॥ पर्यन्तेति—या समीपगहनेभ्यः समुत्थितपवनवशादुत्तिष्ठद्भिः

प्रकार जान पड़ता थी मानो आकाशमार्गमें गमन करने का ध्यान आनेसे उसे पंख ही ही निकल आये हों ॥६४॥ उन चलते हुए वीर घोड़ोंके समीप जो मयूर पत्र निर्मित छत्रोंका समूह था वह किसी समुद्र की तरंगों-द्वारा उछाले हुए शैवालसमूहकी शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥६५॥ जब बलपूर्वक समागम करनेसे निकले हुए रज--आर्तवसे स्त्रियोंके अम्बर—वस्त्र अदर्शनीय हो जाते हैं तब जिस प्रकार पुरुष अनुराग युक्त होने पर भी दोषोंके भयसे उनकी ओर कर--हाथ नहीं फैलाता है उसी प्रकार जब युवराज धर्मनाथके बल--सेनाके संसर्गसे उड़नेवाली रज--धूलिसे अम्बर--आकाश अदर्शनीय हो गया तब सूर्यने स्वयं रक्त—लालवर्ण होने पर भी दोषा--रात्रिके भयसे दिशाओं की ओर ऊपर अपने कर—किरण नहीं फैलाये ॥६६॥ सिन्धु, गंगा एवं विजयार्धके मध्यवर्ती समस्त देशों तथा सिंहल द्वीपसे सम्मुख आने वाली सेना रूपी नदियोंसे भरा हुआ वह श्रीधर्मनाथका सेना रूपी समुद्र अत्यन्त दुर्धर हो गया था वह सैन्य-समुद्र भयभीत राजाओं की रक्षा करनेके लिए वज्र-निर्मित पिंजड़ेके समान था ॥६७॥ लोग अपने आगे वह गंगा नदी देख बहुत प्रसन्न हुए जो कि संताप दूर करनेके लिए त्रिभुवनमें बिहार करनेके खेदसे ही मानो सफ़ेद सफ़ेद हो रही है और स्वामी धर्मनाथको त्रिभुवनव्यापिनी कीर्तिकी सहेली-सी जान पड़ती है ॥६८॥ जिस

विष्णो[1]रिवांह्रेर्नखरश्मिरञ्जिता करैरिवेन्दोर्भवमूर्ध्नि लालिता ।
भिन्ना हिमाद्रेस्तुहिनैरिवोच्चकैश्चकास्ति या क्षीरसहोदरद्युतिः ॥७१॥
काञ्चीव रत्नोच्चयगुम्फिता क्षितेर्दिवश्च्युतेवामलमौक्तिकावलिः ।
कृष्टा सशब्दं पुरुहूतदन्तिनो विराजते राजतशृङ्खलेव या ॥७२॥
सूर्यस्य तापेन दिवानिशि[2] ज्वलन्महौषधीनामकृशैः[3] कृशानुभिः ।
तप्तस्य नीहारगिरेरिव द्रवश्चकास्ति यस्याः शुचिरम्भसां प्लवः ॥७३॥
तीरेऽपि यस्यास्त्रिजगज्जुषश्चरन्स सार्वभौमोऽपि निमज्जति ध्रुवम् ।
बुद्ध्येव नावा घटितोरुकाष्ठया ततार तृष्णामिव तां स जाह्नवीम् ॥७४॥
हेलोत्तरत्तुङ्गमतङ्गजावलीकपोलपालीगलितैर्मदाम्बुभिः ।
गङ्गाजलं कज्जलमञ्जुलीकृतं कलिन्दकन्योदकविभ्रमं दधौ ॥७५॥

कल्लोलैर्विस्फारितडिण्डीरपिण्डमण्डिता हिमालयशेषाहिमुक्तकञ्चुलिकेव शोभते । अथ च हिमवतो गङ्गा प्रभवतीति ॥७०॥ विष्णोरिति—या क्षीरसदृशप्रवाहा शोभते । कुत इत्याह—यदा विष्णोरङ्गुष्ठान्निःसृता तदा धवलनखकिरणैर्धवलितेव । अथवा शङ्करशिरसि चन्द्रकिरणैः श्वेतिता । आहोस्वित् हिमालयस्य हिमैः पाण्डुरितेव । आधारवशात् त्रिभिः कारणैर्धवलितेति भावः ॥७१॥ काञ्चीवेति—या वसुधावध्वा रत्नरशनेव, अथवा दिवोऽङ्गनायाः कथंचित्पतिता मौक्तिकहारावलिरिव, उतस्वित् ऐरावतगजेन्द्रस्य रौप्यहिञ्जीर-महामालेव आकृष्यमाणा शब्दायते । अथ च सशब्दैव नदी ॥७२॥ सूर्यस्येति—यस्या धवलसलिलप्रवाहो विलीनस्य हिमालयशिलासंघातस्य द्रव इव । कथं विलीनस्येत्याह—दिवसे खरकिरणप्रतापेन नक्तं च जाज्वल्यमानमहौषधीनामकृशैर्महातापैर्वैश्वानरैः ॥७३॥ तीरेऽपीति—स प्रभुर्दृढकाष्ठफलकनिर्मितया नावा तां गङ्गां तीर्णवान् यस्यास्त्रिभुवनव्यापिन्यास्तटेऽपि संचरन् चक्रवर्त्यपि ब्रुडति तथा तेनैव जिनेन बुद्धया निजज्ञान-शक्त्या घटितोरुकाष्ठया गृहीतमहाप्रतिज्ञया तृष्णा नदी तीर्यते । यस्याः सर्वव्यापिन्याः तृष्णायाः समीपे विचरन्तोऽन्येऽपि निमज्जन्ति ॥७४॥ हेलेति—समकालमुत्तरतां गजानां श्यामलैर्मदजलैर्गङ्गाप्रवाहो यमुना-

गंगा नदीके जलका प्रवाह पृथिवीमें भी अत्यन्त दुस्तर आवर्तों और तरंगोंसे कुटिल होकर चलता है मानो महादेवजीके जटाजूटरूप गुफाओंमें संचार करते रहने के कारण उसे वैसा संस्कार ही पड़ गया है ॥६९॥ वह गंगा निकटवर्ती वनोंकी वायुसे उठती हुई तरंगों द्वारा फैलाये हुए फेनसे चिह्नित है अतः ऐसी जान पड़ती है मानो हिमालयरूपी नागराजके द्वारा छोड़ी हुई कांचुली ही हो ॥७०॥ जो गंगा नदी दूधके समान सफ़ेद कान्ति वाली है जिससे ऐसी जान पड़ती है मानो विष्णुके चरण नखोंकी किरणोंसे ही व्याप्त है, अथवा महादेवजी के मस्तक पर चन्द्रमाकी किरणोंसे ही लालित है अथवा हिमालयकी ऊँची ऊँची बर्फीली चट्टानोंसे ही मिश्रित है ॥७१॥ जो गंगा नदी ऐसी सुशोभित होती है मानो रत्नोंके समूहसे खचित पृथिवीकी करधनी ही हो, अथवा आकाशसे गिरी निर्मल मोतियोंकी माला ही हो अथवा शब्द सहित खींची हुई ऐरावत हाथीकी चाँदीकी साँकल ही हो ॥७२॥ जिस गंगा नदीके जलका सफ़ेद प्रवाह ऐसा जान पड़ता है मानो दिनमें सूर्यके सन्तापसे और रात्रिमें जलती हुई बड़ी-बड़ी ओषधियोंकी तीव्र अग्निसे तपे हुए हिमगिरिके स्वेदका विशाल प्रवाह ही हो ॥७३॥ तीनों जगत्में व्याप्त रहनेवाली जिस तृष्णा रूप नदीके तटमें ही साधारण मनुष्यों की बात जाने दो, सार्वभौम—चक्रवर्ती भी निश्चित डूब जाते हैं उस तृष्णा नदीको जिस प्रकार सन्तोषी मनुष्य अतिशय विस्तृत बुद्धिके द्वारा पार कर लेता है उसी प्रकार तीनों जगत् में विहार करनेवाली जिस गंगा नदीके तटमें ही साधारण जीवोंकी बात जाने दो सार्व-

१. –रिवोङ्घ्रेर्नख घ० म० । २. दिवानिशं म० घ० । ३. –मकृशः म० घ० ।

एके भुजैर्वारणसेतुभिः परे चमूचराः केचन नौभिरायताम् ।
अह्नाय जह्नोस्तनया यदृच्छया पुरः प्रतिज्ञामिव तामतारिषुः ॥७६॥
उत्साहशीलाभिरलं जडात्मिका त्रिमार्गगासंख्यपथप्रवृत्तिभिः ।
तद्वाहिनीभिः प्रसभं दिवौकसां कथं न पश्चात्क्रियते स्म वाहिनी ॥७७॥
नागैः समुत्सर्पिभिराक्षिपन्नगान् पुरीरशेषाः पटवेश्मभिर्जयन् ।
उत्केतनैर्भूरिवनानि तर्जयन्नदीश्चभूमिः स विडम्बयन्नगात् ॥७८॥
[1]प्रमितिविधुरा ये मिथ्यात्वं पथः प्रतिपेदिरे
पिदधुरपि ये [2]कूटारम्भैर्दिगम्बर[3]रदर्शनम् ।
[4]प्रगुणबलवांस्तांस्तानुच्चैः प्रमथ्य गिरीश्वरान्[5]
स्वमिह सुगमं कुर्वन्मार्गं जगाम जिनेश्वरः ॥७९॥

प्रवाहायते स्म कज्जलसदृशीकृतम् ॥७५॥ **एक इति**—केचन चमूचरास्तां निजदोर्दण्डैः परे च केचन तां गजसेतुबन्धैः केचिच्च तरीभिः शीघ्रं प्रतिज्ञामिव तां तीर्णवन्तः । निजाभिलाषेण यथा कश्चित् प्रतिज्ञां निजाहंकारकृतां गुर्वीं दोर्दण्डादिभिर्निर्वाहयति ॥७६॥ **उत्साहेति**—सा देवनदी तस्य सेनाभिः पश्चात्कृता यतोऽसौ जडात्मिका सलिलस्वभावा ताभिश्च उद्यमपराभिः अपरं च सा त्रिभिर्मार्गैर्गच्छन्तीः ताभिश्चासंख्यमार्गगामिनीभिः । अथ च उत्साहशीलेन जडात्मको जीयते त्रिमार्गगासंख्यातमार्गगामिना । गङ्गामुल्लङ्घ्याग्रे गता इति भावः[6] ॥७७॥ **नागैरिति**—स उत्तुङ्गमतङ्गजैः पर्वतान् निर्बलयन् पुराणि गुरूदरगुणलयनिकाप्रभृतिभिः पटगृहैस्तर्जयन्, उच्चैस्तरैर्ध्वजैश्च वनान्युपहसन् नदीसंघातान् च सेनाप्रसरैरनुकुर्वन् जगाम ॥७८॥ **प्रमितीति**—ये पर्वता अप्रमाणा मार्गस्यान्यथात्वं मार्गाभावं चक्रिरे । पुनरपि यैः किंकृतमित्याह—दिशश्च ककुभोऽम्बरं च गगनं तेषां दर्शनमवलोकनमपि ये कैः । कूटारम्भैः शृङ्गोच्छ्रायैः प्रच्छादयामासुः । किंसामग्रीकः प्रभुर्येनैते निर्दलिता इत्याह—प्रगुणबलवान् प्रगुणं पर्वतक्षोदक्षमं यात्रोद्यतं

भौम दिग्गज भी डूब जाता है उस गंगाको भी धर्मनाथने काष्ठनिर्मित नौकाके द्वारा पार कर लिया था ॥७४॥ लीलापूर्वक तैरते हुए ऊँचे-ऊँचे हस्तिसमूहके कपोल प्रदेशसे निर्गत मदजलसे गंगाका पानी कज्जलके समान काला कर दिया गया था अतः वह यमुनाके जलका सन्देह उत्पन्न कर रहा था ॥७५॥ उस विशाल गंगाको कितने ही सैनिकोंने भुजाओंसे, कितने ही सैनिकोंने हाथी रूपी पुलोंसे और कितने ही सैनिकोंने नौकाओंसे पार किया। इस प्रकार सभी सैनिकोंने इच्छानुसार प्रतिज्ञाकी तरह शीघ्र ही गंगाको पार किया॥७६॥ चूँकि धर्मनाथकी सेना उत्साहशील एवं असंख्यातमार्गोंसे गमन करनेवाली थी और गंगा नदी जडात्मक—आलस्यपूर्ण [पक्षमें जलपूर्ण] एवं तीन मार्गोंसे ही गमन करनेवाली थी अतः सेनाके द्वारा गंगा नदी पीछे क्यों न छोड़ दी जाती--पराजित क्यों न की जाती ? ॥७७॥ इस प्रकार श्री धर्मनाथ तीर्थंकर ऊँचे-ऊँचे हाथियोंके द्वारा पर्वतोंको, कपड़ेके तम्बुओंसे समस्त नगरियोंको, फहराती हुई पताकाओंसे बड़े-बड़े वनों और सेनाओंके द्वारा नदियोंको विडम्बित करते हुए आगे बढ़े ॥७८॥ जो बड़े-बड़े पर्वत मार्गको मिथ्या कर रहे थे एवं अपने शिखरोंके विस्तारसे दिशाओं और आकाशका दर्शन रोक रहे थे, उन ऊँचे ऊँचे गिरिराजोंको खण्डित कर उत्तम सेनासे युक्त धर्मनाथ जिनेन्द्र अपना मार्ग सरल करते हुए आगे जा रहे

१. प्रमित्या प्रमाणेन पक्षे प्रमाणज्ञानेन विधुरा रहिताः । २. कूटारम्भैः शिखरविस्तारैः पक्षे कपटारम्भैः । ३. दिशश्चाम्बरञ्च दिगम्बराणि काष्ठाकाशानि तेषां दर्शनमवलोकनं पक्षे दिश एवाम्बरं वस्त्रं येषां ते दिगम्बरा निर्ग्रन्थास्तेषां दर्शनं मतम् । ४. प्रकृष्टसैन्ययुक्तः पक्षे प्रकृष्टशक्तिसंपन्नः । ५. गिरीणां पर्वतानामीश्वराः प्रमुखास्तान् पक्षे गिरि वाण्यामीश्वराः प्रभवस्तान् । ६. व्यतिरेकः ।

[1]इत्युच्चैस्तनवप्रभूषणवतीर्नारीः पुरीर्वा श्रयन्
[2]कान्तारङ्गमितानरीनिव नगेष्वालोकयन् किंनरान् ।
देशानप्यतिलङ्घयन् [3]समकरान्सिन्धुप्रवाहानिव
प्राप प्रेमवती[4]मिवात्तमदनां देवः स विन्ध्यस्थलीम् ॥८०॥

इति[5]महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये प्रयाणकवर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥९॥

च बलं सैन्यं संघातो यस्य स तथाविधः । तांस्तान् सर्वप्रसिद्धान् गिरीन्द्रान् संचूर्ण्य निजमार्गं शकटादिप्रचारयोग्यं कुर्वन् जगाम । अथ च ये वादिनो गिरि वाण्यामीश्वराः प्रगल्भास्तान् जित्वा निजमनेकान्तरूपं सर्वबोध्यं कुर्वन् । कांस्तानित्याह—ये प्रमितिविधुराः प्रमाणशून्याः सन्मार्गस्य रत्नत्रयलक्षणस्य मिथ्यात्वप्रतिपादकाः कूटारम्भैरलीकोपायैर्दिगम्बरमुद्रावज्ञायिनः प्रकृष्टानन्तगुणोपेतस्तांस्तान्मूकान् कुर्वन् जगाम[5] ॥७९॥ इतीति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण उच्चैस्तरशालैः कुचभारैश्च भूषिता नारीर्नगरीश्च सेवमानो वनं प्रापितान् स्नेहं गतांश्च शत्रून् किन्नरांश्च पश्यन्, सह मकरैर्वर्तत इति समकरास्तान् कोमलराजदेयभागांश्चातिक्रामन् प्रियामिव विन्ध्यस्थलीमाजगाम । सकामां धृतमदनवृक्षविशेषाम् ॥८०॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां नवमः सर्गः ॥९॥

थे। [जो स्वयं प्रमाण ज्ञानसे हीन होकर जैनदर्शनको मिथ्या बतला रहे थे और अपने मायाचारसे दिगम्बर सिद्धान्तको रोक रहे थे उन समस्त प्रकाण्ड विद्वानों को परास्त कर उत्तम गुणों के बलसे युक्त श्रीधर्मनाथ जिनेन्द्र अपना मार्ग सरल करते हुए आगे जा रहे थे] ॥७९॥ इस प्रकार श्रीधर्मनाथ स्वामी अत्यन्त उन्नत स्तनोंके शिखर रूप आभूषणों से युक्त स्त्रियोंके समान सुशोभित, अत्यन्त उन्नत प्राकार रूप आभूषणों से युक्त नगरियों का आश्रय लेते पर्वतों पर, वनमें खड़े हुए शत्रुओंके समान सुशोभित स्त्रियोंकी आसक्तिको प्राप्त किन्नरोंको देखते और मगरमच्छसे सहित नदियोंके प्रवाहके समान कर—टैक्ससे युक्त देशों का उल्लंघन करते हुए उस विन्ध्यगिरिकी भूमिमें जा पहुँचे जो किसी प्रेमवती स्त्रीकी तरह मदन—काम [पक्षमें मदन वृक्ष] से युक्त थी ॥८०॥

इस प्रकार महाकवि श्री हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें प्रयाणका वर्णन करनेवाला नौवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥९॥

१. उच्चैर्भवा उच्चैस्तना ये वप्राः प्राकारास्त एव भूषणानि तानि विद्यन्ते यासां ताः पुरीः, पक्षे उत्तुङ्गकुचाग्रभूषणवतीर्नारीः । २. कान्तारं वनं गमिताः प्रापितास्तान् अरीन् पक्षे कान्तारङ्गं वनितास्नेहं गमितास्तान् किंनरान् । ३. मकरैः सह वर्तन्त इति समकरास्तान् सिन्धुप्रवाहान् पक्षे समोऽनुरूपः करो राजस्वभागो येषु तान् देशान् । ४. आत्तो गृहीतो मदनः कामो यया तां प्रेमवतीम् पक्षे आत्ता धृताः मदना एतन्नामधेयवृक्षविशेषा यत्र तथाभूतां विन्ध्यस्थलीम् । श्लिष्टोपमा, शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥ ५. श्लेषः, हरिणीच्छन्दः ।

दशमः सर्गः

अथाधिपेनार्थयितुं दिनानां रथस्य पन्थानमिवोपरिष्टात् ।
पादाग्रनम्रेण निषेव्यमाणं धराधरं विन्ध्यमसौ ददर्श ॥१॥

समुन्नमत्कूटपरम्पराभिराक्रान्तमन्तः पृथुकंदराभिः ।
भुवोऽर्धमर्धं नभसो गृहीत्वा मन्ये यमुच्चैर्विदधे विधाता ॥२॥

स्रष्टा दधात्येव म[1]हानदीनां [2]महानदीनां शिखरोन्नतिं यः ।
स्वर्गादिहागत्य [3]सदानभोगैः [4]सदा नभोगैरनुगम्यमानः ॥३॥

मुनेर्महिम्नामभितो निरोद्धुरध्वानमन्वेष्टुमिवोत्सुको यः ।
शृङ्गाग्रलग्नोडुचयच्छलेन नक्तं समुन्निद्रसहस्रनेत्रः ॥४॥

अथेति—असौ प्रभुर्विन्ध्यनामानं पर्वतराजं ददर्श । किंविशिष्टमित्याह—प्रत्यन्तपर्वतशिखरस्थेन दिनपतिना समुपास्यमानम् । किमर्थमित्याह—निजरथमार्गमुपरि याचितुम् । अत्युच्चैस्तरत्वाद्विन्ध्यस्य प्रत्यन्तपर्वतेष्वेवादित्योऽधिरोढुं शक्नोति । अतश्च ज्ञायते नम्रः सेवापर इव[5] ॥१॥ समुन्नमदिति—अहमेवं मन्ये—यं पर्वतं विधिरकार्षीत् । किं कृत्वेत्याह—अर्द्धभागं पृथिव्या अर्द्धभागं च गगनस्य गृहीत्वा । किंविशिष्टम् । अन्तर्व्याप्तम् । काभिः । वर्धमानशिखरपरम्पराभिः । मध्ये च पृथुलगुहाभिः । शिखरसंततिदर्शनात्पृथिवीभागेन निर्मित इति ज्ञायते कन्दराविस्तारदर्शनाच्च गगनभागेन निर्मित इति ॥२॥ स्रष्टेति––यो विन्ध्यपर्वतो दधाति । काम् । शिखरोन्नतिम् । किंविशिष्टाम् । अदीनामनिम्नाम् । किंविशिष्टः । स्रष्टा हेतुः । कासाम् । महानदीनां नर्मदाप्रभृतीनाम् । पुनः किंविशिष्टः । महान् । पुनः कथंभूतः । अनुगम्यमानः । कैः । नभोगैः देवैः । किंविशिष्टैः । सदानभोगैः दानभोगाभ्यां सहितैः । कथम् । सदा[6] ॥३॥ मुनेरिति –यो दक्षिणाशां गतस्यागस्तिमुनेर्मार्गमवलोकयितुमुत्सुक इव दृश्यते । किंविशिष्टः सन्नित्याह प्रसारितसहस्रलोचनः रात्रौ शृङ्गाग्रभागोपविष्टनक्षत्रपङ्क्तिव्याजेन । किंविशिष्टस्य मुनेरित्याह—शृङ्गवृद्धिप्रभावाणां निवारकस्य । पूर्वं हि वर्द्धमानो विन्ध्योऽगस्तिमुनिनाभ्यर्थितः यावदहं दक्षिणाशां गत्वागच्छामि तावत्त्वं मा वर्द्धिष्ट इति । अत्युत्सुकत्वात्सहस्र-

---

तदनन्तर श्रीधर्मनाथ स्वामीने वह विन्ध्यपर्वत देखा जो कि ऊपरसे रथके मार्गकी याचना करनेके लिए ही मानो चरणोंमें झुके हुए सूर्यके द्वारा सेवित हो रहा था ॥१॥ उस पर्वतका ऊर्ध्वभाग ऊँचे उठे शिखरोंकी परम्परासे व्याप्त था और अधोभाग बड़ी-बड़ी गुफाओंसे । अतः ऐसा जान पड़ता था मानो विधाताने आधा भाग पृथिवीका और आधा-भाग आकाशका लेकर ही उसे बनाया हो ॥२॥ वह पर्वत बड़ी-बड़ी नदियोंको जन्म देने-वाला था एवं दान और भोगसे युक्त देव स्वर्गसे आकर सदा उस पर्वतपर विहार किया करते थे ॥३॥ रात्रिके समय उस पर्वतके शिखरोंपर जो नक्षत्रोंका समूह लग जाता है उसके छलसे ऐसा जान पड़ता है मानो उस पर्वतने अपनी वृद्धिको रोकनेवाले अगस्त्य महर्षिका

---

१. महानदीनाम् । २. महान्–अदीनाम् । ३. दानभोगाभ्यां सहितैः । ४. सर्वदा नभोगैर्देवैः । ५. उत्प्रेक्षालंकारः । उपजातिवृत्तम् । ६. यमकालंकारः ।

प्रस्थैरदुःस्थैः कलितोऽप्यमानः पादैरमन्दैः प्रसृतोऽप्यगेन्द्रः ।
युक्तो वनैरप्यवनः श्रितानां यः प्राणिनां सत्यमगम्यरूपः ॥५॥
विहाय मानं स्मरवासभूमाविहायमानं[1] सहसा सुरस्त्री ।
[2]रसालसारं विपिनं निरीक्ष्य रसालसा रन्तुमियेष कान्तम् ॥६॥
पञ्चाननोत्क्षिप्तकरीन्द्रकृत्तिर्गुहान्वितो दत्तशिवाप्रमोदः ।
अहिप्रहारोल्वणनीलकण्ठो यो रौद्रभावं क्वचिदातनोति ॥७॥
पुंनागनारङ्गलवङ्गजम्बूजम्बीरलीलावनशालि यस्य ।
शृङ्गं सदापारनभोविहारश्रान्ताः श्रयन्ते सवितुस्तुरङ्गाः ॥८॥

नेत्रप्रसारणम्[3] ॥४॥ प्रस्थैरिति—एकत्र प्रस्थैः कूटैः अन्यत्र मापविशेषैः । अमानोऽप्रमाणो माप्यरहितश्च । पादैः प्रत्यन्तपर्वतैश्चरणैश्च प्रसृतो विस्तीर्णो धावितश्च । अगेन्द्रो न गच्छन्तीत्यगास्तेषामिन्द्रः । [वनैःकाननैर्युक्तः सहितोऽपि] अवनः पालयिता श्रितानाम्[4] ॥५॥ विहायेति—इह स्मरवासभूमौ सुरस्त्री मानं विहाय कान्तं रन्तुमियेष । कथंभूतं कान्तम् । अयमानम् अनादृत्य सहसा गच्छन्तमपि । किं कृत्वा । निरीक्ष्य । किं तत् । विपिनम् । कथंभूतम् । रसालसारमाम्रवृक्षाढ्यम् । किंविशिष्टा सुरस्त्री, रसालसा रागासक्ता[5] ॥६॥ पञ्चाननेति—पञ्चभिर्वक्त्रैरुत्क्षिप्ता करीन्द्रकृत्तिर्येन, पञ्चवक्त्राणीश्वरस्य, अन्यत्र पञ्चाननाः सिंहाः [[6] गुहः कार्तिकेयस्तेनान्वितः सहितः अन्यत्र गुहाः कन्दरास्ताभिरन्वितः । दत्तः शिवायाः पार्वत्याः प्रमोदो हर्षो येन तथाविधः अन्यत्र दत्तः शिवानां शृगालीनां प्रमोदो यत्र] अहीन् प्रात्तीति अहिप्रः सर्पराजः स एव हारस्तेन उल्वणः कण्ठो यस्य अन्यत्र भुजगप्रहारोत्कटाः नीलकण्ठा मयूरा यत्र स तथोक्तरूपस्ततो यः पर्वतो रौद्रभावं

मार्ग खोजनेके लिए उत्सुक हो हजार नेत्र ही खोल रखे हों ॥४॥ वह पर्वत यद्यपि बड़े-बड़े प्रस्थों—मापक पदार्थोंसे सहित था फिर भी प्रमाण रहित था [पक्षमें बहुत ऊँचा था] बड़े-बड़े पादों—चरणोंसे सहित था फिर भी नहीं चलनेवालोंमें श्रेष्ठ था [पक्षमें प्रत्यन्तपर्वतोंसे युक्त एवं श्रेष्ठ पर्वत था], और वनोंसे सहित था फिर भी आश्रित पुरुषोंके लिए अवन था—वन नहीं था, [पक्षमें उनका रक्षक था] ॥ ५ ॥ वह पर्वत कामदेवकी निवासभूमि है, वहाँ आमोंका सुन्दर वन देख रससे अलसायी देवांगना तिरस्कार कर सहसा जाते हुए भी पतिके साथ रमणकी इच्छा करने लगती है ॥६॥ यह पर्वत कहीं सिंहोंके द्वारा उकेरे हुए हाथियोंके चर्मसे युक्त था, कहीं गुहाओंसे सहित था, कहीं शिवा—शृगालियोंको आनन्द दे रहा था, और कहीं सर्पोंपर प्रहार करनेमें उत्कट नीलकण्ठों—मयूरोंसे संयुक्त था । इस प्रकार रुद्रपना—भयंकरता प्रकट कर रहा था पक्षमें रुद्रपना प्रकट कर रहा था। क्योंकि रुद्र भी तो अपने पाँच मुखोंसे ऊपर हाथीका चर्म ओढ़ते हैं, गुह—कार्तिकेयसे सहित हैं, शिवा—पार्वतीके लिए आनन्द देनेवाले हैं और नागराज रूपी हारसे उत्कट नील—काले—कण्ठके धारक हैं ॥७॥ अनन्त आकाशमें विहार करनेसे थके हुए सूर्यके घोड़े जिस पर्वतके नागकेशर,

१. इह—अयमानम्—गच्छन्तम् । २. रसालैराम्रैः सारं श्रेष्ठम् । ३. उत्प्रेक्षा । ४. अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—यो विन्ध्यगिरिः अदुःस्थैरुत्तमैः प्रस्थैर्मापकपदार्थैः कलितोऽपि युक्तोऽपि अमानः प्रमाणरहित इति विरोधः परिहारपक्षे उत्तमैः प्रस्थैः शिखरैः कलितोऽपि अमानः न विद्यते मानं तुङ्गत्वावधिर्यस्य तथाभूतः । अमन्दैर्विपुलैः पादैश्चरणैः प्रसृतो धावितोऽपि अगेन्द्रो न गच्छन्तीति अगास्तेषामिन्द्रः प्रमुख इति विरोधः । परिहारपक्षे अमन्दैर्विपुलैः पादैः प्रत्यन्तपर्वतैः प्रसृतोऽपि विस्तीर्णोऽपि अगेन्द्रः पर्वतपतिः । वनैः काननैर्युक्तोऽपि सहितोऽपि अवनो वनरहित इति विरोधः। परिहारपक्षे श्रितानां प्राणिनाम् अवनो रक्षकः । इत्थं यः सत्यं यथार्थम् अगम्यं दुर्बोध्यं रूपं यस्यासौ तथाभूतः अस्तीति शेषः। विरोधाभासोऽलंकारः । इन्द्रवज्रावृत्तम् । ५. यमकालंकारः, उपेन्द्रवज्रावृत्तम् । ६. कोष्ठान्तर्गतः पाठः क पुस्तके नास्ति, किन्त्वावश्यकः प्रतिभाति ।

प्रियायुतं सानुनि कुञ्जरं गां निकुञ्जरङ्गां गतमीक्षमाणः ।
मुनीश्वरोऽपि स्मरति प्रियाया रतिप्रियायासवशेन. यत्र ॥९॥
वप्रक्रीडाप्रहृतिषु दृढैर्यत्र मत्तद्विपानां
दन्ताघातैर्झटिति जलदाभोगभाजो नितम्बात् ।
पक्षच्छेदव्रणगणगतोद्दामदम्भोलिधारा–
शल्यानीव स्फुरदुरुतडिद्दण्डखण्डानि पेतुः ॥१०॥
मम यदि लवणोदानन्दिसोमोद्भवायाः
सममपरमपत्यं स्यादहं तत्कृतार्था ।
इति किल निशि सूते यस्य सोमोद्भवानां
सितकरमणिभित्तिर्वाहिनीनां व्रतानि ॥११॥
यत्राम्बुजेषु भ्रमरावलीनामेणावली [1]सत्तमरावलीना ।
पपौ सरस्याशुतरं गतान्तं न वारि विस्फारितरङ्गतान्तम्[2] ॥१२॥

रुद्रत्वम् अन्यत्र भीषणत्वं वा तनोति[3] ॥७॥ पुंनागेति—पुंनागादिसुरभिकुसुममधुरफलशीतलच्छायोपेत-द्रुमयुक्तम् अस्य शिखरोपरिमभूमिकाप्रदेशम् अपारगगनपथश्रान्ताः सूर्याश्वाः क्षणमात्रं श्रयन्ते तत्र विश्राम्यन्तीति भावः । सूर्यमण्डलं यावद्विन्ध्यगिरिरुच्चैरित्यर्थः[4] ॥८॥ प्रियेति—यत्र पर्वते मुनीश्वरोऽपि प्रियायाः स्मरति । केन । रतिप्रियायासवशेन रतिप्रियः कामस्तस्यायासवशेन । किं कुर्वन् । ईक्षमाणः पश्यन् । कं कुञ्जरम् । किंविशिष्टम् । प्रियायुतम् । पुनः किंविशिष्टम् । गतं प्राप्तम् । काम् । गां पृथ्वीम् । किंविशिष्टाम् । निकुञ्जरङ्गाम् निकुञ्जानां लतादिपिहितोदराणां रङ्ग उद्रेकः खलकण्ठा यस्यां तां तथाभूताम् । क्व । सानुनि तटे[5] ॥९॥ वप्रेति—यत्र परिणतमत्तद्विपदन्तव्याघातैर्विदलितेभ्यः कटिनीस्थितजलदपटलेभ्यो निरालम्बविद्युद्दण्डखण्डानि निर्गलन्ति स्म । अतश्चोत्प्रेक्षन्ते—चिरकालप्ररूढव्रणग्रन्थिस्थिताः कुलिशधाराखण्डा इव । पूर्वं क्रुद्धेन महेन्द्रेण पर्वतपक्षच्छेदार्थं कुलिशं मुक्तमिति कथा । अत्र मेघकृष्णवर्णयोर्विद्युच्छल्ययोश्चोपमानोपमेयभावः[6] ॥१०॥ ममेति—यदि नर्मदातुल्या अपरा नदी लावण्यसमुद्रतोषिका प्रभवति तदाहं कृतकृत्या भवेयमिति चिन्तयन्तीव चन्द्रमणिभित्तिर्नदीसहस्राणि श्चोतति । यथा कश्चित् रत्नाढ्यं जामातरं वीक्ष्य निजपुत्र्या सौभाग्यग्रहिलं वीक्ष्यान्यासां तादृशीनां पुत्रीणामुत्पादने कृतोद्यमो भवति[7] ॥११॥ यत्रेति—यत्र एणावली हरिणपङ्क्तिः

नारंगी, लौंग, जामुन और जिमरियोंके क्रीड़ावनोंसे सुशोभित शिखरोंपर सदा आश्रय लेते हैं ॥८॥ जिस पर्वतके शिखरपर लतागृहोंसे सुशोभित पृथिवीमें स्थित हस्तिनी सहित हाथीको देखकर और की तो बात क्या मुनिराज भी कामके खेदसे अपनी प्रियाका स्मरण करने लगते हैं ॥९॥ मेघमण्डलसे घिरे हुए उस पर्वतके मध्यभागसे वप्रक्रीडाके प्रहारके समय हाथियोंके दाँतोंका प्रबल आघात पा चमकती हुई बिजलियोंके बड़े-बड़े खण्ड गिरने लगते थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो पक्षच्छेदके समय उत्पन्न घावोंके मध्य उलझे हुए वज्रके टुकड़े ही हों ॥१०॥ यदि मेरे लवण समुद्रको आनन्द देनेवाली नर्मदाके समान दूसरी सन्तान होती तो मैं कृतकृत्य हो जाती—ऐसा विचार कर ही मानो जिस पर्वतकी चन्द्रकान्त मणिमय दीवाल रात्रिके समय सैकड़ों सोमोद्भव[8]—चन्द्रमासे उत्पन्न होनेवाली नदियोंको [पक्षमें नर्मदाओंको] उत्पन्न करती है ॥११॥ जिस पर्वतपर मृगोंकी पंक्ति पानी पीनेके लिए सरोवर-

१. अतिशयेन सन्तः सत्तमास्ते च ते रावाश्चेति सत्तमरावास्तेषु लीना आसक्ता । २. विस्फारिणो विस्तृता ये तरङ्गाः कल्लोलास्तैस्तान्तं क्लेशितम् । ३. श्लेषः । उपजातिवृत्तम् । ४. इन्द्रवज्रावृत्तम् । ५. उपेन्द्रवज्रावृत्तम् । अर्थापत्तिः । ६.मन्दाक्रान्ता । ७.मालिनीवृत्तम् । ८. 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः ।

निर्मुक्तगर्भभरनिर्भरदुर्बलासु कादम्बिनीषु कटकाग्रविलम्बिनीषु ।
भग्नामनेकमणिभासुररश्मिजालैर्यः पूरयत्यनुदिनं हरिचापलक्ष्मीम् ॥१३॥
स दृष्टमात्रोऽपि गिरिर्गरीयांस्तस्य प्रमोदाय विभोर्बभूव ।
गुणान्तरापेक्ष्यमभीष्टसिद्धयै नहि स्वरूपं रमणीयतायाः ॥१४॥
सुहृत्तमः सोऽथ सभासु [1]हृत्तमःप्रभाकरश्छेत्तुमिति [2]प्रभाकरः ।
धरे क्षणं व्यापृतकंधरेक्षणं तमोश्वरं प्राह [3]जगत्तमीश्वरम् ॥१५॥
पूर्वापराम्भोधितटीतरङ्गमालाग्ररङ्गत्कटकोऽयमद्रिः ।
त्वत्सैनिकाक्रान्ततनुश्चकास्ति नम्रीभवन्नन्य इव क्षितीशः ॥१६॥
अनेकसुरसुन्दरीनयनवल्लभोऽयं दधन्
मदान्धघन[4]सिन्धुरभ्रमरुचिः सहस्राक्षताम् ।

सरस्या महासरोवरस्य वारि न पपौ । किंविशिष्टं वारि । विस्फारितरङ्गतान्तं विस्फारिकल्लोलविस्तृतम् । पुनः किंविशिष्टम् । सुतरं सुखादवगाह्यम् । पुनः किंविशिष्टम् । गतान्तं प्राप्तसमीपम् । किं कारणमित्याह—सत्तमरावलीना मधुरध्वानासक्ता । कासाम् । भ्रमरावलीनाम् । केषु । अम्बुजेषु ॥१२॥ निर्मुक्तेति—निर्मुक्तपानीयत्वेन यो दुर्बलासु मेघपङ्क्तिषु शृङ्गस्थितासु इन्द्रचापलक्ष्मीं पुनस्तादृशीं नवीनामेव करोति । कैः । अनेकपञ्चवर्णरत्नकिरणजालैः । सजलमेघेषु हि सुरचापसंभव इति । यथा कश्चिन्निजाश्रितं सततदानादिना दरिद्रत्वप्राप्तं पुनः सश्रीकं तदवस्थमेव करोति ॥१३॥ स इति—सं विध्यगिरिर्महान् दृष्टमात्रोऽपि तस्य प्रभोः प्रमोदभाराय बभूव । युक्तमेतत्, नहि सहजरमणीयं वस्तु प्रमोदोत्पादनाय गुणान्तरमपेक्ष्यते । यदेव दृष्टमात्रं भूषणव्यतिरेकेण प्रमोदयति तदेव सहजरमणीयं वस्तु ॥१४॥ सुहृत्तम इति—अथ प्रभाकरो नाम प्रसिद्धः पर्वताधिष्ठाता सुहृत्तमस्तं जगत्तमीश्वरं जगच्चन्द्रम् ईश्वरं प्रभुम् इत्याह—कथंभूतमीश्वरम् । व्यापृतकन्धरेक्षणं व्यापृते कन्धरेक्षणे यस्य तं तथाभूतम् । तत्कन्धरे पर्वते कथम् । क्षणं कथंभूतः प्रभाकर आदित्यः । किं कर्तुम् । छेत्तुम् । किं तत् । हृत्तमः । कासु । सभासु ॥१५॥ पूर्वेति—पूर्वापरसमुद्रलग्नशिखरपर्यन्तः पक्षे पूर्वापरसमुद्रयोर्लग्नं कटकं सेनाप्रचारो यस्य स तद्विधः । त्वत्सेनासंमर्दितशरीरोऽन्यनृपतिरिव ॥१६॥ अनेकेति—हे प्रभोऽयं विन्ध्यगिरिस्तवाग्रतः शक्रायते । कथमित्याह—अनेकदेवाङ्गनासुरत-

के समीप पहुँचती थी परन्तु वहाँ कमलोंमें स्थित भ्रमर समूहके सुन्दर शब्द सुननेमें इतनी आसक्त हो जाती थी कि बड़ी-बड़ी तरंगोंसे ताडित जल किनारे पर आकर वापिस चला जाता था पर वह उसे पीती नहीं थी ॥१२॥ उस पर्वतके शिखरके अग्रभागमें जो मेघमालाएँ छायी थीं वे गर्भका पानी बरस जानेसे दुर्बल पड़ गयी थीं और उनका स्वाभाविक इन्द्रधनुष यद्यपि नष्ट हो गया था तो भी वह पर्वत अपने अनेक देदीप्यमान मणियोंकी किरणोंके समूहसे इन्द्रधनुषकी शोभा प्रतिदिन पूर्ण करता रहता था ॥१३॥ वह विशाल पर्वत दिखते ही भगवान् धर्मनाथके लिए आनन्ददायी हो गया सो ठीक ही है क्योंकि अभीष्ट सिद्धिके लिए सुन्दरताका स्वरूप किसी दूसरे गुणकी अपेक्षा नहीं रखता ॥१४॥ तदनन्तर वह मित्र प्रभाकर, जो कि सभाओंमें हृदयगत अन्धकारको नष्ट करनेके लिए साक्षात् प्रभाकर—सूर्य था, जगच्चन्द्र भगवान् धर्मनाथको पर्वतकी शोभामें व्यापृत नेत्र देख बड़े उल्लासके साथ इस प्रकार बोला ॥१५॥ जिसके कटक, पूर्वापर समुद्रके तटकी तरंगोंके समूहसे स्पृष्ट हैं ऐसा यह पर्वत आपके सैनिकोंसे आक्रान्त हो ऐसा जान पड़ता है मानो नमस्कार करता हुआ अन्य राजा ही हो ॥१६॥ यह पर्वत आपके आगे ठीक इन्द्रकी शोभा धारण कर रहा है क्योंकि

१. हृदयान्धकारदूरीकरणे सूर्यः । २. एतन्नामकः । ३. जगच्चन्द्रम् । ४. सुन्दर घ० म० । ५. वसन्ततिलकावृत्तम् ।

[1]महागहनभक्तितो मुकुलिताग्रभास्वत्करः
पुरस्तव पुरन्दरद्युतिमुपैति पृथ्वीधरः ॥१७॥
[2]अनेकधातुच्छविभासुरा बलान्निर्वर्तिता कुम्भभुवार्कमण्डलात् ।
[3]अनेकधातुच्छविभा सुराबला न का श्रयत्यस्य वनाकुलास्तटीः ॥१८॥
बिम्बं विलोक्य निजमुज्ज्वलरत्नभित्तौ क्रोधात्प्रतिद्विप इतीह ददौ प्रहारम् ।
तद्भग्नदीर्घदशनः पुनरेव तोषाल्लीलारसं स्पृशति पश्य गजः प्रियेति ॥१९॥

क्रीडास्थानम् । सहस्राक्षतां विभीतकद्रुमसहस्राकुलतां दधानः । पुनः किंविशिष्टः । मदान्धघना प्रचुरा ये सिन्धुरास्तेषां भ्रमरुचिर्विहरणक्रीडाभिलाषो यत्र पक्षे मत्ताभ्रमातङ्गगमनशीलः । मुकुलिताः संकोचिता अग्रा भास्वतः सूर्यस्य करा येन स तथाविधः । कस्मात् महावनभङ्गिनः उच्चैर्वननिकुञ्जे न रविकिरणानां प्रचार इत्यर्थः । शक्रपक्षे महानिरन्तरभक्त्या मुकुलितकर इत्यर्थः[4] ॥१७॥ अनेकेति—अतुच्छविभा प्रचुरकान्तिः सुराबला सुरस्त्री अस्य पर्वतस्य वनाकुलास्तटीः अनेकधा का न श्रयति अपि तु सर्वापि श्रयतीत्यर्थः । कथंभूतास्तटीः । अनेकधातुच्छविभासुराः अनेके च ते धातवश्चानेकधातवस्तेषां छविः कान्तिस्तया भासुराः । पुनः किंविशिष्टाः । निर्वर्तिताः । कस्मात् । अर्कमण्डलात् । केन । कुम्भभुवा अगस्त्येन । कुतः । बलात् ॥१८॥ बिम्बमिति—अत्र भित्तौ निजप्रतिबिम्बमभिमुखापतितं विलोकयन्[5] करिणीति मन्यमानः कामालसं यथा

जिस प्रकार इन्द्र स्वामी होनेके कारण समस्त देवांगनाओंके नेत्रोंको प्रिय है उसी प्रकार वह पर्वत भी सुरत योग्य सुन्दर स्थानोंसे युक्त होनेके कारण देवांगनाओंके नेत्रोंको प्रिय है—आनन्द देनेवाला है । जिस प्रकार इन्द्र मदोन्मत्त मेघरूपी हाथी द्वारा भ्रमण करनेकी अभिलाषा रखता है उसी प्रकार यह पर्वत भी मदोन्मत्त अत्यधिक हाथियोंके भ्रमणकी अभिलाषासे युक्त है—इसपर मदोन्मत्त हाथी घूमनेकी इच्छा रखते हैं । जिस प्रकार इन्द्र सहस्राक्षता—हजार नेत्रोंके अस्तित्वको धारण करता है उसी प्रकार यह पर्वत भी सहस्राक्षता—हजारों बहेड़ेके वृक्षोंके अस्तित्वको धारण करता है और जिस प्रकार इन्द्र महागहन भक्तिसे—तीव्र भक्तिकी अधिकतासे मुकुलिताग्रभास्वत्कर—अपने देदीप्यमान हाथोंको कमलकी बौंड़ीके आकार करके स्थित रहता है उसी प्रकार महागहन भक्तिसे—अत्यन्त सघन वनकी रचनासे मुकुलिताग्र भास्वत्कर—सूर्यकी अग्रकिरणोंको संकोचित करनेवाला है ॥१७॥ अनेक प्रकारकी अतुच्छ कान्तिको धारण करनेवाली कौन सी देवी इस पर्वतके उन वनाकीर्ण तटोंका आश्रय नहीं लेती जो कि अनेक धातुओंकी कान्तिसे देदीप्यमान हैं और अगस्त्य ऋषि

१. वहन घ० म० । २. अनेकधातूनां छविभिर्भासुरशोभमाना । ३. अनेकधा अतुच्छा प्रचुरा विभा कान्तिर्यस्यास्तथाभूता । ४. अत्रेदं सुगमं व्याख्यानम्—अयं पृथ्वीधरो विन्ध्यगिरिः तव भवतः पुरोऽग्रे पुरन्दरद्युतिमिन्द्रशोभाम् उपैति प्राप्नोति । अथोभयोः सादृश्यमाह—अशेषसुरसुन्दरीणां देवाङ्गनानां नयनवल्लभो नेत्रप्रियः सुरतयोग्यस्थानयुक्तत्वात्स्वामित्वाच्च । उभयत्र समानम् । मदान्धा मदोत्कटाः घनाः प्रचुरा ये सिन्धुरा गजास्तेषां भ्रमे भ्रमणे विहरणे रुचिरभिलाषो यत्र तथाभूतो विन्ध्यगिरिः पक्षे घन एव सिन्धुरो घनसिन्धुरः, मदान्धो यो घनसिन्धुरस्तेन भ्रमे विहारे रुचिरिच्छा यस्य तथाविधः इन्द्रस्य मेघवाहनत्वं प्रसिद्धम् । सहस्रमक्षा विभीतका यत्र स सहस्राक्षस्तस्य भावस्तां प्रचुरविभीतकयुक्तताम् दधानो विन्ध्यगिरिः पक्षे सहस्रमक्षीणि नेत्राणि यस्य स सहस्राक्षस्तस्य भावस्तां दशशतलोचनवत्त्वं दधानः पुरन्दरः । महच्च तद्गहनं वनं महागहनं तस्य भक्तितो रचनाविन्यासात् मुकुलिताः संकोचिता अग्रा उपरितना भास्वतः सूर्यस्य कराः किरणा यत्र तथाविधो विन्ध्यगिरिः पक्षे महागहनभक्तितस्तीव्रानुरागातिशयात् मुकुलिताग्रावञ्जलिबन्धेन कुड्मलिताग्रौ भास्वत्करौ देदीप्यमानहस्तौ यस्य तथाविधः । श्लिष्टोपमा । पृथ्वीच्छन्दः । ५. [करी, प्रतिगज इति मन्यमानः क्रोधवशात्प्रथमं प्रहारं ददौ पश्चात् तेन कारणेन खण्डितदीर्घदन्तः सन्] ।

पलाय्य निर्यन्मदवारिधारा गिरेरुपान्ते करिणः प्रयान्तः ।
त्वत्तूर्यनादैस्त्रुटितोरुमूला विभान्ति कूटा इव निर्लुठन्तः ॥२०॥
न वप्रे नवप्रेमबद्धा भ्रमन्ती स्मरन्ती स्मरं तीव्रमासाद्य भर्तुः ।
क्षणादीक्षणादीश बाष्पं वमन्ती दशां का दशाङ्कामिहान्वेति न स्त्रीः ॥२१॥
प्रकटितोरुपयोधरबन्धुराः सरसचन्दनसौरभशालिनीः ।
मदनबाणगणाङ्कितविग्रहो गिरिरयं भजते सुभगास्तटीः ॥२२॥
इयं गिरेर्गैरिकरागरञ्जिता विराजते गह्वरवारिवाहिनी ।
पविप्रहारत्रुटितोरुपक्षतिक्षताद्वलन्तीव नवास्रधोरणिः ॥२३॥

स्यादेवं कारणात्स्पृशति । अत्र वीरश्रृङ्गाररससंकीर्णवर्णनम् ॥१९॥ पलाय्येति—त्वत्सेनातूर्यनादत्रस्ताः करिणः पलायमाना विभान्ति अधित्यकासमीपे तूर्यनादमहाभिद्रुताः श्रृङ्गसंघाता इव निष्पतन्तस्त्रुटितोरुमूला भिन्नमहामूलबन्धाः ॥२०॥ नेति—हे ईश ! इह पर्वते का स्त्री दशा नान्वेति । कथंभूताम् । दशाङ्काम् दशलक्षणोऽङ्को यस्यां तां दशाङ्कां [1]दशप्रकारामित्यर्थः । किं कुर्वन्ती । वयन्ती । किं तत् । वाष्पम् अश्रु । कस्मात् । ईक्षणात् । कुतः । क्षणात् । पुनः किं कुर्वाणा । भ्रमन्ती । क्व । वप्रे । कथंभूता । नवप्रेमबद्धा । स्मरन्ती च, कस्य । भर्तुः । किं कृत्वा । आसाद्यकम् । स्मरम् । कथंभूतम् । तीव्रम्[2] ॥२१॥ प्रकटितेति—यो गिरिः सुभगा विलासिनीरिव प्राग्भारभूमिका बिभर्ति । किंविशिष्टाः । मदनाश्च बाणाश्च वृक्षविशेषास्तेषां समूहेन व्याप्तदेहः । तटीः कथंभूता । प्रकटितमहामेघसंघाताः सरसचन्दनद्रुममालिनीः । पक्षे यथा कश्चित् कामी कामशरकर्दथितः पीनस्तनीश्चन्दनलिप्ता विलासिनीः श्लिष्यति[3] ॥२२॥ इयमिति—इयं पर्वतधातु-

द्वारा सूर्यमण्डलसे बलपूर्वक लौटायी गयी हैं ॥१८॥ जरा इधर देखिए, इस उज्ज्वल रत्नोंकी दीवालमें अपना प्रतिबिम्ब देख यह हाथी क्रोधपूर्वक यह समझकर बड़े जोरसे प्रहार कर रहा है कि यहाँ हमारा शत्रु दूसरा हाथी है। और इस प्रहारसे जब इसके दाँत टूट जाते हैं तब उसी प्रतिबिम्बको अपनी प्रिया समझ बड़े संतोषसे लीलापूर्वक उसका स्पर्श करने लगता है ॥१९॥ मद जलकी धारा बहाते हुए हाथी दौड़-दौड़कर इस पर्वतके समीप जा रहे हैं जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो आपकी तुरहीके शब्दसे विशाल जड़ टूट जानेसे इस पर्वतके शिखर ही लुढ़क रहे हों ॥२०॥ हे नाथ ! यहाँ नये प्रेमसे बँधी, शिखरपर घूमती, कामकी तीव्र वाधावश पतिका स्मरण करती एवं नेत्रोंसे क्षण एकमें अश्रु बहाती हुई कौन-सी स्त्री दशमी—मृत्यु दशाको नहीं प्राप्त होती ? ॥२१॥ जिस प्रकार काम बाणोंके समूहसे चिह्नित शरीरवाला मनुष्य उठे हुए स्थूल स्तनोंसे सुन्दर एवं सरस चन्दनकी सुगन्धिसे सुशोभित सौभाग्यशाली स्त्रियोंका आलिंगन करता है उसी प्रकार वह पर्वत भी चूँकि मदनबाणों—कामबाणोंके समूहसे [पक्षमें मेनार और बाण वृक्षोंके समूहसे] चिह्नित था अतः उठे हुए

१. 'अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च । उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥ इति कामस्य दशावस्थाः । २. भुजङ्गप्रयातवृत्तम् । ३. अत्रेदं व्याख्यानं सुस्पष्टम्—मदनाश्च बाणाश्च मदनबाणा वृक्षविशेषास्तेषां गणेन समूहेनाङ्कितो विग्रहो देहो यस्य तथाभूतोऽयं गिरिः प्रकटितैः स्पष्टं दृश्यमानैः उरुर्महा पयोधरैर्मेघैर्बन्धुरा नतोन्नताः, सरसचन्दनानां सरसमलयजवृक्षाणां सौरभेण सौगन्ध्येन शालिन्यः, शोभमानास्ताः सुभगा मनोहरास्तटीः प्राग्भारभूमिका भजते सेवते । अत्र श्लिष्टविशेषणाल्लिङ्गसाम्याच्च समासोक्त्या गिरिपदेन नायकस्य तटीपदेन च नायिकानां कल्पना भवति ततो यथा मदनस्य कामस्य बाणानां गणेन समूहेनाङ्कितो विग्रहो देहो यस्य तथाभूतो नायकः प्रकटितैः प्रगाढतारुण्येन स्पष्टं दृश्यमानैः उरुपयोधरैः स्थूलस्तनैर्बन्धुरा नतोन्नताः सरसचन्दनस्य नूतनमलयजालेपस्य सौरभेण शालिनीः शोभिनीः सुभगाः सुष्ठुयोनियुक्ताः नायिकाः भजते सेवते तथेति भावः । द्रुतविलम्बितवृत्तम् । द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ।

निर्जयता निजरत्नरुचा मां [1]मन्दरसानुगतारमणीनाम् ।
सा न कदाप्यमुना ध्रियते या [2]मन्दरसानुगता रमणीनाम् ॥२४॥
रोद्धुं पुनर्ग्रहपथं लघु [3]हारिदश्वैरश्वैरुपद्रुतनिकुञ्जलताप्रवालः ।
शृङ्गादुदग्रजलदैरयमुन्नमद्भिः प्रोल्लङ्घयन्निव मुनेः समयं विभाति ॥२५॥
दिवाकरोत्तापिततापनोपलात्स्मरारिभालादिव निर्गतो गिरेः ।
समूलमारात्कुसुमेषु[4] सुन्दरं क्षणादधाक्षीन्मदनं[5] हुताशनः ॥२६॥
द्रुपङ्क्तिभिः प्रांशुमनोरमाभिर्गिरौ हरत्याशु [6]मनोऽरमाभिः ।
पिकध्वनीनां कमितारमन्ते सुरस्त्रियः [7]सोत्कमिता रमन्ते ॥२७॥

खनिमध्यसंचरणशोणितपानीया निर्झरनदी शोभते वज्रप्रहारत्रोटिते पृथुलपक्षव्रणाद्गलन्ती रुधिरधारेव ॥२३॥ निर्जयतेति—रमणीनां मध्ये सा कदाप्यमुना न ध्रियते या कथंभूता । मन्दरसानुगता मन्देन रसेन रागेण यानुगता स्यात् । अमुना किं कुर्वता । निर्जयता । काम् । भां दीप्तिम् । मन्दरसानुगतारमणीनां मन्दरो मेरुस्तस्य सानूनि गच्छन्तीति मन्दरसानुगास्ते च ते तारमणयश्च तेषाम् । कया कृत्वा । निजरत्नरुचा ॥२४॥ रोद्धुमिति—अयं विन्ध्याद्रिः प्रतिपन्नागस्तिवृद्धिप्रतिषेधवचनं विलोपयन्निव प्रतिभाति । तथैव पुनर्वर्द्धमान इत्यर्थः । कैः । उपर्युपरिलीयमानैर्मेघपटलैः । कथं निजं वचनं लोपयतीत्याह—आदित्याश्वैस्त्रोटितनिकुञ्जलतापल्लवः । ततः सूर्यसंचारमार्गं रोद्धुकाम इव । अनवरतापराधबाधितो महानप्यभिसूयत इत्यर्थः ॥२५॥ दिवाकरेति—आदित्यकरतापितसूर्यकान्तपाषाणान्निर्गतो वह्निः पुष्पबाणमनोहरं कामं दग्धवान् आरात् समीपात्[9] ॥२६॥ द्रुपङ्क्तिभिरिति—आभिः प्रांशुमनोरमाभिः द्रुपङ्क्तिभिः कृत्वास्मिन् गिरौ आशु शीघ्रं मनो हरति सुरस्त्रियः पिकध्वनीनामन्तेऽवसाने सोत्कं यथा भवति एवं कमितारमिता गताः सत्यो रमन्ते

विशाल पयोधरों—स्तनों [पक्षमें मेघों] से सुन्दर एवं सरस चन्दनकी सुगन्धिसे सुशोभित मनोहर तटियोंका आलिंगन कर रहा है ॥२२॥ यह गेरूके रंगसे रँगी हुई पर्वतकी गुफासे बहनेवाली नदी ऐसी जान पड़ती है मानो वज्रके प्रहारसे खण्डित विशाल पक्षोंके मूलसे बहती हुई नवीन रुधिरकी नदी ही हो ॥२३॥ अपने रत्नोंकी कान्तिके द्वारा मेरु पर्वतके शिखरमें लगे हुए बड़े-बड़े मणियोंकी दीप्तिको जीतनेवाले इस पर्वतके द्वारा वह स्त्री कभी भी धारण नहीं की जाती जो कि स्त्रियोंके बीच मन्द रससे अनुगत—नीरस होती है ॥२४॥ चूँकि सूर्यके घोड़े इसके लतागृहोंकी लताओंके पत्तोंको समीपस्थ होनेके कारण शीघ्र ही खण्डित कर देते हैं अतः यह शिखरोंसे ऊपर उठते हुए उन्नत मेघोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो फिरसे सूर्यका मार्ग रोकनेके लिए अगस्त्य महर्षिके समक्ष की हुई प्रतिज्ञाका उल्लंघन ही कर रहा हो ॥२५॥ जिस प्रकार महादेवजीके मस्तकसे निकली हुई अग्निने पुष्परूप बाणोंसे सुन्दर मदन—कामको क्षणभरमें जला दिया था उसी प्रकार सूर्यके द्वारा संतापित सूर्यकान्त मणिसे निकली हुई अग्निने पुष्पोंके रहनेसे सुन्दर दिखनेवाले—मेनार वृक्षको मूल सहित क्षणभरमें जला दिया है ॥२६॥ इधर यह पर्वत इन ऊँची और मनोहर वृक्षोंकी श्रेणियोंसे मनको हरण कर रहा है अतः देवांगनाएँ कोयलकी कूकके बाद ही अत्यन्त

---

१. मन्दर-सानुग-तार-मणीनाम् । २. मन्द-रस-अनुगता । ३. हरिदश्वस्येमे हारिदश्वास्तैः सूर्याश्वैः । ४. कुसुमेषु इति सप्तमी । पुष्पेषु सत्सु सुन्दरम् (पक्षे) कुसुममयैरिषुभिर्बाणैः सुन्दरम् । ५. मदनो वृक्षविशेषः कामश्च तम् । ६. मनः-अरम्-आभिः । ७. सोत्कम् + इताः । ८. दोधकवृत्तम् । ९. श्लिष्टोपमा, वंशस्थवृत्तम् ।

विस्तारं पथि पुरतोऽधिकं दधाना वक्रत्वं विषमविषा प्रदर्शयन्ती ।
एतस्मात्प्रसरति शैलवामलूरात्कन्येयं सरिदुरगीव मेकलस्य ॥२८॥
उन्मीलन्नवनलिनीवनप्रसूनं भात्येतद्गतमलमम्बु नर्मदायाः ।
निर्भिन्नं शिखरशतैरमुष्य पुष्यन्नक्षत्रं पतितमिवान्तरिक्षखण्डम् ॥२९॥
मुदापुलिन्दीभिरिहेक्ष्यते[1] भवान् [2]कान्तारसानुग्रहभूरिभान्वितः ।
अयं महीध्रोऽप्यधिरुह्यते भिया [3]कान्तारसानुग्रहभूरिभान्वितः ॥३०॥
[4]तत्सूत्रमत्र तरुतीरनिकुञ्जवेदी विद्यामठे कलरवक्रमपाठकेषु ।
अश्रान्तमेव निगदत्सु वधूद्वितीयः को नाम कामनिगमाध्ययनं न धत्ते ॥३१॥
भियेव धात्र्या स्थलपङ्कजाक्ष्या निरीक्ष्यमाणं वनसैरिभाणाम् ।
क्रीडत्युदञ्चद्घनपङ्कशृङ्गं गिरेः शिशूनामिव वृन्दमग्रे ॥३२॥

॥२७॥ विस्तारमिति—एतस्माद्विन्ध्यगिरेर्मेकलकन्या[5] नर्मदा प्रभवति । पुरःपुरोऽधिकमधिकं प्रवाहं वर्द्धयन्ती कुटिलत्वं च दर्शयती निम्ननिम्नगमनत्वेन विषमविषा गभीरपानीया । यथा वामलूराद्वल्मीकात् सर्पिणी मार्गं रुन्धाना प्रसरति । विषमविषा अप्रतिकार्यविषा[6] ॥२८॥ उन्मीलदिति—एतस्या नर्मदाया जलं विकसित-पुण्डरीकखण्डं विभाति विन्ध्यगिरेरुच्चशिखरैः प्रणोद्य पातितं सतारकं गगनखण्डमिव ॥२९॥ मुदेति—इह भवान् पुलिन्दीभिरीक्ष्यते । कथंभूतः । कान्तारसानुग्रहभूरिभान्वितः कान्तारागस्वीकारेण प्रचुरप्रभायुक्तः । न केवलं भवानीक्ष्यते महीध्रोऽप्यधिरुह्यते । कया । भिया भयेन । कथंभूतो महीध्रः । कान्तारसानुग्रहभूः कान्तारसानून्येव ग्रहाणां भूर्यस्य तथाभूतः । एतावता आरोहणाय उच्चैस्त्वं प्रतिपादितम् । पुनः किंविशिष्टः । इभान्वितो हस्तियुक्तः ॥३०॥ तत्सूत्रमिति—कलरवक्रमपाठकेषु पारावतोपाध्यायेषु तरुतीरनिकुञ्जवेदिका विद्यामठश्रितेषु सततमेव प्रतिपादकेषु कः कामीव वधूद्वितीयः कामसिद्धान्ताध्ययनं न कुरुते । सुलभोपाध्यायात्स सहायः सर्वोऽपि पाठयत इत्यर्थः ॥३१॥ भियेवेति—अग्रे वनमहिषाणां यूथमुत्कूर्दयति । पृथिव्या स्थलपङ्कजनयनैर्विलोक्यमानं भियेव संस्खलनादिदोषशङ्कयेव । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—अस्य विन्ध्यस्थापत्यवृन्दमिव धात्र्या उपमात्रा निरीक्ष्यमाणं घना मेघा एव पङ्कः कर्दमः शृङ्गे यस्य पर्वतपुत्रवृन्दस्य । महिषपक्षे प्रचुर-

उत्कण्ठित हो अपने पतियोंके साथ रमण करने लगती हैं ॥२७॥ मार्गमें आगे चल अधिक विस्तार धारण करनेवाली, कुटिलता प्रदर्शित करनेवाली एवं विषम विषसे भरी यह नर्मदा नदी सर्पिणीकी तरह इस पर्वतरूपी वामीसे निकल रही है ॥२८॥ जिसमें कमल वनके नये-नये फूल खिल रहे हैं ऐसा इस पर्वतपर स्थित नर्मदाका यह निर्मल नीर ऐसा जान पड़ता है मानो पर्वतके सैकड़ों शिखरोंसे खण्डित हो नक्षत्रोंसे देदीप्यमान आकाशका खण्ड ही आ पड़ा हो ॥२९॥ इधर ये भीलोंकी स्त्रियाँ, स्त्रियोंके स्नेह तथा अनुग्रहकी भूमि और हाथियोंसे युक्त आपको आनन्दसे देख रही हैं और उधर भयसे वन, शिखर तथा ग्रहोंकी बहुत भारी दीप्तिसे युक्त पर्वतपर चढ़ भी रही हैं ॥३०॥ इस पर्वतपर जब कि वृक्षोंके निकटवर्ती लतागृहोंकी वेदिकारूप पाठशालाओंमें कपोतरूप अध्यापक बिना किसी थकावटके निरन्तर कामसूत्रोंका उच्चारण करते रहते हैं तब ऐसा कौन स्त्री युक्त पुरुष होगा जो कि कामशास्त्रका अध्ययन नहीं करता हो ॥३१॥ पृथिवी अपने स्थल कमलरूप नेत्रोंके द्वारा जिन्हें बड़े भयसे देख रही है और जिनके सींगोंपर बहुत भारी कीचड़ लग रही है ऐसा यह जंगली भैंसाओंका समूह इधर आगे ऐसे क्रीड़ा कर रहा है मानो पर्वतके उन बच्चोंका

१. -रिहेष्यते घ० म० । २. कान्तारसानुग्रहभूः–इभान्वितः । ३. कान्तारसानु-ग्रहभूरिः–भ–अन्वितः । ४. यत्सूत्र घ० ज०, सत्सूत्र घ० म० । ५. 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः । ६. प्रहर्षिणीवृत्तम् 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् ।

त्वत्सैनिकास्तुल्यमदुर्महाभयं [1]निस्त्रिंशचक्रेषुवराहवा नराः ।
नश्यत्सु सिंहादिषु तेन निर्भया [2]निस्त्रिंशचक्रेषु वराहवानराः ॥३३॥

यो नारङ्गः सरल इति यो यश्च पुंनागनामा
ज्ञात्वा वृक्षः सरसपयसा पोषितः पालितश्च ।
गूढं सोऽपि प्रथयति निधिं यत्प्ररोहाग्रहस्तै-
स्तत्किं युक्तं गिरिरयमिति व्याकुलो रोरवीति ॥३४॥

जराधवलमौलिभिः प्रचुरसौविदल्लैरिव
प्रफुल्लतरुभिर्वृता प्रणयिनामुनोत्सङ्गिता ।
परिष्वजति चन्दनावलिरियं भुजङ्गान्यत-
स्ततोऽतिगहनं स्त्रियश्चरितमत्र वन्दामहे ॥३५॥

[3]मन्दाक्षमन्दा क्षणमत्र तावन्नव्यापि[4] न [5]व्यापि मनोभवेन ।
रामा वरा-मावनि[6]रन्यपुष्टवध्वा[7] नवध्वानवशा[8] न यावत् ॥३६॥

पङ्किलशृङ्गम् ॥३२॥ त्वदिति—येन कारणेन त्वत्सैनिका नरास्तुल्यकालं महाभयमदुः । कथंभूताः । निंस्त्रिंशचक्रेषुभिर्वर आहवो येषां ते तथाभूताः । तेन वराहवानरा निर्भयाः । केषु निर्भयाः । सिंहादिषु निंस्त्रिंशचक्रेषु हिंस्रसमूहेषु । कथंभूतेषु । नश्यत्सु । महाभये समकालं नष्टानां विरोधिनामपि परस्परभयं न स्यादित्यर्थः ॥३३॥ य इति—ये नारङ्गसरलपुंनागादयो वृक्षप्रधाना अप्ररोहमोचकास्ते मया परीक्ष्य शीतलनिर्झरणजलेन वर्द्धिताः सम्प्रतमनन्यकथनीयं गूढनिधानं तेऽपि प्ररोहहस्तसंज्ञया सर्वेषां दर्शयन्ति—इति दुःखित इव व्याकुलः सपक्षिकोलाहलो विन्ध्याद्रिः पूत्कुरुते पक्षे, यथा कश्चिन्महान् पुरुषः सरङ्गं सबलं पुन्नागं पुरुषप्रधानं प्रतिपाल्य तदपकारदर्शनाद् विप्रलपति । अधःस्थिते निधाने सर्वेऽपि वृक्षाः प्ररोहं मुञ्चन्तीति प्रसिद्धिः ॥३४॥ जरेति—पलितमस्तकैर्महल्लकैरिव फुल्लितद्रुमैर्वेष्टिता महागिरिणा चोत्सङ्गिता तथा महायत्नेऽपि चन्दनावलिश्चन्दनद्रुमश्रेणी सर्पान्नुपसर्पति । पक्षे कृतचन्दनललाटिका कामुकानभिसरति यथा काचित् ततो मन्ये स्त्रीणां चरित्रं दुरवगाहं नमस्करणीयमिति[10] ॥३५॥ मन्दाक्षेति—अत्र तावत्क्षणमेकं न व्यापि नूतनापि रामा

समूह ही हो जिनके कि शिखरोंपर मेघरूप कीचड़ लग रहा है ॥३२॥ खड्ग चक्र और बाणोंके द्वारा उत्कृष्ट युद्ध करनेवाले आपके सैनिक पुरुषोंने समान रूपसे सबको बहुत भारी अभय दिया है । यही कारण है कि सिंहादि दुष्ट जीवोंका समूह नष्ट हो जानेपर यहाँ सूकर और वानर भी निर्भय भ्रमण कर रहे हैं ॥३३॥ यह छलरहित है, सीधा है, और पुरुषोंमें श्रेष्ठ है—ऐसा जानकर मैंने जिस संतरा, देवदारु और नागकेशरके वृक्षका सरस जलसे [पक्षमें सरस दूधसे] पालन-पोषण किया था वह भी अपने अंकुरोंके अग्रभागरूपी हाथोंके द्वारा हमारा गुप्त खजाना बतला रहा है—क्या यह उचित है ?—ऐसा सोचता हुआ ही मानो यह पर्वत व्याकुल—व्यग्र [पक्षमें पक्षियोंसे युक्त] हो रहा है ॥३४॥ यह चन्दन वृक्षोंकी पंक्ति, वृद्धावस्थाके कारण जिनके सिर सफ़ेद हो रहे हैं ऐसा कंचुकियोंकी तरह अनेक खिले हुए वृक्षोंसे घिरी है, साथ ही यह पर्वत प्रेमीकी तरह इसे अपनी गोदमें धारण किये है फिर भी यह चूँकि भुजंगों—विटों [पक्षमें सर्पोंका] स्पर्श कर बैठती है इसलिए कहना पड़ता है कि हम स्त्रियोंके अतिशय दुरूह—मायापूर्ण चरितको दूरसे ही नमस्कार करते हैं ॥३५॥ शोभा सम्पन्न, लजीली, नवीन उत्कृष्ट स्त्री इस पर्वतपर कामदेवसे तभी तक व्याप्त

१. निस्त्रिंश-चक्र-इषु-नर-आहवाः । २. हिंस्रसमूहेषु । ३. मन्दाक्षेण ह्रिया मन्दा । ४. नवीनापि । ५. व्याप्ता । ६. मायाः लक्ष्म्या अवनिर्भूमिः । ७. कोकिलायाः । ८. नवीनकूजिताधीना । ९. मन्दाक्रान्ताच्छन्दः । १०. अत्र लिङ्गसाम्याद् भुजङ्गपदस्य श्लिष्टत्वाच्च समासोक्त्या तथाभूतायाः पुंश्चल्याः प्रतीतिर्जायते या वृद्धकञ्चुकैः सुरक्षितापि वल्लभेन क्रोडे धृतापि विटान् परिष्वजति । पृथ्वीछन्दः ।

कुपितकेसरिचक्रचपेटया करटिकुम्भतटादभिपातिताः ।
इह विभान्ति तरुस्खलनच्युतस्फुरदुडुप्रकरा इव मौक्तिकाः ॥३७॥

प्रणयिनि नवनीवीग्रन्थिमुद्भिद्य लज्जा-
विधुरसुरवधूनां मोचयत्यन्तरीयम् ।
अधिरजनि गुहायामत्र रत्नप्रदीपे
करकुवलयघाताः साध्वपार्थीभवन्ति ॥३८॥

नवो धनी यो मदनायको भवेन्न बोधनीयो मदनाय को भवे ।
स सुभ्रुवामत्र तु नेत्रविभ्रमैर्विबोध्यते सत्तिलकोऽपि कानने ॥३९॥

उद्भिद्य भीमभवसंततितन्तुजालं
मार्गेऽपवर्गनगरस्य नितान्तदुर्गे ।
लब्ध्वा भवन्तमभयं जिन सार्थवाहं
प्रस्थातुमुत्थितवतामयमग्रभूमिः ॥४०॥

मनोभवेन न व्यापि । कथंभूता सती । मन्दाक्षमन्दा लज्जानिश्चेष्टा । यावन्न नवध्वानवशा जायते । कस्याः । अन्यपुष्टवध्वाः कोकिलायाः । रामा कथंभूता । वरा मावनिश्च मा लक्ष्मीस्तस्या अवनिः ॥३६॥ कुपितेति—कुपितसिंहसमूहतलाभिघातेन गजकुम्भस्थलतटात्पातितानि मौक्तिकानि शोभन्ते उच्चैस्तरश्रृङ्गवृक्षशाखास्खलनपातितानि देदीप्यमाननक्षत्रमण्डलानीव[2] ॥३७॥ प्रणयिनीति—अत्र गिरिगुहायां नीवीबन्धोद्भेदानन्तरमधोवस्त्रमाकर्षति प्राणाधिनाथे लज्जाभारेण व्याकुलानां सुरवधूनां रात्रौ रत्नप्रदीपेषु विध्यापनार्थं [कर] कुवलयघाता [कर] कर्णोत्पलताडनानि निःफलीभवन्ति[3] ॥३८॥ नव इति—यः पुरुषो नवस्तरुणो धनी द्रव्याढ्यो मदनायकोऽष्टमदप्रधानश्च भवेत्स सुभ्रुवां नेत्रविभ्रमैः स्त्रीणां नयनविलासैर्भवे संसारे मदनाय बोधनीयः कामाय विकासनीयः को न भवेत् । अपि तु सर्वोऽपि कामाय सज्जीक्रियत इत्यर्थः । अत्र तु पर्वतेऽयं विशेषा यत्तैः सत्तिलकोऽपि सतां प्रधानीभूतोऽपि मदनाय बोध्यते । अत्र पक्षे तु सत्तिलकः सञ्छोभनस्तिलकवृक्षो[4] नारीनेत्रविभ्रमैर्विकास्यते[5] ॥३९॥ उद्भिद्येति—हे प्रभो ! भवन्तं सार्थवाहं पथि प्रस्थाननायकं प्राप्य मोक्षनगरं यियासूनामयं विन्ध्याद्रिरग्रभूमिः प्राप्तिस्थानम् । किं कृत्वा । उत्थितवतामित्यासूचनम् ॥४०॥

नहीं होती जबतक कि वह कोयलके नवीन शब्दके अधीन नहीं हो पाती—कोयलकी कूक सुनते ही अच्छी-अच्छी लज्जावती स्त्रियाँ कामसे पीडित हो जाती हैं ॥३६॥ इधर कुपित सिंह समूहके नखाघात द्वारा हाथियोंके गण्डस्थलसे निकाल-निकालकर जो मोती जहाँ-तहाँ बिखेरे गये हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो वृक्षोंमें उलझकर गिरे हुए नक्षत्रोंका समूह ही हो ॥३७॥ इधर इस गुफामें रात्रिके समय जब प्रेमीजन नीवीकी नवीन गाँठ खोल लजीली स्त्रियोंके वस्त्र छीन लेते हैं तब रत्नमय दीपकोंपर उनके हाथों द्वारा होनेवाले कर्ण कुवलयोंके आघात व्यर्थ हो जाते हैं—लज्जावश वे दीपक बुझाना चाहती हैं पर बुझा नहीं पातीं ॥३८॥ जो नवीन—तरुण, धनवान् और मदशाली नायक संसारमें अन्यत्र कामयुक्त न हुआ हो वह सत्तिलक—सज्जनोंमें प्रधान [पक्षमें उत्तमतिलक वृक्ष] होनेपर भी इस वनमें स्त्रियोंके नेत्रोंके विलाससे शीघ्र ही कामयुक्त हो जाता है ॥३९॥ हे जिनेन्द्र ! जन्म मरण रूप भयंकर तन्तुओंके जालको नष्टकर आप जैसे अभयदायी सार्थवाहको पा मोक्ष नगरके अतिशय कठिन मार्गमें प्रस्थान करनेके लिए उद्यत मनुष्योंकी यह प्रथमभूमि है—प्राप्य स्थान है ॥४०॥

१. इन्द्रवज्रावृत्तम् । २. द्रुतविलम्बितवृत्तम् । ३. मालिनीवृत्तम् । ४. स्त्रीणां नयनविलासैस्तिलकवृक्षो विकसतीति कविसमासः । ५. वंशस्थवृत्तम् ।

वनेऽत्र पाकोल्वणदाड़िमीफलप्रकाशमाकाशमर्णि नवोदितम् ।
जिघृक्षवोऽमी निपतन्ति वानरा अनूरुदण्डाग्रनिवारिता अपि ॥४१॥

कटके सरोजवनसंकटके हरिणानपास्य सविधे हरिणा ।
करटङ्ककैर्दलयता करटं करिणः क्षताः स्फुटमिहाकरिणः ॥४२॥

क्वेदं नभः क्व च दिशः क्व च पुष्पवन्तौ
क्वैताः प्रकामतरलद्युतयश्च ताराः ।
मन्येऽमुना नगनिशागतिना गिलित्वा
सर्वं स्वमेव विहितं ननु पीनपीनम् ॥४३॥

दूरेण दावानलशङ्कया मृगास्त्यजन्ति शोणोपलसंचयद्युतीः ।
इहोच्छलच्छोणितनिर्झराशया लिहन्ति च प्रीतिजुषः क्षणं शिवाः ॥४४॥

स्मरति स्म रतिप्रियाद्यतः क्षणमीक्षणमीलितं रतम् ।
परमाप रमात्र तत्तमस्तरसात्तरसा वियोगिनी ॥४५॥

वनेऽत्रेति—अत्र वने समासन्नतया उद्गच्छन्तं भास्वन्तं वर्तुलशोणदाडिमीफलं भ्रान्त्या सारथिदण्डभीषिता अपि ग्रहीतुमुन्मुखं धावन्ते कपिसंघाताः[1] ॥४१॥ कटक इति—इह कटके नितम्बे हरिणा सिंहेन आकरिणः[2] आकरयुक्ताः करिणः क्षताः किं कुर्वता । दलयता । किं तत् । करटम् । कैः । करटङ्ककैः करा एव टङ्ककास्तैः करटङ्ककैः । किं कृत्वा । अपास्य त्यक्त्वा । कान् । हरिणान् । क्व । सविधे समीपे । कटके कथंभूते । सरोजवनेन संकटं कं जलं यत्र तत्र तथाभूते[3] ॥४२॥ क्वेदमिति—कस्मिन् तत्प्रसिद्धं गगनं । क्वासते ताः प्रसरणशीला दिशः । क्व गतौ तौ चन्द्रादित्यौ । क्व च तानि विस्फुरन्ति नक्षत्राणि । किन्तु विन्ध्यराक्षसेन तेन सर्वं गिलित्वा आत्मसात्कृतम् । सर्वप्रकारेणाप्ययमेव दृश्यत इति भावः ॥४३॥ दूरेणेति—इह पद्मरागशिलाकिरणकलापा मृगैर्दावानलशङ्कया दूरेण त्यज्यन्ते प्रमोदिताः शृगाल्यश्च रुधिरनिर्झरणभ्रान्त्या आस्वादयन्ति[4] ॥४४॥ स्मरतीति—अत्र वियोगिनी रमा तत् ततः कारणात् परं तमोमूर्च्छालक्षणं तरसा प्राप । यतः कारणात् स्मरति स्म । किं तत् । रतम् । कथंभूतम् । ईक्षणमीलनं सुखविशेषात् । कस्माद् । रतिप्रियात् कामात् कमितुर्वा । कथम् । क्षणम् । एवंभूता वियोगिनी अस्तरसा अस्तदेहधातुः ॥४५॥ अत्रेति—

इधर इस वनमें ये वानर सूर्य-सारथिके दण्डाग्रसे रोके जानेपर भी नवीन उदित सूर्यको अत्यन्त पका अनारका फल समझ ग्रहण करनेकी इच्छासे झपट रहे हैं ॥४१॥ इधर पास ही कमलवनसे संकीर्ण पर्वतके मध्यभागमें हरिणोंको खदेड़कर हाथ रूपी टाँकीके द्वारा गण्डस्थल विदारण करनेवाले सिंहने मोतियोंकी खान स्वरूप हाथियोंको घायल किया है ॥४२॥ अरे ! इधर यह आकाश कहाँ ? दिशाएँ कहाँ ? सूर्य, चन्द्रमा कहाँ और ये अत्यन्त चंचल कान्तिको धारण करनेवाले तारा कहाँ ? मैं तो ऐसा समझता हूँ मानो इस पर्वत रूपी राक्षसने सबको निगलकर अपने-आपको खूब ही मोटा बना लिया है ॥४३॥ इधर ये हरिण लालमणि समूहकी कान्तिको दावानल समझ दूरसे ही छोड़ रहे हैं और इधर ये शृगालियाँ उसे छलछलाते खूनका झरना समझ बड़े प्रेमसे चाट रही हैं ॥४४॥ चूँकि यहाँ रसहीन—दुबली-पतली वियोगिनी स्त्री पति द्वारा पूर्वमें प्राप्त हुए सम्भोगका आँख बन्द कर स्मरण करने लगती है

१. भ्रान्तिमान् । २. आकरो मौक्तिकानां खनिरस्ति येषां ते तथाभूताः । ३. प्रमिताक्षरा 'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् । ४. इन्द्रवंशावंशस्थयोः समिश्रणादुपजातिवृत्तम् ।

अत्रोच्चरुक्मशिखरी[1] गिरिरत्र रौप्यः
साक्षादिह स्फटिकसार[2]शिलोच्चयोऽपि ।
अस्मिन्वनैर्हिममयोऽत्र च चित्रकूटो[3]
रत्नैरनेकगिरिभिर्घटितोऽयमेकः ॥४६॥
अनेन पूर्वापरदिग्विभागयोः प्रमाणदण्डायितमत्र भारते ।
अयं कुबेरान्तकगुप्तयोर्दिशोरलङ्घ्यसीमेव पृथुः स्थितोऽन्तरे ॥४७॥
ढक्का नदन्तीह भवत्यरीणां नवाशु भङ्गाय तिरोहितानाम् ।
यशस्तवोच्चैः शुचि किन्नरेन्द्रे न वा शुभं गायति रोहितानाम् ॥४८॥
प्रेङ्खन्मरुच्चलितचम्पकचारुपुष्पै-
रर्घं च निर्झरजलैश्च वितीर्य पाद्यम् ।
त्वय्यागते मणिशिलाकृतविष्टरार्थः
शैलः करोति सकलामयमातिथेयीम् ॥४९॥

अयं विन्ध्याद्रिरनेकपर्वतैर्निर्मित इव तथाहि—किंचित्सुवर्णमयं शिखरं दृश्यते किंचिच्च तारमयं किंचिच्च स्फटिकमयं किंचिच्च पञ्चवर्णरत्नैश्चित्रकूटं किंचिद्वनैर्जलैः शिशिरमयं पक्षे नानाप्रकारा एते पर्वताः ॥४६॥ अनेनेति—अनेन विन्ध्याद्रिणा पूर्वपश्चिमदिग्भागयोः प्रमाणदण्डेनेवाचरितम् दक्षिणोत्तरयोश्च सीमेव स्थितः । भारते भरतक्षेत्रे[4] ॥४७॥ ढक्केति—इह पर्वते नवाश्रुतपूर्वा नवढक्का नदन्ती तिरोहितानां प्रच्छन्नानामरीणामाशु शीघ्रं भङ्गाय भवति । क्व सति । किन्नरेन्द्रे सति । किं कुर्वति । गायति । किम् । तद् यशः । कस्य । तव । किंविशिष्टं यशः । शुभं शुभहेतुत्वात् । पुनः किंविशिष्टम् । शुचि निर्मलम् । कथम् । उच्चैरतिशयेन रोहितानां हरिणानां न वा[5] भङ्गाय । मृगा अधिकत्रासा अपि गीतासक्त्या अङ्गमीयुरित्यर्थः ॥४८॥ प्रेङ्खदिति—वातानीतैश्चम्पकपुष्पैरर्घनिर्झरणजलैश्च पाद्यं रत्नशिलाभिश्च विष्टरप्रतिपत्तिं संपादयन् विन्ध्यः

अतः क्षणभरमें मूर्च्छारूप भयंकर अन्धकारको प्राप्त हो जाती है ॥४५॥ इधर यह उच्चरुक्म शिखरी—सुवर्णके ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे युक्त है [पक्षमें उत्तुङ्ग सुवर्णगिरि—सुमेरु है] इधर रौप्य गिरि—चाँदीसे निर्मित है [पक्षमें विजयार्ध पर्वत है], इधर साक्षात् स्फटिक सार शिलोच्चय—स्फटिक की श्रेष्ठ शिलाओंके ढेरसे युक्त है [पक्षमें कैलास पर्वत है], इधर वन—जल अथवा वनोंसे हिममय बर्फसे तन्मयकी तरह ठण्डा है [पक्षमें हिमालय पर्वत है] और इधर रत्नोंके द्वारा चित्रकूट—नाना प्रकारके शिखरोंसे युक्त है [पक्षमें चित्रकूट नामका पर्वत है]....इस प्रकार यह नाना पर्वतोंसे युक्त होकर भी एक है ॥४६॥ यह पर्वत इस भारतवर्षमें पूर्व तथा पश्चिम दिशाका विभाग करनेके लिए प्रमाणदण्डका काम करता है और उत्तर तथा दक्षिण दिशाके बीच स्थूल एवं अलंघ्य सीमाकी भाँति स्थित है ॥४७॥ यह जो आपकी नयी-नयी भेरी बज रही है वह यहाँ छिपे हुए शत्रुओंका विनाश सूचित करती है और इधर जब किन्नरेन्द्र उच्च स्वरसे आपका निर्मल यश गाने लगता है तब हरिणों का कल्याण दूर हो जाता है—उनकी भलाई नहीं रहती ॥४८॥ यह पर्वत चंचल वायुके द्वारा कम्पित चम्पेके सुन्दर-सुन्दर फूलोंसे अर्घ और झरनोंके जलसे पादोदक देकर मणिमय शिलाओंका आसन बिछा रहा है—इस प्रकार यह आपके पधारने

१. उच्चानि रुक्मशिखराणि सन्ति यस्य स पक्षे उच्चश्चासौ रुक्मशिखरी च । २. स्फटिकसारशिलानामुच्चयः समूहो यत्र तथाभूतः पक्षे स्फटिकसारश्चासौ शिलोच्चयश्च । ३. चित्राणि कूटानि यस्य स पक्षे तन्नामपर्वतः । ४. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः । पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः । —कुमारसंभवे । ५. न वा शुभमिति संबन्धः किन्तु भङ्गाय नाशाय ।

उद्दामसामोद्भवचीत्कृतानां प्रत्यारवैर्भूरिदरीमुखोत्थैः ।
त्वत्सैन्यसंमर्दभवोरुदुःखान्मुहुर्मुहुः पूत्कुरुतेऽयमद्रिः ॥५०॥

कृतार्थीकृतार्थीहित त्वा हितत्वात्सदानं सदा नन्दिनं वादिनं वा ।
विभालम्बिभालं सुधर्मा सुधर्मापितख्यापितख्याति सा नौति सानौ ॥५१॥

प्राभाकरीरिति गिरो विनिशम्य सम्यग्-
देवेऽपि तां परिषदं प्रति दत्तनेत्रे ।
एकोऽवतीर्य शिखरादथ किंनराणा-
मिन्द्रः प्रणम्य विनयाज्जिनमित्यवादीत् ॥५२॥

दिक्सैव पुण्यजननी विषयः स धन्यः
सेव्यानि तानि नगपत्तनकाननानि ।
यान्यर्हता भगवता भवता कथंचि-
दध्यासितान्यपरमस्ति किमत्र तीर्थम् ॥५३॥

भव्यस्तवस्याद्यमलंकृतीनामनर्घरत्नत्रयमाश्रितोऽपि ।
भव्यस्तवस्याद्यमलंकृतीनां प्राप्यांह्रिपङ्केरुहयोः क्षणेन ॥५४॥

सकलमातिथ्यं करोति युष्मत्पादानाम् ॥४९॥ उद्दामेति—मत्तगजानां वृंहितगर्जितैर्गुहामुखप्रतिशब्दपूरीभूतैर्युष्मत्सेनासंमर्ददुःखादिव पूत्कुरुते ॥५०॥ कृतार्थीति—सा प्रसिद्धा सुधर्मा देवसभा सानौ पर्वतैकदेशे त्वां कर्मतापन्नं नौति स्तौति । कथं यथा भवति सुधर्मापितख्यापितख्याति शोभनधर्मेण आपिता प्रापिता सती ख्यापिता प्रकटिता ख्यातिः कीर्तिर्यत्र स्तवने तथाभूतं क्रियाविशेषणम् । कृतार्थीकृतमर्थिनामीहितमभिलषितं येन स तथाभूतस्तस्य संबोधनं हे कृतार्थी कृतार्थीहित । त्वां कथंभूतम् । सदानं तथा सदानन्दिनं साधुप्रमोदकारिणम् । कुतः । हितत्वात् । पुनः कथंभूतम् । वादिनं वा विद्वांसं च । पुनरपि किंविशिष्टम् । विभालम्बिभालम् विभालम्बी सप्रभो भालो यस्य तं तथाभूतम् । महायमकम्[2] ॥५१॥ प्राभाकरीरिति—इति तस्य प्रभाकरस्य वचनं श्रुत्वा किंनरसभायां दत्तनेत्रे देवे किन्नरेन्द्र एकशिखरादवतीर्य एवं व्यजिज्ञपत् ॥५२॥ दिगिति—सैव दिक् पुण्यवतो त एव देशा धन्यास्तान्येव स्थानानि सेव्यानि यानि भगवच्चरणारविन्दैरलंकृतानि

पर मानो समस्त अतिथि सत्कार ही कर रहा है ॥४९॥ बड़े-बड़े हाथियोंकी चिग्घाड़ोंकी जो प्रतिध्वनि गुफाओंके मुखसे निकल रही है उससे ऐसा जान पड़ता है मानो यह पर्वत आपके सैनिकोंके सम्मर्दसे समुत्पन्न दुःखके कारण बार-बार रो ही रहा हो ॥५०॥ हे याचकोंका मनोरथ पूर्ण करनेवाले, आप हितकारी होनेसे सदा दान देते हैं, सदा समृद्धि सम्पन्न हैं, सदा प्रशस्त वचन बोलते हैं और सदा देदीप्यमान ललाटके धारक हैं । इधर देखिए, इस शिखरपर यह देवोंकी सभा समीचीन धर्मके द्वारा प्रसिद्ध कीर्तिको प्राप्त कराती हुई आपको नमस्कार कर रही है ॥५१॥ इस प्रकार प्रभाकरके वचन सुन धर्मनाथ भी उस सभाकी ओर देखने लगे । उसी समय एक किन्नरेन्द्रने शिखरसे उतर विनयपूर्वक जिनेन्द्रदेवको प्रणाम किया और फिर निम्न प्रकार निवेदन किया ॥५२॥ भगवन् ! वही दिशा पुण्यकी जननी है, वही देश धन्य है, वही पर्वत, नगर और वन सेवनीय है जो कि आप अरहन्तदेवके द्वारा किसी भी तरह अधिष्ठित होता है । उसके सिवाय इस संसारमें अन्य तीर्थ है ही क्या ॥५३॥ हे स्वामिन् ! अमूल्य रत्नत्रय भव्य समूहके अलंकारोंमें सर्वश्रेष्ठ अलंकार है जो भव्य पुरुष उसे प्राप्त कर चुकता है वह भी क्षणभरके लिए आपके चरण कमलोंके युगलका आश्रय पाकर

१. प्राप्याङ्घ्रि घ० म० । २. भुजङ्गप्रयातं वृत्तम् ।

अत्र प्रचारो न विपल्लवानां[1] विपल्लवानां[2] यदि वा तरूणाम् ।
आवासमस्मद्गृहसंनिधाने हसन्निधानेशपुरीं ददातु ॥५५॥

कुशोपरुद्धां द्रुतमालपल्लवां वराप्सरोभिर्महितामकल्मषाम् ।
नृपेषु रामस्त्वमिहोररीकुरु प्रसीद सीतामिव काननस्थलीम् ॥५६॥

इत्याकर्ण्य स तस्य किंनरपतेर्भक्तिप्रगल्भां गिरं
श्रान्तं सैन्यमवेत्य वीक्ष्य करिणां संभोगयोग्यां भुवम् ।

॥५३॥ भव्येति—भव्यो ना भव्यपुरुषः कृती कृतकृत्यः क्षणं न स्यात् । किं कृत्वा प्राप्य, किं तत् । यमलं युगं कयोः । अंह्रिपङ्केरुहयोः कस्य तव । किंभूतस्य । शुभहेतुस्तवो यस्य । किंविशिष्टो ना । आश्रितोऽपि किं तत् । अनर्घरत्नत्रयम् । कथंभूतम् । आद्यम् । कासाम् । अलंकृतीनाम् । इदानीं भवदंह्रिप्रापणान्ममापि कृतार्थता संजातेत्यर्थः ॥५४॥ अत्रेति—अत्रास्मद्गृहसंनिधाने आवासं देवो ददातु । किं कुर्वन् । हसन् । काम् । विधावेशपुरीम् । अलकाम् । यस्मात्कारणात् अत्र प्रचारो न विपल्लवानां विपदां लवा विपल्लवास्तेषाम् । यदि वा तरूणां प्रचारः । कथंभूतानां विपल्लवानां विगतप्रवालानाम् ॥५५॥ कुशेति—त्वं नृपेषु रामो मनोज्ञः अन्यत्र तु राघवः ततस्त्वं प्रसीद इहोररीकुरु काननस्थलीम् । कामिव । सीतामिव । कथंभूतां सीतां काननस्थलीं च । कुशोपरुद्धाम्—कुशेन पुत्रेणोपरुद्धाम् अन्यत्र कुशैर्दर्भैरुपरुद्धाम् । द्रुतमालपल्लवां द्रुतं शीघ्रमालपन् लवो यस्यास्तां तथाभूताम् । तथा वराप्सरोभिर्महितां सतीत्वात् अन्यत्र तु वरपानीयसरोभिर्महिताम् । तथाकल्मषाम् । ईदृशी काननस्थली सीता च स्वीकारयोग्या भवति[3] ॥५६॥ इतीति—इति तस्य किन्नरेन्द्रस्य भक्तिवचनं

ही कृतकृत्य होता है ॥५४॥ चूँकि यहाँपर विपल्लवोंका—विपदाओंके अंशोंका प्रचार नहीं है, हाँ, यदि विपल्लवों—पत्र रहितोंका प्रचार है तो वृक्षोंका ही है अतः आप हमारे घरके समीप ही अलकापुरीकी हँसी करते हुए निवास प्रदान करें—डेरा डालें ॥५५॥ हे भगवन् ! यह वनस्थली ठीक सीताके समान है क्योंकि जिस प्रकार सीता कुशोपरुद्धा—कुश नामक पुत्रसे उपरुद्ध थी उसी प्रकार यह वनस्थली भी कुशोपरुद्धा—डाभोंसे भरी है, जिस प्रकार सीता द्रुतमालपल्लवा—जल्दी-जल्दी बोलते हुए लव नामक पुत्रसे सहित थी उसी प्रकार यह वनस्थली भी द्रुतमालपल्लवा—तमाल वृक्षके पत्तोंसे व्याप्त है, जिस प्रकार सीता वराप्सरोभिर्महिता—उत्तमोत्तम अप्सराओंसे पूजित थी उसी प्रकार वह वनस्थली भी उत्तमोत्तम जलके सरोवरोंसे सुशोभित है और जिस प्रकार सीता स्वयं अकल्मषा—निर्दोष थी उसी प्रकार वह वनस्थली भी पंक आदि दोषोंसे रहित है । चूँकि आप राजाओंमें रामचन्द्र हैं [पक्षमें रमणीय हैं] अतः सीताको समानता रखनेवाली इस वनस्थलीको स्वीकृत कीजिए प्रसन्न होइए ॥५६॥ इस प्रकार भगवान् धर्मनाथ, उस किन्नरेन्द्रके भक्तिपूर्ण वचन सुन सेनाको थका जान और हाथियोंके विहारयोग्य भूमिको देखकर ज्योंही वहाँ ठहरनेका

१. विपदंशानाम् । २. विगताः पल्लवा येषां तेषां विगतकिसलयानाम् । ३. अत्रेदं सुगमं व्याख्यानम्—नृपेषु राजसु रामो रमणीयः पक्षे राघवस्त्वम् प्रसीद प्रसन्नो भव सीतामिव जनकतनयामिव काननस्थलीं वनभूमिम् उररीकुरु स्वीकुरु । अथोभयोः सादृश्यमाह—कुशैर्दर्भैरुपरुद्धा ताम् काननस्थलीं पक्षे कुशेन तन्नामतनयेनोपरुद्धा तां सीताम् । द्रवश्च ते तमालाश्च इति द्रुतमाला वृक्षतापिच्छास्तेषां पल्लवाः किसलया यस्यां तथाभूतां पक्षे द्रुतं शीघ्रं यथा स्यात्तथा आलपन् लवस्तन्नामपुत्रो यस्यास्तां सीताम्, वरोप्सरोभिर्निर्मलजलकासारैर्महितां शोभितां काननस्थलीं पक्षे उत्कृष्टदेवीभिः महितां पूजितां सतीत्वादिति यावत् । अकल्मषां पङ्करहितां काननस्थलीं पक्षे पापरहिताम् । श्लिष्टोपमालंकारः ॥५६॥

देवो यावदचिन्तयन्निधिभृता तावत्क्षणान्निर्मितं
शालामन्दिरमन्दुराट्टवलभीप्राकारसारं पुरम् ॥५७॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
गिरिवर्णनो नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

श्रुत्वा खिन्नां निजसेनां च ज्ञात्वा गजानां च विश्रामसंभोगयोग्यां पृथ्वीं च वीक्ष्य यावदेव आवासस्थितिं चिन्तयांचकार तावद्धनदकृतं गजाश्वशालाक्रीडागिरिवेदिकादिमनोहरं नगरमीक्षांचक्रे ॥५७॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां
धर्मशर्माभ्युदयटीकायां दशमः सर्गः समर्थितः ॥१०॥

विचार करते हैं त्योंही कुबेरने तत्काल शाला, मन्दिर, घुड़साल, अट्टालिका, छपरी और कोट से सुन्दर नगर बना दिया ॥५७॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्रद्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें
विन्ध्यगिरिका वर्णन करने वाला दशम सर्ग समाप्त हुआ ॥१०॥

एकादशः सर्गः[१]

अथ स तत्र निधीश्वरनिर्मिते प्रविशति स्म पुरे परमेश्वरः ।
समुदितोऽपि चतुर्विधसेनया विहितमोहतमोहतिरद्भुतम् ॥१॥
सुहृदमात्यगणाननुजीविनो नयनिधिर्विनिवेश्य यथायथम् ।
स्वयमिहोज्ज्वलरत्ननिकेतने स पदमाप दमान्वितमानसः ॥२॥
बलभरोच्छलितैः पिहितप्रभोऽभजत मृण्मयतामिव यैर्जनः ।
मुकुरवत्स तु तैरपि पांसुभिर्नरमणी रमणीयतरोऽभवत् ॥३॥
न घनघर्मपयःपृषतोदयो न च तनुत्वमजायत यत्प्रभोः ।
तदभिनत्पटुतां न जगज्जनोत्सवपुषो वपुषोऽध्वपरिश्रमः ॥४॥
तदपि रूढिवशात्कृतमज्जनो विहितयात्रिकवेषविपर्ययः ।
अयमुवाह रुचिं नयनप्रियां न च न कांचन काञ्चनदीधितिः ॥५॥
नभसि दिक्षु वनेषु च संचरन्नृतुगणोऽथ गुणाढ्यमियाय तम् ।
समुपभोक्तुमिवैतदुपासनारसमयं समयं स्वमवन्निव ॥६॥

अथेति—अथानन्तरं स परमेश्वरो धनदयक्षनिर्मापिते नगरे प्रविवेश । किंविशिष्टः सन् । कृतमोहध्वान्तहननः गजरथाश्वपदातिलक्षणया चतुःप्रकारसेनया उपचितोऽपि । यः किल ससेनः स्यात्स निर्मोहः कथं स्यादित्याह ॥१॥ सुहृदिति—स मित्रमन्त्रिप्रमुखान् सेवकानुचितोचितस्थानेषु विनिवेश्य स्वयं रत्नमयगृहे पदं स्थानं प्राप । दमान्वितमानसो निर्विषयचेताः ॥२॥ बलेति—यैः सेनारेणुभिः प्रच्छादितकान्तिको लोको मृत्तिकानिर्मित इव बभूव पुनस्तैरेव नरमणिः पुरुषरत्नं दर्पण इव रम्यतरो बभूव ॥३॥ न घनेति—अस्य प्रभोर्यत्प्रचुरप्रस्वेदवारिबिन्दूद्गमो नाभूत् यच्च तनुत्वं कृशत्वं नाविर्भूतं तदहं मन्ये वपुषः शरीरस्य मार्गपरिश्रमः पटुतां नाभिनत् तद्दृढतां न निराचकार । किंविशिष्टस्य प्रभोरित्याह—जगज्जनानामुत्सवं मङ्गलं पुष्णातीति तस्य । यो जगतः परिश्रमं नाशयति तस्य कुतः परिश्रमः स्यादिति भावः ॥४॥ तदपीति—तदपि अपरिश्रान्तोऽपि मुक्तियात्रोचितवेषः कृतस्नानो न न सुवर्णवर्णवर्णः सन् नयनवल्लभप्रभां बभार अपितु बभारैव काञ्चनानिर्वाच्याम् ॥५॥ नभसीति—वसन्तप्रभृतिकमृतुचक्रं प्रभुं निषेवितुं समाजगाम । किं कुर्वन्नित्याह—

अथानन्तर चार प्रकारकी सेनासे युक्त होनेपर भी जिन्होंने मोह रूपी अन्धकारको नष्ट कर दिया है ऐसे श्री धर्मनाथ स्वामीने कुबेरके द्वारा निर्मित नगरमें प्रवेश किया ॥१॥ वह नीतिके भण्डार जितेन्द्रिय जिनेन्द्र स्वयं मित्रों, मन्त्रियों और सेवकोंको यथायोग्य स्थान पर ठहराकर देदीप्यमान रत्नोंके भवनमें अपने स्थानपर जा पहुँचे ॥२॥ सेनाके भारसे उड़ी हुई जिस धूलिसे आच्छादित हो कर लोग ऐसे लग रहे थे मानो मिट्टीके ही बने हों, उसी धूलिसे नरोत्तम धर्मनाथ दर्पणकी तरह अत्यन्त सुन्दर लगने लगे थे ॥३॥ न तो भगवान्के शरीरमें पसीनाकी बूँद ही उठी थी और न कृशता ही उत्पन्न हुई थी अतः मार्गका परिश्रम जगज्जीवोंके उत्सवको पुष्ट करनेवाले उनके शरीरकी सामर्थ्यको नष्ट नहीं कर सका था ॥४॥ फिर भी रूढि वश उन्होंने स्नान किया और मार्गका वेष बदला । उस समय सुवर्णके समान चमचमाती कान्तिको धारण करनेवाले भगवान् किस नयनहारी शोभाको धारण नहीं कर रहे थे ? ॥५॥ तदनन्तर आकाश दिशाओं और वनमें—सर्वत्र संचार करता हुआ ऋतुओंका

१. अत्र सर्गे चतुर्थपादयमकालंकारः । उपान्त्यं यावद् द्रुतविलम्बितवृत्तम् ।

हिममहामहिमानमपोहितुं सरसतामनुशासितुमङ्गिनाम् ।
दधदनिन्द्यगुणोपनतामृतुक्रमधुरं मधुरञ्चति काननम् ॥७॥

कतिपयैर्दशनैरिव कोरकैः कुरवकप्रभवैर्विहसन्मुखः ।
शिशुरिव स्खलितस्खलितं मधु पदमदादमदालिनि कानने ॥८॥

मलयशैलतटीमटतो रवेर्ध्रुवमभूत्प्रणयी मलयानिलः ।
पुनरमुष्य यतो दिशमुत्तरामपरथाप रथाग्रवरः कथम् ॥९॥

कलविराजिविराजितकानने नवरसालरसालसषट्पदः ।
सुरभिकेसरकेसरशोभितः प्रविससार स सारबलो मधुः ॥१०॥

अहह निर्दहति स्म वियोगितां सुभगमङ्गमनङ्गहुताशनः ।
मुहुरुदीरितरोचिरयं चलत्कमलया मलयानिललीलया ॥११॥

गगने दिक्चक्रे वनेषु च चङ्क्रम्यमाणो, गगनं दिङ्मण्डलं व्याप्य युगपदृतुभिः समुज्जृम्भितमित्यर्थः । निजं समयं जानन्निव तस्य जिनस्योपासनारसमयं सेवाभावयुक्तं मम सेवाया अयमेव समयः पश्चात्प्रव्रजितो वीतरागो भविष्यतीत्यर्थः ॥६॥ हिमेति—मधुर्वसन्तो वनमञ्चति काननराजीमवगाहते । ऋतुचक्रप्रथममधुरां दधानः । अनिन्द्या अन्येषामृतूनामदृष्टा ये गुणास्तैरुपनतां शीतप्रभावमन्तरयितुम् अपरं च सर्वेषां प्राणिनां च सरसतां कामतां शिक्षयितुम् ॥७॥ कतिपयैरिति—मधुर्वसन्तः पदं स्थानं वने ददौ अमदभ्रमरे । कथम् । मन्दं मन्दं बालक इव कैश्चिद्दन्तैरिव कुरवककलिकोद्गमैः संहासमुखः ॥८॥ मलयेति—दक्षिणायने मलयपर्वतसमीपं गच्छत[1] आदित्यस्य तत्र वासी मलयानिलो मित्रं बभूव । वितथमिति चेत् । अपरथा रथाग्रचरः[2] सन् कथमुत्तरां दिशं प्राप । अथ चोत्तरायणे वायुर्मलयाचलादुत्तरां दिशं गच्छति दक्षिणानिलो वातीत्यर्थः ॥९॥ कलेति—स जगन्मनोलुण्टाकः सारशक्तिको मधुः समुज्जजृम्भे । किंविशिष्ट इत्याह—कलविराजयः कोकिलापङ्क्तयस्ताभिर्विराजितानि काननानि यत्र नवरसालानां मञ्जरी जालजटिलचूतानां रसेन अलसा मत्ताः षट्पदा यत्र । सुरभिकेसरैः सरसकिञ्जल्कैरुपलक्षिताः केसरा वकुलास्तैः शोभितः ॥१०॥ अहहेति—अयं मदनानलो विरहिकोमलशरीरमधाक्षीत् । किंविशिष्टः, प्रकटीकृतज्वालाकलापः । कया । आन्दोलितकमल-

समूह उन गुणवान् जिनेन्द्रकी सेवा करनेके लिए वहाँ ऐसा आ पहुँचा मानो सेवा रससे उपस्थित अपने समयकार्यकी रक्षा ही कर रहा हो ॥६॥ सर्व प्रथम हिमकी महामहिमाको नष्ट करने और प्राणियोंमें सरसताका उपदेश देनेके लिए प्रशंसनीय गुणोंसे प्राप्त ऋतुओंकी प्रधानताको धारण करनेवाला वसन्त वनको अलंकृत करने लगा ॥७॥ दाँतोंकी तरह कहीं-कहीं प्रकट हुई कुरवककी बोंडियोंसे जिसका मुख हँस रहा है ऐसे वसन्तने बालककी तरह मदहीन भ्रमरोंसे युक्त वनमें अपना लड़खड़ाता पैर रखा—स्थान जमाया ॥८॥ जब सूर्य दक्षिणायनके समय मलयाचलके निकट घूम रहा था तब निश्चित ही मलय समीर उसका मित्र बन गया था । यदि ऐसा न होता तो सूर्यके उत्तर दिशाकी ओर जानेपर वह भी उसके रथके आगे चल उत्तर दिशाको क्यों प्राप्त होता ? ॥९॥ उस समय भ्रमर आम्रमंजरियोंका नवीन रस पानकर अलस हो रहे थे और मनोहर नकुल वृक्षकी केसर जहाँ-तहाँ उड़ रही थी इससे ऐसा जान पड़ता था मानो कोकिलाओंकी पंक्तिसे सुशोभित वनमें वसन्त अपनी श्रेष्ठ सेनासे युक्त हो घूम रहा हो ॥१०॥ बड़े खेदकी बात है कि कमलोंको कम्पित करनेवाले मलय समीरके झोंकोंसे बार-बार प्रज्वलित हुई कामाग्नि वियोगी मनुष्योंके सुन्दर शरीरको

१. गच्छतः । २. रथाग्रवर घ० म० ।

तदभिधानपदैरिव षट्पदैः शबलिताम्रतरोरिह मञ्जरी ।
कनकभल्लिरिव स्मरधन्विनो जनमदारमदारयदञ्जसा ॥१२॥
समधिरुह्य शिरः कुसुमच्छलादयमशोकतरोर्मदनानलः ।
पथि दिधक्षुरिवैक्षत सर्वतः समवधूतवधूरसोऽध्वगान् ॥१३॥
युवतिदीर्घकटाक्षनिरीक्षितः पुलकितस्तिलकः कुसुमच्छलात् ।
अकृत लास्यमिवास्य जगत्पतेरुपवने पवनेरितपल्लवः ॥१४॥
शशिमुखीवदनासवलालसे बकुलभूरुहि पुष्पसमाकुले ।
धृतिमधत्त परां मधुपावलिः किमसमा न समानगुणे रतिः ॥१५॥
उचितमाप पलाश इति ध्वनिं द्रुमपिशाचपतिः कथमन्यथा ।
अजनि पुष्पपदाद्दलिताध्वगो नृगलजाङ्गलजम्भरसोत्मुखः ॥१६॥
गहनकुञ्जलतान्तरितक्रमां सहचरीं निभृतः प्रतिपालयन् ।
विधुरितोऽपि पपौ स पिपासया कुसुमलीनमली न मधु क्षणम् ॥१७॥

षण्डया दक्षिणानिलप्रसृमरलीलया । वातेन हि ज्वलनो ज्वल्यते ॥११॥ तदिति—आम्रवृक्षमञ्जरी कामभल्लिरिवादारमकलत्रं जनं परमार्थेन बिभेद । षट्पदैश्चित्रिता कामस्य मषीनामाक्षरैरिव । कामनामाङ्किता स्वर्णभल्लीव मञ्जरीति तात्पर्यम् ॥१२॥ समधिरुह्येति—असौ मदनदावानलोऽशोकवृक्षस्योपरितनशिखरकुसुमव्याजात् उच्चैः शिरस्थानं चटित्वा सर्वदिग्भागतः पथिकानीक्षांचक्रे । किं कर्तुमिच्छुरिव दग्धुमिच्छुरिव । किंविशिष्टानित्याह—समवधूतान्यवगणितानि वधूनां रसांसि कोपा यैस्तान् ॥१३॥ युवतीति—अस्य त्रिभुवननाथस्य क्रीडोपवने तिलकवृक्षो नृत्यमिव चक्रे । किंविशिष्टः । दक्षिणानिलकम्पितपल्लवः । मृगाक्षीतीक्ष्णकटाक्षनिरीक्षणात्संजातपुलक इव ॥१४॥ शशीति—चन्द्रमुखीवदनमदिरापानलम्भितदोहदे पुष्पितबकुले मधुपश्रेणी परां तृप्तिमधारयत् । युक्तमेतत्—किं सदृशगुणे असमा निरुपमाना रतिर्न स्यात् । अपि तु स्यादेव । बकुलो मदिरादोहदी तेऽपि मधुपा इति सादृश्यम् ॥१५॥ उचितमिति—द्रुमच्छद्मना पिशाचपतिः स पलं मांसमश्नातीति पलाश इत्याख्यामुचितामाप युक्तं लेभे । अन्यथा कथमसौ समजनि । किंविशिष्टः समजनीत्याह—भक्षितपान्थमनुष्यकण्ठमांसतृप्तिव्यादायिकाभावप्रसारितमुखः । कुसुमव्याजात् मनुष्यगलकमांसं भक्षयित्वा आकण्ठोष्ठं तृप्तः सन् मुखं व्याददातीति भावः ॥१६॥ गहनेति—वनकुञ्जलतान्तरितां भ्रमरीं प्रतीक्षमाणो भ्रमरो मकरन्दं न पपौ कुसुमलीनं तृषाविधुरोऽपि । अथ च विलासिनां प्रियां

जला रही थी ॥११॥ नामाक्षरोंकी तरह दिखनेवाले भौरोंसे चित्रित आम्रवृक्षकी मंजरी कामदेव रूप धानुष्कके सुवर्णमय भालेकी तरह स्त्री रहित मनुष्यको निश्चय ही विदीर्ण कर रही थी ॥१२॥ ऐसा जान पड़ता है कि लाल-लाल फूलोंके बहाने कामाग्नि अशोकवृक्षके ऊपर चढ़कर स्त्रियोंके कोपका अनादर करनेवाले पथिकोंको मार्गमें ही जला देनेकी इच्छासे मानो सब ओर देख रही थी ॥१३॥ युवतियोंके बड़े-बड़े कटाक्षोंसे अवलोकित तिलक वृक्ष फूलोंके छलसे पुलकित हो ऐसा जान पड़ता था मानो वायुके आघातसे पत्तोंको कँपाता हुआ भगवान्के उपवनमें थिरक-थिरक कर नृत्य ही कर रहा हो ॥१४॥ मधुपों—भ्रमरों [पक्षमें मद्यपायियोंकी पंक्ति चन्द्रमुखी स्त्रीके मुख की मदिरामें लालसा रखनेवाले बकुल वृक्षपर बहुत ही आनन्द पाती थी सो ठीक ही है क्योंकि समान गुणवालेमें क्या अनुपम प्रेम नहीं होता ? ॥१५॥ टेसूके वृक्षने 'पलाश' [पक्षमें मांस खानेवाला] यह उचित ही नाम प्राप्त किया है । यदि ऐसा न होता तो वह फूलोंके बहाने पथिकोंको नष्ट कर मनुष्योंके गलेका मांस खानेमें क्यों उत्सुकतासे तत्पर होता ॥१६॥ भ्रमर यद्यपि प्याससे पीड़ित हो रहा था फिर भी सघन लतागृहोंकी लताओंसे अन्तरित भ्रमरीकी चुपचाप प्रतीक्षा करता हुआ पुष्पस्थ मधुका पान

रसविलासविशेषविदो नराः कथममी विलयं न ययुः क्षणात् ।
विकसितास्तरवोऽपि विचेतना मृगदृशोऽङ्ग दृशोर्व्यतिषङ्गतः ॥१८॥
मलयमारुतचूतपिकध्वनिप्रभृतिसायकसंचयमर्पयन् ।
मधुरसौ विदधे स्मरधन्विनं कमपि नाकिपिनाकिजयोर्जितम् ॥१९॥
श्वसिति मुह्यति रोदिति कम्पते स्खलति ताम्यति यत्सहसाध्वगः ।
तदयमक्षतपक्षशिलीमुखैः किमधुना मधुना हृदि नाहतः ॥२०॥
विनिहतोऽयमनाथवधूजनो विधुरिता धुरि ता मुनिपङ्क्तयः ।
सुरभिणा समभेदि नतभ्रुवामिह स मानसमानमतङ्गजः ॥२१॥
इति विशङ्क्य मधोर्वनवासिनः प्रहरतः परितोऽपि पराभवम् ।
प्रणयिनीकुचकञ्चुकमुच्चकैरुरसि को रसिको न दधे जनः ॥२२॥ कुलकम् ।
प्रचलवेणिलताञ्चलताडितोन्नतनितम्बतटस्तरुणीजनः ।
स्मर निषाद कशाभिरिवाहतश्चिरमतोऽरमतोद्धुरदोलया ॥२३॥

विना मधुपानं न रोचते ॥१७॥ रसेति—अमी रसविशेषवेदिनो विलासिनः कथं नाम न विलयं प्राप्ता यतो मृगाक्ष्या अङ्गसङ्गाद्दृशोर्निरीक्षणाद्वा अशोकतिलकादयोऽचेतना अपि विचकसुः। कामिन्या कटाक्षित आलिङ्गितो वृक्षोऽपि सहर्षः स्यात् । कामी च न विलीयत इति महच्चित्रम् ॥१८॥ मलयेति—असौ वसन्तो मदनयोधं नाकिनो देवाः पिनाकी त्रिनयनस्तेषां जयो निर्दलनं तत्रोर्जितं समर्थं करोति । किं कुर्वन्नित्याह—दक्षिणानल-सहकारमञ्जरी-कोकिलकूजितप्रभृतिकममोघबाणसंचयं समर्पयन् ॥१९॥ श्वसितीति—असौ पान्थो मदन-विह्वलो यदेवं चेष्टते तत्किमिदानीं वसन्ते मानसे न हतोऽपि तु व्याहत एव । कैः । सपुङ्खबाणैः, पक्षे प्रसृत-पक्षैर्भ्रमरैः ॥२०॥ विनिहत इति—अमुना वसन्तेन असौ विरहिणीजनो निर्जीवीकृतः ताः प्रसिद्धा मुनिसभा धुरि प्रथमं विधुरिता व्याकुलिताः । न केवलं पूर्वोक्तं मनस्विनीनां च मान एव मतङ्गजो हस्ती सोऽपि व्यापादितः ॥२१॥ इतीति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण निर्दयं निघ्नतो वसन्तात्पराभवं वितर्कयन् कः कालोचितवेदी कामिनीस्तनसन्नाहं निजहृदये न संनिदधे अपि तु संनिदध एव । यदि वा षष्ठीप्रयोगात् मधोर्वसन्तस्य प्रहरात् यामात् पराभवं शङ्कमानः । वसन्तस्य कामिनां कामिनोव्यतिरेकेण प्रहरोऽपि वर्षशतायत इति भावः ॥२२॥ प्रचलेति—असौ तरुणीजनोऽतः कारणात् चिरमरमत दोलया दोलयाञ्चक्रे । किंविशिष्टः

नहीं करता था ॥१७॥ जब कि मृगनयनीके शरीर और नेत्रोंके सम्बन्धसे अचेतन वृक्ष भी खिल उठते हैं तब रस विलासकी विशेषताको जाननेवाले ये मनुष्य क्यों न क्षणभरमें विलीनताको प्राप्त हो जावें ॥१८॥ मलय समीर, आम्रमंजरी तथा कोयलकी कूक आदि बाणोंका समूह समर्पित करता हुआ वसन्त कामदेव रूपी धानुष्कको मनुष्योंकी क्या बात, देव—महादेवको भी जीतनेमें बलाढ्य बना रहा था ॥१९॥ इस समय जो यह पथिक सहसा श्वास भर रहा है, मूर्च्छित हो रहा है, रो रहा है, काँप रहा है, लड़खड़ा रहा है और बेचैन हो रहा है सो क्या वसन्तके द्वारा अपने अखण्ड पक्षवाले बाणोंके द्वारा हृदयमें घायल नहीं किया गया है ? ॥२०॥ वसन्तने क्या नहीं किया ? यह अनाथ स्त्रियोंका समूह नष्ट कर दिया, उन उत्तमोत्तम मुनियोंके समूहको विधुर—दुःखी बना दिया और इधर स्त्रियोंका मान तुल्य मदोन्मत्त हाथी नष्ट कर दिया ॥२१॥ इस प्रकार चारों ओर प्रहार करनेवाले वसन्त रूपी वनचरसे पराभवकी आशंका कर ऐसा कौन-सा रसिक जन था जिसने अपने वक्षःस्थलपर स्त्रियोंका उन्नत स्तनरूपी कवच धारण नहीं किया था ॥२२॥ जिनके उन्नत नितम्बोंके तट चञ्चल वेणीरूपी लताओंके अन्तभागसे ताडित हो रहे हैं ऐसी तरुण स्त्रियाँ मानो कामरूप

१. रोदिति मुह्यति म० घ० ।

स्मरवशीकरणौषधचूर्णवन्निदधतोपरि सौमनसं रजः ।
किमपरं मधुना वशिनेऽपि ते मुनिजना निजनामवशीकृताः ॥२४॥

स्वयमगाद्वसतिं कलिमत्यजद् दृशमदत्त मुखे प्रियकामिनाम् ।
इति बहूनि चकार वधूजनः स किल कोकिलकोविदशिक्षया ॥२५॥

मधुनिवृत्तिजुषां शुचिसंगमाद्धृतमुदामिव काननसंपदाम् ।
विचकिलप्रसवावलिरन्वगादिह सिता हसितानुकृतिं मुखे ॥२६॥

सकलदिग्विजये वरमल्लिकाकुसुमसंगतभृङ्गरवच्छलात् ।
इह निनाय जनं स्मरभूपतेर्न न वशं नवशङ्खभवो ध्वनिः ॥२७॥

युवतिदृष्टिरिवासवपाटला स्मरनृपस्य बभौ नवपाटला ।
प्रणदिता मधुपैरिव काहला प्रियतमायतमानपराजये ॥२८॥

सन्नित्याह—कामाश्वचारेण पश्चाद्भागे चर्मयष्टिभिराहत इव । दोलावेगवशात् प्रचलितेन वेणीलतान्तेन यत्ताडनं तेन विशेषोन्नतो नितम्बतटो यस्य स तद्विधः । कशावेण्योरुपमानोपमेयभावः ॥२३॥ स्मरेति—किमपरं किमन्यजनस्य कथ्यते । वसन्तेन ते विल्वपत्रभोजिनो यतिजना अपि निजनाम्ना वशीकृताः कामवार्तयापि चलितचारित्रा इत्यर्थः । किं कुर्वन्नित्याह—पौष्पपरागमुपरि निक्षिपता कामकर्मणा भेषजचूर्णमिव ॥२४॥ स्वयमिति—स कष्टानुष्ठानो यो मनस्विनीजनः कोकिलपण्डितोपदेशात इति बहूनि चाटूनि चकार । किं किं चकारेत्याह—अनाकारितोऽपि शयनीयं जगाम, चिरसंचितमानमुज्झांचकार, स्वयमेवाभीष्टतमानां मुखमीक्षामास इति ॥२५॥ मध्वति—इह सिता शुभ्रा मल्लिकापुष्पमाला हसितानुरागं चकार । वनलक्ष्मीणां मुखे मधुनिवृत्तिजुषां वसन्तापसरणश्रितानाम् । शुचिसंगमादाषाढभराद् । यथापूर्वं मद्यपानं पश्चाच्छुचिपुरुषसंगमात् मदिरानिवृत्तियुक्तानां सहर्षाणां सप्रसरो हासः स्यात् ॥२६॥ सकलेति—इह ग्रीष्मे सकलदिग्विजयार्थमभिषिषेणयिषोः कामभूपस्य शङ्खध्वनिर्जनं वशं नयति स्म । अर्द्धविकसितविचकिलपुष्पनिलीनभ्रमरव्याजात् । अत्र पुष्पशङ्खयोः भृङ्ग भृङ्गवादकयोः भृङ्गध्वनिशङ्खध्वन्योश्चोपमानोपमेयभावः ॥२७॥ युवतीति—मदिरामत्तकामिनीशोणदृष्टिसदृशी पाटला शुशुभे मधुपैरन्त्यजैरिव काहला प्रदत्ता प्रियतमानामायतो दीर्घो मानस्तस्य पराजये निर्णाशने । अत्र च पाटलापुष्पं काहलासदृशं भवति भ्रमराश्च कृष्णत्वात् काहलिका इव ॥२८॥

भीलके कोड़ोंसे आहत होकर ही उत्तम झूला द्वारा चिरकाल तक क्रीड़ा कर रही थीं ॥२३॥ कामदेवके वशीकरण औषधके चूर्णकी तरह फूलोंका पराग ऊपर डालते हुए वसन्तने और की तो बात क्या, उन जितेन्द्रिय मुनियोंको भी अपने नामसे वश कर लिया था ॥२४॥ स्वयं बिना बुलाये ही शय्यागृह जाने लगीं, कलह छोड़ दीं और प्रिय कामियोंके मुखपर दृष्टि देने लगीं—इस प्रकार स्त्रियोंने कोयलरूप अध्यापककी शिक्षासे बहुत कुछ चेष्टाएँ की थीं ॥२५॥ वसन्त समाप्त हुआ, ग्रीष्मका प्रवेश हुआ, उस समय सर्वत्र विचकिलके फूलोंकी सफेद-सफेद पङ्क्ति फूल रही थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो शुचि—ग्रीष्म ऋतुके समागमसे [पक्षमें पवित्र पुरुषोंके संसर्गसे] मधु—वसन्त [पक्षमें मदिरा] का त्याग करने वाले प्रसन्नचित्त वनरूप सम्पदाओंके मुखपर हास्यकी रेखा प्रकट हुई हो ॥२६॥ मालतीके उत्तमोत्तम फूलोंपर बैठे हुए भ्रमर आनन्दसे गुंजार कर रहे थे उसके छलसे ऐसा जान पड़ता था मानो दिग्विजयके समय होने वाली शंखकी नयी नयी घोषणा प्रत्येक मनुष्यको कामरूपी राजाके वश कर रही थी ॥२७॥ मदिरा पान करने से लाल लाल दिखने वाली स्त्रियोंकी दृष्टिकी तरह जो गुलाबके नये-नये फूल खिल रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेव रूपी राजाने स्त्रियोंके विस्तृत मान का पराजय कर दिया अतः मधुपों—भ्रमरों [पक्षमें मद्यपायियों]

वपुषि चन्दनमुज्ज्वलमल्लिका शिरसि हारलता गलकन्दले ।
मृगदृशामिति वेषविधिर्नृणामनवमो नवमोहमजीजनत् ॥२९॥
इह तृषातुरमर्थिनमागतं विगलिताशमवेक्ष्य मुहुर्मुहुः ।
हृदयभूस्त्रपयेव भिदां गता गतरसा तरसा सरसी शुचौ ॥३०॥
इह शुनां रसना वदनाद्बहिर्निरगमन्नवपल्लवचञ्चलाः ।
हृदि खरांशुकरप्रकरार्पिताः किमकृशा नु कृशानुशिखाः शुचौ ॥३१॥
खल इव द्विजराजमपि क्षिपन् दलितमित्रगुणो नवकन्दलः ।
अजनि कामकुतूहलिनां पुना रसमयः समयः स घनागमः ॥३२॥
इह घनैर्मलिनैरपहस्तिता कुटजपुष्पमिषादुडुसंततिः ।
गिरिवने भ्रमरारवपूत्कृतैरवततार ततारतिरम्बरात् ॥३३॥

वपुषीति—मृगाक्षीणामित्यनवमो मनोहरतपः [वेषविन्यासो] कामिनां नवमोहं जनयामास ॥२९॥ इहेति—सरसां तडागानां हृदयभूर्मध्यप्रदेशस्त्रपया लज्जयेव बिभिदे । गतरसा शुष्कसलिला तरसा झटिति । किं कृत्वेत्याह—तृषातुरान्पान्थांस्तृषितानेव व्याघुटच गच्छतो विलोक्य । अथ चोक्तिलेशः—येन किल सदैवातिथयः प्रीणिता भवन्ति स एव दैववशाद्दरिद्रतां गतोऽकृतातिथ्याननतिथिन्विलोक्य स्फुटितहृदयो भवति ॥३०॥ इहेति—इह शुचावाषाढमासे कौलेयकानामतितापवशान्मुखबाह्ये जिह्वा निर्गताः पल्लववत्कम्पमाना भान्ति स्म । अतश्च ज्ञायते चण्डकिरणप्रतापप्रसरनिष्कासिता अकृशा दीर्घतरा नु वितर्के कृशानुशिखा ज्वलनज्वाला इव । अतिग्रीष्मतापेन उदराग्निरधिकमुद्दीपित इवेति भावः ॥३१॥ खल इति—स घनागमसमयः कामकुतूहलिनां खलवदपि रसमयो बभूव । कथं खल इवेत्याह—द्विजराजं चन्द्रं ब्राह्मणगुरुं वा अधिक्षिपन् दलितमित्रगुणो निराकृतादित्यतेजाः पक्षे निर्लोठितसुहृद्गुणः नवीनकन्दानामुद्भेदा यत्र पक्षे नित्यकलह एवंविधोऽपि कामिनां पुनः सुखरसमयः ॥३२॥ इहेति—इह वर्षासमये नक्षत्रसंततिः पर्वतवने अवततार । मलिनैर्घनैरपहस्तिता पराभूता कुटजपुष्पव्याजात् । तता प्रसृता अरतिः पराभवसंपत्तिर्यस्याः सा ततारतिः ।

के द्वारा बजाये हुए काहल नामक बाजे ही हों ॥२८॥ शरीरपर चन्दन, शिरपर मालतीकी निर्मल माला और गलेमें हार—स्त्रियोंका यह उत्कृष्टवेष पुरुषोंमें नया-नया मोह उत्पन्न कर रहा था ॥२९॥ ग्रीष्मऋतुमें निर्जल सरोवरकी भूमि सूख कर फट गयी थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो आगत तृषातुर मनुष्यको निराश देख लज्जा से उसका हृदय ही फट गया हो ॥३०॥ इस ऋतुमें नवीन पल्लवोंके समान लपलपाती जिह्वाएँ कुत्तोंके मुखसे बाहर निकल रही थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो सूर्यकी किरणोंके समूहसे हृदयमें उत्पन्न हुई अग्निकी बड़ी-बड़ी ज्वालाएँ ही थीं क्या ।॥३१॥ तदनन्तर कामियोंको आनन्द देने वाला वह वर्षाकाल आया जो कि ठीक दुर्जनके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार दुर्जन—द्विजराज—ब्राह्मणको भी नष्ट कर देता है उसी प्रकार वर्षाकाल भी द्विजराज—चन्द्रमाको भी नष्ट कर रहा था, जिस प्रकार दुर्जन मित्रके गुणको नष्ट करने वाला होता है उसी प्रकार वर्षाकाल भी मित्र—सूर्यके गुणोंको नष्ट करने वाला था और जिस प्रकार दुर्जन नव कन्दल होता है—नूतनसुखको खण्डित करने वाला होता है उसी प्रकार वर्षाकाल भी नव कन्दल था—नये-नये अंकुरोंसे सहित था ॥३२॥ जहाँ-तहाँ कुटज

१. खलपक्षे द्विजराजं ब्राह्मणं घनागमपक्षे चन्द्रमसम् । २. दलिताः खण्डिता मित्रस्य सुहृदो गुणा येन तथाभूतः खलः घनागमपक्षे दलिता मित्रस्य सूर्यस्य गुणाः प्रतापा येन सः । ३. नवकं नूतनसुखं दलयति खण्डयतीति नवकन्दलः खलः, घनागमपक्षे नवाः कन्दला यस्मिन् सः ।

भृशमधार्यत नीपनभस्वता सह पयोधरनम्रनभःश्रिया ।
गलितहारनिभोदकधारया प्रथमसङ्गमसङ्गरविभ्रमः ॥३४॥

भुवनतापकमर्कमिवेक्षितुं कलितकान्तचलद्युतिदीपिका ।
दिशि दिशि प्रससार कृषीवतां सह मुदारमुदारघनावलिः ॥३५॥

जलधरेण पयः पिबताम्बुधेर्ध्रुवमपीयत वाडवपावकः ।
कथमिहेतरथा तडिदाख्यया रुचिररोचिररोचत वह्निजाम् ॥३६॥

नभसि निर्गतकोमलमालतीकलिकया स्मरतोमरतीक्ष्णया ।
हृदयविद्ध इवालिगणः परोश्चलति का लतिकाः स्म निरीक्षितुम् ॥३७॥

निभृतभृङ्गकुलाकुलकेतकीतरुरुदीर्णसितप्रसवाङ्कुरः ।
भृशमशोभत मत्त इव स्मरद्विरदनो रदनोदितभूत्रयः ॥३८॥

अम्बरादाकाशात् । भ्रमरशब्दा एव फूत्कारास्तैरुपलक्षिता ॥३३॥ भृशमिति—पयोधरा मेघास्तैर्नम्रा नभःश्रीस्तया कदम्बपवनकामुकेन सार्द्धं प्रथमरतिकेलिविभ्रमो बभ्रे । यतः किंविशिष्टया । गलिता हारा इवोदकधारा यस्याः सा तद्विधया । कामकलहे हि हारास्त्रुटचन्ति पवनेन च नभःश्रीः सवेगं वर्षति ॥३४॥ भुवनेति—असौ घनावलिर्दिक्चक्रे भ्राम्यति स्म । किमर्थमित्याह—सकललोकतापकारकं ग्रीष्मशोषितजलं पलायितमादित्यमवलोकयितुमिव कलिता कान्ता कार्यसाधनशीला चलद्युतिर्दीपिका यया । ध्वान्ते दीपं विना गतस्य पदं न लभ्यते । कृषीवतां कुटुम्बिकानां मुदा हर्षेण सह अरमत्यर्थमुदारवार्षुकघनावलिः ॥३५॥ जलेति—मेघेन समुद्रस्य पानीयं पिबता निश्चितं मध्यस्थो वाडवाग्निरपि पीतः । अन्यथा कुत इति मेघे विद्युन्नाम्ना रुचिररोचिर्देदीप्यमानं तेजोऽरोचत शुशुभे वह्निजमग्निज्वालासदृशम् ॥३६॥ नभसीति—नभसि श्रावणे मासि जातीकलिकया कामतोमरेणेवालिगणो विद्धः सन् उपलोभितः अन्या लतिकाः पुष्पितवल्लीः का जगाम अपि तु न का अपीत्यर्थः ॥३७॥ निभृतेति—निःशब्दभृङ्गकुलैराकुलः केतकीतरूद्गतशुभ्रपुष्पाङ्कुरः शुशुभे स्मरद्विरदनः कामहस्तीव रदनोदितभूत्रयो दन्तोत्पाटित-

के फूल फूले हुए थे उनके छलसे ऐसा जान पड़ता था मानो काले-काले [पक्षमें दुष्ट हृदय] मेघोंके द्वारा खदेड़ी नक्षत्रोंकी पंक्ति ही भ्रमर-ध्वनिके बहाने रोती हुई बड़े खेदके साथ आकाशसे इस विन्ध्याचलके वनमें अवतीर्ण हुई हो ॥३३॥ मेघोंसे [पक्षमें स्तनोंसे] झुकी आकाश लक्ष्मी, हारके समान टूट-टूट कर गिरनेवाली जलधारासे ऐसी जान पड़ती थी मानो कदम्बके फूलोंसे सुवासित वायुरूप नायकके साथ प्रथम समागम ही कर रही हो ॥३४॥ बड़े-बड़े मेघोंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो बिजली रूप सुन्दर दीपक ले संसार को संतापित करने वाले सूर्यको खोजनेके लिए ही किसानोंके आनन्दके साथ प्रत्येक दिशा में घूम रही हो ॥३५॥ ऐसा जान पड़ता है कि समुद्रका जल पीते समय मेघने मानो वड़वानल भी पी लिया था । यदि ऐसा न होता तो बिजलीके नामसे अग्निकी सुन्दर ज्योति क्यों देदीप्यमान होती ? ॥३६॥ सावनके माहमें निकली कामदेवके बाणोंके समान तीक्ष्ण मालती की कोमल कलिकाओंसे मानो हृदयमें घायल हुआ भ्रमरोंका समूह अन्य किन लताओंको देखनेके लिए जा सका था ? ॥३७॥ जिसमें सफेद-सफेद फूलोंके अंकुर प्रकट हुए हैं ऐसा निश्चल भ्रमर समूहसे व्याप्त केतकीका वृक्ष दाँतोंके द्वारा तीनों लोकोंको रौंदनेवाले कामदेव

१. मुदा + अरम् + उदारघनावलिः । २. पुरा ब० म० ।

त्वयि विभावपि भावपिधायिनि ध्रुवमनाथवतीमिव तां सखीम् ।
रिपुरिवैष विषं जलदो ददत्समदहन्ति दहन्ति च विद्युतः ॥३९॥
समधिगम्य पयः सरसामसावसहतापहृता पतिवञ्चिता ।
यदतनोत्तनुतापितपूत्तरं तदयि तद्दयितस्य न पातकम् ॥४०॥
स्वयमनम्बुजमेव सरोऽभवद्व्यधित सा तु वनान्तमपल्लवम् ।
यदि तया मृतयैव सुखं स्खलन्निनदया न दयास्ति वनेऽपि ते ॥४१॥
न रमते स्मयते न न भाषते स्वपिति नात्ति न वेत्ति न किञ्चन ।
सुभग केवलमस्मितलोचना स्मरति सा रतिसारगुणस्य ते ॥४२॥
इति कयापि दयापरयापरः प्रणयपूर्वमिहाभिहितो युवा ।
मुदमिवोदवहन्न च चारुता मदममन्दममन्थरमन्मथः ॥४३॥ (कुलकम्)
तृणकुटीरनिभे हृदि योषितां ज्वलति तीव्रवियोगहुताशने ।
स्वजनवच्छिखिभेकगणो नदन्नकृत पूत्कृतपूरमिवाकुलः ॥४४॥

त्रिभुवनः ॥३८॥ त्वयीति—हे समद ! त्वयि नापि तामनाथवतीमिव मेघो निहन्ति । किं कुर्वन् । विषं गरलं ददत् निष्कारणशत्रुरिव । न केवलं मेघ एव हन्ति विद्युतोऽपि दहन्ति । भावपिधायिनि कृतकामनिगूहने ॥३९॥ समधिगम्येति—असौ वराकी पतिवञ्चिता त्वया विप्रयुक्ता महातापपीडितानां यत्तडागानां पानीयमवगाह्य शरीरतापतापितकृमिविशेषं चकार । अयीति कोमलामन्त्रणे दयितस्य तव किं न पातकम् अपि तु पातकमेव । त्वद्विरहतप्ता सा सरोजलमवगाहयन्ती पूतरान्निहन्तीति तत्तव पातकम् ॥४०॥ स्वयमिति—हे निर्दय ! तस्यास्त्वद्विरहमहातापतप्ताया अहर्निशमवगाहने क्वचित् जलत्वात्स्वयमेव सरसि पद्मानि भ्रष्टानि समस्तमपि वनान्तं पुनः सा लूनपल्लवं शयनार्थं चकार । यदि तया मृतयैव तव निवृत्तिः स्खलन्निनदया सावरुद्धवचनया निजोद्यानेऽपि न दया रक्षणबुद्धिः । सा सरो वनं च विनाशयिष्यतीति भावः ॥४१॥ नेति—हे सुभग ! किमपि क्रीडादिकं क्रियाकलापं न करोति केवलं निमीलितलोचना तव स्मरति सुरतसारगुणस्य ॥४२॥ इतीति—कश्चिद्युवा सस्नेहमभ्यर्थितः सन् हर्षमिव रूपाहंकारमपि न बभार । अमन्दमत्यर्थम्, अमन्थरमन्मथः कामातुरः ॥४३॥ तृणेति—योषितां हृदि तृणकुटीरकसदृशे विरह-वैश्वानरे जाज्वल्यमाने बन्धुवर्ग इव मयूरदर्दुरगणः शब्दायमानः पूत्कारयांचकारेव । यथा तृणकुटीरके ज्वलति

के मदोन्मत्त हाथीके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥३८॥ हे सगर्व ! दूसरेकी बात जाने दो जब तुम नाथ हो कर भी अपना स्नेहपूर्ण भाव छिपाने लगे तब मेरी उस सखीको निश्चित ही अनाथ-सा समझ वह मेघ, शत्रुकी तरह विष [पक्षमें जल] देता हुआ मार रहा है और बिजलियाँ जला रही हैं ॥३९॥ पतिके अभावमें असह्य संतापसे पीड़ित रहने वाली इस सखीने सरोवरोंके जलमें प्रवेश कर उसके कीड़ोंको जो अपने शरीरसे संतापित किया है वह पाप क्या उसके पतिको न होगा । ॥४०॥ इस पावसके समय सरोवर अपने आप कमल रहित हो गया है और वनको उसने पल्लव रहित कर दिया है । यदि चुपचाप पड़ी रहनेवाली उस सखीके मरनेसे ही तुम्हें सुख होता है तो कोई बात नहीं परन्तु वनपर भी तो तुम्हें दया नहीं है ॥४१॥ हे सुभग ! न वह क्रीडा करती है, न हँसती है, न बोलती है, न सोती है, न खाती है, और न कुछ जानती ही है । वह तो सिर्फ नेत्र बन्द कर रतिरूप श्रेष्ठ गुणोंको धारण करनेवाले एक तुम्हारा ही स्मरण करती रहती है ॥४२॥ इस प्रकार किसी दयावती स्त्रीने जब प्रेमपूर्वक किसी युवासे कहा तब उसका काम उत्तेजित हो उठा । अब वह जैसा आनन्द धारण कर रहा था वैसा सौन्दर्यका अहंकार नहीं ॥४३॥ जब तृणकी कुटीके समान स्त्रियोंके हृदयमें तीव्र वियोग रूप अग्नि जलने लगी तब शब्द

प्रलपतां कृपयैव वियोगिनां किमपि दाहमहाज्वरशान्तये ।
शरदियं सरसीषु निरन्तरं व्यतनुतातनुतामरसं पयः ॥४५॥
इयमुदस्य करैः परिचुम्बतः सरसिजास्यमभून्न घनादरा ।
शरददत्त सुधाकरलालनासुखरता खरतापमतो रवेः ॥४६॥
किमपि पाण्डुपयोधरमण्डले प्रकटितामरचापनखक्षता ।
अपि मुनीन्द्रजनाय ददौ शरत्कुसुमचापमचापलचेतसे ॥४७॥
विघटिताम्बुपटानि शनैः शनैरिह दधुः पुलिनानि महापगाः ।
नवसमागमजातह्रियो यथा स्वजघनानि घनानि कुलस्त्रियः ॥४८॥
स्फुरदमन्दतडिद्द्युतिभासुरं शरदि शुभ्रमुदीक्ष्य पयोधरम् ।
कपिशकेसरकेसरिशङ्कया प्रतिनदन्ति न दन्तिगणाः क्षणम् ॥४९॥
कलमरालवधूमुखखण्डितं[1] विपुलवप्रजले कमलाकरम् ।
निकटमप्यवधीरयति स्म साभिनवशालिवशालिपरम्परा ॥५०॥

बन्धुः प्रातिवेशिकानापातयति ॥४४॥ अथ शरद्वर्णनम्—प्रलपतामिति—आक्रन्दतां विरहिणां दाहोपशमाय दयालुरिव शरन्महातडागेषु सलिलं व्यतनुत निर्ममे । किंविशिष्टम् । अतनुतामरसं महापद्मम् ॥४५॥ इयमिति—इयं शरत् सरसिजास्यं कमलमेव मुखमुन्नमय्य परिचुम्बतोऽपि सूर्यस्य घनादरा मेघान्धकारा स्नेहवती च न बभूव । अतः कारणात्प्रत्युत खरतापं तीव्रतापं ददौ । किंविशिष्टा सतीत्याह—सुधाकरलालनैव सुखरतं यस्यां पक्षे (?) । यथा काचिद्वेश्या नायके सचाटुकारं ब्रुवत्यपि निरादरा प्रतिनायकसुरतेन सुखरता नायकस्य तापं करोति ॥४६॥ किमपीति—शुभ्राभ्रमध्ये सुरचापं दर्शयन्ती कुसुमचापं कामं ददौ शरत् यथा काचित्पीनकुचमण्डले नखक्षतं दर्शयन्ती दृढचित्ताय मुनिजनायापि कामाभिलाषं ददाति ॥४७॥ विघटितेति—इह शरत्समये महानद्योऽपगतसलिलावरणानि पुलिनानि मन्दं-मन्दं दधुः प्रथमसुरतलज्जिताः कुलस्त्रिय इव पीनपरिणाहि जघनानि न वेश्याचेटीवन्निरावरणानि तत्क्षणम् ॥४८॥ स्फुरदिति—शरदि विद्युन्मालाभासुरं धवलमेघं गर्जन्तं श्रुत्वा दन्तिगणा हस्तिघटा न प्रतिगर्जितं कुर्वन्ति पिङ्गलसटाटोपस्य सिंहस्य भ्रमेण ॥४९॥ कलेति—सा नवीन-

करनेवाले मयूर और मेंढक ऐसे जान पड़ते थे मानो घबड़ाये हुए कुटुम्बियोंके समान रोदन ही कर रहे हों ॥४४॥ प्रलाप करनेवाले वियोगियोंपर दया कर ही मानो यह शरद् ऋतु प्रकट हुई है और उनके दाह रूप तीव्र ज्वरको शमन करनेके लिए ही मानो उसने सरोवरोंका जल निरन्तर बड़े-बड़े कमलोंसे युक्त कर दिया है ॥४५॥ किरणों द्वारा [पक्षमें हाथोंके द्वारा] कमलरूपी मुखको ऊपर उठा चुम्बन करनेवाले सूर्यपर इस शरद् ऋतुने अधिक आदर प्रकट नहीं किया किन्तु उसके विपरीत चन्द्रमाके साथ केलि करनेमें सुखपूर्वक तत्पर रही । शरद्ने अपनी इस प्रवृत्तिसे ही मानो सूर्यको अधिक संताप दिया था ॥४६॥ जिसके सफेद मेघमण्डलपर [पक्षमें गौरवर्ण स्तनमण्डलपर] इन्द्रधनुष रूप नखक्षतका चिह्न प्रकट है ऐसी शरद् ऋतुने गम्भीर चित्तवाले मुनियोंको भी कामबाधा उत्पन्न कर दी थी॥४७॥ जिस प्रकार नवीन समागमके समय लज्जा धारण करनेवाली कुलवती स्त्रियाँ धीरे-धीरे अपने स्थूल नितम्बमण्डल वस्त्र रहित करती हैं उसी प्रकार इस शरद् ऋतुमें बड़ी-बड़ी नदियाँ अपने विशालतट जलरूप वस्त्रसे रहित कर रही थीं ॥४८॥ इस शरद्के समय चमचमाती बिजलीकी विशालकान्तिसे देदीप्यमान सफेद मेघको देख पीली-पीली जटाओंसे सुशोभित सिंहकी शंकासे हाथियोंके समूह क्षणभरके लिए अपनी गर्जना बन्द कर देते हैं ॥४९॥ इधर भ्रमर पंक्तिका नवीन धानके साथ सम्बन्ध हो गया अतः उसने

१. मण्डितं च० । २. सुधाकरोऽधरस्तस्य लालनया सेवनया चुम्बनेन सुखरता अतितीक्ष्णता यस्याः सा ।

अयमनङ्गगजस्य मदाम्भसः परिमलो न तु शारदभूरुहः ।
इयमयस्त्रिपदी त्रुटिताभितः कमलिनीमलिनीविततिर्न तु ॥५१॥
हृदयहारिहरिन्मणिकण्ठिकाकलितशोणमणीव नभःश्रियः ।
ततिरुदैक्षि जनैः शुकपत्रिणां भ्रमवतामवतारितकौतुका ॥५२॥
मरुति वाति हिमोदयदुःसहे सहसि संततशीतभयादिव ।
हृदि समिद्धवियोगहुताशने वरतनोरतनोद्वसतिं स्मरः ॥५३॥
पतितमेव तदा हिममङ्गिनां वपुषि [1]कान्तिहरं शरदत्यये ।
शरणमुद्धतयौवनकामिनीस्तनभरो न भरोपचितो यदि ॥५४॥
बहलकुङ्कुमपङ्ककृतादरा मदनमुद्रितदन्तपदाधराः ।
तुहिनकालयतो घनकञ्चुका निजगदुर्जगदुत्सवमङ्गनाः ॥५५॥
अपि जगत्सु मनोभवतेजसां प्रवणयन्त्यतिरेकमनेकशः ।
हिममयानि तदा सवितुर्महोमहिमहानिमहानि वितेनिरे ॥५६॥

कलमवशवर्तिनी भ्रमरमाला कमलखण्डमवगणयोचकार । कुत इत्याह—कलहंसीचञ्चूचूर्णितं ततः कलिकाप्रायं मन्यमाना ॥५०॥ अयमिति—अयं पुष्पितसप्तपर्णो न भवति किन्तु कामकरीन्द्रमदसौरभप्रसरोऽयम् । इयं चालिनीविततिभ्रमरवधूश्रेणीपद्मिनीमभिभ्रमन्ती न भवति, किं तर्हि । इयं लोहमयी पादहिञ्जीरमाला मत्तेन कामगजेन त्रोटिता[2] ॥५१॥ हृदयेति—शुकपक्षिणां श्रेणी जनैरीक्षांचक्रे । अन्तरान्तरा पद्मरागमिश्रा नीलमणिगुलिकामालिकेव । अवतारितकौतुका समुत्पादिताश्चर्या भ्रमेणावर्त्तेन भ्राम्यताम् ॥५२॥ अथ हेमन्तवर्णनम्—मरुतीति— मार्गशीर्षे मासे महाहिमोत्कटे वायौ वाति सरति वरतनोर्मृगाक्ष्या हृदये जाज्वल्यमानविरहवह्नौ शीतार्त्त इव कामस्तत्राध्युवास ॥५३॥ पतितमिति—तदा शीतकाले प्राणिनां शरीरे शीतसंघातप्रपातः पतित एव । यदि किम् । यदि नवयौवनोद्धतवधूस्तनभारपरिणाहोपचितः शरणं शीतयन्त्रणं यदि वा शरणं[3] गृहं प्रावरणं वा न स्यादित्यर्थः ॥५४॥ बहलेति—अङ्गनाः सुगन्धितैलकुङ्कुमादिकं प्रति कृतादरा बिम्बाधरदत्तसिक्थका गजपटीनिर्मितसबाहकूर्पासाः शीतकालं भुवनोत्सवकारकमिव बभासिरे ॥५५॥ अपीति—तदा कामनृपतिप्रतापानामतिशयं प्रकाशयन्त्यपि अहानि दिवसा आदित्यतेजः प्रभावहानि

बड़े-बड़े खेतोंके जलमें खिले हुए उस कमलसमूहका जो कि मनोहर हंसीके मुखसे खण्डित था निकट होनेपर भी तिरस्कार कर दिया ॥५०॥ यह कामदेव रूपी हाथीके मदजलकी वास है, सप्तपर्ण वृक्षकी नहीं और यह कमलिनीके चारों ओर उसी हस्तीके पैरकी टूटी जंजीर है भ्रमरियोंकी पंक्ति नहीं है ॥५१॥ लोग बागमें घूमनेवाले तोताओंकी कौतुक उत्पन्न करनेवाली पंक्तिको आँख उठा-उठा कर ऐसा देखते थे मानो आकाश-लक्ष्मीकी लालमणि खचित हरे-हरे मणियोंकी मनोहर कण्ठी ही हो ॥५२॥ मार्गशीर्षमें बर्फसे मिली दुःसह वायु चल रही थी अतः निरन्तरकी शीतसे डर कामदेव, जिसमें वियोगाग्नि जल रही थी ऐसे किसी सुन्दरांगीके हृदय में जा बसा था ॥५३॥ यदि अत्यन्त तरुण स्त्रियोंके स्थूल स्तनोंका समूह शरण न होता तो उस हेमन्तके समय कान्तिको हरनेवाला बर्फ मनुष्योंके शरीरपर आ ही पड़ा होता ॥५४॥ चूँकि उस समय स्त्रियाँ बड़े आदरके साथ केशरका खूब लेप लगाती थीं, ओठोंमें जो दन्ताघातके व्रण थे उन्हें मोमसे बन्द कर लेती थीं और घनी-मोटी चोली पहिनती थीं अतः उन्होंने घोषणा कर दी थी कि यह हेमन्तकाल तो संसारके उत्सवका काल है ॥५५॥ चूँकि बर्फसे भरे दिन, संसारमें बार-बार कामदेवके तेजकी अधिकता बढ़ा रहे थे अतः उन्होंने सूर्यके तेजकी

१. कीर्तिहरं घ० म० । २. अपह्नुतिः । ३. 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः ।

स महिमोदयतः शिशिरो व्यधादपहृतप्रसरत्कमलाः प्रजाः ।
इति कृपालुरिवाश्रितदक्षिणो दिनकरो न करोपचयं दधौ ॥५७॥
विघटयन्निखिलेन्द्रियपाटवं भृशमुरीकृतधर्मदिगाश्रयः ।
वपुषि बिभ्रदसौ तपसा महः कृशमिनः शमिनः समतां दधौ ॥५८॥
मृगदृशामिह सीत्कृतकम्पिताधरपुटस्फुटदन्तसमद्युतः ।
विदधिरे नवकुन्दलता दलत्सुमनसो मनसो धृतिमङ्गिनाम् ॥५९॥
सुरभिपत्रवतः कुसुमेष्वभून्मरुवकस्य जनो विगतस्पृहः ।
सुभगरूपजुषो मृगचक्षुषः प्रथितमान्यतमान्यगुणेष्विव ॥६०॥
इह हि रोध्ररजांसि यशांसि वा विशदभांसि जगज्जयशालिनः ।
विदधिरे न मनोभवभूपतेः सममनन्तमनन्तरितं भुवा ॥६१॥

वितन्वन्ति स्म ॥५६॥ स इति—इति करुणापर इव दिनकरो निजकरप्रसरं न पुपोष दक्षिणायनस्थः । इतीति किम् । शीतकालः सममेककालं हिमोदयस्तस्माद्विनाशितविकसितकमलां जनता अकार्षीत् । यथा कश्चिद्धर्मविजयी राजा देयभागं न गृह्णाति आश्रितदक्षिणः सेवकानुकूलः । इति चिन्तयन्निव—अयमग्रेतनो जडात्मा राजा महिमोदयाल्लुण्टितलक्ष्मीकाः प्रजाः कृतवान् ॥५७॥ विघटयन्निति—असौ दिनकरः शमिनो मुनेः समतां सादृश्यं जगाम । किं कुर्वन् । तपसा माघमासेन कृशमल्पं तेजो धारयन् दक्षिणदिग्भागः शीतवधिरितानां सर्वेन्द्रियाणां विशेषेण घटयन् पाटवम् । व्रती च तपसा कायक्लेशेन मन्दतेजस्कं शरीरं दधाति पञ्चेन्द्रियाणां पाटवं चञ्चलतां निगृह्णाति आश्रितपुण्याचरणगतिः ॥५८॥ मृगदृशामिति—इह कुन्दलतानां विकसत्पुष्पाणि चित्तधृतिं वितेनिरे । सीत्कृतेन कम्पितौ यावधरपुटौ तत्र स्फुटा दृश्यमाना ये दन्ता तत्सदृशी द्युतिर्दीधितिर्यासाम् ॥५९॥ सुरभीति—सुगन्धिपत्राणि बिभ्रतो मरुवकस्य पुष्पनिरपेक्षी जनो बभूव । यथा कस्याश्चिन्मृगाक्ष्याः सौभाग्यैकरूपं बिभ्रत्या अन्येषु प्रसिद्धतमेषु पूज्यतमेषु च गुणेषु निःस्पृहो भवति ॥६०॥ इहेति—इह शिशिरे रोध्रपरागाः कामनृपकीर्तिप्रसरा इव अनन्तं गगनं

महिमा घटा दी थी ॥५६॥ जब कोई दुष्ट राजा अपनी महिमाके उदयसे प्रजाकी कमला—लक्ष्मीको छीन उसे दरिद्र बना देता है तब जिस प्रकार दूसरा दयालु उदार राजा पदासीन होनेपर प्रजासे करोपचय—टेक्सका संग्रह नहीं करता उसी प्रकार जब शिशिरने निरन्तर बर्फकी वर्षासे प्रजाके कमल छीन उसे कमलरहित कर दिया तब दयालु एवं उदार [पक्षमें दक्षिणदिशास्थ] सूर्यने करोपचय—किरणोंका संग्रह नहीं किया ॥५७॥ उस समय सूर्य किसी तपस्वीकी समता धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार तपस्वी समस्त इन्द्रियोंकी सामर्थ्य नष्ट कर देता है अथवा इन्द्रियोंकी सामर्थ्यको विशेष रूपसे घटित करता है उसी प्रकार सूर्य भी समस्त इन्द्रियोंकी सामर्थ्य नष्ट कर रहा था अथवा विशेष रूपसे घटित कर रहा था, जिस प्रकार तपस्वी धर्मदिक्—धर्मोपदेष्टाका आश्रय ग्रहण करता है उसी प्रकार सूर्य भी धर्मदिक्—यमराजकी दक्षिण दिशाका आश्रय ग्रहण कर रहा था, और जिस प्रकार तपस्वी तपसा—तपश्चरणके द्वारा शरीरमें कृश तेज धारण करता है उसी प्रकार सूर्य भी तपसा—माघ मासके द्वारा शरीरमें कृश तेज धारण कर रहा था ॥५८॥ इस शिशिरके समय मृगनयनी स्त्रियोंके सीत्कृतसे कम्पित ओठोंके बीच प्रकट दाँतोंके समान कान्ति वाली कुन्दकी खिली हुई नवीन लताओंने जिस किसी तरह मनुष्योंके हृदयमें धैर्य उत्पन्न किया था ॥५९॥ जिस प्रकार मनुष्य सुन्दर रूप वाली स्त्रीके प्रसिद्ध एवं माननीय अन्य गुणोंमें निःस्पृह हो जाते हैं उसी प्रकार लोग सुगन्धित पत्तों वाले मरुवक वृक्षके फूलोंमें निःस्पृह हो गये थे ॥६०॥ इस शिशिर ऋतुमें पृथिवी लोध्र पुष्पकी पराग और जगद्विजयी कामदेवरूपी राजाकी

करणबन्धविवर्तनसाक्षिणीः समधिगम्य निशाः सुरतक्षमाः ।
तपसि कामिजनस्तरुणीजनैररमतारमतामसमानसैः ॥६२॥
अथ दिदृक्षुममुं रमणीयतामृतुगणस्य समं समुपेयुषः ।
अभिदधे जिनमित्यमराधिपो विनयतो नयतोषितभूत्रयम् ॥६३॥
ऋतुकदम्बकमाह्वयतीव वः श्रवणगोचरतां युगपद्गतैः ।
भ्रमरकोकिलहंसकलापिनां रसकलैः सकलैरपि निःस्वनैः ॥६४॥
सेना सुराणाममना मितारम्भवत्ययाना मधुना च येन[2] ।
सेना सुराणा मम नामितारं भवत्ययानामधुना चयेन ॥६५॥
प्रभावितानेकलतागताया प्रभाविताने कलता गता या ।
[3]प्रभावितानेकलतागताया सा स्त्री मधौ किं स्पृहणीयपुण्या ॥६६॥

भुवा सार्द्धं चक्रुः । किंविशिष्टं चक्रुरित्याह—अनन्तरितम्—अन्तर्मध्ये इतं गतम् अन्तरितं, न अन्तरितमनन्तरितं बहिर्भूतं किं तु भूमिलितमेव चक्रुः ॥६१॥ करणेति—कामुकजनो वाणिनीभिररमति शयेन रेमे । अतामसमानसो गतगर्वः । किं कृत्वा । माघे दीर्घतमा रात्रीः प्राप्य । पुनः किंविशिष्टाः । चतुरशीतिकरणबन्धविधानावलोकनसाक्षिणीः ॥६२॥ अथेति—आजग्मुष ऋतुगणस्य लक्ष्मीं सफलयितुमिच्छुं जिनं देवाधिपो व्यजिज्ञपत् नयेन न्यायप्रतिपालनेन तोषितं भूत्रयं येन ॥६३॥ ऋतुकदम्बकमिति—हे प्रभो ! भ्रमरादीनां निःस्वनैर्युष्मानृतुगण आकारयतीव । रसेन कलैर्मनोहरैः ॥६४॥ सेनेति—इन ! स्वामिन् ! या मम सुराणां सेना देवानां सेना मधुना वसन्तेन अमना अभूत् गतमनस्का संजाता तथा मितारम्भवती मनोविरहात्स्तोकारम्भा । तथा अयाना च गमनरहिता च बभूव सा सेना इना कामेन सह भवति त्वयि नामिता । केन नामिता । चयेन समूहेन । केषाम् । अयानां शुभकर्मणाम् । क्व । अधुना सम्प्रति । कथम् । अरम् अतिशयेन । कथंभूता सेना । सुराणा सुशब्दा स्तुति—मुखरेत्यर्थः । अयमभिप्रायः—या मधुना निश्चेष्टा संजाता सापि शुभकर्मवशात् त्वयि नमन्ती विलोक्यताम् इतीन्द्रः कालमाहात्म्यं स्वसेनानमस्कारं च दर्शयति[4] ॥६५॥ प्रभावितेति—इः कामस्तद्वत्कलता मनोज्ञता लक्ष्मीर्यस्य स इकलतस्तस्य संबोधनं हे इकलत ! जिन ! मधौ वसन्ते सा स्त्री आगताया प्राप्तशुभविधिः किं स्पृहणीयपुण्या न भवति

उज्ज्वल कीर्तिको एक साथ ही क्या स्पष्ट रूपसे नहीं धारण कर रही थी ॥६१॥ इस माघके महीनेमें कामीजन अनेक आसनों—कामशास्त्रमें प्रसिद्ध चौरासी आसनोंका साक्षात् करने वाली सुरत योग्य बड़ी-बड़ी रात्रियाँ पाकर प्रसन्नचित्त युवतियोंके साथ अत्यन्त रमण करते थे ॥६२॥ तदनन्तर एक साथ उपस्थित ऋतु-समूहकी सुन्दरता देखनेके इच्छुक और नयसे तीनों लोकोंको सन्तुष्ट करने वाले जिनेन्द्रदेवसे किन्नरेन्द्र बड़ी विनयके साथ इस प्रकार बोला ॥६३॥ भगवन् ! ऐसा जान पड़ता है मानो यह ऋतुओंका समूह एक साथ सुनाई देने वाले भ्रमर, कोयल, हंस और मयूरोंके रसाभिराम समस्त शब्दोंके द्वारा आपका आह्वान ही कर रहा हो—आपको बुला ही रहा हो ॥६४॥ हे स्वामिन् ! देवोंकी जो सेना निर्मनस्क परिमित आरम्भवाली एवं गमनसे रहित थी वही आज वसन्तके कारण कामवश सुन्दर शब्द कर रही है—स्तुतिसे मुखर हो रही है और शुभकर्मके समूहसे आपके विषयमें अत्यन्त नम्र बन गयी है—आपको नमस्कार कर रही है ॥६५॥ हे मदनसुन्दर ! जिसने अनेक लताओं और वृक्षोंका विस्तार भले ही देखा हो तथा जो प्रभाके समूहमें सुन्दरताको भले ही प्राप्त होती हो पर वह स्त्री इस वसन्तके समय क्या उत्तम पुण्यवती कही जा सकती है जो कि अपने पति

१. कामिगण—घ० ङ० च० छ० म० । २. या + इन इति पदच्छेदः । ३. प्रभौ + इता + न, इकलत + आगताया इति पदच्छेदः । ४. उपजातिवृत्तं यमकालंकारश्च ।

[1]वीक्ष्याङ्गना सत्तिलकान्सरागा विलासमुद्रायतनेऽत्र कान्ते।
गुणांस्त्वयीवाभवदस्तशत्राविलासमुद्रायतनेत्रकान्ते ॥६७॥
पदप्रहारैः पुरुषेण दध्रे मदः समुद्यत्तरुणीहतेन।
रुतं तदश्रावि वने पिकीनामदः समुद्यत्तरुणीह तेन ॥६८॥
त्वामद्य केकिध्वनितापदेशात्सुराजमानेन स मानवेन।
घनागमः स्तौत्यमृतोदयार्थी सुराजमानेनस मा नवेन ॥६९॥
कलापि नो मन्दरसानुगास्ते पयोदलेशोपहिता हिमांशोः।
कलापिनो मन्दरसानुगास्ते संभाव्यते तेन शरत्प्रवृत्तिः ॥७०॥

अपि तु भवत्येव। या कथंभूता। इता प्राप्ता। क्व। प्रभौ भर्तरि। पुनः कथंभूता। प्रभावितानेकलतागताया अगा वृक्षाः, लताश्च अगाश्च लतागाः अनेके च ते लतागा अनेकलतागास्तेषां तायः संतानो विस्तारः प्रभावितः अनेकलतागतायो यया सा तथा। पुनः किंविशिष्टा। गता प्राप्ता। काः कर्मतापन्नाः। कलता मनोज्ञताः। क्व। प्रभाविताने प्रभासमूहे। या मधौ वियोगिनी न भवति सा लतावृक्षसमृद्धिं वीक्षते प्रभा च स्यान्नान्येत्यर्थः ॥६६॥ वीक्ष्येति—अत्र पर्वते अङ्गना सत्तिलकान् वृक्षान् वीक्ष्य कान्ते भर्त्तरि सरागाऽभवत्। किंविशिष्टे कान्ते। विकासमुद्रायतने। केव। कस्मिन्निव। कान् वीक्ष्य। तत्राह—यथा इला पृथ्वी आ-समुद्रा समुद्रपर्यन्ता त्वयि सरागा अभवत्। त्वयि कथंभूते। अस्तशत्रौ आयतनेत्रकान्ते च विलासमुद्रायतने च। किं कृत्वा। वीक्ष्य। कान्। गुणान्। कथम्भूतान्। सत्तिलकान् सतां मण्डनीभूतान् ॥६७॥ पदेति—पदप्रहारैः कृत्वा तरुणीहतेन पुरुषेण यत् मदो दध्रे। कथंभूतो मदः। समुद् हर्षसहितः। तत् तेन पुरुषेण अश्रावि। किं तत्। रुतं शब्दितं पतत्। कासाम्। पिकीनाम्। क्व। इह वने। किंविशिष्टे। समुद्यत्तरुणि समुद्यन्तस्तरवो यत्र तत्तथा। पदप्रहारैरपि यदहंकारधारणं तत्र पिकीशब्द एव हेतुः कामोद्दीपनभावत्वात्[2] ॥६८॥ त्वामिति—मानवा मनुष्यास्तेषामिनः स्वामी तस्य संबोधनं हे माननेन! त्वां स घनागमो जलदकालः स्तौति। केन कृत्वा। आननेन। किंविशिष्टेन। सुराजमानेन शोभमानेन। कुतः। केकिध्वनिता-पदेशात्। कथंभूतो घनागमः। अमृतोदयार्थी जललाभार्थी। त्वां किंविशिष्टम्। अनेनसं निःपापम्। सुराजमेति संबोधनपदम्—शोभना राजमा राजलक्ष्मीर्यस्येति समासः। यः किल घनागमो ज्ञातप्रचुरशास्त्रो भवति स त्वाम् अमृतोदयार्थी मोक्षलाभाय स्तौति-इति व्यङ्ग्यार्थध्वनिः ॥६९॥ कलेति—तेन कारणेन शरत्प्रवृत्तिः संभाव्यते येन हिमांशोः कलापि नो आस्ते। कथंभूता। पयोदलेशोपहता। पुनः किंविशिष्टा। मन्दरसानुगा मन्दरसानुं गच्छतीति मन्दरसानुगा। किल उच्चैस्तरपर्वतसंनिधाने प्रचुरा मेघा भवन्ति परं तत्रापि

को प्राप्त नहीं है—वियोगिनी है? अरे! वह तो स्पष्ट पुण्यहीन है ॥६६॥ हे विशालनेत्र! जिस प्रकार यह समुद्रान्त पृथिवी शत्रुओंको नष्ट करने वाले आपमें गुण देख अनुराग सहित है उसी प्रकार यह स्त्री इस वनमें उत्तम तिलक वृक्षोंको देख विलासमुद्राके स्थानस्वरूप अपने पतिमें अनुराग सहित हो रही है ॥६७॥ चूँकि वह पुरुष इस ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंसे युक्त वन में कोयलोंका मनोहर शब्द सुन चुका है अतः पदप्रहारद्वारा उत्तम तरुणीसे आहत हो हर्ष सहित मद धारण कर रहा है ॥६८॥ हे मनुजश्रेष्ठ! हे उत्तम राजाओंकी लक्ष्मीसे युक्त! आप पापरहित हैं इसलिए यह जलके उदयको चाहनेवाला वर्षाकाल मयूरध्वनिके बहाने सुन्दर स्तवनसे आज आपकी स्तुति कर रहा है [उस तरह जिस तरह कि अमृतोदयार्थी—मोक्ष-प्राप्तिका अभिलाषी और घनागम—प्रचुर शास्त्रोंका ज्ञाता पुरुष आपकी स्तुति करता है।] ॥६९॥ मन्दर गिरिके शिखर पर स्थित चन्द्रमाकी कला भी मेघखण्डसे आच्छादित नहीं है और वे मयूर भी जो कि वर्षा कालमें अमन्दरससे युक्त रहते थे इस समय मन्दरसके

१. च पुस्तके ६६-६७ श्लोकयोः पूर्वार्धे क्रमभेदः। २. उपेन्द्रवज्रावृत्तम्।

गुणलतेव धनुर्भ्रमरावली शरदि तामरसं गमिताधिकम्[1] ।
ततिरतोऽप्सरसां कुसुमेषुणा शरदितामरसङ्गमिताधिकम् ॥७१॥
इति वचनमुदारं भाषमाणे मुदारं
प्रशमितवृजिनस्य स्वर्गिनाथे जिनस्य ।
मतिरिह घनगानां रन्तुमासीन्नगानां
ततिषु कुसुमलीनां वीक्ष्य पालीमलीनाम् ॥७२॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्य ऋतु-वर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥११॥

यच्चन्द्रकला पयोदलेशेनाच्छादिता नास्ति । येन च कारणेन कलापिनो मयूरास्ते मन्दरसानुगतास्तेन शरत्प्रवृत्तिः संभाव्यत इत्यर्थः ॥७०॥ गुणेति—शरदि काले अधिकं पानीयमधिलक्ष्मीकृत्य तामरसं पद्मं भ्रमरावली गमिता प्रापिता कुसुमेषुणा गुणलतेव धनुः यथा मौर्वी धनुः प्राप्यते तथालिपङ्क्तिः पद्मं प्रापिता । अतोऽप्सरसां ततिः कुसुमेषुणा शरदिता बाणखण्डिता सती अमरसंगमिता देवसंगमं प्राप्ता । अधिकम् अतिशयेन[2] ॥७१॥ इतीति—इह पर्वते रन्तुं जिनस्य मतिरासीत् । जिनस्य कथंभूतस्य । प्रशमितवृजिनस्य प्रशमितपापस्य । क्व सति । स्वर्गिनाथे इति पूर्वोक्तं वचनमुदारं भाषमाणे सति । कया । मुदा हर्षेण । अरमतिशयेन । तथा वीक्ष्य च । काम् । आलीं पङ्क्तिम् । केषाम् । अलीनाम् । कथंभूतामालीम् । कुसुमलीनाम् । कासु । ततिषु पङ्क्तिषु । केषाम् । नगानां वृक्षाणाम् । पुनरपि किंविशिष्टां घनगानां घनं गानं शब्दो यस्याः सा तथाभूता[3] ॥७२॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्त-दीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायामेकादशः सर्गः ॥११॥

अनुगामी हो रहे हैं इन सब कारणोंसे जान पड़ता है कि शरद् ऋतु आ गयी है ॥७०॥ जिस प्रकार प्रत्यंचा रूप लता धनुषके पास जाती है उसी प्रकार भ्रमरोंकी पंक्ति जलमें प्रफुल्लित कमलोंके पास पहुँच गयी है, यही कारण है कि इस शरद् ऋतुके समय अप्सराओंकी पंक्ति कामदेवके बाणोंसे खण्डित हो देवोंकी अधिकाधिक संगति कर रही है ॥७१॥ इस प्रकार इन्द्रने जब आनन्दके साथ उत्कृष्ट वचन कहे तब फूलोंमें छिपी मधुर गान करने वाली भ्रमर-पंक्तिको देख पापरहित जिनेन्द्रदेवकी वृक्ष समुदायके बीच क्रीड़ा करनेकी इच्छा हुई ॥७२॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्यमें ऋतुओंका वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥११॥

---

१. के इति अधिकम् अधिजलम् अव्ययीभावसमासः । २. द्रुतविलम्बितवृत्तम् । ३. मालिनीच्छन्दः ।

द्वादशः सर्गः

दिदृक्षया काननसंपदां पुरादथायमिक्ष्वाकुपतिर्विनिर्ययौ ।
विधीयतेऽन्योऽप्यनुयायिनां गुणैः समाहितः किं न तथाविधः प्रभुः ॥१॥
बभूव यत्पुष्पवतीमृतुक्षणे वनस्थलीं सेवितुमुत्सुको जनः ।
अचिन्तितात्मक्रमविप्लवो महान्मनोऽनुरागः खलु तत्र कारणम् ॥२॥
विकासिपुष्पद्रुणि कानने जनाः प्रयातुमीषुः सह कामिनीगणैः ।
स्मरस्य पञ्चापि न पुष्पमार्गणा भवन्ति सह्याः किमसंख्यतां गताः ॥३॥
बभौ तदारक्तमलक्तकद्रवैर्वधूजनस्यांह्रिसरोरुहद्वयम्[1] ।
पथि स्थलाम्भोरुहकोटिकण्टकक्षतक्षरच्छोणितसंचयैरिव ॥४॥
गतागतेषु स्खलितं वितन्वता नितम्बभारेण समं जडात्मना ।
भुजौ सुवृत्तावपि कङ्कणक्वणैः किलाङ्गनानां कलहं प्रचक्रतुः ॥५॥

दिदृक्षयेति—अथानन्तरमसाविक्ष्वाकुवंशतिलको वनलक्ष्मीणां द्रष्टुमिच्छया नगरान्निर्जगाम । युक्तमेतत्-सदासेवकानां सेवागुणैरितरप्रायोऽप्युपरुध्यते किं पुनः स विवेककरुणानिधिः प्रभुः[2] ॥१॥ बभूवेति—यत् पुष्पितां वनस्थलीं विहर्तुमना लोक उत्सुको बभूव तत्रार्थे मनोऽनुरागो हेतुः । न चिन्तित आत्मक्रमयोर्विप्लवः स्खलनादिकं यत्र तथा । यथा कस्यचित्कामुकस्यातिविषयलौल्यादृतुसमये पुष्पमयीमपि स्त्रियं भजमानस्य न निजकुलविप्लवचिन्ता ॥२॥ विकासतीति—विकसत्पुष्पवृक्षकदम्बकवने सकामिनीका जना जिगमिषांचक्रुः । अन्यथा कामिनीभिर्विना कामपुष्पबाणपञ्चकमपि सोढुं न पार्यते किमुत वनं व्याप्य तस्थिवांसः पुष्पबाणसमूहाः । स्त्रियं विना प्रभूतपुष्पवनदर्शनं पीडाकरमेव ॥३॥ बभाविति—तदा पुष्पावचयागमने यावकलिप्तं चरणयुगलं कामिनीनां शुशुभे । स्थलकमलकर्णिकागर्भनिर्भरसंचरणेन पीडितनिर्गलितशोणितच्छटारुणितमिव । कामिनीपदानामतिसौकुमार्यवर्णनम् ॥४॥ गतेति—तदा तन्वीनां भुजौ कङ्कणक्वणितैः कलहमिव नितम्बभारेण सह विदधाते । किं कारणं कलहस्येत्याह—सरसभावोपेतो नितम्बभारो लीलगमनागमनेषु अतिपरिणाहित्वाद्भुज-

तदनन्तर इक्ष्वाकुवंशके अधिपति भगवान् धर्मनाथ वन-वैभव देखनेकी इच्छासे नगरसे बाहर निकले सो ठीक ही है क्योंकि जब साधारण मनुष्य भी अनुयायियोंके अनुकूल प्रवृत्ति करने लगते हैं तब गुणशाली उन प्रभुका तो कहना ही क्या है ? ॥१॥ उस ऋतुकालमें पुष्पवती वनस्थली [पक्षमें मासिक धर्म वाली स्त्री] का सेवन करनेके लिए जो मनुष्य उत्कण्ठित हो उठे थे उसमें अपने क्रमों—चरणोंके विप्लव—स्खलन आदिकी [पक्षमें स्वकुल-विघात अथवा स्वकीय पुरुषत्व हानिकी] चिन्तासे रहित मनका बड़ा भारी अनुराग ही कारण था ॥२॥ खिले हुए पुष्प-वृक्षोंसे युक्त वनमें मनुष्योंने स्त्री समूहके साथ ही जाना अच्छा समझा क्योंकि जब कामके पाँच ही बाण सह्य नहीं होते तब असंख्यात बाण सह्य कैसे हो सकेंगे ॥३॥ उस समय महावरसे रँगे हुए स्त्रियोंके चरण-कमलोंका युगल ऐसा जान पड़ता था मानो गुलाबके अग्रभागके कण्टकसे क्षत हो जाने के कारण निकलते हुए रक्तके समूहसे ही लाल-लाल हो रहा था ॥४॥ स्त्रियोंकी भुजाएँ यद्यपि सुवृत्त थीं—गोल थीं [पक्षमें सदाचारी

१. जनस्याङ्घ्रि घ० म० । २. वंशस्थवृत्तम् ।

गुरुस्तनाभोगभरेण मध्यतः कृशोदरीयं झटिति त्रुटिष्यति ।
इतीव काञ्ची कलकिङ्किणीक्वणैर्मृगीदृशः पूत्कुरुते स्म वर्त्मनि ॥६॥
नितम्बसंवाहनबाहुलालनश्रमोदभारापनयादिभिर्घनैः ।
चटूनि चक्रे मुहुरेणचक्षुषां विचक्षणो दक्षिणमारुतः पथि ॥७॥
प्रवालशालिन्यनपेतविभ्रमा नितान्तमुच्चैस्तनगुच्छलाञ्छिता ।
सलीलमुद्यत्तरुणावलम्बिता ययौ[1] वनं कापि लतेव जङ्गमा ॥८॥
नितम्बबिम्बप्रसराहतक्रमः कुचस्थलीताडनमूर्च्छितश्च यः ।
विलासिनीनां मलयाद्रिमारुतः स जीव्यते स्म श्वसितानिलैः पथि ॥९॥

लतानां स्खलितं करोति । अन्योऽपि यो मार्गे गच्छतां मूर्खः पादादिकमन्तरेण निक्षिप्य स्खलितं करोति तेन सार्द्धं सुवृत्तानां सुशीलानामप्युच्चावचं स्यात् ॥५॥ गुरुस्तनेति—इयं मुष्टिमेयमध्या शातोदरी महास्तनमण्डलाभोगभारेण मध्ये चलन्ती झटिति त्रुटिष्यति विघटिष्यते । इति पूत्कारयन्निव काञ्चीकलापो रणज्झणायते । कस्याश्चिन्मृगास्या अतिललितावलग्नवर्णनम् ॥६॥ नितम्बेति—पथि श्रान्तानां मृगाक्षीणां दक्षिणानिलो बहूनि चाटूनि चकार श्रमजाम्भोनिराकरणादिभिः कर्मभिः । यथा कश्चिच्चतुरोऽङ्गसंवाहनादिव्याजेनाभिलषितं पूरयति ॥७॥ प्रवालेति—काचित्तन्वी संचारिणीलतेव वनं जगाम, कुन्तलशालिनी पल्लवशालिनी च, सविलासा भ्रमरचुम्बिता च, उच्चैस्तना एव गुच्छाः पुष्पस्तवकास्तैर्मण्डिता तरुणे यूनि अवलम्बिता वर्द्धमानवृक्षेण[2] ॥८॥ नितम्बेति—यो दक्षिणानिलो नितम्बचक्रपरिणाहेन स्खलितप्रचारः स्तनपर्वततटीताडनेन च मूर्च्छां गतः स खिन्नानां विलासिनीनां निःश्वासैर्जीवयांचकार सविशेषतरो बभूवेत्यर्थः ।

थीं] फिर भी आने-जानेमें रुकावट डालनेवाले जड़-स्थूल [पक्षमें धूर्त] नितम्बके साथ कंकणोंकी ध्वनिके बहाने मानो कलह कर रही थीं ॥५॥ मार्गमें चलते समय किसी मृगनयनीकी करधनी किंकिणियोंके मनोहर शब्दोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो वह यह जान कर रो ही रही थी कि यह कृशोदरी स्थूल स्तनमण्डलके बोझके कारण मध्यभागसे जल्दी ही टूट जायेगी ॥६॥ मार्गमें दक्षिणका पवन चतुर नायककी भाँति नितम्बसंमर्दन, भुजाओंका गुदगुदाना एवं पसीना दूर करना आदि क्रियाओंसे मृगनयनी स्त्रियोंकी बार-बार चापलूसी कर रहा था ॥७॥ कोई स्त्री चलती-फिरती लताके समान लीलापूर्वक वनको जा रही थी। क्योंकि जिस प्रकार लता प्रवालशालिनी—उत्तमपल्लवोंसे सुशोभित होती है उसी प्रकार स्त्री भी प्रवालशालिनी—उत्तम केशोंसे सुशोभित थी। जिस प्रकार लता अनपेतविभ्रमा—पक्षियोंके संचारसे सहित होती है उसी प्रकार स्त्री भी अनपेतविभ्रमा—विलास चेष्टाओंसे सहित थी। जिस प्रकार लता उच्चैस्तनगुच्छलाञ्छिता—ऊँचे भागमें लगे हुए गुच्छोंसे सहित होती है उसी प्रकार स्त्री भी उच्चैस्तनगुच्छलाञ्छिता—गुच्छोंके समान सुशोभित उन्नत स्तनोंसे सहित थी और जिस प्रकार लता उद्यत्तरुणावलम्बिता—उन्नत वृक्षसे अवलम्बित होती है उसी प्रकार स्त्री भी उद्यत्तरुणावलम्बिता—उत्कृष्ट तरुण पुरुषसे अवलम्बित थी ॥८॥ मार्गमें मलय पर्वतका जो वायु स्त्रियोंके नितम्बस्थलके आघातसे रुक गया था तथा स्तनोंके ताड़नसे मूर्च्छित हो गया था वह उन्हींके श्वास-निःश्वास से जीवित हो गया था ॥९॥

१. वनं ययौ घ० म० । २. अत्रेदं सुगमं व्याख्यानम्—तदा कापि मृगाक्षी जङ्गमा गतिशीला लतेव वल्लरीव वनमरण्यं सलीलं यथा स्यात्तथा ययौ जगाम । अथोभयोः सादृश्यमाह—प्रवालशालिनी प्रवालैः प्रकृष्टकेशैः शालते शोभत इत्येवंशीला मृगाक्षी, प्रवालैः किसलयैः शालत इत्येवंशीला लता । अनपेतविभ्रमा न अपेता अनपेता अरहिताः सहिता इत्यर्थः अनपेता विभ्रमा विलासा यस्याः सा मृगाक्षी, वीनां पक्षिणां भ्रमाः संचाराः विभ्रमाः अनपेताः सहिता विभ्रमा यस्यां तथाभूता लता । नितान्तमतिशयेन उच्चैः तारुण्यभारेणो-

प्रियस्य कण्ठार्पितबाहुबन्धना पथि स्खलन्ती विनिमीलनाद्दृशोः ।
प्रकाशयन्तीव मनोभवान्धतां जगाम काचिद्वनमेणलोचना ॥१०॥
यथाभवन्नूपुरपाणिकङ्कणक्वणप्रगल्भो मणिकिङ्किणीरवः ।
उपेयुषीणां वनमेणचक्षुषां तथा पुरो लास्यमधत्त मन्मथः[1] ॥११॥
उदञ्चति भ्रूलतिका मुहुर्मुहुः प्रकम्पते तन्वि यदोष्ठपल्लवः ।
अवैमि[2] तेन स्मितपुष्पशातनो[3] विजृम्भते ते हृदि मानमारुतः ॥१२॥
जगज्जनानन्दविधायिनि क्षणे वृथा त्वयारम्भि मृगाक्षि विग्रहः ।
मनस्विनीनां सुलभाभिमानता महानृतुप्रक्रम एष दुर्लभः ॥१३॥
अथापराद्धं दयितेन कुत्रचिद्विनोपपत्त्येति तवाकुलं मनः ।
परस्परं प्रेमसमुन्नतिं गतं भयानि भामिन्यपदेऽपि पश्यति ॥१४॥
अनन्यनारीप्रणयिन्यपि त्वया यदागसां चिह्नमदर्शि स भ्रमः ।
रसेन यस्त्वामभितोऽपि वीक्षते कथं स ते विप्रियमाचरिष्यति ॥१५॥

नितम्बस्तनतटयोरतिपरिणाहसूचने ॥९॥ प्रियस्येति—काचित्कान्तकण्ठावलम्बिनी लीलानिमीलितलोचना पथि पौनःपुन्येन स्खलन्ती अतश्च कामान्धतां प्रकटयन्तीव जगाम ॥१०॥ यथेति—यथा यथा मञ्जरिकरकङ्कणक्वाणप्रगल्भो मेखलामणिक्षुद्रघण्टिकारवः संबभूव वनं गच्छन्तीनां मृगाक्षीणां पुरतस्तथा तेन लयेन मदनो नट इव ननाट । कङ्कणादिक्वाणेन कामं सहस्रधा जागरयन्त्योऽवजग्मुरिति भावः ॥११॥ उदञ्चतीति—यथेयं भ्रूलतिका उदञ्चति विभ्रमयति ऊर्ध्वं चेष्टते यथा च बिम्बाधरः कम्पते तथा जाने ते हृदि मानपवनः प्रवर्तते हास्यपुष्पपातनः । वायौ वाति लताः पल्लवाश्चलन्ति पुष्पाणि पतन्ति च ॥१२॥ जगदिति—अस्मिंस्त्रिभुवनमहोत्सवकारिणि ऋतुसमये त्वयात्मसुखविनाशाय कलह आरब्धः । किञ्चान्यदैव मानः स्यादयं वसन्तोत्सवस्तु सर्वदा दुर्लभः ॥१३॥ अथेति—हे भामिनि ! तव मनः प्रेमपरवशतां गतं युक्तिमन्तरेणापि व्याकुलं सत् मम कान्तोऽन्यां भजतीति भयस्थानं पश्यति परं न दयिते किमप्यपराधस्थानं पश्यामि ॥१४॥ अनन्येति—यत्त्वया तस्य किमप्यपराधस्थानं दृष्टं स भ्रमो मिथ्या यतोऽसौ नान्यां नारीं प्रति स्निह्यति । यश्च

कोई मृगलोचना पतिके गलेमें भुजबन्धन डाल नेत्रोंके बन्द होनेसे गिरती-पड़ती मार्गमें इस प्रकार जा रही थी मानो कामसे होने वाली अन्धताको ही प्रकट कर रही हो ॥१०॥ वन जाने वाली मृगलोचनाओंके नूपुर और हस्तकंकणोंके शब्दसे मिश्रित रत्नमयी किंकिणिकाओं का जैसा-जैसा शब्द होता था वैसा-वैसा ही कामदेव उनके आगे नृत्य करता जाता था ॥११॥ हे तन्वि ! तेरी भृकुटी रूप लता बार-बार ऊपर उठ रही है और ओष्ठ रूप पल्लव भी काँप रहा है इससे जान पड़ता है कि तेरे हृदयमें मुसकान रूप पुष्पको नष्ट करने वाला मान रूप वायु बढ़ रहा है ॥१२॥ हे मृगनयनि ! इस समय, जो कि संसारके समस्त प्राणियोंको आनन्द करने वाला है, तू ने व्यर्थ कलह कर रखी । मानवती स्त्रियोंको अभिमान सदा सुलभ रहता है परन्तु यह ऋतुओंका क्रम दुर्लभ होता है ॥१३॥ पतिसे किसी अन्य स्त्रीके विषयमें अपराध बन पड़ा है—इस निर्हेतुक बातसे ही तेरा मन व्याकुल हो रहा है । पर हे भामिनि ! यह निश्चित समझ कि परस्पर उन्नतिको प्राप्त हुआ प्रेम अस्थानमें भी भय देखने लगता है ॥१४॥ अन्य स्त्रीमें प्रेम करने वाले पतिमें जो तूने अपराधका

न्नतौ यौस्तनौ गुच्छाविव पुष्पस्तबकाविव ताभ्यां लाञ्छिता सहिता मृगाक्षी, उच्चैर्भवा उच्चैस्तना ये गुच्छाः पुष्पस्तबकास्तैर्लाञ्छिता सहिता लता । उद्यंश्चासौ तरुणश्च युवा चेत्युद्यत्तरुणस्तेनावलम्बिता धृता मृगाक्षी, उद्यंश्चासौ तरुश्चेत्युद्यत्तरुर्वर्धमानवृक्षस्तेनावलम्बिताश्रिता लता । श्लिष्टोपमालंकारः ॥८॥

१. मन्मथम् छ० । २. अवैम म० छ० । ३. पुष्पपातनो छ० ।

अपास्तपीयूषमयूखशोभया प्रभातकान्त्येव वियुक्तया त्वया ।
अनुज्झितस्नेहभरः स संप्रति प्रपद्यते दीप इवाभिपाण्डुताम् ॥१६॥
कृतेर्ष्ययेव त्वयि दत्तचेतसो गतं क्षुधेव क्वचिदस्य निद्रया ।
मुखस्य ते दास्यमिवागतोऽधुना शशी स शीतोऽपि ददाह तद्वपुः ॥१७॥
ध्रुवं वियोगे कुसुमेषुमार्गणैस्तवापि भिन्नं हृदयं विभाव्यते ।
अमी समुल्लासितसारसौरभाः स्फुरन्ति निःश्वाससमीरणाः कुतः ॥१८॥
तदस्तु सन्धिर्युवयोः प्रसीद नः प्रतप्तयोरायसपिण्डयोरिव ।
सखीभिरित्थं गदितानुकूलयांचकार कान्तं किल कापि कामिनी ॥१९॥
[सप्तभिः कुलकम्]

विभिद्य मानं कलकोकिलस्वने मनोऽनुरागं मिथुनेषु तन्वति ।
कुतूहलादेव स केवलं तदा धनुर्धुनीते स्म जगज्जयी स्मरः ॥२०॥
त्रिनेत्रसंग्रामभरे पलायितः स्मरस्य विश्वासपदं कथं मधुः ।
उमार्पितप्रत्यय एष मन्यते विलासिनीर्जीवितदानपण्डिताः ॥२१॥

पृष्ठतः पुरतः पार्श्वतः सर्वतो वा त्वामग्रस्थितां पश्यति स कथमन्यामभिसरति ॥१५॥ अपास्तेति— हे तन्वि। साम्प्रतं निरपराधवाधितस्त्वत्प्रियो विरहवेदनावशात्पाण्डुरतामापद्यते जितचन्द्रश्रिया त्वया विमुक्तोऽक्षीण-प्रेमानुबन्धः। यथा प्रभातेऽरुणच्छायया दीपः पाण्डुरतां याति ॥१६॥ कृतेर्ष्येति —अस्य निद्रया क्वचित्पलाय्य गतम्। किंविशिष्टस्य। त्वयि दत्तचित्तस्य। अतश्च कृतकोपयेव। न केवलं निद्रया तथैव तव सापत्न्याद् बुभुक्षयापि। अयं च चन्द्रः पीयूषकिरणोऽपि त्वन्मुखकर्मकर इव तद्देहमधाक्षीत् ॥१७॥ ध्रुवमिति— निश्चितमहमेवं मन्ये तद्विरहे कामकाण्डैस्तवापि हृदयं विदारितं कामपुष्पबाणास्तव हृदये प्रविश्य शल्यवत् स्थिताः। अन्यथा पद्मसौरभशालिनो निःश्वासवाताः कुतो निर्यान्ति ॥१८॥ तदिति—ततश्चण्डि ! विरह-तप्तयोर्युवयोस्तप्तलोहखण्डयोरिव संधानमस्तु इत्यस्माकं प्रसादः क्रियतामिति सोपरोधं प्रियसखीभिरनुनीता काचित्कामिनी मनस्विनी प्राणनाथमभिजगाम ॥१९॥ विभिद्येति— तदा स्त्रैणेषु पौंस्नेषु च पुंस्कोकिलकूजिते मनोऽनुरागं तन्वाने कामकोदण्डकार्यं कृतमेव कामस्तु केवलं धनुरास्फालनकौतुकात् धुनीते टणत्कारयति प्रत्यञ्चा-माकर्षतीत्यर्थः ॥२०॥ त्रिनेत्रेति—अयं वसन्तः कामस्य कथं नाम विश्वासस्थानं स्यात् यतोऽसौ शङ्कर-

चिह्न देखा है वह तेरा निरा भ्रम है क्योंकि जो स्नेहसे तुझे सब ओर देखा करता है वह तेरे विरुद्ध आचरण कैसे कर सकता है? ॥१५॥ जिस प्रकार स्नेह—तेलसे भरा हुआ दीपक चन्द्रमाकी शोभाको दूर करने वाली प्रातःकालकी सुषमासे सफेदीको प्राप्त हो जाता है—निष्प्रभ हो जाता है उसी प्रकार स्नेह—प्रेमसे भरा हुआ तेरा वल्लभ भी चन्द्रमा-की शोभाको तिरस्कृत करने वाली तुझ दूरवर्तिनीसे सफेद हो रहा है—विरहसे पाण्डुवर्ण हो रहा है ॥१६॥ उसने अपना चित्त तुझे दे रखा है इस ईर्ष्यासे ही मानो उसकी भूख और निद्रा कहीं चली गयी है और यह चन्द्रमा शीतल होने पर भी मानो तुम्हारे मुखकी दासताको प्राप्त हो कर ही निरन्तर उसके शरीरको जलाता रहता है ॥१७॥ मालूम होता है उसके वियोगमें तुम्हारा हृदय भी तो कामके बाणोंसे खण्डित हो चुका है अन्यथा श्रेष्ठ सुगन्धिको प्रकट करने वाले ये निःश्वासके पवन क्यों निकलते? ॥१८॥ अतः मुझ पर प्रसन्न होओ और संतप्त लोहपिण्डोंकी तरह तुम दोनोंका मेल हो—इस प्रकार सखियों द्वारा प्रार्थित किसी स्त्रीने अपने पतिको अनुकूल किया था—कृत्रिम कलह छोड़ उसे स्वीकृत किया था ॥१९॥ उस समय जब कि कोयलकी मीठी कूक मान नष्ट कर स्त्री-पुरुषोंका मानसिक अनुराग बढ़ा रही थी तब जगद्विजयी कामदेव केवल कौतुकसे ही धनुष हिला रहा था ॥२०॥ महादेवजीके युद्धके समय भागा हुआ वसन्त कामदेवका विश्वासपात्र कैसे

विवर्णतां लोकबहिस्स्थितिं पिका मधुं प्रभुद्रोहिणमाश्रिता ययुः ।
नतभ्रुवां पादयुगस्य पङ्कजं समाश्रितच्छायमभूत्पदं श्रियः ॥२२॥

तरून्निषङ्गानिव बिभ्रतामुना स्मरस्य पौष्पाः कति नार्पिताः शराः ।
परं तथाप्येष जगज्जये वधूकटाक्षमेवेषुममन्यत क्षमम् ॥२३॥

वसन्तलीलामलयानिलादिभिः समं मनोभूः समयेन युज्यते ।
निरन्तरं तस्य समस्तदिग्जये सहायभावं सुदृशो वितन्वते ॥२४॥

इति प्रसङ्गादुपलालितां[1] प्रियैः स्वशक्तिमाकर्ण्य मधुप्रधर्षिणीम् ।
स्वरूपगर्वोद्धुरकन्धराः स्खलत्पदप्रचारं पथि जग्मुरङ्गनाः ॥२५॥
[पञ्चभिः कुलकम्]

प्रभोदयाह्लादितलोकलोचनो विलासिनीभिः परिवारितस्ततः ।
शशीव ताराभिरलंकृतो घनं वनं विवेशोत्तरकोसलेश्वरः ॥२६॥

संग्रामकाले काममोचं प्रणष्टः परमेताः कामिन्यो जीवितदानसमर्था इति कामो मन्यते यतोऽसावुमार्पितप्रत्ययो गौरीदृष्टप्रत्ययः । गौरीविवाहे पुनर्जीवित इत्यर्थः ॥२१॥ विवर्णतामिति—ततः शिवसंग्रामपलायितं वसन्तं स्मरस्वामिद्रोहकं ये कोकिलाः सेवन्ते ते सर्वलोकनिन्दितां कृष्णतामापुः । यानि तु स्मरप्रत्युज्जीविनीनां विलासिनीनां चरणकमलच्छायामाश्रितवन्ति पङ्कजानि तानि सर्वलोकप्रतीतां लक्ष्मीस्थानतां जग्मुः ॥२२॥ तरूनिति—अमुना वसन्तेनानुनयचाटुकोटिं कुर्वता सहकारप्रभृतिवृक्षान् भस्त्रकानिव धारयता कति पुष्पबाणा न प्राभृतीकृताः परं तथापि पूर्वप्रधट्टकस्मरणाज्जगज्जये वाणिनीतीक्ष्णकटाक्षभल्लिमेवामोघं शस्त्रं मन्यते ॥२३॥ वसन्तेति—वसन्तलीलया मलयानिलेन कोकिलकूजितैः सहकारमञ्जरीभिरन्यैरपि रसोद्रेककारकैः कामः काले परिवार्यते सर्वदा तु लोकजये सहायतां मृगाक्ष्य एवापद्यन्ते ॥२४॥ इतीति—इति प्रसङ्गवदन्तीगोचरागतामात्मप्रभावशक्तिं सहचरैरुपवर्ण्यमाना श्रुत्वा मार्गे जग्मुः ॥२५॥ प्रभेति—तदा प्रभासफलीकृतजननयनो वारवनिताभिः परिवारितस्ताराभिरिव चन्द्र उत्तरकोसलदेशाधिपः सान्द्रं वनं मेघमिव प्राविक्षत् ॥२६॥ गिरीशेति—गिरौ पर्वते ईशः गिरीशस्तस्य लीलावन वनमिति लोकोक्तेस्त्रिनयनानलदाहभीषितो लावण्यामृतकुम्भयोरिव कान्तास्तनयोः प्रतीकारहेतुत्वात्समीपं स्मरो न मुञ्चति । पक्षे गिरीशः पर्वतेशः

हो सकता था । हाँ, पार्वतीका विश्वास प्राप्त कर वह स्त्रियोंको अपना जीवन प्रदान करनेमें पण्डित मानता है ॥२१॥ स्वामिद्रोही वसन्तका आश्रय करनेवाली कोकिलाएँ विवर्णता—वर्णराहित्य [पक्षमें कृष्णता] और लोक बहिष्कार [पक्षमें वनवास] को प्राप्त हुईं तथा स्वामिभक्त स्त्रियोंके चरण युगलकी छायाको प्राप्त कमल लक्ष्मीका स्थान बन गया ॥२२॥ तरकसोंकी तरह वृक्षोंको धारण करने वाले इस वसन्तने कामदेवके लिए कितने फूलोंके बाण नहीं दिये ? फिर भी यह जगत्‌के जीतनेमें स्त्रीके कटाक्षको ही समर्थ बाण मानता है ॥२३॥ कामदेव, वसन्त क्रीड़ा और मलयसमीर आदिके साथ आचारमात्रसे अथवा तत्तत्समय पर ही मेल रखता है यथार्थमें तो समस्त दिग्विजयके समय स्त्रियाँ ही उसकी निरन्तर सहायता करती हैं ॥२४॥ इस प्रकार स्त्रियाँ, प्रकरणवश पतियों द्वारा प्रशंसित वसन्तका तिरस्कार करने वाली अपनी शक्तिको सुन सौन्दर्यके गर्वसे गर्दन ऊँची उठाती हुई लड़खड़ाते पैरोंसे मार्गमें जा रही थीं ॥२५॥ कान्तिके उदयसे मनुष्योंके नेत्रोंको आनन्दित करने वाले एवं विलासिनी-स्त्रियोंसे घिरे उत्तर कोसलाधिपति भगवान् धर्मनाथने वनमें इस प्रकार प्रवेश

१. दुपलालिता: म० घ० ।

२५

गिरीशलीलावनमित्युपश्रुतेर्भ्रमन्निह प्लोषभयादिव स्मरः ।
न कान्तिपीयूषनिधानकुम्भयोर्मुमोच कान्ताकुचयोरुपान्तिकम् ॥२७॥
[1]ध्रुवं त्रिनेत्रानलदाहतः प्रभृत्युदर्चिषि द्वेषमुपागतः स्मरः ।
यदत्र सान्द्रद्रुमदीर्घदुर्दिने वने निवासैकरसो बभूव सः ॥२८॥
इहाबभौ मारुतधूतकेतकी परागपांसुप्रकरः समन्ततः ।
अनङ्गदावानलमीलितात्मनां वियोगभाजामिव भस्मसञ्चयः ॥२९॥
इतस्ततः कज्जलकोमला दधौ पुरो भ्रमन्ती भ्रमराङ्गनावलिः ।
जगज्जिगीषोर्विषमेषुभूभुजः कराग्रवल्गन्निशितासिविभ्रमम् ॥३०॥
विजित्य बाणैर्मदनस्य कुर्वतः समस्तमेकातपवारणं जगत् ।
अभङ्गुरां षट्पदवन्दिनो वने जगुस्तदानीं विरुदावलीमिव ॥३१॥
परागपुञ्जा यदि पुष्पजा अमी न पांसुतल्पाः स्मरमत्तदन्तिनः ।
अलिच्छलात्पान्थवधाय धावतः कथं तदन्तस्त्रुटितांह्रिशृङ्खला[2] ॥३२॥

॥२७॥ [ध्रुवमिति—यत् यस्मात्कारणात् स्मरो मदनो महादेवस्य ललाटलोचनाग्निदाहादारभ्य उद्गतज्वालाके तेजस्विनी पदार्थे द्वेषम् उपागत इति ध्रुवमुत्प्रेक्षायां ततः स सान्द्रद्रुमैः सघनतरुभिर्दीर्घं बहुदिनव्याप्यं दुर्दिनं मेघाच्छादितदिवसो यस्मिन् तथाभूतेऽत्र वने कान्तारे निवासैकरतो निवासैकतत्परो बभूव[3] ॥२८॥] इहेति—इह पवनोद्धूतः सर्वतः कैतकपरागपांसुप्रकरः शुशुभे कामाग्निदग्धानां विरहिणां चिताभसितराशिरिव ॥२९॥ इतस्तत इति—कज्जलश्यामला भ्रमरश्रेणी वलान्ती विभाव्यते रतिपतिनृपतेः खड्गलतेव ॥३०॥ विजित्येति—कामस्य निजपुष्पबाणैर्जगद्वशवर्ति कुर्वतो भ्रमरा मङ्गलपाठका इवास्खलितां यथार्थां विरुदावलीं जयप्रघट्टकश्रेणीं पेठुः ॥३१॥ परागेति—यद्येते मकरन्दसन्दोहाः स्मरस्य मत्तहस्तिनः पांसुतल्पाः शय्यानिभा न भवन्ति ततः कथमेषा मधुपावलिः पान्थवधाय प्रवरीवृत्यमानस्यास्य त्रुटिता त्रिवली

किया जिस प्रकार कि ताराओंसे अलंकृत चन्द्रमा मेघमें प्रवेश करता है ॥२६॥ यह गिरीश—महादेवजीका [पक्षमें भगवान् धर्मनाथका] क्रीडावन है ऐसा सुननेसे वहाँ घूमता हुआ कामदेव मानो दाहके भयसे ही कान्तिरूप अमृतके कोश-कलशके समान सुशोभित स्त्रियोंके स्तनोंका सन्निधान नहीं छोड़ रहा था ॥२७॥ ऐसा जान पड़ता है कि कामदेव जबसे महादेवजीके नेत्रानलसे जला तबसे प्रज्वलित अग्निमें द्वेष रखने लगा था। यही कारण है कि वह सघन वृक्षोंसे जिसमें सदा दुर्दिन बना रहता है ऐसे इस वनमें निवास करनेका प्रेमी हो गया था ॥२८॥ इस वनमें जो सब ओर वायुके द्वारा कम्पित केतकी परागरूपी धूलका समूह उड़ रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो कामरूप दावानलसे जले विरही मनुष्योंकी भस्मका समूह ही हो ॥२९॥ इधर-उधर घूमती कज्जलके समान काली भ्रमरियोंकी पंक्ति जगद्विजयी मदन महाराजके हाथमें लपलपाती पैनी तलवारका भ्रम धारण कर रही थी। ॥३०॥ उस समय वनमें ऐसा जान पड़ता था मानो भ्रमररूपी चारण बाणोंके द्वारा समस्त संसारको जीत एकच्छत्र करनेवाले कामभूपालकी मानो अविनाशी विरुदावली ही गा रहे हों ॥३१॥ यदि यह परागके समूह फूलोंके हैं, कामरूप मत्त हस्तीके धूलिमय विस्तर नहीं हैं तो यह भ्रमरोंके बहाने, पथिकोंको मारनेके लिए दौड़नेवाले उस हाथीकी पादशृंखला—

१. टीकायां सप्तविंशतितमश्लोकव्याख्यानन्तरम् 'अग्रेतनश्लोकद्वयं सुगमम्' अष्टाविंशतितमस्य श्लोकस्य व्याख्या न प्रदत्ता। एकोनत्रिंशत्तमस्य तु संक्षेपेण प्रदत्ता। २. ताङ्घ्रिशृङ्खला म० घ०। ३. टीकेयं सम्पादकेन मेलिता।

दददत्प्रवालौष्ठमुपात्तयौवनो मधुः प्रसूनांशुककर्षणोत्सुकः ।
लतावधूनामिह संगमे जनैरदर्शि कूजन्निव कोकिलस्वनैः ॥३३॥
शिखण्डिनां ताण्डवमत्र वीक्षितुं तवास्ति चेच्चेतसि तन्वि कौतुकम् ।
समाल्यमुद्दामनितम्बचुम्बिनं सुकेशि तत्संवृणु केशसञ्चयम् ॥३४॥
[षड्भिः संबन्धः]

जलेषु ते वक्त्रसरोजनिर्जितो जनैः स्फुटच्चारुसरोरुहाकरः ।
अदर्शि सव्रीड इवोदरे क्षिपन् कृपाणपुत्रीमिव षट्पदावलिम् ॥३५॥
सविभ्रमं वीक्ष्य तवेक्षणद्वयं गतं च वाचालितरत्ननूपुरम् ।
महोत्पलैर्वारि निमीलितं दिवि ह्रियेव हंसैश्च पलायितं जवात् ॥३६॥
यदि स्फुरिष्यन्ति तवाधरद्युतेः पुरः कियत्कालमशोकपल्लवाः ।
तदाधिगम्यान्तरमुद्यतत्रपा ध्रुवं गमिष्यन्ति विवर्णताममी ॥३७॥
भव क्षणं चण्डि वियोगिनीजने दयालुरुन्मुद्रय सुन्दरीं गिरम् ।
अमी हताशाः प्रथयन्तु मूकतां कृतान्तदूता इव लज्जिताः[2] पिकाः ॥३८॥

लक्ष्यते ॥३२॥ दददिति—जनैर्लतावधूसंगमे वसन्तः कोकिलकूजितैः कूजन्निव दृष्टः । प्रवाल एव ओष्ठः प्रवालौष्ठस्तं ददानः । पुष्पपटाकर्षणोत्सुकः ॥३३॥ शिखण्डिनामिति—हे तन्वि ! यदि तव मयूरताण्डवावलोकने कौतुकमस्ति तदा पञ्चवर्णपुष्पमालां कबरीं तिरोहितां विधेहि । तव कबरीं पश्यन् निजपिच्छावचूलेन लज्जमानो मयूरो नीचैः पलायते ॥३४॥ जलेष्विति—तव वदननिर्जितो विकसन् कमलाकरो निवारणभयाज्जलेषु प्रविश्य भ्रमरश्रेणीव्याजात्क्षुरिकामिव कुक्षौ निक्षिपन् दृश्यते ॥३५॥ सविभ्रममिति—हे तन्वि ! अनेकविभ्रमनिधानं तव लोचनद्वयं गमनञ्च रणज्झणितरत्ननूपुरं दृष्ट्वा लज्जमानैर्नीलोत्पलैः सलिले निमग्नं हंसैश्च गगने समुड्डीय गतम् । नीलोत्पलानां विभ्रमाभावाद्राजहंसानाञ्च तादृग्मनोहरशब्दाभावाल्लज्जास्थानम् ॥३६॥ यदीति—यद्यमी अशोकपल्लवास्तव बिम्बाधरस्य पुरतः कियत्कालं स्फुरिष्यन्ति तदात्मपरविभागं त्रोटनं वा लब्ध्वा मलिनतां यास्यन्ति ॥३७॥ भवेति—दुःखानुनेया नारी चण्डी । हे चण्डि ! यदि न मां प्रति दयार्द्रासि तदा विरहिणीजने दयां कुरु । किं करोमीत्याह—समुच्चर सुधाक्षरां वाणीं यतोऽमी विरहमर्मभेदकुठाराः कोकिला मौनीभवन्ति यमकिङ्करा इव ॥३८॥

पैरोंकी जंजीर बीचमें ही क्यों टूट जाती ? ॥३२॥ पल्लव रूपी ओठको देता और पुष्परूपी वस्त्रको खींचनेमें उत्सुक तरुण वसन्त ऐसा दिखाई देता था मानो कोयलकी कूकके बहाने लतारूप स्त्रियोंके समागमके समय हर्षसे शब्द ही कर रहा हो ॥३३॥ हे तन्वि ! यदि तेरे चित्तमें यहाँ मयूरोंका ताण्डव नृत्य देखनेका कौतुक है तो हे सुकेशि ! स्थूल नितम्बका चुम्बन करनेवाले इन मालाओं सहित केश-समूहको ढँक ले ॥३४॥ जलमें खिला हुआ सुन्दर कमलोंका समूह तेरे मुख कमलसे पराजित हो गया था इसलिए वह लज्जित हो अपने पेट-में भ्रमरावली रूप छुरीको भोंकता हुआ सा दिखाई देता था ॥३५॥ तेरे विलासपूर्ण नेत्रोंका युगल देख नीलकमल लज्जासे पानीमें जा डूबे और जिसमें मणिमय नूपुर शब्द कर रहे हैं ऐसा तेरा गमन देख हंस लज्जासे शीघ्र ही आकाशमें भाग गये ॥३६॥ यदि यह अशोकके पल्लव तेरे ओष्ठके कान्तिके आगे कुछ समय तक प्रकाशमान रहेंगे तो अन्तर समझ कर लज्जित हो अवश्य ही विवर्णताको प्राप्त हो जायेंगे ॥३७॥ हे चण्डि ! क्षण भरके लिए वियोगिनी स्त्रियोंपर दयालु हो जा और अपनी सुन्दर वाणी प्रकट कर दे जिससे यमराजके

१. गत्यान्तर घ० म० । २. लक्षिताः घ० म० ।

उदीरयन्नित्यमृतप्रपां गिरं विचित्रचाटूक्तिविचक्षणः क्षणात् ।
प्रसर्पदानन्दतिरोहितक्रुधं चकार कश्चित्तरुणो मनस्विनीम् ॥३९॥ [कुलकम्]
अगोचरं चण्डरुचेरपि द्युतां निकुञ्जलीलासदनेषु पुञ्जितम् ।
प्रभाभिरुद्भासितवीरुधस्तमो विनिन्यिरे भङ्गमनङ्गदीपिकाः ॥४०॥
परिभ्रमन्त्यः कुसुमोच्चिचीषया विरेजिरे तत्र सरोजलोचनाः ।
जिनेन्द्रमभ्यर्चयितुं सपर्यया कृतप्रयत्ना वनदेवता इव ॥४१॥
उदग्रशाखाकुसुमार्थमुद्भुजा व्युदस्य पार्ष्णिद्वयमञ्चितोदरी ।
नितम्बभूस्रस्तदुकूलबन्धना नितम्बिनी कस्य चकार नोत्सवम् ॥४२॥
करैः प्रवालान्कुसुमानि लोचनैर्नखांशुभिस्तत्र विजित्य मञ्जरीः ।
वधूजनस्यास्य जिघृक्षतो [1]भयात् किलाचकम्पे पवनाहतं वनम् ॥४३॥
प्रमत्तकान्ताकरसंगमादपि [2]सदागमाभ्यासरसोज्ज्वला अपि ।
क्षणान्निपेतुः सुमनोगणा यतो ह्रियेव विच्छायमभूत्ततो [3]वनम् ॥४४॥

उदीरयन्निति—इति पीयूषप्रपां चाटुवचनरचनां समुच्चरन् आविर्भवत्प्रमोदरसः ग्लपितकोपां कश्चित्काञ्चित्कामुकः कामिनीं कृतवान् ॥३९॥ अगोचरमिति—यद् ध्वान्तं रविकिरणानामपि दुःसाध्यं तन्निविडलतागृहमध्यगमनङ्गदीपिका निजतेजोभिर्निरासुः । (कथंभूतास्ताः) द्योतितलताः ॥४०॥ परीति—तत्र पुष्पावचयाय हेतवे इतस्ततो भ्रमन्त्यः शतपत्रपत्रनेत्राः शुशुभिरे जिनपूजनाय प्रत्यक्षीभूतवनदेवता वा ॥४१॥ उदग्रेति—उच्चशाखापुष्पग्रहणार्थं नितम्बिनी काचिदूर्ध्वीकृतभुजा ततश्च दृश्यमानबाहुमूला पार्ष्णिद्वयमुत्पाद्यांह्रिभारेण स्थित्वा अञ्चितोदरी सरलितोदरी भग्नवलीका ततश्च दृश्यमाननाभिमूला नितम्बबिम्बात् सरलितोदरशिथिलत्वेन स्रस्तान्तरीया । एवं सती कस्य यूनो नयनोत्सवाय नाभूत् ? ॥४२॥ करैरिति—अस्य विलासिनीजनस्य भयेन पवनान्दोलितं सद्वनं चकम्पे । किं चिकीर्षोः । आदित्सोः । किं कृत्वा । विजित्य । कैः कान् विजित्येत्याह—कोमलारुणैः करैः पल्लवान्, कुसुमानि लोचनैः, नखकिरणैः कोमलवल्लरीरिति । पल्लवकरयोः कुसुमसुदृशोरुपमानोपमेयभावो नखांशुमञ्जर्योश्च ॥४३॥ प्रमत्तेति—वाणिनीकराकर्षणादमी सुमनोगणाः पुष्पसमूहाः सदा वृक्षलक्ष्मीसमीपभावशोभिता अपि यन्निपतितास्ततो

दूतोंके समान ये दुष्ट कोयल लज्जित हो चुप हो जायें ॥३८॥ इस प्रकार अनेक तरहके चाटुवचन कहनेमें निपुण किसी तरुण पुरुषने अमृतकी प्याऊके तुल्य मीठे-मीठे वचन कह अपनी मानवती प्रियाको क्षणभरमें बढ़ते हुए आनन्दसे क्रोध रहित कर दिया ॥३९॥ लतागृह रूप क्रीडाभवनोंमें सञ्चित एवं सूर्यकी भी किरणोंके अगोचर अन्धकारको अपनी प्रभाओंके द्वारा लताओंको आलोकित करनेवाली, कामदीपिकाओंने क्षणभरमें नष्ट कर दिया था ॥४०॥ फूल तोड़नेकी इच्छासे इधर-उधर घूमती हुई कमलनयना स्त्रियाँ पूजा द्वारा जिनेन्द्रदेवकी अर्चा करनेके लिए प्रयत्नशील वनदेवियोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥४१॥ ऊँची डाली पर लगे फूलके लिए जिसने दोनों एड़ियाँ उठा अपनी भुजाएँ ऊपर की थीं परन्तु बीच ही में पेटके पुलख जानेसे जिसके नितम्ब स्थलका वस्त्र खुलकर नीचे गिर गया था ऐसी स्थूल नितम्ब वाली स्त्रीने किसे आनन्दित नहीं किया था ? ॥४२॥ उस समय वन पवनसे ताडित हो कम्पित हो रहा था, अतः ऐसा जान पड़ता मानो हाथोंसे पल्लवोंको, नेत्रोंसे फूलोंको और नखोंकी किरणोंसे मंजरियोंको जीत, ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाली स्त्रियोंके भयसे ही मानो काँप उठा हो ॥४३॥ चूँकि सदा आगमाभ्यास रूप रससे उज्ज्वल रहनेवाले [प्रकृतमें

---

१. भिया च० । २. सदा सर्वदा अगानां वृक्षाणां मायां लक्ष्म्या अभ्यासरसेन उज्ज्वला निर्मला अपि ।
३. पक्षे ततो + अवनमितिच्छेदः ।

किमन्यदन्ये पिकपञ्चमादयो यशांसि पुण्यैरलभन्त सेवकाः ।
समर्थ्यते कार्यमनङ्गभूपतेः पुनस्तदेकेन वसन्तशाखिना[1] ॥४५॥
इतीव काचिन्नवचूतमञ्जरीं प्रियस्य वश्यौषधिमाददे मुदा ।
स्वमेव तद्दर्शनमात्रकर्मणा विवेद मुग्धा न वशीकृतं पुरा ॥४६॥
लताग्रदोलाञ्चनलीलया मुहुर्नतोन्नतस्फारनितम्बमण्डला ।
श्रमं प्रचक्रे पुरुषायितक्रिया [2]प्रकर्षहेतोरिव कापि कामिनी ॥४७॥
स्वमूर्ध्नि चूडामणिरश्मिकार्मुके निवेशयन्ती नवनीपगोलकम् ।
पिकाय मर्मव्यथकाय कानने निबद्धलक्ष्येव[3] वधूरलक्ष्यत ॥४८॥
कयाचिदुज्जृम्भितचारुचम्पकप्रसूनमाला जगृहे न पाणिना ।
स्मरान्तकग्रस्तवियोगिनीच्युतां विडम्बयन्ती कलधौतमेखलाम् ॥४९॥
उदग्रशाखाञ्चनचञ्चलाङ्गुलेर्भुजस्य मूलं स्पृशति प्रिये छलात् ।
स्मितं वधूनामिव वीक्ष्य सत्रपैरमुच्यतात्मा कुसुमैर्द्रुमाग्रतः ॥५०॥

लज्जयेव गुरुस्थानं वनं निःश्रीकं बभूव । अथ चोक्तिलेशः—ये किल सतामागममभ्यसन्ति सुमनोगणाः सुविचारचेतसस्ते यदि मद्यपकलत्राभिलाषुका भवन्ति । तदा अवनं कुलं समस्तमपि विच्छायं भवति ॥४४॥ किमन्यदिति—एते कोकिलपञ्चमादयः केवलं पुण्यैरेव कामसहाया इति प्रसिद्धिं लेभिरे परं कामविजिगीषोः कार्यं केवलेन मञ्जरितसहकारेणैव साध्यते ॥४५॥ इतीवेति—इति पूर्वोक्तं काचिज्जानन्ती सहकारपुष्पाङ्कुरं प्रियस्य वश्यगुटिकामिवाददौ जग्राह परं सा मुग्धा तस्य चूतपुष्पस्य दर्शनमात्रेणात्मानं वशीकृतं प्रथमत एव नाज्ञासीत्[4] ॥४६॥ लताग्रेति—काचिद्दोलया नीचैरुच्चैः क्रीडन्ती गमनागमनेन परिणाहिनितम्बेन कर्कशविपरीतरताभ्यासमिवाकार्षीत् ॥४७॥ स्वेति—काचिन्निजमस्तकचूडामणिकिरणैः समुत्पादितेन्द्रायुधे नीपपुष्पगोलकं मध्ये स्थापयन्ती मर्मोच्छेदकाय पिकाय संहितगोलकधनुष्किकेवादृश्यत ॥४८॥ कयाचिदिति—कयाचिन्मुग्धया चञ्चच्चारुचम्पकमालाहस्तेन न संजगृहे कामकवलितविरहिणीजननितम्बभ्रष्टस्वर्णमेखलाशङ्कया ॥४९॥ उदग्रेति—उदग्रशाखाकर्षणचञ्चलाङ्गुलीकस्य बाहोर्मूलं स्पृशति प्रियतमे

सदा वृक्षोंकी शोभाके अभ्यास रससे प्रकाशमान रहनेवाले] सुमनोगण—विद्वानोंके समूह भी [प्रकृतमें पुष्पोंके समूह भी] प्रमत्त स्त्रियोंके हाथोंके समागमसे क्षण भरमें पतित हो गये [प्रकृतमें-नीचे आ गिरे] अतः वह वन लज्जासे ही मानो कान्तिहीन हो गया था ॥४४॥ और क्या ? यह कोयलका पंचम स्वर आदि अन्य सेवक पुण्यसे ही यश प्राप्त करते हैं परन्तु कामदेव रूप राजाका कार्य उसी एक आम्र वृक्षके द्वारा सिद्ध होता है ॥४५॥ यह विचार किसी स्त्रीने पतिको वश करनेवाली ओषधिके समान आमकी नयी मंजरी बड़े आनन्दसे धारण की । परन्तु उस भोलीने यह नहीं जाना कि इनके दर्शन मात्रसे मैं स्वयं पहलेसे ही इनके वश हो चुकी हूँ ॥४६॥ कोई एक स्त्री लताओंके अग्रभागसे झूला झूल रही थी, झूलते समय उसके स्थूल नितम्बमण्डल बार-बार नत-उन्नत हो रहे थे जिससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो पुरुषायित क्रियाको बढ़ानेके लिए परिश्रम ही कर रही हो ॥४७॥ कोई एक स्त्री चूडामणिकी किरण रूप धनुषसे युक्त अपने मस्तकपर कदम्बके फूलका नवीन गोलक धारण कर रही थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो वनमें मर्मभेदी कोयलके लिए उसने निशाना ही बाँध रखा हो ॥४८॥ किसी स्त्रीने खिले हुए चम्पेके सुन्दर फूलोंकी मालाको इस कारण अपने हाथसे नहीं उठाया था कि वह कामदेव रूप यमराजके द्वारा ग्रस्त बिरहिणी स्त्रीकी गिरी हुई स्वर्ण-मेखलाकी विडम्बना कर रही थी—उसके समान जान पड़ती थी ॥४९॥ किसी

---

१. वसन्तशालिना क० । २. प्रहर्ष छ० । ३. लक्षेव, क० । ४. म पुस्तके ४५–४६ तमौ श्लोकौ युग्मत्वेन मुद्रितौ ।

मिथःप्रदत्तैर्नवपुष्पदामभिर्बभुस्तदानीं मिथुनानि सर्वतः ।
अवन्ध्यपातप्रसरैः प्रकोपतश्चितानि बाणैरिव पुष्पधन्वना ॥५१॥
विपक्षनामापि कुरङ्गचक्षुषां बभूव मन्त्रो ध्रुवमाभिचारिकः ।
प्रियैस्तदुच्चारणपूर्वमर्पिता प्रसूनमाला यदियाय वज्रताम् ॥५२॥
रतावसाने लतिकागृहाद्वधूर्विनिर्यतीः स्विन्नकपोलमण्डलाः ।
प्रवीजयन्ति स्म समीरणेरितैः प्रवाललीलाव्यजनैर्महीरुहाः ॥५३॥
स्रजो विचित्रा हृदि जीवितेश्वरैः समाहिताश्चारुचकोरचक्षुषाम् ।
तदन्तरेऽन्तर्विशतो मनोभुवश्चकासिरे वन्दनमालिका इव ॥५४॥
स्मितं विलासस्य कटाक्षविभ्रमं रतेरनङ्गस्य सुधारसच्छटाः ।
यशांसि तारुण्यनृपस्य मेनिरे विलासिनीनां शिरसि स्रजो जनाः ॥५५॥
प्रसूनशून्येऽपि तदर्थिनी तरौ नियोजयन्ती करपल्लवं मुहुः ।
निरीक्षणात्पत्युरनङ्गविह्वला स्मितं सखीनां विदधे सुलोचना ॥५६॥

कक्षायां पञ्चाङ्गुलीकं ददाने वधूनां हास्यमवलोक्य सलज्जैरिव वृक्षेभ्यः पुष्पैरपाति । पुष्पेभ्यो हासो मनोहर इत्यर्थः ॥५०॥ मिथ इति—परस्परं पुष्पमालामण्डितानि मिथुनानि रेजिरे अमोघैः कामशरसंघातैः पूरितानीव ॥५१॥ विपक्षेति—तदा मृक्षाक्षीणां सपत्नीनामापि मारणमन्त्रो बभूव यत्प्रियतमैः सपत्नीनामग्राहपूर्वकं प्रदत्ता माला वज्रघाततुल्यतां जगाम ॥५२॥ रतेति—सुरतावसाने श्रमार्ता विलासिनीर्लतागृहान्निर्यान्तीः पल्लवव्यजनैर्वृक्षा वीजयन्ति ॥५३॥ स्रज इति—मदिरामत्तलोचनानां कामिनीनां हृदये कान्तैः क्षिप्ताः पञ्चवर्णपुष्पमालाः शुशुभिरे तस्मिन् हृदयगृहे मङ्गलप्रवेशे कामस्य तोरणवन्दनमालिका इव ॥५४॥ स्मितमिति—विलासिनीनां शिरसि नवपुष्पमाला जनैर्वितर्किताः । एता माला न भवन्ति किन्तु विलासस्य शृङ्गाररहस्यवैदग्ध्यस्य हास्यमिव । अथवा सुरतलक्ष्म्यास्तीक्ष्णाः कटाक्षविक्षेपपरम्परा एताः । आहोस्विदुग्रदग्धस्य कामस्य जीवनाय पीयूषधाराः । उत चित्रयौवनविजिगीषोः कीर्तिसरा इति शशङ्किरे लोकाः ॥५५॥ प्रसूनेति—काचित्तारतरललोचना कामान्ध्यं नाटयन्ती चुण्टितपुष्पे वृक्षे पुष्पापेक्षया करं प्रसारयन्ती वल्लभ-

स्त्रीने ऊँची डालीको झुकानेके लिए अपनी चंचल अंगुलियोंवाली भुजा ऊपर उठायी ही थी कि पतिने छलसे उसके बाहुमूलमें गुदगुदा दिया। इस क्रियासे स्त्रीको हँसी आ गयी और फूल टूट कर नीचे आ पड़े। उस समय वे फूल, ऐसे जान पड़ते थे मानो स्त्रीकी मुसकान देख लज्जित ही हो गये हों और इसीलिए आत्मघातकी इच्छासे उन्होंने अपने-आपको वृक्षके अग्रभागसे नीचे गिरा दिया हो ॥५०॥ उस समय परस्पर एक-दूसरेकी दी हुई पुष्पमालाओंसे स्त्री-पुरुष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो कामदेवने उन्हें तीव्र कोपसे अपने अव्यर्थ बाणोंके द्वारा ही व्याप्त कर लिया हो ॥५१॥ सपत्नीका नाम भी मृगनयनी स्त्रियोंके लिए मानो आभिचारिक—बलिदानका मन्त्र ही रहा था। यही कारण था कि सपत्नीका नाम लेकर पतियोंके द्वारा दी हुई पुष्पमाला भी उसके लिए वज्र हो रही थी ॥५२॥ संभोगके बाद लतागृहसे बाहर निकलतीं स्वेदयुक्त कपोलोंवाली स्त्रियोंको वृक्ष वायुसे कम्पित पल्लवरूपी पंखोंके द्वारा मानो हवा ही कर रहे थे ॥५३॥ चकोरके समान सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंके वक्षःस्थलपर पतियोंने जो चित्र-विचित्र मालाएँ पहनायी थीं वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उनके भीतर प्रवेश करनेवाले कामदेवकी वन्दनमालाएँ ही हों ॥५४॥ मनुष्योंने स्त्रियोंके मस्तकपर स्थित मालाओंको विलासकी मुस्कान, रतिके कटाक्षोंका विलास, कामदेवकी अमृतरसकी छटा अथवा यौवन रूपी राजाका यश माना था ॥५५॥ कोई एक सुलोचना पतिके देखनेसे कामविह्वल हो गयी थी अतः फूलरहित वृक्षपर भी फूलोंकी इच्छासे बार-बार अपना हस्तरूपी पल्लव डालती

तदा यदासीत्तनुरामणीयकं प्रसूनमालाभरणैर्मृगीदृशाम् ।
अवैति तद्वर्णयितुं तदा स्मरो यदा कवित्वं लभते [1]प्रसादतः ॥५७॥
कृतेऽपि पुष्पावचये समन्ततो लतासु लीलार्पितपाणिपल्लवाः ।
स्फुरन्नखांशुप्रकरेण तत्क्षणं वितेनिरे पुष्पविभङ्गिमङ्गनाः ॥५८॥
प्रसूनलक्ष्मीमपहृत्य गच्छतां वधूजनानां भयलोलचक्षुषाम् ।
वनेन मुक्ता विषमेषुशालिना शिलीमुखास्तत्र निपेतुरन्तिके ॥५९॥
समुल्लसत्संमदवाष्पबिन्दुभिर्निलीयमानैरिव लोचनैर्नृणाम् ।
वपुर्जलार्द्रं श्रमभारभङ्गुरास्तदा वहन्ति स्म कुरङ्गलोचनाः ॥६०॥
शुभ्राम्भोजविशाललोचनयुगोपान्तेषु बिभ्रन्नवां
सद्यः प्रस्फुटशुक्तिसंपुटतटीनिष्क्रान्तमुक्ताकृतिम् ।
मूले च स्तनकुम्भयोरनुकृतश्चोतत्सुधाम्भोलवः
स्त्रीणां जीवितमन्मथः समजनि स्वेदोदबिन्दुव्रजः ॥६१॥
वनान्मकरकेतनप्रणयिनः करोल्लासित—
स्फुरत्कमलकेलयस्तुलितपूर्णचन्दाननाः ।

दर्शनात् कामविह्वला सखीनां हास्याय बभूव ॥५६॥ तदेति—तदा पुष्पावचये पुष्पमालाशालिनीनां तासां वपुषि यत्सौभाग्यभरभङ्गिप्रकर्षो बभूव तं वर्णयितुं काम एव शक्नोति यदि तस्य कविता सहजप्रतिभोद्भासिनी दैवाज्जाघटीति ॥५७॥ कृतेऽपीति—तास्तरुण्यो वञ्चितपल्लवासु लतासु न्यस्तहस्ता नखकिरणैः करशोणिम्ना च तथैव पल्लवपुष्पाञ्जनमकार्षुः ॥५८॥ प्रसूनेति—तदा पुष्पलक्ष्मीमपहृत्य गच्छतां वधूजनानां समीपे भ्रमरा निपतन्ति स्म पुष्पभावाद्वनेन त्यक्ता विषमेषुशालिना सकामेन । यथा केनचिच्चौरपृष्ठलग्नेन विषमेषुशालिना नाराचिकेन मुक्ता बाणास्तस्करसमीपे निपतन्ति ॥५९॥ समुल्लसदिति—तदा प्रमोदवाष्पकरम्बितैर्जननयनैः संगलद्भिरिव श्रमजलार्द्रशरीरं मृगलोचना वहन्ति स्म ॥६०॥ शुभ्रेति—तदा कमलपत्रसदृशेषु लोचनेषु तरलाक्षीणां स्वेदबिन्दवः स्फुटितसिप्रासंपुटस्थितमुक्ता कणसदृशा विरेजुः । स्तनकुम्भयोश्च मूलेऽपि निपतत्पीयूषलव इव जीवितमन्मथ उद्दीपितकामः[2] ॥६१॥ वनादिति—कामप्रेमनिवासात्क्रीडा-

हुई सखियोंको हास्य उत्पन्न कर रही थी ॥५६॥ उस समय पुष्पमाला रूप आभरणोंसे मृगनयनी स्त्रियोंके शरीरमें जो सौन्दर्य उत्पन्न हुआ था, कामदेव ही उसका वर्णन करना जानता है और वह भी तब, जब कि किसीके प्रसादसे कवित्व शक्ति प्राप्त कर ले ॥५७॥ सब ओरसे फूल तोड़ लेनेपर भी लताओंपर लीलापूर्वक हस्तकमल रखनेवाली स्त्रियाँ अपने देदीप्यमान नखोंकी किरणोंके समूहसे क्षणभरके लिए उनपर फूलोंकी शोभा बढ़ा रही थी ॥५८॥ पुष्परूपी लक्ष्मीको हरण कर जाने एवं भीति-चपल नेत्रोंको धारण करनेवाली स्त्रियोंके पास विषमेषु—कामदेव [पक्षमें तीक्ष्ण बाणों] से सुशोभित वनके द्वारा छोड़े हुए शिलीमुख—भ्रमर [पक्षमें बाण] आ पहुँचे ॥५९॥ उस समय परिश्रमके भारसे थकी स्त्रियाँ जलसे आर्द्र शरीरको धारण कर रही थीं और उससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो हर्षाश्रुओंकी बूँदोंसे छलकते हुए पुरुषोंके नेत्र ही शरीरके भीतर लीन हो रहे हों ॥६०॥ उस समय स्त्रियोंके शरीरमें कामदेवको जीवित करनेवाला जो स्वेदजलकी बूँदोंका समूह उत्पन्न हुआ था वह श्वेतकमलके समान विशाल लोचनयुगलके समीप तत्काल फटी हुई सीपके समीप निकले मोतियोंका आकार धारण कर रहा था और स्तनरूप कलशोंके मूलमें झरते हुए अमृतरूपी जलके कणोंका अनुकरण कर रहा था ॥६१॥ जो अपने हाथोंसे विकसित कमलकी क्रीडा प्रकट कर

१. प्रमोदतः च० ज० प्रमादतः छ० ग० । २. शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

अशेषकुसुमोच्चयश्रमजलार्द्रदेहास्ततो
जवाज्जनितविस्मयाः श्रिय इव स्त्रियो निर्ययुः ॥६२॥
तादृक्कान्ताचरणकमलस्पर्शजाग्रत्स्मरस्य
प्रस्वेदाम्बुद्रव इव पुरो विन्ध्यधात्रीधरस्य ।
उद्दामोर्मिप्रसरपुलको धर्मममर्व्यथायां
दृष्टः सैन्यैरसिरिव महान्नर्मदाम्भः प्रवाहः ॥६३॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये पुष्पावचयो नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥

वनात्करधृतक्रीडापद्माश्चन्द्रमुख्यः कुसुमावचये श्रमजलबिन्दुमुक्तास्तवकिताः कामिन्यो विनिर्गताः । यथा वा मकरालयस्य वनात् जलात् करधृतपद्मा सचन्द्रा जलार्द्रा देवदानवजनितक्षोभा लक्ष्मीर्निजगाम[1] ॥६२॥ तादृगिति—तदा पुष्पावचायश्रान्तैर्मिथुनैर्नर्मदाप्रवाहो दृष्टः । सात्त्विकभावप्रस्विन्नस्य विन्ध्याचलस्य स्वेदपूर इव । अथवा तस्यैवभूपते रुत्कटलोलकल्लोलपुलको धर्मव्यथाछेदने श्यामलखङ्ग इव[2] ॥६३॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्त-दीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां द्वादशः सर्गः ॥१२॥

रही हैं, जिन्होंने अपने मुखसे पूर्ण चन्द्रकी तुलना की है और पुष्पावचयके परिश्रमसे जिनका समस्त शरीर पसीनेसे आर्द्र हो रहा है ऐसी स्त्रियाँ लक्ष्मीकी तरह आश्चर्य उत्पन्न करती हुई कामदेवके स्नेही [पक्षमें मकर रूप पताकासे युक्त] वनसे [पक्षमें जलसे] बाहर निकली ॥६२॥ तदनन्तर घामकी मर्मवेधी पीड़ा होनेपर सैनिकोंने बड़ी-बड़ी तरंगोंके समूहसे व्याप्त एवं तलवारके समान उज्ज्वल नर्मदा नदीके जलका वह महाप्रवाह देखा जो कि ऐसा जान पड़ता था मानो उन सुन्दरी स्त्रियोंके चरण कमलोंके स्पर्शसे जिसे कामव्यथा उत्पन्न हो रही है ऐसे विन्ध्याचलके शरीरसे निःसृत स्वेदजलका प्रवाह ही हो ॥६३॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्यमें पुष्पा-वचयका वर्णन करनेवाला बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२॥

१. पृथ्वीच्छन्दः । २. मन्दाक्रान्ताच्छन्दः ।

त्रयोदशः सर्गः

द्विगुणितमिव यात्रया वनानां स्तनजघनोद्वहनश्रमं वहन्त्यः ।
जलविहरणवाञ्छया सकान्ता ययुरथ मेकलकन्यकां तरुण्यः ॥१॥
[1]क्षितितलविनिवेशनात्प्रसर्पन्नखमणिशोणमयूखमङ्घ्रियुग्मम्[2] ।
श्रमनिवहविलम्बमानजिह्वाप्रसरमिवाध्वनि सुभ्रुवां बभासे ॥२॥
प्रियकरकलितं विलासिनीनां नवशिखिपत्रमयातपत्रवृन्दम् ।
मृदुकरपरिमर्शनात्तसौख्यं वनमिव पृष्ठगतं रराज रागात् ॥३॥
इह मृगनयनासु साम्यमक्ष्णोः प्रथममवेक्ष्य विशश्वसुः कुरङ्ग्यः ।
तदनु निरुपमैर्भ्रुवो[3] विलासैर्विजितगुणा इव ताः प्रणश्य जग्मुः ॥४॥
जलभरपरिरम्भदत्तचित्ताः श्रमसलिलप्रसरच्छलेन रागात् ।
प्रथममिव समेत्य संमुखं ताः सपदि जलैः परिरेभिरे तरुण्यः ॥५॥

द्विगुणितमिति—महापरिणाहिस्तनजघनभारश्रमं वनविहरणेन द्विगुणतमं वहन्त्यो जलक्रीडावाञ्छया नर्मदां प्रापुः[4] ॥१॥ क्षितीति—भूतलचङ्क्रमणवशात्पुरतः प्रसारितशोणनखकिरणजालं चरणयुगलं कामिनीनां शोभते स्म मार्गश्रमवशात् प्रसारितसरलशोणजिह्वमिव ॥२॥ प्रियेति—सहचरैरुपनीतं श्रीकिरीटखण्डं तासां शुशुभे कोमलकरस्पर्शेन पल्लवादित्रोटने नखक्षतेन च लब्धसुखरसं वनमिवानुगतं रागादनुभावाभिलाषात् ॥३॥ इहेति—इह वने तासु मृगलोचनासु प्रथमं नयनसादृश्यं ज्ञात्वा हरिण्यो विश्वासं चक्रुः पश्चादनन्यसदृशैर्विभ्रमविलासैर्विजिता लज्जिता इव पलायांचक्रिरे । प्रथममुत्कीर्णकर्णाः पश्यन्तः पश्चान्मृगाः पलायन्त इत्यमीषां स्वभावः ॥४॥ जलेति—जले चिक्रीडिषवः प्रस्वेदबिन्दुसंदोहदम्भादागत्य जलैः प्रथममेवालिङ्गिता इव । अन्योऽप्यात्मानुरागिणीं स्त्रीं मत्वा सहसागत्यालिङ्गने कालविलम्बं न करोति ॥५॥

तदनन्तर वनविहारसे जो मानो दूना हो गया था ऐसा स्तन तथा जघन धारण करनेका खेद वहन करनेवाली तरुण स्त्रियाँ जलक्रीड़ाकी इच्छासे अपने-अपने पतियोंके साथ नर्मदा नदीकी ओर चलीं ॥१॥ पृथिवीतलपर रखनेसे जिसके नखरूपी मणियोंकी लाल-लाल किरणें फैल रही हैं ऐसा उन सुन्दर भौंहोंवाली स्त्रियोंका चरणयुगल इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो खेद समूहके कारण उसकी जिह्वाओंका समूह ही बाहर निकल रहा हो ॥२॥ उन स्त्रियोंके पीछे पतियोंके हाथमें स्थित नवीन मयूरपत्रके छत्रोंका जो समूह था वह ऐसा जान पड़ता था मानो कोमल हाथोंके स्पर्शसे सुख प्राप्त कर वन ही प्रेमवश उन स्त्रियोंके पीछे लग गया हो ॥३॥ हरिणियाँ इन मृगनयनी स्त्रियोंमें पहले तो अपने नेत्रोंकी सदृशता देख विश्वासको प्राप्त हुई थीं परन्तु बादमें भौंहोंके अनुपम विलाससे पराजित होकर ही मानो चौकड़ी भर भाग गयी थीं ॥४॥ जिनका चित्त जलसमूहके आलिंगनमें लग रहा है ऐसी वे स्त्रियाँ स्वेदसमूहके छलसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो जलने अनुरागके साथ

---

१. अस्य श्लोकस्य स्थाने ख० ग० घ० म० च० छ० ज० पुस्तकेषु 'जलभरपरिरम्भदत्तचित्ताः—इति श्लोको दत्तः, कपुस्तके त्वेष श्लोकः पञ्चमसंख्याकस्तत्रैव व्याख्यातश्च । २. -मङ्घ्रियुग्मम् घ० म० । ३. -र्भ्रुवो विलासै- घ० म० । ४. पुष्पिताग्रावृत्तम् ।

वदनमनु मृगीदृशो द्रुमाग्रात्पतदलिमण्डलमाशु गन्धलुब्धम् ।
क्षितिगतशशिनो भ्रमेण राहोरवतरतो गगनाद् द्युतिं जहार ॥६॥

दिनकरकिरणैरुपर्यधस्तात्तुलितकुकूलकृशानुभिः परागैः ।
पुटनिहितसुवर्णवद्वधूभिः स्वतनुरमन्यत हन्त तप्यमाना ॥७॥

वनविहरणखेदनिःसहं ते वपुरतिपीनपयोधरं बभूव ।
इति किल समुदस्य कोऽपि दोर्भ्यां युवतिमनाकुलितो जगाम रागी ॥८॥

मिलदुरसिजचक्रवाकयुग्माः प्रथयति भास्वति यौवने प्रकाशम् ।
स्फुटरवकलहंसकास्तरुण्यः सरित इव प्रतिपेदिरे नदीं ताम् ॥९॥

अधिगतकरुणारसेव रेवा श्रमभरमन्दरुचो विलोक्य तन्वीः ।
जललवनिचितारविन्ददम्भात्सपदि सबाष्पकणेक्षणा बभूव ॥१०॥

प्रकटय पुलिनानि दर्शयाम्भोभ्रमणमुदञ्चय निर्भरं तरङ्गान् ।
घनजघनगभीरनाभिनृत्यद्भ्रकुटितुलां न तथाप्युपैषि तन्व्याः ॥११॥

वदनमिति—मृगाक्षीवदनाभिमुखमवचितपुष्पवृक्षादलिवलयं गन्धलुब्धमापतत्पृथ्वीतलगतचन्द्रमण्डलभ्रान्त्या गगनाद् धावमानस्य सिंहिकासुतस्याकृतिमनुचकार ॥६॥ दिनेति—गौराङ्गीभिर्निजशरीरं पुटपाकपच्यमानस्य सुवर्णस्य सदृशं मन्यते स्म । उपरिष्टाच्चण्डकरकिरणैरधस्तात्तुषकरीषाङ्गारसदृशैर्धूलिपटलैस्तप्यमानम् ॥७॥ वनेति—हे तन्वि ! वनविहरणखेदात्तव वपुः खिन्नं स्वभावेन च पीनपयोधरं ततश्चलितुं न शक्नोषीति प्रतिबोध्य प्रियामङ्कमारोप्य कश्चित्सुखेन सलीलं जगाम ॥८॥ मिलदिति—तास्तरुण्यो जङ्गमनद्य इव नर्मदां प्रापुः । किंविशिष्टा इत्याह—प्रकटरवमनोहरनूपुराः पक्षे शब्दायमानराजहंसाः मिलन्तौ संघटमानावुरसिजौ स्तनाविव चक्रवाकयुग्मं यासु ताः । क्व सति । तारुण्यरवौ प्रकाशं विस्तारयति । यौवनाभावे स्तनविघटनं सूर्याभावे चक्रवाकयुग्मवत् ॥९॥ अधिगतेति—नर्मदा गृहीतकरुणाभावेन ताः सखीः सुश्रमखेदमन्दायमाना विलोक्य जलदबिन्दुसिक्तकमलपत्रव्याजात् तत्क्षणं वाष्पकणकरम्बितलोचना बभूव ॥१०॥ प्रकटयेति—कश्चित्तरुणो नदीमुवाच—हे नर्मदे ! त्वमस्यास्तन्व्या जघनेन नाभिचक्रेण वल्गद्भ्रूलताविभ्रमेण वा सादृश्यं न यासि । यदि किम् । यदि वा विपुलानि जघनपरिणामप्राप्तानि प्रकाशय । आवर्तशतं वा नाभिशोभायाममपि परिपूर्णं दर्शय । रङ्गत्तरङ्गान्वा भ्रूविभ्रमसदृशान् चालय । तथापि न तादृग् लक्ष्मीं भजसि ॥११॥

शीघ्र ही सामने आकर पहले ही उनका आलिंगन कर लिया हो ॥५॥ भ्रमरोंका समूह किसी मृगाक्षीके प्रसन्नमुखको कमल समझकर फूले हुए वृक्षोंसे उसके ऊपर ही टूट पड़ा मानो राहु चन्द्रमाके ऊपर ही टूट पड़ा हो ॥६॥ ऊपर सूर्यकी किरणोंसे और नीचे तुषाग्निकी तुलना करनेवाली परागसे तपते हुए अपने शरीरको उन स्त्रियोंने किसी साँचेके भीतर रखे हुए सुवर्णके समान माना था ॥७॥ अत्यन्त स्थूल स्तनोंको धारण करनेवाला शरीर वनविहारके खेदसे बहुत ही शिथिल हो गया है—ऐसा कह कोई रागी युवा उसे अपनी भुजाओंसे उठाकर निश्चिन्ततासे जा रहा था ॥८॥ यौवन रूपी सूर्यके प्रकाशको विस्तृत करनेपर जिनमें स्तनरूपी चक्रपक्षियोंके युगल परस्पर मिल रहे हैं तथा नूपुररूपी कलहंस पक्षी स्पष्ट शब्द कर रहे हैं ऐसी स्त्रियाँ नदियोंके समान नर्मदाके पास जा पहुँची ॥ ॥ नर्मदा नदी उन स्त्रियोंको परिश्रमके भारसे कान्तिहीन देख मानो करुणा रससे भर आयी थी इसीलिए तो जलके छींटोंसे युक्त कमलोंके बहाने उसके नेत्रोंमें मानो अश्रुकण छलक उठे थे ॥१०॥ तुम भले ही तट प्रकट करो, आवर्त्त दिखलाओ और तरंगोंको बार-बार ऊपर उठाओ फिर भी स्त्रीके स्थूल नितम्ब, गम्भीर नाभि और नाचती हुई भौंहोंकी तुलना नहीं प्राप्त कर

नयनमिव महोत्पलं तरुण्याः सरसिजमास्यनिभं च मन्यसे यत् ।
तदुभयमपि विभ्रमैरुभाभ्यां जितमिह वल्गसि किं वृथोद्वहन्ती ॥१२॥

इति मुहुरपरैर्यथार्थमुक्ता क्षणमपि न स्थिरतां दधौ ह्रियेव ।
गिरिविवरतलान्यधोमुखी सा परमपराब्धिवधूर्द्रुतं जगाम ॥१३॥ [त्रिभिर्विशेषकम्]

प्रकटितपुलकेव सा स्रवन्ती विदलितशैवलराजिमञ्जरीभिः ।
सरलिततरलोर्मिबाहुदण्डा प्रणयभरादिव दातुमङ्कपालिम् ॥१४॥

स्मितमिव नवफेनमुद्वहन्ती प्रथममनल्पसरोजकल्पितार्घा ।
कलविहगरवैरिवालपन्ती व्यतनुत पाद्यमिवाम्बुभिर्वधूनाम् ॥१५॥ [युग्मम्]

उपनदि पुलिने प्रियस्य मुक्तामणिमयभूषणभाजि वक्षसीव ।
स्वयमुपरि निपत्य कापि रागान्मुहुरिव लोलयति स्म चञ्चलाक्षी ॥१६॥

प्रणिहितमनसो मृगेक्षणानां चटुलविवर्तितनेत्रविभ्रमेषु ।
प्रविदधुरधिकस्पृहां ह्रदिन्यां चलशफरीस्फुरिते क्षणं युवानः ॥१७॥

नयनमिति—हे तरङ्गिणि, यत्तरुण्या नयनसदृशं नीलोत्पलं यच्च वदनसदृशं पद्मं मन्यसे तदद्भुतविभ्रमाभ्यां द्वयमपि विभ्रमैरुभाभ्यां जितं तत्किं वृथैव तरङ्गैर्निर्लज्जेव रङ्गसि ॥१२॥ इतीति—इति कैश्चित्तरुणैः सत्यमालापिता न मन्दवेगा बभूव किन्तु गिरिगह्वरप्रदेशान् व्याप्नुवती वेगप्रवाहिनी बभूव । अन्यापि या काचिन्मर्मोद्घाटह्रेपिता भवति सा शीघ्रगा कन्दरविवरादौ निपतति ॥१३॥ प्रकटितेति—सा नदी तानि मिथुनान्यागच्छन्त्यवलोक्य जम्बालाङ्कुरैर्हर्षोत्कण्टकितेव प्रसारितदीर्घकल्लोलबाहुदण्डेव स्नेहादालिङ्गितुमिव ॥१४॥ स्मितमिति—सा नदी तेषां जलकेलिकुतूहलिनां मिथुनानामर्घपाद्यादिकमातिथ्यं चकार । किंविशिष्टा सती । फेनिलकल्लोलव्याजेन हास्यमिव दर्शयन्ती । तदनु मधुरमनोहरहारीतहंससारसादिकूजितैः संभ्रमालापं विदधती । पश्चाद्विकसितशतकमलैरर्घं कल्पयन्ती । पुलिनानि चासनकानि समर्पयन्तीत्यनुक्तमपि बोद्धव्यम् ॥१५॥ उपनदीति—काचित्कातराक्षी वक्षसीव विस्तीर्णपुलिने विघटितसिप्रापुटनिष्ठ्यूतमुक्ताफलचतुष्किते अनुरागान्निपत्य वेल्लयांचकार ॥१६॥ प्रणिहितेति—तदा तरुणाश्चटुलाक्षीणां चटुलकटाक्षभङ्गिषु नियमित-

---

सकती ॥११॥ तुम जो समझ रही हो कि मेरा नीलकमल स्त्रीके नेत्रके समान है और कमल मुखके समान सो यह दोनों ही उन दोनोंके द्वारा विलासोंकी विशेषतासे जीत लिये गये हैं, व्यर्थ ही उन्हें धारण कर क्यों उछल रही हो ? ॥१२॥ इस प्रकार पश्चिम समुद्रकी वधू नर्मदा नदीसे जब किन्हींने बार-बार सच बात कही तब वह लज्जासे ही मानो क्षणभरके लिए स्थिर नहीं रह सकी और नीचा मुख कर शीघ्रताके साथ पर्वतकी गुफाओंकी ओर जाने लगी ॥१३॥ वह नदी शैवाल समूहकी खिली हुई मंजरियोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो उन स्त्रियोंको देख रोमांचित ही हो उठी हो और सीधी-सीधी चंचल तरंगोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो स्नेहवश उनका आलिंगन करनेके लिए भुजाएँ ही ऊपर उठा रही हो ॥१४॥ नवीन फेनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो मन्दहास्य ही धारण कर रही हो, बहुत भारी कमलोंसे ऐसी लगती थी मानो अर्घ ही दे रही हो । पक्षियोंकी अव्यक्त मधुरध्वनिसे ऐसी जान पड़ती थी मानो वार्तालाप ही कर रही हो और जलके द्वारा ऐसी सुशोभित हो हो रही थी मानो पादोदक ही प्रदान कर रही हो ॥१५॥ कोई एक चंचललोचना स्त्री नदीके समीप मोती और मणिमय आभूषणोंसे युक्त पतिके वक्षःस्थलकी तरह किनारेपर पड़कर रागसे बार-बार नेत्र चलाने लगी ॥१६॥ स्त्रियोंके चपलतापूर्वक घूमते हुए नेत्रोंके विलासमें जिनके मन लग रहे हैं ऐसे तरुण पुरुषोंने नदीके बीच चंचल मछलियोंके उत्क्षेपमें क्षणभरके लिए

उपनदि नलिनीवनेषु गुञ्जत्यलिनि निमीलितलोचनः कुरङ्गः ।
तटगतमपि नो ददर्श सैन्यं नहि विषयान्धमतिः किमप्यवैति ॥१८॥
कथमपि तटिनीमगाहमानाश्चकितदृशः प्रतिमाच्छलेन तन्व्यः ।
इह पयसि भुजावलम्बनार्थं समभिसृता इव वारिदेवताभिः ॥१९॥
अधिगतनदमप्यगाधभावैः सलिलविहारपरिच्छदं वहन्त्यः ।
प्रणयिभिरथ धार्यमाणहस्ताः प्रविविशुरम्भसि कातरास्तरुण्यः ॥२०॥
अविरलपलितायमानफेनं वलिनमिवोर्मिभिरङ्गमुद्वहन्ती ।
जतुबहलवधूपदप्रहारैरजनि सरिज्जरती रुषेव रक्ता ॥२१॥
ध्वनिविजितगुणोऽप्यनेकधायं रटति पुरः कथमत्रपो मरालः ।
इति समुचितवेदिनेव तन्व्याः स्थितमिह वारिणि नूपुरेण तूष्णीम् ॥२२॥
प्रसरति जललीलया जनेऽस्मिन्बिसवदनो दिवमुत्पपात हंसः ।
नवपरिभवलेखभृन्नलिन्या प्रहित इवांशुमते प्रियाय दूतः ॥२३॥

चेतसस्तरङ्गिण्यां तरलतमतिमिकोद्वर्तनस्फुरितं बहु मेनिरे ॥१७॥ उपनदीति—अत्र नदीसमीपे मधुरभ्रमररवश्रवणसुखामृतानुभवनिमीलितलोचनः सारङ्गो नेदीयान्समभ्यागतं जनसमूहं न ददर्श तत्रार्थे नासावुपालम्भनीयस्तपस्वी पशुः पटुमतिरपि विषयान्धः सर्वान्ध एव ॥१८॥ कथमिति—ता यावद्भीरुतया जलमनवगाहमानास्तावन्निजप्रतिमां प्रत्यक्षीभूतां हस्तावलम्बनार्थं जलदेवतामिव ददृशुः ॥१९॥ अधिगतमिति—अथानन्तरं जलस्य ज्ञातगभीरत्वावधिभिः सहचरैः प्राप्तहस्तावलम्बना जलक्रीडोचितं मण्डनं धारयन्त्यः साशङ्कमम्भसि ताः प्राविक्षन् ॥२०॥ अविरलेति—सा नदी बहुलतया यावकरसविगलनैः पदप्रहारैस्तरुणीनां रक्ता बभूव । अतश्च ज्ञायते वृद्धेव कोपेन रक्ता । कथं रक्तत्वमित्याह—बहलपलितजालसदृशडिण्डीरपिण्डमण्डलं विस्तारयन्ती कल्लोलैर्वलिभिरिव व्याप्तं शरीरं वहन्ती । अथ च नवोढया जरती सपत्नी चरणाहता कोपारुणा स्यात् ॥२१॥ ध्वनीति—अयं मधुरध्वनिना मया बहुशो निर्जितोऽपि निर्लज्जो राजहंसो रारटीति । इति विचिन्तयतेव नूपुरेण मौनमाश्रितम् । अन्योऽपि प्रतिवादिनमनेकशो निर्जितमपि निर्लज्जतया गर्जन्तमवालोक्य तत्त्ववेदी जोषपोषं तिष्ठति ॥२२॥ प्रसरतीति—जले रिरंसौ जनसंघाते प्रसर्पति चञ्च्वा विधृतकिसलयो हंसो गगनाभिमुखमुड्डीनवान् । अतश्च संभाव्यते नवीनपराभवकदर्थितया पद्मिन्या तत्कालस्वरूप-

---

अधिक लालसा की थी ॥१७॥ नदीके समीप ही कमलिनीके वनोंमें भ्रमरोंके मधुर शब्द करनेपर आँख बन्द कर खड़ा हुआ हरिण किनारेपर स्थित सेना—जन समूहको नहीं देख रहा था सो ठीक ही है क्योंकि विषयान्ध मनुष्य कुछ भी नहीं जानता है ॥१८॥ कितनी ही चंचललोचना स्त्रियाँ नदीके पास जाकर भी उसमें प्रवेश नहीं कर रही थीं परन्तु पानीमें उनके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उनकी भुजाएँ पकड़नेके लिए जलदेवियाँ ही उनके सम्मुख आयी हों ॥१९॥ जलक्रीडाके योग्य वेषको धारण करनेवाली कितनी ही भीरु स्त्रियाँ नदीमें पहुँच कर भी गहराईके कारण भीतर प्रवेश नहीं कर रही थीं परन्तु बादमें जब पतियोंने उनके हाथ पकड़े तब कहीं प्रविष्ट हुईं ॥२०॥ फेनरूपी सफेद बालों और तरंगरूपी सिकुड़नोंसे युक्त शरीरको धारण करनेवाली नदी रूपी वृद्धा स्त्री, लाक्षारंगसे रंगे स्त्रियोंके चरण प्रहारोंके द्वारा क्रोधसे ही मानो लालवर्ण हो गयी थी ॥२१॥ यह हंस अनेक बार शब्दों द्वारा जीता जा चुका फिर भी निर्लज्ज हो मेरे आगे क्यों शब्द कर रहा है ? इस प्रकार मानो उचित सभ्यताको जाननेवाला तरुणस्त्रीका नूपुरसमूह पानीके भीतर चुप हो रहा ॥२२॥ जब लोग जलक्रीडा करते हुए इधर-उधर फैल गये तब हंस अपने मुँहमें मृणालका टुकड़ा दाबे हुए आकाशमें उड़ गया जो ऐसा जान पड़ता था मानो कमलिनीने

पृथुतरजघनैर्नितम्बिनीनां स्खलितगतिः पयसामभूत्प्रवाहः ।
अधिगतवनितानितम्बभारः कथमथवा सरसः पुरः प्रयाति ॥२४॥
अपहृतवसने जडेन लौल्याज्जघनशिलाफलके नितम्बवत्याः ।
करजलिपिपदात्तदाविरासीद्विषमशरस्य जगज्जयप्रशस्तिः ॥२५॥
कथमधिकगुणं करं मृगाक्षी क्षिपति मयीह वनान्तमाश्रितायाम् ।
इति विदितपराभवेव लक्ष्मीः सपदि सरोजनिवासमुत्ससर्ज ॥२६॥
निवसनमिव शैवलं निरस्य स्पृशति जने नवसङ्गभाजि मध्यम् ।
वदनमिव पिधातुमुद्यतोर्मिप्रसरकराथ सरिद्वधूश्चकम्पे ॥२७॥
पृथुतरजघनैर्विलोड्यमाना युवतिजनैः कलुषत्वमाश्रयन्ती ।
स्वपुलिनमुपसर्पिभिः पयोभिः सरिदुपगोपयति स्म लज्जितेव ॥२८॥
प्रतियुवति निषेव्य नाभिरन्ध्रेष्वभिनवविन्ध्यदरीप्रवेशलीलाम् ।
अभजत गुरुगण्डशैलयुक्त्या स्तनकलशाग्रविघट्टनानि रेवा ॥२९॥

लेखधारी दूत इव मित्रकथनाय प्रहितः ॥२३॥ पृथुतरेति—पुलिनविशालैर्जघनफलकैस्तदा तासां नर्मदाप्रवाहे सेतुबन्धायितम् । रुद्ध इत्यर्थः । यदि वा नैतच्चित्रम्, अन्योऽपि रसविशेषवेदी लब्धपरिणाहिवनिताजघनस्पर्शसौख्यकोऽग्रतो भूत्वा गन्तुं कः शक्नोति । न कोऽपीत्यर्थः ॥२४॥ अपहृतेति—सलिलेन लोलत्वादन्तरीयेऽपाकृते नखक्षताक्षरव्याजात्तन्वीजघनफलके कामस्य त्रिभुवनजयप्रशस्तिराविर्बभूव । यथा कस्मिंश्चिन्मूर्खे यवनादिकमपाकृतवति प्रच्छन्न महालिपिशासनं जनानामग्रे प्रकटीकरोति ॥२५॥ कथमिति—जलमध्यस्थितायां मयि कथमेषा चञ्चलाक्षी अधिकसुकुमारशोणं हस्तं निक्षिपतीति चिन्तयन्तीव पराभवं सरसिजं लक्ष्मीस्तत्याज । हस्तत्रोटितं पद्मं म्लानमित्यर्थः । यथा कश्चित् कुटुम्बिकः पर्वतग्रामवासी 'द्विगुणमिदानीं परिवृढो याचते' इति मत्वा तमपि वासमुत्सृजति ॥२६॥ निवसनमिति—अस्मिन् जने जम्बालवसनमुत्क्षिप्य नाभिमूलं स्पृशति सति नदीवधूः कल्लोलैर्मस्तकोर्द्ध्वं जगाम । यथा काचिन्नवोढा अन्तरीयमाक्षिप्य नाभिमूललोलचक्षुषो जीवितेशस्य सात्त्विकभावेन कम्पमाना पाणिभ्यां लोचने पिदधाति ॥२७॥ पृथुतरेति—विशालैर्जघनफलकैः स्त्रीजनेन विलोड्यमाना नर्मदा सुतैः कल्लोलैः परिणाहप्रसिद्धं निजपुलिनं लज्जितेव तिरोदधाति ॥२८॥ प्रतीति—नर्मदा नारीणां गभीरनाभिह्रदेषु आवर्त्यमाना गभीरदरीप्रवेशसौख्यमनुबभूव ।

नूतन पराभवके लेखसे युक्त दूत ही अपने पति—सूर्यके पास भेजा हो ॥२३॥ पानीका प्रवाह स्त्रियोंके स्थूल नितम्बोंसे टकरा कर रुक गया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंके नितम्बस्थलको प्राप्त हुआ सरस मनुष्य आगे कैसे जा सकता है ? ॥२४॥ किसी स्त्रीके नितम्बरूप शिलापट्टकसे जब जलने चपलतावश वस्त्र दूर कर दिया तब नखक्षतरूप लिपिके छलसे उसपर लिखी हुई कामदेवकी जगद्विजयकी प्रशस्ति प्रकट हो गयी—साफ-साफ दिखने लगी ॥२५॥ यह मृगनयनी मुझ वनवासिनी—जलवासिनी (पक्षमें अरण्यवासिनी) के ऊपर अधिक गुणोंसे युक्त (पक्षमें कई गुण अधिक) कर—हाथ (पक्षमें टेक्स) क्यों डालती है ? इसप्रकार पराभवका अनुभव कर ही मानो लक्ष्मीने शीघ्र ही कमलोंमें निवास करना छोड़ दिया ॥२६॥ नवीन समागम करनेवाले पुरुषने वस्त्रकी तरह शैवालको दूर कर ज्यों ही मध्यभागका स्पर्श किया त्यों ही मानो मुख ढँकनेके लिए जिसने तरंगसमूह रूपी हाथ ऊपर उठाये हैं ऐसी नदीरूपी स्त्री सिहर उठी ॥२७॥ स्त्रियों द्वारा स्थूल नितम्बोंसे आलोडित होनेके कारण कलुषताको प्राप्त हुई नदी मानो लज्जित होकर ही बढ़नेवाले जलसे अपने पुलिन—तटप्रदेशको छिपा रही थी ॥२८॥ उस समय रेवा नदी, प्रत्येक स्त्रीके नाभिरूप बिलमें प्रवेश कर विन्ध्याचलकी नयी-नयी गुफाओंमें प्रवेश करनेकी लीलाका अनुभव कर रही थी और स्तनोंके

वरतनुजघनाहतैर्गभीरप्रकृतिभिरप्यति चुक्षुभे पयोभिः ।
इह विकृतिमुपैति पण्डितोऽपि प्रणयवतीषु न किं जडस्वभावः ॥३०॥
समसिचत मुहुर्मुहुः कुचाग्रं करसलिलैर्दयितो विमुग्धवध्वाः ।
मृदुतरहृदयस्थलीप्ररूढस्मरनवकल्पतरोरिवाभिवृद्धयै ॥३१॥
स्तनतटपरिघट्टितैः पयोभिः सपदि गले परिरेभिरे तरुण्यः ।
अधिगतहृदया मनस्विनीनां किमु विलसन्मकरध्वजा न कुर्युः ॥३२॥
हृदि निहितघटेव बद्धतुम्बीफलतु[1]लिताङ्गलतेव कापि तन्वी ।
इह पयसि सविभ्रमं तरन्ती पृथुलकुचोच्चयशालिनी रराज ॥३३॥
तटमनयत चारुचम्पकानां स्रजमबलागलविच्युतां तरङ्गैः ।
निजदयितरिपोरिवौर्ववह्नेः प्रचुरशिखापरिशङ्कया स्रवन्ती ॥३४॥
प्रियतमकरकल्पितेऽङ्गरागे प्रथममगान्न तथा क्लमं सपत्नी ।
अनुनदि सलिलैर्यथापनीते नखपदमण्डनवीक्षणान्मृगाक्ष्याः ॥३५॥

तासामेव स्तनशैलास्फालनेन गण्डशैललोलनस्थितिं प्राप । अत्र नाभिह्रदयोर्गण्डशैलस्तनयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥२९॥ वरेति—नितम्बिनीनां जघनफलकैर्व्यालोडितो जलाशयः संचलयांचकार । युक्तमेतत्—गभीरमहिमा पण्डितोऽपि वाणिनीजघनाहतश्चञ्चलायते किं पुनस्तादृक् जडस्वभावः ॥३०॥ समेति—कश्चिद् विलासी नवोढाया अञ्जलिसलिलैः स्तनयुगलं पौनःपुन्येन सिषेच हृदयस्थलीप्ररूढस्य कोमलकल्पवृक्षस्य वर्द्धनायेव । सुरतवार्तामप्यसहमानां नवोढां जलसेकं साहयतीत्यर्थः ॥३१॥ स्तनेति—स्तनतटसंमदोत्कलितैर्जलैस्तरुण्य आकण्ठं व्यानशिरे । उचितमेतत् अवगाहितमानसाः कामिनीनां किमिव कामुकाश्चेष्टितं न कुर्वन्ति ? ॥३२॥ हृदीति—काचिदुच्चकुचाभ्यामुपलक्षिता तरन्ती रराज हृदयनिहिताभ्यां घटाभ्यामथवा पृथुलवर्तुलमहातुम्बीफलाभ्यामिव ॥३३॥ तटमिति—सा नदी जले क्रीडन्तीनां तासां विकसितचम्पकपुष्पमालां कण्ठच्युतां तरलतरङ्गैर्बाह्यतटे निचिक्षेप निजदयितसमुद्रस्य संत्यक्तवाडवाग्निज्वालाकलापमिव ॥३४॥ प्रियतमेति—कस्याश्चिन्मृगाक्ष्याः प्रियतमेन निजकरेण रचितविलेपने प्रथमं तद्दर्शनेन सपत्नी न तथा

अग्रभागसे टकराकर बड़ी-बड़ी गोल चट्टानोंसे टकरानेका आनन्द पा रही थी ॥२९॥ यद्यपि नर्मदाका जल अत्यन्त गम्भीर प्रकृतिका था [पक्षमें धैर्यशाली था] फिर भी स्त्रियोंके नितम्बोंके आघातसे क्षोभको प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि जब पण्डित पुरुष भी स्त्रियोंके विषयमें विकार भावको प्राप्त हो जाता है तब जडस्वभाववाला [पक्षमें जलस्वभाववाला] क्यों नहीं प्राप्त होगा ? ॥३०॥ कोई एक पुरुष हाथोंसे पानी उछाल-उछाल कर अपनी भोली-भाली नयी स्त्रीके स्तनाग्रभागको बार-बार सींच रहा था जो ऐसा जान पड़ता था मानो उसके कोमल हृदय क्षेत्रमें जमे हुए कामरूपी नवीन कल्पवृक्षको बढ़ानेके लिए ही सींच रहा हो ॥३१॥ स्तन तटसे टकराये हुए जलने शीघ्र ही स्त्रियोंका गले लगकर आलिंगन कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंका हृदय समझनेवाले कामी मनुष्य क्या नहीं करते । ॥३२॥ स्थूल स्तनमण्डलसे सुशोभित कोई एक स्त्री पानीमें बड़े विभ्रमके साथ तैर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने अपने हृदयके नीचे दो घट ही रख छोड़े हों अथवा शरीररूपी लताके नीचे तुम्बीके दो फल ही बाँध रखे हों ॥३३॥ नदीने स्त्रियोंके गलेसे गिरी हुई चम्पेकी सुन्दरमालाको तरंगोंके द्वारा किनारेपर ला दिया था मानो उसे यह आशंका हो रही थी कि यह हमारे पति—समुद्रके शत्रु वड़वानलकी बड़ी ज्वाला ही है ॥३४॥ प्रियतमके हाथके द्वारा किसी मृगनयनीके शरीरमें अंगराग लगाये जानेपर पहले

१. लुलिताङ्ग ख० ग० घ० ङ० म० ।

नवनखपदराजिरम्बुजाक्ष्या हृदि जलबिन्दुकरम्बिता बभासे।
वरसरिदुपढौकितप्रवालव्यतिकरदन्तुररत्नकण्ठिकेव ॥३६॥
सरभसमधिपेन सिच्यमाने पृथुलपयोधरमण्डले प्रियायाः।
श्रमसलिलमिषात्सखेदमश्रूण्यहह मुमोच कुचद्वयं सपत्न्याः ॥३७॥
प्रियकरसलिलोक्षितातिपीनस्तनकलशोत्थितसीकरैस्तरुण्याः।
प्रतियुवतिरथर्वसारमन्त्राक्षरनिकरैरिव ताडिता मुमूर्च्छ ॥३८॥
अहमिह गुरुलज्जया हतोऽस्मि भ्रमर विवेकनिधिस्त्वमेक एव।
मुखमनु सुमुखी करौ धुनाना यदुपजनं भवता मुहुश्चुचुम्बे[1] ॥३९॥
इति सरसिरुहभ्रमात्प्रियाणामनुसरते वदनानि षट्पदाय।
रतिरसरसिकोऽपि लज्जमानः किमपि हृदि स्पृहयांबभूव कामी ॥४०॥ [युग्मम्]
प्रियकरसलिलैर्मनस्विनीनां न्यशमि हृदि प्रबलोऽपि मन्युवह्निः।
अविरलमलिनाञ्जनप्रवाहो नयनयुगान्निरगादिवास्य धूमः ॥४१॥

दुदुवे यथा तस्मिन्नेव सर्वाङ्गजलैः प्रक्षालिते स्पष्टभूतानि नखपदानि पश्यन्ती पश्चात्संतेपे। विलेपनादिकरणे हि बाह्यस्नेहं नखपदादौ च महान्तरस्नेहं मन्यमानेति भावः ॥३५॥ नवेति—कस्याश्चित्कमलदलदीर्घाक्ष्या हृदयस्था जलबिन्दुकरम्बिता सरसनखश्रेणी शोभते स्म नद्या प्राभृतीकृता अन्तरान्तरा ग्रथितविद्रुमगुलिका-मुक्ताफलमालिकेव ॥३६॥ सरभसेति—सोत्कण्ठं प्राणाधिनाथेन तन्व्याः स्तनमण्डले सेषिच्यमाने सपत्न्या ईर्ष्याभावजनितप्रस्वेदबिन्दुभिः सखेदं स्तनद्वयं रोदितीव ॥३७॥ प्रियेति—कस्याश्चित्प्रियतमकरसलिलैः सिच्यमानायाः पीनस्तनभित्त्यास्फालनोत्थितैः शीकरनिकरैः सिक्ता निश्चेष्टं पपात। अभिचारिकमन्त्राक्षर-निकरैरिव ताडिता सपत्नी ॥३८॥ अहमिति—कश्चित्कामी भ्रमरमालापयति—अहो भ्रमर! भवानेव समुचितवेदी अस्मादृशस्तु लज्जालक्षणेन विघ्नेन निहतो मुग्ध एव। यदेनां सुमुखीं सपाणिकम्पं ससीत्कारं सर्वसमक्षमेव भवान् चुम्बति स्म ॥३९॥ इतीति—इति पूर्वोक्तं मनसि चिन्तयन् कश्चित्कामी भ्रमरत्व-मभिललाष पद्मभ्रान्त्या स्त्रीमुखानि धावमानाय। शेषं सुगमम् ॥४०॥ प्रियेति—प्रियतमप्रेरितैः सलिलैर्मानिनीनां मानदहनो विस्थापितः कथं ज्ञायत इति चेत्। प्रक्षालितनयनयुगकज्जलव्याजत्वात् यथा निर्याति

सपत्नीको उतना खेद नहीं हुआ था जितना कि नदीमें जलके द्वारा अंगरागके धुल जानेपर नखक्षतरूप आभूषणके देखनेसे हुआ था ॥३५॥ किसी कमललोचनाके वक्षःस्थलपर जलके बिन्दुओंसे व्याप्त नवीन नखक्षतोंकी पंक्ति ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो उत्तम नदीने उसे मूँगाओंसे मिली छोटे-बड़े रत्नोंकी कण्ठी ही भेंट की हो ॥३६॥ ज्योंही पतिने अपनी प्रियाका स्थूल स्तनमण्डल सहसा पानीसे सींचा त्योंही सपत्नीके दोनों स्तन पसीनाके छलसे बड़े खेद के साथ आँसू छोड़ने लगे ॥३७॥ पतिके हाथों द्वारा उछाले हुए जलसे सिक्त किसी स्त्रीके स्थूल स्तनमण्डलसे उचटे हुए जलके छींटोंसे सपत्नी ऐसी मूर्च्छित हो गयी मानो अथर्ववेदके सारभूत मन्त्राक्षरोंके समूहसे ही मूर्छित हो गयी हो ॥३८॥ भाई भ्रमर! मैं तो इस बड़ी लज्जाके द्वारा ही मारा गया पर विवेकके भण्डार तुम्हीं एक हो जो कि सब लोगोंके समक्ष ही मुखके पास हाथ हिलानेवाली इस सुमुखीका बार-बार चुम्बन करते हो ॥३९॥ इस प्रकार कमलोंके भ्रमसे स्त्रियोंके मुखका अनुगमन करनेवाले भ्रमरकी रतिरूपरसके रसिक होनेपर भी किसी कामी पुरुषने लज्जित होते हुए हृदयमें बहुत इच्छा की थी—उसे अच्छा समझा था ॥४०॥ पतियोंके हाथों द्वारा उछाले हुए जलसे मानवती स्त्रियोंके हृदयकी कोपरूपी अग्नि

१. चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः। करं व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं वयं तत्त्वान्वेष्यन्मधुकरहतास्त्वं खलु कृती ॥ अभिज्ञानशाकुन्तले कालिदासस्य।

अपहृतवसने जलैर्नितम्बे निहितदृशं करकेलिपङ्कजेन।
प्रियमुरसि विनिघ्नती स्मरस्य स्फुटमकरोत्कुसुमायुधत्वमेका ॥४२॥
मुखतुहिनकरेऽपि संहतेन स्तनयुगलेन तुलां कुतोऽधिरूढौ।
इति जघनहतं पयो वधूनां रजनिवियोगिविहंगमौ निरासे ॥४३॥
सरभसमिह यत्तटात्पतन्त्यः प्रविविशुरन्तरशङ्किताः तरुण्यः।
घनपुलक इवाशयो जलानां तदुदितबुद्बुदबिन्दुभिर्बभूव ॥४४॥
प्रियकरविहितामृताभिषेकैरुरसि हरानलदग्धविग्रहोऽपि।
प्रतिफलितचलद्द्विरेफदम्भादजनि सजीव इव स्मरस्तरुण्याः ॥४५॥
निपतितमरविन्दमङ्गनायाः श्रवणतटादतिदुर्लभोपभोगात्।
मधुकरनिकरस्वनैर्विलोले पयसि शुचेव समाकुलं रुरोद ॥४६॥
अविरललहरीप्रसार्यमाणैस्तरलदृशश्चकितेव केशजालैः।
स्तनकलशतटान्ममज्ज पत्रान्तरमकरी सरितः पयस्यगाधे ॥४७॥

धूमशिखा। न जाज्वल्यमानस्य हि वह्नेर्धूमसंभावना ॥४१॥ अपहृतेति—काचिज्जलापनीतान्तरीये धारावाहिनी नितम्बे दृष्टिं ददानं क्रीडापद्मेन कान्तं जघान। ततश्च कामस्य पुष्पायुधाख्यां स्पष्टीचकार। साक्षात्कामबाणेनेवाहत इत्यर्थः ॥४२॥ मुखेति—वधूनां जघनकल्लोलितेन जलेन चक्रवाकयुग्मं त्रासितम्। एतौ चक्रवाकौ मुखचन्द्रसंनिधावपि तथैव मिलितेन स्तनयुगलेन सादृश्यं कुतो गतौ। न गतावित्यर्थः। एतौ तु चन्द्रोदये विघटितौ स्याताम् ॥४३॥ सरभसमिति—यदेतास्तरुण्य औत्सुक्यनुन्नाः सपद्यापतन्ति निशङ्कं च प्रविशन्ति तदेतत् स्वमनसि सौभाग्यं मन्यमान इव क्रीडानद उद्घुषितरोमेव उद्गतबुद्बुदजालैर्बभूव ॥४४॥ प्रियेति—प्रियकरक्षिप्तैः सुधाभिषेकैस्त्रिनयनाग्निदग्धशरीरोऽपि कामः प्रत्युज्जीवांचकार। कस्मात् मृगाक्ष्याः सलिलार्द्रहृदयप्रतिबिम्बितबंभ्रम्यमाणभ्रमरव्याजात्। जीवतो हि चलनादिका क्रिया। अतिकान्तिमत्त्वान्मृगाक्षीवपुषि भ्रमरप्रतिबिम्बसंभवः ॥४५॥ निपतितमिति—कस्याश्चित्तरुण्याः कर्णोत्पलं पपात। अतश्च पुनः कृतकर्णस्पर्शसौख्यश्रियं लप्स्ये इति शोचयदिव भ्रमररुतैर्जले कर्णोत्पलं रुरोदेव ॥४६॥ अविरलेति—तरलतरङ्गैस्तरुण्याः केशजाले मत्स्यबन्धन इव प्रसारिते स्तनभित्तिलिखिता पत्रावली मकरिका····। प्रक्षालिताननां सेयम्। यथा धीवरैर्जाले प्रसारिते नदतटोपविष्टा मकरी पलायते। चकितेव भीतेव ॥४७॥

प्रबल होनेपर भी बुझ गयी थी। इसीलिए तो उनके नयन युगलसे धुएँकी तरह मलिन अंजनका प्रवाह निरन्तर निकल रहा था ॥४१॥ जलके द्वारा जिसका वस्त्र दूर हो गया है ऐसे नितम्बपर दृष्टि डालनेवाले प्रियको कोई एक स्त्री हाथके क्रीडा-कमलसे ही वक्षःस्थलपर मार रही थी मानो वह यह प्रकट कर रही थी कि यथार्थमें कामदेवका शस्त्र कुसुम ही है ॥४२॥ यह स्तनयुगल तो मुखरूपी चन्द्रमाके रहते हुए भी परस्पर मिले रहते हैं फिर तुम इनके साथ तुलापर क्यों आरूढ़ हुए, इनकी समानता क्यों करने चले? यह विचार कर ही मानो स्त्रियोंके नितम्बसे ताडित जलने चकवा-चकवियोंको हटा दिया था ॥४३॥ कितनी ही स्त्रियाँ बड़े वेगके साथ तटसे कूदकर निर्भय हो जलके भीतर जा घुसी थीं उससे उठते हुए बबूलोंसे जलका मध्यभाग ऐसा जान पड़ता था मानो उसके सघन रोमांच ही निकल रहे हों ॥४४॥ किसी एक तरुणीके वक्षःस्थलपर उड़ते हुए भ्रमरका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो पतिके हाथों द्वारा किये हुए जलरूप अमृतके सिंचनसे महादेवके कोपानलसे जला हुआ भी कामदेव पुनः सजीव हो उठा हो ॥४५॥ किसी एक स्त्रीके अत्यन्त दुर्लभ कर्ण-प्रदेशसे गिरकर कमल चंचल जलमें आ पड़ा था जो कि भ्रमर समूहके शब्दके बहाने ऐसा जान पड़ता था मानो शोकसे व्याकुल हो रो ही रहा हो ॥४६॥ अविरल तरंगोंसे फैले हुए किसी चंचलाक्षीके केशजालसे डर कर ही मानो उसकी पत्ररचनाकी मकरी स्तनकलशके

अभजत जघनं जघान वक्षस्तरलतरङ्गकरैश्चकर्ष केशान् ।
विट इव जलराशिरङ्गनानां सरभसपाणिपुटाहतश्चुकूज ॥४८॥
मुखमपहृतपत्रमङ्गनानां प्रबलजलैरवलोक्य शङ्कितेव ।
सरिदकृत पुनस्तदर्थमूर्मिप्रसरकरार्पितशेवलप्ररोहैः ॥४९॥
सपदि वरतनोरतन्यतान्तर्यं इह परिष्वजता जडेन रागः ।
स किल विमलयोर्युगे तदक्ष्णोः स्फटिक इव प्रकटीबभूव तस्याः ॥५०॥
निरलकमपवस्त्रमस्तमाल्यं क्षततिलकं च्युतयावकाधरौष्ठम् ।
सह दयिततमैर्निषेव्यमाणं सुरतमिवाम्बु मुदेऽभवद्वधूनाम् ॥५१॥
श्रवणपथरतापि कामिनीनां विशदगुणाप्यपदूषणापि दृष्टिः ।
अभजत जडसंगमेन रागं धिगधिकनीचरताश्रयं जनानाम् ॥५२॥
धुतकरवलयस्वनं निशम्य प्रतियुवतेरलिखण्डिताधरायाः ।
अविहितकथया कयापि सेर्ष्यं विवलितकन्धरमैक्षि जीवितेशः ॥५३॥

अभजतेति—असौ जलराशिरङ्गनानां विटचेष्टितं चकार । कया युक्त्येत्याह—नितम्बमाश्रितवान्, हृदयमाश्लिष्टवान्, तरङ्गहस्तैः कचानाकृष्टवांश्च चपेटाहतश्च कण्ठकूजितं कृतवानिति ॥४८॥ मुखेति—तासां मुखं निजकल्लोलैर्मुष्टपत्रावलीकमवलोक्य तरङ्गिणी शङ्कितेव ऊर्मिप्रसरोपनीतं शेवालाङ्कुरजालं तदर्थं कृतवती॥४९॥ सपदीति—अस्यास्तन्वङ्ग्या जडेन सलिलेन मूर्खेण वा स्वैरमाश्लिष्यता योऽन्तर्मध्ये रागः कृतः स स्फटिकनिर्मलयोर्नयनयोर्युगलेन प्रकटीकृतः । यथा जपापुष्पादिकं स्फटिकोपलपिहितं तदवस्थमेव दृश्यत इति भावः ॥५०॥ निरलकेति—तत्पानीयं तासां सुरतप्रसंगसादृश्ये मनो मोदयांचकार । कथं सुरतसादृश्यं तस्येत्याह—वल्लभतमैः सहानुभूयमानं कदर्थितालकं भ्रष्टान्तरीयोत्तरीयकं दरमिलितपुष्पमालं मृष्टपत्रवल्लीकं प्रक्षालिताधरौष्ठयावकमिति ॥५१॥ श्रवणेति—कामिनीनां दृष्टी रक्ता बभूव पक्षे रागो रोषाभिमानिता । किंविशिष्टापीत्याह—कर्णान्तं विश्रान्तापि पक्षे श्रवणं शास्त्रं । अपदूषणा गतदूषिकादिदोषा पक्षे निष्कलङ्कापि । अथ च यः किल विद्वान् स खलसंयोगेन सरागो भवति । अतो मन्ये साधूनां नीचजनाश्रयो दोषकर एव ॥५२॥ धुतेति—कस्याश्चिद् भ्रमरदष्टाधरायाः कम्पितकरकङ्कणरणितं श्रुत्वा सपत्नी किमसौ नवोढा भवतीति

तटसे कूदकर नदीके गहरे पानीमें डूब गयी थी ॥४७॥ जलसमूह विटकी तरह कभी स्त्रियोंके नितम्बस्थलकी सेवा करता था, कभी वक्षःस्थलका ताड़न करता था, और कभी चंचल तरंग रूप हाथोंसे उनके केश खींचता था । बदलेमें जब स्त्रियाँ अपने हस्ततलसे उसे ताड़ित करती थीं तब वह आनन्दसे कूज उठता था, आखिर, जड़समूह ही तो ठहरा॥४८॥ नदी अपने प्रबल जलसे स्त्रियोंके मुखकी पत्ररचनाको अपहृत देख मानो डर गयी थी । इसीलिए उसने तरंग समूहरूपी हाथोंसे अर्पित शैवालके अंकुरोंसे उसे पुनः ठीक कर दिया था ॥४९॥ क्रीडाके समय आलिंगन करनेवाले जलने [पक्षमें धूर्त नायकने] किसी सुन्दरांगीके हृदयमें जो राग उत्पन्न किया था वह उसके स्फटिकके समान उज्ज्वल नेत्रोंके युगलमें सहसा प्रकट हो गया था ॥५०॥ जिसने केश बिखेर दिये हैं, वस्त्र खोल दिये हैं, मालाएँ गिरा दी हैं, तिलक मिटा दिया है और अधरोष्ठका लाल रङ्ग छुटा दिया है ऐसा वह जल पतियोंके साथ सेवन किये हुए सुरतकी तरह स्त्रियोंके आनन्दके लिए हुआ था ॥५१॥ यद्यपि स्त्रियोंकी दृष्टि श्रवणमार्गमें लीन थी [पक्षमें शास्त्र सुननेमें तत्पर थी], निर्मल गुणवाली और दोषोंसे रहित थी फिर भी जलके समागमसे [पक्षमें मूर्खके समागमसे] राग-लालिमा [पक्षमें विषयानुराग]को प्राप्त हो गयी थी अतः मनुष्योंके नीचजनोंके आश्रयसे होनेवाले रागको धिक्कार हो ॥५२॥ कोई एक स्त्री भ्रमर द्वारा खण्डित ओष्ठवाली सपत्नीके कम्पित हाथके वलयका शब्द सुन

अकलुषतरवारिभिर्विभिन्नास्वभिनवपत्रलतासु कामिनीनाम् ।
नखपदविततिर्दधौ कुचान्तर्भुवि परिशेषितरक्तकन्दलीलाम् ॥५४॥
अविरतजलकेलिलोलकान्तास्तनकलशच्युतकुङ्कुमैस्तदानीम् ।
कृतबहलविलेपनेव रेवा पतिमकरोत्सरितामतीव रक्तम् ॥५५॥
अहमुदयवता जनेन नीचैः पथनिरतापि यदृच्छयोपभुक्ता ।
इति सरलितवीचिबाहुदण्डा प्रमदभरादिव वाहिनी ननर्त ॥५६॥
दिनमबलमतो गृहान्प्रयाथ क्षणमहमप्यभयं भजामि कान्तम् ।
इति करुणरुतेन चक्रवाक्या समभिहिता इव ताः प्रयातुमीषुः ॥५७॥
इति कृतजलकेलिकौतुकास्ताः सह दयितैः सुदृशस्ततोऽवतेरुः ।
कलुषितहृदयस्तदा नवोऽपि प्रकटमभूदिव तद्वियोगदुःखैः ॥५८॥
जलविहरणकेलिमुत्सृजन्त्याः कचनिचयः क्षरदम्बुरम्बुजाक्ष्याः ।
परिविदितनितम्बसङ्गसौख्यः पुनरपि बन्धभियेव रोदिति स्म ॥५९॥

संदिहाना सक्रोधं वक्रितकन्धरं सखीभिः सह वार्तां मुक्त्वा पतिमीक्षांचक्रे ॥५३॥ अकलुषेति—निर्मलसलिलप्रक्षालितासु पत्रवल्लीषु कुचस्थले नखक्षतपङ्क्तिः शुशुभे खड्गच्छिन्नासु वल्लीषु उद्धृतरक्तमूलकन्दश्रेणिरिव ॥५४॥ अविरतेति—जलकेलिप्रवृत्तानां कामिनीनां स्तनतटविगलितैः कुङ्कुमैर्नर्मदा पिञ्जरिता समुद्रमपि रञ्जयांचकार। यथा काचित् प्रचुरसपत्नीनां कुङ्कुमादिविशेषभोगलक्ष्मीका पतिमनुकूलयति ॥५५॥ अहमिति—अहं निम्नगामित्वेन प्रसिद्धापि जनैः सर्वविदितं स्वैरमुपभुक्ता। इति महाप्रमोदमाद्यन्मानसा नर्मदा तरलतरङ्गहस्तैर्नृत्यं चकारेव। यथा काचिन्नीचविटासक्तापि जनैरुपभुज्यमाना सुभगंमन्यमाना प्रमोदलीलानृत्यं विदधाति ॥५६॥ दिनमिति—संप्रति दिनं मन्दायते ततो यूयं विरहवेदनां यदि जानीथ तदा गृहं प्रतियात यथाहमकांदिशीकं निजकान्तं प्रसादयामीति करुणाक्रन्देन चक्रवाक्या विज्ञप्ता इव ताः सर्वा अपि स्त्रियो गृहान् प्रति प्रतस्थिरे ॥५७॥ इतीति—ताभिर्मुक्तो जलाशयो गडुलो बभूव। अतश्चोत्प्रेक्ष्यते विरहदुःखम्लान इव। शेषं सुगमम् ॥५८॥ जलेति—कस्याश्चिज्जलक्रीडाया विरमन्त्याः कवरीकलापश्च्योतद्बिन्दुजालको रुरोदेव। किमर्थं रोदितीत्याह बन्धग्रन्थिभयेनेव। यतोऽसौ मुक्तलः संलब्धपृथुलनितम्बलोलनस्पर्शनसौख्यः। अथ चोक्तिलेशः—यथा कश्चिच्चिरबन्धनाद्दैवयोगेन मुक्तः कियत्कालं लब्धप्रसरः पुनर्बन्धनाय प्रगुणितो महा-

चुपचाप गर्दन घुमाकर ईर्ष्याके साथ पतिको देखने लगी ॥५३॥ जब स्त्रियोंकी नयी-नयी पत्रलताएँ स्वच्छ जलसे धुलकर साफ हो गयीं तब स्तनोंकी मध्यभूमिमें नखक्षतोंकी पंक्तिने अवशिष्ट लाल कन्दकी शोभा धारण की ॥५४॥ उस समय निरन्तर जलक्रीडामें चपल स्त्रियोंके स्तनकलशसे छूटी हुई केशरसे नर्मदा नदी इतनी रक्त हो गयी थी मानो उसने शरीरमें बहुत भारी अंगराग ही लगाया हो और इसीलिए मानो उसने नदीपति—समुद्रको अत्यन्त रक्त—लालवर्ण [पक्षमें अनुरागसे युक्त] किया था ॥५५॥ मैं यद्यपि नीच मार्गमें आसक्त हूँ [पक्षमें नीचे बहने वाली हूँ] फिर भी अभ्युदयशाली मनुष्योंने मेरा इच्छानुसार उपभोग किया—यह विचारकर नर्मदा नदी तरंगरूप बाहुदण्ड फैलाकर आनन्दके भारसे मानो नृत्य ही कर रही थी ॥५६॥ अब दिन क्षीण हो गया है—समाप्त होने वाला है, आप लोग घर जावें, मैं भी क्षणभर निर्भय हो अपने पतिका उपभोग कर लूँ—इस प्रकार चक्रवाकीने दयनीय शब्दों द्वारा उन स्त्रियोंसे मानो प्रार्थना की थी इसलिए उन्होंने घर जानेकी इच्छा की ॥५७॥ इस प्रकार जलक्रीड़ाका कौतुक कर वे सुलोचनाएँ अपने पतियोंके साथ नदीसे बाहर निकलीं। उस समय नदीका हृदय [मध्यभाग] मानो उनके वियोगरूप दुःखसे कलुषित—दुःखी [पक्षमें मलीन] हो गया था ॥५८॥ जलविहारकी क्रीडा छोड़नेवाली किसी कमलनयनाके केशोंसे पानी झर रहा था जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे कि 'अबतक तो

मुखशशिविमुखीकृतावतारे सतमसि पक्ष इवोच्चये कचानाम् ।
अविरलजलबिन्दवस्तदानीमुडुनिकरा इव रेजिरे वधूनाम् ॥६०॥
प्रणयमथ जलाविलांशुकानां मुमुचुरुदारदृशः क्षणात्तदानीम् ।
ध्रुवमवगणयन्ति जाड्यभीत्या स्वयमपि नीरसमागतं विदग्धाः ॥६१॥
अतिशयपरिभोगतोऽम्बुलीला रसमयतामिव सुभ्रुवोऽभिजग्मुः ।
सितसिचयपदाद्यदुत्तरङ्गं पुनरपि भेजुरिमाः पयःपयोधिम् ॥६२॥
मरुदपहृतकङ्कणापि कामं करकलितामलकङ्कणा तदानीम् ।
कचनिचयविभूषितापि चित्रं विकचसरोजमुखी रराज काचित् ॥६३॥
अनुकलितगुणस्य सौमनस्यं प्रकटमभूत्कुसुमोच्चयस्य तेन ।
अहमहमिकया स्वयं वधूभिर्यदयमधार्यत मूर्ध्नि संभ्रमेण ॥६४॥

श्रुवाहं रोदिति ॥५९॥ मुखेति—कवरीकलापे कृष्णपक्ष इव मुखचन्द्रविभीत्या पराङ्मुखं पलायमाने तन्मध्यगजलबिन्दवस्तदानीमुडुनिकरा इव शुशुभिरे। अत्र मुखचन्द्रयोः कुन्तलकलापकृष्णपक्षयोस्तारकजलबिन्दूनां चोपमानोपमेयभावः ॥६०॥ प्रणयमिति—अथानन्तरं तास्तरलदृशो जलार्द्रवसनानामभिलाषं तत्याज। अथवा युक्तमेतत्—शीतभयेन निजमपि वस्त्रादिकं नीरे समागतं नीरसमागतं पक्षे नीरसमरसम् आगतं प्राप्तं विदग्धा गुणिनो जडजनं त्यजन्ति मूर्खत्वदोषसंक्रान्तिभयेन ॥६१॥ अतिशयेति—एता मृगाक्ष्यो जलकेलिरसप्रवृत्ता महानुभवनाज्जलक्रीडैकलम्पटा इव बभूवुः। कथं ज्ञायन्त इत्याह—यदमूर्धवलवसनपरिधानव्याजात् पुनरपि दुग्धाब्धिमिव प्रविविशुः। धवलवसनकिरणैः प्रच्छादिता दुग्धाब्धिमध्यगता इवेति भावः। उत्तरङ्गमुत्कल्लोलं समुद्रम् उत्कलिकं वसनमिति ॥६२॥ मरुदिति—काचिद्विकसत्कमलमुखी रराज। मन्दवातशोषितजलकणापि परिहितकङ्कणाद्यलङ्करणा शिथिलकुन्तलभारग्रन्थिमण्डिताः। अथ च विरोधः। या किल देवापहृतकङ्कणाद्यलंकरणा सा कथं सकङ्कणा स्यात्। या कचनिचयभूषिता सा कथं विकचसरोजमुखी स्यादिति ॥६३॥ अनुकलितेति—गुणगुम्फितस्य पुष्पसमूहस्य सौमनस्यं सुचेतनत्वं तदा सर्वजनानुभूतं प्रकटीबभूव। यत्कियदेताभिर्मनस्विनीभिरहमहमिकया मुक्तयथाक्रमग्रहणेन संभ्रमेण उत्तालचेतसा शिरसि बिभरांबभूवे। यथा कस्यचिद्गुणिनो जनैरहमहमिकया पोपूज्यमानस्य सहृदयत्वादिगुणाः प्रकटीभवन्ति ॥६४॥

हमने खुले रहनेसे नितम्बके साथ समागमके सुखका अनुभव किया पर अब फिर बाँध दिये जावेंगे' इस भयसे मानो रो ही रहे थे ॥५९॥ कितनी ही स्त्रियोंके मुखरूप चन्द्रमासे पीछेकी ओर केशोंका समूह नीचेकी ओर लटक रहा था और वह ऐसा जान पड़ता था मानो मुखरूपी चन्द्रमासे भयभीत हो उलटा भागता हुआ अन्धकार युक्त कृष्ण पक्ष ही हो। तथा उस केशसमूहसे जो अविरल जलकी बूँदें निकल रही थीं वे नक्षत्रोंके समूहके समान सुशोभित हो रही थीं ॥६०॥ उस समय उदार दृष्टिवाली स्त्रियोंने जलसे भीगे वस्त्रोंका स्नेह क्षणभरमें छोड़ दिया था सो ठीक ही है क्योंकि चतुर मनुष्य जाड्य-शैत्यके भयसे [पक्षमें जड़ताके भयसे] नीरसमागत—जलसे युक्त वस्त्रोंको [पक्षमें आगत नीरस मनुष्यको] स्वयं ही छोड़ देते हैं ॥६१॥ ऐसा जान पड़ता था मानो वे स्त्रियाँ अधिक कालतक उपभोग करनेके कारण जलक्रीडाके रससे तन्मयताको ही प्राप्त हो चुकी थीं इसीलिए तो सफेद वस्त्रोंके छलसे लहराते हुए क्षीरसमुद्रमें पुनः जा पहुँची थीं ॥६२॥ उस समय किसी स्त्रीके कंकण [पक्षमें जलकण] वायुने अपहृत कर लिये थे फिर भी उसके हाथमें उज्ज्वल कंकण थे। यद्यपि वह कचनिचय—केशसमूहसे विभूषित थी फिर भी विकचसरोजमुखी—केशरहित कमलरूप मुखसे सुशोभित थी [पक्षमें खिले हुए कमलके समान मुखसे सुशोभित] थी यह बड़ा आश्चर्य था ॥६३॥ गुणोंसे [पक्षमें तन्तुओंसे] सहित पुष्प समूहका सौमनस्य—पाण्डित्य [पक्षमें पुष्पपना] प्रकट ही था इसीलिए तो स्त्रियोंने उसे बड़ी शीघ्रताके

समुचितसमयेन मन्मथस्य त्रिभुवनराज्यपदे प्रतिष्ठितस्य ।
मृगमदतिलकच्छलान्मृगाक्षी न्यधित मुखे नवनीलमातपत्रम् ॥६५॥

अभिनवशशिनो भ्रमेण मा भून्मम वदनेन समागमो[1] मृगस्य ।
श्रवणगतमितीव कापि पाशद्वयमकरोन्मणिकुण्डलच्छलेन ॥६६॥

मृगमदघनसारसारपङ्कस्तबकितकुम्भनिभस्तनी सखीनाम् ।
हृदि मदनगजेन्द्रमात्तधूलीमदमिव काचिददर्शयत्कृशाङ्गी ॥६७॥

लवणिमरसपूर्णनाभिवापीमनु जलयन्त्रघटीगुणोपमानम् ।
निरवधि दधती कयापि मुक्तामणिमयहारलता न्यधायि कण्ठे ॥६८॥

अभिमुखमभिदह्यमानकृष्णागुरुघनधूमचयच्छलेन तन्व्यः ।
स्मरपरवशवल्लभाभिसारोत्सुकमनसः परिरेभिरे तमांसि ॥६९॥

समुचितेति—काचिन्मृगाक्षी कस्तूरिकाविरचितपत्रवल्लीवलयव्याजात् कामस्य नीलमेघडम्बरं बिभरांबभूव । किंविशिष्टस्येत्याह—योग्यकालेन त्रिभुवनराज्यलक्ष्मीपदेऽभिषिक्तस्य । भामिनीभालफलके कस्तूरीलिखितं वर्तुलतिलकं कामच्छत्रमिवेति भावः ॥६५॥ अभिनवेति—काचित्तरललोचना कर्णगतरत्नताटङ्कव्याजेन पाशयुग्मं रचयांचकार । किमर्थमित्याह—मम मुखे पूर्णचन्द्रमण्डलभ्रान्त्या मा मृग आगमदिति । बाह्य एव पाशाभ्यां रुध्यतामिति भावः ॥६६॥ मृगेति—काचित्तन्वी कस्तूरीकर्पूरपरागधूसरितपीनस्तनी निजहृदये गृहीतधूलीमदं कामकरीन्द्रं सखीनां पुरतः प्रतिपादयामास । मामद्यमानो हि हस्ती प्रथममात्मानं धूसरयतीति धूलीमदः ॥६७॥ लवणिमेति—कयाचिन्निस्तुलवर्तुलशीतलनिर्मलस्थूलमुक्ताफलमाला कण्ठे समारोपिता । किं कुर्वतीत्याह—अरघट्टस्य सघट्टीकमालामनुकुर्वती । अन्याप्यरघट्टमाला कूपादौ भवति । तदर्थमाह—लावण्यपीयूषपरिपूर्णनाभीवापीसमीपे ॥६८॥ अभीति—दंदह्यमानकृष्णागुरुधूमवर्त्तिव्याजेन तास्तन्व्यो ध्वान्तान्याशिश्लिषुः । किमर्थमित्याह—कामविह्वलत्वेन परवशाः । अतश्च दिवापि प्रियाभिसरणोत्तालचेतस-

साथ संभ्रमपूर्वक अपने मस्तकपर धारण किया था ॥६४॥ किसी मृगनयनीने अपने मुखपर कस्तूरीका गोल-गोल तिलक लगा रखा था उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने योग्य समयमें त्रिभुवनके राज्य स्थानपर प्रतिष्ठित कामदेवके ऊपर नीलमणिका नूतन छत्र ही लगाया था ॥६५॥ नये चन्द्रमाके भ्रमसे मेरे मुखके साथ मृगका समागम न हो जावे—इस विचारसे ही मानो किसी स्त्रीने मणिमय कुण्डलोंके छलसे अपने कानोंमें दो पाश धारण कर रखे थे ॥६६॥ जिसके कलशतुल्य स्तन कस्तूरी और कपूरके श्रेष्ठ पङ्कसे लिप्त हैं ऐसी कोई स्त्री मानो अपनी सखियोंको यह दिखला रही थी कि मेरे हृदयमें धूली और मदसे युक्त कामदेवरूपी करीन्द्र विद्यमान है ॥६७॥ किसी एक स्त्रीने मोतियों और मणियोंसे बनी वह हारलता धारण की थी जो कि सौन्दर्यरूपी जलसे भरी नाभिरूपी वापिकाके समीप घटीयन्त्रकी रस्सियोंकी शोभा धारण कर रही थी ॥६८॥ कितनी ही स्त्रियाँ सम्मुख जलते हुए कालागुरुके सघन धूम समूहका आलिंगन कर रही थीं और उससे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो कामसे विह्वल हो पतिके साथ अभिसार करनेके लिए उत्सुक चित्त हो अन्धकार-का ही आलिङ्गन कर रही थीं—कामातिरेकसे विवश हो दिनको ही रात्रि बना रही थीं ॥६९॥

१. समागतो म० घ० ।

रतिरमणविलासोल्लासलीलासु लोलाः
किमपि किमपि चित्ते चिन्तयन्त्यस्तरुण्यः ।
प्रविरचितविचित्रोदारशृङ्गाररसाराः
सह निजनिजनाथैः स्वानि धामानि जग्मुः ॥७०॥
इत्थं वारिविहारकेलिगलितश्रोणीदुकूलाञ्चला
वीक्ष्यैताः परयोषितः सुकृतधूर्धुर्यो जगद्बान्धवः ।
तद्दोषोपचयप्रमार्जनविधौ दत्ताशयः सांशुको-
प्यब्धि स्नातुमिवापरं दिनमणिस्तत्कालमेवागमत् ॥७१॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
जलविहारो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

स्तदर्थं ध्वान्तमन्तरेण दिवा प्रियाभिसरणं न भवतीति भावः ॥६९॥ रतीति—तास्तन्व्यः सहचरैः सह निजवासान् प्रापुः । सुरतविलासरहस्यलीलासु लम्पटास्तत्कृत्यं किमपि चेतसि चिन्तयन्त्यः शृङ्गाररसारा इति ॥७०॥ इत्थमिति—इत्थं ताः परस्त्रीर्जलकेलिविगलितान्तरीया दृष्ट्वा धर्मधुराधुरीणो भुवनज्येष्ठभ्राता ततो वधूटीसर्वाङ्गदर्शनोद्भूतं दोषं निराकर्तुमनाः सकिरणः पश्चिमसमुद्रे तदा स्नातुं दिनमणिरादित्यो जगाम । अथ सदोषः सचेलं स्नातीति प्रसिद्धम् ॥७१॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां त्रयोदशः सर्गः परिसमाप्तः ॥१३॥

काम विलाससे पूर्ण लीलाओंमें सतृष्ण स्त्रियाँ विविध प्रकारका उत्तम शृंगार कर मनमें नये-नये मनसूबे बाँधती हुई अपने-अपने पतियोंके साथ अपने-अपने घर गयीं ॥७०॥ इस प्रकार पुण्यात्माओंमें श्रेष्ठ जगद्बान्धव-सूर्य जल विहारकी क्रीड़ामें वस्त्ररहित इन परस्त्रियोंको देख, दोषसमूहको दूर करनेके अभिप्रायसे सांशुक—सवस्त्र [पक्षमें किरण सहित] स्नान करनेके लिए ही मानो पश्चिम समुद्रकी ओर चल पड़ा ॥७१॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें
जलविहारका वर्णन करनेवाला तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१३॥

चतुर्दशः सर्गः

स्वं सप्तधा स्यन्दनसप्तिदम्भात्कृत्वा समाराधयतोऽथ वृद्ध्यै ।
ध्वान्तस्य भानुः कृपयेव दातुं प्रस्तावमस्ताचलसंमुखोऽभूत् ॥१॥
अपास्य पूर्वामभिसर्तुकामो गुप्तां दिशं पाशधरेण सूर्यः ।
विलम्बमानापसरन्मयूखैः पपात पाशैरिव कृष्यमाणः ॥२॥
स्वैराभिसारोत्सवसंनिरोधात्क्रोधोद्धुराणामिव बन्धकीनाम् ।
अर्कस्तदा रक्तकटाक्षलक्षच्छटाभिराताम्ररुचिर्बभूव ॥३॥
तां पूर्वगोत्रस्थितिमप्यपास्य यद्वारुणीं नीचरतः सिषेवे ।
स्वसंनिधानादपसार्यते स्म महीयसा तेन विहायसार्कः ॥४॥
यथा यथा चण्डरुचिः प्रतीच्यां संतापमुत्सृज्य बभूव रक्तः ।
स्पर्धानुबन्धादिव कामिनोऽपि तथा तथा प्रेमवतीष्वरज्यन् ॥५॥

स्वमिति—आत्मानं रथनीलाश्वव्याजेन सप्तरूपं कृत्वा सेवमानस्यान्धतमसस्य प्रसरप्रस्तावं दातुमस्ताचलचूलिकामादित्य आरुरोह कृपयेव दयाभरेणेव । वाहनादिप्रकारेण सेवमानस्य शत्रोरपि कृपाभरेणोपरोधिता महान्तस्तदभीष्टं पूरयन्त्येव ॥१॥ अपास्येति—पूर्वां दिशं त्यक्त्वा पश्चिमां वरुणप्रतिपालितां जिगमिषुर्विलम्बमानैरपसरद्भिः किरणैर्वरुणपाशैरिव कृष्यमाण आदित्योऽधस्तात्पतितः । यथा कश्चिद्विवाहितां पूर्वपत्नीं परित्यज्यापरां दण्डपाशिकादिनाधिष्ठितामभिसिसीर्षुः पाशैराकृष्य पात्यते ॥२॥ स्वैरेति—तदा चरमाचलचूलचुम्बी भास्वान् जपापुष्पस्तवक इव रक्तो बभूव । कथमस्य रक्तत्वमित्याह—कोपारुणैः स्वैरिणीनां कटाक्षपरम्परापातैश्छुरित इव । कथमासां कोप इत्याह—स्वैरविहारमहोत्सवप्रतिरोधकत्वादस्य । रक्तकटाक्षैः पावकपोतैरिवाहत आदित्य इत्यर्थः ॥३॥ तामिति—यत्तां भास्वान् पूर्वाचलस्थितिं परित्यज्य नीचैः पश्चिमाशां शिश्राय तेनैव कारणेन गुरुणा गगनेनात्मसमीपान्निःकास्यते । यथा कश्चिन्निजकुलस्थितिं मुक्त्वाऽधममित्रविप्रतारितो मदिरां पिबति ततः कुलवृद्धेन त्यज्यते ॥४॥ यथेति—यथा यथादित्यः संतापं मुक्त्वा पश्चिमकामिन्यां गतः प्रेमरक्तो बभूव तथा तथा तमनुस्पर्धमाना इव कामिनोऽपि निजप्रियासु स्व-

तदनन्तर रथके घोड़ोंके बहाने अपने आपको सात प्रकार कर वृद्धिके लिए आराधना करनेवाले अन्धकारको दयापूर्वक अवसर देनेके लिए ही मानो सूर्य अस्ताचलके सन्मुख हुआ ॥१॥ सूर्य, पूर्व दिशा [पक्षमें पहली स्त्री]को छोड़ पाशधर—वरुण [पक्षमें बन्धनको धारण करनेवाले पुरुष]के द्वारा सुरक्षित—पश्चिमदिशा [पक्षमें अन्य स्त्री]के साथ अभिसार करना चाहता था अतः नीचे लटकती हुई किरणोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो पाशधरके पाशोंसे खींचकर ही नीचे गिर रहा हो ॥२॥ उस समय सूर्य रक्तवर्ण हो गया था सो ऐसा जान पड़ता था मानो स्वच्छन्दतापूर्वक प्रेमियोंके पास आना-जाना रूप उत्सवमें रुकावट डालनेके कारण अत्यन्त कुपित व्यभिचारिणी स्त्रियोंके लाल-लाल लाखों कटाक्षोंसे ही रक्तवर्ण हो गया था ॥३॥ चूँकि सूर्य, पूर्वगोत्र—उदयाचलकी स्थितिको [पक्षमें अपने वंशकी पूर्व परम्पराको] छोड़ नीचे स्थानोंमें आसक्त हो [पक्षमें नीच मनुष्योंकी संगतिमें पड़] वारुणी पश्चिम दिशा [पक्षमें मदिरा]का सेवन करने लगा था अतः महान् [पक्षमें उच्चकुलीन] आकाशने उसे अपने संपर्कसे हटा दिया था ॥४॥ सूर्य संताप छोड़ पश्चिम दिशामें जिस-जिस प्रकार रक्त—लालवर्ण [पक्षमें अनुरागयुक्त] होता जाता था उसी-उसी

प्राप्तुं पुनः प्रत्ययमोषधीषु न्यासीचकारात्मरुचोऽत्र काश्चित् ।
शेषाः रविः स्थापयितुं दिनान्ते यियासुरस्ताचलमाजगाम ॥६॥
मूर्ध्नीव लीलावनकुन्तलाढ्ये तिष्ठन् भुवो भानुरिहास्तशैले ।
चूडामणित्वं प्रययौ दिनान्तेऽप्यहो महत्त्वं महतामचिन्त्यम् ॥७॥
अस्ताद्रिमारुह्य रविः पयोधौ कैवर्तवत्क्षिप्तकराग्रजालः ।
आकृष्य चिक्षेप नभस्तटेऽसौ क्रमात्कुलीरं मकरं च मीनम् ॥८॥
आविर्भवद्ध्वान्तकृपाणयष्ट्या छिन्नेव मूले दिनवल्लिरुच्चैः ।
स्रस्तांशुमत्पक्वफला पतन्ती सद्यो जगद्व्याकुलमाततान ॥९॥
विम्बेऽर्धमग्ने सवितुः पयोधौ प्रोद्वृत्तपोतभ्रममादधाने ।
लीलांशुकाष्ठाग्रविलम्बिताहःसांयात्रिकेणाम्बुनि मङ्क्तुमीषे ॥१०॥
भूयो जगद्भूषणमेव कर्तुं तप्तं सुवर्णोज्ज्वलभानुगोलम् ।
कराग्रसंदंशधृतं पयोधेश्चिक्षेप नीरे विधिहेमकारः ॥११॥

मनुरागं वितेनिरे ॥५॥ प्राप्तुमिति—अस्तं जिगमिषुरादित्यः पर्वतं प्रति महौषधीषु कानिचित्तेजांसि स्नपनिकामिव मुमोच । अन्या अवशिष्टा भासो न्यासीकर्तुं दिवसात्ययेऽस्ताचलं प्रतिचचाल । अथ च यथा यथा पश्चिमाशां प्रसर्पति तथा तथा मन्दतेजा जायते । यथा कश्चित् कृती पुण्यदशापरिवर्ते प्रवासं चिकीर्षुर्गुरुमित्रस्थानेषु किंचिद् द्रव्यादिकं मुञ्चति पुनः प्राप्तुकामो व्यसनान्ते निशान्ते च ॥६॥ मूर्ध्नीवेति—पश्चिमाचलशृङ्गस्थो दिनमणिश्चूडामणिसादृश्यं प्राप । अस्ताचले भूविलासिनीमस्तक इव । लीलावनान्येव कुन्तलास्तैराढ्ये । अहो इति प्रकटामन्त्रणे । महतां पुण्यात्मनां दिनान्तेऽपि शुभदशाच्छेदेऽपि प्रभुत्वमद्भुतप्रभावमनन्यसाधारणम् । अत्र भूः स्त्री प्ररूपिता । अस्ताचलमस्तकयोर्वनालिकुन्तलानां चूडामणिभानुबिम्बयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥७॥ अस्ताद्रीति—सूर्योऽस्ताचलाधिरूढो मत्स्यबन्धीव क्षिप्तकिरणजालः समुद्रतोये समाकृष्य कुलीरं कर्कराशिं मकरराशिं मीनराशिं च क्रमेण प्रकटीकरोति नभस्तले । पक्षे त्रयोऽपि जलचराः ॥८॥ आविरिति—कृष्णत्वात्प्रकटीभवदन्धतमसासियष्ट्या छिन्नमूलेव गगनाङ्गणमण्डपविस्तृता दिवसवल्ली त्रुटितादित्यलक्षणपक्वरक्तफला पतन्ती विश्वं निजनिजसान्ध्यकृत्यव्याकुलं चकार ॥९॥ बिम्ब इति—अर्द्धमग्नादित्यबिम्बे उद्वृत्तब्रुडचमानप्रवहणसदृशे तदा चञ्चलकिरणव्याजदिगन्तस्थितेन दिवसेन कल्लोलभ्राम्यमाणकाष्ठफलकाग्रस्थितेन प्रवहणवणिजेव जले मिमक्षांचक्रे ॥१०॥ भूय इति—पुनरपि भुवनालंकरणं दिनमणि-

प्रकार कामी लोग भी स्पर्धासे ही मानो अपनी-अपनी प्रेमिकाओंमें अनुरक्त होते जाते थे ॥५॥ सायंकालके समय जानेके इच्छुक सूर्यने प्रत्येक पर्वतपर ओषधियोंके बीच अपनी कितनी ही किरणोंको धरोहरके रूपमें रखा था और जो कुछ बाकी बची थीं उन्हें भी रखनेके लिए अस्ताचलकी ओर जा रहा था ॥६॥ सूर्य दिनान्तके समय भी [पक्षमें पुण्य क्षीण हो जानेपर भी] उस अस्ताचलपर जो कि क्रीडावन रूप केशोंसे युक्त पृथ्वीके मस्तकके समान जान पड़ता था, चूडामणिपनेको प्राप्त हो रहा था। अहा ! महापुरुषोंका माहात्म्य अचिन्त्य ही होता है ॥७॥ सूर्य एक धीवरकी तरह अस्ताचलपर आरूढ हो समुद्रमें अपना किरणरूपी जाल डाले हुआ था, ज्योंही कर्क—केंकड़ा, मकर और मीन [पक्षमें राशियाँ] उसके जालमें फँसे त्योंही उसने खींचकर उन्हें क्रम-क्रमसे आकाशमें उछाल दिया ॥८॥ प्रकट होते हुए अन्धकाररूपी छुरीके द्वारा जिसका मूल काट दिया गया है और जिसका सूर्यरूपी पका फल नीचे गिर गया है ऐसी दिन रूपी लताने गिरते ही सारे संसारको व्याकुल बना दिया ॥९॥ समुद्रमें आधा डूबा हुआ सूर्यबिम्ब पतनोन्मुख जहाजका भ्रम उत्पन्न कर रहा था अतः चंचल किरणरूप काष्ठके अग्रभागपर बैठा हुआ दिनरूपी जहाजका व्यापारी मानो पानीमें डूबना चाहता था ॥१०॥ उस समय लाल-लाल सूर्य समुद्रके जलमें विलीन

आवर्त्तगर्तान्तरसौ पयोधेर्न्यधीयत स्यन्दनवाहवेषैः ।
आकृष्य शूरोऽपि तमःसमूहैरहो दुरन्तो बलिनां विरोधः ॥१२॥
प्रवासिना तद्विरहाक्षमेव सूर्येण पत्यारुणकान्तिदम्भात् ।
दत्त्वालये पत्रकपाटमुद्रां ययौ सहाम्भोजवनस्य लक्ष्मीः ॥१३॥
दिशां समानेऽपि वियोगदुःखे पूर्वैव पूर्वं यदभूद्विवर्णा ।
तेनात्मनि प्रेम रवेरतुल्यं प्रवासिनोऽनक्षरमाचचक्षे ॥१४॥
कामस्तदानीं मिथुनानि शीघ्रं प्रत्येकमेकः प्रजहार बाणैः ।
न लक्ष्यशुद्धिर्निबिडान्धकारे भविष्यतीत्याहितचेतसेव ॥१५॥
अन्योऽन्यदत्तं बिसखण्डमास्ये रथाङ्गनाम्नोर्युगलं प्रयत्नात् ।
सायं वियोगाद्द्रुतमुत्पतिष्णोर्जीवस्य वज्रार्गलवद्बभार ॥१६॥

बिम्बं अवर्तितसुवर्णगोलकमिव समुद्रसलिले [1]डुवोल (?) कालसुवर्णकारः । करा एव संदशस्तेन धृतम् । नहि समुद्रमज्जनमन्तरेण तदवस्थमेव भुवनालंकरणसमर्थं प्रगे पूर्वस्यां दिशि समुदितं रविबिम्बं जायत इति भावः । यथा कश्चित्सुवर्णकारो भग्नताटङ्कादिकमावर्त्य गोलकं कृत्वा पुनरपि घटनार्थं जले [2]वोलयति ॥११॥ आवर्त्तेति—असौ प्रतापपुञ्जोऽप्यादित्यो रथाश्ववेषं धृत्वा ध्वान्तपटलैः समुद्रगर्भावर्तविवरमध्ये निचिक्षेपे । आकृष्य बलात्कारेण, अथवा बलिनामप्रतिकार्याणां विरोधः सापत्नभावो दुरन्तो दुस्तरः । यथा कश्चित्सुभटः सततमविस्मृतवैरैः सपत्नैः केनचिच्छलेनाकृष्य दुरन्तामापदं नीयते ॥१२॥ प्रवासिनेति—अस्तं यियासता भास्वता परित्रेणेव विरहं सोढुमपारयन्ती पद्मखण्डलक्ष्मीः सार्द्धं जगाम शोणप्रभाव्याजात् । संकुचितपद्मानां हि बाह्यपत्रनीलच्छाया प्रतिभासते नाभ्यन्तरपत्रशोणच्छायेति भावः । किं कृत्वेत्याह—निजगृहे दलाररमुद्रां दत्त्वा । यथा काचित्प्रवासिनी निजगृहे कपाटापिधानं दत्त्वा प्रयाति ॥१३॥ दिशामिति—सर्वदिशामपि ककुभां साधारणेऽपि विरहदुःखे परं प्रथममैन्द्री दिक् श्यामला बभूव तदात्मनोऽनन्यसाधारणं प्रेमानुबन्धमादित्यस्य क्षेत्रान्तराश्रितस्यानुक्तमपि कथयांचकार ॥१४॥ काम इति—कामस्तदा सन्ध्यासमये चन्द्राद्यसहायोऽपि सर्वतो मिथुनानि निजघान । पश्चादन्धतमसे विजृम्भमाणे न लक्ष्यं द्रक्ष्यामीति वितर्कयन्निव ॥१५॥ अन्योऽन्येति—परस्परदत्तं बिसकिसलयमचर्वितमेव चक्रवाकयुगलं मुखे बभार विरहवेदनापीडितस्य निर्जि-

हो गया जो ऐसा जान पड़ता था मानो विधातारूपी स्वर्णकारने फिरसे संसारका आभूषण बनानेके लिए उज्ज्वल सुवर्णकी तरह सूर्यका गोला तपाया हो और किरणाग्र [पक्षमें हस्ताग्र] रूप सँड़सीसे पकड़ कर उसे समुद्रके जलमें डाल दिया हो ॥११॥ रथके घोड़ोंका वेष धारण करनेवाले अन्धकारके समूहने शूरवीर सूर्यको भी ले जाकर समुद्रके आवर्तरूप गर्तमें डाल दिया सो ठीक ही है क्योंकि बलवानोंके साथ विरोध करना अच्छा नहीं होता ॥१२॥ चूँकि कमलवनकी लक्ष्मी सूर्यका विरह सहनेमें असमर्थ थी अतः अपने घरमें पत्ररूपी किवाड़ बन्द कर लाल-लाल कान्तिके छलसे प्रवासी सूर्यके साथ ही मानो चली गयी थी ॥१३॥ यद्यपि वियोगका दुःख सभी दिशाओंको समान था फिर भी जो पहले पूर्व दिशा मलिन हुई थी उससे वह प्रवासी सूर्यका अपने आपमें चुपचाप अतुल्य प्रेम प्रकट कर रही थी ॥१४॥ सघन अन्धकारमें लक्ष्यका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकेगा—यह विचार कर ही मानो कामदेव उस समय बड़ी शीघ्रताके साथ अपने बाणोंके द्वारा प्रत्येक स्त्री-पुरुषपर प्रहार कर रहा था ॥१५॥ चकवा-चकवियोंके युगल परस्पर दिये हुए मृणालके जिन टुकड़ोंको बड़े प्रयत्नसे अपने मुखमें धारण किये हुए थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सायंकालके समय

१. ब्रोडयित्वा । २. ब्रोडयति ।

लब्ध्वा पयोमज्जनपूर्वमध्ये रम्यांशुकप्रावरणं दिनान्ते ।
मित्रेण दूराध्वचरेण मुक्तं वर्त्माम्बरं ध्वान्तमलीमसं तत् ॥१७॥
निमज्ज्य[1] सिन्धौ सवितुर्दिनान्ते वृथोडुरत्नोद्धरणाय यत्नः ।
यत्तत्करस्पर्शमवाप्य जग्मुर्भूयोऽपि रत्नाकरमेव तानि ॥१८॥
मित्रं क्वचित्कूटनिधिर्निधत्ते वसूनि हृत्वेत्युदितापवादः ।
सन्ध्यामथोदीरितरागरक्तां शस्त्रीमिवान्तर्निदधेऽस्तशैलः ॥१९॥
प्रदोषपञ्चास्यचपेटयोच्चैरुन्मुक्तमुक्तोज्ज्वलतारकौघः ।
ध्वस्तो नभः प्रौढगजस्य भास्वत्कुम्भोऽपरश्चेन्दुमिषादुदस्तः ॥२०॥
अथास्तसंध्यारुधिराणि पातुं विस्तारिताताराभरदन्तुरास्यः ।
वेतालवत्कालकरालमूर्तिः समुज्जजृम्भे सहसान्धकारः ॥२१॥

गमिषोर्जीवस्य दम्भोलिस्तम्भार्गलासदृशम् ॥१६॥ लब्ध्वेति—जलस्नानपूर्वं भास्वत्किरणाच्छादनं समुद्रात् प्राप्य सूर्येण गगनमार्गस्तमस्काण्डमलिनो मुमुचे । यथा कश्चिद् दूराध्वगो गन्तव्यस्वजनसकाशात्स्नानाद्यनन्तरं वस्त्राणि लब्ध्वा धूलिप्रस्वेदादिमलिनं मार्गवसनं मुञ्चति ॥१७॥ निमज्ज्येति—समुद्रे मङ्क्त्वा नक्षत्रसदृशानि स्थूलमुक्ताफलरत्नानि ग्रहीष्यामीति संध्यायां यदादित्यस्य प्रयासस्तद् वृथा निरर्थक एव । कुत इत्याह—यतः कारणात् प्रभाते तान्येवोडुरत्नानि करस्पृष्टानि समुद्रे मग्नानि अस्तमयांचक्रिरे इत्यर्थः । ततो यस्य शुभदशायामपि हस्ताद्रत्नादिकं प्रच्यवते तस्य दिनान्ते दुर्दशायां तदर्थमारम्भो मोघ एव ॥१८॥ मित्रमिति—अथानन्तरमस्ताचलः सन्ध्यामपि प्रच्छादयामास छुरिकामिव प्रकटलोकापवादः । कथमपवादः । इत्याह—अयमस्ताचलो नैकोत्तुङ्गशिखरशाली किरणान् हृत्वा सूर्यं क्वचिदज्ञातस्थाने निक्षिपति । यथा कश्चिन्मित्रद्रोही छद्मनिधानो द्रव्यं गृहीत्वा निजमित्रं घातयतीति लोकप्रसिद्धेऽरक्तलिप्तां कार्यकारिणीं क्षुरिकां पिदधाति ॥१९॥ प्रदोषेति—रजनीमुखपञ्चाननकरतलाभिघातेन गगनगजेन्द्रस्य एक आदित्यलक्षणः कुम्भोऽधः पातितः । किंविशिष्टः स इत्याह—विक्षिप्तमुक्ताफलतारकनिकरः । द्वितीयश्च कुम्भो मृगाङ्कव्याजादूर्ध्वमुच्छालितः । प्रदोषे सूर्योऽस्तमितश्चन्द्रश्चोद्गत इति ॥२०॥ अथेति—अथानन्तरमज्ञातस्थानादुद्ध्वान्तसंचयो यमास्यमलिनमूर्तिः सन्ध्याशोणितपानलम्पटो वेताल इव प्रकटीबभूव ॥२१॥

शीघ्र ही उड़नेवाले जीवको रोकनेके लिए वज्रके अर्गल ही हों ॥१६॥ लम्बा मार्ग तय करनेवाले सूर्यने सायंकालके समय समुद्रके जलमें अवगाहन कर उत्तम किरणरूप वस्त्र प्राप्त कर लिया था अतः अन्धकारसे मलिन आकाशरूप मार्गका वस्त्र छोड़ दिया था ॥१७॥ सूर्य सायंकालके समय समुद्रमें गोता लगाकर नक्षत्ररूपी रत्नोंको निकालनेके लिए जो प्रयत्न करता है वह व्यर्थ है क्योंकि प्रातःकाल उसकी किरणोंका [पक्षमें हाथोंका] स्पर्श पाकर वे पुनः समुद्र ही में चले जाते हैं ॥१८॥ यह कूटनिधि—कपटका भाण्डार [पक्षमें शिखरोंसे युक्त] अस्ताचल, वसुओं—किरणों [पक्षमें धन] का अपहरण कर मित्र—सूर्य [पक्षमें सखा] को कहीं नष्ट कर देता है—इस प्रकार ज्योंही उसका लोकमें अपवाद फैला त्योंही उसने खूनसे रंगी छुरीकी तरह लालिमासे आरक्त संध्याको शीघ्र ही अपने भीतर छिपा लिया ॥१९॥ इधर आकाशरूपी प्रौढ हाथीका मोतियोंके समान उज्ज्वल ताराओंके समूहको बिखेरनेवाला सूर्यरूपी एक गण्डस्थल सायंकालरूपी सिंहके नखाघातसे नष्ट हुआ उधर चन्द्रमाके छलसे दूसरा गण्डस्थल उठ खड़ा हुआ ॥२०॥ तदनन्तर जिसने संध्याकी लालिमारूप रुधिर पीनेके लिए ताराओंरूप दाँतोंसे युक्त मुँह खोल रखा है और कालके समान जिसकी भयंकर मूर्ति है ऐसा अन्धकार वेतालके समान सहसा प्रकट हुआ ॥२१॥

१. निर्मज्ज्य घ० म० ।

अस्ताचलात्कालवलीमुखेन क्षिप्ते मधुच्छत्र इवार्कबिम्बे ।
उड्डीयमानैरिव चञ्चरीकैर्निरन्तरं व्यापि नभस्तमोभिः ॥२२॥

अन्यं जलाधारमितः प्रविष्टे कुतोऽपि हंसे सहिते सहायैः ।
नभःसरोऽच्छेदगरीयसीभिश्छन्नं तमःशैवलमञ्जरीभिः ॥२३॥

अस्तं गते भास्वति जीवितेशे विकीर्णकेशेव तमःसमूहैः ।
ताराश्रुबिन्दुप्रकरैर्वियोगदुःखादिव द्यौ रुदती रराज ॥२४॥

तेजो निरस्तद्विजराजजीवे गते जगत्तापिनि तिग्मरश्मौ ।
तद्वासहर्म्यं तमसा विशुद्ध्यै द्यौर्गोमयेनेव विलिम्पति स्म ॥२५॥

नूनं महो ध्वान्तभयादिवान्तश्चित्ते निलीनं परिहृत्य चक्षुः ।
यच्चेतसैवेक्षणनिर्व्यपेक्षमद्राक्षुरुच्चावचमत्र लोकाः ॥२६॥

आज्ञामतिक्रम्य मनोभवस्य यियासतां सत्वरमध्वगानाम् ।
पुनस्तदा नीलशिलामयोच्चप्राकारबन्धायितमन्धकारैः ॥२७॥

अस्तेति—कालमर्कटेन सूर्यबिम्बे मधुच्छत्र इव त्रोटितक्षिप्ते तस्मादुड्डीनैर्मधुमक्षिकापटलैरिव ध्वान्तपटलैर्नभस्तलं परितः परितस्तरे ॥२२॥ अन्यमिति—इतो गगनाम्भोधेर्भास्वति पश्चिमसमुद्रं प्रविष्टे सहायैः सहिते प्रतापैर्व्याप्ते गगनतडागोऽच्छेदगुरुतमतमोजम्बालजटाभिः पिहितः । यथा एकस्मात्तडागात्तडागान्तरं सपरिवारे हंसे गते छेदकाभावाज्जम्बालजालं वरीवृध्यमानं सर आच्छादयति ॥२३॥ अस्तमिति—आदित्ये कान्तेऽस्तंगते गगनलक्ष्मीस्तमःपटलैर्विलुलितकवरीकलापेव दुस्सहप्रियविरहपीडितेव नक्षत्रवाष्पबिन्दुभिर्निःशब्दं रुदतीव राजते स्म ॥२४॥ तेज इति—भुवनतापकारिणि चण्डकिरणे निजप्रतापनिर्दलितचन्द्रबृहस्पतौ क्वाप्यस्तंगते द्यौर्नभःश्रीस्तद्वासगृहं विशुद्ध्यै पवित्रकरणाय ध्वान्तेन पिदधाति । यथा कस्मिंश्चित्पापात्मनि नियोगिनि निगृहीतब्राह्मणराजे तस्मिन् मृते प्रवसिते वा तद्गृहं साधुवासार्थं गोमयेन काचित्पवित्रयति ॥२५॥ नूनमिति—महातेजस्विनि भास्करे निगृहीते नूनमहमेवं मन्ये ध्वान्तेन कांदिशीकं तेजः स्फुरितं जनानां नयनं परित्यज्य हृदयदुर्गं समाश्रितम् । कथं ज्ञातमित्याह—यतोऽमी लोकाः पदार्थसार्थं निम्नोन्नतं हृदयेनैव ईक्षांचक्रिरे न चक्षुषा स्थलगह्वरादिकं स्मारं स्मारं संचरन्तीत्यर्थः ॥२६॥ आज्ञामिति—कंदर्पसार्वभौमाज्ञामुल्लङ्घ्य जिगमिषतां पथिकानां पुरतः संध्यासमये नीलशिलाघटितसालवलयेनेवाचरितमन्धतमसेन । नक्तं

जब काल रूपी वानरने मधुके छत्तेकी तरह सूर्य बिम्बको अस्ताचलसे उखाड़ कर फेंक दिया तब उड़नेवाली मधुमक्खियोंकी तरह अन्धकारसे यह आकाश निरन्तर व्याप्त हो गया ॥२२॥ जब सूर्य रूपी हंस अपने साथियोंके साथ यहाँसे किसी दूसरे जलाशयमें जा घुसा तब यह आकाश रूपी सरोवर कभी न कटनेके कारण बड़ी-बड़ी अन्धकार रूप शैवाल की मंजरियोंसे व्याप्त हो गया ॥२३॥ उस समय ऐसा जान पड़ता था कि आकाश रूपी स्त्री सूर्य रूप पतिके नष्ट हो जानेपर अन्धकार समूहके बहाने केश बिखेरकर तारा रूप अश्रु-बिन्दुओंके समूहसे मानो रो ही रही हो ॥२४॥ जब अपने तेजके द्वारा द्विजराज चन्द्रमा और जीव–बृहस्पति [पक्षमें ब्राह्मणका] प्राणघात करने एवं संसारको सन्ताप देने वाला सूर्य वहाँ से चला गया तब आकाश रूपी स्त्रीने उसके निवासगृहको शुद्ध करनेके लिए अन्धकारसे क्या, मानो गोबरसे ही लीपा था ॥२५॥ ऐसा जान पड़ता था कि उस समय प्रकाश अन्धकारके भयसे आँख बचाकर मानो लोगोंके चित्तमें जा छिपा था इसीलिए तो वे नेत्रोंकी परवाह न कर केवल चित्तसे ही ऊँचे-नीचे स्थानको देख रहे थे ॥२६॥ उस समय कामदेवकी आज्ञाका उल्लंघन कर जो पथिक शीघ्र ही जाना चाहते थे उन्हें रोकनेके लिए अन्धकार

लब्ध्वा समृद्धिं रतये स्वभावान्मलीमसानां मलिना भवन्ति ।
यत्पांसुला दस्युनिशाचराणामभून्मुदे केवलमन्धकारः ॥२८॥
तथाविधे सूचिमुखाग्रभेद्ये जातेऽन्धकारे वसतिं प्रियस्य ।
हृत्कक्षलग्नस्मरदाहवह्निविज्ञातमार्गेव जगाम काचित् ॥२९॥
संचार्यमाणा निशि कामिनीभिर्गृहाद्‍गृहं रेजुरमी प्रदीपाः ।
तेजोगुणद्वेषितया प्रवृद्धैस्तमोभिरान्ध्यं गमिता इवोच्चैः ॥३०॥
दधुर्वधूभिर्निशि साभिलाषमुल्लासितप्रांशुशिखाः प्रदीपाः ।
प्रत्यालयं क्रुध्यदनङ्गमुक्तप्रोत्तप्तनाराचनिकायलीलाम् ॥३१॥
पूर्वाद्रिभित्त्यन्तरितोऽथ रागात्स्वज्ञापनायोपपतिः किलेन्दुः ।
पुरन्दराशाभिमुखं कराग्रैश्चिक्षेप ताम्बूलनिभां स्वकान्तिम् ॥३२॥
ऐरावणेन प्रतिदन्तिबुद्ध्या क्षते तमोध्यामलपूर्वशैले ।
प्राची तटोत्थैरिव धातुचूर्णैरिन्दो कराग्रैश्छुरिता रराज ॥३३॥

कामाज्ञया कीलिताः स्थानस्था एव लोका न कुत्रचित् संचरिष्णवः ॥२७॥ लब्ध्वेति—मलिना दुष्टात्मानः समृद्धिं प्रभुत्वकाष्ठां लब्ध्वा मलीमसानां तादृशदुर्जनानामेव रतये हर्षहेतवे भवन्ति न साधूनाम् । केनोल्लेखेनेत्याह—यतः स्वैरिणीचोरराक्षसानामेव प्रमोदाय ध्वान्तं बभूव न दिवाकर्मणां जनानाम् ॥२८॥ तथेति—तथा सूचिमुखभेद्ये निबिडान्धकारेऽपि काचिन्मृगाक्षी प्रियवसतिं त्वरितं जगाम हृदयजीर्णतृणसंचयदेदीप्यमानकामदावाग्निप्रकाशदृष्टमार्गेव ॥२९॥ संचार्यमाणेति—अमी प्रदीपा गृहाद् गृहं कामिनीभिः करे धृताः संचार्यमाणाः शोभन्ते स्म । अतिप्रसरप्रभुत्वमापन्नैर्ध्वान्तैरन्धत्वं प्रापिता इव । किं कारणमित्याह—तेजोगुणद्वेषितया तेजोगुणशत्रुभावेन । अन्धो हि हस्तधृतः संचार्यते न चक्षुष्मानिति भावः ॥३०॥ दधुरिति—सुरतगृहप्रकटप्रकाशार्थं वधूभिरुल्लासिता दीर्घकलिकाः प्रदीपाः प्रतिगृहं दृप्यत्कंदर्पप्रहितजाज्वल्यमानलोहनाराचसंचयतुलानां बिभरांबभूवुः । समयप्राबल्येन पुष्पशरान्मुक्त्वा तप्तनाराचान्कामः प्रहिणोतीत्यर्थः ॥३१॥ पूर्वेति—चन्द्रो जार इव पूर्वपर्वतलक्षणमित्यन्तरित आगतोऽहमस्मीति ज्ञापनाय पूर्वदिक्स्वैरिण्याः सम्मुखं शोणप्रभापटलं ताम्बूलमिव निचिक्षेप प्राहिणोत् ॥३२॥ ऐरावणेनेति—ध्वान्तध्यामलितपूर्वाचलो हस्तिभ्रमं दधानो परहस्तिबुद्ध्या धावितेन सुरकरिणा दन्तमुशलैश्चूर्णितः । ततस्तस्य तटसमुड्डीनैर्गैरिकचूर्णैरिव चन्द्र-

नील पत्थरके बने ऊँचे प्राकारका काम कर रहा था ॥२७॥ चूँकि अनेक दोषोंसे युक्त अन्धकार केवल चोर और राक्षसोंके लिए ही आनन्द दे रहा था अतः यह बात स्वाभाविक है कि मलिन पुरुष सम्पत्ति पाकर मलिन पुरुषोंके लिए ही आनन्ददायी होते हैं ॥२८॥ सुईकी अनीके अग्रभागके द्वारा दुर्भेद्य उस सघन अन्धकारके समय भी कोई एक स्त्री अपने प्रेमीके घर जा रही थी मानो हृदय रूपी वनमें लगी हुई कामदाह रूपी अग्निसे ही उसे मार्ग विदित हो रहा था ॥२९॥ रात्रिके समय स्त्रियोंके द्वारा एक घरसे दूसरे घर ले जाये जाने वाले दीपक ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुए अन्धकारने तेजोगुणके साथ द्वेष होनेके कारण उन्हें बिलकुल अन्धा ही बना दिया हो ॥३०॥ रात्रिके समय स्त्रियोंके द्वारा घर-घर बड़ी उमंगके साथ ऊँची-ऊँची शिखाओंसे सुशोभित जो दीपक जलाये गये थे वे कुपित कामदेवके द्वारा छोड़े गये सन्तप्तबाण समूहकी शोभाको धारण कर रहे थे ॥३१॥ तदनन्तर पूर्वाचलकी दीवालसे छिपे हुए चन्द्रमा रूपी उपपतिने अपना परिचय देनेके लिए पूर्वदिशाके सम्मुख किरणोंके अग्रभागसे [पक्षमें हाथोंके अग्रभागसे] पानके समान अपनी लाल-लाल कान्ति फेंकी ॥३२॥ जब ऐरावत हाथीने अन्धकारसे मलिन पूर्वाचलको प्रतिहस्ती—शत्रुहस्ती समझ नष्ट कर दिया तब चन्द्रमाकी लाल-लाल किरणोंसे व्याप्त पूर्व दिशा ऐसी सुशोभित

उदंशुमत्या कलया हिमांशोः कोदण्डयष्ट्यार्पितबाणमेव ।
भेत्तुं तमस्तोमगजेन्द्रमासीदाबद्धसंधान इवोदयाद्रिः ॥३४॥

व्यापारितेनेन्द्रककुब्भवान्या हत्वार्धचन्द्रेण तमोलुलायम् ।
कीलालधारा इव तस्य शोणाः प्रसारिता दिक्षु रुचः क्षणेन ॥३५॥

अर्धोदितेन्दोः शुकचञ्चुरक्तं वपुः स्तनाभोग इवोदयाद्रौ ।
प्राच्याः प्रदोषेण समागतायाः क्षतं नखस्येव तदाबभासे ॥३६॥

इन्दुर्यदन्यासु कलाः क्रमेण तिथिष्वशेषा अपि पौर्णमास्याम् ।
धत्ते स्म तद्वेद्मि गुणान्पुरन्ध्रीप्रेमानुरूपं पुरुषो व्यनक्ति ॥३७॥

उद्धर्तुमुद्दामतमिस्रपङ्काद्व्योमापि कारुण्यनिधिः पिशङ्गः ।
भूद्धारलीलाकिणकालिकाङ्कः[1] सिन्धोः शशी कूर्म इवोज्जगाम ॥३८॥

शोणकरैः कर्बुरिता पूर्वा दिक् राजते स्म ॥३३॥ उदंशुमत्येति—ऊर्ध्वप्रसृतकिरणया चापाकारं धारयन्त्या चन्द्रकलया संहितबाणयेव धनुर्लतया पूर्वाचल आरोपितसंधान इव । किं कर्तुम् । तमस्तोमकरीन्द्रं हन्तुम् ॥३४॥ व्यापारितेनेति—इन्द्रदिगेव भवानी चण्डिका तया ध्वान्तमहिषं प्रकटिताद्धोद्‌गतचन्द्रेण निहत्य महिषशोणधारा इव अरुणदीधितयः सर्वत्र प्रसारिताः । यथा महिषासुरं अर्द्धचन्द्रप्रहरणेन हतवती रुधिरधाराः सर्वत्र प्रसारयामास ॥३५॥ अर्धोदित इति—पूर्वदिगङ्गनाया उदयाचलकुचस्थले अर्धोद्‌गतचन्द्रस्य शुकचञ्चुसदृशीकला शोभते स्म प्रदोषभुजङ्गेन संगताया नखक्षतिरिव । प्रथमोद्‌गतत्वात्कीरचञ्चुसादृश्यम् ॥३६॥ इन्दुरिति—यदपरासु द्वितीयादिषु तिथिषु क्रमेण एकादिसंख्याः कला दधाति राकायां च षोडशापि प्रकाशयति तदहमेवं मन्ये सर्वोऽपि पुमान् स्त्रीस्नेहानुमात्रं गुणान् प्रकाशयति । यस्यां स्त्रियां यावन्मात्रस्नेहानुबन्धस्तावन्मात्रः पुंसां गुणप्रकाश इति ॥३७॥ उद्धर्तुमिति—शशी चन्द्र एव कूर्मः कमठः समुद्रादभ्युद्‌गतः । भूतलोद्धारलीलाव्रणकार्ष्ण्यमेव अङ्को लाञ्छनं यस्य । पीतवर्णः प्रथमोद्‌गतत्वाच्चन्द्रस्य । किं कर्तुमित्याह—न केवलं पृथिवी गगनमपि तमः समुद्रकर्दमादुद्धर्त्तुम् । अत्र चन्द्रकूर्मयोः किणकालिकालाञ्छनयोस्तमः समुद्र-

---

होने लगी मानो पूर्वाचलके तटसे उड़ी गेरूके चूर्णसे ही व्याप्त हो ॥३३॥ उदयाचल, चन्द्रमाकी उदयोन्मुख कलासे ऐसा जान पड़ता था मानो अन्धकार समूह रूप हाथीको नष्ट करनेके लिए धनुषपर बाण रख निशाना बाँधे ही खड़ा हो ॥३४॥ उस समय दिशाओंमें जो लाल-लाल कान्ति फैल रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो पूर्व दिशा रूपी पार्वतीके द्वारा चलाये हुए अर्धचन्द्र—बाणने अन्धकार रूपी महिषासुरको नष्ट कर उसके रुधिरकी धारा ही फैला दी हो ॥३५॥ उस समय उदयाचलपर अर्धोदित चन्द्रमाका तोताकी चोंचके समान लाल शरीर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो प्रदोष (सायंकाल) रूप पुरुषके साथ समागम करनेवाली पूर्व दिशा रूपी स्त्रीके स्तनपर दिया हुआ नखक्षत ही हो ॥३६॥ चूँकि चन्द्रमा अन्य तिथियोंमें अपनी कलाएँ क्रम-क्रमसे प्रकट करता है परन्तु पूर्णिमा तिथिमें एक साथ सभी कलाएँ प्रकट कर देता है अतः मालूम होता है कि पुरुष स्त्रियोंके प्रेमानुसार ही अपने गुण प्रकट करता है ॥३७॥ समुद्रसे पीतवर्ण चन्द्रमाका उदय हुआ मानो उत्कट अन्धकार रूपी कीचड़से आकाशका भी उद्धार करनेके लिए दयाका भाण्डार एवं पृथिवी उद्धारकी लीलासे उत्पन्न घट्टकी कालिमासे युक्त शरीरका धारक कच्छप ही समुद्रसे उठ रहा हो ॥३८॥

---

१. कालिकाङ्गः म० घ० ।

मुखं निमीलन्नयनारविन्दं कलानिधौ चुम्बति राज्ञि रागात् ।
[1]गलत्तमो नीलदुकूलबन्धा श्यामाद्रवच्चन्द्रमणिच्छलेन ॥३९॥

एकत्र नक्षत्रपतिः स्वशक्त्या निशाचरोऽन्यत्र दुनोति वायुः ।
निमील्य नेत्राब्जमतः कथंचित्पत्युर्वियोगं नलिनी विषेहे ॥४०॥

लेभे शशी शोणरुचं किरातैर्यो बाणविद्धैण इवोदयाद्रौ ।
अग्रेऽवदातद्युतिरङ्गनानां धौतः स हर्षाश्रुजलैरिवासीत् ॥४१॥

रात्रौ नभश्चत्वरमापतन्तमुद्वेल्लदुल्लोलभुजः पयोधिः ।
तनूजमिन्दुं सुतवत्सलत्वादुत्सङ्गमानेतुमिवोल्ललास ॥४२॥

तथाश्नुवानेन जगन्महोभिः कृतस्तनीयाञ्शशिनान्धकारः ।
मन्ये यथास्यैव कलङ्कदम्भादनन्यगामी शरणं प्रपेदे ॥४३॥

कर्दमयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥३८॥ मुखमिति—श्यामारात्रिरप्रस्तुता स्त्री च चन्द्रकान्तव्याजाज्जलममुचत् सात्त्विकरसरहस्यं चादर्शयत् । क्व सति । राज्ञि चन्द्रे भूपतौ च षोडशकलानिधाने गीतवाद्यलिखितादिकला-कुशले च संकुचन्ति नयनान्येवारविन्दानि [यस्मिंस्तथाभूतं] मुखं प्रथमारम्भं वदनं च चुम्बति ॥३९॥ एकत्रेति—एकत्र तारकपतिरात्मबलेन तापयति अन्यत्र च रात्रिवातः कम्पयति अतएव तन्महादुःखं पद्मिनी-मित्रविरहं कथमपि नलिननयनं संकोच्य सहते स्म । यथा काचित्कुलस्त्री प्रोषिते भर्तरि अक्षत्रकारिणि क्षितिपतौ कस्मिंश्चिद् राक्षसे च भीषयति पत्युर्विरहं लोचने निमील्य सहते ॥४०॥ लेभ इति—उदयाचलस्थश्चन्द्रः शोणप्रभां बभार भिल्लैर्बाणैर्विद्धो भेदितो मृगो यस्य, मृगरक्तशोणप्रभ इव । पश्चात् स एव चन्द्र उदयाचल-मतिक्रान्तो धवलरुचिर्बभूव । कामिनीनां हर्षाश्रुप्रवाहैः प्रक्षालित इव ॥४१॥ रात्राविति—नक्तं गगनचतुष्पथ-मागच्छन्तं निजाङ्गजं चन्द्रं प्रसारिततरलतरङ्गबाहुः समुद्रो निजाङ्कमारोपयितुमूर्ध्वमुज्जृम्भते । यथा कश्चित्सुतवत्सलो रिरंसया चत्वरे गच्छन्तं सुतं वेगेन धावित्वा उत्सङ्गे करोति ॥४२॥ तथेति—तथा भुवनं व्याप्नुवता चन्द्रेण निजकिरणकलापैस्तथा कृशीकृतोऽन्धकारो यथाहं वितर्कयामि कलङ्कवेषं धृत्वा शशिनमेव

ज्योंही चन्द्रमा रूपी चतुर [पक्षमें कलाओंसे युक्त] पतिने, जिसमें नेत्र रूपी नील कमल निमीलित हैं ऐसे रात्रिरूपी युवतीके मुखका रागपूर्वक चुम्बन किया त्योंही उसकी अन्धकार रूपी नील साड़ीकी गाँठ खुल गयी और यह स्वयं चन्द्रकान्तमणिके छलसे द्रवीभूत हो गयी ॥३९॥ एक ओर यह नक्षत्रपति—चन्द्रमा [पक्षमें क्षत्रियत्वसे रहित दुष्ट राजा] अपनी शक्तिसे दुखी कर रहा है और दूसरी ओर वह रात्रिमें चलने वाला [पक्षमें राक्षस रूप] पवन दुःखी कर रहा है अतः नेत्रकमल बन्द कर कमलिनी जिस किसी तरह पतिका वियोग सह रही थी—वियोगका समय काट रही थी ॥४०॥ जिस चन्द्रमाने उदयाचलपर लालकान्ति प्राप्त की थी मानो भीलोंने उसके हरिणको बाणोंसे घायल ही कर दिया हो वही चन्द्रमा आगे चलकर स्त्रियोंके हर्षाश्रु जलसे धुल कर ही मानो अत्यन्त उज्ज्वल हो गया था ॥४१॥ जब रात्रिके समय चन्द्रमा आकाशरूप आँगनमें आया तब तरङ्गरूप भुजाओंको हिलाता हुआ समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो पुत्रवत्सल होनेके कारण चन्द्रमा रूपी पुत्रको गोदमें लेनेके लिए ही उमँग रहा हो ॥४२॥ अपने तेजसे समस्त संसारको व्याप्त करनेवाले चन्द्रमाने अन्धकारको मानो उतना कृश कर दिया था जिससे कि वह अनन्यगति हो कलंकके छलसे

१. गलन् कामातिरेकात्स्रंसमानस्तम एव तिमिरमेव दुकूलबन्धो यस्यास्तथाभूता श्यामा रात्रिः पक्षे युवतिश्च ।

कुमुद्वतीविभ्रमहासकेलिं कर्तुं प्रवृत्ते भृशमोषधीशे ।
प्रभावभाजां ज्वलति स्म रात्रौ महौषधीनां ततिरीर्ष्ययेव ॥४४॥
दिवार्कतप्तैः कुमुदैः सुहृत्वात्प्रकाश्यमाने हृदये सितांशुः ।
उत्खाततत्पक्षसरोजमूलो रुषेव रेजे लसमानरश्मिः ॥४५॥
विलासिनीचित्तकरण्डिकायां जगद्भ्रमात्खिन्न इवाह्नि सुप्तः ।
उत्थाप्यते स्म द्रुतमंशुदण्डैः संताड्य चन्द्रेण रतेर्भुजङ्गः ॥४६॥
शशी जगत्ताडनकुण्ठितानां निशानपट्टः स्मरमार्गणानाम् ।
उत्तेजितांस्तान्यदनेन भूयो व्यापारयामास जगत्सु कामः ॥४७॥
कर्पूरपूरैरिव चन्दनाढ्यैर्मालाकलापैरिव मालतीनाम् ।
द्यौर्दक्षिणेनेव समं धरित्र्या प्रसाधिता चन्द्रमसा कराग्रैः ॥४८॥
वपुः सुधांशोः स्मरपार्थिवस्य मानातपच्छेदि सितातपत्रम् ।
अनेन कामास्पदमानिनीनां छाया परा कापि मुखे यदासीत् ॥४९॥

शरणं जगाम । यथा कश्चिद्बलवता शत्रुणा कृशितस्तमेव समाश्रयत्यन्यस्थानाभावात् ॥४३॥ कुमुद्वतीति— कुमुदिनी विकासं चिकीर्षौ चन्द्रमसि महाप्रभावाश्रयाणां महौषधीनां श्रेणी कोपेन जाज्वल्यते । यथा कश्चिदेतस्या असौ पतिरिति सर्वप्रसिद्धोऽप्यन्यां नारीमभिलषति यदा तदाग्रेतनी कोपेन जाज्वल्यते ॥४४॥ दिवेति— दिवसे चण्डकिरणप्रतापितैः कैरवैः कोशे विकास्यमाने चन्द्र उत्खातसूर्यवंशीयपद्ममूलकाण्डनाल इव आत्मपक्षीयोपतापरोषात् देदीप्यमानकिरणः । चन्द्रकिरणा बिसकाण्डधवला इत्यर्थः । यथा कश्चित्तेजस्वी प्रोष्यागतः कलत्रकथितपराभवं श्रुत्वा परेभ्यः कुपितः पश्चात् स परस्यापकर्तुर्मित्राणां सहस्रधामूलोत्खातप्रकारमपकारं करोति ॥४५॥ विलासिनीति—स्त्रीमनःकरण्डके भुवनभ्रमणात् श्रान्त इव दिवसे सुप्तो रतिभुजङ्गः कामसर्पः । तदनन्तरं चन्द्रेण गारुडिकविटेनेव कुतूहलिकिरणदण्डैराहत्योत्थाप्यते ॥४६॥ शशीति—चन्द्रो भुवनजनवज्रहृदयभेदनकुण्ठितानां कामकाण्डानां शाणपट्टः । कथं ज्ञातमिति चेत् । यदनेन शाणपट्टेन तीक्ष्णीकृतांस्तान्पुनरपि जगद्भेदनसमर्थान् कामः प्रेरयामास ॥४७॥ कर्पूरेति—चन्द्रेण निजकिरणैर्गगनलक्ष्मीर्भूम्या सार्धमलंकृता । श्रीखण्डपरागमिश्रैर्घनसारसारैरिव । अथवा सरलैर्जातीमालाकलापैरिव । दक्षिणेनेव उभयोः स्त्रियोर्यं एकरूपप्रेमा स दक्षिणस्तेनेव । तथा चन्द्रेण द्यावाभूमी एकप्रकारां धवलतां चक्राते ॥४८॥ वपुरिति—चन्द्रमण्डलं कामचक्रवर्तिनो मानातपच्छेदकमेकातपत्रमिव यदनेन चन्द्रमसा कामान्धानां स्त्रीणां

उसीकी शरणमें आ पहुँचा ॥४३॥ रात्रिके समय ज्योंही ओषधिपति चन्द्रमा कुमुदिनियोंके साथ विलास पूर्वक हास्य क्रीड़ा करनेके लिए प्रवृत्त हुआ त्योंही प्रभावशाली महौषधियोंकी पंक्ति मानो ईर्ष्यासे ही प्रज्वलित हो उठी ॥४४॥ जब दिन भर सूर्यके द्वारा तपाये हुए कुमुदोंने मित्रताके नाते चन्द्रमाको अपना हृदय खोल कर दिखाया तब सुशोभित किरणोंका धारक चन्द्रमा ऐसा जान पड़ता था मानो क्रोधसे सूर्यके मित्रभूत कमलोंकी सफेद-सफेद जड़ें ही उखाड़ रहा हो ॥४५॥ जो कामदेव रूपी सर्प समस्त जगत्‌में घूमते रहनेसे मानो खिन्न हो हो गया था और इसीलिए दिनके समय स्त्रियोंके चित्त रूपी पिटारेमें मानो सो रहा था वह उस समय किरण रूप दण्डोंसे ताड़ित कर शीघ्र जगाया जा रहा था ॥४६॥ ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रमा, समस्त जगत्‌को ताडित करनेसे मोथर हुए कामदेवके बाणोंको पुनः तीक्ष्ण करनेका पट्टक है इसीलिए तो इसके द्वारा तीक्ष्ण किये हुए बाणोंको कामदेव संसार पर पुनः चलाता है ॥४७॥ जिस प्रकार दक्षिण नायक अपने कर—हाथोंके अग्रभागसे अपनी समस्त स्त्रियोंको अलंकृत करता है उसी प्रकार चन्द्रमाने भी अपने कर—किरणोंके अग्रभागसे आकाश और पृथिवी दोनोंको ही चन्दन मिश्रित कपूरके समूहसे अथवा मालती मालाओंके समूहसे ही मानो अलंकृत किया था ॥४८॥ चन्द्रमाका शरीर कामदेव रूपी राजाका मान

किमप्यहो धाष्टर्यमचिन्त्यमस्य पश्यन्तु चन्द्रस्य कलङ्कभाजः ।
यदेष निर्दोषतया जितोऽपि तस्थौ पुरस्तात्तरुणीमुखानाम् ॥५०॥

यन्मन्दमन्दं बहलान्धकारे मनो जगामाभिमुखं प्रियस्य ।
तन्मानिनीनामुदिते मृगाङ्के मार्गोपलम्भादिव धावति स्म ॥५१॥

तावत्सती स्त्री ध्रुवमन्यपुंसो हस्ताग्रसंस्पर्शसहा न यावत् ।
स्पृष्टा कराग्रैः कमला तथाहि त्यक्तारविन्दाभिससार चन्द्रम् ॥५२॥

उपात्ततारामणिभूषणाभिरायाति पत्यौ निलये कलानाम् ।
कान्ताजनो दिग्भिरिवोपदिष्टं प्रचक्रमेऽथ प्रतिकर्म कर्तुम् ॥५३॥

जनैरमूल्यस्य कियन्ममेदं हैमं तुलाकोटियुगं निबद्धम् ।
इत्यम्बुजाक्ष्या नवयावकार्द्रं रुषेव रक्तं पदयुग्ममासीत् ॥५४॥

त्रिनेत्रभालानलदाहबिभ्यत्कंदर्पलीलानगरस्य हैमम् ।
प्रकारमुच्चैर्जघनस्य पार्श्वे बबन्ध काचिद्रशनाच्छलेन ॥५५॥

कापिच्छाया प्रमोदश्रीराविर्बभूव । छत्रं विना छायोत्पत्तिर्न स्यादिति छत्रत्वम् ॥४९॥ किमपीति—अस्य प्रसिद्धकलङ्कस्य चन्द्रस्य धृष्टतां पश्यत यूयं परिभावयत । किं निर्लज्जत्वमित्याह—असौ कलङ्की तरुणीमुखैर्निष्कलङ्कत्वेन जितोऽपि तथापि निर्दोषाणां पुरतः सकलङ्कदोष एव स्थितवान् ॥५०॥ यदिति—यन्महान्धतमसे स्त्रीणां मनो निजप्रियाभिमुखं स्खलितं जगाम तन्मन्ये चन्द्रोद्योते प्रकटमार्गदर्शनादुत्तालतां नाटयति । अथ चन्द्रोद्योते उन्मत्तमिव मनः शतधा समुज्जृम्भते ॥५१॥ तावदिति—स्त्रीणां सतीत्वं तावदेव यावदन्यपुरुषकरस्पर्शो न भवति । तथाहि स्पष्टं दृश्यतां लक्ष्मीः कमलानि मुक्त्वा चन्द्रकरस्पृष्टा शीघ्रं चन्द्रमेव शिश्राय । संकुचितपद्मानां लक्ष्मीश्चन्द्रे गतेवेत्यर्थः ॥५२॥ उपात्तेति—अथानन्तरं कामिनीजन आत्मानमलंचिकीर्षांचक्रे । गृहीतनक्षत्रमालाभूषणादिभिर्दिगङ्गनाभिरात्मप्रदर्शनेन प्रबोधित इव ॥५३॥ जनैरिति—ममानर्घ्यस्य मूल्यभावमतिक्रान्तस्य किमिति सुवर्णतुलाकोटिद्वयं निबद्धं मूल्ये कृतं पक्षे सुवर्णघटितनूपुरयुगमम् इति कोपेन पदयुगलमलक्तकरसलिप्तं कस्याश्चिन्मृगाक्ष्या बभूव ॥५४॥ त्रिनेत्रेति—काचिन्मृगाक्षी निजजघनमण्डलपार्श्वे मेखलावलयव्याजेन त्रिनेत्रललाटलोचनज्वालादाहात् शङ्कमानस्य कन्दर्पस्येव नगरे सौवर्ण-

---

रूपी आतपको नष्ट करने वाला मानो सफेद छत्र था इसीलिए तो कामवती माननी स्त्रियोंके मुख पर कोई अद्भुत छाया—कान्ति थी ॥४९॥ अरे ! इस कलंकी चन्द्रमाकी यह अनिर्वचनीय धृष्टता तो देखो, यह निर्दोषताके द्वारा हार कर भी तरुण स्त्रियोंके सामने खड़ा है, कैसा निर्लज्ज है । ॥५०॥ मानवती स्त्रियोंका जो मन सघन अन्धकारके समय पतियोंके सम्मुख धीरे-धीरे जा रहा था अब वह चन्द्रमाके उदित होनेपर मानो मार्ग मिल जानेसे ही दौड़ने लगा था ॥५१॥ ऐसा जान पड़ता है कि स्त्री तभी तक सती रहती है जब तक कि वह अन्य पुरुषके हाथका स्पर्श नहीं करती । देखो न, ज्यों ही चन्द्रमाने अपने कराग्रसे [पक्षमें हस्ताग्र से] लक्ष्मीका स्पर्श किया त्योंही वह कमलको छोड़ उसके पास जा पहुँची ॥५२॥ तदनन्तर पतियोंके आने पर स्त्रियोंने आभूषण धारण करना शुरू किया । ऐसा जान पड़ता था कि चन्द्रमा-रूप पतिके आने पर तारा-रूप मणिमय आभूषण धारण करने वाली दिशाओंने ही मानो उन्हें यह उपदेश दिया था ॥५३॥ मैं तो अमूल्य हूँ लोगोंने मेरे लिए यह कितने से सुवर्णके नूपूर पहना रखे—यह सोच कर ही मानो किसी कमलनयनाके नवीन महावरसे गीले चरणयुगल क्रोधसे लाल हो गये थे ॥५४॥ किसी स्त्रीने महादेवजीकी ललाटाग्निकी

पयोधराणामुदयः प्रसर्पद्धारानुबन्धेन[1] विलासिनीनाम् ।
विशेषतः कस्य मलीमसास्यो न[2] दीप्रभावोन्नतिमाततान ॥५६॥

चन्द्रोदयोज्जृम्भितरागवार्धेर्वेलाग्रकल्लोलमिवोल्ललन्तम् ।
श्वासैः सकम्पं निशि मानिनीनां मेने जनो यावकरक्तमोष्ठम् ॥५७॥

कायस्थ एव स्मर एष कृत्वा दृग्लेखनीं कज्जलमञ्जुलां यः ।
शृङ्गाररसाम्राज्यविभोगपत्रं[3] तारुण्यलक्ष्म्याः सुदृशो लिलेख ॥५८॥

श्लक्ष्णं यदेवावरणाय दध्रे नितम्बिनीभिर्नवमुल्लसन्त्या ।
क्रोधादिवोच्छृङ्खलया तदङ्गकान्त्यात्मनान्तर्निदधे दुकूलम् ॥५९॥

आरोप्य चित्रा वरपत्रवल्लीः श्रीखण्डसारं तिलकं प्रकाश्य ।
नारङ्गपुंनागनिषेवणीया कयापि चक्रे नवकाननश्रीः[4] ॥६०॥

शालमिव बबन्ध । यदि वा हिमस्येदं हैमं तुहिनशिलाप्राकारमिव दाहस्य शीतलेन प्रतिकार्यत्वात् ॥५५॥ पयोधराणामिति—विलासिनीनां स्तनभारोदयः प्रलम्बितहारानुबन्धेन कस्य सरसस्य पुंसो दीप्रभावोन्नतिं कामोद्रेकतां न विततान अपि तु वितताननैव विशेषतः प्राबल्येन । यथा मेघानामुदयो वर्द्धमानजलधाराधोरणिसंधाने नदी प्रभावोन्नतिं विशेषेण विस्तारयति । मलीमसास्यो गवलवर्णचूचकः पक्षे जम्बूश्यामलवर्णश्च ॥५६॥ चन्द्रोदय इति—पौर्णमासीचन्द्रदर्शनमत्तस्य रागसमुद्रस्य तटप्रथमकल्लोलमिव यावकलिप्तो बिम्बाधरो मानिनीनां जनैर्विकल्पयांचक्रे । कथं कल्लोलवच्चञ्चलत्वमित्याह—श्वासैः सकम्पं दीर्घोच्छ्वासनिश्वासैर्वेदमानं हृदये धृतमानत्वात् ॥५७॥ कायस्थ इति—असौ कामः काये तिष्ठतीति कायस्थ एव पक्षेऽक्षरजीवकः । किं कृतवानित्याह—यो नयनलेखनीं कज्जलमनोहरां कृत्वा शृङ्गारसर्वस्वोपभोगपत्रं मृगाक्ष्याः संबन्धित्वेनालेखीत् । या तारुण्यलक्ष्मीस्तस्या अलेखीत् । मृगाक्षी तारुण्यश्रिया शृङ्गारसर्वस्वमुपभोक्तव्यमिति पत्रार्थः ॥५८॥ श्लक्ष्णमिति—यदेवातिसूक्ष्मतमं दुकूलं नितम्बिनीभिः परिदधे तत्प्रच्युतकोपेनेव उद्गच्छन्त्या शरीरप्रभया आत्मनोऽन्तर्विदधे प्रच्छादितमित्यर्थः । इदं मां प्रच्छादयतीति कोपेन विशेषोल्लासितया प्रभया दुकूलमुद्भिद्य प्रच्छादितम् । शरीरप्रभाधिक्यवर्णनम् ॥५९॥ आरोप्येति—कयाचित्तरुण्या आननश्रीर्मुखलक्ष्मीः का न चक्रे का न कृता अपि तु कृतैव । यदि वा कुत्सितमाननं काननं तस्य श्रीर्न कानन-

दाहसे डरनेवाले कामदेवके क्रीडानगरके समान सुशोभित अपने नितम्ब स्थलके चारों ओर मेखलाके छलसे सुवर्णका [पक्षमें बर्फका] ऊँचा प्राकार बाँध रखा था ॥५५॥ कृष्णाग्रभागसे सुशोभित स्त्रियोंके स्तनोंकी ऊँचाई हिलते हुए हारके सम्बन्धसे किस पुरुषके हृदयमें सातिशय कामोद्रेक नहीं कर रही थी। कृष्ण मेघोंका आगमन झरती हुई धाराओंके सम्बन्धसे नदियोंके प्रभाव द्वारा जलकी विशेष उन्नति कर रहा था ॥५६॥ रात्रिके समय श्वाससे काँपते एवं लाक्षा रससे रँगे स्त्रियोंके ओठको लोगोंने ऐसा माना था मानो चन्द्रमाके उदयमें बढ़नेवाले रागरूपी समुद्रके तटपर छलकती हुई तरंग ही हो ॥५७॥ ऐसा जान पड़ता है कि कामदेव रूपी कायस्थ [लेखक] किसी सुलोचना स्त्रीकी दृष्टि रूपी लेखनीको कज्जलसे मनोहर कर तारुण्य लक्ष्मीका शृंगार भोग सम्बन्धी शासन पत्र ही मानो लिख रहा था ॥५८॥ स्त्रियाँ आवरणके लिए जो भी सुकोमल नूतनवस्त्र धारण करती थीं उनके शरीरकी बढ़ती हुई कान्ति मानो क्रोधसे ही उच्छृंखल हो उसे अपने द्वारा अन्तर्हित कर लेती थी ॥५९॥ किसी एक स्त्रीने अच्छी-अच्छी पत्रलताओंको आरोपित कर चन्दनका उत्तम तिलक लगाया

१. प्रसर्पत्—हारानुबन्धेन, प्रसर्पत् धारानुबन्धेन । २. न-दीप्रभावोन्नतिम्, दीप्रभावः कामोद्रेकः, नदीप्रभावोन्नतिम् । ३. विभाग्यपत्रं क० । ४. नवकाननश्रीः घ० म० [नवका-आननश्रीः, नवकानन-श्रीः] ।

आदाय नेपथ्यमथोत्सुकोऽयं कान्ताजनः कान्तमतिप्रगल्भाः ।
मूर्ता इवाज्ञाः स्मरभूमिभर्तुरलङ्घनीयाः प्रजिघाय दूतीः ॥६१॥

गच्छ त्वमाच्छादितदैन्यमन्यव्याजेन तस्यापसदस्य पार्श्वे ।
ज्ञात्वाशयं ब्रूहि किल प्रसङ्गात्तथा यथास्मिल्लघिमा न मे स्यात् ॥६२॥

यद्वा निवेद्य प्रणयं प्रकाश्य दुःखं निपत्य क्रमयोरपि त्वम् ।
प्रियं तमत्रानय दूति यस्मात्क्षीणो जनः किं न करोत्यकृत्यम् ॥६३॥

नार्थी स्वदोषं यदि वाधिगच्छत्याालि त्वमेवात्र ततः प्रमाणम् ।
इत्याकुला काचिदनङ्गतापादभिप्रियं संदिदिशे वयस्याम् ॥६४॥ [कुलकम्]

दृष्टापराधो दयितः श्रयन्ते प्राणाश्च मे सत्वरगत्वरत्वम् ।
तदत्र यत्कृत्यविधौ विदग्धा इति त्वमेवेति जगाद काचित् ॥६५॥

श्रीरपि तु अद्भुतप्रभावैव । किंविशिष्टा । अरङ्गपुन्नागनिषेवणीया न, अपि तु सरङ्गपुरुषप्रधानोपभोगयोग्या । किं कृत्वा । प्रधानवल्लीर्निर्माय चित्रा नानाभङ्गीयुक्ता, पुनः किं कृत्वा । श्रीखण्डमयं तिलकं कृत्वा । पक्षे कयापि मालिन्या वनलक्ष्मीः कृता । नारङ्गपुन्नागौ वृक्षविशेषौ ताभ्यामाश्रयणीया नानाप्रकारवल्लीयुक्ता हरिचन्दनप्रभृतिवृक्षशोभिता च ॥६०॥ आदायेति—अथानन्तरमात्मानमलङ्कृत्यात्युत्कण्ठितस्त्रीजनः पतिं प्रति प्रगल्भा गम्भीरवाचो दूतीः प्रेरयामास कामनृपस्य मूर्तिमतीरनवगणनीया आज्ञा इव ॥६१॥ गच्छेति—हे सखि, तस्य अपसदस्य शतशोऽपराधकारकस्य समीपे त्वं प्रयाहि अप्रकटितानुनयभावं पश्चात् तत्सत्कृता भवती तस्याभिप्रायं ज्ञात्वा प्रसङ्गेन ब्रूतां तथा यथा ममास्मिन्प्रघट्टके लघुत्वं न स्यात् । यद्येषा सपत्नी विरोधकारिका मयानुनीतं कान्तं जानाति तदा महालघुत्वमित्यस्मिन् पदोपादानम् ॥६२॥ यद्वेति—यद्वेति पूर्वगर्ववैरमोचने । अथवा हे सखि ! न त्वया पूर्वोक्तं कर्तव्यं किन्तु अनुनय एव । पूर्वप्रतिपन्नप्रेमभावं स्मारयित्वा मम विरहपीडां प्रकाश्य । किं बहुना । तस्य पादयोरपि निपत्य त्वमेकवारं तमानयेति । यतः सर्वोपायहीनो दीनो जनः किमकार्यं न करोति अपि तु करोत्येव ॥६३॥ नार्थीति—अथवा सखि ! अर्थी दोषं न जानातीति मत्वा यत्किमपि भवति तत्त्वया कर्तव्यमिति काचिद् विरहजज्वरजबलनज्वालाजटालाङ्गी सखीं संदिदेश संदेशं दत्तवत्ती ॥६४॥ दृष्टेति—हे सखि ! अत्र कृत्यविधौ त्वमेव विदग्धा····इतोऽग्रे अयं मम पतिर्धृष्टः शतशो दृष्टापराधः प्राणाश्च मे सत्वरं विरहदुःखोपद्रुता यियासव इति काचित् निजरहस्यं

[पक्षमें पत्ते वाली लताएँ लगा कर चन्दन और तिलकका वृक्ष लगाया] और इस प्रकार अच्छे-अच्छे विटोंके द्वारा [पक्षमें संतरे और नाग केशरके वृक्षोंके द्वारा] सेवनीय मुखकी नयी शोभा कर दी [पक्षमें नवीन वनकी शोभा बढ़ा दी] ॥६०॥ इस प्रकार वेष धारण कर उत्सुकताको प्राप्त हुई स्त्रियोंने कामदेव रूपी राजाकी मूर्तिक आज्ञाओंके समान अलंघनीय अतिशय चतुर दूतियाँ पतियोंके पास भेजीं ॥६१॥ तू दीनता को छिपा अन्य कार्यके बहाने उस अधमके पास जा और उसका अभिप्राय जान प्रकरणके अनुसार इस प्रकार निवेदन करना जिस प्रकार कि उसके सामने मेरी लघुता न हो ॥६२॥ अथवा हे दूति ! प्रेम प्रकट कर दुःख प्रकाशित कर और चरणोंमें भी गिर कर उस प्रियको इधर ला, क्योंकि क्षीणमनुष्य कौन सा अकृत्य नहीं करते ? ॥६३॥ अथवा अर्थी मनुष्य दोष नहीं देखता तू ही इस विषयमें प्रमाण है जो उचित समझे वह कर । इस प्रकार कामके संतापसे व्याकुल हुई किसी स्त्रीने अपनी सखीको सन्देश दिया ॥६४॥ उधर पतिका अपराध मैंने स्वयं देखा है और इधर ये मेरे प्राण शीघ्र ही जानेकी तैयारी कर रहे हैं अतः इस कार्यके करनेमें हे दूति ! तू ही चतुर

त्वद्वासवेश्माभिमुखे गवाक्षे प्रतिक्षणं चक्षुरनुक्षिपन्ती ।
त्वद्रूपमालिख्य मुहुः पतन्ती त्वत्पादयोः सा गमयत्यहानि ॥६६॥
स्त्रीत्वादरुद्धप्रसरो यथास्यां शरैरमोघैः प्रहरत्यनङ्गः ।
साशङ्कवत्केवलपौरुषस्थे तथा न दृप्ते त्वयि किं करोमि[1] ॥६७॥
यत्कम्पते निःश्वसितैः कवोष्णं गृह्णाति यल्लोचनमुक्तमम्भः ।
अवैम्यनङ्गज्वरजर्जरं तत्त्वद्विप्रयोगे हृदयं मृगाक्ष्याः ॥६८॥
आविर्बभूवुः स्मरसूर्यतापे हारावलीमूलजटा यथाङ्गे ।
त्वन्नामलीना गलकन्दलीयं तथाधिकं शुष्यति चञ्चलाक्ष्याः ॥६९॥
स्तुत्वा दिने रात्रिमहश्च रात्रौ स्तौति स्म सा पूर्वमपूर्वतापात् ।
संप्रत्यहो वाञ्छति तत्र तन्वी स्थातुं न यत्रास्ति दिनं न रात्रिः ॥७०॥
प्रगल्भतां शीतकरः स्फुरन्तु कर्णोत्पलानि प्रसरन्तु हंसाः ।
त्वद्विप्रलम्भज्वरभाजि तस्यां वीणाप्यरीणा रणतु प्रकामम् ॥७१॥

सख्युः पुरतः प्रतिपादयामास ॥६५॥ त्वदिति—दूती प्रियतमं प्रति गत्वा निवेदयतीति संबन्धः । हे सुभग ! सा मम सखी तव गेहसन्मुखे गवाक्षे प्रतिसमयं नयनं ददती । किं च त्वत्प्रतिबिम्बं लिखित्वा बारम्बारं पादयोः पतन्ती दिनान्यतिवाहयति ॥६६॥ स्त्रीति—हे सुभग ! सगर्व ! यथा एतस्यामबलायां स्त्रीत्वादिति तां तृणायाप्यमन्यमानोऽरुद्धप्रसरो जितकामी कामः शरैरमोघैः प्रहरति तथा न त्वयि पुरुषाकारगर्विते किन्तु भीत इव प्रहरति तत. किं करोमि । त्वमतिकार्यः सिद्ध इति ॥६७॥ यदिति—यत्तस्यास्तन्वङ्ग्या दीर्घतमश्वासैर्वेपते हृदयं यच्च तप्तवाष्पजलं गृह्णाति ततो मन्ये त्वद्विरहे कामज्वरज्वालाजटिलितम् । अन्योऽपि यः किल ज्वरगृहीतो भवति तस्य कम्पादिकमुष्णोदकपानं च युक्तं स्यात् ॥६८॥ आविरिति—यथा तस्याः कृशाङ्ग्या वपुषि कामादित्यतापे जाज्वल्यमाने हारावल्य एव मूलजटाः प्रकटीबभूवुस्तथा गलकन्दली शोषं याति । यथा प्रकटीभवत्सु मूलेषु कन्दलीलता शुष्यति । प्रतिक्षणं तव नामोच्चरन्ती ॥६९॥ स्तुत्वेति—सा तन्वी दिवसे रात्रिं रात्रौ च दिवसं बहुमन्यमाना यद्यद्वर्तमानकाले समापतति तत्तद्विद्वेष्टि यद्यद्याति तत्तदभिनन्दति । साम्प्रतं पुर्दिवसरात्रिविनिर्मुक्ते स्थानके तिष्ठासति ॥७०॥ प्रगल्भतामिति—तस्यां त्वद्विरहज्वरपीडितायां विच्छाय वदनलक्ष्मीकायां मृगाङ्कः प्रगल्भः स्यात् । मीलितलोचनायां कर्णावतंसनीलोत्पलानि

है ऐसा किसीने कहा ॥६५॥ वह तुम्हारे निवासगृहके सम्मुख झरोखेमें प्रतिक्षण दृष्टि डालती और तुम्हारा चित्र लिख बार-बार तुम्हारे चरणोंमें पड़ती हुई दिन बिताती है ॥६६॥ स्त्री होनेके कारण बिना रुकावटके कामदेव अपने अमोघबाणोंके द्वारा जिस प्रकार इस पर प्रहार करता है उस प्रकार आप अहंकारी पर नहीं करता क्योंकि आप पौरुष सम्पन्न हैं अतः आपसे मानो डरता है ॥६७॥ चूँकि उस मृगनयनीका हृदय श्वासोच्छ्वाससे कम्पित हो रहा है और कुछ-कुछ उष्ण अश्रु धारण कर रहा है इससे जान पड़ता है कि मानो आपके वियोगमें कामज्वरसे जर्जर हो रहा है ॥६८॥ काम रूपी सूर्यके सन्तापके समय उस चंचलाक्षीके शरीरमें ज्यों-ज्यों हारावली रूपी जड़ें प्रकट होती जाती हैं त्यों-त्यों आपके नाममें लीन रहने वाली यह कण्ठ रूपी कन्दली अधिक सूखती जाती है ॥६९॥ वह कृशांगी पहले तो दिनके समय रात्रिकी और रात्रिके समय दिनकी प्रशंसा किया करती थी परन्तु अब उत्तरोत्तर अधिक सन्ताप होनेसे वहाँ रहना चाहती है जहाँ न दिन हो न रात्रि ॥७०॥ अब जब कि वह तुम्हारे विरहज्वरसे पीडित है चन्द्रमा देदीप्यमान हो ले कर्णोत्पल विकसित हो लें हंस

१. करोति म० घ० ।

इत्थं घने व्यञ्जितनेत्रनीरे प्रदर्शिते प्रेम्णि सखीजनेन ।
क्षणान्मृगाक्षी हृदयेश्वरस्य हंसीव सा मानसमाविवेश ।।७२।।
प्रकाशितप्रेमगुणैर्वचोभिराक्रम्य बद्धा हृदये सखीभिः ।
आकृष्यमाणा इव निर्विलम्बं ययुर्युवानः स[1]विधे वधूनाम् ।।७३।।
आः संचरन्नम्भसि वारिराशेः श्लिष्टः किमौर्वाग्निशिखाकलापैः ।
स्विच्चण्डचण्डद्युतिमण्डलाग्रप्रवेशसंक्रान्तकठोरतापः ।।७४।।
अथाङ्कदम्भेन सहोदरत्वात्सोत्साहमुत्सङ्गितकालकूटः ।
अङ्गानि यन्मुर्मुरवह्निपुञ्जभाञ्जीव मे शीतकरः करोति ।।७५।।
इत्थं वियोगानलदाहमङ्गे निवेदयन्ती सुमुखी सखीनाम् ।
समेयुषस्तत्क्षणमद्वितीयामजीजनत्कापि रतिं प्रियस्य ।।७६।। [विशेषकम्]
आयाति कान्ते हृदयं विधेयविवेकवैकल्यमगान्मृगाक्ष्याः ।
तत्कालनिस्त्रिंशमनोभवास्त्रसंघातघातैरिव घूर्णमानम् ।।७७।।

प्रतिभान्तु । अहर्निशं कुसुमतल्पस्थितायां हंसाश्चङ्क्रम्यन्ताम् । मौनमास्थितायां वीणा मधुरस्वरा प्रतिभासताम् । अरीणा मनोहरा ।।७१।। इत्थमिति—अनेन प्रकारेण सवाष्पनेत्रं दूतीजनेन निवेदिते सा प्रियतमस्य हृदये प्रविष्टा । यथा मेघे व्यञ्जिते प्रेरकनीरे हंसी मानससरसि प्रविशति ।।७२।। प्रकाशितेति—तरुणा वधूनां समीपे जग्मुः । बलान्नीयमाना इव । किंविशिष्टाः । सखीभिर्हृदये नियन्त्रिताः प्रकटितस्नेहगुणैर्वचनैः । यथा कश्चिद्गुणैराबद्ध आकृष्यमाण आगच्छति ।।७३।। आ इति—यन्ममाङ्गानि शीतकरो दहति—इति संबन्धः । आ इति स्मरणेऽनुतापे वा । अयं चन्द्रः समुद्रजलान्तः संचरन् बाडवाग्निना किं तापितः आहोस्वित्तीव्रचण्डकिरणमण्डलप्रवेशेन संक्रान्ततीव्रतापः ।।७४।। अथेति—उतस्वित्सहोदरस्नेहभावात्कलङ्कव्याजेनालिङ्गितकालकूटोऽयं यदेतावत्तापकारी ममाङ्गानि संधुक्षितवह्निसंचयं दधानीव करोति ।।७५।। इत्थमिति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण सखीनां पुरतो विरहाग्नितापं निवेदयन्ती काचित् पृष्ठभागे प्रच्छन्नमागतवतो जीवितेश्वरस्याभूतपूर्वां रागलक्ष्मीं समुदपादयत् ।।७६।। आयातीति—प्रियतमे आगच्छति सति मृगाक्षीणाम् आतिथ्यकृत्ये हृदयं विवेकशून्यतामाजगाम । सर्वसात्त्विकभावादाकुलीबभूवेत्यर्थः । तदा निर्दयकंदर्पवाणव्रातपातैस्ताडच-

इधर-उधर फैल लें और मनोहर वीणा भी खूब शब्द कर ले ।।७१।। इस प्रकार अश्रु प्रकट करते हुए सखीजनने जब घना प्रेम [पक्षमें मेघ] प्रकट किया तब वह मृगनयनी हंसीके समान क्षण भरमें अपने हृदयवल्लभके मानसमें [पक्षमें मान सरोवरमें] प्रविष्ट हो गयी—पतिने अपने हृदयमें उसका ध्यान किया ।।७२।।[2] युवा पुरुष शीघ्र ही अपनी स्त्रियोंके पास गये मानो सखियोंने उन्हें प्रेमरूपी गुण [पक्षमें रस्सी] को प्रकाशित करने वाले वचनों के द्वारा जबरन बाँध कर खींच ही लिया हो ।।७३।। अरे ! क्या यह चन्द्रमा समुद्रके जलमें विहार करते समय बडवानलकी ज्वालाओंके समूहसे आलिंगित हो गया था, अथवा अत्यन्त उष्ण सूर्यमण्डलके अग्रभागमें प्रवेश करनेसे उसका कठोर सन्ताप इसमें आ मिला है ? ।।७४।। अथवा कलंकके बहाने सहोदर होनेके कारण बड़े उत्साहके साथ कालकूटको अपनी गोदमें धारण कर रहा है, जिससे कि मेरे अंगोंको मुर्मुरानलके समूहसे व्याप्त-सा बना रहा है ।।७५।। इस प्रकार शरीरमें स्थित वियोगाग्निकी दाहको सखियोंके आगे प्रकट करती हुई[3] किसी सुमुखीने तत्काल आनेवाले पतिके हृदयमें अनुपम अनुराग उत्पन्न कर दिया था ।।७६।। पतिके आने पर किसी मृगाक्षीका हृदय 'क्या करना चाहिए' इस विवेकसे विकलताको प्राप्त

१. सविधं घ० म० च० । २. कुलक ६६-७२ । ३. विशेषक ।

बाष्पाम्बुसंप्लावितपक्ष्मलेखं चक्षुः क्षणात्स्फारिततारकं च ।
किं प्रेम मानं यदि वा मृगाक्ष्याः प्रियावलोके प्रकटीचकार ॥७८॥
समुच्छ्वसन्नीवि गलद्दुकूलं स्खलत्पदं सक्वणकङ्कणं वा ।
प्रियागमे स्थानकमायताक्ष्या विसिस्मिये प्रेक्ष्य सखीजनोऽपि ॥७९॥
लावण्यमङ्गे भवती बिभर्ति दाहश्च मेऽभूद्व्यवधानतोऽपि ।
तद्ब्रूहि शृङ्गारिणि संप्रतीदं कुतस्त्वया शिक्षितमिन्द्रजालम् ॥८०॥
जाड्यं यदि प्राप्यमुरोजयोस्ते तद्वेपथुर्मानिनि मे कुतस्त्यः ।
इत्युच्चरंश्चाटुवचांसि कश्चित्प्रियामकार्षीच्च्युतमानवेगाम् ॥८१॥ [युग्मम्]
मानस्य गाढानुनयेन तन्व्या निर्वासितस्यापि किमस्ति शेषः ।
इतीव बोद्धुं हृदि चन्दनार्द्रं व्यापारयामास करं विलासी ॥८२॥
सभ्रूभङ्गं करकिसलयोल्लासलीलाभिनीत-
प्रत्यग्रार्थाप्रतिविदधती विस्मयस्मेरमास्यम् ।

मानं मूर्च्छां गतमिव ॥७७॥ बाष्पेति—अश्रुस्नातं चक्षुर्न केवलं तथाविधं स्फारिततारकं विकसितकनीनिकं च एवंविधं सत् किमिति स्नेहं दर्शयामास आहोस्वित् संचितमानमाविर्भावयांचकार । प्रियदर्शने मृगाक्ष्याः प्रेममानयोः सदृशचेष्टत्वात् । स्फारितनयनत्वमश्रुजलदर्शनं चोभयत्रापि समानत्वात् ॥७८॥ समुच्छ्वसन्निति—कस्याश्चित्सात्त्विकभावाकुलिताया एतच्चेष्टितमवलोक्य सखीजनोऽपि विस्मयांचकार किं पुनः प्रेमानुबन्धान्धरसिकः पतिः । किं तदित्याह—नीविबन्धशिथिलान्तरीयं स्खलच्चरणं रणज्झणायमानकङ्कणमिति ॥७९॥ लावण्येति—कश्चिच्चाटुवचनान्युदीरन् गतमानशल्यां मनस्विनीं चकारेति संबन्धः । हे शृङ्गारिणि ! लावण्यभारं भवती भरति दाहप्रकर्षश्च ममान्यतः स्थितस्यापि । लवणस्य भावो लावण्यं क्षारत्वं यः किल बिभर्ति तस्य दाहः स्यात् । एतच्च त्वया करणं हरमेखलसदृशं कुतः शिक्षितं येनेदमेव स्यादिति ॥८०॥ जाड्यमिति—अपरं च जाड्यं पीनत्वं तव कुचद्वये कम्पश्च मम वर्त्तते । अन्यत्र यत्र किल शीतत्वं तत्रैव कम्पोनान्यत्र एतदपि इन्द्रजालम् ॥८१॥ मानस्येति—मया शतशोऽनुनीताया मनस्विन्याः किमद्यापि निर्घाटितमानस्य लवमात्रमस्ति न वेति परीक्षितुमिव कश्चिद्विलासी चन्दनरससरसं करे हृदये परिभ्रमयामास ॥८२॥ सभ्रूभङ्गमिति—तदा जायापत्योः कापि रहसि गोष्ठी प्रवर्तते स्म । स भ्रूलतोत्क्षेपं यथा स्यात् । किंविशिष्टा ।

हो गया था मानो तत्काल कामदेवके अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र-समूहके आघातसे घूम ही रहा हो ॥७७॥ जिनकी बिरूनियाँ आँसुओंसे तर-बतर हैं और कनीनिका क्षण-क्षणमें घूम रही है ऐसे किसी मृगाक्षीके नेत्र प्रियदर्शनके समय क्या प्रेम प्रकट कर रहे थे या मान ॥७८॥ प्रिय आगमनके समय, जिसमें नीवीबन्धन खुल रहा है, वस्त्र खिसक रहा है, पैर लड़खड़ा रहे हैं और कंकण खनक रहा है ऐसा किसी विशालाक्षीका स्थान देख उसकी सखियाँ भी आश्चर्यमें पड़ रही थीं ॥७९॥ लावण्य—खारापन [पक्षमें सौन्दर्य] आप अपने शरीरमें धारण कर रही हैं और व्यवधान होने पर भी मेरे शरीरमें दाह हो रहा है । हे शृंगारवति! यह तो कहो कि तुमने यह इन्द्रजाल कहाँसे सीख लिया है ? ॥८०॥ यदि तुम्हारे स्तनोंमें जाडय—शैत्य [पक्षमें स्थूलता] है तो मेरे शरीरमें कम्पन क्यों हो रहा है ?—इस प्रकार चापलूसीके वचनोंका उच्चारण करते हुए किसी युवाने अपनी प्रियाको मानरहित कर दिया था ॥८१॥ यद्यपि तन्वीका मान गाढ़ अनुनयके द्वारा बाहर निकाल दिया है फिर भी उसका कुछ अंश बाकी तो नहीं रह गया—यह जाननेके लिए मानो विलासी पुरुष अपना चन्दनसे गीला हाथ उसके हृदय—वक्षस्थल पर चला रहा था ॥८२॥ भौंहोंके भङ्गके साथ कर-किसलयोंके उल्लासकी लीलासे जिसमें नये-नये भाव प्रकट हो रहे हैं, जो मुखको आश्चर्य

सा दम्पत्योरजनि मदनोज्जीविनी कापि गोष्ठी
यस्यां मन्ये श्रवणमयतां जग्मुरन्येन्द्रियाणि[1] ॥८३॥
चन्द्रे सिञ्चति चान्दनैरिव रसैराशा महोभिः क्षणा-
दुन्मीलन्मकरन्दसौरभमिव प्रादाय दूतीवचः ।
सोत्कण्ठं समुपेत्य कैरवमिव प्रोल्लासि कान्तामुखं
स्वस्थाः केऽपि मधुव्रता इव मधून्यापातुमारेभिरे ॥८४॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये प्रदोषवर्णनो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

पाणिपल्लवलीलानाटिताभिनवार्थाभिप्राया । किं कुर्वती । प्रतिकुर्वाणा विस्मयविकसितं वदनं । प्रियस्य वार्तया स्त्रिया मुखं विस्मयविकसितं तस्याश्च वार्तया प्रियस्येति प्रतिशब्दस्यार्थः मदनोद्रेककारिका । किं बहुना । यस्यामनुभूयमानायां शेषाणि चत्वारीन्द्रियाणि श्रवणत्वं गतानि स्वकार्ये न्यस्तानीत्यर्थः ॥८३॥ चन्द्र इति— चन्द्रे निजतेजःपीयूषवर्षैश्चन्दनरसैरिव दिगङ्गनाः स्नपयति सति केचिद्विलासिनः स्वस्थाः सुखिनो मधूनि पिपासामासुः सतृष्णं कान्तामुखमाश्रित्य । दूतीप्रणीतानुनयांश्च गृहीत्वा । यथा मकरन्दसौरभेण कृष्टा विकसितकैरववनमागत्य मधुपा मधु पिबन्ति ॥८४॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

से विहँसित बना रही है एवं जो कामको उज्जीवित कर रही है ऐसी दम्पतियोंकी वह अभूतपूर्व गोष्ठी हुई जिसमें कि मानो अन्य इन्द्रियाँ कानोंके साथ तन्मयताको प्राप्त हो रही थीं ॥८३॥ जब चन्द्रमा चन्दनके रसके समान अपने तेजसे दिशाओंको सींच रहा था तब कितने ही स्वस्थ युवा इसीके वचन सुन बड़ी उत्कण्ठाके साथ स्त्रियोंके मुख प्राप्त कर उस प्रकार मधुपान करने लगे जिस प्रकार कि खिली हुई मकरन्दकी सुगन्धि ले भ्रमर बड़ी उत्कण्ठाके साथ विकसित कुमुदके पास जा कर मधुका पान करने लगते हैं ॥८४॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

---

१. मन्दाक्रान्ता ।

पञ्चदशः सर्गः

[1]भर्गभालनयनानलदग्धं मन्मथं यदधिजीवयति स्म ।
कोऽपि कल्पतरुमध्वमृतं तत्पातुमारभत किंनरलोकः ॥१॥

शीतदीधितिविकासि सुगन्धं[2] पत्रवद्दशनकेसरकान्तम् ।
स्त्रीमुखं कुमुदवन्मधुपानां पातुमत्र मधुभाजनमासीत् ॥२॥

यावदाहितपरिस्रुतिपात्रे चित्तमुत्तरलितं मिथुनानाम् ।
तावदन्तरिह बिम्बपदेन द्रागमज्जि वदनैरतिलौल्यात् ॥३॥

दन्तकान्तिशबलं सविलासाः साभिलाषमपिबन्मधु पात्रे ।
श्लिष्यमाणमिव सोदरभावाद् व्यक्तरागममृतेन तरुण्यः ॥४॥

यामिनीप्रथमसङ्गमकाले शोणतां यदभजद्द्विजनाथः ।
तन्मधूनि ललनाकरपात्रे सोऽपि नूनमपिबत्प्रतिमूर्त्या ॥५॥

मर्गेति—त्रिनयनललाटलोचनाग्निप्लुष्टं कामं प्रत्युज्जीवयांचकार यत्तत्कल्पवृक्षसंभूतं मदिरापीयूषं किन्नरलोकः पिपासति स्म । किन्नरा देवविशेषास्तुरङ्गवक्त्रादयः ॥१॥ शीतेति—मधुपानां पानगानां भ्रमराणां च मध्वास्वादयितुं विलासिनीमुखं कैरवं च चषकस्थानीयं बभूव । चन्द्रोदयपरिपूर्णमनोरथप्रमोदितं च विकसितं च, सुगन्धं सहजसौरभोपेतं लिखितपत्रवल्लीकं सदलं च दशनकिरणमनोहरं सितवकुलपुष्पवत्सितं च ॥२॥ यावदिति—यावद् धृतमदिरारसचषके मिथुनानां मानसमुत्तानं बभूव तावद्वदनैरतिगाद्धर्यात्प्रथममेव बिम्बव्याजात्तन्मध्ये पतितम् ॥३॥ दन्तेति—दन्तज्योत्स्नाश्वेतमानं मधु स्मेरवदनाः कामिन्यः पेपीयांचक्रिरे । अथ च भ्रातृस्नेहत्वात्पीयूषेणालिङ्ग्यमानमिव विगतरागं प्रकटितानुरागं मधुपक्षे शोणच्छायम् । मदिरापीयूषयोः समुद्राज्जन्मेति प्रसिद्धिः । मधु सर्वगुणैरमृतसदृशमित्यर्थः ॥४॥ यामिनीति—प्रथमरात्रिसंगमसमये उदयाचलस्थश्चन्द्रो यद्रक्तच्छायां बभार तन्मन्ये कामिनीकरस्थितेषु चषकेषु प्रतिबिम्बव्याजेन मदिरापानमकार्षीत् ।

अनन्तर जिसने महादेवजीके ललाटस्थ नेत्रकी अग्निसे दग्ध कामदेवको जीवित कर दिया था, कोई कोई किन्नर लोग उस कल्पवृक्षके मधुरूप अमृतका पान करनेके लिए उद्यत हुए ॥१॥ चन्द्रमाके उदयमें विकसित होनेवाला, सुगन्धित, कलिकाओंसे युक्त और दाँतोंके समान केसरसे सुन्दर कुमुद जिस प्रकार भ्रमरोंके मधुपान करनेका पात्र होता है उसी प्रकार चन्द्रमाके समान प्रकाशमान, सुगन्धित, पत्ररचनाओंसे युक्त एवं वकुलपुष्पके समान सफेद दाँतोंसे सुन्दर स्त्रीका मुख, मधुपान करनेवाले लोगोंका मधुपात्र हुआ था ॥२॥ अधिकताके कारण जिससे भरा हुआ मधु छलक रहा है ऐसे पात्र जब तक दम्पतियोंके चित्त उत्सुक हुए कि उसके पहले ही प्रतिबिम्बके छलसे उनके मुख अतिलोलुपताके कारण शीघ्र ही निमग्न हो गये ॥३॥ विलाससम्पन्न स्त्रियोंने पात्रके अन्दर दाँतोंकी कान्तिसे मिश्रित जिस लाल मधुका बड़ी रुचिके साथ पान किया था वह ऐसा जान पड़ता था मानो भाईचारेके नातेसे ही आलिंगित हो रहा हो ॥४॥ रात्रिके प्रथम समागमके समय जो चन्द्रमा भी लालवर्ण हो रहा था उसका एक मात्र कारण था कि उसने भी मानो स्त्रीके हाथमें स्थित पात्रके अन्दर

१. स्वागताछन्दः 'स्वागतेतिरनभाद्गुरुयुग्मम्' इति लक्षणात् । २. सुगन्धि च० ज० ।

श्वासकीर्णनवनीरजरेणुच्छद्मना चषकसीधु पिबन्ती ।
कान्तपाणिपरिमार्जनशिष्टं मानचूर्णमपि कापि मुमोच ॥६॥

निष्ठितासवरसे मणिपात्रे पाणिशोणमणिकङ्कणभासः ।
कापिशायनधियाशु पिबन्ती काप्यहस्यत सखीभिरभीक्ष्णम् ॥७॥

यौवनेन मदनेन मदेन त्वं कृशोदरि सदाप्यसि मत्ता ।
तद्वृथायमधुना मधुधारापानकेलिकलनास्वभियोगः ॥८॥ [चतुर्भिः संबन्धः]

पुण्डरीककमलोत्पलसारैर्यत्त्रिवर्णमकरोत्किल वेधा ।
किं तु कोकनदकान्तिचिकीर्षुर्नेत्रयुग्ममधुना मधुपानात् ॥९॥

अङ्गसादमवसादितधैर्यो यो ददाति मतिमोहनमुच्चैः ।
सोऽपि सस्पृहतया रमणीभिः सेव्यते कथमहो मधुवारः ॥१०॥

सीधुपानविधिना किल कालक्षेपमेव कलयन्मदनान्धः ।
कामिनीं रहसि कोऽपि रिरंसुश्चाटुचारुपदमित्थमवादीत् ॥११॥ [कलापकम्]

अन्यथा सहजधवलवर्णस्य मदिरापानमन्तरेण रक्तच्छायाया अभावात् ॥५॥ श्वासेति—काचन चषकोपरिस्थितपद्मपरागं श्वासैरुत्क्षिपन्ती तद्व्याजेन मानपरागमपि तत्याज । किंविशिष्टं । प्रियकरपरिमार्जनोद्धृतं प्रियेण बलादालिङ्गितायाः कस्याश्चित् यो मानोऽवशिष्टः स मदिरापानात्सपदि गतः ॥६॥ निष्ठितेति—काचिन्मुग्धा मदभ्रान्तिवशात्पीतमदिरारसे चषके निजपद्मरागवलयकिरणान् शोणमदिराबुद्धया झटिति पिबन्ती सखीभिः पौनःपुन्येन जहसे ॥७॥ यौवनेनेति—कश्चिन्मधुपाने मधुधारापानकालक्षेपं प्रतिपालयितुं मदनान्धस्तरुण इत्थमवादीत्—हे ललितोदरि ! त्वमग्रेऽपि तारुण्येन कामेन सौभाग्यगर्वेण च मत्तासि तस्मात्तव साम्प्रतं मदिरापानकेलिकलनासु आग्रहो वृथा निरर्थक एव ॥८॥ पुण्डरीकेति—हे मृगाक्षि ! यत्तव नेत्रयुगलं धवलकृष्णप्रान्तशोणं ब्रह्मा सितकमलनीलोत्पलरक्तोत्पलवर्णैस्त्रिप्रकारं कृतवान् तदिदं मधु धवलकृष्णवर्णलोपि कोकनदसदृशं रक्तमेव कर्तुमिच्छति तस्मात्त्याज्यमेव । अथ च मदिरापानाद् दृशोः शोणत्वं स्यात् । तव ब्रह्मणोपकृतमेतच्चापकरोतीति ॥९॥ अङ्गेति—यो मधुवारो मदिरासेवनातिशयोऽङ्गसादमालस्यं मतिमोहं च ददाति । किंविशिष्टः । निगृहीतधैर्यः कृतविकलभावः, सोऽप्येवमपराधकारी कथं नाम रमणीयतया स्त्रीभिः सेव्यते । न सेवितुं युक्त इत्यर्थः ॥१०॥ सीध्विति—इति कांचित्कश्चित् कामिनीं रहसि रन्तुमिच्छुर्मदिरा-

---

प्रतिबिम्बके द्वारा मधुपान किया था ॥५॥ कोई एक स्त्री श्वासके द्वारा [फूँक-फूँक कर] नूतन कमलकी परागको दूर हटा-हटा कर प्यालेका मधु पी रही थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो पतिके हाथके परिमार्जनसे बाकी बचे मानरूपी चूर्णको ही छोड़ रही हो ॥६॥ कोई एक स्त्री मधुरस समाप्त हो जाने पर भी मणिमय पात्रमें पड़ने वाली लालमणिनिर्मित कंकणकी प्रभाको मधु समझ जल्दी-जल्दी पी रही थी, यह देख सखियोंने उसकी खूब हँसी उड़ायी ॥७॥ हे कृशोदरि ! चूँकि तुम जवानीसे, कामसे और गर्वसे सदासे ही मत्त रहती हो अतः तुम्हारा इस समय मधुधाराकी पान क्रीड़ामें जो यह उद्यम हो रहा है वह व्यर्थ है ॥८॥ विधाताने जिस नेत्र युगलको सफेद कमल, लाल कमल, और नील कमलका सार लेकर तीन रंगका बनाया था उसे तुम इस समय मधुपानसे केवल लाल रंगका करना चाहती हो ॥९॥ जो अंग-अंग में पीड़ा पहुँचाता है, धैर्य नष्ट कर देता है, और बुद्धिको भ्रान्त बना देता है, आश्चर्य है कि स्त्रियाँ उस मधुको भी बड़ी लालसाके साथ क्यों पीती हैं ? ॥१०॥ इस प्रकार एकान्तमें रमण करनेके इच्छुक किसी कामान्ध युवाने मद्यपानसे व्यर्थ ही विलम्ब होगा यह

उल्ललास विनिमीलितनेत्रं मन्मृगीदृशि मधूनि पिबन्त्याम् ।
तन्निपीतचषके स्फुरिताक्ष्यां लज्जयेव गतमब्जमधस्तात् ॥१२॥

मद्यमन्यपुरुषेण निपीतं पीयते कथमिवेति जिहासुः ।
चन्द्रबिम्बपरिचुम्बितमेतत्कामिना बहिरहस्यत काचित् ॥१३॥

किं न पश्यति पतिं तव पार्श्वे धृष्ट एष सखि शीतमयूखः ।
आसवान्तरवतीर्य यदुच्चैः पातुमाननमुपैति पुरस्तात् ॥१४॥

त्वत्प्रदष्टमथवा कथमग्रे दर्शयिष्यति मुखं स्ववधूनाम् ।
इत्युदीक्ष्य चषके शशिबिम्बं काप्यगद्यत सनर्म सखीभिः ॥१५॥ [युग्मम्]

स्त्रीमुखानि च मधूनि च पीत्वा द्वित्रिवेलमपरः कुतुकेन ।
अन्तरं महदिह प्रतिपद्य प्रीतिमासवरसेषु मुमोच ॥१६॥

रसमतीत्यजत् ॥११॥ **उल्ललासेति**—यत्तामरसं भृतमधुरसे चषके तरत् सत् कस्यांचिन्मृगाक्ष्यामतिसुस्वादुरसमुखनिमीलितनेत्रं यथा स्यादेवं पानतत्परायामुल्ललास उज्जजृम्भे सश्रीकं बभूवेत्यर्थः । तदेव पश्चाल्लज्जाभरेणेवाधोगतम् । किंविशिष्टायाम् । चषके विकसितलोचनायाम् । किं कृत्वा । तन्मधु पीत्वा । यावन्मृगाक्षी मीलितलोचना तावत्पद्मस्य श्रीरभूत् । उन्मिषितदृष्टयां च पद्मस्य लज्जैवेति भावः । अथ च निष्ठितमधुत्वान्निरालम्बं पद्ममधः पतत्येवेति प्रसिद्धिः ॥१२॥ **मद्येति**—केनचित्कामिना मदिरां त्यक्तुमिच्छन्ती प्राङ्गणोपविष्टा हसिता । इत्युक्तवता—हे कामिनी ! परपुरुषेणार्द्धपीतं मद्यं भवत्या पतिव्रतया कथं पीयते ? कथं परपुरुषनिपीतमित्याह—चन्द्रबिम्बपरिचुम्बितम् कलङ्किबिम्बाधरोत्सृष्टं प्रतिफलितचन्द्रमूर्तिकमित्यर्थः ॥१३॥ **किमिति**—काचित् सहासं परिवारसखीभिरालपितेति युग्मेन संबन्धः । सखि, कामान्धोऽयं धृष्टश्चन्द्रस्तव पार्श्वे परिणेतारं किं न पश्यति । यदसौ मधुपात्रमध्येऽवतारं नाटयित्वा तव बिम्बाधरं पिपासुरपसर्पति ॥१४॥ चन्द्रस्यैव विचारशून्यतां दर्शयन्नाह—**त्वदिति**—(अथवा त्वया प्रदष्टं मुखं स्वकीयमिति यावत् स्ववल्लभानां पुरस्तात्कथं दर्शयिष्यति स्वस्यान्यस्त्रीभुक्तत्वं कथं प्रकटयिष्यति । सर्वथा निर्लज्जोऽयमिति भावः । इत्थं पानपात्रे पतितं चन्द्रप्रतिबिम्बं दृष्ट्वा काचित् सहासं सखीभिरालपिता[1]) ॥१५॥ **स्त्रीति**—कश्चित्तरुणो द्वित्रिवारान् मदिरां विलासिनीबिम्बाधरं च पीत्वा कुतुकेन कस्य रसाधिक्यमिति

विचार अपनी स्त्रीसे चापलूसीके सुन्दर वचन कहे ॥११॥ जब कोई एक मृगनयनी नेत्र बन्द कर मधु पी रही थी तब प्यालेका कमल खिल रहा था पर जब उसमें मधु पी चुकनेके बाद नेत्र खोले और खाली प्याले पर उनका प्रतिबिम्ब पड़ा तब ऐसा जान पड़ने लगा कि कमल लज्जासे ही मानो नीचे जा छिपा हो ॥१२॥ कोई एक स्त्री बाहर खुले आँगनमें बैठी हुई चन्द्रमाके बिम्बसे प्रतिबिम्बित मदिरा पी रही थी, पीती-पीती जब वह उसे छोड़ने लगी तब उसके पतिने उसकी इस प्रकार हँसी उड़ाना शुरू कर दिया कि हाँ, आप अन्यपुरुषके द्वारा निपीत मदिराको कैसे पियेंगी यह चन्द्रमाके बिम्बसे चुम्बित जो हो रही है ॥१३॥ हे सखि ! यह चन्द्रमा बड़ा ढीठ मालूम होता है, क्या यह पास ही खड़े हुए पतिको नहीं देखता कि जिससे मद्यके भीतर उतर कर मुखपान करनेके लिए सामने चला आ रहा है ? ॥१४॥ अथवा तेरे द्वारा डसा हुआ मुख अपनी स्त्रियोंके आगे कैसे दिखायेगा ? इस प्रकार प्यालेमें पड़े हुए चन्द्रबिम्बको देख कर सखियोंने किसी स्त्रीसे हासपूर्वक कहा ॥१५॥ किसी एक पुरुष ने बड़े कौतुकके साथ दो तीन बार स्त्रियोंका मुख और मधु पीकर मधु रसमें प्रीति छोड़ दी

१. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः सम्पादकेन योजितः ।

बिम्बितेन शशिना सह नूनं पीवरोरुभिरपीयत मद्यम् ।
यत्तदीयहृदयान्तरलीनैर्निर्गतं सपदि मन्युतमोभिः ॥१७॥

कामहेतुरुदितो मधुदाने गोत्रभेदमकरोत्पुरतोऽन्यः ।
संगताप्यपुरुषोत्तमबुद्ध्या श्रीर्न्यवर्तत ततो वनितायाः ॥१८॥

ह्रीविमोहमपनीय निरस्यन्नन्तरीयमपि चुम्बितवक्त्रः ।
सस्पृहं प्रणयवानिव भेजे कामिनीभिरसकृन्मधुवारः ॥१९॥

जग्मतुर्मुहुरलक्ततिक्तौ यद्विदंशपदवीमधरोष्ठौ ।
तेन मद्यमधिकं स्वदते स्म स्मेरमन्मथवते मिथुनाय ॥२०॥

क्षालितोऽपि मधुना परिपीतोऽप्याननेन दशनैर्दलितोऽपि ।
स्वां मुमोच न रुचिं मिथुनानां यत्ततः कथमभूदधरोऽयम् ॥२१॥

परीक्षणाभिप्रायेण बिम्बाधरस्य महान् रस इति निश्चिकाय मदिरां प्रति च प्रीतिं तत्याज ॥१६॥ [युग्मम्] बिम्बितेनेति—अहमेवं वितर्कयामि पीनस्तनीभिश्चन्द्रेण प्रतिबिम्बितेन सार्धं मद्यमपायि यतस्तासां हृदयमध्यगैः कोपध्वान्तैः शीघ्रमेव दध्वंसे तेजस्विव्यतिरेकेण ध्वान्तच्छेदाभावात् ॥१७॥ कामेति—कश्चित्कामी कामभावोत्पादको मद्यार्पणे समुद्यतो गोत्रभेदमकरोत् नामव्यत्ययं कारितवान् आत्मन्यन्यनामारोपात् । काचिद् विलासिनी निःश्रीका बभूव । धृष्टोऽयमन्यासक्त इत्यभिप्रायेण । यथा कश्चित्पुरुषः प्रद्युम्नपितापि मधुदानवखण्डनोद्यतोऽपि लक्ष्म्या अपुरुषोत्तमबुद्ध्या 'अनारायणोऽय'मित्यभिप्रायेण त्यज्यते । कथमनारायण इत्याह—यतोऽसौ गोत्रभेदं कृतवान् गिरिपक्षच्छेदं कृतवान् ततोऽयं शक्र इति संगतोऽपि पलायते ॥१८॥ ह्रीति—मधुपानातिशयः कामिनीभिः पौनःपुन्येन सिषेवे । किंविशिष्टः । जीवितेश इव । यथा जीवितेशो लज्जादं विमोच्याधोवस्त्रमाकर्षत् वक्त्रं चुम्बति तथा सोऽपि । मत्तानां स्त्रीणां निर्लज्जत्वं वस्त्रधारणक्षमत्वं च ॥१९॥ जग्मतुरिति—तेन कारणेन दृप्यत्कन्दर्पयुक्ताय मिथुनाय अतिशयेन मदिरास्वादं ददौ । येन किमित्याह—यावकरसलेपेन तिक्तस्वादौ उभयोर्बिम्बाधरौ अपदंशपदे बभूवतुः । आर्द्रकाद्यमन्तरान्तरा भक्षस्थानं समाशिश्रियतुः । मधुरसो हि तिक्तेन सार्द्धं भृशं स्वदते इति भावः ॥२०॥ क्षालितोऽपीति—मिथुनानां दन्तच्छदस्य 'अधर' इति संज्ञाकरणं न युक्तम् । पीडावशाद् गृहीतस्वरूपत्यागी हि अधरः प्रसिद्धः । अयं च न तथा । तथाहि मधुरसेन प्रक्षालितोऽपि परस्परं मुखैः परिपीतोऽपि दन्तैः खण्डितोऽपि निजसहजरागं न तत्याज ततोऽसौ

थी मानो वह उन दोनोंके बीच बड़े भारी अन्तरको ही समझ गया हो ॥१६॥ चूँकि स्थूल जाँघों वाली स्त्रियोंने प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके साथ मद्य पिया था इसलिए मानो उनके हृदयों के भीतर छिपे हुए क्रोध रूपी अन्धकार शीघ्र ही निकल भागे थे ॥१७॥ किसी स्त्रीने काम उत्पन्न करने वाले [पक्षमें प्रद्युम्नको जन्म देने वाले] किसी एक पुरुषसे मद्य देनेकी बात कही पर उसने मद्य देते समय गोत्र भेद कर दिया—सपत्नीका नाम लेकर मद्य समर्पण कर दिया [पक्षमें वंशका उल्लंघन कर दिया] अतः स्त्रीकी श्री—शोभा [पक्षमें लक्ष्मी] संगत होने पर भी उसे अपुरुषोत्तम नीच पुरुष [पक्षमें अनारायण] समझ उससे दूर हट गयी ॥१८॥ लज्जा जनित व्यामोह और वस्त्रको दूर कर प्रेमी पतिकी तरह मुखका चुम्बन करने वाले मधुजलका स्त्रियोंने बड़ी अभिलाषाके साथ अनेक बार सेवन किया था ॥१९॥ चूँकि लाक्षारससे तिक्त ओष्ठ मद्यके द्वारा दंशजनित व्रणोंसे रहित हो गये थे अतः कामी दम्पतियोंके लिए मद्य अधिक रुचिकर हो रहा था ॥२०॥ यद्यपि स्त्री-पुरुषोंका ओष्ठ मधुके द्वारा धोया गया था, मुखके द्वारा पिया गया था, और दाँतोंके द्वारा खण्डित भी हुआ था फिर भी उसने अपनी रुचि—कान्ति [पक्षमें प्रीति] नहीं छोड़ी थी तब वह अधर—नीच कैसे हुआ ॥२१॥

त्यज्यतां पिपिपिपिपिप्रिय पात्रं दीयतां मुमुमुखासव एव ।
इत्यमन्थरपदस्खलितोक्तिः प्रेयसी मुदमदाद्दयितस्य ॥२२॥
कापिशायनरसैरभिषिच्य प्रायशः सरलतां हृदि नीते ।
भ्रूलतासु रचनासु च वाचां सुभ्रुवां घनमभूत्कुटिलत्वम् ॥२३॥
प्रोल्लसन्मृगदृशां मदनो हृद्यालवाल इव सीधुरसेन ।
भ्रूलताविलसितैरिह साक्षात्कस्य हास्यकुसुमं न चकार ॥२४॥
तोषितापि रुषमाहितरोषाप्याप तोषमबला मधुपानात् ।
सर्वथा हि पिहितेन्द्रियवृत्तिर्वाम एव मदिरापरिणामः ॥२५॥
भ्रूलता ललितलास्यमकस्मात्स्मेरमास्यमवशानि वचांसि ।
सुभ्रुवां चरणयोः स्खलितानि क्षीबतां भृशमनक्षरमूचुः ॥२६॥
भिन्नमानदृढवज्रकवाटेनास्यता जवनिकामिव लज्जाम् ।
तत्क्षणाञ्चितशरासनचण्डः सीधुना प्रकटितो विषमेषुः ॥२७॥

नागर इव ॥२१॥ त्यज्यतामिति—काचित्प्रिया निजस्य पत्युः हर्षं ददौ । किंविशिष्टा । अमन्थरैरुत्तालैः पदैः स्खलिता अर्धोच्चरितवर्णा उक्तिर्यस्याः सा तथाविधा । अतिमदिरारसपारवश्येन गद्गदवाग् घूर्णमानेत्यर्थः । कथमित्याह—प्रिय प्रिय इति वक्तव्ये स्खलितोक्तित्वात् पिपि-पिपोति प्रिय चषकं त्यज्यतामिति हृदयार्थः । मुखासव इति वाच्ये मुमुमु इति मुखासवो गण्डूषो दीयतामिति ॥२२॥ कापिशायनेति—मदिरारसैः सिक्त्वा भङ्गुरभ्रुवां हृदये ऋजुत्वं प्रापिते सति कोपकुटिलतां त्याजिते हृदयान्निर्घाटितं कुटिलत्वं भ्रूवल्लरीषु वचन-भङ्गीषु च तस्थौ । मत्तानां तासां विभ्रमो वक्रवचनं च कुतश्चित्प्रादुर्बभूव ॥२३॥ प्रोल्लसदिति—स्त्रीणां मानसस्थानके मदिरारसेन कामो भ्रूलताविभ्रमैः कस्य हास्यं न चकार । अदृष्टपूर्वैर्भ्रूभङ्गीविलासैः कस्य चमत्कृतहृदयस्य स्मेरास्यं न विदधे । प्रोल्लसन् वर्द्धमानः यथा मदनो वृक्षविशेषो मधुमधुरेण जलेन शाखा-विलसितैर्वर्द्धमानो हास्यधवलं पुष्पं दर्शयति ॥२४॥ तोषितापीति—सर्वथापि सर्वप्रकारेणापि मदिरापरिपाको विपरीत एव यतोऽसौ मोहितसर्वेन्द्रियस्वरूपः अस्य मधुनः पानात्काचित्तरुणी वैकल्यं नाटयति । तद्यथा प्रसादितापि रुषं कोपं प्राप । प्रकोपिता अनुनयमन्तरेणापि तोषमाप तुतोष ॥२५॥ भ्रूलतेति—मदाधिक्य-मावर्ण्यते—सुभ्रुवां मदपारवश्येन क्षीबतां मत्ततां भृशमेतानि चेष्टितानि अनक्षरं वचनरहितान्यपि बभाषिरे । कानि तानीत्याह—भ्रूविभ्रमनर्त्तितं निःकारणप्रहसितमुखम्, अवशानि विकलानि वचनानि ॥२६॥ भिन्नमानेति—मधुना दलितमानवज्रकपाटेन लज्जां जवनिकापटमिवोत्क्षिपता तस्मिन्काले आरोपितचापभीष्मपञ्चबाणः प्रकटी-

हे पि पि पि पि प्रिय ! प्याला छोड़िए और मु मु मु मु मुख का ही मद्य दीजिए—इस प्रकार शीघ्रतासे उच्चरित शब्दोंके द्वारा जिसके वचन स्खलित हो रहे हैं ऐसी स्त्री अपने हृदय-वल्लभको आनन्द दे रही थी ॥२२॥ मद्य रूपी रसके द्वारा सींच-सींच कर स्त्रियोंका हृदय प्रायः सरल कर दिया गया था अतः अत्यधिक कुटिलता उनकी भौंहों और वचनोंकी रचनाओं में ही रह गयी थी ॥२३॥ स्त्रियोंके हृदय रूपी क्यारीमें मद्य रूपी जलके द्वारा हरा-भरा रहने वाला मदन वृक्ष भ्रुकुटिरूपी लताओंके विलाससे साक्षात् किस पुरुषके हास्य रूपी पुष्प उत्पन्न नहीं कर रहा था ?—स्त्रियोंकी भौंहोंका संचार देख किसे हँसी नहीं आ रही थी ॥२४॥ जो स्त्री सन्तुष्ट थी वह मदिरापानसे असन्तुष्ट हो गयी और जो असन्तुष्ट थी वह सन्तोष को प्राप्त हो गयी सो ठीक ही है क्योंकि इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको आच्छादित करने वाला मदिराका परिणाम सब प्रकारसे विपरीत ही होता है ॥२५॥ भ्रुकुटिरूप लताओंका सुन्दर नृत्य, मुखका अकस्मात् हँस पड़ना, स्वच्छन्द वचन, और पैरोंकी लड़खड़ाहट—यह सब चुपचाप स्त्रियोंके नशाको अच्छी तरह सूचित कर रहे थे ॥२६॥ मानरूपी वज्रमय सुदृढ़ किवाड़ोंको तोड़ने वाले एवं परदाकी तरह लज्जाको दूर करनेवाले मद्यने तत्काल

प्रावृताः शुचिपटैरतिमृद्वीः स्पर्शदीपितमनोभवभावाः ।
प्रेयसीः समगुणा इह शय्याः कामिनो रतिसुखाय विनिन्युः ॥२८॥
कान्तकान्तदशनच्छददेशे लग्नदन्तमणिदीधितिरेका ।
आबभावुपजनेऽपि मृणालीनालकैरिव रसं प्रपिबन्ती ॥२९॥
प्रेयसा धृतकरापि चकम्पे चुम्बितापि मुखमाक्षिपति स्म ।
व्याहृतापि बहुधा सकृदूचे किंचिदप्रकटमेव नवोढा ॥३०॥
उत्तरीयमपकर्षति नाथे प्रावरिष्ट हृदयं स्वकराभ्याम् ।
अन्तरीयमपरा पुनराशु भ्रष्टमेव न विवेद नितम्बात् ॥३१॥
कामिना द्रुतमपास्य मुखान्तर्धानवस्त्रमिव कञ्चुकमस्याः ।
व्यञ्जितः पृथुपयोधरकुम्भो दुःसहो मदनगन्धगजेन्द्रः ॥३२॥
पीनतुङ्गकठिनस्तनशैलैराहतोऽपि न मुमूर्च्छ युवा यत् ।
तत्र नूनमधरामृतपानप्रेम कारणमवैम्यबलायाः ॥३३॥

कृतः ॥२७॥ **प्रावृता इति**—धृतदुकूलपिहिताः कोमलाः स्पर्शोत्पादितकामभावाः प्रियाः कर्मतापन्नाः कामिनस्तरुणास्तलिनानि निन्यिरे समगुणाः शय्याः सदृशगुणा रतिसुखाय सुरतसुखाय ॥२८॥ **कान्तेति**—काचिन्मृगाक्षी निजदशनदीर्घकिरणैः प्रतिबिम्बाधरलग्नैर्मृणालनालैरिव रसं पिबन्ती रराज । लज्जावशादुपजनेऽपि जनसंकुलेऽपि दन्तकिरणनालैः सर्वदा सर्वविदितमेव पिबति तदानुरहस्ये मुखपानयोग्यमदलज्जावशादिव ॥२९॥ **प्रेयसेति**—काचिदभिनवपरिणीता कान्तेन करधृतापि कम्पिता चुम्बितापि मुखमपनयति बहुधालापितापि किंचिन्मिताप्रकटाक्षरं कष्टेन व्याचष्टे स्म ॥३०॥ **उत्तरीयमिति**—उपरितनवस्त्रं कान्ते समाकर्षति काचिन्निजकराभ्यां हृदयमाच्छादयामास । अधोवस्त्रं च नितम्बाद् गलितमेव न ज्ञातवती व्याकुला सात्त्विकभावात् ॥३१॥ **कामिनेति**—केनचित्कामिना झटिति कञ्चुकमुत्क्षिप्य मुखपटमिव पृथुलपयोधरकुम्भस्थलो मत्तमदनगन्धगजेन्द्रः प्रकटीकृतः ॥३२॥ **पीनेति**—यत्पृथुलोच्चकठिनकुचस्थलपर्वतैर्जंहन्यमानोऽपि तरुणो न मूर्च्छां जगाम तन्मन्ये बिम्बाधरसुधापानप्रीतिरेत्र तत्र जीवनकारणं बभूव । वज्रादिना चूर्णितोऽपि हि [1]जीमूतवाहन-

धारण किये हुए धनुषसे अतिशय तेजस्वी कामदेवको प्रकट कर दिया ॥२७॥ तदनन्तर कामीजन उज्ज्वल वस्त्रोंसे आच्छादित, अतिशय कोमलाङ्गी और स्पर्शमात्रसे कामवासनाको प्रकट करने वाली प्रियतमाओंको संभोग सुखके लिए उन्हींके समान गुणोंवाली शय्याओं पर ले गये ॥२८॥ पतिके सुन्दर ओठोंके समीप, जिस पर दन्तरूपी मणियोंकी किरणें पड़ रही हैं ऐसी कोई स्त्री इस प्रकार सुशोभित हो रही थी मानो मनुष्योंके समीप रहने पर भी मृणाल रूपी नलीके द्वारा रसका पान ही कर रही हो ॥२९॥ किसी नवोढा स्त्रीका हाथ यद्यपि उसका पति पकड़े हुए था फिर भी वह काँप रही थी, पति उसका चुम्बन करता था फिर भी वह अपना मुख हटा लेती थी और पति यद्यपि उससे बहुत बार बोलता था फिर भी वह एक-आध बार कुछ थोड़ा-सा अस्पष्ट बोलती थी ॥३०॥ जब पतिने उत्तरीय वस्त्र खींचना शुरू किया तब स्त्रीने अपने हाथोंसे वक्षःस्थल ढँक लिया पर उस बेचारीको इसका पता ही नहीं चला कि अधोवस्त्र मेरे नितम्बसे स्वयमेव शीघ्र ही नीचे खिसक गया है ॥३१॥ किसी कामुक पुरुषने शीघ्र ही मुख ढँकनेके वस्त्रके समान स्त्रीकी चोली दूर कर दी, मानो स्थूल स्तनरूपी गण्डस्थलोंसे सुशोभित कामरूपी अजेय मत्तहस्तीको ही प्रकट कर दिया ॥३२॥ स्त्रीके स्थूल उन्नत और कठोर स्तनरूपी पर्वतोंसे टकराकर भी जो युवा पुरुष मूर्च्छित नहीं हुआ था, उसमें मैं

१. अस्य कथा नागानन्दनाटके द्रष्टव्या ।

वक्षसा पृथुपयोधरभारं निष्पिपेष हृदयं दयितायाः ।
कोऽपि कर्तुमिह चूर्णमिहान्तर्लीनदुर्ललितकोपकणानाम् ॥३४॥
श्लिष्टमिष्टवनितावपुरादौ नापनेतुमपरः प्रशशाक ।
प्रीतिभिन्नपुलकाङ्कुरशङ्कुप्रोतविग्रह इवाग्रहतोऽपि ॥३५॥
श्लिष्यतापि जघनस्तनमुच्चैरन्तरे प्रणयिनाहमपास्तम् ।
सुभ्रुवो वलिमिषादिह मध्यं भ्रूविभङ्गमतनिष्ट रुषेव ॥३६॥
योषितां सरसपाणिजरेखालंकृतो घनतरः स्तनभारः ।
आबभौ प्रणयिसंगमहर्षोच्छ्वासवेगभरभिन्न इवोच्चैः ॥३७॥
कर्कशस्तनयुगेन न भग्नास्त्वन्नखा हृदि न वा व्यथितस्त्वम् ।
इत्युदारनवयौवनगर्वा कापि कान्तमधिगर्वमहासीत् ॥३८॥
सुप्त इत्यतिविविक्ततया स्वं संप्रकाश्य निलयः कुतुकेन ।
प्रैक्षतेव[1] सुतनो रतचित्रं बोधितैकतरदीपकनेत्रः ॥३९॥

वत्पीयूषेण जीवतीति ॥३३॥ **वक्षसेति**—हठात् मध्यस्थितानां [कोपकणानां] चूर्णं चिकीर्षुरिव [कश्चित्कामी स्वकीयवक्षःस्थलेन वल्लभायाः स्थूलस्तनोपेतं हृदयं निःशेषेण पिनष्टि स्म][2] ॥३४॥ **श्लिष्टेति**—कश्चित्प्रथमाश्लिष्टं प्रियाशरीरं बलतोऽपि दूरे कर्तुं न शक्नोति स्म प्रेमोद्भिन्नपुलकाङ्कुरकीलककीलितशरीर इव ॥३५॥ **श्लिष्यतेति**—अत्युच्चैर्जघनं पीनस्तनभारं चालिङ्गता कान्तेन मध्यस्थमप्यहं मुक्तमिति कस्याश्चित्सुभ्रुवो मध्यमवलग्नं वलित्रयमिषाद् भ्रूभङ्गं भ्रकुटिं कोपेनेव चकार । यथा कश्चित्पङ्क्तिमध्यस्थोऽपि पूजादिना वञ्चितो भ्रकुटिं करोति ॥३६॥ **योषितामिति**—तरुणीनां नूतननखलेखामण्डितः स्तनभारः शुशुभे प्रियतमसंगमसंभूतमहाप्रमोदप्राणोल्लासवेगभरस्फुटित इव । यथा परिपचेलिमबीजसंचयप्राणोच्छ्वासेन दाडिमादिकं स्फुटति ॥३७॥ **कर्कशेति**—कठिनस्तनपर्वतेन तव पाणिजा न भग्ना यदि वा एताभ्यामाश्लिष्टो न भवान् हृदये पीडित इति गाढतारुण्याहङ्कारा सगर्वं यथा स्यात्काचित् पतिमुपहसितवती । सहास्यालापव्याजेनात्मयौवनं संभावयतीति भावः ॥३८॥ **सुप्त इति**—सर्वोऽपि सुप्त इति शून्यतया आत्मानं ज्ञापयित्वा शयनावासः कुतूहलेनेव तरुणी सुरतप्रसङ्गं प्रेक्षांचक्रे । केनेत्याह—बोधितेन प्रज्वालितेन दीपेन नेत्रेणेव । यथा कश्चित् धूर्त

निश्चयसे अधररूपी अमृतके पीनेका प्रेम ही कारण समझता हूँ ॥३३॥ किसी एक युवाने स्थूल स्तनोंका भार धारण करनेवाली प्रियतमाके हृदय—वक्षःस्थलको इस प्रकार पीसा मानो उसके भीतर छिपे हुए क्रोधके दुःखदायी कणोंका चूर्ण ही करना चाहता हो ॥३४॥ कोई एक युवा स्वयं अग्रभागमें पीड़ित होनेपर भी प्रथम आलिंगित प्रियतमाके शरीरको दूर करनेमें समर्थ नहीं हो सका था मानो प्रेमसे प्रकट हुए रोमांचरूपी कीलोंसे उसका शरीर निःस्यूत ही हो गया था ॥३५॥ उन्नत नितम्ब और स्तनोंका आलिंगन करनेवाले वल्लभने मुझे बीचमें यूँ ही छोड़ दिया—इस क्रोधसे ही मानो स्त्रीका 'मध्यभाग त्रिवलिके छलसे भौंहें टेढ़ी कर रहा था ॥३६॥ सरस नखक्षतसे सुशोभित स्त्रियोंके स्थूल एवं उन्नत स्तनोंका भार ऐसा जान पड़ता था मानो पतिके समागमसे उत्पन्न सुखोच्छ्वासके वेगके भारसे विदीर्ण ही हो गया हो ॥३७॥ मेरे कठोर स्तनयुगलसे न तुम्हारे नाखून भग्न हुए और न हृदयपर तुम्हें चोट ही लगी—इस प्रकार उत्तम नव-यौवनसे गर्वीली किसी स्त्रीने बड़े गर्वके साथ अपने पतिकी हँसी की थी ॥३८॥ क्रीड़ा-गृहमें निश्चल दीपक जल रहा था अतः ऐसा जान पड़ता था कि 'अत्यन्त निर्जन होनेके कारण यह सो गया' इस प्रकार अपने-आपको प्रकट कर वह कौतुकवश दीपकरूपी नेत्रको खोलकर किसी शोभनांगीके संयोगरूपी चित्रको ही देख रहा हो ॥३९॥

१. ऐक्षतेव घ० म० । २. इह श्लोके [ ] कोष्ठकान्तर्गतः पाठः सम्पादकेन योजितः ।

नात्र काचिदपरा परिणेतुः प्रीतिधाम वसतीति पुरन्ध्री ।
ईर्ष्ययेव परिरब्धवतोऽन्तर्द्रष्टुमस्य हृदयं प्रविवेश ॥४०॥
कुन्तलाञ्चनविचक्षणपाणिः प्रोन्नमय्य वदनं वनितायाः ।
कोऽपि लोलरसनाञ्चललीलालालनाचतुरमोष्ठमधासीत् ॥४१॥
पीवरोच्चकुचतुम्बुकचुम्बिन्यापुपोष कमितुः करदण्डे ।
वल्लकीत्वमनुताडिततन्त्रीक्वाणकूजितगुणेन पुरन्ध्री ॥४२॥
स्पर्शभाजि न परं करदण्डे कामिनः प्रकटकण्टकयोगः ।
ईषदुच्छ्वसितकोमलनाभीपङ्कजेऽपि सुदृशोऽद्भुतमासीत् ॥४३॥
संचरन्नित इतो नतनाभीकूपके निपतितः प्रियपाणिः ।
मेखलागुणमवाप्य मदान्धोऽप्यारुरोह जघनस्थलमस्याः ॥४४॥
[1]अङ्गसंग्रहपरः करपातं मध्यदेशमभितो विदधानः ।
योषितः स्म विजिगीषुरिवान्यः क्षिप्रमाक्षिपति काञ्चनकाञ्चीम् ॥४५॥

आत्मानं सुप्तं ज्ञापयित्वा दुर्दर्शमुद्घाटितैकनेत्रः कौतुकं पश्यति ॥३९॥ नात्रेति—काचित्पुरन्ध्री निजनायकस्यालिङ्गितवतो हृदयमध्यं प्राविक्षत् । अस्य स्नेहस्थानं हृदयं न काचिदपरा वसतीति कोपेन दिदृक्षुरिव ॥४०॥ कुन्तलेति—कश्चित्कुन्तलाकर्षणचतुरपाणिश्चञ्चलजिह्वाञ्चललीलालालनमनोहरं प्रियाबिम्बाधरं पपौ । किं कृत्वा वदनमूर्ध्वीकृत्य । अर्थादेव अमुक्तेष्वपि कृकाटिकाकेशेष्वाकृष्यैवेति ॥४१॥ पीवरेति—काचित्पुरन्ध्री वीणात्वं दधौ । क्व सति । पत्युः करदण्डे पीनस्तनतुम्बुकमण्डिते । कुतः शब्द इत्याह—केनाप्यनुताडितवीणाक्वाणवत् यत्कण्ठकूजितं तस्य गुणेन । अत्र स्तनतुम्बीफलानां करदण्डवीणादण्डयोः क्वाणकण्ठकूजितयोर्वीणापुरन्ध्र्योश्चोपमानोपमेयभावः ॥४२॥ स्पर्शेति—न केवलं कोमले सुरतस्पर्शसुखात् तरुणकरदण्डे रोमोद्गमो बभूव । यच्च पुनः स्तोकमात्रोच्छ्वसितमृदुलनाभीकमलेऽपि रोमोद्गमस्तच्चित्रम् । कमलदण्डे हि कण्टकाः प्रसिद्धाः यच्च कमलेऽपि दृश्यन्ते तदाश्चर्यमिति ॥४३॥ संचरन्निति—इत इतो वलिस्तनपार्श्वप्रदेशे मदान्ध इव परिभ्रम्य प्रियपाणिर्नाभिकूपे पपात । ततो मेखलागुणमरघट्टकूपमालामिवावलम्ब्य जघनतटं कस्याश्चित्समारूढवान् । नाभिगभीरत्वं जघनस्थलस्थूलत्वं च वर्णितम् ॥४४॥ अङ्गेति—कश्चित्तरुणः कस्याश्चित्काञ्चीं मेखलामाकर्षति । अङ्गसंग्रहपर आश्लिष्टसर्वाङ्गो नाभिदेशे करं निक्षिपन् । यथा कश्चित्सार्वभौमः अङ्गो देशो राज्याङ्गानि वा तेषां संग्रहपरः प्रसिद्धः ।

यहाँ पतिकी प्रीतिपात्र कोई दूसरी स्त्री तो नहीं रहती, ईर्ष्यासे भीतर यह देखनेके लिए ही मानो कोई स्त्री आलिंगन करनेवाले पतिके हृदयमें जा प्रविष्ट हुई थी ॥४०॥ हाथसे आगेके बाल सँभालनेवाले किसी युवाने प्रियतमाका मुख ऊपर उठाकर चंचल जिह्वाके अग्रभागको बड़ी चतुराईके साथ चलाते हुए उसके अधरोष्ठका पान किया था ॥४१॥ जब पतिका हाथरूपी दण्ड, स्त्रीके स्थूल एवं उन्नत स्तनरूपी तुम्बीफलका चुम्बन करने लगा तब उसने ताड़ित तन्त्रीके शब्दके समान अव्यक्त शब्दसे अपने आपका वीणापन पुष्ट किया था—ज्योंही पतिने अपने हाथोंसे स्त्रीके स्तनोंका स्पर्श किया त्योंही वह वीणाके समान कूज उठी ॥४२॥ बड़ा आश्चर्य था कि सुखद स्पर्शको प्राप्त पतिके हस्तरूपी दण्डमें ही रोमांचरूपी कण्टकोंका संयोग नहीं हुआ था किन्तु स्त्रीके कुछ-कुछ विकसित कोमल नाभिरूपी कमलमें भी हुआ था ॥४३॥ यद्यपि इधर-उधर चलता हुआ पतिका हाथ प्रियाके नाभिरूपी गहरे कुएँमें जा पड़ा था तथापि मदान्ध होनेपर भी वह मेखलारूपी रस्सीको पाकर उसके जघन स्थलपर आरूढ़ हो गया था ॥४४॥ जिस प्रकार अंगदेश अपना सहाय आदि अंगोंके संग्रह करनेमें तत्पर विजि-

---

१. एष श्लोकः घ० म० पुस्तकेषु द्वाचत्वारिंशत्तमश्लोकादनन्तरं वर्तते क० ख० ग० च० छ० ज० पुस्तकेषु तु पञ्चत्वारिंशत्तमो विद्यते ।

नीविबन्धभिदि वल्लभपाणौ सुभ्रुवः कलकलो मणिकाञ्च्याः ।
नोदितालिसुरतोत्सवलीलारम्भसंभ्रमपटुः पटहोऽभूत् ॥४६॥

नीविबन्धमतिलङ्घ्य कराग्रे कामिनः प्रसरतीह यथेच्छम् ।
भर्त्सना स्मितमलीकतरा इत्याख्यदक्षतमनङ्गवतीनाम् ॥४७॥

पाणिना परिमृशन्नबलोरुस्तम्भमञ्चितकलापगुणेन ।
कश्चिदाकलितमारमहेभं मोचयन्निव रतेषु रराज ॥४८॥

भ्रूकपोलचिबुकाधरचक्षुश्चूचुकादिपरिचुम्बनदक्षः ।
कोऽपि कोपितवधूप्रतिषिद्धां सान्त्वयन्निव रतिं विरराज ॥४९॥

सीत्कृतानि कलहंसकनादः पाणिकङ्कणरणत्कृतमुच्चैः ।
ओष्ठखण्डनमनोभवसूत्रे भाष्यतां ययुरमूनि वधूनाम् ॥५०॥

गण्डमण्डलभुवि स्तनशैले नाभिगह्वरतले च विहृत्य ।
सश्रमा इव दृशो दयितस्यानङ्गवेश्मनि विशश्रमुरासाम् ॥५१॥

मध्यदेशे राजदेयभागमुद्ग्राहयन् काञ्चीदेशं विगृह्णाति ॥४५॥ **नीवीति**—नीविबन्धोद्भेदके प्रियकरे वनिताया मेखलाकिङ्किणीकलकलः पटहनादसदृशो बभूव । किंविशिष्टः । निर्वाटितसखीकोपोऽसौ सुरतोत्सवलीलारम्भसूत्रसंभ्रमेण पटीयान् ॥४६॥ **नीविबन्धेति**—नीविबन्धमुल्लङ्घ्य कामिकरे यथेष्टं विजृम्भमाणे कामिनीनां हासस्फुरितं कर्तृभूतं भर्त्सनाः प्रतिषेधवचनानि मिथ्यामयानीति कथयामास। अक्षतं सहसात्त्विकाद्भवं प्रतिषेधवचनान्यपि स्त्रीणां हास्यदर्शनात्प्रत्युत प्रोत्साहकानीति ॥४७॥ **पाणिनेति**—कश्चित्करेण वनिताया ऊरुस्तम्भं स्पृशन् बद्धकामगजेन्द्रं मोचयन्निव रराज । किंविशिष्टेन । अञ्चितकलापगुणेन कलापो नीविबन्धो गजबन्धेन वारी च । उत्कृष्ट उन्मोचितः कलापगुणो येन स तथाविधस्तेन ॥४८॥ **भ्रूकपोलेति**—भ्रुवौ च कपोलौ च चिबुकं च अधरश्च चक्षुषी च चूचुकौ च एतत्प्रभृतिस्थानेषु चुम्बनकोविदः कश्चित् कोपितकामिनी दूरीकृतां रतिमनुकूलयन्निव राजते स्म ॥४९॥ **सीत्कृतानीति**—सीत्कृता नूपुरनादा उच्चैर्विधूननात् पाणिकङ्कणरणज्झणितं च एतानि सर्वाण्यपि विम्बाधरखण्डनकथनसूत्रे टीकारूपाणि बभूवुः । ओष्ठखण्डनमेतैर्दूरस्थानामपि कथितमिति भावः ॥५०॥ **गण्डेति**—आसां स्मरमन्दिरे कान्तदृष्टयो विश्रान्ताः खिन्ना इव परिभ्रम्य कपोलदेशपृथ्व्यां स्तनभारपर्वते नाभि-

गीषु राजा देशके मध्यभागमें सब ओर करपात करता है—टैक्स लगाता है उसी प्रकार नितम्ब आदि अंगोंके संग्रह करनेमें तत्पर कोई युवा स्त्रीके मध्यभागमें सब ओर करपात—हस्तसंचार कर रहा था और बड़ी उतावलीके साथ उसकी सुवर्णमेखला छीन रहा था ॥४५॥ अधोवस्त्रकी गाँठ खोलते समय वल्लभाकी मणिमयी करधनीका जो कलकल शब्द हो रहा था वही सखीके सम्भोगोत्सवकी लीलाके प्रारम्भमें बजनेवाला मानो उत्तम नगाड़ा था ॥४६॥ जब पतिका हाथ नीवीका बन्धन खोल आगे इच्छानुसार बढ़ने लगा तब स्त्रियोंने जो डाँट-डपट की थी उसे उन्हींकी अखण्ड मुसकराहट बिलकुल झूठ बतला रही थी ॥४७॥ कोई युवा मेखलारूपी रस्सीको चलानेवाले हाथसे स्त्रीके ऊरुरूपी स्तम्भोंका स्पर्श कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो संभोगके समय बँधे हुए कामदेवरूपी हस्तीको ही छोड़ रहा हो ॥४८॥ भौंह, कपोल, डाँड़ी, अधर, नेत्र तथा स्तनाग्रके चुम्बन करनेमें चतुर कोई युवा ऐसा जान पड़ता था मानो रुष्ट स्त्रीके द्वारा निषिद्ध रतिको ही समझा रहा हो ॥४९॥ सी-सी शब्द, पायलकी झनकार और हाथके कंकणोंकी रुन-झुन—यह सब स्त्रियोंके ओष्ठ खण्डनरूप काम-सूत्रके विषयमें भाष्यपनेको प्राप्त हुए थे ॥५०॥ चूँकि पतिकी दृष्टि स्त्रियोंकी कपोलभूमि, स्तन-रूपी पर्वत और नाभिरूपी गर्तके नीचे विहार करके मानो थक गयी थी इसीलिए वह उनके

नोत्पपात पतिता नवकामिन्यूरुमूलफलके खलु दृष्टिः ।
कामिनः प्रमदकारिणि रङ्कस्येव गूढमणिभाजि निधाने ॥५२॥

पूर्वशैलमिव तुङ्गकुचाग्रं प्रेयसि श्रयति लोचनचन्द्रे ।
प्लावितं मनसिजार्णवनीरैः सुभ्रुवो जघनमण्डलमुच्चैः ॥५३॥

प्रेङ्खति प्रियतमे निरवद्यातोद्यवाद्यपटुकूजितकण्ठे ।
चित्रलास्यलयवल्गु नितम्बो वल्गति स्म सुरते वनितायाः ॥५४॥

ओष्ठखण्डननखक्षतिवक्षस्ताडनस्तनकचग्रहणाद्यैः ।
मत्सरादिव मिथो मिथुनानां कामकेलिकलहस्तुमुलोऽभूत् ॥५५॥

सोत्सवैः करणसंपरिवर्तैश्चाटुभिश्च मणितैः स्तनितैश्च ।
पूर्वसंस्तुतमपि च्युतलज्जं कामिनां रतमपूर्वमिवासीत् ॥५६॥

अश्रुगद्गदगिरामिह तावद्योषितां रतविधौ करुणोक्तिः ।
तानि शुष्करुदितान्यपि यूनां भेजिरे श्रवणयोरमृतत्वम् ॥५७॥

गह्वरतले च ॥५१॥ नोत्पपातेति—कामिनो दृष्टिस्तरुण्या ऊरुमूलफलके पतिता न उत्पपात न व्यावर्तते स्म । आजन्मभिक्षो रतिप्रमोदकारके मणिनिधानघट इव पक्षे गूढमणिभाजि मदनाङ्कुरसण्डिते ॥५२॥ पूर्वेति—लोचनामृतवर्त्तिसदृशे प्रियतमे कुचभारमाश्लिष्यति कामिन्याः कामोद्रेकसात्त्विकनीरैर्नितम्बमण्डलं स्नपितम् । यथा चन्द्रे उदयमाश्रितवति सति समुद्रनीरैर्वेलातटाद्रिः प्लाव्यते ॥५३॥ प्रेङ्खतीति—सकन्दर्पवितारं चेष्टमाने प्रियतमे यथोक्तवाद्यसदृशकूजितकण्ठे नानाप्रकारनृत्यमानमनोहरं कामिन्या नितम्बो नरीनृत्यांचक्रे ॥५४॥ ओष्ठेति—ओष्ठदलनप्रभृतिभिश्चेष्टितैः कामक्रीडाकलहस्तुमुलो घोरतः कोपकलह इव बभूव ॥५५॥ सोत्सवैरिति—सोत्साहकरणबन्धैश्चाटुवचनैः कण्ठकूजितैः स्तनितैर्मिथ्यादुःखप्रलपितैश्च तैः सर्वैरपि शतशोऽनुभूयमानमपि निस्त्रपं सुरतं नवीनसदृशं बभूव ॥५६॥ अश्रिवति—आस्तां तावद्दूरेण स्त्रीणां करुणोक्तिस्तानि शुष्करुदितान्यपि तरुणानां कर्णामृतसदृशानि बभूवुः । शोककारणं विना सुरते रुदितं शुष्करुदितम् ॥५७॥

वरांगमें विश्राम करने लगी थी ॥५१॥ जिस प्रकार गुप्त मणियोंसे युक्त हर्षोत्पादक खजाने पर पड़ी दरिद्र मनुष्यकी दृष्टि उसपर-से नहीं उठती उसी प्रकार नव-वधूके नितम्ब फलकपर पड़ी पतिकी दृष्टि उसपरसे नहीं उठ रही थी ॥५२॥ जिस प्रकार चन्द्रमाके उदयाचलपर आरूढ़ होते ही तटवर्ति-पर्वत समुद्रके लहराते हुए जलसे प्लावित हो जाता है उसी प्रकार नेत्रोंके लिए चन्द्रमाके समान आनन्ददायी पतिके उन्नत कुचाग्रका आलिंगन करते ही स्त्रीका जघनस्थल कामोद्रेकसे प्रकट होनेवाले सात्त्विक जलसे प्लावित हो उठा ॥५३॥ जिसका कण्ठ निर्दोष मृदंगादि वादित्रके समान अव्यक्त शब्द कर रहा है ऐसा वल्लभ रतिक्रियाके समय ज्यों-ज्यों चंचल होता था त्यों-त्यों स्त्रीका नितम्ब विविध नृत्यकालीन लयके अनुसार चंचल होता जाता था ॥५४॥ उस समय दम्पतियोंमें परस्परके मात्सर्यसे ही मानो ओष्ठखण्डन, नखाघात, वक्षःस्थलताडन, स्तन तथा केशग्रहण आदिके द्वारा अत्यधिक कामक्रीड़ाका कलह हुआ था ॥५५॥ कामी पुरुषोंका वह लज्जाहीन संभोग यद्यपि पहले अनेक बार अनुभूत था फिर भी हर्षके साथ आसनोंके परिवर्तनों, चाटुवचनों तथा रतिकालीन अव्यक्त शब्दोंके द्वारा अपूर्व-सा—नवीनके समान हुआ था ॥५६॥ संभोगके समय अश्रुओंसे गद्गद कण्ठ-वाली स्त्रियोंकी करुणोक्तियों अथवा शुष्करोदनोंके जो शब्द हो रहे थे वे युवा पुरुषोंके कानों-

आहतानि पुरुषायितमुच्चैर्धाष्टर्यमीदृगुपमर्दसहत्वम् ।
कामिभिः क्षणमवेक्ष्य वधूनामन्यतैव सुरते प्रतिपेदे ॥५८॥
भग्नपाणिवलया च्युतमाल्या भिन्नतारमणिहारलतापि ।
ताम्यति स्म सुरते न कथंचित्प्रेमकार्मणवशेव कृशाङ्गी ॥५९॥
स्पष्टधाष्टर्यमविरोधितवाञ्छं मञ्जुकूजितमनादृतदेहम् ।
चित्रचाटुरुचि यत्प्रणयिन्यास्तत्प्रियस्य रतये रतमासीत् ॥६०॥
मीलितेक्षणपुटै रतिसौख्यं योषितामनुभवद्भिरभीष्टैः ।
निर्निमेषनयनैकविभोग्यं तत्त्रिविष्टपसुखं लघु मेने ॥६१॥
संवितेनुरधिकं मिथुनानां प्रीतिमप्यवमतात्मसुखानि ।
प्रेमनिर्भरपरस्परचित्ताराधनोत्सवरतानि रतानि ॥६२॥
भूरिमद्यरसपानविनोदैर्गाढशून्यहृदयानि तदानीम् ।
कान्यपि स्म मिथुनानि न वेगात्प्राप्नुवन्ति रतिकेलिसमाप्तिम् ॥६३॥
उत्थितान्यपि रतोत्सवलीलाकौशलापहृतनेत्रमनांसि ।
युक्तमेव मिथुनानि रतान्तेऽन्योन्यवस्त्रपरिवर्तमकार्षुः ॥६४॥

आहतानीति—कामिभिः कामिनीनां सुरते महावक्षःस्थलहननानि पुरुषायितं कर्कशविपरीतरतं धाष्टर्यं निर्लज्जत्वं किं बहुना निर्दयतादृशविमर्दसहिष्णुत्वं च विलोक्य तदवसरसदृशैर्निर्दयैरिव बभूवे । कामिनोऽपि सदयत्वं मुक्त्वा तासु निर्दया इव बभूवुः ॥५८॥ भग्नेति—काचित्तन्वी वशीकरणयन्त्रमन्त्रयुक्तिवशीकृतेव सुरते कथंचन न खिद्यते स्म सर्वथाभग्नाङ्गप्रसाधनोपकरणापि ॥५९॥ स्पष्टेति—कामिन्यास्तत्सुरतं प्रियस्य द्वितीयसुरतप्रारम्भाय बभूव । यत्किमित्याह—प्रकटितधाष्टर्यं अप्रतिषिद्धवाञ्छं मधुरमनोहरकूजितं नखक्षतादावरक्षितशरीरम् ॥६०॥ मीलितेति—कामिनीनां सुखमनुभवद्भिः स्वर्गसुखं निर्निमेषनयनैर्भोग्यं देवानां तद्विधत्वात् । लोके हि यत्सुखं संकुचितस्तिमितनयनैरनुभूयते तन्महत्तमं यत्तु प्रसारितनयनैस्तल्लघुमात्रमेव ॥६१॥ संवितेनुरिति—परस्परं मिथुनानां प्रीतिमधिकमनुरागं सुरतानि विस्तारयामासुः । किंविशिष्टानि । अवगणितात्मसुखानि । पुनः किंविशिष्टानि । प्रेमानुबन्धरसिकान्योन्यमनोरञ्जनतत्पराणि ॥६२॥ भूरीति—कानिचिन्मिथुनानि शीघ्रं सुरतकेलिसमाप्तिं न प्रापुः । यतोऽमूनि प्रचुरमदिरापानक्रीडानिर्मोहितहृदयानि । सुरततत्परहृदयेन हि रतसमाप्तिः स्यात् । तच्च हृदयं मदिराशून्यं ततः कालक्षेपः ॥६३॥ उत्थितानीति—सुरतविनोदानि मिथुनानि

में अमृतपनेको प्राप्त हो रहे थे—अमृत जैसा आनन्द दे रहे थे ॥५७॥ कामी पुरुषोंने संभोग के समय स्त्रियोंके प्रत्याघात, पुरुषायित चेष्टा, अत्यन्तधृष्टता और इस प्रकारका उपमर्द सहन करनेकी सामर्थ्य देख क्षणभरमें यह निश्चय कर लिया था कि यह स्त्री मानो कोई अन्य स्त्री ही है ॥५८॥ यद्यपि किसी कृशांगीके हाथकी चूड़ी टूट गयी थी, मालाएँ गिर गयी थीं और हारलताका मध्यमणि विदीर्ण हो गया था फिर भी वह संभोगके समय किसी तरह श्रान्त नहीं हुई मानो प्रेमरूप तन्त्र-मन्त्रके वशीभूत ही थी ॥५९॥ जिसमें धृष्टता स्पष्ट थी, इच्छाओंपर किसी प्रकारकी रुकावट नहीं थी, मनोहर अव्यक्त शब्द हो रहा था, शरीर की परवाह नहीं थी और जो विविध प्रकारके चाटुवचनोंसे मनोहर था ऐसा प्रियतमाका सुरत पतिके लिए आनन्ददायी था ॥६०॥ नेत्र निमीलित कर स्त्रियोंके रतिसुखका अनुभव करनेवाले पतियोंने मात्र देवोंके द्वारा भोगनेयोग्य स्वर्गका सुख तुच्छ समझा था ॥६१॥ आत्मसुखका तिरस्कार करनेवाले एवं प्रेमसे भरे हुए एक दूसरे के चित्तको प्रसन्न करनेवाले उत्सवमें तत्पर संभोगने दम्पतियोंका प्रेम अत्यधिक बढ़ाया था ॥६२॥ अत्यधिक मद्यरसके पानजनित विनोदसे जिनके हृदय अत्यन्त शून्य हो रहे थे ऐसे कितने ही स्त्री-पुरुष वेगसे रतिक्रीड़ाकी समाप्तिको प्राप्त नहीं हो रहे थे ॥६३॥ यद्यपि

प्रेयसीपृथुपयोधरकुम्भे वल्लभस्य शुशुभे नखपङ्क्तिः ।
चारुतामणिनिधाविव मुद्रावर्णपद्धतिरनङ्गनृपस्य ॥६५॥
संप्रविश्य वलभीषु गवाक्षैर्वीक्ष्य चोन्नतपयोधरमङ्गम् ।
कामतप्त इव कामधुनीनामाचचाम पवनः श्रमवारि ॥६६॥
पश्यति प्रियतमेऽवनतास्या कान्तदष्टदशनच्छदबिम्बम् ।
ऐक्षतेव हृदयं त्रपमाणा स्त्री पुनः स्मरशरव्रणचिह्नम् ॥६७॥
गन्तुमारभत कोऽपि रतान्ते गृह्यमाणवसनान्तरदृष्टम् ।
ऊरुदण्डमवलम्ब्य तरुण्याः सश्रमोऽपि रतवर्त्मनि भूयः ॥६८॥
चुम्बनेन हरिणीनयनानामोष्ठतो मिलितयावकरागम् ।
ईर्ष्ययेव दयितेक्षणयुग्मं चुम्बति स्म समयेऽपि न निद्रा ॥६९॥

मिथोवस्त्रपरिवर्तनं यच्चक्रुस्तद्युक्तमेव यतः परस्परं मैथुनोत्सवकेलिचातुर्येण अपहृतानि नेत्रमनांसि येषां तानि तद्विधानि । पुरुषचित्तनेत्राणि निजकृष्णवस्त्रं प्रतिसंबद्धानि तानि च स्त्रिया गृहीतानि तत्स्त्रीशरीरे स्थितान्यपि तानि निजपुरुषवस्त्रमेव गृह्णन्ति । स्त्रीचित्तनेत्राणि च कौसुम्भनिजवस्त्रं प्रतिसंबद्धानि तानि पुरुषेण गृहीतानि । ततः पुरुषशरीरस्थितान्यपि तानि ता निजकौसुम्भवस्त्रमेव गृह्णन्ति । अन्यत्रस्थान्यपि निजवस्त्रं गृह्णन्तीति भावः ॥६४॥ प्रेयसीति—प्रियतमापीनतुङ्गकठिनस्तनकलशे प्रियकृतनखक्षतश्रेणी रराज सौभाग्यनिधानकलशे कामराजमुद्राक्षरपङ्क्तिरिव । सौभाग्यभारसमुच्चयोऽत्रास्तीति भावः ॥६५॥ संप्रविश्येति—वलभीषु उपरितनगृहभूमिकासु गवाक्षमार्गैः प्रविश्य कंदर्पदर्परसनदीनां तासां कामकलभकुम्भकुचमण्डलादिकं शरीरं विलोक्य कामाग्नितप्त इव वातः प्रस्वेदवारि पपौ । यथा कश्चित्तापतप्तो नदीनां जलं पिबति ॥६६॥ पश्यतीति—सुरतान्ते साभिलाषं प्रियतमेऽवलोकमाने काचिल्लज्जमाना नम्रमुखी निजहृदयमीक्षांचक्रे । किं विशिष्टं हृदयम् । मुखावनमनात्प्रतिबिम्बितदष्टबिम्बाधरम् । पुनः सुरतान्तेऽपि कामशरव्रणितमिव । अत्र व्रणप्रतिबिम्बितबिम्बाधरयोरुपमानोपमेयभावः ॥६७॥ गन्तुमिति—कश्चित्सुरतायासश्रान्तोऽपि पुनः सुरतमार्गे जिगमिषांचकार । किं कृत्वेत्याह—ऊरुदण्डमवष्टम्भ्य तस्या एव तरुण्या परिधीयमानान्तरीयान्तदृष्टम् । यथा कश्चिन्मार्गगमनखिन्नोऽपि यष्टयावलम्बनेन पुनश्चङ्क्रमते ॥६८॥ चुम्बनेनेति—वल्लभलोचनयुग्मे निद्रा न ढौकते ईर्ष्यया कोपेनेव । किं निद्राया ईर्ष्याकारणमित्याह—मृगाक्षीचुम्बनेन लग्नाधरयावकरागम् । समयेऽपि निशीथातिक्रमेऽपि । यथा मानिनी निजोपभोग्यं वल्लभं परया चुम्बितं दृष्ट्वा चतुर्थदिवससमये स्नातापि नागच्छति

कुछ स्त्री-पुरुष शय्यापर-से उठकर खड़े भी हुए थे परन्तु चूँकि रतोत्सवकी लीलाकी कुशलतासे उनके नेत्र और मन दोनों ही हरण कर लिये थे अतः संभोगके अन्तमें उन्होंने और वस्त्रोंका परिवर्तन किया था वह उचित ही था ॥६४॥ प्रियतमाके स्थूल स्तनकलशपर हृदय वल्लभकी नखक्षत पंक्ति ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो सुन्दरतारूपी मणियोंके खजानेपर कामदेवरूपी राजाकी मुहरके अक्षर ही अंकित हों ॥६५॥ झरोखों द्वारा अट्टालिकाओंमें प्रवेश कर पवन उन्नत स्तनोंसे सुशोभित स्त्रियोंका शरीर देखकर मानो कामसे संतप्त हो गया था इसीलिए उसने उनके स्वेदजलका आचमन कर लिया था ॥६६॥ किसी स्त्रीका पति अपने द्वारा दष्ट वनिताके अधरबिम्बकी ओर देख रहा था अतः उसने अपना मुख नीचा कर लिया जिससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो पुनः कामदेवके बाणोंके घावसे चिह्नित हृदयको ही लज्जित होती हुई देख रही हो ॥६७॥ कोई एक युवा यद्यपि काफी थका था फिर भी संभोगके बाद वस्त्र पहिनते समय बीचमें दिखे हुए स्त्रीके ऊरुदण्डका अवलम्बन कर संभोगके मार्गमें चलनेके लिए पुनः उद्यत हुआ था ॥६८॥ चुम्बन द्वारा मृगनयनी स्त्रियोंके ओष्ठसे जिसमें लाक्षारसकी लालिमा आ मिली थी ऐसे पतिके नेत्रयुगलका ईर्ष्यासे ही मानो निद्रा, समय-

इत्थं विलोक्य मधुपानविनोदमत्त-
कान्तारतोत्सवरतान्स्पृहयेव लोकान् ।
चन्द्रोऽपि कैरवमधूनि समं रजन्या
पीत्वास्तशैलरतिकाननसंमुखोऽभूत् ।।७०।।

इति श्रीमहाकविहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये रतोत्सववर्णनो नाम पञ्चदशः सर्गः ।।१५।।

।।६९।। इत्थमिति—अनेन प्रकारेण मदिरामदविनोदादिमत्तकान्ताभिः सुरतोत्सवयुक्तान् लोकान् वीक्ष्य सुरतश्रद्धालुरिव स्पर्द्धानुबन्धेनेव कुमुदखण्डमकरन्दमदिरां पीत्वा चन्द्रोऽपि पश्चिमावलम्बनं संभोगवनं प्रतिप्रतस्थे ।।७०।।

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां पञ्चदशः सर्गः ।।१५।।

पर चुम्बन नहीं कर रही थी ।।६९।। इस प्रकार मधुपानके विनोदसे मत्त स्त्रियोंके रतोत्सवमें लीन लोगोंको बड़ी लालसाके साथ देखकर चन्द्रमा भी रात्रिके साथ कुमुदोंका मधु पीकर अस्ताचल सम्बन्धी क्रीडावनके सम्मुख हुआ ।।७०।।

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्यमें रतोत्सवका वर्णन करने वाला पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।।१५।।

षोडशः सर्गः

सेवायै समयविदागतः सुराणां सन्दोहः क्षुभितपयोधिमन्द्रनादः ।
धर्माय त्रिभुवनभानवेऽभ्युदेतुं यामिन्याः[1] परिणतिमित्थमाचचक्षे ॥१॥
रथ्यासु त्वदमलकीर्तिकीर्तनेषु प्रारब्धेष्वनवधि[2]मागधैरिदानीम् ।
व्योमाग्रात्पतति मुदामरप्रयुक्तः पुष्पाणां प्रकर इवैष तारकौघः ॥२॥
संभोगं प्रविदधता कुमुद्वतीभिश्चन्द्रेण द्विगुणित आत्मनः कलङ्कः ।
तन्नूनं न[3]तिपरमम्बरान्तलग्नं यात्येनं समवगणय्य यामिनीयम् ॥३॥
गाढस्त्रीभुजपरिरम्भनिर्भरोद्यन्निद्राणि स्फुटपटहारवैश्च भूयः ।
वर्तन्ते विघटितसंपुटानि यूनां भ्रूकुंसप्रगुणगुणानि लोचनानि ॥४॥
दृग्दोषव्यपनयहेतवे सगर्वा निर्वाणोल्मुकमिव कर्परं पुरस्तात् ।
वक्त्रेन्दोरुपरि तवावतार्य दूरे[4] द्यौरेषा क्षिपति सलक्ष्मचन्द्रबिम्बम् ॥५॥

सेवायै-इति—लोकालोकप्रकाशकादित्याय श्रीधर्मनाथाय मन्दराद्रिमथ्यमानसमुद्रगम्भीरनादः समयज्ञः सेवागतः सुरसमूहो रात्रिपरिणतिं प्रभातसमयं प्रतिपादयामास । इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण ॥१॥ रथ्यास्विति—हे प्रभो ! त्रिभुवनप्रकाशनं तव निर्मलयशःस्तवनेषु प्रारब्धेषु मुख्यमङ्गलपाठकैः सांप्रतं वीथीमार्गेषु गगनतलात्प्रमोदितसुरसार्थमुक्तपुष्पप्रकर इव तारकानिकरः पतति ॥२॥ संभोगमिति—कैरविणीभिः सार्धं चन्द्रेण संभोगं कुर्वता निजकलङ्को द्विगुणीकृतः । तत्तस्मादपराधान्नूनं नतिपरमस्तमयमानं गगनप्रान्तलग्नं समवगणय्यावमत्येव रात्रिर्वियाति यथा कश्चित्कामी कुत्सिता मुद् यासां ताभिः सार्द्धं संभोगं कुर्वन्नधिकजनापवादस्तनितो निजवल्लभायाश्चरणलग्नो वस्त्राञ्चलमाकर्षन्नपि अवगण्यते ॥३॥ गाढेति—तरुणानां लोचनानि प्रकटितनर्तकगुणानि वर्तन्ते । किंविशिष्टानि । विघटितसंपुटानि उन्मिषितानि । केन । प्रथमजागृतस्त्रीगाढालिङ्गनेन । पुनरपि उन्मिषितानि । कैः । प्रभातपटहनादैः । प्रथमं निद्रामुद्रितानि परिरम्भणोन्निद्रितानि पुनर्मिलितानि ततश्च पटहरवोन्मीलितानि इति नर्तकगुणयुक्तानीव ॥४॥ दृगिति—हे प्रभो ! तव वदनचन्द्रस्योपरि

अथानन्तर सेवाके लिए आये हुए, समय अथवा आचारको जाननेवाले एवं क्षुभित-समुद्रके समान गम्भीर शब्दसे युक्त देवोंका समूह त्रिभुवन सूर्य श्रीधर्मनाथ स्वामीके लिए अभ्युदय प्राप्त करनेके अर्थ इस प्रकार रात्रिके अवसानका निवेदन करने लगा ॥१॥ हे स्वामिन् ! इस समय जबकि अपरिमित चारण गलियोंमें आपकी निर्मल कीर्तिका स्तवन प्रारम्भ कर रहे हैं, आकाशसे यह ताराओंका समूह ऐसा पड़ रहा है मानो हर्षवश देवोंके द्वारा छोड़ा हुआ पुष्पोंका समूह ही हो ॥२॥ चूँकि कुमुदिनियोंके साथ संभोग करनेवाले चन्द्रमाने अपने कलंकको दुगुणा कर लिया है इसलिए मानो यह रात्रि रतिमें तत्पर और अम्बरान्त—आकाशान्त [पक्षमें वस्त्रान्त] में लग्न इस चन्द्रमाको अपमानित कर—छोड़कर जा रही है ॥३॥ स्त्रियोंके गाढ़ भुजालिंगनसे उनींदे तरुणोंके नेत्र जोर-जोरसे बजनेवाले नगाड़ोंके शब्दोंसे नर्तकोंकी तरह बार-बार पलकोंको खोलते और लगाते हैं—अर्थात् नर्तकोंकी तरह चंचल हो रहे हैं ॥४॥ यह आकाशरूपी गर्वीली स्त्री दृष्टिदोषको दूर करनेके

१. प्रहर्षिणीवृत्तम् 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् । २. ष्वमिनव–ख० ग० म० घ० । ३. रतिपर म० घ० । ४. दूरं म० घ० ।

ते भावाः करणविवर्तनानि तानि प्रौढिः सा मृदुमणितेषु कामिनीनाम् ।
एकैकं तदिव रताद्भुतं स्मरन्तो धुन्वन्ति श्वसनहताः शिरांसि दीपाः ॥६॥
यद्दोषोपचिततमोऽपि ते कथासु प्रारब्धास्वमरवरैर्विलीयतेऽस्मिन् ।
तन्मन्ये तव गुणकीर्तनानि नाम-साधर्म्योदयमपि न द्विषां सहन्ते ॥७॥
राजानं जगति निरस्य सूरसूतेनाक्रान्ते प्रसरति दुन्दुभेरिदानीम् ।
यामिन्याः प्रियतमविप्रयोगदुःखैर्हृत्सन्धेः स्फुटत इवोद्भटः व्रणादः ॥८॥
चेतस्ते यदि चपलं पुरानुशेते तन्मानिन्यमुमधुनापि मानयेशम् ।
आकर्ण्य ध्वनितमितीव ताम्रचूडस्यानम्रं प्रियमुषसि प्रपद्यतेऽन्याः ॥९॥
संदष्टे प्रियविधिनाधरीकृतेऽस्मिञ्शीतांशौ हिमपवनार्तपान्थवक्त्रैः ।
सीत्कारं प्रवितनुते विधूतहस्ता मुग्धापि क्षणरजनी विवृत्तलक्ष्मीः ॥१०॥

दृष्टिदोषनिराकरणाय निर्वाणाङ्गारमध्यं शरावमिवावतार्य एषा गगनलक्ष्मीः सकलङ्कं चन्द्रं दूरे पश्चिमसमुद्रप्रान्ते निक्षिपति । अत्र कर्परचन्द्रयोरङ्गारकलङ्कयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥५॥ ते भावा इति—प्रभातवाताहताः सुरभिश्वासाहता वा दीपा मस्तकानि कम्पयांचक्रिरे । एकैकं तासां कामिनीनां सुरतविलसिताश्चर्यं चेतसि चिन्तयन्त इव । किमद्भुतमित्याह—तेऽद्भुतप्रभावा मदनरसविलासास्तानि चतुरशीतिकरणकारणानि । सा च प्रगल्भता मधुरकण्ठकूजितेषु [कोमलरतिशब्देषु] । एतदेकैकमपि महाश्चर्यकारणम् ॥६॥ यदिति—हे प्रभो ! दोषैर्महापापैरुपचितं यत् तदपि तमोऽनन्यनिराकरणीयं तव स्तुतिषु शक्रप्रमुखैः प्रारब्धासु विलीयते सर्वथा विलयं याति । तदहं वितर्कयामि—युष्मद्गुणकीर्तनानि नाम साधर्म्योदयं सदृशनामधेयमपि न सहन्ते द्विषां तमसां पक्षेऽज्ञानलक्षणं तमो, नामसादृश्याद्दोषायां रजन्यामुपचितं दोषोपचितं तमो निहतमिति अज्ञाननामबिभ्राणं भ्रान्त्यां ध्वान्तं विध्वस्तमिति भावः ॥७॥ राजानमिति—चन्द्रं निर्घाटचारुणेन भुवने व्याप्ते प्रभातपटहप्रणादः समुज्जृम्भते प्रियविरहदुःखैर्विभिद्यमानहृदयसन्धे रात्रेः स्फुटतः शब्द इव । अथ चोक्तिलेशः—यथा केनचित्सुभटपुत्रेण अन्यभूपान् विजित्य भूमण्डले व्याप्ते जयपटहः शब्दायते विरहविभिद्यमानशत्रुस्त्रीहृदयस्फोटशब्दमनुकुर्वन् ॥८॥ चेत इति—अन्या काचिन्मनस्विनी रजनिविरामसमये पादावनतं प्रियमनुकूलयति कुक्कुटस्य तारध्वनिं श्रुत्वा । इति प्रतिपादकस्येव—यदि तव मनः पश्चादपि पश्चात्तापं करिष्यति चपलं कातरं तन्मनस्विनि सांप्रतमपि निजप्रभुमनुभजस्व त्वमिति ॥९॥ संदष्ट इति—बिम्बाधररूपे नीचैः कृते चन्द्रे शीतालुपथिकमुखैः प्रभातलक्ष्मीः सीत्कारं करोति । मुग्धापि किंचिद्भिभीतापि विधूतहस्ता कम्पितविच्छायहस्तनक्षत्रा ।

लिए जिसपर बुझा हुआ अंगार रखा है ऐसे कपालकी भाँति कलंकयुक्त चन्द्रबिम्बको आपके मुखचन्द्रके ऊपर उतारकर दूर फेंक रही है ॥५॥ स्त्रियोंके वे भाव, वे आसनोंके परिवर्तन और रतिजनित कोमल शब्दोंमें वह अलौकिक चातुरी—इस प्रकार एक-एक आश्चर्यकारी रतका स्मरण करते हुए दीपक वायुसे ताड़ित हो मानो शिर ही हिला रहे हैं ॥६॥ हे प्रभो ! चूँकि इस समय श्रेष्ठ देवोंके द्वारा आपकी कथाओंके प्रारब्ध होनेपर—आपका गुणगान प्रारम्भ होनेपर दोषा—रात्रिका संचित तम—अन्धकार तो नष्ट होता ही है किन्तु दोषों—अनेक अवगुणोंसे संचिततम—अज्ञान भी विलीन हो रहा है ? इससे मैं समझता हूँ कि आपके गुणोंके कीर्तन, शत्रुओंके नाम सादृश्यको भी सहन नहीं करते ॥७॥ जब राजा—चन्द्रमा [पक्षमें नृपति] को नष्ट कर अरुणने सारे संसारपर आक्रमण कर लिया तब बजनेवाली दुन्दुभियोंका शब्द ऐसा फैल रहा था मानो पति विरहसे फटनेवाले रात्रिके हृदयका उन्नत शब्द ही है ॥८॥ हे मानिनि ! यदि तेरा चंचल चित्त पिछले कार्योंमें पश्चात्ताप करता है तो वल्लभको अब भी मना ले—इस प्रकार मुर्गेका शब्द सुन कोई स्त्री प्रातःकालके समय अपने नम्रीभूत प्रियतमको प्राप्त हो रही है—उसे स्वीकृत कर रही है ॥९॥ यह अल्पकालिक सुन्दर रात्रि

विध्वस्तां निजवसतिं विलोक्य कोपान्निष्क्रान्ता किल कमलेयमोषधीशात् ।
निःश्रीकं तमिव शुचावलोकयन्ती स्वं तेजस्त्यजति च पङ्क्तिरोषधीनाम् ॥११॥

संभोगश्रमसलिलैरिवाङ्गनानामङ्गेषु प्रशममितं मनोभवाग्निम् ।
उन्मीलज्जलजरजःकणान्किरन्तः प्रत्यूषे पुनरनिलाः प्रदीपयन्ति ॥१२॥

युष्माभिः प्रकटितकामकौशलाभिः साध्वेतन्निधुवनयुद्धमत्र सोढम् ।
इत्युक्त्वा स्पृशति मुदेव भृङ्गनादैः प्रत्यूषानिललहरी वधूः सखीव ॥१३॥

प्रागल्भ्यं विहितममीभिरत्ययेऽह्नां नाथस्य प्रतिगृहमित्यसौ रुषेव ।
प्रत्यूषः पवनकरेण धूमकेशेष्वाकृष्य क्षपयति संप्रति प्रदीपान् ॥१४॥

मूर्ध्नीवोद्गतपलितायमानरश्मौ चन्द्रेऽस्मिन्नमति विभावरीजरत्याः ।
अन्योऽन्यं विहगरवैरिवोल्लसन्त्यो दिग्वध्वो विदधति विप्लवाट्टहासम्[1] ॥१५॥

यथा काचित् कम्पमानकरा प्रियेण दष्टेऽधरे मुग्धापि रसोद्रेकवशात्सीत्कारं करोति ॥१०॥ विध्वस्तामिति— निजपद्मगृहान् विध्वस्तान्निरीक्ष्य किलेति संभावने । मदीयगृहाणि अनेन चन्द्रेण विध्वस्तानीति चन्द्राल्लक्ष्मीर्निष्क्रान्ता ततश्च तं निजपतिं दारिद्र्योपद्रुतमिव निरीक्षमाणा महौषधिश्रेणिरपि निजतेजोऽहङ्कारं त्यजति ॥११॥ संभोग इति—सुरतायासप्रस्वेदवारिभिरिव प्रशमितं विध्यापितं विदलत्कमलकुलकलिकागर्भकिञ्जल्कचक्रवातोड्डीनैः परागकणैर्मुर्मुरचूर्णैरिव संधुक्षयन्ति पुनः प्रभातवाताः ॥१२॥ युष्माभिरिति—प्रभातमृदुलवात्या भृङ्गस्वनैरालापयन्ती वधूः स्पृशति हर्षेणेव भवतीभिर्नक्तं प्रकटितकामकरणविज्ञानाभिरेतत्सुरतयुद्धं भव्यं सोढमिति ॥१३॥ प्रागल्भ्यमिति—अस्तंगते भास्वति प्रतिगृहमेतैः सप्रभावैः प्रगल्भितमिति कोपेनेव प्रभातं वातहस्तेन धूमशिखाकेशेषु गृहीत्वा सांप्रतं सविकारं धूनयति । यथा कस्मिंश्चिन्नायके दैवदशावशाद्दिनक्षये संजाते प्रोषिते परोक्षसमुद्दीपितभावान् दुर्जनान्पुनरुज्जिगमिषौ भर्तरि तदग्रेसरस्तान्निगृह्णाति ॥१४॥ मूर्ध्नीति— पलितकुन्तलायमानकिरणे चन्द्रमसि वृद्धाया रात्रेः संबन्धित्वेन नमति सति परस्परं पक्षिकोलाहलैरिव उज्जृम्भमाणा दिगङ्गना महोपहास्यं कुर्वन्ति । यथा कंचिज्जरिणं दोलत्करायाः स्त्रियाः पादयोः पतन्तमवलोक्य

मुग्धा होनेपर भी प्रियरूप विधाताके द्वारा इस चन्द्रमारूपी अधरोष्ठके खण्डित होनेपर शीतल वायुसे पीडित पथिकोंके मुखोंसे सीत्कार कर रही है और साथ ही हस्त—हाथ [पक्षमें हस्त नक्षत्र] हिला रही है ॥१०॥ इधर यह लक्ष्मी अपने निवासगृह—कमलको विध्वस्त देख क्रोधवश चन्द्रमासे बाहर निकल गयी उधर ओषधियोंकी पंक्ति भी उसे लक्ष्मीरहित देख शोकसे ही मानो अपना तेज छोड़ रही है ॥११॥ संभोगजनित स्वेदजलसे जो कामाग्नि स्त्रियोंके शरीरमें बुझ चुकी थी उसे प्रातःकालके समय खिलते हुए कमलोंकी परागके छोटे-छोटे कण बिखेरनेवाली वायु पुनः प्रज्वलित कर रही है ॥१२॥ कामकी चतुराईको प्रकट करनेवाली आप लोगोंने यह संभोगरूपी युद्ध अच्छी तरह सहन किया—भ्रमरोंके शब्दके बहाने यह प्रातःकालकी वायुकी परम्परा सखीकी भाँति हर्षसे मानो स्त्रियोंका स्पर्श ही कर रही है ॥१३॥ इन दीपकोंने दिवानाथके अस्त होनेपर घर-घर अपना बड़प्पन दिखलाया—इस क्रोधसे ही मानो प्रातःकाल पवनरूपी हाथसे धूमरूपी बाल खींचकर इस समय दीपकोंको नष्ट कर रहा है ॥१४॥ जिसपर किरणरूपी सफेद बाल निकले हैं ऐसे मस्तकके समान चन्द्रमा जब रात्रिरूपी वृद्धा स्त्रीके आगे झुक गया तब पक्षियोंके शब्दोंके बहाने परस्पर खिलखिलाती

---

१. हासान् छ० ज० घ० म० ।

[1]आसाद्योद्धृतचरणापरार्धमेताः कण्ठाग्रं मुकुलितलोचनास्तरुण्यः ।
प्रस्थातुं शयनतलोत्थितानभीष्टान् याचन्ते प्रकटितचाटु चुम्बनानि ॥१६॥
पद्मिन्यामहनि विधाय कोशपानं चिक्रीडुर्निशि यदमी कुमुद्वतीभिः ।
तद्वर्णैर्न परमुदीरयन्ति भृङ्गाः कृष्णत्वं निजचरितैरपि प्रकामम् ॥१७॥
पर्यस्ते दिवसमणौ न काचिदासीद् बाधा वस्तिमिरपिशाचगोचराणाम् ।
इत्याशाः पतितहिमद्रवाश्रुलोकान् वात्सल्याद् विहगरुतैरिवालपन्ति ॥१८॥
भात्येषा सुभगतमक्षपापवृत्तौ विच्छाया नभसि निशाकरस्य कान्तिः ।
एतं ते मुखमुकुरं प्रमार्ज्य लक्ष्म्या प्रक्षिप्ता स्वगुणदिदृक्षयेव भूतिः ॥१९॥
तन्नूनं प्रियविरहार्तचक्रवाक्याः कारुण्यान्निशि रुदितं घनं नलिन्या ।
यत्प्रातर्जललवलाञ्छितारुणानि प्रेक्ष्यन्ते कमलविलोचनानि तस्याः ॥२०॥
स्रस्तोडुक्रमपरिणामि पाण्डुपत्रे व्योमाग्रे द्रुम इव संश्रये खगानाम् ।
उन्मीलत्किसलयविभ्रमं भजन्ते जम्भारेः ककुभि विभाकरस्य भासः ॥२१॥

तरुण्यः सशब्दमुपहसन्ति ॥१५॥ आसाद्येति—निजफणकभरेण स्थित्वा प्रियकण्ठमवलम्ब्य यियासून्प्रियतमान् चटुलचाटुचुम्बनानि तरुण्यो याचन्ते ॥१६॥ पद्मिन्यामिति—ये दिवसे कमलमुकुलमकरन्दपानं कृत्वा नक्तं कैरविणीभिः सार्धं रेमिरे तन्न केवलं वर्णेन मालिन्यं बिभ्रति निजप्रतिपन्नैश्चरितैरपि । यथा कश्चित्कोशं पीत्वा शपथादिकं कृत्वा पुनस्तदेवाकृत्यं कुर्वन् निजदुश्चरित्रं प्रकटयति ॥१७॥ पर्यस्त इति—आदित्येऽस्तमिते ध्वान्तरक्षाश्लिष्टानां युष्माकं न काचित्पीडा बभूव इति कुशलवार्तायन्त्य इव दिगङ्गनामातर इव पतितप्रालेयकणैर्दर्शित वाष्पलवानिव लोकान् वात्सल्यात्पक्षिकोलाहलैः संभाषयन्तीति ॥१८॥ भातीति—सुभगतम, निशाविरामे निःश्रीका चन्द्रकान्तिर्विभाति आत्मगुणदिदृक्षुकया लक्ष्म्या एतं तव वदनादर्शं प्रमार्ज्य दूरे भसितमिव प्रक्षिप्तम् । त्वन्मुखस्थं निजसौभाग्यगुणं लक्ष्मीर्बहु मनुते इति भावः ॥१९॥ तन्नूनमिति—चक्रवाकीप्रियसखीदुःखेन नलिन्यापि रुदितं यतः प्रभाते हिमलवाश्रुकलितानि शोणानि कमलनयनानि तस्या दृश्यन्ते ॥२०॥ स्रस्तेति—खे गच्छन्तीति खगा आदित्यादयः परिणामपक्वपतन्नक्षत्रपाण्डुपत्रे गगनद्रुमे उद्गच्छत्किसलयश्रियं पूर्वदिग्भागे

हुई दिशारूपी स्त्रियाँ मानो विप्लवसूचक अट्टहास ही करने लगीं ॥१५॥ ये युवतियाँ जो कि चरणोंका उत्तरार्ध भाग ऊपर उठा [घुटनोंके बल शय्यापर खड़ी हो] गलेका आलिंगन कर आनन्दसे नेत्र बन्द कर रही हैं, वे जानेके लिए शय्यातलसे उठकर खड़े हुए पतियोंसे चापलूसी करती हुई चुम्बनोंकी याचना कर रही हैं ॥१६॥ चूँकि ये भ्रमर दिनके समय कमलिनीमें मधुपान कर रात्रिके समय कुमुदिनियोंके साथ क्रीड़ा करते रहे हैं अतः ये न केवल वर्णके द्वारा ही अपनी कृष्णता प्रकट करते हैं अपितु अपने आचरणके द्वारा भी ॥१७॥ सूर्यके अस्त होनेपर अन्धकाररूपी पिशाचके वश पड़े हुए आप लोगोंको कोई बाधा तो नहीं हुई ?, मानो दिशाएँ स्नेहवश ओसरूपी अश्रुओंको छोड़ती हुई पक्षियोंकी बोलीके बहाने लोगोंसे यही पूछ रही हैं ॥१८॥ हे सौभाग्यशालिन् ! रात्रिके समाप्त होनेपर आकाशमें चन्द्रमाकी यह फीकी कान्ति ऐसी जान पड़ती है मानो लक्ष्मीने अपने गुण देखनेकी इच्छासे तुम्हारे इस मुखरूपी दर्पणको माँजकर राख ही फेंकी हो ॥१९॥ पतिके विरहसे दुःखी चकवीपर दया आनेसे कमलिनी मानो रात भर खूब रोती रही है इसीलिए तो उसके कमलरूपी नेत्र प्रातःकालके समय जलकणोंसे चिह्नित एवं लाल-लाल दिखाई दे रहे हैं ॥२०॥ आकाशका अग्रभाग पक्षियोंके [पक्षमें सूर्यादि ग्रहोंके] निवासभूत वृक्षके समान है चूँकि उसके नक्षत्ररूपी क्रमसे पके हुए पीले पत्ते गिर चुके हैं अतः पूर्व दिशामें सूर्यकी प्रभा उसपर निकलते हुए नये

---

१. आसज्योद्धृत ख० ग० च० छ० ज० घ० म० ।

भस्मास्थिप्रकरकपालकश्मलोऽभ्रे[1] यः संध्यावसरकपालिनावकीर्णः ।
तं भास्वत्युदयति चन्द्रिकोडुचन्द्रव्याजेनावकरमपाकरोति कालः ॥२२॥
निःशेषं हृतजनजातरूपवृत्तेर्ध्वान्तस्य प्रविरचितोऽमुनावकाशः ।
इत्युच्चैर्गगनमुदस्तमण्डलाग्रो विच्छिन्नश्रवणकरं करोति भानुः ॥२३॥
आरम्भोच्छलिततुरङ्गकुञ्जरश्रीः क्षुण्णोद्यन्मकरकुलीरमीनरक्तः ।
देवार्थं विदधदहीनरश्मिरब्धेरुन्मज्जत्ययमहिमांशुमन्दराद्रिः ॥२४॥
पाथोधेरुपजलतैलमुत्थितार्चिध्वान्तच्छिद्व्रजति रविः प्रदीपलक्ष्मीम् ।
यस्याभात्युपरि पतङ्गपातभीत्या विन्यस्तं मरकतपात्रवद्विहायः ॥२५॥
दीपेनाम्बरमणिना रथाश्वदूर्वं[2] संयोज्यारुणघुसृणं खमेव पात्रम् ।
नक्षत्राक्षतनिकरं पुरः क्षिपन्ती प्राचीयं प्रगुणयतीव मङ्गलं ते ॥२६॥

रविरुचयो भासन्ते ॥२१॥ भस्मेति—संध्यावसर एव कपाली महाव्रतिकस्तेन भस्मास्थिशकलनिकरकपालकचवारो गगनप्राङ्गणे निक्षिप्तस्तं प्रभातसमयो भास्वति महापुरुष इव उद्गच्छति ज्योत्स्नानक्षत्रचन्द्रव्याजेन संमार्जयति । भस्मज्योत्स्नयोरस्थितारयोः कपालचन्द्रयोरुपमानोपमेयभावः ॥२२॥ निःशेषमिति—सर्वथापहृतलोकसमूहरूपाचरणस्य ध्वान्तस्यानेनावकाशो दत्तः पक्षेऽपहृतजनसुवर्णस्य । इति हेतोरुदितादित्यो गगनं विगतश्रवणनक्षत्रकिरणं दर्शितमण्डलो रुषा उत्खातखड्गश्च पक्षे कर्तितकर्णहस्तम् ॥२३॥ आरम्भ इति—समुद्रादादित्यमन्दराद्रिरुद्गच्छति । किंविशिष्टः । आरम्भे मथनप्रारम्भे उच्छलिता उद्गता उच्चैश्च ऐरावणप्रभृतयो यस्मात् । रविपक्षे प्रथमोद्गता तुरङ्गप्रधानानां हरिताश्वानां श्रीर्यस्य स तथाविधः । कदर्थितमकरादिजलचरविशेषः पक्षे ग्लपितमकरमीनकर्कराशिश्च सुवर्णवर्णश्च । देवार्थं सुरसार्थनिमित्तं पक्षे देवानां विभवं कुर्वन् अगृहीतरश्मिशेषनेत्रकः पक्षे प्रचुरकिरणः ॥२४॥ पाथोधेरिति—समुद्रजलमेव तैलं तस्य समीपे समुद्भूतकिरणजालशिखो विवस्वान् दीपश्रियं बिभर्त्ति । यस्योपरि शलभपातभीत्या मरकतकर्परमिव गगनं दत्तं विभाति ॥२५॥ दीपेनेति—हे प्रभो ! इयं पूर्वदिगङ्गनागगनं मङ्गलपात्रमिव विधाय अर्घाय प्रगुणीभवति । किंविशिष्ट-

पल्लवोंकी शोभा धारण कर रही है ॥२१॥ संध्याकालरूपी कपालीने जो आगे भस्म, हड्डियोंका समूह और कपालरूपी मलिन वस्तुओंका समूह फैला रखा था उसे प्रातःकाल, सूर्यके उदित होनेपर चाँदनी, नक्षत्र और चन्द्रमाके बहाने कचड़ाकी तरह दूर कर रहा है ॥२२॥ चूँकि इस आकाशने सम्पूर्ण रूपसे मनुष्यसमूहका सौन्दर्य नष्ट करनेवाले अन्धकारके लिए अवकाश दिया था अतः सूर्य अपने मण्डलाग्र—बिम्बाग्ररूपी तलवारको ऊपर उठा उसे श्रवणकर रहित—श्रवणनक्षत्रकी किरणोंसे रहित [पक्षमें कान और हस्त रहित] कर रहा है—उसके कान और हाथ काट रहा है ॥२३॥ जिसके आरम्भमें ही उच्चैःश्रवा अश्व, ऐरावत हाथी तथा लक्ष्मी प्रकट हुई है [पक्षमें तत्काल निकलनेवाले उच्चैःश्रवा और ऐरावतके समान जिसकी शोभा है] जो क्षुण्ण होकर ऊपर आनेवाले मकर, कुलीर और मीनोंसे रक्तवर्ण हो रहा है [पक्षमें उदित होनेवाली मकर, कर्क और मीनराशिसे युक्त तथा रक्तवर्ण है] और अहीनरश्मि—शेषनागरूपी रस्सीसे सहित है [पक्षमें विशाल किरणोंका धारक है] ऐसा यह चन्द्रमारूपी मन्दरगिरि, देवोंका कार्य करता हुआ समुद्रसे उन्मग्न हो रहा है—मथनके उपरान्त बाहर निकल रहा है ॥२४॥ ऊपर जानेवाली किरणोंके द्वारा अन्धकारका नाश करनेवाला सूर्य, समुद्रके जलरूपी तेलके समीप उत्तम दीपककी शोभाको प्राप्त हो रहा है और उसके ऊपर यह आकाश पतंगपातके भयसे रखे हुए मरकत मणिके पात्रकी तरह सुशोभित हो रहा है ॥२५॥ ऐसा जान पड़ता है मानो यह पूर्वदिशा, सूर्यको दीपक, रथके घोड़ों-

१. कश्मलोऽभ्रे म० घ० । २. धूर्यं म० घ० ।

पाथोधेरधिगतविद्रुमांशुभिर्वा सिद्धस्त्रीकरकलितार्घकुङ्कुमैर्वा ।
लोकानामयमनुरागकन्दलैर्वा प्रत्यूषे वपुररुणं बिभर्ति भानुः ॥२७॥

उत्तिष्ठ त्रिजगदधीश मुञ्च शय्यामात्मानं बहिरुपदर्शयाश्रितानाम् ।
तिग्मांशुर्द्रुतमधिरोहतु त्वदीयैस्तेजोभिर्विजित इवोदयाद्रिदुर्गम् ॥२८॥

आयातो दुरधिगमामतीत्य वीथीमासीनः क्षणमुदयाद्रिभद्रपीठे ।
प्रारब्धाभ्युदयमहोत्सवो विवस्वान् दिक्कान्ताः करघुसृणैर्विलिम्पतीव ॥२९॥

मार्तण्डप्रखरकराग्रपीड्यमानादेतस्मादमृतमिव च्युतं सुधांशोः ।
मथ्नन्त्योदधिकलशीषु मेघमन्द्रैः प्रध्वानैः शिखिकुलमुत्कयन्ति गोप्यः ॥३०॥

यामिन्यामनिशमनीक्षितेन्दुबिम्बं व्यावृत्ते प्रणयिनि भास्करे मुदेव ।
[1]सोत्साहं मधुकरकज्जलैरिदानीं पद्मिन्यः सरसिजनेत्रमञ्जयन्ति ॥३१॥

मित्याह—सूर्यदीपेनोपलक्षितं हरितसप्ताश्वदूर्वाङ्कम् अरुणोऽनूरुरेव कुङ्कुमं यत्र । किं कुर्वन्ती । नक्षत्राक्षतानि पुरो निक्षिपन्ती । अथ च नक्षत्राणां तदा प्रणाशः ॥२६॥ **पाथोधेरिति**—प्रभातेऽरुणं वपुर्यैः कारणै रविर्दधाति तान्याह—समुद्रप्रवालकप्रभाभिः रञ्जितः । अथवा सिद्धाङ्गनाभिः पूजयन्तीभिः कुङ्कुमस्थासकैः पिञ्जरितः । यदि वा जनानुरागकन्दलैः संश्लिष्ट इति ॥२७॥ **उत्तिष्ठेति**—हे प्रभो ! शय्यां परित्यज्य निजश्रितानामात्मानं दर्शय । यथा यौष्माकैः प्रतापैर्भीषित इवादित्य उदयाचलमारोहतु दुर्गमिव ॥२८॥ **आयात इति**—उदयाचलसिंहासनमधिरूढो दिननाथो दिगङ्गनानां किरणैः कुङ्कुमैरिव लेपनं करोति । दुस्तरां वीथीमापदमिवातिक्रम्येति भावार्थः । यथा कश्चिच्चिरप्रवासी गृहागतो निजाङ्गनां विलेपनादिना सन्मानयति ॥२९॥ **मार्तण्डेति**—प्रभाते दधिमथनकारणं वितर्कयन्नाह—खरकिरणकरैर्निःपीलितादिव चन्द्रान्निर्गलितं संस्त्यानं पीयूषमिव दधिमन्थनीषु निक्षिप्तं मथ्नन्त्यो गोपवध्वो मेघगर्जितसदृशैर्मन्थध्वानैर्मयूरकुलमुत्कयन्ति ॥३०॥ **यामिन्यामिति**—येन रात्रौ चन्द्रबिम्बं परपुरुषबिम्बमिव न दृष्टं ततो निजपतौ भास्करे समागते भ्रमरश्रेणिकज्जलैः कमलिन्यः

को दूर्वा, सारथिको कुंकुम और आकाशको पात्र बनाकर नक्षत्ररूपी अक्षतोंके समूहको आगे फेंकती हुई आपका मंगलाचार ही कर रही हो ॥२६॥ प्रातःकालके समय यह सूर्य समुद्रसे साथ लगी हुई मूँगाओंकी किरणोंसे अथवा सिद्धांगनाओंके हाथोंमें स्थित अर्घ की कुंकुमसे अथवा मनुष्योंके अनुरागकी कन्दलियोंसे ही मानो लाल-लाल हुए शरीरको धारण कर रहा है ॥२७॥ हे त्रिलोकीनाथ ! उठिए, शय्या छोड़िए और बाहर स्थित आश्रितजनोंके लिए अपना दर्शन दीजिए। आपके तेजसे पराजित हुआ सूर्य शीघ्र ही उदयाचलरूपी दुर्गपर आरूढ़ हो ॥२८॥ दुर्गम मार्गको तय कर आया एवं उदयाचलरूपी उत्तम सिंहासन पर अधिरूढ़ हुआ यह सूर्य क्षण-भरके लिए ऐसा जान पड़ता है मानो अभ्युदयका महोत्सव प्रारम्भ कर किरणरूप केशरसे दिशारूप स्त्रियोंको विलिप्त ही कर रहा हो ॥२९॥ इधर ये गोपिकाएँ उस दधिको, जो कि सूर्यकी किरणों [पक्षमें हाथों] के अग्रभागसे पीड़ित चन्द्रमासे च्युत अमृतके समान जान पड़ता है, कलशियोंमें मथती हुई मेघध्वनिके समान गम्भीर ध्वनिसे मयूरोंके समूहको उत्कण्ठित कर रही हैं ॥३०॥ इस समय कमलिनियाँ [पक्षमें पद्मिनी स्त्रियाँ] जिसने रात्रि भर चन्द्रबिम्बको नहीं देखा ऐसे अपने कमलरूपी नेत्रको सूर्यरूपी प्रियतमके वापस लौट आनेपर आनन्दसे बड़े उत्साहके साथ मानो भ्रमररूपी कज्जलके

---

१. सोल्लासं ख० ग० घ० म० ।

सिन्दूरद्युतिमिह मूर्ध्नि [1]कुङ्कुमाभां वक्त्रेन्दौ वसनगतां कुसुम्भशोभाम् ।
बिभ्राणा नवतरणित्विषोऽपि साध्वीर्वैधव्येऽभिजनवधूर्विदूषयन्ति ॥३२॥
स्वच्छन्दं विधुमभिसार्य यत्प्रविष्टा प्रातः श्रीः कमलगृहे निरस्य मुद्राम् ।
भूयोऽपि प्रियमनुवर्तते दिनेशं कः स्त्रीणां गहनमवैति तच्चरित्रम् ॥३३॥
प्रस्थातुं तव विहितोद्यमस्य भर्तुः प्रोत्सर्पद्वदनविलोलनीलपत्रः ।
प्राच्यायं समुचितमङ्गलार्थमग्रे सौवर्णः कलश इवांशुमानुदस्तः ॥३४॥
[2]त्वद्द्वारि द्विरदमदोक्षिते मिथोऽङ्गसंघट्टच्युतमणिमण्डिते नृपाणाम् ।
राज्यश्रीश्चलतुरगाङ्घ्रितूर्यनादैर्व्यालोलध्वजकपटेन नृत्यतीव ॥३५॥
मार्तण्डप्रखरकराग्रटङ्कघातप्रक्षुण्णस्थपुटतमस्तुषारकूटाः ।
उद्योगप्रगुणचमूचरस्य योग्याः प्रस्थातुं तव ककुभोऽधुना बभूवुः ॥३६॥

पद्मनेत्रमञ्जयन्ति हर्षेणेव ॥३१॥ **सिन्दूरेति**—वैधव्यव्रते स्थिताः साधुवधू रविकिरणाः सधवा इव कुर्वन्ति । कथमित्याह—तासां शिरसि पतन्तोऽतिरक्तत्वात्सिन्दूरच्छायां वितरन्ति वक्त्रे च कुंकुमच्छायाम् । वसनस्थितौ गता वसनगताः कुसुम्भवस्त्रशोभां बिभ्राणा एतद्वैधव्यदूषितं सर्वमपि ततो दूषयन्ति ॥३२॥ **स्वच्छन्दमिति**—स्वच्छन्दं यथा स्यादेवं चन्द्रं समभिश्रित्य प्रभाते पुनरपि कमलगृहे पत्रकपाटमुद्रां निरस्य संकोचतालकं समुद्घाट्य यल्लक्ष्मीः प्रविष्टा तथैव च रविपतिं भजति । यथा काचित्स्वैरिणी नक्तं विहृत्य स्वैरं प्रभाते शनैः कलाकौशलेन गृहद्वारमुद्घाट्य प्रविष्टा भर्तारमनुवर्तते । ततो मन्ये स्त्रीणां चरित्रं दुःपरिच्छेद्यं महासाहसिकत्वात् ॥३३॥ **प्रस्थातुमिति**—हे प्रभो ! तव प्रस्थातुं कृतोद्यमस्य पूर्वदिगङ्गनया पुरस्तादादित्यबिम्बं मङ्गलकनककलश इव उत्तम्भितः । प्रोत्सर्पन्तः परिक्रामन्तः वदनेऽग्रभागे विलोलाश्चञ्चला नीला हरिताः पत्राणि रथाश्वा यस्य, पक्षे मुखनिक्षिप्ताम्रादिपत्रसंचयः प्रस्तुतमङ्गलार्थम् ॥३४॥ **त्वद्द्वारीति**—हे प्रभो ! तव राजद्वारे करिकपोलविगलितमदजलगन्धोदसिक्ते परस्परसंघट्टप्रभ्रष्टभूषणमुक्ताफलचतुष्किते चटुलतुरङ्गखुरप्रहारतूर्यनादैर्वातदोधूयमानध्वजपटलव्याजेन सर्वेषां नृपाणां राज्यलक्ष्मीर्नटतीव सेवागतवारविलासिनी नर्तकीव ॥३५॥ **मार्तण्डेति**—मार्तण्डनिष्ठुरकराग्रटङ्किकानिर्घातनिर्दलिता विषमोन्नता ध्वान्ततुषारयोः कूटा यासु तास्तथाविधा दिशस्तव सेना-

द्वारा आँज ही रही हैं ॥३१॥ इधर ये सूर्यकी नयी-नयी किरणें जो कि मस्तकमें सिन्दूरकी, मुखचन्द्रमें कुंकुमकी, और वस्त्रोंमें कुसुम्भ रंगकी शोभा धारण कर रही हैं, पतिव्रता कुलीन स्त्रियोंको वैधव्य दशामें दोषयुक्त बना रही हैं। [पतिव्रता विधवाएँ मस्तकमें सिन्दूर नहीं लगातीं, मुखपर कुंकुम नहीं मलतीं और रंगे हुए वस्त्र भी नहीं पहनतीं परन्तु सूर्यकी लाल-लाल किरणोंके पड़नेसे वे उक्त कार्य करती हुई सी जान पड़ती हैं ।] ॥३२॥ लक्ष्मी रात्रिके समय स्वच्छन्दतापूर्वक चन्द्रमाके साथ अभिसार कर प्रातःकाल कमलरूपी घरमें कपाट खोल आ प्रविष्ट हुई और अब सूर्यरूप पतिके अनुकूल पुनः आचरण कर रही है सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंके गहन चरित्रको कौन जानता है ॥३३॥ यह उदित होता हुआ सूर्य ऐसा जान पड़ता है मानो प्रस्थान करनेके लिए उद्यत स्वामीका [आपका] योग्य मंगलाचार करनेके लिए प्राचीने, जिसके मुखपर चंचल हरित पत्र ढँका हुआ है [पक्ष में आगे हरित-वर्णके घोड़ोंका समूह जुता हुआ है] ऐसा सुवर्ण कलश ही उठा रखा है ॥३४॥ हाथियोंके मदसे सिक्त एवं राजाओंके परस्पर शरीर संमर्दसे पतित मणियोंसे सुशोभित आपके द्वार-पर चंचल घोड़ोंके चरणरूपी वादित्रके शब्दों और फहराती हुई ध्वजाओंके कपटसे ऐसा जान पड़ता है मानो राज्यलक्ष्मी ही नृत्य कर रही हो ॥३५॥ हे भगवन् ! आप उद्योग-शाली श्रेष्ठ सेनाके साथ विहार करनेवाले हैं अतः सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंके अग्रभागरूपी

१. कुङ्कुमानां घ० म० । २. तद्द्वारि घ० म० ।

आयाति प्रबलतरप्रतापपात्रे नेत्राणां दिवसकृति त्वयीव मैत्रीम् ।
संतापः प्रकटतरो भवत्विदानीं शत्रूणामिव तपनाश्मनां गणेषु ॥३७॥
इत्थं स त्रिदशजनस्य मन्दराद्रिक्षुब्धाम्भोनिनदसमां निशम्य वाणीम् ।
उत्तस्थौ सितवसनोर्मिरम्यतल्पाद्दुग्धाब्धेः पवनतरङ्गिताद‍िवेन्दुः ॥३८॥
उत्तिष्ठन्नुदयगिरेरिवेन्दुरस्माद्देवेन्द्रान्मुकुलितपाणिपङ्कजाग्रात् ।
सोऽद्राक्षीदथ नमतो नगोपमेभ्यः पीठेभ्यो भुवि सरितामिव प्रवाहान् ॥३९॥
कारुण्यद्रविणनिधे निधेहि दृष्टिं सेवार्थी भवतु जनश्चिरात्कृतार्थः ।
यच्चिन्ताभ्यधिकफलान्यसौ ददाना तां चिन्तामणिगणनामपाकरोति ॥४०॥
इत्युच्चैर्निगदति वेत्रिणामधीशे श्रीधर्मः समुचितविन्नरामरेन्द्रान् ।
भ्रूदृष्टिस्मितवचसामसौ प्रसादैः प्रत्येकं सदसि यथार्हमाचचक्षे ॥४१॥ [कुलकम्]
निःशेषं भुवनविभुर्विभातकृत्यं कृत्वायं कृतसमयानुरूपवेषः ।
आरुह्य द्विरदमुदग्रदानमुच्चैः प्रत्यग्रं सुकृतमिवाथ संप्रतस्थे ॥४२॥

प्रस्थानयोग्या बभूवुः । उद्योग उद्यमे या प्रगुणा तत्परा चमूस्तत्र चरतीति । पक्षे प्रकृष्टगुणसमूहयुक्तस्य ॥३६॥ आयातीति—सांप्रतं बलप्रतापयुक्ते भास्वतीव त्वयि नेत्रपथमवतरति शत्रूणां संतापो भवतु सूर्यकान्तानामिव समूहेषु ज्वालाकलापः ॥३७॥ इत्थमिति—अनेन प्रकारेण देवगणस्य तारगम्भीरां वाणीं श्रुत्वा तल्पादुत्थितः धवलप्रच्छादनवस्त्रतरङ्गरम्यात् । मन्दराद्रिमथनध्वानं श्रुत्वा क्षीरसमुद्राच्चन्द्र इव ॥३८॥ उत्तिष्ठन्निति—स प्रभुः शयनादुत्तिष्ठन् निजनिजसिंहासनपरित्यागेन भूतलमिलितमस्तकान् देवेन्द्रान् शिरसि कृतहस्तान् प्रणमतो ददर्श यथा उदयाद्रिशृङ्गादुदयमानश्चन्द्रः पर्वतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रवर्तमानान् संकुचितपद्मनदीप्रवाहान् पश्यति ॥३९॥ कारुण्येति—हे प्रभो ! करुणाद्रव्यनिधान ! दृष्टिं निधेहि प्रसन्नां कुरु । सेवागतश्च अस्मल्लक्षणो जनः कृतार्थी स्यात् । यतश्चिन्तिताधिकफलानि दृष्टिरसौ ददाना चिन्तामणिप्रभुत्वं निराकरोति ॥४०॥ इतीति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण प्रतीहारराजे विज्ञपयति सति श्रीधर्मः समुचितज्ञो नरसुरेन्द्रान् यथोचितमानं भ्रूदृष्टिहास्यवचनानां प्रसादैर्यथायथं प्रत्येकं संभावयामास ॥४१॥ निःशेषमिति—स श्रीधर्मनाथः

टाँकियोंके आघातसे जिनका अन्धकार एवं नतोन्नत बर्फके शिखर खुद कर एक-से हो चुके हैं ऐसी दिशाएँ इस समय आपके प्रस्थानके योग्य हो गयी हैं ॥३६॥ जिस प्रकार अत्यन्त प्रबल प्रतापके पात्रस्वरूप आपके दृष्टिगत होनेपर शत्रुओंके समूहमें सन्ताप प्रकट होने लगता है उसी प्रकार इस समय अतिशय प्रतापी सूर्यके दृष्टिगत होते ही—उदित होते ही सूर्यकान्त मणियोंके समूहमें सन्ताप प्रकट होने लगा है ॥३७॥ इस प्रकार श्री धर्मनाथ स्वामी मन्दराचलसे क्षुभित जलके शब्दोंके समान देवोंकी वाणी सुनकर सफेद वस्त्रसे सुशोभित बिस्तरसे उस तरह उठे जिस तरह कि वायुसे लहराते हुए क्षीर समुद्रसे चन्द्रमा उठता है—उदित होता है ॥३८॥ तदनन्तर उत्तुङ्ग सिंहासनसे उठनेवाले भगवान् धर्मनाथने जिनके हस्त कमलोंके अग्रभाग मुकुलित हो रहे हैं और जो पर्वत तुल्य सिंहासनोंसे उठकर पृथिवीपर नमस्कार कर रहे हैं ऐसे देवेन्द्रोंको उस प्रकार देखा जिस प्रकार कि उदयाचलसे उदित होता हुआ चन्द्रमा प्रत्येक पर्वतसे बहनेवाले संकुचित कमलोंसे युक्त नदियोंके प्रवाहको देखता है ॥३९॥ हे दयारूप धनके भाण्डार ! आप अपनी दृष्टि डालिए जिससे कि सेवाभिलाषी जन चिरकालके लिए कृतार्थ हो जावें; क्योंकि आपकी वह दृष्टि चिन्तित—इच्छासे अधिक फल प्रदान करती हुई चिन्तामणिकी गणनाको दूर करती है—उससे भी कहीं अधिक है ॥४०॥ प्रतीहारीके उच्चस्वरसे ऐसा निवेदन करनेपर योग्य शिष्टाचारको जाननेवाले श्रीधर्मनाथ स्वामीने सभाके प्रत्येक मनुष्य और देवेन्द्रसे भौंह, दृष्टि, मुसकान और वचनोंकी प्रसन्नता द्वारा यथायोग्य वार्तालाप किया ॥४१॥ जिन्होंने प्रातःकाल सम्बन्धी

भास्वन्तं द्युतिरिव कीर्तिवद्गुणाढ्यं सोत्साहं सुभटमिवोत्सुका जयश्रीः ।
दुर्धर्षाभुवनविसर्पिणी दुरापा तं सेना त्रिभुवननाथमन्वियाय ॥४३॥

आक्षिप्तप्रलयनटोद्भटाट्टहासैः प्रेङ्खद्भिः पटुपटहारवैः प्रयाणे ।
एकत्रोच्छलितरजश्छलेन सर्वाः संसक्ता इव ककुभो भयाद्बभूवुः ॥४४॥

[1]मिण्ठेन द्विपमपनीतबन्धमन्यं प्रेक्ष्यैतत्प्रमथनमांसलाभिलाषः ।
प्रश्चोतद्द्विगुणमदाम्बुधारमुच्चैरालानद्रुवरमिभो हठादभाङ्क्षीत् ॥४५॥

तिष्ठन्तो मृदुलभुजङ्गराजमूर्धन्युद्बोढुं दृढपदमक्षमा क्षमा ते ।
कर्णान्तेऽभिहित इतीव भङ्गदूतैर्नागेन्द्रः पथि पदमन्थरं जगाम ॥४६॥

भ्रश्यन्त्याश्चरणभरात्करावलम्बं ये दातुं भुव इव लम्बमानहस्ताः ।
कर्णान्तध्वनदलिकोपकूणिताक्षास्ते जग्मुः पथि पुरतोऽस्य वारणेन्द्राः ॥४७॥

सकलं प्रभातकृत्यं कृत्वायं कृतयात्रिकवेषपरिग्रहः करीन्द्रं मूर्तिमद्धर्ममिवाधिरुह्य प्रस्थानं ददौ ॥४२॥ **भास्वन्तमिति**—तं त्रिभुवननाथं सकलसेनादीधितिरिव रविं, गुणान्वितं कीर्तिरिव, सुभटं जयलक्ष्मीरिव दुर्धर्षा सप्रतापा सर्वत्र द्युतीत्यादौ योजनीयं दुरापं पुण्यप्राप्यम् ॥४३॥ **आक्षिप्तेति**—तदा प्रयाणकाले प्रेङ्खद्भिरुज्जृम्भमाणैः पटुपटहनिनादैरुपहसितप्रलयकालरुद्रोत्कटाट्टहासैर्भयाद्भीता इव सर्वा अपि दिश उच्छलितधूलिपटलव्याजेन संमेलांचक्रुः । अतिप्रसृतधूलिपटलेन पूर्वापरादिदिग्विभागो निरस्तः ॥४४॥ **मिण्ठेनेति**—हस्तिपकेनान्यं द्विरदमालानस्तम्भान्मुक्तं वीक्ष्य एतस्य युद्धकाम्यया विशेषविगलितमदजलधारं यथा स्यादेवमपरो गजो बन्धनवृक्षं बलेन बभञ्ज निर्मूलयांचकार ॥४५॥ **तिष्ठन्तीति**—हे गजाधिराज ! मृणालनालकोमलशेषफणाफलकस्थिता पृथ्वी तव पादप्रचारभारं वोढुं न क्षमते । ततोऽस्या वराक्याः कृपा क्रियतामिति भ्रमरदूतैर्निवेदिते कश्चिन्नागेन्द्रो मदालसो मार्गे मन्दं मन्दं जगाम ॥४६॥ **भ्रश्यन्त्या इति**—पादभरेण अधःपतन्त्याः पृथिव्या ये हस्तावलम्बं दित्सव इव दीर्घशुण्डादण्डं प्रसारयन्ति । ये च श्रवणसमीपशब्दायमान-

---

समस्त कार्य करके समयके अनुरूप वेष धारण किया है ऐसे जगत्पति भगवान् श्रीधर्मनाथने नूतन पुण्यके समान मदस्रावी [पक्षमें उत्कृष्ट दानको देनेवाले] ऊँचे हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया ॥४२॥ जिस प्रकार सूर्यके पीछे प्रभा जाती है, गुणीके पीछे कीर्ति जाती है और उत्साही योद्धाके पीछे विजयलक्ष्मी जाती है उसी प्रकार संसारमें फैलनेवाली अजेय एवं दुर्लभ सेना उन त्रिलोकीनाथके पीछे जा रही थी ॥४३॥ प्रस्थानके समय प्रलयनट—रुद्रके भारी अट्टहासको तिरस्कृत करनेवाले बड़े-बड़े नगाड़ोंके शब्दों और उड़ती हुई धूलिके छलसे ऐसा जान पड़ता था मानो समस्त दिशाएँ भयसे एक स्थानपर एकत्रित ही हो रही हों ॥४४॥ महावतके द्वारा बन्धनमुक्त किये गये किसी अन्य हाथीको देख उसे नष्ट करनेके तीव्र इच्छुक हाथीने मदजलकी दूनी धारा छोड़ते हुए बन्धनके ऊँचे वृक्षको हठपूर्वक तोड़ डाला ॥४५॥ कोमल शेषनागके मस्तकपर स्थित पृथिवी तुम्हारे सुदृढ़ पैरोंको धारण करनेके लिए समर्थ नहीं है—इस प्रकार भ्रमररूप दूतोंने मानो कानोंके पास जाकर गजराजसे कह दिया था इसीलिए वह मार्गमें धीरे-धीरे पैर उठाता हुआ जा रहा था ॥४६॥ चरणोंके भारसे नष्ट होनेवाली पृथिवीको हस्तावलम्बन देनेके लिए ही मानो जिनके हस्त (सूँड़) नीचेकी ओर लटक रहे हैं तथा कानोंके समीप शब्द करनेवाले भ्रमरोंपर क्रोधवश जिनके नेत्र कुछ-कुछ संकुचित हो रहे हैं ऐसे बड़े-बड़े गजराज मार्गमें

---

१. मेण्ठेन म० घ० ।

संचेलुः प्रचलितकर्णताललीलावातोर्मिव्यतिकरशीतलैः समन्तात् ।
संघट्टभ्रमभरमूर्च्छिता इवाशाः सिञ्चन्तः पृथुकरसीकरैः करीन्द्राः ॥४८॥
अश्रान्तं श्रिय इव चारुचामराणां यः पश्चाद्विचरति लोलवालधीनाम् ।
क्रामद्भिर्भुवमभितो जवेन वाहैः स व्यक्तं कथमिव लङ्घितो न वायुः ॥४९॥
अन्योन्यस्खलनवशादयःखलीनप्रोद्गच्छज्ज्वलनकणच्छलेन सान्द्रम् ।
कान्तारे विदधति भूरिवेगबाधां गन्धर्वा निदधुरिव क्रुधा दवाग्निम् ॥५०॥
आक्रान्ते चटुलतुरङ्गपुङ्गवांह्रिक्षुण्णोर्वीवलयरजोभिरन्तरिक्षे ।
दिङ्मोहात्पतित इव क्वचित्तदानीं तिग्मांशुर्न नयनगोचरीबभूव ॥५१॥
उत्फालैर्द्रुतमवटस्थलीरलङ्घ्यास्तद्वाहैर्गतिरभसेन लङ्घयद्भिः ।
सर्वत्रश्वसनकुरङ्गपुङ्गवोत्था संभ्रान्तिर्मनसि समादधे न केषाम् ॥५२॥
उद्वल्गत्तुरगतरङ्गिताग्रसेनासंचारक्षतशिखरोच्चयच्छलेन ।
विन्ध्याद्रेः प्रथमकृताध्वसंनिरोधस्योल्लूनं शिर इव सैनिकैः प्रकोपात् ॥५३॥

भ्रमरकोपेनार्द्धनिमीलितनेत्रास्तेऽस्य मार्गेऽग्रे यान्ति स्म नान्ये प्राकृतप्रायाः ॥४७॥ **संचेलुरिति**—चञ्चलकर्णतालव्यजनलीला वातलहरी संपर्कशीतलैर्बहलशीकरैर्महासैन्यसंपर्क इव भ्रमो मोहविशेषस्तस्य भरेण मूर्च्छिता इव दिशः सिञ्चन्तः करीन्द्राः संचरन्ति स्म ॥४८॥ **अश्रान्तमिति**—अनवरतं लक्ष्मीचामरसदृशानां चञ्चलवालधीनां यो वायुः पश्चाद्भागे वर्तते स कथं मनोवेगेन पृथ्वीमाक्रामद्भिरश्वैर्न लङ्घितो न जितोऽपि । तु लङ्घित एव । अथ च सर्वदा विलोललाङ्गूलदर्शनाद्वायुः समीपे वसति, वायुमन्तरेण वलनस्यान्यथानुपपत्तेः । ततो युगपद्धावतोर्यः पश्चात्पतति स व्यक्तं जित एव ॥४९॥ **अन्योन्येति**—परस्परसंघट्टवशाल्लोहकविकाप्रोद्गच्छद्दहनकणव्याजेन बहलं दवाग्निं ये वने निक्षपन्ति । किं कारणमित्याह भूरिवेगबाधां विदधाने ॥५०॥ **आक्रान्त इति**—चटुलाश्वप्रधानक्षुरक्षुण्णभूवलयधूलिभिर्गगने पिहिते संजातदिङ्मोहादादित्यः क्वचित्पतित इव तदा प्रयाणकाले न दृष्टः । प्रयाणे रजोभावाद्दिनं रात्रिं मन्यमान इत्यर्थः ॥५१॥ **उत्फालैरिति**—उत्फालैर्महोच्छालैः शीघ्रम्, अवटस्थलीः अवटाश्च स्थल्यश्च अवटस्थलीरुच्चैस्तरा गमनसंवेगेन क्रामद्भिर्वातवहनमृगशङ्का केषां [हृदि] न समुत्पादिता ? अपि तु सर्वेषां समुत्पादिता एव । वायुहरिणवेगातिशयेन अश्वा गच्छन्तीत्यर्थः ॥५२॥ **उद्वल्गदिति**—चमूचरैर्मार्गसंनिरोधकोपेनेव विन्ध्यान्द्रेः शिर इव सैनिकैः प्रकोपात्कर्त्तितम् । कथमित्याह—त्वङ्गत्तुङ्गतरङ्गनिष्ठुरखुरक्षुण्णशिखरसंचयव्याजात् । प्रथमचलितैः खुरशाणैरश्वैः पर्वतशिखराण्यपि

इनके आगे जा रहे थे ॥४७॥ उस समय सब ओर बड़े-बड़े गजराज ऐसे चल रहे थे मानो चंचल कर्णरूपी तालपत्रकी वायुपरम्पराके संपर्कसे शीतल, विशाल शुण्डादण्डके जलकणोंके द्वारा संमर्दके भारसे मूर्च्छित दिशाओंको सींचते ही जा रहे हों ॥४८॥ जो लक्ष्मीके सुन्दर चमरोंके समान चंचल पूँछोंके पीछे निरन्तर चल रहा था वह वायु, वेगके द्वारा सब ओरसे पृथिवीपर आक्रमण करनेवाले घोड़ोंके द्वारा किस प्रकार उल्लंघित नहीं किया गया था ? ॥४९॥ परस्परके आघातवश लोहेकी लगामोंसे उछलते हुए अग्निकणोंके छलसे घोड़े ऐसे जान पड़ते थे मानो अत्यधिक वेगमें बाधा करनेवाले वनमें क्रोधसे दावानल ही डालते जा रहे हों ॥५०॥ उस समय अच्छे-अच्छे चंचल घोड़ोंके चरणोंसे खुदे भूमण्डलकी धूलिसे आकाशके व्याप्त हो जानेपर सूर्य दिखाई नहीं दे रहा था, मानो दिशाभ्रान्ति होनेसे कहीं अन्यत्र जा पड़ा हो ॥५१॥ जल्दी-जल्दी छलाँग भरने एवं गतिके वेग द्वारा अलंघनीय गर्तमयी भूमिको लाँघनेवाले घोड़ोंने सर्वत्र किन पुरुषोंके मनमें वातप्रमी जातिके श्रेष्ठ मृगोंकी भ्रान्ति उत्पन्न नहीं कर दी थी ? ॥५२॥ उछलते हुए घोड़ों, लहराती अग्रगामी सेनाके संचार-

१. साङ्घ्रि घ० म० ।

उत्खाताचलशिखरैः पुरः परागेणाश्वीयैः स्फुटमवटेषु पूरितेषु ।
सा बुद्धिः खलु रथिनो यदस्य पश्चात् प्रस्थाने सुगमतरो बभूव मार्गः ॥५४॥

प्राग्भागं द्विरदभयादुदग्रदन्तः प्रोत्सृज्य प्रकटितघर्घरोरुनादः ।
उत्कूर्दन् विकटपदैरितस्ततोऽग्रे दासेरः पटुनटकौतुकं चकार ॥५५॥

सर्वाशाद्विपमदवाहिनीषु सेनासंचारोच्छलितरजःस्थलीकृतासु ।
उड्डीनैर्भ्रमरकुलैरिवावकीर्णं व्योमासीदविरलदुर्दिनच्छलेन ॥५६॥

आतङ्काकुलशबरीवितीर्णगुञ्जापुञ्जेषु ज्वलितदवानलभ्रमेण ।
कारुण्यामृतरसवर्षिणीं स गच्छंश्चिक्षेप प्रभुरसकृद्वनेषु दृष्टिम् ॥५७॥

संसर्पद्बलभररुद्धसिन्धुवेगं प्रोद्दामद्विरदतिरस्कृताग्रशृङ्गम् ।
आक्रम्य ध्वजविजितोरुकन्दलीकं विन्ध्याद्रिं स विभुगुणैरधश्चकार ॥५८॥

चूर्णितानीत्यर्थः ॥५३॥ उत्खातेति—यदग्रे धूलिपटलेनाश्वसमूहैरुच्चावचेषु पूरितेषु समुत्खातपर्वतशिखरैः साग्रे तुरङ्गसंचारिका बुद्धिः पथिकस्य सुखाय बभूव यतोऽस्य पश्चाद्गमने मार्गः सुगमतरः ॥५४॥ प्राग्भागमिति—प्राक्प्रथममेव हस्तिभयात्त्रस्तो भारं त्यक्त्वा प्रकटितदन्तःक्रूरघोरनादः करभ उच्छृङ्खलविकटपदनिक्षेपैः क्रीडानटनाटयमनुचकार ॥५५॥ **सर्वाशेति**—सर्वदिग्गजकपोलार्द्रमदनदीषु कटकसंचारोच्छलितधूलिस्थलीपिहितासु निराश्रयैरुड्डीनैर्भ्रमरकुलैरिव पिहितं गगनं रजोऽन्धकारव्याजेन बभूव ॥५६॥ **आतङ्केति**—कटकभयभीताभिः पुलिन्दीभिर्गृहीतमुक्तेषु गुञ्जाफलपुञ्जेषु ज्वलितदवाङ्गारशङ्कया करुणापीयूषवर्षिणीं दृष्टिं वनेषु स प्रभुर्निचिक्षेप ॥५७॥ **संसर्पदिति**—स प्रभुर्निजैर्विभुगुणैर्विन्ध्यपर्वतमधश्चकार जिगाय । किंविशिष्टमित्याह—चङ्क्रम्यमाणेन सेनाभरेण निरुद्धः सिन्धूनां वेगो यस्य स तं तथाविधम् । प्रोद्दामैरुत्कटैस्तिरस्कृतान्युच्चैः शृङ्गाणि यस्य तं तथाविधं बलात्कारेण ध्वजैर्विजिता महाकन्दल्यो यस्य तं तथाविधम् । अथ च विन्ध्यमतिक्रम्य

से खुदे शिखरसमूहके छलसे ऐसा जान पड़ता था मानो मार्गमें सर्वप्रथम रुकावट डालनेवाले विन्ध्याचलका शिर ही सैनिकोंने क्रोधवश छेद डाला हो ॥५३॥ आगे चलकर पर्वतके शिखरोंको खोदनेवाले घोड़ोंके समूहने धूलिके द्वारा समस्त गर्तमय प्रदेश पूर दिये थे अतः रथ चलानेवालेकी वह उचित ही बुद्धि उत्पन्न हुई थी कि जिससे पीछे चलनेमें उसे मार्ग अत्यन्त सुगम हो गया था ॥५४॥ जो हाथीके भयसे अग्रभागको छोड़ दाँत ऊपर करता हुआ बड़े जोरका घर्घर शब्द कर रहा था तथा बड़े-बड़े पैरों द्वारा इधर-उधर कूद रहा था ऐसा ऊँट सेनाके अग्रभागमें चतुर नटका तमाशा कर रहा था ॥५५॥ आकाशमें निरन्तर धूलिरूप अन्धकार छा रहा था उससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो समस्त दिग्गजोंकी मदरूपी नदियोंके, सैन्य-संचारसे उड़ी धूलिसे स्थलरूप किये जानेपर उड़े हुए भ्रमरसमूहसे ही व्याप्त हो रहा हो । भावार्थ—पहले भ्रमर हाथियोंके मदकी धाराओंपर बैठे थे परन्तु पीछे सेनाके संचारसे उड़ी धूलिसे वे मदकी नदियाँ स्थलरूप हो गयीं अतः भ्रमर निराधार होकर आकाशमें उड़ पड़े हों ऐसा जान पड़ता था ॥५६॥ जाते हुए भगवान्‌ने भयसे व्याकुल शबरियोंके द्वारा फेंके हुए गुमचियोंके समूहमें प्रज्वलित दावानलका भ्रम होनेसे वनोंपर कई बार दयारूप अमृतरसको झरानेवाली दृष्टि डाली थी ॥५७॥ चलनेवाली सेनाके भारसे जिसकी नदियोंका वेग रुक गया है, बड़े-बड़े हाथियोंके द्वारा जिसके उन्नत शिखर तिरस्कृत हो गये हैं और ध्वजाओंके द्वारा जिसकी कदलियोंकी शोभा जीत ली गयी है ऐसे विन्ध्याचलपर चढ़कर भगवान्‌ने अपने व्यापक गुणोंसे उसे नीचा कर दिया था [पक्षमें पराजित कर दिया था] ॥५८॥

सर्पत्सु द्विरदबलेषु नर्मदायाः संजातं सपदि पथः प्रतीपगामि ।
वाहिन्यो मदजलनिर्मितास्त्वमीषामुत्सङ्गं द्रुतमुदधेरवापुरेव ॥५९॥

मद्दन्तद्वयवलभीनिवासलीलालोलेयं नियतमनन्यगा तु लक्ष्मीः ।
सामर्षप्रसरमितीव चिन्तयन्तो दन्तीन्द्राः सरिति बभञ्जुरम्बुजानि ॥६०॥

आस्कन्धं जलमवगाह्य दीर्घदन्तैरामूलोद्धृतसरलारविन्दनालाः[1] ।
आलोड्याखिलमुदरं तरङ्गवत्याः कृष्टान्त्रावलय इव द्विपा विरेजुः ॥६१॥

उन्मीलन्नवनलिनीमराललीलालंकारव्यतिकरसुन्दरीं समस्तात् ।
आनन्दोदवसितदेहलीमिवार्थश्रीसिद्धेः सरितमलङ्घयत्स रेवाम् ॥६२॥

एकान्तं सुरसवरार्थमाश्रयन्ती प्रेक्ष्योच्चैरतनुपयोधराग्रलक्ष्मीः ।
स्त्रीरत्नोत्सुकमनसा न सापि विन्ध्यारण्यानी गुणगुरुणा स्थिरं सिषेवे ॥६३॥

अग्रे गत इत्यर्थः ॥५८॥ **सर्पत्स्विति**—गजघटायां विचञ्चूर्यमाणायां नर्मदासलिलमूर्द्ध्वगामि बभूव । पश्चाच्चलितमिति भावः । एतेषां तु नद्यो मदजलस्य शीघ्रं समुद्रमध्ये जग्मुः ॥५९॥ **मद्दन्तेति**—अस्माकं दन्तद्वयपल्यङ्के शायिकेयं लक्ष्मीर्नान्यत्र गामिनीति कोपप्रसरमिव चेतसि चिन्तयन्तो मार्गतडागेषु श्रीवासबुद्ध्याश्रयाणि कमलानि उन्मूलयांचक्रुः करीन्द्राः ॥६०॥ **आ स्कन्धमिति**—स्कन्धदघ्नं जले मङ्क्त्वा दीर्घदन्तैरुत्खातकमलिनीनालाः करिणः शुशुभिरे । समस्तोदरं विलोड्य नद्या अन्त्रवलयानीव उद्धृतानि ॥६१॥ **उन्मीलदिति**—हर्षगृहस्य देहलीमिव स प्रभुर्नदीरेवां लङ्घयामास विकसत्कमलिनीस्थितहंसमण्डनमनोहराम् । देहल्यामपि पद्महंसादीनि चित्ररूपाणि भवन्ति ॥६२॥ **एकान्तमिति**—सुरा देवाः सवराः पर्वतवासिजनास्तदर्थमेकान्तं रहःसंभोगनिकुञ्जं समाश्रयन्ती उच्चैः शिखरलग्नमेघा सश्रीका विन्ध्याटवी चिरकालं प्रभुणा न सेविता । यतः किंविशिष्टेन । स्त्रीरत्ने उत्सुकं मनो यस्य तेन तथा । केनचिद् विदग्धस्त्रीसंभोगाय चलितेन सुरसवरार्थं

हाथियोंकी सेनाके चलनेपर नर्मदाका पानी सहसा उलटा बहने लगा था परन्तु उनकी मदजलनिर्मित नदियाँ समुद्रके ही मध्य पहुँची थीं ॥५९॥ हमारे दन्तद्वयरूप अट्टालिकामें रहनेवाली लक्ष्मी चंचल है परन्तु इन कमलोंमें रहनेवाली लक्ष्मी निश्चित ही अनन्यगामिनी है—इन्हें छोड़कर अन्यत्र नहीं जाती—इस प्रकार क्रोधसे विचरते हुए ही मानो गजराजोंने नदीके कमल तोड़ डाले थे ॥६०॥ स्कन्ध पर्यन्त जलमें घुसकर बड़े-बड़े दाँतोंके द्वारा जिन्होंने कमलोंके सीधे नाल जड़से उखाड़ लिये हैं ऐसे हाथी इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो नदीके समस्त उदरका विलोडन कर उसकी आँतोंका समूह ही उन्होंने खींच लिया हो ॥६१॥ सब ओर खिली हुई नवीन कमलिनियोंपर स्थित हंसोंकी क्रीड़ारूप अलंकारोंके संभेदसे सुन्दर नर्मदा नदीको भगवान् धर्मनाथने ऐसा पार किया था, मानो कार्यसिद्धिके आनन्दभवनकी देहली ही को पार किया हो ॥६२॥ जो देव और भीलोंके लिए एकान्त स्थान धारण कर रही थी—जो देव और भीलोंके उपभोगके योग्य अनेक एकान्त निकुंजोंसे सहित थी [पक्षमें जो सुरस—रसीले वरके लिए एकान्तका आश्रय कर रही थी] तथा अत्यन्त उन्नत एवं विशाल पयोधरों—मेघोंसे जिसके अग्रभागकी लक्ष्मी दर्शनीय थी [पक्षमें जिसके उन्नत एवं स्थूल स्तनोंके अग्रभागकी शोभा दर्शनीय थी] ऐसी उस विन्ध्याटवीका [पक्षमें किसी स्त्रीका] स्त्रीरत्नमें उत्सुक मनके धारक एवं जितेन्द्रियता आदि गुणोंसे श्रेष्ठ भगवान् धर्मनाथने स्थिरतापूर्वक सेवन नहीं किया था—वहाँ अधिक दिन तक निवास नहीं किया

---

१. नाली छ० ।

उत्तुङ्गद्रुमवलभीषु पानगोष्ठो[1]ष्वासक्तैर्मधुपकुलैर्निपीतमुक्तम् ।
बिभ्राणा मधु मधुरं प्रसूनपात्रे गञ्जेव द्रुतमटवी बलैः प्रमुक्ता ।।६४।।
वाहिन्यो हिमसलिलाः सशाद्वला भूर्यत्रोच्चैर्द्विरदभरक्षमा द्रुमाश्च ।
संसिद्धचै द्रुतमटतो बभूवुरध्वन्यावासाः कतिचिदमुष्य तत्र तत्र ।।६५।।
द्राघीयान्समपि जवान्नितान्तदुर्गं गव्यूतिप्रमितमिव व्यतीत्य मार्गम् ।
सोत्कण्ठं हृदयमसौ दधत्प्रियायां वैदर्भं विषयमथ प्रभुः प्रपेदे ।।६६।।
आरूढस्तुरगमिभं सुखासनं वा प्रोल्लङ्घ्य द्रुतमसमं सुखेन मार्गम् ।
देशेऽस्मिन्महति पुनर्वसुप्रधाने व्योम्नीव द्युमणिरगादसौ रथस्थः ।।६७।।
प्रध्वानैरनुकृतमन्द्रमेघनादैः पाण्डित्यं दधति शिखण्डिताण्डवेषु ।
ग्रामीणैर्घन इव वीक्षिते सहर्षं वज्रीव प्रभुरधिकं रथे रराज ।।६८।।
क्षेत्रश्रीरधिकतिलोत्तमाः सुकेश्यः कामिन्यो दिशि दिशि निष्कुटाः सरम्भाः ।
इत्येनं ग्रथितमशेषमप्सरोभिः स्वर्गादप्यधिकममंस्त देशमीशः ।।६९।।

सुरसकान्तनिमित्तमेकान्ते स्थिता पीनपयोधरापि मार्गे मिलितान्या त्यज्यते ।।६३।। **उत्तुङ्गेति**—उच्चवृक्षवलभीनिविष्टैर्भ्रमरकुलैः पानगोष्ठीसंसक्तैर्मधुपैरिव पीतमुक्तं मधु दधाना गञ्जेवाटवी चमूचरैः प्रमुक्ता । मद्याकरस्थानं गञ्जा ।।६४।। **वाहिन्य इति**—यत्र शीतलजला नद्यो हरिततृणाभूमिर्हस्त्यालानयोग्याश्च वृक्षा येषु येषु प्रदेशेषु तेषु अध्वन्या मार्गावासा बभूवुः । द्रुतं कार्यसिद्धचै गच्छतः ।।६५।। **द्राघीयान्समिति**—दीर्घं विषममपि मार्गं क्रोशद्वयमिवातिक्रम्य प्रियायां साभिलाषं हृदयं दधानः प्रभुः शीघ्रं विदर्भदेशं प्राप्तवान् ।।६६।। **आरूढेति**—तुरङ्गमं हस्तिनं शिविकां वा समारूढो विषममार्गं सुखेन जगाम । अस्मिन् विदर्भदेशे पुनः सुगमत्वाद्रथस्थ एव ययौ गगने रविरिव वसुप्रधाने देशे च द्रव्याढचे ।।६७।। **प्रध्वानैरिति**—रथे ग्रामीणैर्मेघ इव दृष्टे शक्र इवाधिकं प्रभुः शुशुभे । मयूरताण्डवेषु पाण्डित्यं रङ्गाचार्यकं दधाने । कैः प्रध्वानैरनुकृतगभीरमेघगर्जिभिः ।।६८।। **क्षेत्रश्रीरिति**—स प्रभुस्तं विदर्भदेशं स्वर्गादपि मनोहरं मेने । कथमित्याह—यत्र क्षेत्रश्री-

था—उसे छोड़ आगे गमन किया था [पक्षमें उपभोग नहीं किया था] ।।६३।। उन्नत वृक्षरूपी अट्टालिकाओंपर पानगोष्ठीमें आसक्त भ्रमरसमूहके द्वारा पान करनेके बाद छोड़ी हुई मधुर मदिराको पुष्परूपी पात्रमें धारण करनेवाली वह विन्ध्याटवी मद्यशालाकी तरह सैनिकोंके द्वारा शीघ्र ही छोड़ दी गयी ।।६४।। यद्यपि भगवान् धर्मनाथ कार्यसिद्धिके लिए शीघ्र ही गमन कर रहे थे फिर भी मार्गमें जहाँ शीतल जलसे युक्त नदियाँ, हरी घाससे युक्त पृथिवी और उन्नत हाथियोंका भार सहन करनेमें समर्थ वृक्ष होते थे वहाँ उनके कुछ आवास हुए थे ।।६५।। वह मार्ग यद्यपि बड़ा लम्बा और अत्यन्त दुर्गम था फिर भी उन्होंने वेगसे उसे इस प्रकार पार कर लिया मानो दो कोश प्रमाण ही हो । इस तरह अपना उत्कण्ठापूर्ण हृदय प्रियामें धारण करते हुए स्वामी धर्मनाथ, विदर्भ देश जा पहुँचे ।।६६।। भगवान् धर्मनाथने अब तकका विषममार्ग कहीं घोड़ेपर, कहीं हाथीपर और कहीं पालकीपर बैठकर सुखसे शीघ्र ही व्यतीत किया था किन्तु धनप्रधान इस विशाल देशमें उन्होंने रथपर बैठकर ही उस प्रकार गमन किया था जिस प्रकार पुनर्वसु नक्षत्रप्रधान अथवा किरणप्रधान विशाल आकाशमें सूर्य गमन करता है ।।६७।। मेघोंकी गम्भीर गर्जनाका अनुकरण करनेवाले शब्दोंके द्वारा मयूरोंके ताण्डव नृत्यमें पाण्डित्य धारण करनेवाले एवं ग्रामीण मनुष्योंके द्वारा बड़े हर्षके साथ अवलोकित रथपर विराजमान भगवान् मेघपर विराजित इन्द्रके समान सुशोभित हो रहे थे ।।६८।। चूँकि यहाँके क्षेत्रकी शोभा अधिक तिलोंसे उत्तम है [पक्षमें—तिलोत्तमा

१. –व्यासक्तै– घ० म० ।

विस्फारैरविदितविभ्रमैः स्वभावाद्ग्रामेयीनयनपुटैर्निपीयमानम् ।
लावण्यामृतमधिकाधिकं तथापि श्रीधर्मो भुवनविभुर्बभार चित्रम् ॥७०॥

पुण्ड्रेक्षु व्यतिकरशालिशालिवप्रे प्रोन्मीलद्विशदसरोरुहच्छलेन ।
अन्येषां श्रियमिव नीवृतां हसन्ती देशश्रीर्गुणगुरुणा मुदा लुलोके ॥७१॥

कूष्माण्डोफलभरगर्भचिर्भटेभ्यो वृन्ताकस्तबकविनम्रवास्तुकेभ्यः ।
संकीर्णे मिथ इव दृष्टिरस्य लग्ना निष्क्रान्ता कथमपि शाकवाटकेभ्यः ॥७२॥

देशश्रीहृतहृदयेक्षणः क्षणेन प्रोल्लङ्घ्य क्लममिव वर्त्म नातिदूरे ।
तत्रोर्वीमणिमयकुण्डलानुकारिप्राकारं पुरमथ कुण्डिनं ददर्श ॥७३॥

वार्तादौ तदनु रजस्ततः प्रणादो भेरीणामतनुबलान्वितस्य भर्तुः ।
एतस्याभिमुखगमोत्सुकं तदानीं सानन्दं पुरि विदधे विदर्भराजम् ॥७४॥

रधिकैस्तिलैर्धान्यविशेषैरुत्तमा । यत्र च कामिन्यः सुकेश्यो मनोहरकुन्तलकलापाः । दिशि दिशि निकुञ्जाः सकदलीकाः । अद्भिरुपलक्षितानि सरांसि अप्सरांसि तैरप्सरोभिः पक्षे तिलोत्तमासुकेशीरम्भाप्रभृतिभिरप्सरोभिर्देवाङ्गनाभिरसंख्याभिः सर्वत्र मण्डितः च स्वर्गवत्संख्याताभिस्ततोऽसौ स्वर्गं विशिनष्टि ॥६९॥ विस्फारैरिति—सहजमुग्धत्वादज्ञातविभ्रमैस्तारतरलैर्ग्रामीणस्त्रीनयनपुटैः सिप्रापुटैरिव पेपीयमानमपि वपुर्लावण्यसुधारसं प्रभुरधिकं बभार । अन्यच्च जलादिकं पीयमानं क्षीयते एतच्च न तथेति महाश्चर्यम् ॥७०॥ पुण्ड्रेक्ष्विति—इक्षुविशेषसंपर्कितकलभक्षेत्रे विदलद्धवलकमलव्याजेन अन्येषां देशानां लक्ष्मीं हसन्तीव तद्देशश्रीः प्रभुणा ददृशे ॥७१॥ कूष्माण्डीति—कूष्माण्डी कर्कटी [चिर्भटी] वृन्ताकवास्तुकसंभृतेभ्यः संकीर्णे पतितेव चिरेणास्य दृष्टिर्निष्क्रान्ता ॥७२॥ देशश्रीति—देशरामणीयकापहृतलोचनमनाः क्षणेन मार्गं खेदमिव व्यतिक्रम्य भूमिस्त्रीरत्नकुण्डलानुकारिप्राकारं पुरमथ कुण्डिनं विदर्भराजपुरं ददर्श ॥७३॥ वार्त्तादाविति—अस्य प्रभोरभिमुखगमनोत्सुकं विदर्भराजं विदधे । कः को विदधे । इत्याह—आदौ वार्ता ततः सेनासमुत्थापितरेणुस्तत आगन्तुकमङ्गलभेरीनिनादः । त्रिभिः कथिते विदर्भराजः संमुखं जगाम ॥७४॥

नामक अप्सरासे सहित है] यहाँकी स्त्रियाँ सुकेशी—उत्तम केशोंसे युक्त हैं [पक्षमें—सुकेशी नामक अप्सराएँ हैं], यहाँ प्रत्येक दिशामें रम्भा—कदली सहित गृहके उद्यान हैं [पक्षमें रम्भा नामक अप्सरासे सहित हैं] इस प्रकार अनेक जलके सरोवरों [पक्षमें अप्सराओं] से युक्त है अतः स्वामी धर्मनाथने इस देशको स्वर्गसे भी कहीं अधिक माना था ॥६९॥ जगत्पति श्रीधर्मनाथ स्वामी जिस सौन्दर्यरूपी अमृतको धारण कर रहे थे वह यद्यपि स्वभावसे ही विस्तृत और विलास चेष्टाओंसे अपरिचित ग्रामीण स्त्रियोंके नयनपुटोंके द्वारा पिया जा रहा था फिर भी उत्तरोत्तर अधिक होता जा रहा था—यह एक आश्चर्यकी बात है ॥७०॥ गुणगुरु भगवान् धर्मनाथने उस देशकी उस लक्ष्मीको बड़े हर्षके साथ देखा था, जो कि पौंड़ा और ईखसे मिश्रित धानसे सुशोभित खेतोंमें खिले हुए सफेद कमलोंके छलसे मानो अन्य देशोंकी लक्ष्मी की हँसी ही कर रही थी ॥७१॥ कुम्हड़ा, कचरिया, बैंगन तथा गुच्छोंसे नम्रीभूत बथुएसे युक्त शाकके कच्छवाटोंसे परस्पर व्याप्त देशमें उलझी हुई भगवान्की दृष्टि बड़ी कठिनाईसे निकल सकी थी ॥७२॥ देशकी शोभाके द्वारा जिनके हृदय और नेत्र दोनों ही हृत हो चुके हैं ऐसे भगवान् धर्मनाथने थकावटकी तरह उस मार्गको क्षणभरमें व्यतीत कर समीप ही वह कुण्डिनपुर नगर देखा, जिसका कि कोट, पृथिवीके मणिमय कुण्डलका अनुकरण कर रहा था ॥७३॥ सर्व-प्रथम वार्ताने, फिर धूलिने और तदुपरान्त भेरियोंके शब्दने नगरमें आनन्द सहित स्थित विदर्भराजको इस विशाल सेनासे युक्त श्रीधर्मनाथ स्वामीके सम्मुख

[1]सोल्लासं कतिपयवेगवत्तुरङ्गैरेत्यास्मिन्नभिमुखमंशुमानिवासीत् ।
अस्योद्यद्गुणगरिमप्रकर्षमेरोः पादान्ते प्रणतिपरः प्रतापराजः ॥७५॥
देवोऽपि प्रणयवशीकृतः कराभ्यामुत्क्षिप्य क्षितिमिलितोत्तमाङ्गमेनम् ।
यद्गम्यं क्षणमपि नो मनोरथानां तद्बाह्वोः पृथुतरमन्तरं निनाय ॥७६॥
[2]सोऽप्यन्तर्मनसि महानयं प्रसादो देवस्येत्यविरतमेव मन्यमानः ।
उन्मीलद्घनपुलकाङ्कुरः प्रमोदादित्यूचे विनयनिधिर्विदर्भराजः ॥७७॥
श्लाघ्यं मे कुलमखिलं दिगप्यवाची धन्येयं समजनि संततिः कृतार्था ।
कीर्तिश्च प्रसरतु सर्वतोऽद्य पुण्यैरातिथ्यं भुवनगुरौ त्वयि प्रयाते ॥७८॥
किं ब्रूमः शिरसि जगत्त्रयेऽपि लोकैराज्ञेयं स्रगिव पुरापि धार्यते ते ।
स्वीकारस्तदखिलराज्यवैभवेषु प्राणेष्वप्ययमधुना विधीयतां नः ॥७९॥
[3]अत्यन्तं किमपि वचोभिरित्युदारैः सप्रेम प्रवणयति प्रतापराजे ।
देवोऽयं सरलतरं स्वभावमस्य प्रेक्ष्येति प्रियमुचितं मुदाचचक्षे ॥८०॥

सोल्लासमिति—तदनन्तरं सहर्षं कैश्चिद्वेगवद्भिस्तुरगैः संमुखमागत्य अस्य निःसीमगुणगुरुत्वप्रकर्षस्वर्णशैलस्य प्रभोः पादसमीपे प्रणतितत्परः प्रतापराजस्तस्थौ । यथा प्रतापेन राजते प्रतापराज आदित्यः स स्वाश्वैरागत्य मेरोः समीपे तिष्ठति ॥७५॥ **देव इति**—श्रीधर्मनाथोऽपि स्नेहविह्वलत्वेन वशीकृतचेता एनं भूलुठितमस्तकं प्रतापराजं प्रणमन्तमुत्क्षिप्य यन्मनोरथस्याप्यगम्यं तद् हृदयं निनाय । आलिलिङ्गेत्यर्थः ॥७६॥ **स इति**—विदर्भराजोऽपि 'देवेन महान् आलिङ्गनादिप्रसादः कृतः' इति मनसि मन्यमान उद्गतवहलपुलकाङ्कुरप्रमोदमदगद्गदवाक् वक्ष्यमाणमिति वचनमुवाच ॥७७॥ **श्लाघ्यमिति**—हे प्रभो ! सांप्रतं त्वयि समायाते मम सर्वगोत्रं श्लाघ्यतमं संजातं । न केवलं मम कुलं दक्षिणदिगसौ धन्या ममेयं पुत्रीप्रभृतिः प्रसूतिश्च धन्या । एतद्दिवसमारभ्य मे कीर्तिश्च सर्वतः प्रसरतु महापुण्यैस्त्वयि आतिथ्यं प्राप्ते सति ॥७८॥ **किमिति**—हे प्रभोः ! तवाज्ञा शिरसि त्रिभुवनेऽपि पुरा चूडामणिरिव धार्यते ततो वयं तवाज्ञां विधारयाम इति वचनं चर्वितचर्वणमिव । परं सांप्रतमेतद्विज्ञापयामि—मम साम्राज्यसर्वस्वेषु प्राणेषु च स्वीकारो ममत्वबुद्धिः क्रियतामिति ॥७९॥ **अत्यन्तमिति**—इति पूर्वोक्तप्रकारेण अत्यन्तं किमपि स्नेहसर्वस्वं प्रतापराजे प्रकटयति सति सहजप्रेम-

आनेमें उत्सुक किया था ॥७४॥ वह प्रतापराज सूर्यकी भाँति कुछ वेगशाली घोड़ोंके द्वारा बड़े उल्लासके साथ संमुख आकर उत्कृष्टगुणोंकी गरिमाके प्रकर्षसे मेरुकी समानताको धारण करने वाले इन धर्मनाथ स्वामीके चरणोंके समीप [पक्षमें प्रत्यन्त पर्वतके समीप] नम्रीभूत हुआ ॥७५॥ प्रेमसे वशीभूत भगवान्‌ने पृथिवी पर मस्तक झुकाये हुए इस प्रतापराजको दोनों हाथोंसे उठाकर अपने उस विशाल वक्षस्थलसे लगा लिया जो कि क्षणभरके लिए भी मनोरथोंका गम्य नहीं था ॥७६॥ जिसके अत्यधिक रोमांचरूपी अंकुर उठ रहे हैं ऐसा विनयका भाण्डार विदर्भराज भी अपने मनमें वह सब भगवान्‌का ही महान् प्रसाद है ऐसा निरन्तर मानता हुआ बड़े हर्षके साथ निम्न प्रकार कहने लगा ॥७७॥ चूँकि आज त्रिभुवनगुरु पुण्योदयसे मेरे आतिथ्यको प्राप्त हुए हैं अतः मेरा समस्त कुल प्रशंसनीय हो गया, यह दक्षिण दिशा धन्य हुई, मेरी सन्तान कृतकृत्य हुई और आजसे मेरा यश सर्वत्र फैले ॥७८॥ हे प्रभो ! आपकी आज्ञा तो तीनों लोकोंमें लोगोंके द्वारा पहलेसे ही मालाकी तरह शिरपर धारण की जाती है अतः अधिक क्या कहें ? हाँ, अब मेरे समस्त राज्य-वैभव एवं प्राणोंमें भी आत्मीय बुद्धि कीजिए ॥७९॥ जब प्रतापराजने इस प्रकारके उत्कृष्ट वचनोंके द्वारा प्रेमसहित अत्यन्त नम्रता दिखायी तब भगवान् धर्मनाथने भी उसका अत्यन्त सरलस्वभाव देख हर्षसहित निम्नांकित प्रिय

१. प्रोल्लासं ख० । २. घ० म० पुस्तकयोः ७७–७८ श्लोकयोः क्रमभेदोऽस्ति । ३. औचित्यं छ० ज० च० ।

सर्वस्वोपनयनमत्र तावदास्तां जाताः स्मस्त्वदुपगमाद्वयं कृतार्थाः।
नास्माकं तव विभवे परस्वबुद्धिर्नो वास्ते वपुषि मनागनात्मभावः ॥८१॥

आलापैरिति बहुमानयन्समीपे गच्छन्तं तमुचितसत्क्रियाप्रतीतः।
ताम्बूलार्पणमुदितं विदर्भराजं [1]स्वावासान्प्रति विससर्ज धर्मनाथः ॥८२॥

आनन्दोच्छ्वसितमनाः पुरोपकण्ठे योग्यायामथ वरदाप्रतीरभूमौ।
आवासस्थितिमविरोधिनीं विधातुं सेनायाः पतिमयमादिदेश देवः ॥८३॥

स यावत्सेनानीरलमलभताज्ञामिति विभोः
पुरं पूर्वस्थित्या सपदि धनदस्तावदकरोत्।
सुरस्कन्धावारद्युतिविजयिनो यस्य विशिखा-
समासन्नं शाखानगरमिव तत्कुण्डिनमभूत्[2] ॥८४॥

द्वारि द्वारि पुरे पुरे पथि पथि प्रत्युल्लसत्तोरणां
पौराः पूर्णमनोरथा रचयत प्रत्यग्ररङ्गावलिम्।
पुण्यैर्वस्त्रिदशेन्द्रशेखरमणिः सोऽयं जगद्वल्लभः
प्राप्तो रत्नपुरेश्वरस्य तनयः श्रीधर्मनाथः प्रभुः[3] ॥८५॥

रसिकोऽयमिति ज्ञात्वा प्रभुरुचितं प्रियवचनं बभाषे ॥८०॥ **सर्वस्वेति**—सर्वस्वोपनयनं तावद्दूरे तिष्ठतु तव समागमनेन वयमपि कृतार्थाः संजाता न वास्माकं तव विभवे परद्रव्यबुद्धिः न च वा तव शरीरे परशरीरभावः। सर्वात्मना तवास्माकं च एकाकीभाव इति ॥८१॥ **आलापैरिति**—इति रथसमीपे पादचारेण गच्छन्तं प्रतापराजं प्रियवचनैर्बहुसंभावयन् तत्कालोचितसत्कारेण प्रतीतः ताम्बूलदानप्रसादितं निजगृहान्प्रति प्रेषयामास ॥८२॥ **आनन्देति**—अथानन्तरं सप्रमोदो देवो नगरसमीपे वरदानदीतीरे आवासस्थितिं कर्तुमनाः सेनापतिमादिदेश अविरोधिनीं यथायोग्याम् ॥८३॥ **स इति**—स सेनानीर्यावत्प्रभोराज्ञामगृहीत् तावत् पूर्वप्रकारेणैव धनदेन नगरं कृतं यस्य सुरशकटकावासश्रीविजयिनः समीपे तदेव कुण्डिनपुरं शाखानगरसदृशं शुशुभे ॥८४॥ **द्वारीति**—प्रतापराजाज्ञया पुरजान्प्रति दण्डपाशिको भाषते—हे पौराः ! सर्वत्र द्वारचत्वरादौ मण्डपगगनोड्डिका-वन्दनमालामुक्तामयस्वस्तिकप्रभृतीनि प्रवेशमङ्गलकरणीयानि यूयं कुरुत। असौ प्रभुस्त्रिदशेन्द्रवन्दितो भवत्पुण्यैः

तथा उचित वचन कहे ॥८०॥ सर्वस्व समर्पण दूर रहे आपके समागमसे ही हम कृतार्थ हो गये। न आपके विभवमें मेरी परत्वबुद्धि है और न आपके शरीरमें ही मेरा अनात्मभाव है ॥८१॥ उचित सत्कारसे प्रसन्न धर्मनाथने, समीपमें आये हुए विदर्भराजका पूर्वोक्त वार्तालाप से बहुत सम्मान किया, पान देकर आनन्दित किया और तदुपरान्त उसे अपने निवास-स्थान के लिए विदा किया ॥८२॥ तदनन्तर आनन्दसे जिनका मन उच्छ्वसित हो रहा है ऐसे देवाधिदेव धर्मनाथने नगरके समीप वरदा नदीके तटकी योग्य तथा उत्तमभूमि पर सेनाकी अविरोध स्थिति करनेके लिए सेनापतिको आज्ञा दी ॥८३॥ इधर सेनापतिने जब तक प्रभुकी आज्ञा प्राप्त की उधर तब तक कुबेरने पहलेकी तरह शीघ्र ही वह नगर बना दिया जो कि देवोंके शिविरकी शोभाको जीत रहा था तथा जिसकी गलियोंके निकट कुण्डिनपुर शाखानगर जैसा हो गया था ॥८४॥ हे नगरवासियो ! चूँकि आप लोगोंके पुण्यसे इन्द्रके शिखामणि, जगत्के स्वामी, रत्नपुरके राजा महासेनके पुत्र श्रीधर्मनाथ स्वामी आपके यहाँ पधारे हैं अतः आप लोग द्वार-द्वारमें, पुर-पुरमें और गली-गलीमें पूर्ण-मनोरथ होकर तोरणोंसे

१. स्वावासं म० घ०। २. शिखरिणीवृत्तं 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति लक्षणात्। ३. शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात्।

यास्तूर्यारवहारिगीतमुखराः पात्राणि दध्यक्षत-
स्रग्दूर्वादलभाञ्जि बिभ्रति करे सोत्तंसवेषाः स्त्रियः ।
श्रीशृङ्गारवतीचिरार्जिततपःसौभाग्यशोभा इव
श्रेयःप्राप्यसमागमं वरमिमं धन्याः प्रतीच्छन्तु ताः ॥८६॥

अद्योत्क्षिप्य करं ब्रवीम्यहमितः शृण्वन्तु रे पार्थिवाः
का शृङ्गारवती कथापि भवतां प्राप्ते जिने संप्रति ।
वार्ता तावदमी ग्रहप्रभृतयः कुर्वन्तु भाप्राप्तये
देवो यावदुदेति नाखिलजगच्चूडामणिर्भास्करः ॥८७॥

इत्थं विदर्भवसुधाधिपराजधान्यां द्राग्दण्डपाशिकवचः शकुनं निशम्य ।
तिष्ठन् स तत्र नगरे धनदोपनीते सिद्धिं विभुर्दृढयति स्म हृदि स्वकार्ये ॥८८॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये प्रभात-प्रयाणकवर्णनो नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

समागत इति ॥८५॥ या इति—या अविधवाः सुभगास्तूर्यध्वनिमनोहरगीतमुखरा दधिचन्दनादिचूर्णानि मङ्गलपात्राणि हस्तयोर्धारयन्ति ताः धृतोत्तमशृङ्गारा इमं पुण्यप्राप्यं परिणेतारं प्रतीच्छन्तु दिष्ट्या वर्द्धयन्तु । शृङ्गारवत्या यच्चिरार्जितं तपस्तस्मात् यच्च समुद्भूतं सौभाग्यं तस्य शोभा इव महिमश्रिय इव । न महातपसा विना ईदृशं पतिं पतिंवरा लभत इति भावः ॥८६॥ अद्येति—अद्य हस्तमुत्क्षिप्य कथयामि हे नृपाः ! सर्वे यूयमाकर्णयत—अस्मिन् स्वयंवरे शृङ्गारवतीकथापि भवतां नास्ति । जिने प्राप्ते का पुनः शृङ्गारवतीनामधेया कन्या । तावद्ग्रहाणां दीधितिसंपत्तिर्यावत्सहस्रकर उदेति ॥८७॥ इत्थमिति—इत्थं नगर्यां दण्डपाशिकवचनं शकुनरूपं श्रुत्वा निजनगरे स्थितः कन्यासिद्धिं प्रति मनसि प्रभुर्निश्चयं चकारेति ॥८८॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां षोडशः सर्गः ॥१६॥

समुल्लसित नयी-नयी रंगावली बनाओ ॥८५॥ जो तुरहीके शब्दके समान मनोहर गीतोंसे मुखर हैं, उत्तम वेषभूषासे युक्त हैं, श्रीशृङ्गारवतीके चिरार्जित तपश्चरणके फलस्वरूप सौभाग्य की शोभाके समान जान पड़ती हैं और हाथोंमें दही, अक्षत, माला, तथा दूर्वादलसे युक्त पात्र धारण कर रही हैं वे धन्य स्त्रियाँ जिसका समागम बड़े पुण्यसे प्राप्त हो सकता है ऐसे इस वरकी अगवानी करें ॥८६॥ हे राजाओ ! अब मैं हाथ उठा कर कहता हूँ सुनिए, इस समय श्रीजिनेन्द्रदेवके पधारने पर आप लोगोंको शृङ्गारवती की कथा क्या करना है ? आप लोग उसकी आशा छोड़िए क्योंकि ये ग्रह आदि ज्योतिष्क तभी तक दीप्तिको प्राप्त करनेके लिए वार्ता करते हैं जब तक कि समस्त संसारका चूड़ामणि सूर्यदेव उदित नहीं होता ॥८७॥ इस प्रकार कुबेर निर्मित नगरमें रहनेवाले भगवान् धर्मनाथने विदर्भराजकी राजधानीमें शीघ्र ही दण्डधारी प्रतिहारीके शकुन रूप वचन सुनकर हृदयमें अपने कार्यकी सिद्धिको दृढ़ किया ॥८८॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें प्रभातकाल और प्रयाणका वर्णन करने वाला सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

सप्तदशः सर्गः

अथायमन्येद्युरुदारवेषः प्रतापराजाप्तजनोपहूतः ।
देशान्तरायातनरेन्द्रपूर्णां स्वयंवरारम्भभुवं प्रपेदे ॥१॥

मुक्तामयी कुङ्कुमपङ्किलायां रङ्गावलिर्यत्र पतिंवरायाः ।
सौभाग्यभाग्योदयभूरुहाणामुप्तेव रेजे नवबीजराजिः ॥२॥

यशःसुधाकूर्चिकमेव तत्र शुभ्रं नभोवेश्म स कर्तुमुच्चैः ।
मञ्चोच्चयान् कुण्डिनमण्डनेन प्रपञ्चितान्भूमिभुजा ददर्श ॥३॥

शृङ्गाररसारङ्गविहारलीलाशैलेषु तेषु स्थितभूपतीनाम् ।
वैमानिकानां च मुदागतानां देवोऽन्तरं किंचन नोपलेभे ॥४॥

निःसीमरूपातिशयो ददर्श प्रदह्यमानागुरुधूपवर्त्या ।
मुखं न केषामिह पार्थिवानां लज्जामषीकूर्चिकयेव कृष्णम् ॥५॥

अथेति—अथानन्तरमपरस्मिन् दिने प्रतापराजेन स्वजनमुख्यजनमुखेन सगौरवमाकारितः कृतमहाशृङ्गारो देशान्तरागतबहुविधनरेन्द्रसंकीर्णस्वयंवरमण्डपं प्रभुः प्राप ॥१॥ मुक्तेति—मुक्तामयी स्वस्तिकभङ्गी, घुसृणलिप्तायां पृथिव्यां शुशुभे तस्याः शृङ्गारवत्याः पतिंवराया सौभाग्यपुण्योदयवृक्षाणां बीजपङ्क्तिरिव वापिता । श्रीधर्मनाथपतिलाभि च तस्याः सौभाग्यं पुण्यं च वाढं वर्द्धिष्यत इत्यर्थः ॥२॥ यश इति—स कुण्डिनपतिना नगरेन्द्रेण मञ्चसंचयानुच्चैस्तरान्निर्मापितान् ददर्श । नभोवेश्म गगनगृहं धवलीकर्तुमिव । कया । यशःसुधाकूर्चिकया कीर्तिचूर्णरसशृङ्गिकया । यथा देवगृहादिकं धवलयितुमुच्चैर्मञ्चा बध्यन्ते तथा । तेन तेन विहितदुहितृस्वयंवरेण आकल्पं प्रतापराजः प्रसिद्धो बभूव ॥३॥ शृङ्गारेति—तेषु पञ्चवर्णरत्नमण्डनसंभूतशृङ्गारमृगसंचरणक्रीडापर्वतेषु मञ्चेषु स्थितानां भूपतीनां विमानेषु स्थितानां देवानां च किंचनाप्यन्तरं तेन प्रभुणा नोपलब्धम् । मञ्चा विमानसदृशा भूपा देवसदृशा इत्यर्थः ॥४॥ निःसीमेति—निरुपमरूपप्रभावो देवो दंदह्यमानागुरुधूमवर्त्या लज्जामषीकूचिकयेव सर्वेषां तरुणपार्थिवानां कृष्णमुखं वीक्षांचक्रे । प्रभोरद्भुत-

---

अथानन्तर दूसरे दिन उत्कृष्ट वेषको धारण करने वाले एवं प्रतापराजके प्रामाणिक जनोंके द्वारा बुलाये हुए भगवान् धर्मनाथ, दूसरे देशोंसे आये हुए राजाओंसे परिपूर्ण स्वयंवर भूमिमें पधारे ॥१॥ केशरकी कीचसे युक्त उस स्वयंवर सभामें मोतियोंकी रङ्गावली ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो कन्याके सौभाग्य एवं भाग्योदय रूप वृक्षोंकी नूतन बीजोंकी पंक्ति ही बोयी गयी हो ॥२॥ वहाँ उन्होंने कुण्डिनपुरके आभरण स्वरूप प्रतापराजके द्वारा विस्तारित उन्नत मंचोंके समूहको इस प्रकार देखा मानो वे कीर्तिरूपी कलईकी कूचीसे आकाशमन्दिरको धवल करनेके लिए ही बनाये गये हों ॥३॥ देवाधिदेव भगवान् धर्मनाथने शृंगाररूपी मृगोंके विहारसे युक्त क्रीड़ा-पर्वतोंके समान उन मंचोंके समूहपर स्थित राजाओं और आनन्दसे समागत विमानचारी देवोंके बीच कुछ भी अन्तर नहीं पाया था ॥४॥ अत्यधिक रूपके अतिशयसे युक्त श्रीधर्मनाथ स्वामीने जलती हुई अगुरु धूपकी बत्तियोंसे किस राजाका मुख लज्जारूपी स्याहीकी कूचीसे ही मानो काला हुआ नहीं देखा था—

अयं स कामो नियतं भ्रमेण कमप्यधाक्षीद् गिरिशस्तदानीम् ।
इत्यद्भुतं रूपमवेक्ष्य जैनं जनाधिनाथाः प्रतिपेदिरे ते ॥६॥
[1]अथाङ्गिनां नेत्रसहस्रपात्रं निर्दिष्टमिष्टेन स मञ्चमुच्चैः ।
सोपानमार्गेण समारुरोह हैमं मरुत्वानिव वैजयन्तम् ॥७॥
सिंहासने शृङ्ग इवोदयाद्रेस्तत्र स्थितो रत्नमये कुमारः ।
स तारकाणामिव भूपतीनां प्रभां पराभूय शशीव रेजे ॥८॥
उल्लासितानन्दपयःपयोधौ पीयूषधाम्नीव विशेषरम्ये ।
कासां न नेत्राणि पुराङ्गनानां दृष्टेऽपि तत्रेन्दुमणीबभूवुः ॥९॥
इक्ष्वाकुमुख्यक्षितिपालकीर्तिं पठत्स्वथो मङ्गलपाठकेषु ।
दृप्तस्मरास्फालितकार्मुकज्यानिर्घोषवन्मूर्च्छति तूर्यनादे ॥१०॥
करेणुमारुह्य पतिंवरा सा विवेश चामीकरचारुकान्तिः ।
विस्तारिमञ्चान्तरमन्तरिक्षं कादम्बिनीलीनतडिल्लतेव ॥११॥ युग्मम् ।

प्रभावावलोकनेन सर्वे भूपाला लज्जामषीस्नपिता इवेति भावः ॥५॥ **अयमिति**—अयं साक्षान्मकरध्वजो यच्च त्रिनयनेन कामो दग्ध इति पुराणकथा सा वृथा । तेनेश्वरेण कामभ्रमेण अन्यपुरुषप्रायं किमपि दग्धमिति मनसि वितर्कयन्तो भूपा जिनरूपमीक्षांचक्रिरे ॥६॥ **अथेति**—अथ नयनसहस्रैः साभिलाषं निरीक्ष्य प्रतापराजप्रधानेन सविनयं प्रदर्शितं मञ्चं सोपानमार्गेण सुवर्णमयमारूढवान् यथा सहस्राक्षः शक्रो वैजयन्तनामधेयं विमानमारोहति ॥७॥ **सिंहासन इति**—स प्रभुस्तत्र सुवर्णमयसिंहासनोपविष्टः सर्वेषां भूपतीनां रूपशृङ्गारप्रभावं पराभूय स्थितवान् । यथा उदयाचलशृङ्गस्थश्चन्द्रमा इतरतारकादीनां प्रभां परिभूय तिष्ठतीति ॥८॥ **उल्लासितेति**—कल्लोलितहर्षसमुद्रे तस्मिन् प्रभौ चन्द्र इव दृष्टमात्रेऽपि कासां पौराङ्गनानां चन्द्रकान्ता इव नयनानि हर्षाश्रुजलप्लुतानि न बभूवुरपि तु बभूवुरेव । यतोऽन्येभ्यस्तरुणेभ्यो विशेषरम्येऽतिसौभाग्यरूपयुक्त इत्यर्थः ॥९॥ **इक्ष्वाकु इति**—इक्ष्वाकुप्रभृतिषु क्षत्रचन्द्रेषु वैतालिकैर्वर्ण्यमानेषु तूर्यनादे च उज्जृम्भमाणे उन्मत्तकामटणत्कारितकार्मुकप्रत्यञ्चागम्भीरनादसदृशे । तथा सति किमभूदित्याह— ॥१०॥ **करेणु-इति**—तदनन्तरं हस्तिनीमारूढा सा पतिंवरा सुवर्णप्रभाङ्गयष्टिरुभयमञ्चश्रेणिमध्यमार्गं प्रविष्टा । यथा मेघशिखरस्थिता विद्युत्

भगवान्‌के अद्भुत प्रभावको देख कर समस्त राजाओंके मुख श्याम पड़ गये थे ॥५॥ उस समय जिनेन्द्र भगवान्‌का अद्भुत रूप देख कर उन राजाओंने समझा था कि सचमुचका काम तो यही है महादेवने भ्रमसे किसी दूसरेको जलाया था ॥६॥ तदनन्तर मनुष्योंके हजारों नेत्रोंके पात्र भगवान् धर्मनाथ किसी इष्ट जनके द्वारा दिखलाये हुए सुवर्णमय उन्नत सिंहासन पर श्रेणीमार्गसे उस प्रकार आरूढ हुए जिस प्रकार कि इन्द्र वैजयन्त नामक अपने भवनमें आरूढ होता है ॥७॥ रत्नमय सिंहासन पर अधिरूढ श्रीधर्मनाथ कुमार राजाओंकी प्रभाको तिरस्कृत कर इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि उदयाचल के शिखर पर स्थित चन्द्रमा ताराओंकी प्रभाको तिरस्कृत कर सुशोभित होता है ॥८॥ आनन्दरूपी क्षीरसमुद्रको उल्लासित करने वाले चन्द्रमाके समान अत्यन्त सुन्दर भगवान् धर्मनाथके दिखनेपर किन नगरनिवासिनी स्त्रियोंके नेत्र चन्द्रकान्तमणि नहीं हो गये थे—किनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसू नहीं निकलने लगे थे ॥९॥ तदनन्तर जब मंगल पाठक लोग इक्ष्वाकुवंशीय राजाओंकी कीर्तिको पढ़ रहे थे और अहंकारी कामदेवके द्वारा आस्फालित धनुषकी डोरीके शब्दके समान तुरही वादित्रका शब्द सब ओर फैल रहा था ॥१०॥ तब सुवर्णके समान सुन्दर कान्तिवाली कन्या हस्तिनीपर आरूढ हो विस्तृत सिंहासनोंके मध्य-

१. अथोऽङ्गिनां म० घ० ।

सा वागुरा नेत्रकुरङ्गकाणामनङ्गमृत्युञ्जयमन्त्रशक्तिः ।
शृङ्गारभूवल्लभराजधानी जगन्मनःकार्मणमेकमेव ॥१२॥
लावण्यपीयूषपयोधिवेला संसारसर्वस्वमुदारकान्तिः ।
एकाप्यनेकैर्जितनाकनारी नृपैः सकामं ददृशे कुमारी ॥१३॥ युग्मम् ।
[1]एतां धनुर्यष्टिमिवैष मुष्टिग्राह्यैकमध्यां समवाप्य तन्वीम् ।
नृपानशेषानपि लाघवेन तुल्यं मनोभूरिषुभिर्जघान ॥१४॥
यद्यत्र चक्षुः पतितं तदङ्गे तत्रैव तत्कान्तिजले निमग्नम् ।
शेषाङ्गमालोकयितुं सहस्रनेत्राय भूपाः स्पृहयांबभूवुः ॥१५॥
पयोधरश्रीसमये प्रसर्पद्धारावलीशालिनि संप्रवृत्ते ।
सा राजहंसीव विशुद्धपक्षा महीभृतां मानसमाविवेश ॥१६॥
स्वभावशोणौ चरणौ दधत्या न्यस्ते पदेऽन्तःस्फटिकावदातम् ।
उपाधियोगादिव भूपतीनां मनस्तदानीमतिरक्तमासीत् ॥१७॥

गगनं प्रविशति । अत्र मञ्चमार्गान्तरिक्षयोर्हस्तिनीकादम्बिन्योः स्वर्णकान्तिकन्याविद्युतोश्चोपमानोपमेयभावः ॥११॥ सेति—सा सर्वजननयनमृगाणां बन्धनपाशिकेव अथवा त्रिनयनदग्धकामप्रत्युज्जीवनमृत्युञ्जयमन्त्रशक्तिरिव अथवा मृत्युं जयतीति मृत्युंजयः । अस्यां सत्यां कामस्य मृत्युरेव नास्तीति । पुनः किंविशिष्टा । शृङ्गारनृपराजधानी । आहोस्वित् किंबहुना त्रिभुवनजनमनोवशीकरणमेकमेवेति ॥१२॥ लावण्येति—सा लावण्यामृतसमुद्रवेला संसारसर्वस्वभूता अद्भुतप्रभावा सर्वैर्नृपैरेकापि साभिलाषं ददृशे जितदेवाङ्गनारूपातिशया ॥१३॥ एतामिति—तां ललिताङ्गीं मुष्टिमेयमध्यां धनुर्लतामिव गृहीत्वा सर्वान्नृपान् महावेगलाघवेन समं युगपत्सर्वानपि शरैर्बिभेद कामः ॥१४॥ यद्यत्रेति—तस्या अङ्गे यच्चक्षुर्यत्र लग्नं तत्तत्रैव लावण्यजले निमग्नं ततः शेषाङ्गनिरीक्षणश्रद्धालवो नृपाः सहस्रनेत्राय स्पृहयांबभूवुः । चक्षुर्द्वयेन तदङ्गं सर्वं वीक्षितुं न शक्यते सर्वत्राप्यतिशायिरामणीयकत्वात् ततो नेत्रसहस्रं वाञ्छति ॥१५॥ पयोधरेति—सा महीभृतां सर्वेषां राज्ञां चित्ते चमत्कृता । विशुद्धौ मातापित्रोः पक्षौ कुले यस्याः सा तथाविधा । पयोधरश्रीसमये कुचलक्ष्मीकाले संप्राप्ते स्फारितमुक्तावलीशोभिते । शुक्लपक्षा हिमालयशिरसि मानसं सरः प्रयाति ॥१६॥ स्वभावेति—तदा

मार्गमें उस प्रकार प्रविष्ट हुई जिस प्रकार कि मेघमालामें विलीन बिजली आकाशके बीच प्रविष्ट होती है ॥११॥ [युग्म] वह कुमारी नेत्ररूपी हरिणोंके लिए जाल थी, कामदेवकी मृत्युको जीतनेवाली मन्त्रशक्ति थी, शृंगाररूपी राजाकी राजधानी थी, संसारके समस्त जीवोंके मनका एक वशीकरण थी ॥१२॥ सौन्दर्यरूपी सुधाके समुद्रकी वेला थी, संसारका सर्वस्व थी, उत्कृष्ट कान्तिवाली थी, देवाङ्गनाओंको जीतनेवाली थी और एक होकर भी अनेक राजाओंके द्वारा काम सहित एक साथ देखी गयी थी ॥१३॥ [युग्म] । जिसका मध्यभाग एक मुष्टिके द्वारा ग्राह्य था ऐसी उस कुमारीको धनुषयष्टिके समान पाकर कामदेवने बड़ी शीघ्रताके साथ बाणोंके द्वारा समस्त राजाओंको घायल किया था ॥१४॥ उसके जिस-जिस अंगमें चक्षु पड़ते थे वहीं-वहीं कान्तिरूपी जलमें डूब जाते थे अतः अवशिष्ट अंग देखनेके लिए राजा लोग सहस्र नेत्र होनेकी इच्छा करते थे ॥१५॥ हिलते हुए हारोंके समूहसे सुशोभित [पक्षमें चलती हुई धाराओंसे सुशोभित] स्तनोंकी शोभाका समय—तारुण्यकाल [पक्षमें वर्षाऋतु] प्रवृत्त होने पर विशुद्ध पक्ष वाली [पक्षमें श्वेत पंखों वाली] वह राजहंसी—श्रेष्ठ राजकुमारी [पक्षमें हंसी] राजाओंके मनरूपी मानस सरोवर में प्रविष्ट हो गयी थी ॥१६॥ स्वभावसे रक्तवर्ण चरण धारण करने वाली राजकुमारीने ज्योंही भीतर चरण

१. एकां क० ।

अहो समुन्मीलति धातुरेषा शिल्पक्रियायाः परिणामरेखा।
जगद्द्वयं मन्मथवैजयन्त्या यया जयत्येष मनुष्यलोकः ॥१८॥

धनुर्लता भ्रूरिषवः कटाक्षाः स्तनौ च सर्वस्वनिधानकुम्भौ।
सिंहासनं श्रोणिरतुल्यमस्याः किं किं न योग्यं स्मरपार्थिवस्य ॥१९॥

मङ्क्तुं जले वाञ्छति पद्ममिन्दुर्व्योमाङ्गणं सर्पति लङ्घनार्थम्।
क्लिश्यन्ति लक्ष्म्याः सुदृशा हृतायाः [1]प्रत्यागमार्थं कति न त्रिलोक्याम् ॥२०॥

कुतः सुवृत्तं स्तनयुग्ममस्या नितम्बभारोऽपि गुरुः कथं वा।
येन द्वयेनापि महोन्नतेन समाश्रितं मध्यमकारि दीनम् ॥२१॥

यद्वर्ण्यते निर्वृतिधाम धन्यैर्ध्रुवं तदस्याः स्तनयुग्ममेव।
नो चेत्कुतस्त्यक्तकलङ्कपङ्का युक्ता गुणैरत्र वसन्ति मुक्ताः ॥२२॥

भूपतीनां चेतस्तां प्रति भृशं रक्तमासीत् अतश्च ज्ञायते सहजरक्तौ चरणौ दधानायास्तस्याः संचारयोगादिव स्फटिकावदातं सहजनिर्मलम्। यथा जपापुष्पादिसंनिधाने निर्मलस्फटिकादिकं शोणच्छायामातनुते तथा शुद्धमपि चित्तं रक्तपदन्यासयोगादिव रक्तमित्यर्थः ॥१७॥ अहो इति—अहो ब्रह्मण एषा विज्ञानपरमकाष्ठा क्रियायाः परिणामलेखा एषा विज्ञायते यया अमुया मध्यलोकः स्वर्गं पातालं च जयति मन्मथपताकया। अस्यां प्रादुर्भूतायां भुवनद्वयसकाशान्मनुष्यलोकः प्रभावीत्यर्थः ॥१८॥ धनुरिति—अस्या मृगाक्ष्या अङ्गावयवाः स्मरनृपस्य राज्योपकरणं किं किं न यान्ति अपि तु यान्त्येव। तथाहि—भ्रूलता धनुर्यष्टिः कटाक्षा बाणाः स्तनौ सर्वस्वनिधानकुम्भौ श्रोणीतटं सिंहासनमिति ॥१९॥ मङ्क्तुमिति—अमुया मृगाक्ष्या लुण्टितलक्ष्मीकाः कति कति चन्द्रादयो निजश्रीप्रतिलाभाय न प्रतियतन्त एव। तथाहि पद्मं सदा जले मिमङ्क्षति, चन्द्रो व्योमप्रान्तं प्रतिदिनं याति, निजापहृतश्रीप्रत्यागमोपायं चिन्तयन्निव ॥२०॥ कुत इति—यस्याः स्तनयुग्मं कथं सुवृत्तम्। कथं वा नितम्बभारो गुरुतमः। येन द्वयेनाप्यवलग्नं कृशतरं बभूव। अन्यत्र यो हि सुवृत्तः सुशीलो यश्च गुरुर्भवति स निजसेवकं मध्यं मध्यस्थं साधुजनं न दीनं करोति ॥२१॥ यदिति—यन्निर्वृतिधाम मोक्षस्थानं धन्यैस्तत्त्ववेदिभिः कथ्यते ध्रुवं निश्चयेन तन्मन्ये अस्याः स्तनमण्डलमेव नो चेद्दृश्यताम् त्यक्तसंसारदोषा ज्ञानादि-

रखा त्योंही राजाओंका स्फटिकके समान स्वच्छ मन उपाधिके संसर्गसे ही मानो उस समय अत्यन्त अनुरक्त [पक्षमें लालवर्ण] हो गया था ॥१७॥ यह नरलोक कामदेवकी पताका तुल्य जिस शृंगारवतीके द्वारा दोनों लोकों—ऊर्ध्व एवं अधोलोकोंको जीतता था आश्चर्य है कि वह विधाताके शिल्प निर्माणकी अन्तिम रेखा थी ॥१८॥ उसकी भौंह धनुषलता थी, कटाक्ष बाण थे, स्तन सर्वस्व खजानेके कलश थे और नितम्ब अतुल्य सिंहासन था इस प्रकार उसका कौन-कौनसा अंग कामदेवरूपी राजाके योग्य नहीं था ? ॥१९॥ कमल जलमें डूबना चाहता है और चन्द्रमा उल्लंघन करनेके लिए आकाशरूपी आँगनमें गमन करता है सो ठीक ही है क्योंकि उस सुलोचनाके द्वारा अपहृत लक्ष्मीको पुनः प्राप्त करनेके लिए तीनों लोकोंमें कितने लोग क्लेश नहीं उठाते ? ॥२०॥ इसका यह स्तनयुगल सुवृत्त सदाचारी [पक्षमें गोलाकार] और नितम्बभार गुरु—उपाध्याय [पक्षमें स्थूल] कैसे हो सकता था जिन दोनोंने कि स्वयं अत्यन्त उन्नत होकर अपने आश्रित मध्यभागको अत्यन्त दीन बना दिया था ॥२१॥ धन्य पुरुषोंके द्वारा जो मुक्तिधामका वर्णन किया जाता है निश्चयसे वह इसका स्तनयुगल ही है। यदि ऐसा न होता तो यहाँ कलंकरूपी पंकसे रहित और सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे [पक्षमें तन्तुओंसे] युक्त मुक्त सिद्ध परमेष्ठी [पक्षमें मुक्ताफल] क्यों निवास

१. प्रत्यागतार्थं छ०।

इत्यङ्गशोभातिशयेन तस्याश्चमत्कृताश्चेतसि चिन्तयन्तः ।
मनोभवास्त्रैरिव हन्यमानाः शिरांसि के के दुधुवुर्न भूपाः ॥२३॥
मन्त्रान्निपेठुस्तिलकान्यकार्षुर्ध्यानं दधुश्चिक्षिपुरिष्टचूर्णम् ।
इमां वशीकर्तुमनन्यरूपां किं किं न चक्रुर्निभृतं नरेन्द्राः ॥२४॥
शृङ्गारलीलामुकुरायमाणान्यासन्नृपाणां विविधेङ्गितानि ।
कन्यानुरागि प्रतिबिम्ब्यमानं व्यक्तं मनोऽलक्ष्यत यत्र तेषाम् ॥२५॥
कंदर्पकोदण्डलतामिवैको भ्रुवं समुत्क्षिप्य समं सुहृद्भिः ।
करप्रयोगाभिनय[1]प्रगल्भां विलासगोष्ठीं रसिकश्चकार ॥२६॥
स्कन्धे मुहुर्वक्रितकन्धरोऽन्यः कस्तूरिकायास्तिलकं ददर्श ।
अभ्युद्धरत्युद्धुरवैरिवार्धेर्वसुन्धरापङ्कमिवात्र लग्नम् ॥२७॥
लीलाचलत्कुण्डलरत्नकान्त्या कर्णान्तिकृष्टं धनुरैन्द्रमन्यः ।
अदर्शयच्चन्द्रधिया गतस्य सङ्गं मृगस्येव मुखे निषेद्धुम् ॥२८॥

गुणयुक्ताः सिद्धा अत्र असन्ति पक्षे तन्तुप्रोतानि मुक्ताफलानि ॥२२॥ इतिति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण अङ्गलक्ष्मीसौभाग्यभरप्रभावेण मनसि विस्मिता राजानः शिरांसि कम्पयांचक्रिरे । अतश्च ज्ञायते कामबाणघातैस्ताडिता इव ॥२३॥ **मन्त्रानिति**—बहिर्निगूहिताकारं यया स्यादेवं तां वशीकर्तुं नरेन्द्रा बीजाक्षरप्रभावानुच्चारयामासुः । वश्यौषधविशेषैस्तिलकानि कृतवन्तः । ध्यानं सप्रभावचित्तैकाग्र्यं नाटयामासुः । वश्यचूर्णं च संमुखं क्षिपन्ति स्मेति ॥२४॥ **शृङ्गारेति**—तदानीं सर्वेषां कामकदर्थितानां नृपाणां विविधानि चेष्टितानि बभूवुः शृङ्गारदर्पणसदृशानि शृङ्गारलीलावलोकनाय दर्पण इत्यर्थः । कथं दर्पणसादृश्यमित्याह—येन कारणेन कन्यालाभाभिलाषुकं तेषां चित्तं प्रतिबिम्ब्यमानम् । चेष्टितैस्तेषां मनस्तां प्रति कामग्रहिलं ज्ञायत इति भावः ॥२५॥ **कंदर्पेति**—कामधनुर्लतामिव सविलासं भ्रूलतामुत्क्षिप्य रहस्यमित्रैः सार्धं हस्तप्रयोगाभिनयप्रगल्भां विलासगोष्ठीं कश्चिद्रसभाववेदी चकार ॥२६॥ **स्कन्ध इति**—कश्चिद् ग्रीवां वक्रीकृत्य निजस्कन्धे कस्तूरिकातिलकमद्राक्षीत् दर्पिष्ठदुष्टसमुद्रात् भूभारमुद्धाने लग्नपङ्कलवमिव ॥२७॥ **लीलेति**—अन्यः कश्चिद्रत्नकुण्डलतेजोभिर्निर्मितं शक्रचापं विस्फारयामास कर्णसमीपस्थितम् । किमर्थमित्याह—मृगाङ्कबुद्ध्या सममिधावमानस्य कुरङ्गस्य निजमुखे स्थानं निषेद्धुम् । मुखं चन्द्राधिकं निष्कलङ्कत्वान् मृगे च संगते मृगाङ्कतुल्यं स्यादिति मृगं प्रतिषेधयति ॥२८॥

करते ? ॥२२॥ इस प्रकार उसके शरीरकी शोभाके अतिशयसे चमत्कृत हो चित्तमें कुछ-कुछ चिन्तन करनेवाले कौन-कौन राजा मानो कामदेवके शस्त्रोंसे आहत होकर ही अपने शिर नहीं हिला रहे थे ॥२३॥ राजा लोग चुपचाप मन्त्र पढ़ रहे थे, तिलक कर रहे थे, ध्यान रख रख रहे थे और इष्टचूर्ण फेंक रहे थे इस प्रकार अनन्य सुन्दरीको वश करनेके लिए क्या-क्या नहीं कर रहे थे ॥२४॥ राजाओंकी विविध चेष्टाएँ मानो शृगार लीलाके दर्पण थीं इसीलिए तो उनमें कन्याके अनुरागसे युक्त राजाओंका मन प्रतिबिम्बित होता हुआ स्पष्ट दिखाई देता था ॥२५॥ कोई एक रसीला राजकुमार कामदेवकी धनुषलताके समान भौंहको ऊपर उठाकर मित्रोंके साथ कर-प्रयोगके अभिनयसे पूर्ण विलास-गोष्ठी कर रहा था ॥२६॥ कोई दूसरा राजकुमार बार-बार गर्दन टेढ़ी कर कन्धेपर लगा हुआ कस्तूरीका तिलक देख रहा था। उसका वह तिलक ऐसा जान पड़ता था मानो उत्कट शत्रुरूपी समुद्रसे पृथिवीका उद्धार करते समय लगा हुआ पंक ही हो ॥२७॥ कोई एक राजकुमार मुखमें चन्द्रमाकी बुद्धिसे आये हुए मृगका सम्बन्ध रोकनेके लिए ही मानो लीलापूर्वक हिलते हुए कुण्डलके रत्नोंकी कान्तिके द्वारा कर्णपर्यन्त खींचा हुआ इन्द्रधनुष दिखला रहा था ॥२८॥

१. प्रवालां म० घ० ।

व्यराजतान्यो निजनासिकाग्रे निधाय जिघ्रन्करकेलिपद्मम् ।
सदस्यलक्ष्यं कमलाश्रितेव श्रियानुरागात्परिचुम्ब्यमानः ॥२९॥

कश्चित्कराभ्यां नखरागरक्तं सलीलमावर्तयति स्म हारम् ।
स्मरास्त्रभिन्ने हृदयेऽस्रधाराभ्रमंजनानां जनयन्तमुच्चैः ॥३०॥

ताम्बूलरागोल्वणमोष्ठबिम्बं प्रमार्जयञ्शोणकराङ्गुलीभिः ।
पिबन्निवालक्ष्यत दन्तकान्तिच्छलेन शृङ्गारसुधामिवान्यः ॥३१॥

अथ प्रतीहारपदे प्रयुक्ता श्रुताखिलक्ष्मापतिवृत्तवंशा ।
प्रगल्भवागित्यनुमालवेन्द्रं नीत्वा सुभद्राभिदधे कुमारीम् ॥३२॥

अवन्तिनाथोऽयमनिन्द्यमूर्तिरमध्यमो मध्यमभूमिपालः ।
ग्रहा ध्रुवस्येव समग्रशक्तेर्यस्यानुवृत्तिं विदधुर्नरेन्द्राः ॥३३॥

त्रुटयत्सु वेलाद्रितटेषु नश्यत्युदग्रदिक्कुञ्जरचक्रवाले ।
यस्य प्रयाणे पटहप्रणादैः स्पष्टाट्टहासा इव रेजुराशाः ॥३४॥

व्यराजतेति—अन्यः कश्चित् नासिकाग्रे क्रीडापद्मं कृत्वा सभायामलक्ष्यं यथा स्यादेवं कमलावासया लक्ष्म्या दृढानुरागवशात्परिचुम्ब्यमान इव । लक्ष्मीः सभायामपि क्षणमात्रं मोक्तुं न प्रगल्भते ततः प्रच्छन्नं चुम्बति ॥२९॥ कश्चिदिति—कश्चित्सविनोदं हारं लालयांचकार । किंविशिष्टम् । शोणकरजकिरणरागरक्तम् । अतश्च कन्दर्पबाणविदारित इव हृदये रुधिरधारासादृश्यं समुत्पादयन्तम् ॥३०॥ ताम्बूलेति—कश्चित्ताम्बूलरागरक्तं बिम्बाधरं शोणकराङ्गुलीभिः प्रमार्जयन् दृष्टस्तरलदन्तकान्तिव्याजेन पीयूषधारां पिबन्निव ॥३१॥ अथेति—अथानन्तरं प्रतीहारपदाधिकृता ज्ञातसमस्तभूपतिवृत्तान्तान्वया प्रगल्भवचना मालवराजसमीपे नीत्वा सुभद्रा नामधेया तां कुमारीं बभाषे ॥३२॥ अवन्तीति—हे शृङ्गारवति ! अयं भद्रमूर्तिरवन्तिनाथो मालवपतिरमध्यमः सर्वोत्तमो भरतक्षेत्रस्य मध्यभूमिं नाभिभूतां पालयतीति 'उज्जयिनी हि भरतक्षेत्रनाभिरिति वचनात् । अस्य राजानः सर्वेऽपि समग्रसामग्रीसमेतस्य सेवां कुर्वन्ति । यथा मध्यभूतस्य ध्रुवस्य सूर्यप्रभृतयो गृहाः प्रान्ते वर्तमानाः ॥३३॥ त्रुट्यत्स्विति—यस्य यात्रायां पटहध्वानैः कुलाचलशृङ्गेषु पतत्सु दिग्गजेषु च पलाय-

कोई दूसरा राजकुमार हाथका क्रीडाकमल अपनी नाकके अग्रभागके समीपकर सूँघ रहा था अतः ऐसा जान पड़ता था मानो सभामें अलक्ष्य--गुप्तरूपसे कमलवासिनी लक्ष्मीके द्वारा अनुरागवश चुम्बित ही हो रहा हो ॥२९॥ कोई राजा अपने हाथोंके द्वारा नाखूनोंकी लालिमासे रक्तवर्ण अतएव कामदेवके शस्त्रोंसे भिन्न हृदयमें लोगोंके रुधिरधाराका भारी भ्रम उत्पन्न करनेवाले हारको लीलापूर्वक घुमा रहा था ॥३०॥ और कोई एक राजकुमार पानकी लालिमासे युक्त ओष्ठबिम्बको हाथकी लाल-लाल अंगुलियोंसे साफ कर रहा था अतः ऐसा जान पड़ता था मानो दाँतोंकी कान्तिके छलसे शृंगार-सुधाका पान ही कर रहा हो ॥३१॥ तदनन्तर जिसने समस्त राजाओंके आचार और वंश पहलेसे सुन रखे हैं तथा जिसके वचन अत्यन्त प्रगल्भ हैं—गाम्भीर्यपूर्ण हैं ऐसी सुभद्रा नामक प्रतीहारी राजकुमारीको मालव नरेशके पास ले जाकर इस प्रकार बोली—॥३२॥ यह निर्दोष शरीरका धारक अवन्ति देशका राजा है जो मध्यम न हो कर भी [पक्षमें उत्तम होकर] मध्यम लोकका पालक है अथवा भारतवर्षकी मध्यभूमिका रक्षक है और जिस प्रकार समस्त ग्रह ध्रुव नक्षत्रका अनुगमन करते हैं उसी प्रकार समस्त राजा जिस सर्वशक्तिसम्पन्नका अनुगमन करते हैं ॥३३॥ जिसके प्रस्थानके समय समुद्रके तटवर्ती पर्वतोंके किनारे टूटने लगते हैं और ऊँचे-ऊँचे दिग्गजोंके मण्डल नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं अतः नगाड़ोंके शब्दों-

निःक्षत्रियादेव रणान्निवृत्तो विनार्थिनं कामपुषश्च दानात् ।
अभूत्करः केवलमस्य कान्तापृथुस्तनाभोगविभोगयोग्यः ॥३५॥

अस्येदमावर्जितमौलिमालाभृङ्गच्छलेनांह्रि[1]युगं नरेन्द्राः ।
के के न भूपृष्ठलुठल्ललाटभ्रष्टोद्भटभ्रूकुटयः प्रणेमुः ॥३६॥

एनं पतिं प्राप्य दिवाप्यवन्तीप्रासादशृङ्गाग्रजुषस्तवायम् ।
सिप्रातटोद्यानचकोरकान्तानेत्रोत्सवायास्तु चिरं मुखेन्दुः ॥३७॥

ततः सुभद्रावचनावसाने श्रीमालवेन्द्रादवतारिताक्षीम् ।
नीत्वा नरेन्द्रान्तरमन्तरज्ञा पतिंवरां तां पुनरित्यवोचत् ॥३८॥

दुष्कर्मचिन्तामिव यो निषेद्धुं विवेश चित्ते सततं प्रजानाम् ।
विलोक्यतां दुर्नयवह्निपाथः सोऽयं पुरस्तान्मगधाधिनाथः ॥३९॥

मानेषु ततः पूर्वोक्तमद्भुतहास्यकारणं निरीक्ष्य उच्चैर्महाशब्दमट्टहासमिव दिगङ्गनाश्चक्रुः ॥३४॥ **निःक्षत्रिया-दिति**—अस्य करः कान्तापीनस्तनपरिणाहसंभोगयोग्य एव बभूव । किमिति खड्गादाने च न प्रवर्तत इत्याह—संग्रामक्रीडाया अभावात् । कुतः संग्रामाभावः ? शात्रवाभावात् । दानेऽपि न यथा याचकाभावात् । कुतो याचकाभावः । सर्वप्रीणितत्वात् । ततः केवलं स्त्रीस्तनस्तवककेलिकौतूहले रसिक एवैतत्करः ॥३५॥ **अस्येति**—अस्य पादयुगलं समस्तभूपाला नमश्चक्रुः । किंविशिष्टाः । भूपृष्ठलुठल्ललाटपतितोद्भटभ्रुकुटिभङ्गा इव । केन आकृष्टमौलिपुष्पमालाभृङ्गपङ्क्तिव्याजेन अवनमनात् पतिता पुष्पमाला तस्यां या भ्रमरश्रेणी सा भ्रुकुटिरिव तेषां पतितेत्यर्थः ॥३६॥ **एनमिति**—एनं मालवपतिं परिणेतारं लब्ध्वा उज्जयिनीप्रासादवातायनस्था सिप्रा-नदीतीरसंश्रितानां चकोरीणां नेत्रप्रीतये दिवापि मुखचन्द्रं दर्शय ॥३७॥ **तत इति**—ततः सुभद्रा प्रतीहारीवच-नावसाने मालवराजाद् व्यावर्तितदृष्टिमन्यं नरेन्द्रं नीत्वा तां पुनरप्युवाच । अन्तरज्ञा सर्वराजस्वरूपज्ञा ॥३८॥ **दुष्कर्मेति**—हे शृङ्गारवति ! त्वया स मगधदेशाधिपो निरीक्ष्यताम् यः किम् । यः प्रतापचमत्कारेण सर्वेषां लोकानां हृदयप्रविष्टो वर्तते । अतश्च ज्ञायते—चौर्यादिविकल्पं प्रतिषेद्धुमिव । अन्यायविकल्पनेऽपि प्रजानां न

से दिशाएँ ऐसी सुशोभित होने लगती हैं मानो अट्टहास ही कर रही हों ॥३४॥ क्षत्रियोंका अभाव होनेके कारण रणसे और याचक न होनेके कारण इच्छापूरक दानसे निवृत्त हुआ इसका हाथ केवल स्त्रियोंके स्थूल स्तन प्रदेशके भोगके योग्य रह गया है ॥३५॥ इसके चरणयुगलको कौन-कौन राजा प्रणाम नहीं करते ? प्रणाम करते समय राजाओंके झुके हुए मस्तकोंकी मालाओंसे जो भ्रमर निकल पड़ते हैं उनके छलसे ऐसा जान पड़ता है मानो पृथिवीके पृष्ठपर लोटते हुए ललाटोंसे विकट भौंहें ही टूट कर नीचे गिर रही हों ॥३६॥ इस पतिको पाकर जब तुम उज्जयिनीके राजमहलके शिखरके अग्रभागपर अधिरूढ़ होओगी तब रात्रिकी बात जाने दो दिनके समय भी तुम्हारा यह मुखचन्द्र सिप्रा नदीके तटवर्ती उद्यानमें विद्यमान चकोरीके नेत्रोंको आनन्द करनेवाला होगा ॥३७॥ तदनन्तर वचन समाप्त होनेपर भी मालव नरेशसे जिसने अपनी दृष्टि हटा ली है ऐसी कन्याको अन्तरंगका अभि-प्राय जाननेवाली सुभद्रा दूसरे राजाके पास ले जाकर पुनः इस प्रकार कहने लगी ॥३८॥ जो दुष्कर्मका विचार रोकनेके लिए ही मानो सदा प्रजाके मनमें प्रविष्ट रहता है और जो अन्यायरूपी अग्निको बुझानेके लिए जलके समान है ऐसे इस मगधराजको आगे देखिए

---

१. नाङ्घ्रियुगं म० घ० ।

सुखं समुत्सारितकण्टकस्य बभ्राम कीर्तिर्भुवनत्रयेऽस्य ।
विशालवक्षःस्थलवासलुब्धा दूरान्नृपश्रीः पुनराजगाम ॥४०॥
महीभुजा[1]नेन गुणैर्निबद्धं गोमण्डलं पालयता प्रयत्नात् ।
अपूरि पूरैः पयसामिवान्तर्ब्रह्माण्डभाण्डं विशदैर्यशोभिः ॥४१॥
ज्ञातप्रमाणस्य यशोऽप्रमाणं वृद्धास्य जज्ञे तरुणस्य लक्ष्मीः ।
दैवात्ततोऽतुल्यपरिग्रहस्य त्वमेव कल्याणि भवानुरूपा ॥४२॥
विदारयन्ती विषमेषुशक्त्या मर्माणि तस्मादहितस्वरूपात् ।
आकृष्यमाणापि तया प्रयत्नात्पराङ्मुखी चापलतेव साभूत् ॥४३॥
स्फुरत्प्रतापस्य ततोऽङ्गभर्तुः सूर्यांशुराशेरिव संनिकर्षम् ।
कुमुद्वतीं सा सरसीव कृच्छ्रान्निनाय चैनामिति चाभ्यधत्त ॥४४॥

सहते किमुत दुष्टाचरणं यतोऽसौ दुर्नयवह्निपाथः अन्यायाग्निजलरूपः ॥३९॥ सुखमिति—अस्य कीर्तिस्त्रिभुवनेषु सुखं परिभ्रान्ता । समुत्सारिता उद्धृता उत्पाटिताः कण्टका अन्यायकारिणो येन स तस्य पक्षे निष्कण्टकभूतले सुकुमारा स्त्री सुखेन भ्राम्यति । साम्राज्यलक्ष्मीः पुनर्दूरादागच्छति स्म । कथं कीर्तिरिव न परिभ्राम्यतीत्याह—विशालवक्षःस्थलवासलुब्धा पृथुलहृदयसुखवासाभिलाषिणी ॥४०॥ महीभुजेति—अनेन राज्ञा गुणैः सन्धिविग्रहादिभिः प्रतापादिभिर्वा नियुक्तं भूवलयं पालयता दुग्धपूरैरिव भुवनभाण्डं यशोभिः पूरितं विशदैर्निर्मलैर्यथा गोपालो गोवृन्दं गुणैर्निबद्धं संदानितं चारयन् दोहिनीं दुग्धेन बिभर्त्ति ॥४१॥ ज्ञातेति—अस्य प्रमाणशास्त्रवेदिनोऽप्रमाणा भुवनातिक्रान्ता कीर्तिरभूत् । अस्य यूनोऽपि साम्राज्यस्य लक्ष्मीर्वृद्धा महती बभूव । ततोऽस्यातुल्यपरिवारस्य विसदृशस्त्रीकस्य हे कल्याणि ! अनुरूपा योग्यसंबन्धा त्वं तरुणी तरुणश्चायं ततो योग्यः संबन्धः । अग्रे पुनः प्रमाणज्ञस्याप्रमाणा कीर्तिस्तरुणस्य वृद्धा लक्ष्मीरिति विसदृशबन्धः । त्वं च सर्वगुणैरन्वितेति भावः ॥४२॥ विदारयन्तीति—सा तस्मान्मगधनाथात् पराङ्मुखी बभूव । कामभावोत्पादनेन मर्माणि कृन्तती । तस्मादहितस्वरूपादरुचितमूर्तेः । तया सुभद्रया वरणाय प्रेर्यमाणापि । यथा धनुर्यष्टिराकृष्यमाणा योधेन शत्रोः पराङ्मुखीभवति । विषमनाराचशक्त्या मर्माणि भिन्दाना ॥४३॥ स्फुरदिति—ततोऽनन्तरमङ्ग-

॥३९॥ समस्त क्षुद्र शत्रुरूपी कण्टकोंको दूर करनेवाले इस राजाकी कीर्ति तीनों लोकोंमें सुखसे भ्रमण करती है परन्तु विशाल वक्षःस्थलपर निवास करनेकी लोभी राजलक्ष्मी दूर-दूरसे आती रहती है ॥४०॥ सन्धि, विग्रह आदि गुणोंसे वशीभूत गोमण्डल—पृथिवीमण्डल [पक्षमें रस्सियोंसे निबद्ध गोसमूह] का प्रयत्नपूर्वक पालन करनेवाले इस राजाने दूधके प्रवाहके समान उज्ज्वल यशके द्वारा समस्त ब्रह्माण्डरूपी पात्रको भर दिया है ॥४१॥ चूँकि यह राजा स्वयं ज्ञातप्रमाण है—सुविदितप्रमाण—परिमाणसे युक्त है [पक्षमें प्रमाणशास्त्र—न्यायशास्त्रको जाननेवाला है] परन्तु इसका यश अप्रमाण है—अपरिमित है [पक्षमें प्रमाण—न्यायशास्त्रके ज्ञानसे रहित है]। यह स्वयं तरुण है परन्तु इसकी लक्ष्मी [पक्षमें स्त्री] वृद्धा है—बूढ़ी है [पक्षमें विस्तृत है] अतः हे कल्याणि ! दैववश अतुल्य परिग्रह—अनुपम वैभव [पक्षमें विसदृश स्त्री] को धारण करनेवाले इस राजाकी तुम्हीं अनुकूल भार्या होओ ॥४२॥ जिस प्रकार विषम बाणोंकी शक्तिसे मर्मको विदारण करनेवाली धनुर्लता आकृष्यमाण होनेपर भी शत्रुसे पराङ्मुख होती है उसी प्रकार विषमबाण—कामकी शक्तिसे मर्मको विदारण करनेवाली वह राजकुमारी प्रतिहारीके द्वारा प्रयत्नपूर्वक आकृष्यमाण होनेपर भी—प्रेरित होनेपर भी अनिष्ट रूपको धारण करनेवाले उस राजासे पराङ्मुख हो गयी ॥४३॥ जिस प्रकार सरसी देदीप्यमान प्रताप—प्रकृष्ट तापकी धारक सूर्यकिरणोंके समूहके

१. महीभुजा तेन म० घ० ।

अङ्गोऽप्यनङ्गो हरिणेक्षणानां राजाप्यसौ चण्डरुचिः परेषाम् ।
भोगैरहीनोऽपि हतद्विजिह्वः को वा चरित्रं महतामवैति ॥४५॥

वक्त्रेषु विद्वेषिविलासिनीनामुदश्रुधाराप्रसर[1]च्छलेन ।
भेजुः कथंचिन्न पुनः प्ररोहमुत्खातमूला इव पत्रवल्ल्यः ॥४६॥

संख्येषु साक्षीकृतमात्मसैन्यं खड्गोऽपि वश्यप्रतिभूरुपात्तः ।
कृतार्थवत्पत्रपरिग्रहेण दासीकृतानेन विपक्षलक्ष्मीः ॥४७॥

गङ्गामुपास्ते श्रयति त्रिनेत्रं स्वं निर्जरेभ्यः प्रविभज्य [2]दत्ते ।
अस्याननेन्दुद्युतिमीहमानो व्योमापि धावन्नधिरोहतीन्दुः ॥४८॥

देशाधिपतिसमीपे नीत्वा पुनः सुभद्रा तां पतिंवरां व्याजहार । यथा सरसी कुमुद्वतीं स्फुरत्प्रतापस्य सूर्यांशुसमूहस्य समीपं नीत्वा स्थापयति । कुमुदिनीसूर्ययोरुपमानोपमेयभावेन तस्या अङ्गनाथो भर्त्ता न भविष्यतीति सूचयतीति ॥४४॥ अङ्ग इति—विरोधाभासमुद्भावयन् निरूपयति । अयमङ्गनाथोऽपि कामिनीनामनङ्गः कामरूपः । राजापि चण्डप्रतापः पक्षे चन्द्रोऽप्युष्णः । परेषां रिपूणां भोगैः परिपूर्णसौख्यैर्युक्तोऽपि हतदुर्जनः पक्षे सर्पशरीरैः शेषोऽपि हतसर्प इति विरोधः । अथवा महतामीदृशस्वरूपाणां चरित्रं कोऽवैति को जानाति न कोऽपीत्यर्थः ॥४५॥ वक्त्रेष्विति—अस्य शत्रुस्त्रीणां गण्डस्थलेषु पत्रवल्ल्यः प्ररोहं न भजन्ति । किं कारणमित्याह—उत्पाटितमूला इव । उद्गतवाष्पधाराव्याजेन । अश्रुधाराकदम्बकम् [उत्पाटित] पत्रवल्लीमूलकदम्बकमित्यर्थः । अन्यापि वल्ली समुत्खातमूला सती प्रयत्नशतेनापि न प्ररोहति ॥४६॥ संख्येष्विति—अनेन संग्रामाङ्गणेषु लक्ष्मीर्दासीकृता । दासीकरणे यत्पत्राक्षरादिकं क्रियते तदर्थमाह—सैन्यसंभारेण गृहीता शत्रुश्रीर्भविष्यति तत्र साक्षिमात्रीकृतात्मचतुरङ्गबलं पक्षे साक्षित्वप्रदायकं चतुरङ्गबलम् । निजहस्तवर्ती खड्ग एव प्रतिभूः पत्रार्थविधेः कारापकः । कृतार्थवत्पत्रपरिग्रहेण कृतार्थवत्कार्यकारी हस्तिरथाश्वादिपरिग्रहो येन पक्षे सर्वपत्राक्षरस्वीकारेण ॥४७॥ गङ्गामिति—अस्य मुखलक्ष्मीं लिप्समानश्चन्द्रो गङ्गालक्षणमहातीर्थमुपसेवते । शङ्करमाराधयति । स्वं निजशरीरं देवेभ्यो विभागीकृत्य ददाति । किं बहुना सकले गगनेऽपि भ्राम्यति तथा-

---

पास कुमुद्वती—कुमुदिनीको ले जाती है उसी प्रकार वह प्रतीहारी कुमुद्वती—अनिष्ट संसर्गकी सम्भावनासे कुत्सित हर्षको धारण करनेवाली उस इन्दुमतीको देदीप्यमान प्रताप—तेजके धारक अंगराजके समीप ले जाकर निम्न वचन बोली ॥४४॥ यह राजा यद्यपि अंग है—अंग देशका राजा है फिर भी मृगनयनी स्त्रियोंके लिए अंग है—अंगदेशका राजा नहीं है [पक्षमें काम है] स्वयं राजा—चन्द्र है फिर भी शत्रुओंके लिए चण्डरुचि—सूर्य है [पक्षमें राजा होकर प्रतापी है] और स्वयं भोगोंसे—सर्प शरीरोंसे अहीन—शेषनाग है [पक्षमें भोगोपभोगकी सामग्रीसे सहित है] फिर भी द्विजिह्वों—सर्पोंको नष्ट करनेवाला है [पक्षमें दुर्जनोंको नष्ट करनेवाला है] अथवा ठीक ही तो है महा पुरुषोंके चरित्रको कौन जानता है ? ॥४५॥ इसकी शत्रुस्त्रियोंके मुखोंपर निर्गत अश्रुधाराओंके छलसे मूल उखड़ जानेके कारण ही मानो पत्रलताएँ पुनः किसी प्रकार अंकुरको प्राप्त नहीं होतीं ॥४६॥ इसने युद्धके समय सेनाको साक्षी किया, तलवारको जामिनके रूपमें स्वीकार किया और अन्तमें कृतकृत्यकी तरह पत्र—सवारी [पक्षमें दस्तावेज] लेकर शत्रुओंकी लक्ष्मीको अपना दास बना लिया है ॥४७॥ इसके मुखचन्द्रकी शोभाको चाहता हुआ चन्द्रमा कभी तो गंगाकी उपासना करता है कभी महादेवजीका आश्रय लेता है कभी अपने-आपको [पक्षमें धनको] विभक्त कर देवोंके

---

१. प्रसरज्जलेन ग० । २. धत्ते म० घ० ।

यद्यस्ति तारुण्यविलासलीलासर्वस्वनिर्वेशमनोरथस्ते ।
तत्कामिनीमानसराजहंसं मूर्त्यन्तरानङ्गममुं वृणीष्व ॥४९॥

ग्रीष्मार्कतेजोभिरिव स्मरास्त्रैस्तप्ताप्युदञ्चत्कमलेऽपि तत्र ।
सा पल्वले निर्मलमानसोत्का[1] न राजहंसीव रतिं बबन्ध ॥५०॥

संपूर्णचन्द्राननमुन्नतांसं विशालवक्षःस्थलमम्बुजाक्षम् ।
नीत्वा कलिङ्गाधिपतिं कुमारीं दौवारिकी सा पुनरित्युवाच ॥५१॥

खिन्नं मुहुश्चारुचकोरनेत्रे प्रौढप्रतापार्कविलोकनेन ।
नेत्रामृतस्यन्दिनि राज्ञि साक्षान्निक्षिप्यतां निर्वृतयेऽत्र चक्षुः ॥५२॥

अनारतं मन्दरमेदुराङ्गैः प्रमथ्यमानोऽस्य गजैः पयोधिः ।
शुशोच दुःखान्मरणाभ्युपायं ग्रस्तं त्रिनेत्रेण स कालकूटम् ॥५३॥

प्येतन्मुखलक्ष्मीं न लभते ॥४८॥ यदीति—यदि यौवनसर्वस्वलक्ष्मीसंभोगाभिलाषो भवत्या वर्तते तदा कामिनीमानसराजहंसं द्वितीयं काममेनं वृणीष्व ॥४९॥ ग्रीष्मेति—सा कामशरतप्ता समुल्लसल्लक्ष्मीकेऽपि तस्मिन्नङ्गदेशाधिपे नाभिलाषं चकार । निर्मलमानसे धर्मनाथपुरुषलक्षणे उत्कण्ठिता निर्मलमानसोत्का । यथाग्रीष्मकिरणतप्ता राजहंसी मानससरोवरोत्कण्ठिता गड्डुलकेदारे रतिं न बध्नाति ॥५०॥ संपूर्णेति—अथानन्तरं कलिङ्गदेशाधिपतिं तां पतिंवरां नीत्वा सा प्रतीहारी बभाषे—राकामृगाङ्कसदृशवदनं वृषस्कन्धं कपाटविस्तीर्णवक्षःस्थलं कमलदलदीर्घाक्षमिति ॥५१॥ खिन्नमिति—हे चारुचकोरनेत्रे मदिराक्षि प्रचण्डप्रतापानां भूपतीनां विलोकनेन क्लान्तं चक्षुरस्मिन् कलिङ्गाधिपे नयनामृतवर्षिणि सुखाय त्वया प्रेर्यताम् । यथा कस्याश्चिच्चकोर्याश्चक्षुश्चण्डकिरणावलोकनतप्तं चन्द्रे सुखं लभते ॥५२॥ अनारतमिति—अनवरतं यात्रासु मन्दरबहुलदेहैर्गजेन्द्रैर्जलकेलिं कुर्वद्भिर्मथितः समुद्रो महादुःखान्नीलकण्ठग्रस्तं कालकूटं विषं मरणकारणं शम्भुगृहीतं सशोकं

लिए देता है और कभी दौड़ता हुआ आकाशमें अधिरूढ होता है ॥४८॥ यदि 'यौवन-सम्बन्धी विलास लीलाके सर्वस्वका उपभोग करूँ' ऐसा तेरा मनोरथ है तो स्त्रियोंके मनरूपी मानसरोवरके राजहंस एवं अन्य शरीरको धारण करनेवाले कामदेवस्वरूप इस राजाको स्वीकृत कर ॥४९॥ यद्यपि वह ग्रीष्मकालीन सूर्यके समान तेजस्वी कामके अस्त्रोंसे सन्तप्त थी फिर भी जिस प्रकार निर्मल मानसरोवरमें उत्कण्ठित राजहंसी पल्वल—स्वल्प जलाशयमें प्रेम नहीं करती भले ही उसमें कमल क्यों न खिले हों उसी प्रकार निर्मलमानसोत्का—निर्मल चित्तवाले भगवान् धर्मनाथमें उत्कण्ठित राजकुमारीने उस राजामें प्रेम नहीं किया भले ही वह वर्धमान कमला—लक्ष्मीसे सहित था ॥५०॥ तदनन्तर द्वारपालिनी सुभद्रा, कुमारीको जिसका मुख सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान है, कन्धे ऊँचे उठे हुए हैं, वक्षःस्थल विशाल है और नेत्र कमलके समान हैं ऐसे कलिंग देशके राजाके पास ले जा कर इस प्रकार बोली ॥५१॥ हे चकोरके समान सुन्दर नेत्रोंवाली राजकुमारी ! अत्यन्त प्रतापी अन्य राजारूपी सूर्यके देखनेसे बार-बार खेदको प्राप्त हुए चक्षु सुख-सन्तोष प्राप्त करनेके लिए नेत्रोंके लिए अमृत झरानेवाले इस राजापर [पक्षमें चन्द्रमापर] साक्षात् डाल ॥५२॥ मन्दर गिरिके समान स्थूल शरीरवाले इस राजाके हाथियोंके द्वारा निरन्तर मथे गये समुद्रने, महादेवजीके द्वारा निपीत मरणके साधनभूत कालकूट विषके प्रति बड़े दुःखके साथ शोक प्रकट किया है । इसके उत्तुंग हाथियों की चेष्टा देख यह यही सोचा करता है कि यदि विष बाहर होता और महादेवजीके द्वारा

१. मानसस्था म० घ० ।

चकर्ष निर्मुक्तशिलीमुखां यत्करेण कोदण्डलतां रणेषु ।
जगत्त्रयालंकरणैकयोग्यमसौ यशःपुष्पमवाप तेन ॥५४॥
चेतश्चमत्कारिणमत्युदारं नवं रसैरर्थमिवातिरम्यम् ।
त्वमेनमासाद्य पतिं प्रसन्ना श्लाघ्यातिमात्रं भव भारती वा ॥५५॥
भूतिप्रयोगैरतिनिर्मलाङ्गात्तस्मात्सुवृत्तादपि राजपुत्री ।
आदर्शबिम्बादिव चन्द्रबुद्ध्या न्यस्तं चकोरीव चकर्ष चक्षुः ॥५६॥
नरप्रकर्षोपनिषत्परीक्षा विचक्षणा दक्षिणभूमिभर्त्तुः ।
नीत्वा पुरस्तादवरोधरक्षा विदर्भभूपालसुतां बभासे ॥५७॥
लीलाचलत्कुण्डलमण्डितास्यः पाण्ड्योऽयमुद्दामरहेमकान्तिः ।
आभाति शृङ्गोभयपक्षसर्पत्सूर्येन्दुरुच्चैरिव काञ्चनाद्रिः ॥५८॥
निर्मूलमुन्मूल्य महीधराणां वंशानशेषानपि विक्रमेण ।
तापापनोदार्थमसौ धरित्र्यामेकातपत्रं विदधे स्वराज्यम् ॥५९॥

सस्मार । नित्यमथनपीडां सोढुं न शक्नोमि ततो यदि कालकूटं भवति तदा भक्षयित्वा म्रिये ॥५३॥ चकर्षेति—यन्निर्मुक्तशिलीमुखां क्षिप्तबाणां धनुर्यष्टिं संग्रामेष्वाकृष्टवान् । तेन भुवनमण्डनभूतं कीर्तिकुसुममसौ लेभे । यथा कश्चिन्मालिको हस्तेन लतामाकर्षन्नन्यदुर्लभं पुष्पं लभते ॥५४॥ चेत इति—हे शृङ्गारवति ! पतिमेनं प्राप्य प्रसन्ना सहर्षा श्लाघ्यतमा भव । किंविशिष्टम् । विविक्तकलाकौशलेन चित्तचमत्कारकमुदारं निर्लोभं तरुणं रसैः शृङ्गारभावैरतिरम्यम् । यथा कस्यचित्सुकवेर्भारती चित्तचमत्कारकमुदारं नवं रससहितमर्थं प्राप्य श्लाघ्यतमा भवति ॥५५॥ भूतीति—भूतिप्रयोगैः साम्राज्योपचारैर्निर्मलाङ्गादपि तस्मात्सुशीतलादपि सा पतिंवरा चक्षुर्व्यावर्तत । यथा चकोरी भस्मनिर्मलितवर्तुलदर्पणाच्चक्षुश्चन्द्रबिम्बभ्रान्तिपतितमाकर्षति ॥५६॥ नरेति—सावरोधरक्षा सुभद्रा दाक्षिणात्यभूपतेरग्रतो नीत्वा तां पतिंवरामुवाच । किंविशिष्टा । पुरुषप्रधानशास्त्रपरीक्षणविचक्षणा ॥५७॥ लीलेति—अयं पाण्ड्यदेशाधिपो रत्नकुण्डलमण्डितमुखः सुवर्णवर्णः शोभते कटकोभयपार्श्वसञ्चरच्चन्द्रादित्यो मेरुरिव ॥५८॥ निर्मूलमिति—असौ सकललोकस्य सुखस्थितये राज्यमेकातपत्रं चकार

ग्रस्त न होता तो उसे खाकर मैं निश्चिन्त हो जाता—आत्मघात कर लेता ॥५३॥ चूँकि उसने युद्धमें हाथसे; बाण छोड़नेवाली [पक्षमें भ्रमर छोड़नेवाली] धनुषरूपी लताको खींचा था अतः उससे तीनों जगत्को अलंकृत करनेके योग्य यशरूपी पुष्प प्राप्त किया था ॥५४॥ जिस प्रकार चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाले, अत्यन्त उदार, नवीन और रसोंसे अत्यन्त सुन्दर अर्थको पाकर सरस्वती अतिशय प्रसन्न—प्रसादगुणोपेत और प्रशंसनीय हो जाती है उसी प्रकार चित्तमें आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अत्यन्त उदार नवीन एवं रसोंसे अत्यन्त सुन्दर इस पतिको पाकर तुम प्रसन्न तथा अत्यधिक प्रशंसनीय होओ ॥५५॥ यद्यपि वह राजकुमार वैभवके प्रयोगसे अत्यन्त निर्मल शरीरवाला एवं स्वयं सदाचारी था फिर भी राजकुमारीने उससे अपने निक्षिप्त चक्षु उस प्रकार खींच लिये जिस प्रकार कि चकोरी चन्द्र समझ कर निक्षिप्त चक्षुको दर्पणके बिम्बसे खींच लेती है भले ही वह दर्पणका बिम्ब भस्मके प्रयोगसे अत्यन्त निर्मल और गोल क्यों न हो ॥५६॥ मनुष्योंकी प्रकर्षतारूपी उपनिषद्की परीक्षा करनेमें चतुर प्रतिहारी अब विदर्भराजकी पुत्रीको दक्षिण देशके राजाके आगे ले जाकर इस प्रकार कहने लगी ॥५७॥ जिसका मुख लीलापूर्वक चलते हुए कुण्डलोंसे मण्डित है एवं शरीरकी कान्ति उत्तम सुवर्णके समान है ऐसा यह पाण्डय देशका राजा उस उत्तुंग सुवर्ण गिरिके समान जान पड़ता है जिसके कि शिखरके दोनों ओर सूर्य चन्द्रमा घूम रहे हैं ॥५८॥ यह सन्ताप दूर करनेके लिए पराक्रमसे राजाओंके समस्त वंशोंको निर्मूल उखाड़कर [पक्षमें

अनेन कोदण्डसखेन तीक्ष्णैर्बाणैरसंख्यैः सपदि क्षताङ्गः ।
अभाजनं वीररसस्य चक्रे को वा न संख्येषु विपक्षवीरः ॥६०॥

गृहीतपाणिस्त्वमनेन यूना तन्वि स्वनिःश्वाससहोदराणाम् ।
श्रीखण्डसारां मलयानिलानां सखीमिवालोकय जन्मभूमिम् ॥६१॥

कङ्कोलकैलालवलीलवङ्गरम्येषु वेलाद्रिवनेषु सिन्धोः ।
कुरु स्पृहां नागरखण्डवल्ली लीलावलम्बिक्रमुकेषु रन्तुम् ॥६२॥

दिनाधिनाथस्य कुमुद्वतीव पीयूषभानोर्नलिनीव रम्या ।
सा तस्य कान्तिं प्रविलोक्य दैवान्नानन्दसंदोहवती बभूव ॥६३॥

महीभुजो ये जिनधर्मबाह्याः सम्यक्त्ववृत्त्येव तया विमुक्ताः ।
सद्योऽपि पातालमिव प्रवेष्टुं बभूवुरत्यन्तमधोमुखास्ते ॥६४॥

कर्णाटलाटद्रविडान्ध्रमुख्यैर्महीधरैः कैरपि नोपरुद्धा ।
रसावहा प्रौढनदीव सम्यग्रत्नाकरं धर्ममथ प्रपेदे ॥६५॥

समूलं समस्तभूपतीनां कुलान्युन्मूल्य । यथा कश्चिद्देवदत्तो निखिलपर्वतानां कीचकान् गृहीत्वा सकलपृथिव्यास्तापापनोदार्थं छत्रमेकं विदधाति ॥५९॥ **अनेनेति**—अनेन संग्रामेषु चापसहायेन तीक्ष्णैर्बाणैर्भिन्नहृदयो रिपुवीरो वीररसास्थानं को न चक्रे अपि तु चक्र एव । यथा जलादेश्छिद्रितं घटादिकमभाजनस्थानं भवति ॥६०॥ **गृहीतेति**—त्वमनेन तरुणेन परिणीता सती निजनिःश्वाससदृशानां मलयानिलानां जन्मभूमिं मलयस्थलीं पश्य श्रीखण्डसारां हरिचन्दनद्रुमव्याप्ताम् ॥६१॥ **कङ्कोलेति**—कङ्कोलप्रभृतिसुगन्धद्रव्यमनोहरेषु समुद्रावेलागिरिवनेषु नागरखण्डनामधेयताम्बूलवल्लीमालितपूगीफलवृक्षेषु रन्तुं वाञ्छां कुरु ॥६२॥ **दिनेति**—सा पतिंवरा तस्य कान्तिं विलोक्य सानुरागा न बभूव । यथा कुमुदिनी भास्करस्य यथा चन्द्रस्य च पद्मिनी ॥६३॥ **महीभुज इति**—ये धर्मनाथं विना राजानस्ते सर्वेऽपि पतिंवरया तया निष्क्रान्ताः ततश्च लज्जाभरात्पाताले प्रवेष्टुमिव बभूवुरधोमुखाः । अथ च ये जिनोक्तधर्मबहिर्भूता मिथ्यादृष्टयो राजानस्ते सम्यक्त्ववृत्या रत्नत्रयानुभूत्या मुक्ताः सन्तो नियमेन पातालं नरकं प्रविशन्ति । 'नरकान्तं राज्य'मिति वचनात् ॥६४॥ **कर्णाटेति**—सा न केवलं

पर्वतोंके समस्त बाँस जड़से उखाड़कर] पृथिवीपर एकछत्र अपना राज्य कर रहा है ॥५९॥ इस धनुर्धारी राजाने युद्धके समय अपने असंख्यात तीक्ष्ण बाणोंसे शीघ्र ही क्षतशरीर कर किस शत्रुयोद्धाको वीररसका अपात्र नहीं बना दिया था ॥६०॥ हे तन्वि ! तू इस युवाके द्वारा गृहीतपाणि होकर अपने श्वासोच्छ्वासकी समानता रखनेवाली मलय समीरकी उस जन्मभूमिका अवलोकन कर जो कि चन्दनसे श्रेष्ठ है और तेरी सखीके समान है ॥६१॥ हे तन्वि ! तू कवाब चीनी, इलायची, लवली और लौंगके वृक्षोंसे रमणीय, समुद्रके तटवर्ती पर्वतोंके उन वनोंमें क्रीड़ा करनेकी इच्छा कर जिनमें कि सुपारीके वृक्ष ताम्बूलकी लताओंसे लीलापूर्वक अवलम्बित हैं—लिपटे हुए हैं ॥६२॥ सुभद्राने सब कुछ कहा किन्तु जिस प्रकार सूर्यकी कान्ति देख कुमुदिनी और चन्द्रमाकी कान्ति देख कमलिनी आनन्दके समूहसे युक्त नहीं होती उसी प्रकार वह सुन्दरी भी उस राजाकी कान्तिको देख दैववश आनन्द समूहसे युक्त नहीं हुई ॥६३॥ जो राजा उस श्रृंगारवतीके द्वारा छोड़ दिये गये थे वे सम्यग्दर्शनकी भावनासे त्यक्त जैनेतर लोगोंके समान शीघ्र ही पाताल [नरक] तलमें प्रवेश करनेके लिए ही मानो अत्यन्त नम्रमुख हो गये—लज्जावश नीचेकी ओर देखने लगे ॥६४॥ तदनन्तर

---

१. तटेषु म० घ० ।

यच्चक्षुरस्याः श्रुतिलङ्घनोत्कं यद् द्वेष्टि च भ्रूः स्मृतिजातधर्मम् ।
अद्वैतवादं सुगतस्य हन्ति पदक्रमो यच्च जडद्विजानाम् ॥६६॥
प्रजापतिश्रीपतिवाक्पतीनां ततः समुद्यद्वृषलाञ्छनानाम् ।
मुक्त्वा परेषामिह दर्शनानि सर्वाङ्गरक्तेयमभूज्जिनेन्द्रे ॥६७॥ [युग्मम्]
तथाहि दृष्ट्योभयमार्गनिर्यन्मुदश्रुधारान्वितया मृगाक्षी ।
प्रसारितोद्दामभुजाग्रयेव सोत्कण्ठमालिङ्गति नूनमेनम् ॥६८॥
विभावयन्तीत्यथ मन्मथोत्थं विकारमाकारवशेन तस्याः ।
अर्हद्गुणग्रामकथासु किंचिद्विस्तारयामास गिरं सुभद्रा ॥६९॥

पूर्वोक्तैः कर्णाटप्रभृतिभिरपि राजभिरनिवारिता रसावहा महापुरुषपरीक्षणभावज्ञा रत्नत्रयाधिष्ठानं धर्मनाथं प्राप्ता । यथा काचिज्जलपरिपूर्णा महानदी कर्णाटप्रभृतिषु देशेषु स्थितैः पर्वतैरस्खलिता सम्यग्रत्नाकरं महासमुद्रं प्रयाति ॥६५॥ **यदिति**—इयं पतिंवरा जिनेन्द्रसर्वाङ्गरक्ता बभूवेति युग्मेन संबन्धः । यत्किमित्याह—यत एतस्याश्चक्षुः श्रवणलङ्घनोत्कण्ठितं कर्णान्तं यावदित्यर्थः । पक्षे वेदनिर्लोठनपरम् । यच्च भ्रूलता स्मृतिजातस्य कामस्य धर्मं धनुर्द्वेष्टि उपहसति । पक्षे स्मृतिसमूहोक्तं धर्मं निराकरोति । यच्च पदक्रमः पदप्रचारो जडद्विजानां हंसानां ललितगमनस्याद्वैतवादमनन्यसाधारणत्वं निषेधयति । हंसानां ललितगमनगर्वं जयपताकां निर्दलयतीत्यर्थः । पक्षे बौद्धस्य क्षणिकाद्वैतं ब्रह्माद्वैतं च निहन्ति तन्मन्ये अन्यधर्मविरोधकत्वाज्जिनभक्तेयमिति ॥६६॥ प्रजापतीति—न केवलं तदुक्तो धर्मो मुक्तोऽनया तद्दर्शनान्यपि मुद्राविशेषाणि मुमुचिरे । केषामित्याह—प्रजापतिर्ब्रह्मा श्रीपतिर्विष्णुर्वाक्पतिर्बृहस्पतिर्वृषलाञ्छनः शम्भुः एतत्प्रभृतीनां पक्षे राजा कश्चित्प्रजापतिः पदातिबहुलः कश्चिन्महाकोशः, कश्चिन्महापण्डितः, कश्चित् पुण्यात्मा, एतेषां सर्वेषामवलोकनानि मुक्त्वा प्रभुसमीपं गता ॥६७॥ **तथाहीति**—तथाहीति पूर्वोक्तसमर्थने । इयं पतिंवरा दृष्टया समाश्लिष्यति । किंविशिष्टया । उभयमार्गनिर्गलद्धर्षाश्रुधारायुक्तया । अतश्च प्रसारितसरलबाहुलतयेव ॥६८॥ विभावयन्तीति—ततश्च तद्दर्शनेन तस्याः कामविकारं विलोक्य धर्मनाथगुणसमूहकथासु किंचित् सविशेषां वाणीं विस्तारयामास

जिस प्रकार उत्तम जलको धारण करनेवाली महानदी किन्हीं भी पर्वतोंसे न रुक कर अच्छी तरह रत्नाकर—समुद्रके पास पहुँचती है उसी प्रकार उत्तम स्नेहको धारण करनेवाली श्रृंगारवती कर्णाट, लाट, द्रविड़ और आन्ध्र आदि देशोंके किन्हीं भी मुख्य राजाओंसे न रुककर अच्छी तरह रत्नाकर—सम्यग्दर्शनादि रत्नोंकी खान स्वरूप श्री धर्मनाथ स्वामीके समीप पहुँची ॥६५॥ चूँकि इसके नेत्र कानोंके उल्लंघन करनेमें उत्कण्ठित थे [पक्षमें वेदोंके उल्लंघन करनेमें उद्यत थे], इसकी भौंह कामदेवके धनुषके साथ द्वेष रखती थी [पक्षमें मनुस्मृति आदिमें प्रणीत धर्मके साथ द्वेष रखती थी], और इसके चरणोंका प्रचार [पक्षमें वैदिक प्रसिद्ध पद पाठ] मूढ ब्राह्मणों और बुद्धके अद्वैतवादको नष्ट करता था [पक्षमें—हंस पक्षियोंके सुन्दर गमनकी अद्वैतताको नष्ट करता था] ॥६६॥ अतः यह धर्मविषयक कलंकको धारण करनेवाले [अथवा बैलके चिह्नसे युक्त शम्भु], प्रजापति—ब्रह्मा, लक्ष्मीपति—विष्णु और बृहस्पतिके दर्शनों—सिद्धान्तोंको छोड़ [पक्षमें साधारण राजा लक्ष्मी सम्पन्न राजा और विद्वान् राजा—इन सबके दर्शनों—अवलोकनोंको छोड़] सर्वांग रूपसे एक जिनेन्द्र भगवान्में ही अनुरक्त हुई थी ॥६७॥ (युग्म) दोनों ओरसे निकलते हुए हर्षाश्रुओंकी धारासे सहित दृष्टिके द्वारा वह मृगाक्षी ऐसी जान पड़ती थी मानो लम्बी-लम्बी भुजाओंके अग्रभाग फैलाकर बड़ी उत्कण्ठाके साथ इन धर्मनाथका आलिंगन ही कर रही हो ॥६८॥ तदनन्तर आकारवश उसके काम सम्बन्धी विकारका चिन्तन करनेवाली सुभद्राने जिनेन्द्र भगवान्के गुणसमूहकी कथामें अपनी वाणीको कुछ विस्तृत कर लिया

गुणातिरेकप्रतिपत्तिकुण्ठीकृतामरेन्द्रप्रतिभस्य भर्तुः ।
यद्वर्णनं यद्वचसाप्यमुष्य भानोः प्रदीपेन निरीक्षणं तत् ।।७०।।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवः प्रशास्ति महीं महासेन इति क्षितीशः ।
तस्यायमारोपितभूमिभारः श्रीधर्मनामा विजयी कुमारः ।।७१।।

मासान्निशान्ते दश जन्मपूर्वानस्याभवत्पञ्च च रत्नवृष्टिः ।
मया न दारिद्र्यरजो जनानां स्वप्नेऽपि दृग्गोचरतां जगाम ।।७२।।

जन्माभिषेकेऽस्य सुरोपनीतैर्दुग्धाब्धितोयैः प्रविधीयमाने ।
संप्लाव्यमानः कनकाचलोऽपि कैलासशैलोपमतां जगाम ।।७३।।

लावण्यलक्ष्मीजितमन्मथस्य किं ब्रूमहे निर्मलमस्य रूपम् ।
वीक्ष्यैव यद्विस्मयतो बभूव हरिर्द्विनेत्रोऽपि सहस्रनेत्रः[1] ।।७४।।

वक्षःस्थलात्प्राज्यगुणानुरक्ता युक्तं न लोलापि चचाल लक्ष्मीः ।
बद्धा प्रबन्धैरपि कीर्तिरस्य बभ्राम यद्भूत्रितयेऽद्भुतं तत्[2] ।।७५।।

सुभद्रा ।।६९।। **गुणेति**—गुणातिशयप्रभावमलिनीकृतसुरेन्द्रमाहात्म्यस्य-प्रभोर्मद्वचनेन यद्गुणवर्णनं तदादित्यस्य प्रदीपोज्ज्वालेन निरीक्षणसदृशं यथा प्रदीपेनादित्यरूपप्रकाशनं तथा मद्वचसा जिनगुणवर्णनमिति ।।७०।। **इक्ष्वाकुवंशेति**—इक्ष्वाकुवंशे महासेननामा भूपः पृथिवीं पालयति तस्यायं समर्पितभूमिभारः श्रीधर्मनामा विजयी कुमारः ।।७१।। **मासानिति**—अस्य षण्मासान् गर्भवासपूर्वं तथा नवमासांश्च गर्भस्थितस्य रत्नवृष्टिरेवं पञ्चदशमासान् बभूव । यथा रत्नवृष्टया जनैर्दौःस्थ्यं स्वप्नेऽपि न दृष्टं यथा वृष्टौ संजातायां धूलिपटलं न दृश्यते तथा दारिद्र्यमपि ।।७२।। **जन्मेति**—अस्य जन्माभिषेके सुरश्रेणीसमानीतैः क्षीरसमुद्रजलैः प्रक्षाल्यमानः कनकाचलो मेरुरपि कैलासधवलो बभूव ।।७३।। **लावण्येति**—लावण्यप्रभावजितकामसौन्दर्यस्यास्य निर्मलमष्टोत्तरसहस्रलक्षणं किं व्यावर्णयामो वयम् । यस्य रूपं दृष्ट्वा द्विनेत्रोऽपि सहस्रनेत्रो बभूव । एतद्रूपं नयनद्वयेन द्रष्टुं न पारयति ।।७४।। **वक्ष इति**—अस्य वक्षःस्थलाद्यल्लक्ष्मीर्न चलिता तद्युक्तं यतोऽसौ प्राज्याः प्रचुरा ये गुणास्तेष्वनुरक्ता बद्धसख्या । अस्याः स्वैरता प्रचुरगुणैः सह सुरतानुभवनेनैव पूर्यते ततो नान्यत्र प्रयातीति भावः । यच्च पुनः प्रबन्धैर्ग्रन्थविस्तरैर्नियन्त्रिता कीर्तिर्भुवनत्रये भ्रान्ता तच्चित्रम् । बद्धस्य हि सर्वत्र भ्रमणं

।।६९।। गुणाधिक्यकी प्रतिपत्तिसे इन्द्रकी प्रतिभाको कुंठित करनेवाले इन स्वामी धर्मनाथका मेरे वचनोंके द्वारा जो वर्णन है वह मानो दीपकके द्वारा सूर्यका दर्शन करना है ।।७०।। इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न महासेन नामसे प्रसिद्ध राजा पृथिवीका शासन करते हैं। पृथिवीका भार धारण करनेवाले धर्मनामा राजकुमार उन्हींके विजयी कुमार हैं—सुपुत्र हैं ।।७१।। इनके जन्मके पन्द्रह माह पहले घर पर वह रत्नवृष्टि हुई थी कि जिससे दरिद्रतारूपी धूलि मनुष्योंके स्वप्नगोचर भी नहीं रह गयी थी ।।७२।। देवोंके द्वारा लाये हुए क्षीरसमुद्रके जलसे जब इनका जन्माभिषेक हुआ था तब तर हुआ सुवर्णगिरि [सुमेरु] भी कैलासकी उपमाको प्राप्त हुआ था ।।७३।। सौन्दर्य-लक्ष्मीके द्वारा कामको जीतनेवाले इन धर्मनाथ स्वामीके रूपके विषयमें क्या कहें ? क्योंकि उसे देखकर ही इन्द्र स्वभावसे दो नेत्रवाला होकर भी आश्चर्यसे सहस्रनेत्रवाला हो गया था ।।७४।। लक्ष्मी यद्यपि चंचल है तथापि प्रकृष्ट गुणोंमें अनुरक्त होनेके कारण इनके वक्षःस्थलसे विचलित नहीं हुई यह उचित ही है परन्तु कीर्ति बड़े-बड़े प्रबन्धोंके द्वारा बद्ध होनेपर भी तीनों लोकोंमें घूम रही है यह आश्चर्यकी बात है ।।७५।।

१. यस्य रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनाप्नुवान् । द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ।। बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे समन्तभद्रस्य । २. तम् म० घ० ।

बुद्धिर्विशाला हृदयस्थलीव सुनिर्मलं लोचनवच्चरित्रम् ।
कीर्तिश्च शुभ्रा दशनप्रभेव प्रायो गुणा मूर्त्यनुसारिणोऽस्य ॥७६॥

सुराङ्गनानामपि दुर्लभं यत्पदाम्बुजद्वन्द्वरजोऽपि [1]पुण्यम् ।
तस्याङ्कमासाद्य गुणाम्बुराशेस्त्रैलोक्यवन्द्या भवसुन्दरि त्वम् ॥७७॥

एवं तयोक्ते द्विगुणीभवन्तं रोमाञ्चमालोकनमात्रभिन्नम् ।
सा दर्शयामास तनौ कुमारी जिनेश्वरे मूर्तमिवाभिलाषम् ॥७८॥

भावं विदित्वापि तथा करेणुं सख्याः सहासं पुरतः क्षिपन्त्याः ।
चेलाञ्चलं सा चलपाणिपद्मा प्रोत्सृज्य लज्जां द्रुतमाचकर्ष ॥७९॥

श्रीधर्मनाथस्य मनोज्ञमूर्तेः प्रवेपमानाग्रकरारविन्दा ।
संवाहितां वेत्रभृता कराभ्यां चिक्षेप कण्ठे वरणस्रजं सा ॥८०॥

निःसीमसौभाग्यपयोधिवेला वीचीव वक्षःपुलिने जिनस्य ।
समुल्लसन्ती परिपूर्णमस्याः सा पुण्यचन्द्रोदयमाचचक्षे ॥८१॥

चित्रस्थानम् ॥७५॥ **बुद्धिरिति**—प्रायेणास्य गुणा आकारानुकारिणः शरीरावयवसदृशा इत्यर्थः । तथाहि बुद्धिरस्य विस्तीर्णा हृदयस्थलीव, लोचनयुगमिव निर्मलं चारित्रं, दन्तज्योत्स्नेव धवला कीर्तिः । इति गुणानामवयवानां च सादृश्यम् ॥७६॥ **सुराङ्गनानामिति**—देवाङ्गनानामपि यस्य पदाम्बुजरजो दुर्लभं यत्पवित्रं तस्यार्धाङ्गमाश्रित्यानन्तगुणसमुद्रस्य त्रैलोक्येऽपि नमस्या भव ॥७७॥ **एवमिति**—अनेन प्रकारेण तया सुभद्रयार्हद्गुणग्रामे किंचिद्वर्णिते सति सा कुमारी दर्शनमात्रोद्गतं रोमाञ्चभरं दर्शयामास । निजशरीरे प्रचुरत्वेनामान्तं मूर्तमभिलाषमिव ॥७८॥ **भावमिति**—अथानन्तरं तद्भाववेदिन्याः सहासं करेणुकां संचारयन्त्या अग्रासनसख्या लज्जां परित्यज्य पतिंवरा वस्त्राञ्चलमाचकर्ष । लज्जावशात्सात्त्विकभावाद्वा चलपाणिपल्लवा ॥७९॥ **श्रीति**—मनोहरमूर्तेः श्रीधर्मनाथस्य कण्ठे सा स्वयंवरमालां निचिक्षेप । किंविशिष्टाम् । संवाहितां पुरतः संचारितां प्रतीहारेण निजकराभ्यां यतोऽसौ प्रवेपमानाग्रकरारविन्दा महासभाक्षोभलज्जाभारवशेन कम्पमानपाणिपल्लवा ॥८०॥ **निःसीमेति**—निःसीमसौभाग्यसमुद्रस्य वीचीसदृशी स्वयंवरमाला हृदयपुलिने जिनस्य प्रकाशमाना परिपूर्णमनन्यसाधारणं पुण्यचन्द्रोदयं कथयामास । यथातिशयोज्जृम्भमाणा कल्लोलमाला दूरसमुद्रपुलिने दृश्यमाना

इनकी बुद्धि वक्षःस्थलके समान विशाल है, चरित्र लोचनके समान निर्मल है, और कीर्ति दाँतोंकी प्रभाके समान शुक्ल है। प्रायः इनके गुण इनके शरीरके अनुसार ही हैं ॥७६॥ हे सुन्दरी ! जिनके चरण-कमलकी धूलि देवांगनाओंको भी दुर्लभ है उन गुणसागर धर्मनाथ स्वामीकी गोदको पाकर तुम तीन लोकके द्वारा वन्दनीय होओ ॥७७॥ इस प्रकार कुमारी श्रृंगारवतीने अपने शरीरमें देखने मात्रसे प्रकट हुए वह रोमांच दिखलाये जो कि सुभद्राके द्वारा उपर्युक्त वर्णन होनेपर दूने हो गये थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनेन्द्र विषयक मूर्तिधारी अभिलाषा ही हो ॥७८॥ इस प्रकार जानकर भी जब सखी हँसकर हस्तिनीको आगे बढ़वाने लगी तब चंचल हस्तकमलवाली कुमारीने लज्जा छोड़ शीघ्र ही उसके वस्त्रका अंचल खींच दिया ॥७९॥ जिसके हस्ताग्ररूपी कमल कम्पित हो रहे हैं ऐसी कुमारी श्रृंगारवतीने सुन्दर शरीरके धारक श्री धर्मनाथ स्वामीके कण्ठमें प्रतिहारीके हाथों द्वारा ले जायी हुई वरमाला डाल दी ॥८०॥ सीमारहित सौभाग्यरूपी समुद्रकी बेलाकी तरंगके समान जिनेन्द्रदेवके वक्षःस्थलरूपी तटपर समुल्लसित होनेवाली वह वरमाला श्रृंगारवतीके पुण्य-

---

१. नूनम् म० घ० ।

उन्मुद्रितो यत्नवतापि नूनं धात्राधुना स्त्रीनररत्नकोशः ।
यदस्य युग्मस्य समानमन्यन्नादर्शि रूपं न च दृश्यतेऽत्र ॥८२॥

इत्थं मिथः पौरकथाः स श्रृण्वन्पुरःसरीभूतविदर्भराजः ।
स्वकर्मवृत्त्येव नरेन्द्रपुत्र्या समं तदात्मेव पुरं विवेश ॥८३॥

वधूवृतं वीक्ष्य वरं तमन्ये नृपा यथावासमपास्तभासः ।
विभान्वितं भास्करमाकलय्य जग्मुः समूहा इव तारकाणाम् ॥८४॥

स्वयंवरं द्रष्टुमुपागतानां ध्वजांशुकैर्व्योमसदामुदग्रैः ।
विचित्रवस्त्रार्पणतत्परेव रेजे विदर्भाधिपराजधानी ॥८५॥

अथाभवन्नम्बुदनादमन्द्रं ध्वनत्सु तूर्येषु पुराङ्गनानाम् ।
उत्कण्ठितान्तःकरणानि कामं शिखण्डिनीनामिव चेष्टितानि ॥८६॥

करेऽन्दुकं कङ्कण[1]मंह्रिभागे मुखे च लाक्षारसमायताक्षी ।
तमुत्सुका वीक्षितुमीक्षणे च संचारयामास कुरङ्गनाभिम् ॥८७॥

चन्द्रोदयं कथयति । नहि चन्द्रोदयं विना कल्लोलं दूरपुलिनं व्याप्नोति ॥८१॥ **उन्मुद्रित इति**—ब्रह्मणा यत्नवता गोपनपरेणापि कथमपि निजाभिलाषेण स्त्रीनररत्नभाण्डागार उद्घाटितो यतोऽस्य मिथुनस्य सदृशं दृष्टं रूपं नान्यच्च दृश्यते ॥८२॥ **इत्थमिति**—अनेन प्रकारेण पौरवार्ता आकर्णयन् अग्रेसरीभूतविदर्भराजः श्रृङ्गारवत्या सार्द्धं प्रभुः कुण्डिनपुरं प्राविक्षत् । यथा जीवो निजकर्मभूत्या सहितः पुरं देहान्तरं प्रविशति ॥८३॥ **वधूवृतमिति**—तं जिनं वधूयुतं वीक्ष्य अन्ये नृपा निजगृहान् जग्मुः निस्तेजसः प्रभान्वितं भास्करं दृष्ट्वा तारागणा इव ॥८४॥ **स्वयंवरमिति**—विदर्भराजनगरी ध्वजपटैः शुशुभे स्वयंवरं द्रष्टुमागतानां देवानां सरलहस्तैर्वस्त्राणीवार्पयन्ती ॥८५॥ **अथेति**—अथानन्तरं मेघनादगम्भीरं यथा स्यादेवं तूर्येषु वाद्यमानेषु हर्षितचेतांसि पुरस्त्रीणां चेष्टितानि बभूवुः । यथा मेघध्वनिश्रवणात्केकिकुटुम्बिनीनां हर्षनृत्यचेष्टितानि ॥८६॥ **कर इति**—तदानीं तद्दर्शनात्कौतुकोत्तालचेतसः पुरविलासिन्यो हस्तयुगले चरणाभरणं चरणयुग्मे च हस्ताभरणं मुखे च कुङ्कुम-

---

रूपी चन्द्रका उदय कह रही थी ॥८१॥ ऐसा जान पड़ता है कि प्रयत्नशाली विधाताने स्त्री और मनुष्यरूपी रत्नोंका खजाना मानो अभी-अभी ही खोला है क्योंकि इस युगलके समान अन्य रूप पहले न कभी दिखा था न अभी दिख रहा है ॥८२॥ इस प्रकार जिनके आगे-आगे विदर्भराज चल रहे हैं ऐसे धर्मनाथ स्वामी नागरिक लोगोंकी परस्परकी कथाओंको सुनते हुए नगरमें राजपुत्रीके साथ उस प्रकार प्रविष्ट हुए जिस प्रकार कि आत्मा अपनी कर्म चेष्टाओंके साथ शरीरमें प्रविष्ट होता है ॥८३॥ अन्य राजा लोग उस वरको वधू द्वारा वृत देख निष्प्रभ होते हुए उस प्रकार यथास्थान चले गये जिस प्रकार कि नक्षत्रोंके समूह कान्तिसम्पन्न सूर्यको देखकर यथा स्थान चले जाते हैं ॥८४॥ ध्वजाओंके वस्त्रोंसे वह विदर्भराजकी राजधानी ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वयंवर देखनेके लिए आये हुए देव-विद्याधरोंके लिए विविध प्रकारके वस्त्र ही समर्पित कर रही हो—भेंट कर रही हो ॥८५॥ तदनन्तर मेघगर्जनाके समान गम्भीर बाजोंके बजनेपर नगरनिवासिनी स्त्रियोंकी चेष्टाएँ ठीक मयूरियोंकी चेष्टाओंके समान अन्तःकरणको उत्कण्ठित करनेवाली हुई थीं ॥८६॥ उन्हें देखनेके लिए उत्सुक किसी विशालाक्षीने हाथमें नूपुर, चरणमें कंकड़, मुखमें लाक्षारस, और

---

१. -मङ्घ्रिभागे म० घ० ।

एतैत हे धावत पश्यताग्रे जगन्मनोमोहनमस्य रूपम् ।
इत्थं तमुद्दिश्य पुराङ्गनानां कोलाहलः कोऽपि समुज्जगाम ॥८८॥

अट्टालशालापणचत्वरेषु रथ्यासु च व्याकुलकेशपाशाः ।
द्रष्टुं तमम्भोजदृशो भ्रमन्त्यः स्वमूचिरे कामपिशाचवश्यम् ॥८९॥

मुक्तामये स्वच्छरुचौ गुणाढ्ये तस्मिन्मनोज्ञे हृदयावतीर्णे ।
असूययेव त्रुटितोऽपि हारः स्पृष्टो[1] वधूभिर्न जनावकीर्णे ॥९०॥

पत्राङ्कुरैः कापि कपोलमेकं संभाव्य नेत्रं च तथाञ्जनेन ।
उद्घाटितैकस्तनमण्डलागात्तमर्धनारीश्वरतां वहन्ती ॥९१॥

यियासतस्तस्य नरेन्द्रहर्म्यमत्यद्भुतं रूपमवेक्ष्य मार्गे ।
पुरःप्रयाणप्रतिषेधनाय शिरांसि मन्ये दुधुवुस्तरुण्यः ॥९२॥

रुद्धे जनैर्नेत्रपथेऽत्र काचिदुच्चैस्तरां निर्भयमारुरोह ।
आरूढचेतोभवपौरुषाणां किमस्त्यसाध्यं हरिणेक्षणानाम् ॥९३॥

भ्रान्त्या यावकं नयनयोश्च संचारयामासुः कस्तूरिकाम् ॥८७॥ **एतैतेति**—अनेन प्रकारेण तद्दिदृक्षूणां मृगाक्षीणां संभ्रमितचेतसां आगच्छतागच्छत हे सख्यः शीघ्रं यूयं चलत पुरतः पश्यत भुवनजनमोहनमस्य रूपमिति गच्छन्तं तमुद्दिश्य कोलाहलः कोऽपि समुज्जृम्भते स्म ॥८८॥ **अट्टालेति**—तं जिनं द्रष्टुं गृहाट्टालचत्वरादिषु मुक्तकेशपाशा भ्रमन्त्यः पुरपुरन्ध्र्य आत्मानं कामग्रहगृहीतं कथयन्ति स्म । ग्रहिलो हि मुक्तकेशश्चत्वरादिषु स्वैरं परिभ्राम्यति ॥८९॥ **मुक्तामय इति**—जनावकीर्णे जनसंकुलप्रदेशे हारः कोपं कृत्वा त्रुटितोऽपि वधूभिर्न स्पृष्टः । किं कारणमित्याह—तस्मिन् जिने हारोक्तगुणयुक्ते हृदयस्थिते सति । किंविशिष्टे । मुक्तापथे मौक्तिकस्वरूपे पक्षे मुक्तरोगे स्वच्छरुचौ निर्मलप्रभे, गुणाढ्ये गुणयुक्ते पक्षे तन्तुप्रोते । तद्दर्शनमोहिता आभरणान्यपि पतितानि न जानन्तीति भावः ॥९०॥ **पत्रेति**—काचिद् वामं कपोलं पत्रवल्लीभिर्मण्डयित्वा तदेव च वामनेत्रमञ्जनेनालंकृत्य संभ्रमवशात्पतितवामभागस्तनोत्तरीया तथा सती अर्द्धनारीश्वरतां दधती । अर्द्धनारीश्वरस्य वामभागः स्त्रीभूषायुक्त इति प्रसिद्धिः ॥९१॥ **यियासत इति**—तस्य जिनस्य रूपातिशयचमत्कृता नार्यः शिरांसि कम्पयामासुः । अहं मन्ये तस्य गमनप्रतिषेधाय संज्ञामिव कुर्वन्ति गन्तुमिच्छो राजभवनम् ॥९२॥ **रुद्ध इति**—जनैर्दृष्टिपथेऽसूचीसंचारं निरुद्धे सति काचिन्निर्भयमुच्चैःस्तम्भादिकमारुरोह । कथं तत्रारूढा न बिभेतीत्याह—गृहीतचेतो-

नेत्रोंमें कस्तूरी धारण की थी ॥८७॥ आओ, आओ, इधर आगे इनका जगत्के मनको मोहित करनेवाला रूप देखो—इस प्रकार उन्हें लक्ष्यकर नगरनिवासिनी स्त्रियोंका कोई महान् कोलाहल उत्पन्न हुआ था ॥८८॥ उन्हें देखनेके लिए अट्टालिकाओं, शालाओं, बाजारों, चौराहों और गलियोंमें घूमनेवाली एवं बिखरे हुए केशपाशोंसे युक्त कितनी ही कमलनयना स्त्रियाँ अपने-आपको कामरूपी पिशाचके वशीभूत बतला रही थीं ॥८९॥ मुक्तामय [पक्षमें रोगरहित] निर्मल रुचि, [पक्षमें निर्मल श्रद्धासे युक्त], और गुणोंसे युक्त [पक्षमें सूत्रसे सहित] उन धर्मनाथरूपी सुन्दर हारके हृदयमें अवतीर्ण होनेपर मनुष्योंकी भीड़-भाड़से युक्त स्थानमें ईर्ष्यासे ही मानो टूटते हुए हारको स्त्रियोंने छुआ भी नहीं था ॥९०॥ कोई एक स्त्री पत्ररचनाओंके अंकुरोंसे एक कपोलको और अंजनसे एक नेत्रको सुशोभित कर एक स्तनको खोले हुए उनके सम्मुख जा रही थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो अर्द्धनारीश्वरपना ही धारण कर रही हो ॥९१॥ राजभवनको जानेवाले उन धर्मनाथका आश्चर्यकारी रूप देखकर मार्गमें स्त्रियाँ अपने शिर हिला रही थीं सो मानो आगे का निषेध

१. स्पष्टो म० घ० च० ।

अङ्गेषु जातेष्वपि तद्विलोकादुद्भिन्नरोमोच्चयकञ्चुकेषु ।
दृढप्रहारो विषमेषुवीरो मर्माणि बाणैरभिनद्वधूनाम् ॥९४॥

कोलाहलं कापि मुधा विधाय तस्य स्वमालोकपथं निनाय ।
द्रष्टुं दृढोपायमनङ्ग एव चक्षुस्तृतीयं सुदृशामुदेति ॥९५॥

निर्व्याजपीयूषसहोदरोऽपि तदङ्गलावण्यरसप्रवाहः ।
नेत्रार्धभागेन निपीयमानो न तृप्तयेऽभून्नगराङ्गनानाम् ॥९६॥

आलिङ्ग्य बालाय समर्पयन्ती मुखेन काचित्क्रमुकस्य खण्डम् ।
न केवलं तत्प्रणयानुवृत्तिमूचे निजां चुम्बनचातुरीं च ॥९७॥

[1]उद्यद्भुजालम्बितना[2]सिकाग्रा स्थिता गवाक्षे विगलन्निमेषा ।
गौरी क्षणं दर्शितनाभिचक्रा चक्रे भ्रमं [3]कौचन पुत्रिकायाः ॥९८॥

भवपौरुषाणां स्त्रीणामसाध्यं किमपि नास्ति । कामपौरुषेण भीरवोऽपि महाधीरा इत्यर्थः ॥९३॥ अङ्गेष्विति—तद्दर्शनप्रमोदाद्रोमाञ्चसूचीसंचयेन गृहीतसन्नाहेष्वप्यङ्गेषु कामवीरो मर्माणि बिभेद यतोऽसौ दृढप्रहारः । कञ्चुकः सन्नाहविशेषः ॥९४॥ कोलाहलमिति—काचिच्चातुरीमभिनयन्ती वृथा कोलाहलं कृत्वात्मानं प्रभोर्लक्ष्यीचकार इति कोऽत्र विस्मयो यतोऽसौ वराकीति प्रभुणा निरीक्षिता । युक्तमेतन्मृगाक्षीणां काम एव महोपायं द्रष्टुं तृतीयं चक्षुर्भवति । अनुपायेऽपि कार्ये कामप्रभावान्मृगाक्ष्य उपायं जानन्ति । यथानया कलकलोपायो ज्ञातः ॥९५॥ निर्व्याजेति—अत्यन्तामृतसदृशोऽपि तस्याङ्गलावण्यरसप्रवाहो नेत्रार्द्धभागेन कटाक्षेण पेपीयमानोऽपि तृप्तिकारणं पौराङ्गनानां न बभूव । अथ च यः पीयूषसदृशो मधुरो रसः स तस्य लावण्यं क्षारत्वं न भवतीति खण्डविरोधः ॥९६॥ आलिङ्ग्येति—काचिद्बालाय आलिङ्गनं दत्त्वा पूगखण्डं समर्पयन्ती न केवलं तस्य प्रभोः स्नेहानुबन्धनं कथयामास निजचुम्बनचातुर्यं च दर्शितवती ॥९७॥ उद्यदिति—काचिद् गवाक्षस्था निर्निमेषा सात्त्विकभावाद्विगलदन्तरीया दन्तपुत्रिकेव दृष्टा ऊर्ध्वीकृतभुजलताधिष्ठितनासिकाग्रा । अतश्च चेतनाविरहात्पुत्तलिकेव ॥९८॥

करने के लिए ही हिला रही थीं ॥९२॥ मनुष्योंके द्वारा नेत्रोंका मार्ग रुक जानेपर कोई स्त्री निर्भय हो बहुत ऊँचे जा चढ़ी थी सो ठीक ही है क्योंकि कामके पौरुषसे युक्त स्त्रियोंको असाध्य है ही क्या ? ॥९३॥ यद्यपि स्त्रियोंके शरीरपर श्री धर्मनाथ स्वामीके दर्शनसे प्रकट हुए रोमांच-समूहरूपी कवच विद्यमान थे फिर भी सुदृढ़ प्रहार करनेवाले कामदेवरूपी वीरने बाणोंके द्वारा उनके मर्मस्थान भिन्न—खण्डित कर दिये थे ॥९४॥ कोई एक स्त्री व्यर्थका कोलाहल कर अपने-आपको उनके दृष्टिपथमें ले गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि दृढ़ उपाय देखनेके लिए स्त्रियोंसे कामरूपी तीसरा नेत्र उत्पन्न ही होता है ॥९५॥ उनके शरीरका सौन्दर्यरूपी रसका प्रवाह यद्यपि वास्तविक अमृतका सहोदर था फिर भी नेत्रके अर्धभागसे पिया गया था अतः नगरनिवासिनी स्त्रियोंकी तृप्तिके लिए नहीं हुआ था ॥९६॥ बालकका आलिंगन कर उसके लिए मुखसे सुपारीका टुकड़ा समर्पित करनेवाली किसी स्त्रीने न केवल भगवद्विषयक स्नेहकी परम्परा ही कही थी किन्तु अपनी चुम्बन-विषयक चतुराई भी प्रकट की थी ॥९७॥ जिसने ऊपर उठायी हुई भुजासे द्वारके ऊपरका काष्ठ छू रखा है, जो झरोखेमें खड़ी है, जिसके पलकोंका गिरना दूर हो गया है तथा जिसका नाभिमण्डल दिख रहा है ऐसी कोई गौर वर्णवाली स्त्री क्षण भरके लिए पुतलीका भ्रम उत्पन्न कर रही थी

---

१. म० घ० पुस्तकयोः ९८, ९९ श्लोकयोः क्रमभेदो वर्तते । २. द्वारोपरि स्थितं काष्ठं नासिकेत्युच्यते । ३. काञ्चनपुत्रिकायाः घ० म० ।

तस्य प्रभोर्धीवरतां गतस्य समन्ततः सर्पति कान्तिजाले ।
बन्धाय सद्यो रसवाहिनीनां पपात लोला शफरीव दृष्टिः ॥९९॥

कामान्धमेव द्रुतमाकुलाभिः क्षिप्तं मनस्तत्र विलासिनीभिः ।
तेनेतरालम्बनविप्रयोगाद्व्यावृत्तियोग्यं न पुनर्बभूव ॥१००॥

श्रृङ्गारवत्याश्चिरसंचितानां रेखामतिक्रामति का शुभानाम् ।
लब्धो यया नूनमसावगम्यो मनोरथानामपि जीवितेशः ॥१०१॥

किमेणकेतुः किमसावनङ्गः कृष्णोऽथवा किं किमसौ कुबेरः ।
लोकेऽथवामी विकलाङ्गशोभाः कोऽप्यन्य एवैष विशेषितश्रीः ॥१०२॥

पीयूषधाराभिरिवाङ्गनानामित्थं स वाग्भिः परिपूर्णकर्णः ।
उत्तोरणं द्वारमुदारकीर्तिः संबन्धिनः प्राप शनैः कुमारः ॥१०३॥

तत्रायमुत्तीर्य करेणुकायाः सुवासिनीसाधितमङ्गलश्रीः ।
विवेश यक्षाधिपदत्तहस्तः प्रशस्तमुच्चैः श्वसुरस्य सौधम् ॥१०४॥

तस्येति—तस्य धर्मनाथस्य धीवरतां बुद्धिप्राधान्यं गतस्य कायकान्तिकलापे समन्ततः प्रसरति तासां कामिनीनां दृष्टिरात्मबन्धाय शफरीव मत्सीव पतति स्म ॥९९॥ कामान्धमिति—तस्मिन् प्रभौ ताभिर्विलासिनीभिः कामान्धमेव मनः प्रहितम् । कथं ज्ञायते कामान्धमित्याह—द्वितीयाकर्षकाभावाद्यतो न व्यावर्त्तते । अन्धो हि द्वितीयाकर्षकेन विना पदमपि न चलति ॥१००॥ श्रृङ्गारवत्या इति—चिरसंचितानां श्रृङ्गारवत्याः पुण्यानां कान्या स्त्री सादृश्यमुपैति । यया मनोरथानामपि दुष्प्राप्य एवंविधः पतिः प्राप्तः ॥१०१॥ किमिति—किमसौ मृगाङ्कः । किं वानङ्गः । कृष्णोऽथवा । किं वा कुबेरः । अथवामी सर्वेऽपि कलङ्केनानङ्गत्वेन काष्र्ण्येन कुशरीरत्वेन विकलिताङ्गाः । अयं कोऽप्यन्य एव विशिष्टभायुक्तः ॥१०२॥ पीयूषेति—अनेन प्रकारेणामृतधाराभिरिव पौरस्त्रीकथाभिः परिपूर्णकर्णो विदर्भराजस्य द्वारं प्रविवेश ॥१०३॥ तत्रेति—तत्र द्वारे करेणुकाया

॥९८॥ धीवरता—बुद्धिकी प्रधानता [पक्षमें मल्लाहपने] को प्राप्त श्री धर्मनाथ स्वामीके, सब ओर फैलनेवाली कान्तिरूपी जालमें रसवती स्त्रियोंकी मछलीके समान चंचल दृष्टि बँधनेके लिए सहसा जा पड़ी ॥९९॥ चूँकि व्याकुल स्त्रियोंने अपना कामान्ध मन ही शीघ्रतासे वहाँ भेजा था अतः अन्य सहायकोंका अभाव होनेसे वह पुनः लौटनेके योग्य नहीं रह गया था ॥१००॥ उस श्रृंगारवतीके चिर संचित पुण्यकर्मकी रेखाको कौन उल्लंघन कर सकती है ? जिसने कि निश्चित ही यह मनोरथोंका अगम्य प्राणपति प्राप्त किया है ॥१०१॥ क्या यह चन्द्रमा है, क्या यह कामदेव है, क्या यह नारायण है, और क्या यह कुबेर है, अथवा संसारमें ये सभी शरीरकी शोभासे विकल हैं—चन्द्रमा कलंकी है, काम अशरीर है, नारायण कृष्ण वर्ण है और कुबेर लम्बोदर हैं अतः विशिष्ट शोभाको धारण करनेवाला यह कोई अन्य ही विलक्षण पुरुष है ॥१०२॥ इस प्रकार अमृतधाराके समान स्त्रियोंके वचनोंसे जिनके कान भर गये हैं ऐसे उत्तम कीर्तिके धारक श्री धर्मनाथ राजकुमार सम्बन्धीके ऊँचे-ऊँचे तोरणोंसे सुशोभित द्वारपर जा पहुँचे ॥१०३॥ वहाँ यह, हस्तिनीसे नीचे उतरे, सुवासिनी स्त्रियोंने मंगलाचार किये, यक्षराज कुबेरने हस्तावलम्बन दिया, और इस प्रकार क्रमशः श्वसुरके

१. म० घ० पुस्तकयोः १०१–१०२ श्लोकयोः क्रमभेदोऽस्ति ।

निर्वर्तिताशेषविवाहदीक्षामहोत्सवोऽसौ श्वसुरेण सम्यक् ।
वध्वा समं तत्र चतुष्कमध्ये सिंहासनं हैममलंचकार ॥१०५॥

अत्रान्तरे वेत्रिनिवेद्यमानमग्रे पितृप्रेषितमेकदूतम् ।
ददर्श सम्यक् स निवेदितार्थं तदर्पितं लेखमपि व्यधत्त ॥१०६॥

अथायमाहूय पतिं चमूनां सुषेणमित्यादिशति स्म देवः ।
स्वराजधानीं प्रति संवृतार्थं पित्राहमत्यर्थितयोपहूतः ॥१०७॥

ततोऽतिवेगेन मनोवदाप्तुं वध्वा समं रत्नपुरं समीहे ।
त्वं कायवत्कार्यमशेषयित्वा शनैः ससैन्यो [1]भवितानुगामी ॥१०८॥

उक्त्वा तमित्यनुचरं श्वसुरानुमत्या
यावत्प्रभुः स्वपुरयानसमुत्सुकोऽभूत् ।
तावद्धनाधिपतिरम्बरपुष्पकल्पं
भक्त्या विमानमुपढौकयति स्म तस्मै ॥१०९॥

तत्रारुह्य वितीर्णविस्मयरुचा शृङ्गारवत्याधिकं
पूषेव प्रविकासितास्यकमलो दिश्युत्तरस्यां व्रजन् ।

उत्तीर्य सुवासिनीकृतमङ्गलक्रियो धनदहस्तावलम्बी कृतमङ्गलारम्भं श्वसुरगृहं प्रविष्टवान् ॥१०४॥ **निर्वर्तिताशेषेति**—कृतसकलविवाहदीक्षामहोत्सवो वध्वा सार्द्धं चतुष्कमध्ये सिंहासनमलंचक्रे ॥१०५॥ **अत्रेति**—अथानन्तरं प्रतीहारनिवेद्यमानं पितृलेखहरं स प्रभुर्दूतं ददर्श तेनार्पितं लेखं च वाचयामास ॥१०६॥ **अथेति**—अथ लेखार्थपरिज्ञानानन्तरं सुषेणनामानं सेनापतिमाकार्येत्यादिदेश। अहं केनापि कारणेन शीघ्रं तातेन निजनगरं प्रत्याकारितः ॥१०७॥ **तत इति**—ततोऽहं ताताज्ञानियोगेन मनोवत् शीघ्रं वध्वा समं जिगमिषामि पश्चात्त्वं ससैन्यः कृत्यं विधाय मन्दं मन्दमागच्छ। यथा त्वरितकार्ये प्रथमं मनो याति पश्चाद्देह इति ॥१०८॥ **उक्त्वेति**—यावदिति सेनापतिमुक्त्वा श्वसुरं चानुमत्य यियासुरभूत् तावद्धनदढौकितं गगनपुण्डरीकसदृशं विमानमपश्यत् ॥१०९॥ **तत्रेति**—तत्र विमानेऽधिरूढः प्रमोदविस्तीर्णचित्तया शृङ्गारवत्या अधिकं विकसितवदन आदित्य इवोत्तराशां

उत्तम एवं ऊँचे भवनमें प्रविष्ट हुए ॥१०४॥ यहाँ श्वसुरने जिनके विवाह दीक्षा सम्बन्धी समस्त महोत्सव अच्छी तरह सम्पन्न किये थे ऐसे श्री धर्मनाथ स्वामीने चौकके बीच वधूके साथ सुवर्णका सिंहासन अलंकृत किया ॥१०५॥ इसी समय उन्होंने द्वारपालके द्वारा निवेदित तथा पिताजीके द्वारा प्रेषित एक दूतको सामने देखा और उसके द्वारा प्रदत्त लेखका समाचार भी अवगत किया ॥१०६॥ तदनन्तर उन्होंने सुषेण सेनापतिको बुलाकर इस प्रकार आदेश दिया कि मुझे पिताजीने प्रयोजन वश बिना कुछ स्पष्ट किये ही राजधानीके प्रति बुलाया है ॥१०७॥ इसलिए मैं मनके समान अत्यन्त वेगसे वधूके साथ रत्नपुरको प्राप्त करना चाहता हूँ, तुम शरीरकी तरह समस्त कार्य समाप्त कर सेनासहित धीरे-धीरे मेरे पृष्ठानुगामी होना ॥१०८॥ इस प्रकार उस अनुयायी सेनापतिको आदेश देकर श्वसुरकी सम्मत्यनुसार ज्यों ही प्रभु अपने नगरकी ओर जानेके लिए उत्सुक हुए त्योंही कुबेरने भक्तिपूर्वक अम्बर पुष्पके समान एक विमान उपस्थित कर दिया ॥१०९॥ तदनन्तर आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली शृंगारवतीके द्वारा जिनका मुख-कमल अत्यन्त विकसित हो रहा है ऐसे इन्द्रसे भी श्रेष्ठ

---

१. भवतानुगामी म० ।

सद्यः प्राप सखेदमाह्वयदिव व्यालोलसौधध्वजै-
र्देवो रत्नपुरं पुरन्दरगुरुः श्रीधर्मनाथः प्रभुः ॥११०॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये स्वयंवराभिधानको नाम सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

गच्छन् शीघ्रं रत्नपुरं प्रभुर्धर्मनाथः प्रपेदे । किंविशिष्टम् । ध्वजपटाङ्गुलीभिराकारयदिव ॥११०॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशस्कीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्त-दीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

श्री धर्मनाथ स्वामीने सूर्यके समान उस विमानपर आरूढ होकर उत्तर दिशाकी ओर प्रयाण किया और शीघ्र ही उस रत्नपुर नगरमें जा पहुँचे जो कि विरहके कारण खेद सहित था तथा मकानोंपर फहराती हुई चचल ध्वजाओंसे ऐसा जान पड़ता था मानो उन्हें बुला ही रहा हो ॥११०॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें स्वयंवरका वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७॥

अष्टादशः सर्गः

अथ श्रुताशेषसुखप्रवृत्तिना मुदं महासेननृपेण बिभ्रता ।
प्रवर्तितानेकमहोत्सवं पुरं समं कलत्रेण विवेश स प्रभुः ।।१।।

स चन्द्रमाश्चन्द्रिकयेव कान्तया तयान्वितोऽत्यन्तमनोरमाकृतिः ।
कुमुद्वतीनामिव पौरयोषितां चकार दृक्कैरवकाननोत्सवम् ।।२।।

अलंकृतं मङ्गलसंविधानकैः प्रविश्य हर्म्यं हरिविष्टरस्थितौ ।
तदान्वभूतामनुभाविनाविभौ महत्तरारोपितमक्षतक्रमम् ।।३।।

यदल्पपुण्यैर्मनुजैर्दुरासदं सदैव यच्चाननुभूतपूर्वकम् ।
वधूवरालोकनलोलनेत्रयोर्बभूव पित्रोः सममेव तत्सुखम् ।।४।।

स नन्दनालोकनजातसंमदं सुरागलीलालसनिर्जराङ्गनम् ।
अमन्यत स्वर्गपुरोपमं नृपः प्रसक्तसंगीतकहारि तद्दिनम् ।।५।।

अथेति—अथानन्तरं श्रुतसकलस्वयंवरवार्तेन महासेनेन कारितप्रवेशार्थवन्दनमालादिमहोत्सवं रत्नपुरं कलत्रेण समं प्रभुः प्रविवेश ।।१।। स इति—स चन्द्र इव ज्योत्स्नया तया नवोढया सहितः सर्वनयनपीयूषवर्ति-कैरविणीनामिव पुरस्त्रीणां नयनकुमुदवनविलासाय बभूव । अत्र चन्द्रधर्मनाथयोश्चन्द्रिकाशृङ्गारवत्योः कुमुदिनीपौराङ्गनयोश्चोपमानोपमेयभावः ।।२।। अलंकृतमिति—तौ दम्पती मङ्गलद्रव्यापचितं मङ्गलगृहं प्रविश्य एकसिंहासनस्थितौ महाप्रभावौ मातापित्रादिककृतं मङ्गलाक्षतविधिं प्रतीच्छांचक्रतुः ।।३।। यदल्पेति—तदा जनकजनन्योर्वधूवरदर्शनलोलनयनयोस्तत्सुखमेककालं बभूव यदल्पपुण्यलोकैर्दुष्प्राप्यं यच्च कदाचिदप्य-लब्धपूर्वम् ।।४।। स इति—स राजा तद्दिवसं स्वर्गसदृशममंस्त । किंविशिष्टम् । परिणीतपुत्रावलोकनसमुत्पन्न-हर्षं पक्षे नन्दनं देववनम् । सुगीतलीलालसा निर्जरास्तरुण्योऽङ्गना यत्र पक्षे देववृक्षेषु लोलालसाः क्रीडास्वभावा

तदनन्तर समस्त सुख समाचार सुनने एवं आनन्द धारण करनेवाले महासेन महाराज के द्वारा जिसमें अनेक महोत्सव प्रवृत्त हुए हैं ऐसे रत्नपुर नगरमें श्रीधर्मनाथ स्वामीने हृदय-वल्लभाके साथ प्रवेश किया ।।१।। जिस प्रकार चन्द्रिकासे सहित चन्द्रमा कुमुदिनियोंके साथ कुमुदोंको आनन्दित करता है उसी प्रकार उस कान्तासे सहित अतिशय सुन्दर श्रीधर्मनाथ स्वामीने नगरनिवासिनी स्त्रियोंके नेत्र रूपी कुमुदोंके वनको आनन्दित किया था ।।२।। मंगला-चारसे सुशोभित राजमहलमें प्रवेश कर सिंहासन पर बैठे हुए इन प्रभावशाली दम्पतीने उस समय कुलकी वृद्धाओंके द्वारा आरोपित अक्षतारोहण विधिका अनुभव किया था ।।३।। वधू वरके देखनेमें जिनके नेत्र सतृष्ण हो रहे हैं ऐसे मातापिताको उस समय एक ही साथ वह सुख प्राप्त हुआ था जो कि अल्पपुण्यात्मा मनुष्योंको सर्वथा दुर्लभ था और पहले जिसका कभी अनुभव नहीं हुआ था ।।४।। राजा महासेनने वह नगर स्वर्गनगरके समान समझा था क्योंकि जिस प्रकार स्वर्ग नगर नन्दन--नन्दन वनके देखनेसे उत्पन्न हर्षसे युक्त होता है उसी प्रकार वह दिन भी नन्दन--पुत्र के देखनेसे उत्पन्न हर्षसे युक्त था । जिस प्रकार स्वर्गनगर कल्प-वृक्षोंके नीचे क्रीडा करनेमें अलस देवागंनाओंसे युक्त होता है उसी प्रकार वह दिन भी उत्तम रँगरेलियोंकी क्रीड़ाओंमें अलस तरुण स्त्रियोंसे युक्त था और जिस प्रकार स्वर्गनगर

अथैष शृङ्गारवतीमिवापरां सकौतुकेनैव करेण मेदिनीम् ।
तमादराद्ग्राहयितुं नरेश्वरः स्थितं सदस्यात्मजमित्यभाषत ॥६॥

नियम्य यद्राज्यतृणेऽपि पालितं तवोदयात्प्राग्गहनैकसत्त्ववत् ।
विबन्धनं तद्विषयेषु निःस्पृहं मनो वनायैव ममाद्य धावति ॥७॥

प्रतापटङ्कैः शतकोटिनिष्ठुरैः किरीटरत्नोपलपट्टिकाव्रजे ।
स्फुरन्निजाज्ञाक्षरमालिकामयी मया प्रशस्तिर्निहिता महीभुजाम् ॥८॥

यशो जगन्मण्डलमण्डनीकृतं कृताः कृतार्थाः कृतिनोऽपि संपदा ।
त्वया च जाता धुरि पुत्रिणां वयं किमस्त्यपर्याप्तमतोऽत्र जन्मनि ॥९॥

ततोऽवशिष्टं पुरुषार्थमर्थतश्चतुर्थमेवार्थयतीह ये मनः ।
अथान्यदप्यस्ति विधेयमादरात्त्वमेव तत्साधु विचारयोचितम् ॥१०॥

उपेत्य वात्येव जरातिजर्जरं करोति यावन्न वपुः कुटीरकम् ।
निकेतनं तावदुपैतुमक्षयं द्रुतं यतिष्ये जिननाथवर्त्मना ॥११॥

देवाङ्गना यत्र । प्रसक्तेन तालभावादुपेतेन संगीतकेन मनोहरम् ॥५॥ अथेति—अथ कदाचिन्महासेनो राजा तं धर्मनाथं मेदिनीं करेण ग्राहयितुं द्वितीयां शृङ्गारवतीमिव सभास्थितं बभाषे । राज्याभिषेकं कर्तुमित्यर्थः ॥६॥ नियम्येति—हे तात ! यन्मम मनो राज्यसुखरसिकं तत् सांप्रतं त्वयि निवेशितराज्यभारं सांसारिकसुखेन निरभिलाषं तपोवनायाधुना शीघ्रं जिगमिषति । यथा पुत्रजन्ममुक्तो गृहक्रीडामृगस्तृणपालितोऽपि विषयेषु देशेषु निरभिलाषः सन् महारण्यानीसन्मुखं पलायते । पुत्रजन्ममहोत्सवे हि सर्वेषां पशूनां बन्धमोक्ष इत्याचारः ॥७॥ प्रतापेति—मया विपक्षपृथिवीभुजां मकुटरत्नोपलशिलासु निजाज्ञाप्रशस्तिर्लिखिता । कस्माद् राजादेशवन्दनमालामणिप्रतिबिम्बितशासनाक्षरव्याजात् । कैः तीक्ष्णप्रतापटङ्कसमूहैः ॥८॥ यश इति—मया स्वीययशो भुवनभूषणीकृतं साधवश्च यथाकामं विभवेन प्रीणिताः भवता च पुत्रेण पुत्रिणामाद्याः संजाताः तत्किमद्यास्माकमपरिपूर्णमस्मिन् जन्मनि विद्यते ॥९॥ तत इति—ततो वर्गत्रयप्राप्त्यनन्तरं चतुर्थं मोक्षलक्षणमेव पदार्थमीप्सति मे मनः । अथान्यदपि चेत्कृत्यमस्ति त्वमेव तद्विचारय ॥१०॥ उपेत्येति—जरा वातमण्डलीव यावदागत्य शरीरं तृणकुटीरकमिवातिजर्जरं न करोति तावत् शाश्वतस्थानगृहाय यत्नं करिष्ये जितावरण-

वर्तमान संगीतोंसे मनोहर होता है उसी प्रकार वह दिन भी वर्तमान--चालू संगीतसे मनोहर था ॥५॥ तदनन्तर महाराज महासेनने दूसरी शृंगारवतीके समान पृथिवीको कौतुकयुक्त हाथसे ग्रहण करानेके लिए सभामें बैठे हुए पुत्र धर्मनाथसे बड़े आदरके साथ निम्न प्रकार कहा ॥६॥ मेरा जो मन आपके जन्मके पूर्व जंगली प्राणीकी तरह राज्य रूपी तृणमें रोक कर यद्यपि पाला गया था तथापि आज वह बन्धन रहित हो विषयोंमें निःस्पृह होता हुआ वनके लिए ही दौड़ रहा है ॥७॥ मैंने राजाओंके मुकुटोंमें लगी हुई रत्नमयी पाषाण-पट्टिकाओंके समूहमें वज्रके समान कठोर प्रताप रूपी टाँकीके द्वारा अपने देदीप्यमान आज्ञाक्षरोंकी मालारूप प्रशस्ति अंकित की है ॥८॥ मैंने यशको समस्त संसारका आभूषण बनाया है, सम्पत्तिके द्वारा कुशल मनुष्योंको कृतकृत्य किया है और आपके द्वारा हम पुत्रवान् मनुष्योंमें प्रधानताको प्राप्त हुए हैं फिर इस जन्ममें मेरा कौन-सा कार्य अपूर्ण रह गया है ॥९॥ एक चतुर्थ पुरुषार्थ--मोक्ष ही अवशिष्ट रह गया है अतः मेरा मन वास्तवमें अब उसे ही प्राप्त करना चाहता है अथवा अन्य कोई वस्तु आदर पूर्वक प्राप्त करने योग्य हो तो आप उसका अच्छी तरह योग्य विचार कीजिए ॥१०॥ जब तक आँधीके समान बुढ़ापा आकर शरीर रूपी कुटियाको अत्यन्त जर्जर नहीं कर देता है तब तक मैं श्रीजिनेन्द्र देवके द्वारा बतलाये

अपत्यमिच्छन्ति तदेव साधवो न येन जातेन पतन्ति पूर्वजाः ।
इति त्वयापत्यगुणैषिणा पतन्नपेक्षणीयो न भवामि संसृतौ ॥१२॥

ततोऽनुमन्यस्व नयज्ञ साधये समीहितं त्वद्भुजदण्डशायिनि ।
चिरं धरित्रीवलये फणावतामपेतभारः सुखमेधतां पतिः ॥१३॥

तवापि शिक्षा भुवनत्रयीगुरोर्विभाति भानोरिव दीपदीधितिः ।
इति प्रपद्यापि यदुच्यते मया ममत्वमोहः खलु तत्र कारणम् ॥१४॥

भृशं गुणानर्जय सद्गुणो जनैः क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते ।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषणः प्रयाति वैलक्ष्यमिह क्षणादपि ॥१५॥

उपात्ततन्त्रोऽप्यखिलाङ्गरक्षणे न मन्त्रिसांनिध्यमपेतुमर्हसि ।
श्रिया पिशाच्येव नृपत्वचत्वरे परिस्खलन्कश्छलितो न भूपतिः ॥१६॥

मार्गेण ॥११॥ अपत्यमिति—येन जातेन पितरः संसारे न पतन्ति तदेवापत्यं कृतिनः समीहन्ते ततो भवता सुपुत्रेणाहं संसारे पतन्नोपेक्षणीयः किन्तु तपोवनाय मुक्ति लभनीय इत्यर्थः ॥१२॥ तत इति—ततो हे नयज्ञ ! मां प्रेरय । त्वदाज्ञया मोक्षं साधयामि । क्व सति । भूवलये त्वद्भुजदण्डस्थिते शेषो निश्चिन्तः सुखं तिष्ठतु भूभारस्य त्वयि स्थितत्वात् ॥१३॥ तवापीति—अथानन्तरं कुमारशिक्षाप्रक्रमः । यत्तव त्रिभुवनगुरोः शिक्षा सा भास्करस्य दीपदीधितिदर्शनमिव । इति ज्ञात्वापि यथा यत् शिक्षा दीयते तन्ममत्वमोह एव समर्थं कारणम् ॥१४॥ भृशमिति—भृशमेकाग्रहेण गुणानुपार्जय यतः प्रशस्यगुणः पुमान् जनैः प्रारम्भेषु धनुर्दण्ड इव प्रशस्यते । यदि वा सतां साधूनां गुणा यस्य स सद्गुणो न दुर्जनः प्रशस्यः । गुणाच्च्युतो गुणच्युतः प्रत्यञ्चामुक्तशर इवातिभीषणोऽतिभयानकः पुमान् वैलक्ष्यं लज्जां क्षणेन प्रयाति । पक्षे भयप्रदस्तच्छरो वै स्फुटं लक्ष्यं वेध्यं प्रयाति ॥१५॥ उपात्तेति—परिपूर्णचतुरङ्गसामग्रीकोऽपि सप्ताङ्गराज्यरक्षणे न मन्त्रिणो दूरीकर्तुं त्वमर्हसि यतो लक्ष्म्या साम्राज्ये प्रवर्तमानो भूपतिः को न विप्लावितः । मन्त्रबलान्न विप्लवस्तादृशः सद्भावः । पक्षे गृहीतविषापहभेषजोऽपि न मान्त्रिकान् दूरीकरोति । औषधेन विषमेव निराक्रियते न चत्वरपरिभ्रमणसमुद्भूत-

हुए मार्गसे शीघ्र ही अविनाशी गृह—मुक्तिधामको प्राप्त करनेका प्रयत्न करूँगा ॥११॥ साधुजन उसी अपत्यकी इच्छा करते हैं जिसके उत्पन्न होने पर उसके पूर्वज पतित न होते हों। चूँकि आप अपत्यके गुणोंकी इच्छा रखते हैं—आप चाहते हैं कि योग्य अपत्यके गुण मुझमें अवतीर्ण हों अतः आपके द्वारा संसारमें पतित होता हुआ मैं उपेक्षणीय नहीं हूँ ॥१२॥ इसलिए हे नीतिज्ञ ! अनुमति दो कि जिससे मैं अपना मनोरथ सिद्ध करूँ। इस पृथिवी मण्डलके चिरकाल तक आपके भुजदण्डमें शयन करने पर शेषनाग भार रहित हो सुखसे वृद्धिको प्राप्त हो ॥१३॥ आप लोकत्रयके गुरु हैं अतः आपको शिक्षा देना सूर्यको दीपककी किरण दिखाना है—यह जानकर भी मेरे द्वारा जो कहा जा रहा है उसमें ममता जनित मोह ही कारण है ॥१४॥ गुणोंका खूब अर्जन करो क्योंकि उत्तम गुणोंसे युक्त [पक्षमें उत्तम डोरीसे युक्त] मनुष्य ही कार्योंमें धनुषके समान प्रशंसनीय होता है, गुणोंसे रहित [पक्षमें डोरीसे रहित] मनुष्य बाणके समान अत्यन्त भयंकर होने पर भी क्षणभरमें वैलक्ष्य—लज्जा [पक्षमें लक्ष्य भ्रष्टता] को प्राप्त हो जाता है ॥१५॥ यद्यपि आप समस्त अंगोंकी रक्षा करने में विद्वान् हैं तथापि मन्त्रियोंका सामीप्य छोड़नेके योग्य नहीं हैं। क्योंकि पिशाचीके समान लक्ष्मीके द्वारा

१. विगतं लक्ष्यं यस्य विलक्ष्यः तस्य भावो वैलक्ष्यं अथवा वै स्फुटं निश्चयेन वा लक्ष्यं शरव्यं वेध्यं प्रयाति ।

न बद्धकोषं स तथा यथाम्बुजं विकोषमाक्रामति षट्पदोच्चयः ।
पराभिभूतिप्रतिबन्धनक्षमं नृपो विदध्यादिति कोषसंग्रहम् ॥१७॥
अनुज्झितस्नेहभरं विभूतये विधेहि सिद्धार्थसमूहमाश्रितम् ।
स [1]पीलितः स्नेहमपास्य तत्क्षणात्खलीभवन् केन निवार्यते पुनः ॥१८॥
स मन्दरागोपहतः पयोनिधिर्मुमोच लक्ष्मीं सगजामपि क्षणात् ।
इतीव जानन्निजसंनिधौ जनान्न मन्दरागाननिशं विधास्यसि ॥१९॥
गतत्रपो यस्त्रपुणीव सन्मणिं नियोजयेद्योग्यमयोग्यकर्मणि ।
विवेकवन्ध्यः स महीपतिः कथं भवेदनौचित्यविदाश्रयः सताम् ॥२०॥
अचिन्त्यचिन्तामणिमर्थसंपदां यशस्तरोः स्थानकमेकमक्षतम् ।
अशेषभूभृत्परिवारमातरं कृतज्ञतां तामनिशं त्वमाश्रय ॥२१॥

शाकिन्यादिदोषः ॥१६॥ नेति—राज्ञा कोषसंग्रहो भाण्डागारोपचयः कार्यः । तथाहि बद्धकोषमविकसितमुकुलकमलमपि न तथा षट्पदेनोपद्रूयते यथा विकोषं विकसितमिति । ततः प्रतिपक्षपराभवनिराकरणसमर्थं महाद्रव्यसंग्रहं कुर्यादिति ॥१७॥ अनुज्झितेति—आश्रितं सेवकजनं सिद्धो दत्तोऽर्थसमूहो यस्य । यदि वा सिद्धोऽर्थसमूहो निजनिजकार्यजातं यस्मात् । पुनः किंविशिष्टम् । अनुज्झितस्नेहं कृतानुबन्धं कुर्याः । यदि नैवं स्यात्तदा किमित्याह—उत्पीलितः सर्वस्वादानेन कृशीकृतः पूर्वप्रतिपन्नप्रीतिं परित्यज्य तत्कालं दुर्जनायमानः केन वार्यते । न केनापि । पक्षे यथा सिद्धार्थसमूहः सर्षपराशिरमुक्ततैलो यन्त्रप्रयोगेण निपीलितस्तैलं परित्यज्य पिण्याकीभवन् केन प्रतिषिध्यते । ॥१८॥ स इति—समुद्रोऽपि मन्दराद्रिमथितः सैरावणां लक्ष्मीं परित्यक्तवान्, इति जानन् भवानपि मन्दो रागो येषां ते मन्दरागास्तान् दृढवैरान् निजपरिवारे कर्तुं नार्हसि ॥१९॥ गतत्रप इति—यो निर्लज्जो वङ्गेऽनर्घं मणिं जटति सोऽन्याधिकारयोग्यमन्याधिकारे नियोजयति । तथाहि दयालुं तलवरनियोगे चण्डकर्माणं च धर्माधिकरणे । इति सोऽनौचित्यज्ञो राजा साधूनामाश्रयणीयो न भवति ॥२०॥ अचिन्त्येति—किंच त्वं कृतज्ञतां संश्रय-उपकृतं कस्यापि त्वं मा विस्मार्षीरिति । यां किंविशिष्टामित्याह—अचिन्त्यचिन्तामणिमशेषलक्ष्मीणां कीर्तिलतायाः प्ररोहस्थानकं प्रसरमण्डपं वा । अक्षतं परिपूर्णम् । सकलराजपरिवारजननीम् । कृतज्ञं सर्वे राजान आश्रयन्तीति सर्वगुणविभवाद्याश्रयश्च कृतज्ञ एव ॥२१॥

राज्य रूपी आँगनमें स्खलित होता हुआ कौन राजा नहीं छला गया है ? ॥१६॥ भ्रमरोंका समूह जिस प्रकार कोष—कुड्मल रहित कमलको आक्रान्त कर देता है उस प्रकार बद्धकोष—कुड्मल सहित कमलको आक्रान्त नहीं कर पाता अतः राजाको चाहिए कि वह शत्रुजनित तिरस्कारके रोकनेमें समर्थ कोष संग्रह—खजानेका संग्रह करे ॥१७॥ स्नेहका भार न छोड़नेवाले [पक्षमें तेलका भार न छोड़ने वाले] आश्रित जनको विभूति प्राप्त करनेके लिए सिद्धार्थ समूह—कृतकृत्य [पक्षमें पीतसरसों] बनाओ । क्योंकि पीड़ित किया नहीं कि वह स्नेह [पक्षमें तैल] छोड़कर तत्क्षण खल—दुर्जन [पक्षमें खली] होता हुआ पुनः किसके द्वारा रोका जा सकता है ? ॥१८॥ उस प्रसिद्ध समुद्रको मन्दरागोपहत—मन्दराचलके द्वारा उपहत होनेके कारण [पक्षमें मन्दस्नेह मनुष्योंके द्वारा उपहत होनेके कारण] तत्काल हस्ती—ऐरावत हाथी तथा लक्ष्मीका भी त्याग करना पड़ा था—ऐसा जानते हुए ही मानो आप कभी भी मन्दराग—मन्दस्नेह [पक्षमें मन्दराचल] जनोंको अपने पास न करेंगे ॥१६॥ जो निर्लज्ज रांगामें उत्तममणिके समान अयोग्य कार्यमें योग्य पुरुषको लगता है वह विवेकसे विकल एवं औचित्यको न जाननेवाला राजा सत्पुरुषोंका आश्रय कैसे हो सकता है ? ॥२०॥ तुम निरन्तर उस कृतज्ञताका आश्रय लो जो कि धन सम्पदाओंके लिए अचिन्त्य चिन्तामणि

१. पीडितः म० घ० च० छ० ज० ।

स्थितेऽपि कोषे नृपतिः पराश्रयी प्रपद्यते लाघवमेव केवलम् ।
अशेषविश्वंभरकुक्षिरच्युतो बलिं भजन्कि न बभूव वामनः ।।२२।।

अनादृतोपक्रमकर्णधारकाः श्रयन्ति ये नीतिमिमां तरीमिव ।
विरोधिदुर्वातविदर्भितां विपन्नदीं न दीनाः परिलङ्घयन्ति ते ।।२३।।

महोभिरन्यानिह कूपदेशवज्जडाशयाञ्शोषय भीषणैः क्रमात् ।
यथा न लक्ष्म्या घटवोढयेव ते कृपाणधारासलिलं विमुच्यते ।।२४।।

अपेक्ष्य कालं कमपि प्रकर्षतः स्फुरन्त्यमी धामधना अपि ध्रुवम्[२] ।
हिमेन तेनापि तिरस्कृतिं कृतामहो सहस्ये सहते न किं रविः ।।२५।।

विशुद्धपार्ष्णिः प्रकृतीरकोपयञ्जयाय यायादरिमण्डलं नृपः ।
बहिर्व्यवस्थामिति बिभ्रदान्तराञ्जयी कथं स्यादनिरुध्य विद्विषः ।।२६।।

स्थितेऽपीति—सर्वसामग्रीकोऽपि राजा यदि परसेवकः स्यात्तदा लाघवं लभते इत्यर्थे दृष्टान्तमाह—चतुर्दशब्रह्माण्डकुक्षिरपि कृष्णो बलिराजप्रार्थनात् किं खर्वशाखी न बभूव । अपि तु बभूवैवेति ।।२२।। **अनादृत इति**—य एनां नीतिं नावमिवाधिरोहन्ते शत्रुदुर्वातभ्रान्तामपि विपत्तरङ्गिणीं नदीनाः सन्तस्तरन्ति ते । किंविशिष्टा अपीत्याह—अनादृत उपक्रम एव कर्णधारको नौप्रेरको यैस्ते तथाविधा अपि अकृतकटकादिप्रयत्नाः ।।२३।। **महोभिरिति**—निजैः प्रतापैरन्यान् महीपतीन् भीषणैर्भीतिगर्जिवाक्यैर्वा भीषयस्व शनैः शनैः । यथा साम्राज्यलक्ष्म्या घटचेटकयेव खङ्गधाराजलं न परित्यज्यते । यथा कूपादिषु शोषितेषु दासी नदीसलिलमेव वाञ्छति तथा अन्यभूपेषु भीरुषु लक्ष्मीस्तव खङ्ग एव वसति ।।२४।। **अपेक्ष्येति**—कमपि कालविशेषं विचिन्त्य अमी प्रतापधना अपि जृम्भन्ते न सर्वदैव । अतिशयजाड्येनापि विहितां तिरस्कृतिं सहस्ये फाल्गुने (?) [पौषे] किं न प्रतापवान् सहते अपि तु सहत एव । आगन्तुकमुदयं समीक्ष्य परिभवोऽपि सोढव्यः । यथा सूर्यः फाल्गुने (?) [पौषे] शीतपराभवं सहमानो ग्रीष्मप्रतापाधिक्यमाप्नोति ।।२५।। **विशुद्धेति**—निजवशीकृतपार्ष्णिग्राहराजकः प्रकृतीरकोपयन् निजाङ्गसेवकान् बहुमन्यमानः । जयाय जयनिमित्तं यायात् इति पूर्वोक्तप्रकारेण बाह्यशत्रुविजयप्रकारं बिभ्राणोऽपि आन्तरान्कामक्रोधादीनजित्वा कथं जयी स्यादित्यर्थः । मुनिरिव

है, कीर्ति रूपी वृक्षका अविनाशी मुख्य स्थान है और समस्त राजपरिवारकी माता है ।।२१।। निजका खजाना रहने पर भी जो परका आश्रय लेता है वह केवल तुच्छताको प्राप्त होता है । जिसका उदर अपने आपमें समस्त संसारको भरने वाला है ऐसा विष्णु बलि राजाकी आराधना करता हुआ क्या वामन नहीं हो गया था । ।।२२।। जो कार्यके कर्णधारकों—निर्वाहकों [पक्षमें नाविकों] का अनादर कर नौकाकी तरह इस नीतिका आश्रय लेते हैं वे दीन जन विरोधी रूपी आँधीसे विस्तृत—लहराती हुई विपत्ति रूपी नदीको नहीं तिर पाते हैं ।।२३।। तुम इस संसारमें भयंकर तेजके द्वारा क्रमक्रमसे कूपदेश—कुत्सित उपदेशवालोंके समान [पक्षमें कूपप्रदेशके समान] अन्य जडाशयों—मूर्खों [पक्षमें तालाबों] को सुखा दो जिससे कि घटधारिणी—पनहारिनके समान लक्ष्मीके द्वारा तुम्हारी खड्गधाराका जल न छोड़ा जा सके ।।२४।। ये तेजस्वीजन भी किसी समयकी अपेक्षा कर ही अधिक प्रकाशमान हो पाते हैं । क्या पौषमाहमें सूर्य उस हिमके द्वारा कृत तिरस्कारको नहीं सहता । ।।२५।। जिसकी पिछली सेना शुद्ध—निश्छल है ऐसा राजा मन्त्री आदि प्रकृति वर्गको कुपित न करता हुआ विजयके लिए शत्रुमण्डलकी ओर प्रयाण करे । जो इस प्रकार बाह्य व्यवस्थाको धारण करता हुआ भी अन्तरंग शत्रुओंको नहीं जीतता वह विजयी किस प्रकार हो सकता

१. विश्वंभरि घ० म० ख० ग० । २. द्रुतम् म० घ० ।

ततो जयेच्छुर्विजिगीषुरान्तरान्यतेत जेतुं प्रथमं विरोधिनः ।
कथं प्रदीप्तानवधीर्य वह्निना गृहानिहान्यत्र कृती व्यवस्यति ॥२७॥
यथावदारम्भविदो महीपतेर्गुणाय षाड्गुण्यमपि प्रजायते ।
असंशयं स्यादविमृश्यकारिणो मणिं जिघृक्षोरिव तक्षकात्क्षयः ॥२८॥
विधेयमार्गेषु पदे पदे स्खलन्नराधिनाथो मदमोहिताशयः ।
न शारदेन्दुद्युतिकुन्दसोदरं यशोंऽशुकं स्रस्तमवैति सर्वतः ॥२९॥
हिनस्ति धर्मं हृदयाभिनन्दिनीं तदर्पितां यो विलसन्नपि श्रियम् ।
स दुर्जनानामकृतज्ञचेतसां धुरि प्रतिष्ठां लभतामचेतनः ॥३०॥
सुखं फलं राज्यपदस्य जन्यते तदत्र कामेन स चार्थसाधनः ।
विमुच्य तौ चेदिह धर्ममीहसे वृथैव राज्यं वनमेव सेव्यताम् ॥३१॥
इहार्थकामाभिनिवेशलालसः स्वधर्ममर्माणि भिनत्ति यो नृपः ।
फलाभिलाषेण समीहते तरुं समूलमुन्मूलयितुं स दुर्मतिः ॥३२॥

कामक्रोधादीनपि गृह्णीयादित्यर्थः ॥२६॥ तत इति—तस्मात्पूर्वोक्तप्रकारात् जयाभिलाषुको विजिगीषुः कोपादीन् जेतुं यत्नं कुर्यात् । कथं नाम वह्निना जाज्वल्यमानान् निजगृहान् परित्यज्य विचक्षणः कार्यान्तरं करोति । न करोत्येव तथा राजापि कोपाग्निना दह्यमानचित्तोपशान्तिबाह्यप्रारम्भेषु न यतते ॥२७॥ यथावदिति—आत्मपरबलाबलं ज्ञात्वा विग्रहं कुर्यादिति निरूपयति—यथास्थितिप्रारम्भवेदिनो नृपतेः षाड्गुण्यं सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावलक्षणं गुणाय विजयाय जायते । सहसाकारिणः पुनस्तक्षकमस्तकमणिग्राहकस्येव नियमेन मृत्युरेव ॥२८॥ विधेयेति—कृत्यपदार्थेषु पौनःपुन्येन मुह्यन् गर्वमदिरामत्तो राजा निर्मलं यशोवस्त्रं पतितमपि न जानाति गर्वेण न्यायकरणादात्मनोऽकीर्तिं प्रादुर्भवन्तीं न बुध्यते ॥२९॥ हिनस्तीति—यो धर्मदत्तां मनोरमां लक्ष्मीमुपभुञ्जानो धर्ममेव निहन्ति स कृतघ्नानां दुर्जनानां प्रथमं गणनीयः स्यात् । धर्मप्रभावाद्राज्यं लब्ध्वा धर्ममेव न करोति स सर्वथा मूढ एवेति भावः ॥३०॥ सुखमिति—तर्हि कामार्थावुपहत्य धर्ममेव सेवत इति निराकुर्वन्नाह—राज्यस्य सुखं फलं तच्च सुखं कामेन साध्यते स कामो द्रव्यसाध्यः नौ कामार्थौ चेत्परित्यज्य केवलं धर्ममेव करोति तर्हि राज्यं मुक्त्वा वनमेव शरणं क्रियतामिति । राज्यसेवा हि यथाविधि वर्गत्रयार्थमिति नीतिज्ञाः ॥३१॥ इहेति—यो नृपतिर्धर्ममर्माणि भिनत्ति कामार्थोप-

---

है ? ॥२६॥ अतः विजयके इच्छुक विजिगीषु राजाको सर्व प्रथम अन्तरंग शत्रुओंको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि कुशल मनुष्य अग्निसे प्रज्वलित घरकी उपेक्षा कर अन्य कार्योंमें कैसे व्यवसाय कर सकता है ? ॥२७॥ सन्धि विग्रह आदि छह गुण भी उसी राजाके लिए गुणकारी होते हैं जो कि उनका यथायोग्य आरम्भ करना जानता है। बिना विचारे कार्य करनेवाले मनुष्यका निःसन्देह उस प्रकार नाश होता है जिस प्रकार कि तक्षक सर्पसे मणि ग्रहण करनेके इच्छुक मनुष्यका होता है ॥२८॥ जिसका आशय मद—गर्वसे मोहित हो रहा है ऐसा राजा कर्तव्य कार्योंमें पद पद पर स्खलित होता हुआ यह नहीं जानता कि शरद् ऋतुके चन्द्रमाकी कान्ति तथा कुन्दके फूलके समान उज्ज्वल मेरा यश रूपी वस्त्र सब ओरसे नीचे खिसक रहा है ॥२९॥ जो हृदयको आनन्दित करने वाली, धर्मद्वारा प्रदत्त लक्ष्मीका उपभोग करता हुआ भी धर्मको नष्ट करता है वह मूढ अकृतज्ञ चित्तवाले दुर्जनोंके आगे प्रतिष्ठाको प्राप्त हो—वह सबसे अधिक अकृतज्ञ कहलावे ॥३०॥ राज्य पदका फल सुख है, वह सुख कामसे उत्पन्न होता है और काम अर्थसे। यदि तुम दोनोंको छोड़कर केवल धर्मकी इच्छा करते हो तो राज्य व्यर्थ है। उससे अच्छा तो यही है कि वनकी सेवा की जाय ॥३१॥ जो राजा धर्म और काम प्राप्तिकी लालसा रख अपने धर्मके मर्मोंका भेदन करता है वह

इहेहते यो नतवर्गसंपदं तथापवर्गप्रतिपत्तिमायतौ ।
अपास्तबाधं स निषेवते क्रमात्त्रिवर्गमेव प्रथमं विचक्षणः ॥३३॥
नृपो गुरूणां विनयं [1]प्रदर्शयन् भवेदिहामुत्र च मङ्गलास्पदम् ।
स चाविनीतस्तु तनूनपादिव ज्वलन्नशेषं दहति स्वमाश्रयम् ॥३४॥
धनं ददानोऽपि न तेन तोषकृत् तथा यथा साम समीरयन्नृपः ।
तदर्थसिद्धावपरैरुपायकैर्न सामसाम्राज्यतुलाधिरुह्यते ॥३५॥
त्वमत्र पात्राय समीहितं ददत् प्रसिद्धिपात्रं परमं भविष्यसि ।
अभिन्नतृष्णे जलधौ कर्मथिनो न बद्धपीताद्यपवादमादधुः ॥३६॥
नितान्तघोरं यदि न [2]प्रसर्पता कृतं कदर्यद्रविणेन पातकम् ।
अदृष्टलोव्यवहारमन्वहं विपच्यते किं वसुधातलोष्मणा ॥३७॥

भोगाग्रहेण स फलाभिलाषेण वृक्षं समूलमुत्पाटयति । धर्मेण कामार्थौ लभ्येते तद्विघाती चिरं तावपि नोपभुनक्ति । यथा—वृक्षच्छेदेन फलोपभोगः ॥३२॥ इहेति—यो नतवर्गस्य सेवकजनस्य लक्ष्मीं वाञ्छति तथोत्तरकाले मोक्षप्राप्तिं च स निराबाधं धर्मार्थकामलक्षणं त्रिवर्गं सेवते । अथ च यः कश्चित्न तवर्गं पवर्गं च वक्तुं वाञ्छति स क च ट लक्षणं प्रथमवर्गत्रयं व्याहरति । विचक्षणोऽपवर्गपरिहारवादी यः प्रजां सुखाकरोति मुमुक्षुः सन् कामांश्चोपभुनक्ति तस्य वर्गत्रयं परिपूर्णमेवेति भावार्थः ॥३३॥ नृप इति—पूज्यानां राजा विनयपर इह भवे परभवे च सुखकीर्त्याश्रयः स्यात् स एव पुनरविनीतो वह्निरिव कोपजाज्वल्यमानः सर्वं लोकमुपतापयति । यथा वह्निरविना मेषेण नीयत उह्यत इत्यविनीतो निजाश्रयमेव दहति ॥३४॥ धनमिति—कश्चिद् द्रव्यं ददानोऽपि न तेन द्रव्यदानेन न नृणां तोषकारी तथा स्याद्यथा साममधुरवचनानि जल्पन् । तस्मात्कार्यसिद्धौ बहुभिरप्यन्यैरुपायैर्न सामसादृश्यं प्राप्यते । दानात्प्रियालापः कार्यकर इति भावः ॥३५॥ त्वमिति—त्वं धर्मकार्यकामलक्षणाय पात्राय यथेप्सितं द्रव्यं ददानो महायशःस्थानं भविष्यति । यदि न दीयते ततः किमित्याह—अपूरितजलपानाभिलाषे क्षारसमुद्रे मथितोऽयं देवैर्बद्धोऽयं रामेण पीतोऽयं कुम्भोद्भवेनेत्यपवादमुत्पादयामासुर्जनाः तस्मादवश्यं पात्राय दातव्यमिति ॥३६॥ नितान्तेति—कृपणद्रव्येण महापातकं कृतं, न कृतमिति चेत्पृथ्वीतलोष्मणा कथं प्रतिदिनमन्यथा पापच्यते । न दृष्टो लोकव्यवहारो येन तत्तथाभूतम् ॥३७॥

दुर्मति फलकी इच्छासे समूल वृक्षको उखाड़ना चाहता है ॥३२॥ जो इस समय नतवर्ग-सम्पदा—सेवकादि समूहकी सम्पत्तिकी और आगामी कालमें अपवर्ग—मोक्षकी इच्छा करता है [पक्षमें तवर्ग और पवर्गकी इच्छा नहीं करता] वह बुद्धिमान् निर्बाध रूपसे क्रमशः सर्वप्रथम त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और कामकी ही सेवा करता है [पक्षमें—कवर्ग, चवर्ग और टवर्ग] इन तीन वर्गोंकी ही सेवा करता है ॥३३॥ गुरुओंकी विनयको प्रदर्शित करता हुआ राजा इस लोक तथा परलोक—दोनों ही जगह मंगलका स्थान होता है। यदि वही राजा अविनीत—विनय हीन [पक्षमें अवि—मेष रूप वाहन पर भ्रमण करने वाला] हुआ तो अग्निके समान प्रज्वलित होता हुआ अपने समस्त आश्रयको जला देता है ॥३४॥ धन देता हुआ भी राजा उस प्रकार सन्तोषदायक नहीं होता जिस प्रकार कि सामका प्रयोग करता हुआ सन्तोषदायक होता है अतः अर्थ सिद्धिके विषयमें अन्य उपाय सामके साम्राज्यकी तुला पर नहीं बैठ सकते ॥३५॥ सत्पात्रके लिए इच्छित पदार्थ प्रदान करते हुए तुम इस लोकमें प्रसिद्धिके परम पात्र होगे। जिसकी तृष्णा समाप्त नहीं हुई ऐसे समुद्रके विषयमें याचक जन 'यह रामचन्द्रजीके द्वारा बाँधा गया' और 'अगस्त्य मुनिके द्वारा पिया गया' आदि क्या क्या अपवाद नहीं करते ? ॥३६॥ यदि फैलते हुए कृपण मनुष्यके धनके द्वारा अत्यन्त भयंकर पाप

१. प्रकाशयन् म० घ० । २. प्रसर्पते म० घ० ।

सुमन्त्रबीजोपचयः कुतोऽप्यसौ परप्रयोगादिह भेदमीयिवान् ।
सुरक्षणीयो निपुणैः फलार्थिभिर्यतः स भिन्नो न पुनः प्ररोहति ।।३८।।
पथि प्रवृत्तं विषमे महीभृतां नितान्तमस्थाननिवेशितो[1] भ्रमात् ।
स्वमन्धमाख्याति निपातयत्यपि प्रसह्य दण्डः खलु दण्डधारकम् ।।३९।।
धिनोति मित्राणि न पाति न प्रजा बिभर्ति भृत्यानपि नार्थसंपदा ।
न यः स्वतुल्यान्विदधाति बान्धवान्स राजशब्दप्रतिपत्तिभाक्कथम् ।।४०।।
विचारयैतद्यदि केऽपि बान्धवा महाकविभ्योऽपि परे महीभुजः ।
यदीयसूक्तामृतसीकरैरसौ गतोऽपि पञ्चत्वमिहाशु जीवति ।।४१।।
इहोपभुक्ता कतमैर्न मेदिनी परं न केनापि जगाम सा समम् ।
फलं तु तस्याः सकलादिपार्थिवस्फुरद्गुणग्रामनयोर्जितं[2] यशः ।।४२।।
किमुच्यतेऽन्यद्गुणरत्नभूषणैर्विभूषयात्मानमनन्यसंनिभैः ।
स्वभावलोला अपि यैर्विलोभिताः श्रियो न मुञ्चन्ति कदाचिदन्तिकम् ।।४३।।

रत्नालंकरणैरात्मानमलंकुरु यैः स्वभावचपला अपि विलोभिता लक्ष्म्यः कदापि न समीपं मुञ्चन्ति ।।४३।। **सुमन्त्रेति**—मन्त्रभेदो रक्षितव्यः कस्मात्परप्रयोगादरिनीतिबलात् । यतोऽसौ मन्त्रप्रयोगो वत नोदितः सन् पुनर्न कार्यं करोति । ज्ञाते मन्त्रार्थे तद्विधिं प्रति शत्रुणा दृढं प्रतिविधीयत इत्यर्थः ।।३८।। **पथीति**—दण्डो यथोचितनिग्रहोऽनुचितपुरुषेषु कृतो 'निर्बुद्धिरन्ध इवायं राजा' इत्यपवादमुत्पादयति । विषमे दुरवगाहे मार्गे राज्ञां प्रवृत्तं दण्डकारकं पार्थिवं पातयति च । यथा कस्यचित्पर्वतभूमौ विचलितस्य गर्तादौ निवेशिता यष्टिरन्धं कथयति न केवलं तथा पातयति च ।।३९।। **धिनोतीति**—यो मित्राणि न प्रीणयति, निजप्रजां न रक्षति, सेवकान्न पोषयति, अर्थसम्पत्त्या सहोदरांश्च निजतुल्यान्न करोति कथं स राजा स्यात् । ।।४०।। **विचारयेति**—एतच्च तत्त्वं मनसि विचारय यदि महाकविभ्योऽपि स्वजना अपरे भूपस्य सन्ति यतः कारणाद्येषां महाकवीनां वचनामृतबिन्दुभिर्मृता अपि जीवन्त इव पूर्वे नृपाः तथा चोक्तं 'अतीतोऽपि महाकविप्रबन्धे नायकीभूतः प्रत्यक्ष इव' ।।४१।। **इहेति**—इह मनुष्यलोके कैः कैर्न भूपैः पृथिवी न भुक्ता परं सा न केनापि सार्द्धं गता । एतावन्मात्रमेव फलमस्याश्चिरन्तनराजाधिकं यश उपार्ज्यते ।।४२।। **किमिति**—अतः परं किमुच्यते । अनन्यसाधारणैर्गुण-

न किया होता तो वह लोकव्यवहारसे रहित हो प्रतिदिन पृथिवीतलकी ऊष्मासे क्यों पचता ? ।।३७।। शत्रुके किसी भी प्रयोगसे भेदको प्राप्त होने वाला यह सुमन्त्ररूपी बीजोंका समूह फलकी इच्छा रखनेवाले चतुर मनुष्योंके द्वारा अच्छी तरह रक्षा करने योग्य है क्योंकि यह एक बार भेदको प्राप्त हुआ नहीं कि फिर जम नहीं सकता ।।३८।। राजाओंके विषममार्गमें प्रवृत्त तीव्र दण्डधारकको, भ्रमवश अनुचित स्थानमें दिया हुआ दण्ड अपनेको अन्धा सूचित करता है और उसे बलपूर्वक पतित भी कर देता है--गिरा देता है ।।३९।। जो न मित्रोंको सन्तुष्ट करता है, न प्रजाकी रक्षा करता है, न भृत्योंका भरण-पोषण करता है, और न अर्थ रूप सम्पत्तिके द्वारा भाई-बन्धुओंको अपने समान ही बनाता है वह राजा कैसे कहलाता है ? ।।४०।। इस लोकमें मृत्युको प्राप्त हुआ भी राजा जिनके सुभाषित रूपी अमृतके कणोंसे शीघ्र ही जीवित हो जाता है उन महाकवियोंसे भी बढ़ कर यदि उसके कोई बान्धव है तो इसका विचार करो ।।४१।। यह पृथिवी किन किनके द्वारा उपभुक्त नहीं हुई परन्तु किसीके भी साथ नहीं गयी फिर भी समस्त राजाओंके देदीप्यमान गुणसमूहकी नीतिसे उत्पन्न सुयश उस पृथिवीका फल कहा जा सकता है ।।४२।। अधिक क्या कहा जाय ? तुम उन अनन्यतुल्य गुणरूपी रत्नमयी आभूषणोंसे अपने आपको विभूषित करो जिनके द्वारा लुभायी हुई लक्ष्मियाँ स्वभावसे चंचल

१. निवेशिनो म० घ० । २. जयोर्मितं म० घ० ।

इति प्रमोदादनुशास्य भूपतिस्तदैव दैवज्ञनिवेदितेऽहनि ।
बलादनिच्छन्तमपि न्यवीविशत्स धर्ममुच्चैरभिषेकपट्टके ॥४४॥

अथैष मूर्च्छत्सु मृदङ्गझल्लरीस्वनेषु रङ्गत्यपि मङ्गलध्वनौ ।
चकार चामोकरकुम्भवारिभिर्महाभिषेकं स्वयमस्य भूपतिः ॥४५॥

सभूषणे तत्परिधाप्य वाससी निवेशितस्यास्य मृगाधिपासने ।
स्वयं दधत्काञ्चनदण्डमञ्जसा पुरः प्रतीहारनियोगमादधे ॥४६॥

प्रसीद दृष्ट्या स्वयमेष नैषधो नमत्यवन्तीपतिरेष सेवते ।
इदं पुरः प्राभृतमङ्गभूपतेरयं स कीरो विनयेन भाषते ॥४७॥

सितातपत्रं द्रविडो बिभर्त्यसौ सचामरौ केरलकुन्तलाविमौ ।
इति प्रियैरप्यपदानुवर्तिनः पितुर्वचोभिः शुचमेव सोऽवहत् ॥४८॥

प्रभाकरे गच्छति वृद्धिमेकतः कलानिधौ राज्ञि विवृत्तिमन्यतः ।
रराज राज्यं रजनीविरामवत्तदा न नक्षत्रविशेषशोभितम् ॥४९॥

इतीति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण शिक्षयित्वा तस्मिन्नेव दिने गणकनिर्धारितेऽनभिलषन्तमपि बलादभिषेकपट्टके राज्याभिषेकसिंहासने श्रीधर्मनाथं निवेशयामास ॥४४॥ अथेति—अथानन्तरमयं महासेनो राजा मङ्गलतूर्येषु वाद्यमानेषु सुवासिनीमङ्गलगीते च प्रगीयमाने सुवर्णकलशसलिलैरस्य स्वयमेवाभिषेकं चकार ॥४५॥ सभूषण इति—अस्य गृहीतकटककुण्डलादिविभूषणस्यालंकृतमङ्गलक्षौमस्य राज्यसिंहासनस्थापितस्याग्रे राजा स्वयमेव कनकदण्डं गृहीत्वा प्रतीहारपदं विदधे ॥४६॥ प्रसीदेति—हे धर्मनाथ ! दृष्ट्या प्रसादं कुरु, एष निषधपतिः प्रणमति, अयं च मालवपतिः सविनयं सेवते, इदमग्रतः प्रथमं प्राभृतमङ्गभूपस्य, कीरदेशाधिपो विनयेन किमपि विज्ञपयति ॥४७॥ सितेति—अयं द्रविडनाथः सितं छत्रं धत्ते, इमौ च केरलकुन्तलेश्वरौ कृतवालव्यजनौ, इति मनोरञ्जकैरपि मुक्तजनपदजनकवचनैः पितृवत्सलत्वाद्धर्मनाथः शोकमेव बभार ॥४८॥ प्रभाकर इति—तदा तद्राज्यं कृतराज्याभिषेके धर्मनाथे, महासेने च तपोवनं जिगमिषौ प्रभातसदृशं विभाति स्म । यथा प्रभातं सूर्येऽभ्युदयं गच्छति चन्द्रे चास्तमयमाने नक्षत्रविशेषैर्न शोभितं किन्तु तदवस्थमेव । प्रभाकर-धर्मनाथयोश्चन्द्रमहासेनयो राज्यप्रभातयोश्चोपमानोपमेयभावः । कलाः स्वतो विशेषाभिर्लिखितपठितादि-

होने पर भी कभी समीपता नहीं छोड़तीं ॥४३॥ इस प्रकार हर्षके साथ उपदेश देकर महासेन महाराजने ज्योतिषियोंके द्वारा बतलाये हुए उसी दिन श्रीधर्मनाथको उनके स्वयं न चाहने पर भी अभिषेक पीठ पर जबरदस्ती बैठाया ॥४४॥ तदनन्तर, जब कि मृदंग और झल्लरीके शब्द बढ़ रहे थे तथा मंगलध्वनि सब ओर फैल रही थी तब राजा महासेनने सुवर्णकलशके जलसे स्वयं ही उनका महाभिषेक किया ॥४५॥ स्वयं ही आभूषण सहित वस्त्र पहिना कर सिंहासन पर बैठाया और स्वयं ही सुवर्णका दण्ड लेकर उनके आगे प्रतिहारका कार्य करने लगे ॥४६॥ दृष्टि द्वारा प्रसन्न होओ, यह नैषध स्वयं ही नमस्कार कर रहा है, यह अवन्तीश्वर स्वयं सेवा कर रहा है, यह सामने अंग देशके राजाकी भेंट रखी है, और यह कीर देशका राजा विनयपूर्वक भाषण कर रहा है ॥४७॥ यह द्रविडनरेश सफेद छत्र धारण कर रहा है और ये केरल तथा कुन्तल देशके राजा चमर लिये हुए हैं—इस प्रकार अनुचित स्थान पर विद्यमान पिताके वचन यद्यपि प्रिय थे फिर भी यह धर्मनाथ उनसे शोकको ही प्राप्त हो रहे थे ॥४८॥ उस समय एक ओर तो प्रभाके आकर भगवान् धर्मनाथ रूपी सूर्य वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे और दूसरी ओर कलाओंके निधि राजा महासेन रूपी चन्द्रमा निवृत्तिको प्राप्त हो रहे थे अतः वह राज्य रात्रिके अवसानके समान सुशोभित नहीं हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार रात्रिका अवसान काल नक्षत्रविशेषसे—खास-खास नक्षत्रोंसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह राज्य

पुरा त्रिलोक्यामपि मन्दरे सुरैः कृतेऽभिषेके किमिदं पुनः पुनः ।
इति स्फुरद्दन्तरुचेव निर्मलं नभोऽट्टहासं पटहस्वनैर्व्यधात् ॥५०॥
कृताभिषेको न परं स गामिमां प्रसूनगन्धोदकरत्नवृष्टिभिः ।
दुदोह कामान् दिवमप्यसंशयं किमस्त्यसाध्यं सुकृतात्मनामपि ॥५१॥
स पञ्जरेभ्यः कलकेलिपक्षिणो विपक्षबन्दीश्च विमोचयन्नृपः ।
मनोरथादप्यधिकं ददत्तदा प्रवर्तयामास न कस्य संमदम् ॥५२॥
जनेषु गायत्सु जगौ प्रतिस्वनैर्ननर्त नृत्यत्स्वपि लोलकेतुभिः ।
अवाप्य संहर्षमिवोत्सवे प्रभोर्मुदा न किं किं विदधे तदा पुरम्[1] ॥५३॥
इति व्यतिक्रम्य दिनानि कानिचिन्महोत्सवेऽस्मिञ्जरठीभवत्यपि ।
स पुत्रमापृच्छ्य तपश्चिकीर्षया ययौ महासेनमहीपतिर्वनम् ॥५४॥
अथ श्लथीभूतविमोहबन्धनोऽप्यसौ वियोगात्पितुरन्वतप्यत ।
अवेत्य संसारगतिं ततः स्वयं प्रबुद्धमार्गः समचिन्तयत्प्रजाः ॥५५॥

भिश्च । प्रभा प्रतापो दीप्तिश्च ॥४९॥ पुरेति—पूर्वं महेन्द्रगणैर्मन्दरमस्तकाभिषेके त्रिभुवनराज्ये भगवान् प्रतिष्ठितः तत्किमिदं पौनःपुन्येन राज्याभिषेचनमिति प्रभुभावनिर्मलं दन्तप्रभाभिरिव धवलं महाट्टहासं पटहस्वनव्याजाद् गगनं कर्तृ चकार । तदा निर्मलं नभो दुन्दुभिनिनादश्च बभूवेत्यर्थः ॥५०॥ कृतेति—स श्रीधर्मनाथः साम्राज्यदीक्षितो न केवलं भूमिमेव वाञ्छितं दुग्धवान् पुष्पगन्धोदकरत्नवृष्टिव्याजेनाभिलषितं निश्चितं गगनमपि दुदोह । पुण्यात्मनां न किमप्यसाध्यं किन्तु सर्वमपि साध्यम् ॥५१॥ स इति—स शुकसारिकादीन् शत्रुबन्दीश्च मोचयन् याचिताधिकं द्रव्यं च ददानः कस्य संमदहेतवे न बभूव । पक्षिणां शत्रूणां च स विशेषहर्षहेतुरिति भावः ॥५२॥ जनेष्विति—पुरं कर्तृ जनेषु गीतं कुर्वत्सु प्रतिध्वानैर्गीतं चकार नटत्सु च नटयांचकार चञ्चलकेतुभिः । नगरेणापि हर्षवशात् तदा गीतनृत्यादिकं सर्वं कृतमिति भावः ॥५३॥ इतीति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण तस्मिन्प्रभौ राज्यं प्रतिपालयति राजा तं मुत्कलाप्य (?) ततो वनाय प्रतस्थे ॥५४॥ अथेति—अथानन्तरं महासेने प्रव्रजिते श्लथीभूतममत्वमूर्च्छाविशेषो जनकविरहादनुतापं कृतवान् । तदनु संसारमीदृशस्वरूपं परिज्ञाय लोकस्थितिं विलोकयांचकार । राज्यभारं यथोचितमूढवानित्यर्थः ॥५५॥

भी नक्षत्र-विशेष सुशोभित—क्षत्रिय विशेषसे सुशोभित नहीं था ॥४९॥ पहले तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ सुमेरु पर्वत पर देवोंके द्वारा इनका अभिषेक किया जा चुका है फिर यह बार बार क्यों किया जा रहा है ? इस प्रकार दाँतों की कान्तिसे ही सुशोभित निर्मल आकाश नगाड़ोंके शब्दोंके बहाने मानो अट्टहास ही कर रहा था ॥५०॥ जिनका अभिषेक किया जा चुका है ऐसे भगवान् धर्मनाथने केवल इसी पृथिवीको ही नहीं किन्तु पुष्प गन्धोदक और रत्न वृष्टिके द्वारा आकाश अथवा स्वर्गको भी निःसन्देह दोह डाला था सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यात्मा पुरुषोंको क्या असाध्य है ? ॥५१॥ पिंजरोंसे क्रीडाके मनोहर पक्षियोंको और [कारावाससे] शत्रु बन्दियोंको मुक्त कराते एवं मनोरथसे भी अधिक धन देते हुए उन्होंने किसका आनन्द नहीं बढ़ाया था ? ॥५२॥ उस समय वह नगर लोगोंके गाने पर प्रतिध्वनिके द्वारा स्वयं गा रहा था और नृत्य करने पर चंचल पताकाओंके द्वारा नृत्य भी कर रहा था । इस प्रकार प्रभुके उत्सवमें हर्षित होकर आनन्दसे क्या क्या नहीं कर रहा था ? ॥५३॥ इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत कर जब वह महोत्सव पुराना हो गया तब महासेन महाराज पुत्रसे पूछ कर तप करने की इच्छासे वनमें चले गये ॥५४॥ यद्यपि भगवान् धर्मनाथके मोह रूपी बन्धन शिथिल थे तथापि वह पिताके वियोगसे बहुत सन्तप्त हुए । तदनन्तर संसारका

१. पुरे छ० ।

प्रजाः प्रशस्याः खलु ताः स्मरन्त्यमुं जिनेश्वरं याः प्रविधूतकल्मषम् ।
स्तुमः कथं तत्सुकृतानि चिन्तनं चकार यासां स्वयमेव स प्रभुः ॥५६॥
क्वचिन्न चक्रे करवालकर्षणं न चापरागं विदधे कमप्यसौ ।
स कोमलेनैव करेण लालयन्वशीचकारैकवधूमिव क्षितिम् ॥५७॥
गुणार्णवं नम्रनरामरोरगस्फुरत्किरीटोच्चयचुम्बितक्रमम् ।
पतिं समासाद्य मही महीयसी बभूव लोकद्वितयादपि ध्रुवम् ॥५८॥
न चापमृत्युर्न च रोगसंचयो बभूव दुर्भिक्षभयं न च क्वचित् ।
महोदये शासति तत्र मेदिनीं ननन्दुरानन्दजुषश्चिरं प्रजाः ॥५९॥
ववौ समीरः सुखहेतुरङ्गिनां हिमादिवोष्णादपि नाभवद्भयम् ।
प्रभोः प्रभावात्सकलेऽपि भूतले स कामवर्षी जलदोऽप्यजायत ॥६०॥
ध्रुवं भुजस्तम्भनियन्त्रिता गुणैरनेन गाढं करिणीकृताचला ।
कुतोऽन्यथा भूभृदुपायनच्छलात्समाययुः काममदोद्धता गजाः ॥६१॥

प्रजा इति—ते लोका धन्या ये निर्दोषं जिनं ध्यायन्ति । येषां पुनः स्वयमेव स प्रभुश्चिन्तां चकार तेषां पुण्यानि कथं वयं स्तोतुं शक्नुमः । तस्य राज्यसमये ये जनास्ते महाधन्याः ॥५६॥ क्वचिदिति—स प्रभुः समुद्रसीमभूवलयं निजभोग्यं चकार तर्हि समरसंकटमार्दनकदर्थितो भविष्यति । तन्न, क्वचिदपि खड्गं नाकृष्टवान् न च कमपि विरागं कृतवान् । किंच सुखदेयराजभागादानेन यथा कश्चित् हस्तकुन्तलाकर्षणमकुर्वन् चित्तखेदं चानुत्पाजयन् कोमलकरस्पर्शेनैव नवोढां सुखाकुर्वन् वशीकरोति ॥५७॥ गुणेति—तं गुणसमुद्रं प्रभुं नतनरेन्द्रस्फुरन्मुकुटकोटिसंघटितपादं प्राप्य स्वर्गपातालाभ्यां पृथ्वी पृथ्वी बभूव । यतः पातालस्वर्गयोरपि नाथास्तं त्रिसन्ध्यं सेवन्ते ॥५८॥ नेति—तस्मिन्प्रभौ प्रजां पालयत्पूर्णायुर्मरणं न बभूव । यदि अहिविषकण्टकविद्युदादिभिर्मरणमपमृत्युः । न च रोगसंभवो न च दुर्भिक्षागमः । महाप्रमोदा जना नन्दन्ति स्म ॥५९॥ ववाविति—किंच सुखस्पर्शो वायुर्वाति स्म न च चण्डवेगः । शीतग्रीष्मकालौ च न दुःखोत्पादकौ । तस्य प्रभोः प्रभावान्मेघोऽप्यभिलषितं जलं वर्षति स्म ॥६०॥ ध्रुवमिति—निश्चितं तेन प्रभुणा पृथ्वी भुजस्तम्भबद्धा गुणैः करदीकृता । तथाहि समस्तराजप्राभृतनिवेशिता गजाः समायान्ति । पक्षे करिणीकृता हस्तिनी पृथ्वी गुणैर्वारीभिः स्तम्भे

स्वरूप समझ उन्होंने स्वयं कर्तव्यमार्गका निश्चय किया और प्रजाकी चिन्ता करने लगे ॥५५॥ वह प्रजा प्रशंसनीय है जो कि पापको नष्ट करनेवाले इन जिनेन्द्रका सदा स्मरण करती है परन्तु उस प्रजाके पुण्यकी हम किस प्रकार स्तुति करें जिसकी चिन्ता वह जिनेन्द्र ही स्वयं करते थे ॥५६॥ उन्होंने न तो कभी करवाल कर्षण—तलवारका कर्षण किया था [पक्षमें हस्त और बाल पकड़ कर खींचे थे] और न कभी चापराग—धनुषमें प्रेम [पक्षमें अपराग—विद्वेष] ही किया था। केवल कोमल कर—टैक्स [पक्षमें हाथ] से ही लालन कर स्त्रीके समान पृथिवीको वश कर लिया था ॥५७॥ जिनके चरण नम्रीभूत मनुष्य, देव और नागकुमारोंके देदीप्यमान मुकुटोंके समूहसे चुम्बित हो रहे थे ऐसे गुणसागर श्रीधर्मनाथ स्वामीको पति पाकर यह पृथिवी अन्य दोनों लोकोंसे सदा के लिए श्रेष्ठ हो गयी थी ॥५८॥ महान् वैभवके धारक भगवान् धर्मनाथ जब पृथिवीका शासन कर रहे थे तब न अकालमरण था, न रोगोंका समूह था, और न कहीं दुर्भिक्षका भय ही था। आनन्दको प्राप्त हुई प्रजा चिरकाल तक समृद्धिको प्राप्त होती रही ॥५९॥ उस समय भगवान्के प्रभावसे समस्त पृथिवी तल पर प्राणियोंको सुखका कारण वायु बह रहा था, सर्दी और गरमीसे भी किसीको भय नहीं था और मेघ भी इच्छानुसार वर्षा करनेवाला हो गया था ॥६०॥ ऐसा जान पड़ता है कि इन धर्मनाथ स्वामीने गुणोंके द्वारा [पक्षमें रस्सियोंके द्वारा] अपनी भुजा रूप

अजस्रमासीद्घनसंपदागमो [1]न वारिसंपत्तिरदृश्यत क्वचित् ।
महौजसि त्रातरि सर्वतः सतां सदा पराभूतिरभूदिहाद्भुतम् ॥६२॥

न नीरसत्त्वं सलिलाशयादृते दधावधः पङ्कजमेव सद्गुणान् ।
अभूदधर्मद्विषि तत्र राजनि त्रिलोचने यद्यजिनानुरागिता ॥६३॥

प्रसह्य रक्षत्यपि नीतिमक्षतामभूदनीतिः सुखभाजनं जनः ।
भयापहारिण्यपि तत्र सर्वतः [2]क्व नाम नासीत्प्रभयान्वितः क्षितौ ॥६४॥

त्रिसन्ध्यमागत्य पुरन्दराज्ञया सुराङ्गना दर्शितभूरिविभ्रमाः ।
वितन्वते स्म स्मरराजशासनं सुखाय संगीतकमस्य वेश्मनि ॥६५॥

नियन्त्रिता । तथाहि कामकदर्थितात् स्पर्शलुब्धा मत्तगजाः समायान्ति पक्षे कामं मदोद्धताः ॥६१॥ अजस्रमिति-- तत्र महस्विनि भूपाले प्रचुरद्रव्यागमो बभूव न च वा शत्रुसंपरायः क्वचिदपि दृष्टः । सतां साधूनां परा अनन्यसदृशी भूतिः प्रभावलक्ष्मीरभूत् । एतच्चेहाद्भुतं चित्रं यन्मेघसंपदागमे सलिलसंपत्तिर्नासीत् । साधूनां परोत्कृष्टा भस्मसंपत्तिरिति वर्णविरोधोऽयमलंकारः ॥६२॥ **नेति**—नीरस्य सत्त्वं बलं नीरसत्त्वं पक्षे मूर्खत्वं तडाग एव । गुणांस्तन्तून् नालाश्रितान् पद्ममेवाधोभागे चकार नान्यः कश्चिद्गुणाधःकारी । तत्र धर्मविजयिनि अजिनानुरागिता चर्माच्छादनाभिलाषः शंकर एव । अन्यः सर्वोऽपि जनः आर्हत एवेति परिसंख्येयमलंकृतिः ॥६३॥ **प्रसह्येति**—तस्मिन्प्रभौ बलात्कारेण नीतिं पालयत्यपि जनो निरीतिरासीत् अतिवृष्टिप्रभृतीतिसप्तकरहितः । सर्वभयापहारके प्रभयान्वितः प्रकृष्टतेजसा युक्तः । यत्र नीतिस्तत्रानीतिः कथम् । भयापहारके प्रकृष्टभययुक्त इति विरोधः ॥६४॥ **त्रिसन्ध्यमिति**—इन्द्रादेशाद्रम्भादयो देवाङ्गना आगत्य अस्याग्रतः प्रेक्षणकं चक्रुस्त्रि-

---

स्तम्भमें अतिशय निबद्ध पृथिवीको करिणी—हस्तिनी [पक्षमें टैक्स देने वाली] बना लिया था। यदि ऐसा न होता तो राजाओंके उपहारके छलसे कामके मदसे उद्धत हाथी क्यों आते ? ॥६१॥ अतिशय तेजस्वी भगवान् धर्मनाथके सब ओर सज्जनोंकी रक्षा करने पर घन-सम्पदागम—मेघ रूपी सम्पत्तिका आगम [पक्षमें अधिक सम्पत्तिकी प्राप्ति] निरन्तर रहता था किन्तु वारिसम्पत्ति—जल रूप सम्पदा [पक्षमें शत्रुओंकी सम्पदा] कहीं नहीं दिखाई देती थी और सदा पराभूति—अत्यधिक भस्म अथवा अपमान [पक्षमें उत्कृष्ट वैभव] ही दिखता था—यह भारी आश्चर्यकी बात थी ॥६२॥ अधर्मके साथ द्वेष करनेवाले भगवान् धर्मनाथके राजा रहने पर नीरसत्व—जलका सद्भाव जलाशयके सिवाय किसी अन्य स्थान में नहीं था, [पक्षमें नीरसता किसी अन्य मनुष्यमें नहीं थी], सद्गुणोंको—मृणाल तन्तुओं को कमल ही नीचे धारण करता था, अन्य कोई सद्गुणों—उत्तमगुणवान् मनुष्योंका तिरस्कार नहीं करता था और अजिनानुरागिता—चर्मसे प्रीति महादेवजीमें ही थी, अन्य किसीमें अजिनानुरागिता—जिनेन्द्र विषयक अनुरागका अभाव अथवा जिनेन्द्रातिरिक्त देव विषयक अनुराग नहीं था ॥६३॥ यद्यपि भगवान् धर्मनाथ अखण्डित नीतिकी रक्षा करते थे फिर भी लोग अनीति—नीति रहित [पक्षमें अतिवृष्टि आदि ईति रहित] होकर सुखके पात्र थे और वे यद्यपि पृथिवीमें सब ओर भयका अपहरण करते थे फिर भी प्रभयान्वित—अधिक भयसे सहित [पक्षमें प्रभासे सहित] कहाँ नहीं था। सर्वत्र था ॥६४॥ अत्यधिक हाव-भाव चेष्टाएँ दिखलाने वाली देवांगनाएँ इन्द्रकी आज्ञासे तीनों सन्ध्याओंके समय इनके घर

---

१. स वारि म० घ० । २. को म० ।

वक्त्राब्जेन जयश्रियं विकसता क्रोडीकृतां दर्शयन्
हस्तोदस्तजयध्वजेन विदधद्व्यक्तामथैनां पुनः ।
एकः प्राप सुषेणसैन्यपतिना संप्रेषितः संसदं
तस्यानेकनृपप्रवर्तितसमिद्वृत्तान्तविद्वार्तिकः ॥६६॥

प्रणतशिरसा तेनानुज्ञामवाप्य जगत्पतेः
कथयितुमुपक्रान्ते मूलादिहाजिपराक्रमे ।
श्रवणमयतामन्यान्यापुस्तदेकरसोदया-
दपरविषयव्यावृत्तानीन्द्रियाणि सभासदाम् ॥६७॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
राज्याभिषेको नामाष्टादशः सर्गः ॥१८॥

सन्ध्यम् ॥६५॥ वक्त्राब्जेनेति—सुषेणसेनापतिप्रहितो लेखहरः सभां प्रविश्य विविधराजकृतसंग्रामवृत्तान्तवेदी समाजगाम । किं कुर्वन्नित्याह—विकसता मुखेन जयलक्ष्मीं क्रोडीकृतां दर्शयन्, हस्तगृहीतोद्ध्वजयपताकेन च तामेव व्यक्तां विदधानः, जयपताकां गृहीत्वा दूतः समागत इति भावः ॥६६॥ प्रणतेति—तेन दूतेन विनयपरेण प्रभोरनुज्ञां गृहीत्वा कथयितुमारब्धे समूलं समरव्यतिकरे सभ्यजनानामपरेन्द्रियाणि कर्णमयतां प्रापुः । औत्सुक्यैकरसश्रवणाभिलाषेण निजविषयपराङ्मुखानि । एकाग्रचित्तेन सर्वे सभ्याः शुश्रूषवो बभूवुरित्यर्थः ॥६७॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देह-
ध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायामष्टादशः सर्गः ॥१८॥

आकर सुखके लिए कामवर्धक संगीत करती थीं ॥६५॥ तदनन्तर सुषेण सेनापतिके द्वारा भेजा, अनेक राजाओंके द्वारा प्रवर्तित युद्धके वृत्तान्तको जाननेवाला वह दूत उनकी सभा में आया जो कि अपने खिले हुए मुख-कमलके द्वारा पहले तो विजयलक्ष्मीको अप्रकट रूपसे दिखला रहा था और तत्पश्चात् हस्त उठायी हुई विजयपताकाके द्वारा उसे स्पष्ट ही प्रकट रहा था ॥६६॥ उस नतमस्तक दूतने जगदीश्वरकी आज्ञा प्राप्त कर जब प्रारम्भसे ही युद्धके पराक्रमका वर्णन करना शुरू किया तब सभासदोंकी इन्द्रियाँ उसी एकके सुननेमें अत्यधिक स्नेह होनेके कारण अन्य अन्य विषयोंसे व्यावृत्त होकर श्रवणमयताको प्राप्त हुई थीं—मानो कर्ण रूप हो गयी थीं ॥६७॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें
राज्याभिषेकका वर्णन करने वाला अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८॥

एकोनविंशः सर्गः

आहवक्रममामूलमथ दूतः पुरः प्रभोः। आह वक्रममामूलमिति विद्वेषिभूभुजाम् ॥१॥

कार्यशेषमशेषज्ञोऽशेषयित्वा स निर्ययौ। यावत्संबन्धिनो देशात्सुषेणः सह सेनया ॥२॥

तावदङ्गादयः क्षोणीभुजो दाराधियातया। वामयास्यानुजग्मुस्ते भुजोदारा धिया तया ॥३॥

[युग्मम्]

अथ तैः प्रेषितो दूतः पृथ्वीनाथैर्युयुत्सुभिः। साक्षाद्गर्व इवागत्य तमवोचच्चमूपतिम् ॥४॥

त्वं क्षमो भुवनस्यापि तेने नेन प्रभास्वतः। तवानूना चमूचक्रे तेनेऽनेन प्रभा स्वतः ॥५॥

तवानूरोरिवाकाशे प्रभुभक्तिर्न बाधिका। अग्रेसरी पुनः किं न वारिराशौ निमज्जतः ॥६॥

आहवेति—अथ सुषेणसेनापतिप्रेषितो दूतः प्रभोः श्रीधर्मनाथस्य पुरः आमूलमाहवक्रमं संग्रामक्रममाह। कथंभूतम्। वक्रं विषमम् अतएव अमामूलम् अलक्ष्मीमूलम्। केषाम्। विद्वेषिभूभुजाम्। कथम्। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ॥१॥ कार्येति—यावत्सुषेणः संबन्धिनो देशान्निर्गतस्तावत्तेऽङ्गादयः क्षोणीभुजोऽस्यानुजग्मुरस्य पृष्ठतो लग्नाः। कथंभूताः। भुजोदाराः बाहुवीर्यशालिनः। कया। तया धिया। किंविशिष्टया। वामया वक्रया। ननु ईदृशी बुद्धिः वक्रा कुतो जाता तेषाम्। तत्राह—दाराधियातया शृङ्गारवतीसकाशात्समुत्पन्नमनःपीडायाः प्राप्तयेत्यर्थः ॥२-३॥ अथेति—अनन्तरं तैरङ्गादिभिर्युयुत्सुभिः प्रेषितो दूतस्तं चमूपतिमाह ॥४॥ त्वमिति—त्वं भुवनस्यापि क्षमो भुवनमध्ये त्वं सामर्थ्ययुक्तः। तेन कारणेन अनेन इनेन स्वामिना तव प्रभा स्वभावतः प्रभायुक्तस्य चमूचक्रे सेनासमूहे प्रभा तेने। प्रभुत्वं दत्तं। स्वतः स्वस्मात् सेवा कृतेत्यर्थः ॥५॥ तवेति—तव प्रभुशक्तिर्न बाधिका नोपद्रवकारणम्। कस्येव। अनूरोरिव। क्व। आकाशे गगने अन्यत्र शून्ये अरिराशौ पुनर्निमज्जतः सैव प्रभुशक्तिः किं अग्रेसरो न भवति। अपि तु भवत्येव। नवा इत्यव्ययपदं निषेधे। अरुणपक्षे

तदनन्तर जो वक्र है और शत्रुराजाओंकी अलक्ष्मीका मूल कारण है ऐसे युद्धक्रमको वह दूत प्रारम्भसे ही भगवान् धर्मनाथके आगे निम्न प्रकार कहने लगा ॥१॥ उसने कहा कि समस्त कार्योंको जानने वाला सुषेण सेनापति अवशिष्ट कार्यको पूरा कर ज्योंही अपनी सेनाके साथ सम्बन्धीके देशसे बाहर निकला त्योंही स्त्री सम्बन्धी मानसिक व्यथासे प्राप्त हुई कुटिल बुद्धिसे उपलक्षित एवं उत्कृष्ट भुजाओंसे युक्त अंग आदि देशोंके राजा उसके पीछे हो लिये ॥२-३॥ तदनन्तर युद्धकी इच्छा रखनेवाले उन राजाओंने सर्व प्रथम एक दूत भेजा और वह दूत साक्षात् अहंकारके समान सेनापति सुषेणके पास आकर कहने लगा ॥४॥ चूँकि आप स्वयं तेजस्वी हैं और उस पर भी जगत्के स्वामी भगवान् धर्मनाथके द्वारा आपकी सेनाके समूह पर स्वयं ही उत्कृष्ट प्रभा विस्तृत की जा रही है अतः आप सब तरहसे समर्थ हैं ॥५॥ किन्तु जिस प्रकार सूर्यसारथिकी जो प्रभुत्वशक्ति आकाशमें नयी नयी और अधिक अधिक होती रहती है उसकी वही शक्ति समुद्रमें निमग्न होते समय क्या उसके अग्रेसर नहीं होती? अवश्य होती है, उसी प्रकार आपकी जो प्रभुत्व शक्ति आकाशकी तरह शून्य प्रदेशमें प्रतिक्षण नयी नयी और अधिक अधिक होती रहती है अथवा किसीसे बाधित नहीं होती है, आपकी वही शक्ति शत्रुओंके समूहमें निमग्न होते समय—नष्ट होते समय क्या आपके अग्रेसर नहीं होगी? अवश्य होगी अर्थात् शत्रुओंके बीच आते ही आपकी समस्त प्रभुत्व शक्ति नष्ट

चतुरङ्गां चमूं त्यक्त्वा चतुरं गां गतः कथम् । प्रभयाधिकरक्षां स प्रभयाधिगतोऽवति ।।७।।
कार्मणेनैव तेनोढा सा श्रृङ्गारवतीति यः । साशङ्कस्ते कृतः पत्या राजवर्गः प्रणश्यता ।।८।।
नवमायोधनं शक्त्यानवमायो धनं ददत् । समनागबलः कर्तुं स मनागवलत्त्वया ।।९।। [युग्मम्]
लक्ष्मीजिघृक्षया तुभ्यं राजकं नापराध्यति । किं तु रीत्येव वैदर्म्या गौडीयायाभ्यसूयितम् ।।१०।।
मारसारसमाकारा राकामा सरसा रमा । सा गता हसना तेन न तेनासहतागसा ।।११।।
(प्रतिलोमानुलोमपादः)

त्वामिहायुङ्क्त विश्वस्तभूतलोपकृतिश्रमः । न वापराधकृन्नाथः केवलं भूतिहेतवे ।।१२।।

तु वारिराशौ निमज्जत इति पदभङ्ग्या व्याख्येयम् ।।६।। चतुरङ्गामिति—कथं त्वदीयः प्रभुः चतुरङ्गां चमूं त्यक्त्वा गतः सन् गां पृथ्वीं चतुरमवति । भव्येन पालयति यतः कारणात् पृथ्वीं प्रभया तेजसाधिकरक्षां स च प्रभयाधिगतः प्रकर्षेण भयान्वितः । कथं भवति । योऽकारणं चमूं त्यक्त्वा प्रपलायते स भयान्वितो भविष्यत्येव इति छेकोक्त्या किमपि तिरस्कृत्य कार्ये वादं निवेदयन्नाह ।।७।। कार्मणेनैवेति—स राजवर्गस्त्वया सह शक्त्या नवमायोधनं प्रत्यग्रसंग्रामं कर्तुं मनागवलत् स्वस्वदेशाभिमुखगमनाद्वलित इत्यर्थः । स कथंभूतः । समनागबलस्तुल्यहस्तिसैन्यः । किं कुर्वन् । ददत् । किम् । तद् धनम् । इत्थंभूतोऽपि यदिहीनप्रतापो भवति तदा किं करोतीत्याशङ्कायामाह—अनवमायः उत्कृष्टशुभावहविधिः स राजवर्गः । समबलात् यस्ते पत्या स्वामिना प्रणश्यता इति साशङ्कः कृतः । कीदृशी शङ्का । तत्राह कार्मणेनैव श्रृङ्गारवती ऊढा परिणीतेति । कार्मणं कूटप्रयोगः ।।८-९।। लक्ष्मीति--किमस्मभ्यं राजवर्गो लक्ष्मीं जिघृक्षतीत्याशङ्कायामाह--न लक्ष्मीजिघृक्षया राजकं तुभ्यमपराध्यति किन्तु वैदर्म्या तुभ्यमभ्यसूयितम् । श्रृङ्गारवत्याश्छद्मपरिणयो नाम राजकस्य कोपकारणमिति पर्यवसानम् । तुभ्यं कथंभूताय । गौडाय गौडदेशोद्भवत्वात् । कयेव । रीत्येव यथा वैदर्भीरीतिर्गौडीवल्लभाय कुप्यति न प्रसीदतीति यावत् ।।१०।। मारेति । कथं वैदर्म्या श्रृङ्गारवत्याभ्यसूयितमिति तामेव युक्तिमाह—सा श्रृङ्गारवती रमा स्त्री तेन सह गता । कथंभूता । आहसना प्रहसितमुखी । यदि वा अहसना अस्मेरास्या चित्रानुरागविरहात् । तेनागसा अपराधेन तुभ्यमसहत । किंविशिष्टा । मारसारसमाकारा कामसर्वस्वतुल्याकृतिस्तथा राकामा, राकाशब्देन चन्द्रः पूर्णिमा वा भण्यते तद्वन्मा लक्ष्मीर्यस्यास्तथा सरसा च । प्रतिलोमपादः ।।११।। ऊर्ध्वमथ निन्दागर्भितस्तुतिवचनमाह— त्वामिति—नाथस्त्वामिह सेनापतित्वेऽयुङ्क्त केवलं

हो जायेगी ।।६।। जो धर्मनाथ प्रकृष्ट भयसे युक्त हो प्रभा मात्रसे ही अधिक रक्षा करने वाली चतुरंगसेनाको छोड़कर चले गये वे चतुरताके साथ पृथिवीकी रक्षा किस प्रकार करेंगे यह समझमें नहीं आता ।।७।। इस प्रकार भागते हुए भगवान् धर्मनाथने राजसमूहको ऐसी आशंका उत्पन्न कर दी है कि उन्होंने शूरवीरताके कारण श्रृंगारवतीको नहीं विवाहा है किन्तु अपने कूटप्रयोग अथवा अनुकूल कर्मोदयसे ही विवाहा है अतः जिसका पुण्यकर्म उत्कृष्ट है, जो धन खर्च कर रहा है और जिसके हाथियोंकी सेना आपके समान ही है ऐसा राजाओंका समूह आपके साथ युद्ध करनेके लिए कुछ कुछ तैयार हो रहा है ।।८-९।। वह राजसमूह लक्ष्मी ग्रहण करनेकी इच्छासे आपका अपराध नहीं कर रहा है—आपके विरुद्ध खड़ा नहीं हो रहा है किन्तु जिस प्रकार वैदर्भीरीति गौड़ी रीतिसे रचित काव्यके प्रति ईर्ष्या रखती है उसी प्रकार वह राजसमूह श्रृंगारवतीके प्रति ईर्ष्या रखता है—वह श्रृंगारवतीको चाहता है ।।१०।। जिसका आकार कामदेवके सर्वस्वके समान है, जिसकी शोभा पूर्णिमाके समान है और जो रसवती है ऐसी वह हँसमुखी स्त्री श्रृंगारवती चूँकि धर्मनाथके साथ चली गयी है इस अपराधसे वह राजसमूह असहिष्णु हो उठा है ।।११।। विश्वस्त प्राणियोंका लोप करनेमें समर्थ एवं नये नये अपराध करनेवाले स्वामी धर्मनाथने आपको जो इस कार्यमें नियुक्त

अस्य मानाधिकैः सेना अस्यमाना नवाजितः । अस्यमानाहतेरेता अस्यमानावितुं क्षमः ॥१३॥
परलोकभयं बिभ्रत्प्रभुभक्तिं प्रपद्यसे । भवितासि ततो नूनं स्ववंशोद्धरणक्षमः ॥१४॥
अरमभीतियुक्तस्ताः कष्टं स्कन्दोऽपि रक्षति । अरमभीतियुक्तस्ता दूरे पास्यति वाहिनीः ॥१५॥
अबलां तां पुरस्कृत्य त्यक्तोऽसि सबलोऽमुना । निराश्रयस्ततो धीर राजवर्गं त्वमाश्रय ॥१६॥
प्रार्थयैतांश्चतुवर्गं रथवाजिप्रदानतः । लप्स्यसे पञ्चतामुच्चै रथवाजिप्रदानतः ॥१७॥

भूतिहेतवे सम्पन्निमित्तम् । किंविशिष्टो नाथः विश्वस्तभूतलोपकृतिक्षमः विश्वस्तानि यानि भूतानि तेषां लोपकृतये विनाशाय क्षमः–विश्वासघातकः । केवलं त्वामिहायुङ्क्त भूतिहेतवे भस्मनिमित्तं निन्दाप्रतीतिः ॥१२॥ अस्येति—हे अमान ! हे अतुल्य ! एताः सेनास्त्वमवितुं रक्षितुं क्षमोऽसि भवसि । कस्य सेनाः । अस्य नाथस्य । कथंभूताः । अस्यमानाः क्षिप्यमाणाः । कैः । मानाधिकैरहङ्कारोद्धतैः । कस्याः । अस्यमानाहतेः असिः खड्गस्तस्या अमानाहतिरप्रमाणघातस्ततः प्रक्षिप्यमाणा नवाजितो नूतनसंग्रामात् इति स्तुतिः । द्वितीयपक्षे हे अस्यमानगर्व अपूज्य इति वा आजितः जित इति वोत्क्षिप्यमाणाः सेना न वाऽवितुं क्षमोऽस्मीति निन्दाप्रतीतिः ॥१३॥ परेति—परलोकाज्जन्मान्तराद्बिभ्यत्प्रभुसंभक्तिं प्रपद्यसे तर्हि त्वं भवितासि भविष्यसि स्ववंशोद्धरणक्षमः स्वसंतानोद्धरणक्षम इति स्तुतिः । द्वितीयपक्षे परलोकेभ्यः शत्रुभ्यो भयं बिभ्रत्प्रभुभक्तिप्रतिपत्तौ स्ववंशोत्पाटनक्षमो भविष्यसीति निन्दाप्रतीतिः ॥१४॥ अरमिति—स्कन्दोऽपि सेनानीरपि ताः सेनाः कष्टं रक्षति । कथंभूतः । अरमभीतियुक्तोऽतिशयेनाभीरुः । त्वं च दूरेऽतिशयेन पास्यसि रक्षिष्यसि वाहिनीः कथंभूताः । तस्ता उपक्षीणाः । त्वं किंविशिष्टः । अरमभीतियुक् इति स्तुतिप्रतिभासः । द्विपक्षे अरम [1]अलक्ष्मीकभीतियुक् सभयो दूरेऽपास्यसि त्यजसीति निन्दाप्रतीतिः ॥१५॥ अबलामिति—अबलां तां नारीं सबलः ससैन्यः । शेषं सुगमम् । अधीरेति निन्दोक्तिः ॥१६॥ प्रार्थयेति—अत एतान् नृपान् त्वं चतुर्वर्गधर्मार्थकाममोक्षलक्षणं प्रार्थय । एतान् कथंभूतान् रथवाजि-

---

किया है सो इससे केवल भस्म ही उनके हाथ लगेगी—कुछ लाभ होनेवाला नहीं। [पक्षमें विश्वासको प्राप्त पृथिवीतलका उपकार करनेमें समर्थ एवं अपराध नहीं करनेवाले अथवा नये नये अपराधोंको छेदनेवाले भगवान् धर्मनाथने आपको जो इस कार्यमें नियुक्त किया है सो यह कार्य केवल विभूतिका कारण है—इससे वैभव ही प्राप्त होगा] ॥१२॥ जिसे तलवारके विषयका भान नहीं है ऐसे हे सेनापति ! इन धर्मनाथकी समस्त सेनाएं अत्यधिक प्रमाणवाले शत्रुओंके द्वारा नये संग्रामसे बाहर खदेड़ दी जावेंगी। तलवारोंके अपरिमित प्रहारोंसे क्या तुम इनकी रक्षा करनेके लिए समर्थ हो ? ॥१३॥ एक ओर तो आप शत्रुओंसे भय खाते हैं और दूसरी ओर अपने स्वामीकी भक्ति प्रकट कर रहे हैं इसलिए निश्चित ही आप अपने वंशके उखाड़ फेंकने में समर्थ होंगे। [पक्षमें चूँकि आप नरकादि परलोकसे डरते हैं और अर्हन्त जिनेन्द्रकी भक्तिको प्राप्त हैं इसलिए यह निश्चित है कि आप अपने कुलका उद्धार करनेमें समर्थ होंगे ॥१४॥ अत्यन्त अभयसे युक्त—निर्भय कार्तिकेय भी जब उन सेनाओंकी बड़े कष्टसे रक्षा कर पाता है तब लक्ष्मीहीन और भयसे युक्त रहनेवाले तुम उन उपक्षीण सेनाओंकी रक्षा कर सकोगे यह दूरकी बात है [पक्षमें तुम उन्हें दूरसे ही छोड़ दोगे] ॥१५॥ श्रृंगारवती स्त्रीको पाकर धर्मनाथने सेना सहित तुम्हें छोड़ दिया है इसलिए तुम आश्रयहीन हो गये हो पर हे धीर वीर ! तुम उन राजाओंके समूहका आश्रय ले लो ; [पक्षमें हे अधीर ! निराश्रय होनेके कारण तुम राजसमूहका आश्रय ग्रहण करो] ॥१६॥ इसलिए तुम रथ और घोड़े प्रदान करनेवाले इन राजाओंसे धर्म-अर्थ-काम आदि चतुर्वर्गकी

---

१. न विद्यते रमा लक्ष्मीर्यस्य सोऽरमः, अरमश्चासौ भीतियुक् च इत्यरमभीतियुक् इति समासः ।

परमस्नेहनिष्ठास्ते परदानकृतोद्यमाः । समुन्नतिं तवेच्छन्ति प्रधनेन महापदाम् ॥१८॥
राजानस्ते जगत्ख्याता बहुशोभनवाजिनः । वने कस्तत्क्रुधा नासीद् बहुशोभनवाजिनः ॥१९॥
सकृपाणां स्थितिं[1] बिभ्रत्स्वधामनिधनं तव । दाता वा राजसंदोहो द्राक्कान्तारसमाश्रयम् ॥२०॥
सहसा सह सारेभैर्धाविताधाविता रणे । दुःसहेऽदुः सहेऽलं ये कस्य नाकस्य नार्जनम् ॥२१॥
तेषां परमतोषेण संपदातिरसं गतः । स्वोन्नतिं पतितां बिभ्रत्सन्महीनो भविष्यसि ॥२२॥ [युग्मम्]

प्रदान् । अथवा आजिप्रदानतः संग्रामखण्डनात् संग्रामदानाद्वा पञ्चतां लप्स्यसे ॥१७॥ परमेति—ते राजानस्तव समुन्नतिं वाञ्छन्ति । कथंभूताम् । महापदाम् महत्पदं स्थानं यस्यास्तां महापदां केन कृत्वा । प्रधनेन प्रकृष्टधनेन । कथंभूतास्ते । परमस्नेहनिष्ठा उत्कृष्टप्रेमपराः । तथा परदानकृतोद्यमा उत्तमत्यागोद्यताश्च इति । द्विपक्षे महापदां बृहदापदां समुन्नतिं प्रधनेन संग्रामेण कृत्वा तवेच्छन्ति । कथंभूता । परमतिशयेनास्नेहनिष्ठाः परदानकृतोद्यमाः शत्रुखण्डनोद्यताश्चेति भयं दर्शितवान् ॥१८॥ राजान इति—ते बहुशोभना वाजिनोऽश्वा येषां ते तथा । तत्क्रुधा को वने नासीत् । अपि तु सर्वोऽपि स्थितः । कथंभूतः । बहुशोभानि नवाजिनानि यस्य स तथा । इतरपरिधानाभावाच्चर्मप्रावरणमेव बहुशोभया मन्यते इत्यर्थः ॥१९॥ सकृपणामिति—स राजसंदोहस्तव धनं दाता दास्यति आश्रयं वा गृहं दास्यति । कथंभूतं । कान्तारसं कान्ताया रसो रागो यत्र तत्कान्तारसं, द्राक् शीघ्रं, क्व धनं दास्यति । स्वधामनि स्वगृहे । किं कुर्वन् । बिभ्रत् स्थितिं, कथंभूतां । सकृपाणां सदयानामिति प्रलोभना । द्विपक्षे राजसन्दोहः स्वधामावसानं दाता कान्तारसमाश्रयं वा । किं कुर्वन् । बिभ्रत् स्थितिं कथंभूतां । सकृपाणां सखड्गाम् । इति हठोक्त्या भयप्रदर्शनम् ॥२०॥ सहसेति—तेषां राज्ञां परमतोषेण उत्तमप्रसादेन त्वं सन्महीनः सच्छोभनमहीपतिर्भविष्यसि । किं कुर्वन् । बिभ्रत्, काम् । पतितां स्वामित्वम्, कथंभूताम् । स्वोन्नतिं स्वस्यात्मनो ज्ञातिधनादेर्वा उन्नतिर्यस्यां तां स्वोन्नतिम्, कथंभूतस्त्वम् । अतिरसमतिरागं गतः, कया । संपदा । तेषां तोषेण, ये, किम् । ये कस्य नादुः स्वर्गस्य । स्वर्गे सौख्यं यल्लभ्यते तदेते ददतीति भावः । किं तत् अर्जनं, कस्य । नाकस्य, कथं । सहेलं, कथंभूताः । इता गताः, क्व । रणे, किंविशिष्टे ।

प्रार्थना करो अन्यथा युद्धमें खण्डित होनेसे पंचता—मृत्युको प्राप्त होओगे ॥१७॥ अत्यधिक स्नेह रखनेवाले एवं उत्कृष्ट दान करनेमें उद्यमशील वे सब राजा प्रकृष्ट धनके द्वारा महान् पद—स्थानसे युक्त आपकी उन्नति चाहते हैं अर्थात् तुम्हें बहुत भारी धन देकर उत्कृष्ट पद प्रदान करेंगे । [पक्षमें वे सब राजा आपके साथ अत्यन्त अस्नेह—अप्रीति रखते हैं और पर—शत्रुको खण्ड-खण्ड करनेमें सदा उद्यमी रहते हैं अतः युद्धके द्वारा आपको हर्षाभावसे युक्त (मुदो हर्षस्य नतिर्मुन्नतिस्तया महिता तां समुन्नतिम्) महापदा—महती आपत्तिकी प्राप्ति हो ऐसी इच्छा रखते हैं ।] ॥१८॥ अच्छी-अच्छी शोभावाले घोड़ोंसे युक्त वे राजा संसार भरमें प्रसिद्ध हैं । ऐसा कौन है ? जिसे उनके क्रोधके कारण अतिशय शोभायमान नूतन चर्मको धारण कर वनमें नहीं रहना पड़ा हो ? ॥१९॥ वह राजाओंका समूह, दयालु मनुष्यों की स्थिति—रीतिको धारण करता है अतः अपने घरमें तुम्हें बहुत भारी धन प्रदान करेगा और शीघ्र ही स्त्रियोंके स्नेहसे युक्त आश्रय देगा । [पक्षमें—वह राजाओंका समूह तलवार सहित स्थितिको धारण करता है—सदा तलवार लिये रहता है इसलिए अपने तेजके द्वारा तुम्हें निधन—मरण प्राप्त करा देगा अथवा तुम्हारे अपने तेजका अवसान—समाप्ति करा देगा और शीघ्र ही वनका आश्रय प्रदान करेगा अर्थात् खदेड़कर वनमें भगा देगा ।] ॥२०॥ सारभूत श्रेष्ठ हाथियोंसे सहित जो, मानसिक व्यथासे रहित दुःसह—कठिन युद्धमें पहुँचकर किसके लिए अनायास ही स्वर्ग प्रदान नहीं करा देते अर्थात् सभीको स्वर्गके सुख प्रदान करा देते हैं उन राजाओंके परम सन्तोषसे तुम सम्पत्तिके द्वारा अधिक रागको प्राप्त होओगे तथा

१. स्थितं म० घ० ।

बहुशस्त्रासमाप्यैषां बहुशस्त्रासमाहतेः । को वा न रमते प्राप्ताङ्को वानरमते गिरौ ॥२३॥
किमुदासतया स्थातुमीहसे क्वापि भूभृति । असंख्यं कर्म तत्कुर्वंल्लप्स्यसे कम्बलोत्सवम् ॥२४॥
बहुधा मरणेऽच्छद्युद्बहुधा मरणेच्छया । परभीरहितं पश्येत्परभीरहितं परम् ॥२५॥
बन्धाय वाहिनीशस्य तवैते मेदिनीभृतः । आयान्ति कटकैर्जुष्टाः सनागहरिखड्गिभिः ॥२६॥

दुःसहे, पुनः किंविशिष्टे । धाविताधौ धावितः आधिर्मनःपीडा यत्र तस्मिन् धाविताधौ, कथं । सह कैः । सारेभैः प्रधानगजैः, सहसा शीघ्रमिति प्रलोभनस्तुतिः । द्विपक्षे तु तेषां राज्ञां परमतिशयेनातोषेण त्वं सद्महीनो गृहरहितो भविष्यसि । किं कुर्वन् । बिभ्रत् स्वोन्नतिं, कथंभूतां । पतितां हीनां, कथंभूतः सन् पदातिः । पदातिः पत्तिः सन्, पुनः कथंभूतः । असंगतोऽयुक्तः एकाकीति यावद् इति भयप्रदर्शनेन निन्दाप्रतीतिः । शेषं सदृशम् ॥२१–२२॥ बहुश इति—एषां राज्ञां बहुशोऽनेकधा त्रासं भयमाप्य लब्ध्वा को वा गिरौ न रमते । अपि तु सर्वोऽपि रमते । कुतस्त्रासं प्राप्य । बहुशस्त्रासमाहतेः बहूनां शस्त्राणामसमा न तुल्या या आहतिर्घातस्तस्मात् । कथंभूतः सन् । प्राप्ताङ्कः लब्धोत्सङ्गः, गिरौ, किंविशिष्टे । वानरमते मर्कटाभीष्टे ॥२३॥ किम्विति—किमुदासतया उदासीनतया क्वापि भूभृति पर्वते स्थातुमीहसे तर्हि त्वं कं बलोत्सवं सैन्यप्रमोदं लप्स्यसे । अपि तु न कस्यापि, किं कुर्वन् । किं तत् । कर्म, कथंभूतम् । असंख्यमसंग्रामार्हमिति स्तुतिः । द्विपक्षे तु किमु त्वं दासतया स्थातुं क्वापि भूभृति राज्ञि ईहसे । तर्हि असंख्यमप्रमितं कर्म दास्यं कुर्वन् लप्स्यसे कंबलेनोत्सवं लप्स्यसे इति निन्दा ॥२४॥ बहुधेति—परभीरधिकभयः पुरुषः परं केवलं मरणेच्छया अहितं शत्रुं पश्येत् । कथंभूतं शत्रुम् । परभीरहितं परेभ्यः शत्रुभ्यो भीः तेन रहितम् । क्व पश्येत् । बहुधामरणे बहुधाम्नां तेजस्विनां रणो बहुधामरणस्तस्मिन्, अच्छद्युत् बृहत्तेजसां रणे स्वल्पतेजा बहुधाहितं पश्यन् मरणमेव लभत इत्यर्थः । त्वमपि सभयः सन् मा अहितान् पश्येति पर्यवसानम् ॥२५॥ बन्धायेति—एते मेदिनीभृतो राजानस्तव वाहिनीशस्य [[1]सेनापतेर्बन्धाय कटकैः सैन्यैर्जुष्टा युक्ताः आयान्ति । कथंभूतैः कटकैः । सनागहरिखड्गिभिः नागा गजाः हरयोऽश्वाः खड्गिनः कृपाणधारिणो भटास्तैः सहितैस्तथा ।] वाहिनीशस्य समुद्रस्य बन्धाय मेदिनीभृतः पर्वताः कटकैः

अपनी उन्नतिसे सहित स्वामित्वको धारण करते हुए शीघ्र ही श्रेष्ठ पृथिवीके इन—स्वामी हो जाओगे। [पक्षमें—सारभूत श्रेष्ठ हाथियोंसे सहित हुए जो राजा मानसिक व्यथाओंसे परिपूर्ण कठिन युद्धमें किसके लिए दुःखका संचय प्रदान नहीं करते अर्थात् सभीके लिए प्रदान करते हैं उन राजाओंको यदि तुमने अत्यन्त असंतुष्ट रखा तो तुम्हें उनका पदाति—सेवक बनना पड़ेगा, असंगत—अपने परिवारसे पृथक् एकाकी रहना पड़ेगा, अपनी उन्नतिको छोड़ देना पड़ेगा और इस तरह तुम सद्महीन—गृहरहित हो जाओगे] ॥२१-२२॥ हे वानरके समान बुद्धिवाले सुषेण सेनापति! ऐसा कौन मनुष्य होगा जो इन राजाओंके अनेक शस्त्रोंके अनुपम आघातसे अनेक बार त्रास पाकर भी वानरोंके अभीष्ट पहाड़के मध्यमें क्रीड़ा न करता हो—इनके शस्त्रोंकी मारसे पहाड़के मध्यमें नहीं जा छिपता हो ॥२३॥ तुम उदास बनकर क्या किसी पहाड़पर रहना चाहते हो! वहाँ रहकर असंख्य कार्य करते हुए भी तुम अपनी शक्ति अथवा सेनाका कौन-सा उत्सव प्राप्त कर लोगे? [पक्षमें—अरे, तुम दास बनकर किसी राजाके पास क्या रहना चाहते हो? असंख्य कार्य करते हुए यदि तुम कुछ पुरस्कार पा सकोगे तो एक कम्बल ही पा सकोगे, अधिक मिलनेकी आशा नहीं है।] ॥२४॥ जो स्वच्छ तेजका धारक होता है वह तेजस्वियोंके युद्धमें अनेक तेज पूर्ण युद्ध करनेकी इच्छासे शत्रुको निर्भय होकर देखता है और जो कायर होता है वह प्रायः मरनेकी इच्छासे ही शत्रुको देखता है अर्थात् ऐसी शंका करता रहता है कि यह शत्रु मुझे मार देगा ॥२५॥ हे सेनापते! ये सब राजा लोग हाथियों, घोड़ों और तलवारके धारक सैनिकोंसे

१. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकेन योजितः ।

मुरलो मुरलोपीव कुन्तलः कुन्तलश्च कैः । मालवो मालवोद्ग्रीवैर्वार्यते वार्य ते रणे ॥२७॥
उद्दामद्विरदेनाद्य[1] कलिङ्गेन वृषध्वजः । शिरोऽर्पितार्धचन्द्रेण कार्यस्त्वमगजाश्रितः ॥२८॥
अनेकपापरक्तो बालभ सेनाशमं गतः । अनेकपापरक्तो वा लभसे नाशमङ्गतः ॥२९॥
हितहेतु वचस्तुभ्यमभ्यधामहमीदृशम् । विरोधिन्यपि यत्साधुर्न विरुद्धोपदेशकः ॥३०॥
अधिकं दरमेत्याहो अधिकंदरमुन्नतान् । समासादयशाः शैलान् समासादय वा नृपान् ॥३१॥

शिखरैर्गजसिंहगण्डकयुक्तैर्जुष्टाः किल समायान्तीति ध्वनितार्थप्रतीतिः ॥२६॥ **मुरल इति**—हे आर्य ! सरल ! रणे ते तव कैः सैनिकैर्मालवोद्ग्रीवैर्वार्यते । अपि तु न कैरपि । मा लक्ष्मीस्तस्या लवो मालवस्तेन उद्ग्रीवैरुद्धतैः । मुरलः, क इव मुरलोपीव विष्णुरिव, तथा कुन्तलः, किंविशिष्टः कुन्तलः । कुन्तं लातीति कुन्तलः । तथा मालवः क्षत्रियश्च ॥२७॥ **उद्दामेति**—अद्य कलिङ्गेन राज्ञा त्वं शिरोऽर्पितार्द्धचन्द्रेण अगजाश्रितो गजरहितो वृषध्वज उक्षचरः कार्यः । अन्यत्र वृषध्वजो महेश्वरोऽर्द्धेन्दुशिखरोऽगजया गौर्या श्रितश्च भवति ॥२८॥ **अनेकेति**—हे बालभ ! बालवद्भासीति बालभः अज्ञः । अनेकपापरक्तः अनेकपा हस्तिनस्तेषु अपरक्तः । सेनाशमं चमूविनाशं गतोऽप्यक्षं नाशं क्षयमद्य लभसे । कुतः । अङ्गतः अङ्गदेश-क्षितिपतेः । क इव अनेकपापरक्तो वा, वा इवार्थे यथा बहुकल्मषपर इत्यर्थः ॥२९॥ **हितेति**—[[2]राज्ञां दूतः सुषेणं कथयति—इत्थमहं तुभ्यं हितहेतु कल्याणकरं वचोऽभ्यधाम् अकथयम् यद् यस्मा-त्कारणात्साधुः सज्जनो विरोधिन्यपि शत्रावपि विरुद्धोपदेशकः विरुद्धमार्गदर्शी न भवतीति शेषः] ॥३०॥ **अधिकमिति**—अधिकं दरं भयमेत्य प्राप्याहो इत्याक्षेपे संबोधने वा उन्नतान् शैलान् समासादय प्राप्नुहि । कथम् । अधिकंदरं कन्दरमधि अधिकंदरं नृपान्वा आसादय । कुतः । समासात्संक्षेपात् । कथंभूतस्त्वम् । अयशा

युक्त सेनाओंके साथ तुम्हें बाँधनेके लिए आ रहे हैं [पक्ष में––हाथियों, सिंहों और गेंड़ाओंसे सहित कटकों––किनारोंसे सुशोभित ये पर्वत समुद्र बाँधनेके लिए आ रहे हैं ।] ॥२६॥ हे आर्य सेनापति ! देखो, यह विष्णुके समान मुरल देशका राजा आ रहा है, यह भाला लिये हुए कुन्तल देशका राजा आ रहा है और यह मालव देशका राजा है । देखूँ, युद्धमें जरा-सी लक्ष्मीका अहंकार करनेवाले तेरे कौन लोग इनका निवारण करते हैं ?—इन्हें आगे बढ़नेसे रोकते हैं ? ॥२७॥ जिसका हाथी अत्यन्त उत्कट है—बलवान् है ऐसा यह कलिंग देशका राजा, आज वृषधर्म—धर्मनाथकी ध्वजा धारण करनेवाले तुमको तुम्हारे शिरमें अर्द्धचन्द्र बाण देकर अथवा एक तमाचा देकर हाथीसे रहित कर देगा—हाथीसे नीचे गिरा देगा और इस तरह वह तुम्हें वृषध्वज—वृषभचारी बना देगा । [पक्षमें, उद्दण्ड हाथीवाला कलिंग देशका राजा आज तुम्हें तुम्हारे शिरमें अर्धचन्द्र देकर अगजा—पार्वतीसे आश्रित वृषध्वज—महादेव बना देगा] ॥२८॥ अरे अज्ञ ! जिस प्रकार अनेक पापोंमें रक्त—लीन पुरुष नाशको प्राप्त होता है उसी प्रकार हाथियोंसे अपरक्त हुआ तू सेनाके नाशको प्राप्त हो अङ्ग देशके राजासे अभी हाल नाशको प्राप्त होता है ॥२९॥ राजाओंका दूत धर्मनाथके सेनापति सुषेणसे कहता है कि हे सेनापते ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे लिए हितकारी वचन कहे सो ठीक ही है क्योंकि जो सत्पुरुष होते हैं वे शत्रुके लिए भी विरुद्ध उपदेश नहीं देते ॥३०॥ इतना कहनेके बाद दूतने यह और कहा कि संक्षेपमें मेरा कहनेका अभिप्राय यह है कि तुम यदि अधिक भयको प्राप्त हुए हो तो यशको छोड़ पहाड़की गुफाओंमें जा छिपो अथवा ऊँचे पहाड़ोंपर जा पहुँचो अथवा अन्य शरण न होनेसे इन्हीं राजाओंके पास जा

१. नाद्यः छ० । नाद्यो म० घ० । २. अस्य श्लोकस्य संस्कृतटीका 'क' पुस्तके नास्ति संपादकेन मेलिता । अयं च श्लोकः २९तमेन श्लोकेन सहावतारितः ।

इति राजगणे तस्मिन्नधिकोपकृतिक्षमे । गतिद्वयमुदाहृत्य प्रणिधिर्विरराम सः ॥३२॥

रैरोऽरीरोरुररुरत्काकुकं केकिकङ्किकः । चञ्चच्चञ्चूच्चचिच्चोचे तततातीति तं ततः ॥३३॥

[चतुरक्षरः]

अन्तरत्यन्तनिर्गूढपदाभिप्रायभीषणा । वाग्भुजङ्गीव ते मृद्वी कस्य विश्वासकृद्बहिः ॥३४॥

दुर्जनः सत्सभां प्रष्टामीहते न स्वभावतः । किमुलूकस्तमोहन्त्रीं भास्वतः सहते प्रभाम् ॥३५॥

सीमा सौभाग्यभाग्यानां शोभासंभावितस्मरः । अहो धाष्ट्र्यं जगन्नाथः[1] कार्मणीत्युच्यते खलैः ॥३६॥

[सुगमो गूढचतुर्थकः]

प्रभाप्रभावभाग्येन भाग्येन स वधूकरम् । तेने तेनेऽपतन्माला तन्मालापं वृथा कृथाः ॥३७॥

यशोरहितः ॥३१॥ इतीति—प्रणिधिर्दूतो गतिद्वयमुदाहृत्य विरराम । क्व । तस्मिन् राजगणे, कथंभूते । अधिकोपकृतिक्षमे अधिकं कोपं करोतीति अधिकोपकृत् तस्मिन् क्षमे समर्थे । द्विपक्षे अधिकोपकारक्षमे ॥३२॥ रैर इति—ततोऽनन्तरं सुषेणस्तं दूतमूचे उक्तवान् । कथमिति वक्ष्यमाणम् । किंविशिष्टः । तततातीततां विस्तीर्णां तां लक्ष्मीं अतति गच्छतीत्येवंशीलस्तततातो । कथंभूतो । रैरो द्रव्यदः । अरीरोरुः अरीवरियती-त्यरीराः सुभटास्तेषामुरुर्महान् अरीरोरुः । तं दूतं कथंभूतम् । अरु रुत्काकुकं मर्मव्यथकशब्दम् । किंविशिष्टः । केकिकङ्किकः केकिना मयूरेण कङ्कत इत्येवंशीलः केकिकङ्की कार्तिकेयः, तस्येव कः कामो यस्य सः केकि-कङ्किकः । पुनः किंविशिष्टः । चञ्चच्चञ्चूच्चचित् चञ्चन्ती चञ्चुर्दक्षा उच्चा महती चिद्बुद्धिर्यस्य स चञ्चच्च-ञ्चूच्चचित् । चकारो विशेषणसमुच्चये । चतुरक्षरश्लोकः ॥३३॥ अन्तरित्यादि—वाग्भुजङ्गीव । भुजङ्गी अन्तर्निगूढपदाभिप्रायभीषणा बहिर्मृद्वी च भवति । वागपि अत्यन्तनिर्गूढपदाभिप्रायभीषणा बहिर्मृद्वी चातः कस्य विश्वासकारिणी स्यात् ॥३४॥ प्रभेति—तेन भाग्येन इने स्वामिनि मालापतत् । कथंभूता । इता गता, कम् । वधूकरम् । येन भाग्येन स स्वामी प्रभाप्रभावभाक् संजातः । प्रभा कान्तिः प्रभावः सौभाग्यलक्षणस्तौ

पहुँचो—उन्हींकी शरण प्राप्त करो ॥३१॥ इस प्रकार अधिक क्रोध करनेवाले समर्थ [[2] पक्षमें अधिक उपकार करनेमें समर्थ] राजाओंके विषयमें दोनों उपाय बतलाकर वह दूत चुप हो रहा ॥३२॥ तदनन्तर जो धनको देनेवाला है, शत्रुओंको कम्पित करनेवाले सुभटोंमें सबसे महान् है, कार्तिकेयके समान इच्छावाला है, चतुर एवं उच्च बुद्धिका धारक है और विस्तृत लक्ष्मीको प्राप्त होनेवाला है ऐसा सुषेण सेनापति उस राजदूतसे इस प्रकार मर्मभेदी शब्द कहने लगा ॥३३॥ हे दूत ! जिस प्रकार सर्पिणीके पद अर्थात् चरण अत्यन्त गूढ़ रहते हैं उसी प्रकार तेरे वचनोंके पद अर्थात् शब्दसमूह भी अत्यन्त गूढ़ हैं । जिस प्रकार सर्पिणी-का अभिप्राय भयंकर होता है, उसी प्रकार तेरे वचनोंका अभिप्राय भी भयंकर है और जिस प्रकार सर्पिणी बाहरसे कोमल दिखती है उसी प्रकार तेरे वचन भी बाहरसे कोमल दिखते हैं इस तरह तेरे वचन ठीक सर्पिणीके समान जान पड़ते हैं फिर भला वे किसे विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं ? ॥३४॥ दुर्जन स्वभावसे ही सज्जनोंकी श्रेष्ठ सभाको नहीं चाहता सो ठीक ही है क्योंकि क्या उल्लू अन्धकारको नष्ट करनेवाली सूर्यकी प्रभाको सहन करता है ? अर्थात् नहीं करता है ॥३५॥ अहो, लोगों की धृष्टता तो देखो, जो भगवान् सौभाग्य और भाग्यकी मानो सीमा हैं और जिन्होंने अपनी शोभासे कामदेवकी तुलना की है उन भगवान्के लिए भी दुर्जन इस कार्यमें ऐसा कहते हैं ॥३६॥ प्रभा और प्रभावको प्राप्त होनेवाले उन भगवान्ने जिस भाग्यसे शृंगारवतीका हाथ फैलाया था उस भाग्यसे उन स्वामी

१. जगन्नाथ घ० । २. अधिका चासावुपकृतिस्तस्यां क्षमे ।

गुणदोषानविज्ञाय भर्तुर्भक्ताधिका जनाः । स्तुतिमुच्चावचामुच्चैः कां न कां रचयन्त्यमी ॥३८॥
धर्मे बुद्धिं परित्यज्यापरत्रानेकपापदे । सदयः कुरुते कस्तां परत्रानेकपापदे ॥३९॥
आस्तां जगन्मणेस्तावद्भानोरन्यैर्महस्विभिः । अनूरोरपि किं तेजः संभूय परिभूयते ॥४०॥
मम चापलतां वीक्ष्य नवचापलतां दधत् । अयमाजिरसाद्गन्तुं किं यमाजिरमिच्छति ॥४१॥
सौजन्यसेतुमुद्भिन्दन् यत्त्वया नैष वारितः । तन्नः क्रोधार्णवौघेन प्लावनीयो नृपव्रजः ॥४२॥
विपद्विधास्यतेऽत्राहं कारिभिः कारिभिर्मम । एकाकिनापि रुध्यन्ते हरिणा हरिणा न किम् ॥४३॥

भजतीति प्रभाप्रभावभाक् । तन्मालापं वृथा कृथाः व्यर्थालापं मा कार्षीः ॥३७॥ गुणेति—भक्ताधिका भक्तेन ओदनेन अधिकाः पूरिताः भक्तेषु श्राद्धेषु अधिकाः इति निन्दास्तुतिः ॥३८॥ धर्म इति—धर्मे तीर्थकृति अन्यत्र श्रेयसि बुद्धिं परित्यज्यापरत्रानेकपापदे बहुपापदायिनि तां बुद्धिं सदयः कुरुते । एकत्र सदयः सकृपोऽन्यत्र सदनुकूलदैवः । पुनः किंविशिष्टे अन्यस्मिन् परत्रानेकपापदे परेभ्यस्त्रायन्ते येऽनेकपास्तेषामापदे ॥३९॥ [[2] आस्तामिति–जगन्मणेर्लोकश्रेष्ठस्य भानोर्दिवाकरस्य तेजः प्रचण्डज्योतिः अन्यैर्महस्विभिरपरैस्तेजस्विभिः संभूय मिलित्वापि परिभूयते तिरस्क्रियते इति आस्तां दूरे तिष्ठतु अनूरोरपि सूर्यसारथेररुणस्यापि तेजः किमन्यैर्महस्विभिः मिलित्वापि किं परिभूयतेऽपि तु न परिभूयते । अत्र भानुस्थानापन्नो धर्मनाथो भगवान् अनूरुस्थानापन्नश्च सुषेणः सेनापतिः] ॥४०॥ ममेति—अयं नृपव्रजः आजिरसात् संग्रामरागात् किं यमाजिरं यमाङ्गणं गन्तुमिच्छति । किं कृत्वा । वीक्ष्य मम चापलतां धनुर्लताम् । [[3] कथंभूतो नृपव्रजः । नवचापलतां नूतनचपलत्वं दधत् बिभ्रत् । पुनश्च कथंभूतः । सौजन्यसेतुं सज्जनतापालीम् उद्भिन्दन् विदारयन् । यद्यस्मात्कारणात् त्वया न वारितो न प्रतिषिद्धस्तत् तस्मात्कारणान् नोऽस्माकं क्रोधार्णवौघेन क्रोधसागरप्रवाहेण प्लावनीयो निमज्जनीयः । अस्तीति शेषः] ॥४१–४२॥ विपदिति—अत्र संग्रामे अहंकारिभिररिभिः का मम विपद्विधास्यते । अपि तु न कापि ।

के ऊपर वरमाला पड़ी थी इसलिए व्यर्थका बकवाद मत करो ॥३७॥ ये भक्ताधिक—भोजनसे परिपूर्ण अथवा श्राद्धोंमें अधिक दिखनेवाले—पिण्डीशूर लोग गुण और दोषोंको जाने बिना ही अपने स्वामीकी ऊँची-नीची क्या-क्या स्तुति नहीं करते हैं ? अर्थात् खानेके लोभी सभी लोग अपने स्वामियोंकी मिथ्या प्रशंसामें लगे हुए हैं ॥३८॥ ऐसा कौन दयालु पुरुष होगा जो धर्मविषयक बुद्धिको छोड़कर परसे रक्षा करनेवाले हाथियोंको आपत्तिमें डालनेके लिए अनेक प्रकारके पापोंके देनेवाले अधर्ममें बुद्धि लगायेगा ? [पक्षमें—ऐसा कौन भाग्यशाली पुरुष होगा जो भगवान् धर्मनाथमें आस्था छोड़कर अनेक प्रकारके पाप प्रदान करनेवाले अन्य राजाओंमें आस्था उत्पन्न करेगा ? ॥३९॥ जगत्के मणि स्वरूप सूर्यके तेजकी बात जाने दो, क्या उसके सारथि स्वरूप अनूरुके तेजका भी अन्य तेजस्वी—तारागण मिलकर तिरस्कार कर सकते हैं ? अर्थात् नहीं कर सकते । भावार्थ—भगवान् धर्मनाथका पराभव करना तो दूर रहा ये सब प्रतापी राजा लोग उनके सेनापति सुषेणका भी मिलकर पराभव नहीं कर सकते ॥४०॥ मेरे धनुषरूपी लताको देखकर नवीन चंचलताको धारण करनेवाला यह राजाओंका समूह युद्धके अनुरागसे क्या यमराजके आंगनमें जानेकी इच्छा करता है अर्थात् मरना चाहता है ॥४१॥ सज्जनता रूपी बाँधको तोड़नेवाले इन राजाओंके समूहको चूँकि तुमने मना नहीं किया—रोका नहीं अतः अब यह राजाओंका समूह मेरे क्रोधरूपी समुद्रके प्रवाहसे अवश्य ही बह जायगा ॥४२॥ ये अहंकारी शत्रु, मुझपर यहाँ क्या आपत्ति

१. परित्यक्त्वा म० घ० । २. एषा टीका संपादकेन मेलिता । सटीकपुस्तके टीका नोपलभ्यते । ३. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकेन मेलितः । सटीकपुस्तके नास्ति ।

जयश्रियमथोद्वोढुं त्वत्प्रतापाग्निसाक्षिकम्[1] । [2]चित्तमाजौ दददूतं सुषेणो विससर्ज सः ॥४४॥
रागिताजिवरा कापि नेतेनान[3]ततामसा । साम तात ननातेने पिकारावजिता गिरा ॥४५॥
तथाप्यनुनयैरेष शाम्यति स्म न दुर्जनः । और्वस्तनूनपान्नीरैर्नीरधेरिव भूरिभिः ॥४६॥
युद्धानकाः स्म तद्भीमाः सदानघ नदन्ति नः । बबृंहिरे जयायोच्चैः सदानघनदन्ति नः ॥४७॥
उद्भिन्नोद्दामरोमाञ्चकञ्चुकेषु मुदस्तदा । अन्तरङ्गेषु वी[4]राणां सन्नाहा न बहिर्ममुः ॥४८॥

यस्मात्कारणात् हरिणा सिंहेन एकाकिनापि किं हरिणा मृगा न रुध्यन्ते ॥४३॥ [[5]अथानन्तरं सुषेणः सेनापतिर्दूतं विससर्ज प्रतिप्रेषयामास । कथंभूतः सुषेणः । आजौ समरे चित्तं ददत् मनो योजयन् । किं कर्तुम् । उद्वोढुं परिणेतुम् । काम् । जयश्रियं विजयलक्ष्मीम्, कथम् । त्वत्प्रतापाग्निसाक्षिकं भवत्प्रतापानलसमक्षम् ॥४४॥] विसर्जिते राजदूते सुषेणदूतः स्वस्वामिनो निरपराधतां प्रतिपादयन्नाह—रागितेति—हे इन ! हे स्वामिन् ! तेन तव सेनान्या कापि रागिता न इता प्राप्ता । कथंभूता । आनततामसा, रागद्वेषौ न प्राप्तौ, कथंभूता रागिता । आजिवरा संग्रामधरणशीला । तर्हि युद्धोपशमार्थं साम प्रयुक्तं न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह—साम तात ननातेने तात । पितः । साम ननातेने । अपि तु विस्तारितम्, कया । गिरा । कथंभूतया । पिकारावजिता । अनुलोमप्रतिलोमार्द्धं । यादृशमनुलोमेनार्द्धं प्रतिलोमेनार्द्धं—प्रतिलोमेन तादृशं द्वितीयमित्यर्थः ॥४५॥ [[6]तथापि एष दुर्जनो दुष्टो नृपतिसमूहः अनुनयैः सान्त्ववचनैः न शाम्यति शान्तो न भवति । तदेवोदाहरति—और्वः तनूनपाद् बडवानलः नीरधेः सागरस्य भूरिभिः प्रचुरैर्नीरैरिव । यथा सागरस्थो वडवानलो वारिधेर्विपुलवारिभिर्न शाम्यति तथायं दुर्जनोऽनुनयैः प्रीतिवचनैर्न शान्तो भवतीति भावः ॥४६॥] युद्धानका इति—सदानघ ! सर्वदा निष्पाप ! तदनन्तरं नोऽस्माकं युद्धानकाः संग्रामपटहा भीमा नदन्ति स्म तथा सदानघना दन्तिनोऽपि बबृंहिरे । सदानाः समदाश्च ते घनदन्तिनश्च सदानघनदन्तिनः तत्कालोत्पन्नमदा दन्तिनो जयाय शब्दं चक्रुः । शकुनत्वाज्जयः संभाव्यते । [[7]तदा युद्धावसरे वीराणां शूराणाम् अन्तर्मध्ये हृदयेष्वित्यर्थः । मुदः चिरसमरसंमर्दजनिता हर्षा नो ममुर्न मान्तिस्म बहिश्च अङ्गेषु शरीरेषु संनाहाः कवचा न ममुः हर्षोत्फुल्लशरीरत्वादिति भावः । कथंभूतेषु अङ्गेषु । उद्भिन्नाः प्रकटिता रोमाञ्चा एव कञ्चुका येषु तेषु] ॥४७-४८॥

ला देंगे । जरा यह भी तो सोचो । क्या एक ही सिंहके द्वारा बहुतसे हरिण नहीं रोक लिये जाते ॥४३॥ तदनन्तर आपके प्रतापरूपी अग्निकी साक्षी पूर्वक विजयलक्ष्मीका विवाह करनेके लिए युद्धमें चित्त लगानेवाले सुषेण सेनापतिने राजाओंके दूतको वापिस कर दिया ॥४४॥ युद्धके क्रमका आमूल वर्णन करनेके लिए जो दूत भगवान् धर्मनाथके सामने आया था वह उनसे कहता है कि हे स्वामिन् ! यद्यपि सुषेण सेनापतिने मोहान्धकारसे भरी हुई युद्ध सम्बन्धी अपनी कोई भी इच्छा प्रकट नहीं की थी किन्तु कोयलके शब्दको जीतने वाली मीठी वाणीसे समता भावका ही विस्तार किया था । तथापि संसारमें यह बात प्रसिद्ध है कि जिस प्रकार समुद्रके बहुत भारी जलसे वड़वानल शान्त नहीं होता उसी प्रकार अनुनयपूर्ण वचनोंसे दुर्जन शान्त नहीं हुआ था ॥४५-४६॥ तदनन्तर हे दोषरहित भगवन् ! हमारे युद्धके भयंकर नगाड़े बज उठे और जिनके मद झर रहा था ऐसे बहुत भारी हाथी विजय प्राप्त करनेके लिए जोरसे गर्जना करने लगे—चिग्घाड़ें मारने लगे ॥४७॥ उस समय शूरवीरोंके हृदयमें हर्ष नहीं समा रहा था और बाहर प्रकट हुए रोमांच रूपी कंचुकोंसे युक्त उनके शरीरों पर कवच नहीं समा रहे थे अर्थात् युद्ध जन्य हर्षसे शरीर फूल जानेके कारण

१. साक्षिकाम् छ० म० घ० । २. वित्त—घ० म० । ३. तत म० घ० । ४. धीराणां छ० । शूराणां ख० म० च० घ० द० । ५. अयं पाठः संपादकेन मेलितः सटीकपुस्तके नास्ति । ६. अयं पाठः संपादकस्य सटीकपुस्तके तु नास्ति । ७. अयं पाठः संपादकेन मेलितः सटीकपुस्तके नास्ति ।

निजदोरदनोदीर्णश्रीरता घनताविभाः । तरसारबलं चेरुरिभा भूतहृतो भृशम् ॥४९॥
संभृतो हृतभूभारिरुचेऽलं वरसारतः । भावितानघ तारश्रीर्न दीनो दरदोऽजनि ॥५०॥
[1]शङ्केऽनुकूलपवनप्रेङ्खितैः स्यन्दनध्वजैः । निक्वणत्किङ्किणीक्वाणैर्योद्धुं जुहुविरे द्विषः ॥५१॥
नवप्रियेषु बिभ्राणाः सङ्गरागमनायकाः । [2]द्युयोषितोऽभवन्नोत्काः संगरागमनाय काः ॥५२॥
सद्दशावत्यनीकेऽत्र त्वत्प्रतापप्रदीपके । वधायैव निपेतुस्ते पतङ्गा इव शत्रवः ॥५३॥

निजेति—चेरुरिभा गजाश्चरन्ति स्म । किं तत् । आरवलम् अरीणामङ्गादीनां समूह आरं तस्य बलं सैन्यं तरसा वेगेन बलेन वा भृशमतिशयेन । किंविशिष्टा इभाः । भूतहृतो भूतानि प्राणिनो हरन्तीति भूतहृतः प्राणिघातकाः । कथंभूता इभाः । निजदोरदनोदीर्णश्रीरता निजदोरदनाभ्यां बाहुदन्ताभ्यामुदीर्णा या श्रीस्तस्यां रताः । घनताविभाः घनानां समूहो घनता तद्वद्विभा येषां ते तथाभूताः । प्रातिलोम्यानन्तरश्लोकः ॥४९॥ संभृत इति—ततो हे हृतभूभारिरुचे ! भुवि भान्तीति भूभास्ते च तेऽरयश्च भूभारयस्तेषां रुचिः प्रभा, हृता भूभारिरुचिर्येन स हृतभूभारिरुचिस्तस्य संबोधनं हे हृतभूभारिरुचे ! अलमत्यर्थं वरसारतः उत्कृष्टबलात् संभृतः पूर्णः सेनापतिरित्यर्थः । दरदोऽजनि न दीनः—दरं भयं ददातीति दरदः । किंविशिष्टः । भावितानघतारश्रीः भाविता अधिगता अनघा तारा उज्ज्वला श्रीः क्षात्रलक्षणा शोभा येन स तथा ॥५०॥ [[3]शङ्क इति—शङ्के उत्प्रेक्षे । किमित्याह—स्यन्दनध्वजै रथपताकाभियोद्धुं समराय द्विषोऽरयः जुहुविरे आहूताः । कथंभूतैः स्यन्दनध्वजैः । अनुकूलेन पृष्ठतः समागतेन पवनेन समीरेण प्रेङ्खितैः । कम्पितैरित्यनुकूलपवनप्रेङ्खितैः । कैर्जुहुविरे । निक्वणत्किङ्किणीक्वाणैः निःक्वणन्तीनां किङ्किणीनां क्षुद्रघण्टिकानां क्वाणाः शब्दास्तैः करणभूतैः ॥५१॥] नवेति—का द्युयोषित उत्का नाभवन् । अपि तु सर्वा अभवन् । कस्मै । संगरागमनाय । कथंभूताः । अनायका भर्तृरहिताः । किं कुर्वाणाः । बिभ्राणाः । कम् । सङ्गरागम् । अनायकेषु नवप्रियेषु ॥५२॥ [[4]सद्दशावतीति—ते शत्रवोऽङ्गादिदेशजा रिपवः अत्रानीके सैन्ये वधायैव मरणायैव निपेतुः पतन्ति स्म । कुत्र । त्वत्प्रतापप्रदीपके तव प्रताप एव प्रदीपकस्तस्मिन् । कथंभूतेऽनीके । सद्दशावति उत्तमावस्थायुक्ते । कथंभूते त्वत्प्रतापप्रदीपके । सद्दशावति समीचीनवर्तिकायुक्ते । के इव । पतङ्गा इव शलभा इव । यथा पतङ्गाः प्रदीपे मरणायैव पतन्ति तथा क्षुद्रशत्रवस्त्वत्प्र-

उन पर कवच ठीक नहीं बैठ रहे थे ॥४८॥ जो अपने हाथ, सूँड और दाँतोंके द्वारा प्राप्त हुई लक्ष्मी अथवा शोभामें लीन हैं, जिनकी कान्ति मेघसमूहके समान श्यामल है और जो प्राणियोंका विघात करनेवाले हैं ऐसे बहुतसे हाथी बड़े वेगसे शत्रु सेनाकी ओर चल पड़े ॥४९॥ जिन्होंने पृथ्वीतल पर रहनेवाले समस्त शत्रुओंकी रुचिका हरण कर लिया है ऐसे हे भगवन् धर्मनाथ ! निर्दोष एवं उज्ज्वल लक्ष्मीको धारण करनेवाला सुपुष्ट सेनापति सुषेण, अनेक राजाओंके उत्कृष्ट सैन्य बलसे दीन नहीं हुआ था प्रत्युत उन्हें ही भय देनेवाला हुआ था ॥५०॥ उस समय रथों पर लगी हुई ध्वजाएँ अनुकूल वायुसे चंचल हो रही थीं और साथ ही उन में लगी हुई छोटी-छोटी घंटियाँ शब्द कर रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो रथ युद्ध करनेके लिए शत्रुओंको बुला ही रहे हों ॥५१॥ अपने नये प्रियतमोंमें समागमके प्रेमको धारण करनेवाली कौन-सी पतिरहित देवांगनाएँ युद्धमें जानेके लिए उत्कण्ठित नहीं हो रही थीं ? ॥५२॥ हे भगवन् ! जिस प्रकार किसी उत्तम दशा—बातीसे युक्त दीपक पर पतंगे केवल मरनेके लिए पड़ते हैं उसी प्रकार अच्छी दशा—अवस्था से युक्त इस सेनाके बीच आपके प्रतापरूपी दीपक पर जो शत्रु पड़ रहे थे—आक्रमण कर रहे थे वे

१. शङ्के दुकूल छ० । २. क्व योषितो—घ० म० । ३. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकेन मेलितः । ४. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकेन मेलितः । सटीकपुस्तके पाठो नास्ति ।

गङ्गोरगगुरूग्राङ्गगौरगोगुरुरुग्रगुः । रागागारिगरैरङ्गैरग्रेऽङ्गं गुरुगीरगात् ॥५४॥ [द्व्यक्षरः]

अङ्गमुत्तुङ्गमातङ्गमायान्तं प्रत्यपद्यत । वात्येव वारिदानीकं सा सुषेणस्य वाहिनी ॥५५॥

अतस्तमानसे सेना सदाना सारवा रणे । अतस्तमानशे[1] सेना सदानासारवारणे ॥५६॥
[समुद्गकः]

कुम्भभूरिव निर्मग्नसपक्षानेकभूधरम् । उच्चुलुम्पांचकारोच्चैः स क्षणादङ्गवारिधिम् ॥५७॥

निस्त्रिंशदारितारातिहृदयाचलनिर्गता । न करिस्कन्धदघ्नासृङ्नदी दीनैरतीर्यत ॥५८॥
[निरौष्ठ्यः]

तापप्रदीपे मरणायैव पतन्ति स्मेति भावः] ॥५३॥ गङ्गोरगेति—सः अग्रं प्रथमं अङ्गं राजानमगात् । कैः कृत्वा । अङ्गैः सेनाङ्गैश्चतुर्भिः । किंविशिष्टैः । रागागारिगरैः राग एव अगारं विद्यते येषां ते रागागारिणः । यदि वा रागागा रागपर्वताः ते च अरयश्च तेषां गरैर्विषप्रायैः । गुरुगीर्महानादः । पुनः किंविशिष्टः । गङ्गोरगगुरूग्राङ्गगौरगोगुरुः गङ्गा चोरगगुरुश्च उग्राङ्गं च तद्वत् गौरा श्वेता या गौर्वाणी तया गुरुर्बृहस्पतिः । उग्रगुः उग्रास्तीक्ष्णा गावो बाणा मयूखा वा यस्य स उग्रगुः ॥५४॥ [[2]सुषेणस्य सेनापतेः सा प्रसिद्धा वाहिनी सेना अङ्गमङ्गदेशभूपालं प्रत्यपद्यत प्राप । कथंभूतमङ्गम् । उत्तुङ्गमातङ्गं समुन्नतगजम् । पुनः कथंभूतम् । आयान्तं संमुखमागच्छन्तम् । अत्रोपमामाह—वातानां समूहो वात्या वारिदानीकं मेघसमूहमिव] ॥५५॥ अत इति—अतोऽनन्तरं सेना अङ्गम् आनशे व्याप । कथंभूता सेना । सह इनेन वर्तते सेना सेनापतियुक्ता । सदाना सच्छोभन आनो बलं यस्याः सा सदाना । सारवा सशब्दा । क्व रणे । किंविशिष्टे । सदानासारवारणे सह दानासारेण वर्तन्ते सदानासारास्तथाभूता वारणा यत्र तस्मिन् तथा । अतस्तमानसे अतस्तमानान् अक्षीणाहंकारान् श्यति तनूकरोतीति अतस्तमानसस्तस्मिन् । इति समुद्गकः ॥५६॥ [[3]कुम्भेति—स सुषेणः क्षणादेव उच्चैरुन्नतम्, अङ्ग एव वारिधिस्तम् अङ्गदेशाधिपसागरम्, उच्चुलुम्पांचकार रिक्तं विदधे । कथंभूतमङ्गवारिधिम् । निर्मग्नाः संगताः सपक्षाः ससहाया अनेकभूधरा अनेकनृपा यस्मिस्तं पक्षे निर्मग्ना अन्तर्ब्रुडिताः सपक्षाः सगरुतः अनेकभूधरा नानापर्वता यस्मिंस्तम् । क इव कुम्भभूरिव अगस्त्य इव ॥] ॥५७॥ [4][निस्त्रिंशेति—दीनैः कातरैः असृङ्नदी रक्तवाहिनी न अतीर्यत न तीर्णा । कथंभूतासृङ्नदी । निस्त्रिंशैः खड्गैर्दारितानि

सब मरनेके लिए ही कर रहे थे ॥५३॥ जो गङ्गा नदी, शेषनाग, और शिवके शरीरके समान धवल वाणीके द्वारा बृहस्पतिके समान है, जिसके बाण अथवा किरण अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, एवं जिसकी आवाज बहुत भारी है ऐसा सुषेण सेनापति, रागरूपी गृहस्वामियों अथवा रागके पर्वत रूपी शत्रुओंको नष्ट करनेके लिए विषके समान अपनी चतुरंग सेनाके साथ अंगदेशके राजाके साथ युद्ध करनेके लिए आगे गया ॥५४॥ जिस प्रकार आँधी मेघसमूहका सामना करती है उसी प्रकार सुषेणकी सेनाने ऊँचे हाथी पर बैठकर आते हुए अंगदेशके राजाका सामना किया ॥५५॥ जिनका मान कोई भी नष्ट नहीं कर सका, ऐसे लोगोंका भी मान जिसने नष्ट कर दिया है और साथ ही जिसके हाथी मद-जलकी वर्षा कर रहे हैं ऐसे युद्धमें स्वामी सहित, समीचीन बल सहित एवं शब्द सहित सुषेणकी सेनाने अंग देशके राजाको व्याप्त कर लिया—घेर लिया ॥५६॥ जिसमें पंखों सहित अनेक पर्वत आकर डूबे हुए हैं ऐसे समुद्रको जिस प्रकार अगस्त्य ऋषिने क्षण भरमें उलीच दिया था—खाली कर दिया था उसी प्रकार जिसमें सहायकोंके साथ अनेक राजा लोग आकर निमग्न हो गये हैं—मिल गये हैं ऐसे अंगदेशके राजा रूपी विशाल समुद्रको सुषेणने क्षणभरमें उलीच डाला—सुभटोंसे खाली कर दिया ॥५७॥ उस युद्धमें तलवारके द्वारा विदीर्ण शत्रुओंके हृदयरूपी

१. -से म० घ० । २. कोष्ठकस्थः पाठः सटीकपुस्तके नास्ति । संपादकेन मेलितः । ३-४. ५७-५९ श्लोकानां टीका सटीकपुस्तके नास्ति । संपादकेन मेलिता ।

स्नेहपूर इव क्षीणे तत्रोद्रेकं महीभुजः । अस्तं यियासवोऽन्येऽपि प्रदीपा इव भेजिरे ॥५९॥

[कुलकम्]

हेमवर्माणि सोऽद्राक्षीद्भाविना भाविनासिना । द्विड्बलान्युत्सुकेनेव निचितानि चिताग्निना ॥६०॥
तद्घनोत्क्षिप्तदुर्वारतरवारिमहोर्मयः । अरिक्ष्माधरवाहिन्यो रणक्षोणीं प्रपेदिरे ॥६१॥
समुत्साहं समुत्साहंकारमाकारमादधत् । ससारारं ससाराररम्भवतो भवतो बलम् ॥६२॥
कोदण्डदण्डनिर्मुक्तकाण्डच्छन्ने विहायसि । चण्डांशुश्चण्डभीत्येव संवव्रे करसंचयम् ॥६३॥

खण्डितानि यानि अरातिहृदयानि सपत्नवक्षांसि तान्येवाचलाः पर्वतास्तेभ्यो निर्गता । पुनश्च कथंभूता । करिस्कन्धा गजग्रीवापृष्ठभागाः प्रमाणं यस्यास्तथाभूता] ॥५८॥ [स्नेहेति—स्नेहपूरे तैलपूरे इव तत्राङ्गाधिपे क्षीणे सति अस्तं यियासवो विनाशोन्मुखा अन्येऽपि महीभुजो राजानः प्रदीपा इव उद्रेकं औन्नत्यं भेजिरे प्रापुः] ॥५९॥ हेमेति—स द्विड्बलान्यद्राक्षीत् । कथंभूतानि । हेमवर्माणि सुवर्णसंनाहानि । कथंभूतानि । निचितानि । केन । चिताग्निना । कथंभूतेन उत्सुकेनेव । पुनः कथंभूतेन । भाविना भविष्यता । भाविनाशिना कान्त्यपहारिणा ॥६०॥ [1][तदिति—अरिक्ष्माधरवाहिन्यः अरयः शत्रव एव क्ष्माधरा राजानः पक्षे पर्वतास्तेषां संबन्धिन्यो वाहिन्यः सेनाः पक्षे नद्यः रणक्षोणीं समरवसुधां प्रपेदिरे प्रापुः । कथंभूतास्ताः । तद्घनेति—तैः शत्रुमहीधरैर्घनं निबिडं यथा स्यात्तथा उत्क्षिप्ता उन्नमिता दुर्वारा दुःखेन निवारयितुं शक्यास्तरवारयः कृपाणा महोर्मय इव विशालतरङ्गा इव यासु ताः सेनाः पक्षे त एव घनास्तद्घनास्तन्मेघास्तैरुत्क्षिप्ता उत्थापिता दुर्वारतरा अतिशयेन दुर्वारा वारिमहोर्मयो जलमहाकल्लोला यासु ता नद्यः ॥६१॥] समुत्साहमिति—भवतो बलम् आरम् अरिसमूहं ससार । कथंभूतस्य भवतः । ससाराररम्भवतः ससाराः सोत्कर्षाः सबला वा आरम्भा विद्यन्ते यस्य स ससाराररम्भवान् तस्य । किं कुर्वद् बलम् । आदधत्, कम् । आकारम्, कथंभूतम् । साहंकारम् । समुत् सहर्षम् । कथं ससार । समुत्साहं तद्विशेषणं वा ॥६२॥ [2][कोदण्डेति—चण्डांशुः सूर्यः संवव्रे संवृतवान्, कम् । करसंचयं किरणसमूहम्, कुतः । चण्डभीत्येव तीव्रभयेनेव । क्व सति । विहायसि नभसि कोदण्डदण्डेभ्यो धनुर्दण्डेभ्यो निर्मुक्तैर्निष्पतितैः काण्डैर्बाणैश्छन्ने

पर्वतसे निकली, हाथियोंके कन्धों प्रमाण गहरी जो खूनकी नदी बह रही थी उसे दीन—कायर मनुष्य पार नहीं कर सके थे ॥५८॥ जिस प्रकार स्नेह अर्थात् तेलका प्रवाह क्षीण हो जाने पर जो दीपक बुझना चाहते हैं वे कुछ उद्रेकको—विशिष्ट प्रकाशको व्याप्त होते हैं उसी प्रकार स्नेह अर्थात् प्रेमका प्रवाह क्षीण हो जानेसे जो राजा अस्त होना चाहते थे—मरना चाहते थे वे अन्त समय कुछ उद्रेकको—विशिष्ट पराक्रमको व्याप्त हुए थे ॥५९॥ सुषेण सेनापतिने सुवर्णके देदीप्यमान कवचोंसे युक्त शत्रुओंकी सेनाओंको इस प्रकार देखा था मानो वे आगे होने वाली एवं कान्तिको नष्ट करने वाली चिताकी अग्निसे ही उत्सुकतापूर्वक व्याप्त हो रही थीं ॥६०॥ शत्रु राजा रूपी मेघोंके द्वारा ऊपर उठायी हुई तलवारें ही जिनमें जलकी बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं ऐसी शत्रु राजाओंकी सेनारूपी नदियाँ युद्ध भूमिमें आ पहुँचीं । भावार्थ—जिस प्रकार मेघोंसे दुर्धर जलकी वर्षा होनेके कारण बड़ी-बड़ी लहरोंसे भरी पहाड़ी नदियाँ थोड़ी ही देरमें भूमि पर आकर बहने लगती हैं उसी प्रकार शत्रु राजाओंकी सेनाएँ तलवाररूपी बड़ी-बड़ी लहरोंके साथ युद्धके मैदानमें आ निकलीं ॥६१॥ जिसका उत्साह प्रशंसनीय था, तथा जो हर्ष एवं अहंकारसहित आकारको धारण कर रही थी ऐसी सार पूर्ण आरम्भ करने वाले आपकी सेना उस समय बड़े वेगसे चल रही थी ॥६२॥ उस समय धनुर्दण्डसे छूटे हुए बाणोंसे आकाश आच्छादित हो गया था और सूर्यका प्रकाश

१-२. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकस्य, सटीकपुस्तके पाठो नास्ति ।

सारसेनारसे नागाः समरे समरेखया । न न दाननदाश्चेरुर्वाजिनो वाजिनोद्धताः ॥६४॥
उद्दण्डं यत्र यत्रासीत्पुण्डरीकं रणाम्बुधौ । निपेतुस्तव योधानां तत्र तत्र शिलीमुखाः ॥६५॥
के न बाणैर्नवाणैस्ते सेनया सेनया हताः । मानवा मानबाधान्धाः सत्वराः सत्त्वराशयः ॥६६॥
बाणैर्बलमरातीनां सदापिहितसौरभः । अपूरि सुरमुक्तैश्च त्वद्बलं कुसुमोत्करैः ॥६७॥
मूर्धानं दुधुवुस्तत्र कङ्कपत्रक्षता भटाः । प्रभोरर्थासमाप्तौ वा प्राणानां रोद्धुमुत्क्रमम् ॥६८॥
[अतालव्यः]
त्रुट्यद्द्विट्कण्ठपीठास्थिटात्कारभरभैरवे । पेतुर्भयान्वितास्तत्र पत्रिणो न पतत्रिणः ॥६९॥
शरघाताद्गजैर्दीनरसितैरुत्पलायितम् । रक्ताब्धौ तत्करैश्छिन्नैरसितैरुत्पलायितम् ॥७०॥

व्यासे तथाभूते सति ॥६३॥] सारेति—समरे संग्रामे नागाः करिणः समरेखया तुल्यरेखया न न चेरुरपि तु चेरुः । कथंभूते समरे । सारसेनारसे सारसेनाया रसः शब्दो रागो वा यत्र तस्मिन् । कथंभूता नागाः । दाननदा मदह्रदाः । न केवलं नागा वाजिनो वा अश्वाश्च । कथंभूताः । उद्धताः । जिनेति संबोधनपदम् ॥६४॥ [1][रणाम्बुधौ समरसागरे यत्र यत्र उद्दण्डं उन्नतदण्डयुक्तं पुण्डरीकं सितच्छत्रं पक्षे सिताब्जम् आसीत् तत्र तत्र तव योधानां सुभटानां शिलीमुखा बाणाः पक्षे भ्रमराः निपेतुः ॥६५॥] क इति—ते तव सेनया मानवाः के न हताः सेनया कथंभूतया सेनया इनसहितया । कैः बाणैः, कथंभूतैर्नवाणैर्नवशब्दैः । मानवाः किं-विशिष्टाः । मानबाधान्धा अहंकारपीडान्धाः । सत्वराः सवेगाः, सत्त्वराशयः सत्त्वसमूहान्विताः ॥६६॥ बाणैरिति—बाणैररातिबलमपूरि कुसुमोत्करैश्च त्वद्बलम् । कथंभूतैः । सदापिहितसौरभैः सर्वदाच्छादितभानुप्रभैर्बाणैः, द्वितपक्षे सदापिहितम् अनुकूलं सौरभं सौगन्ध्यं येषां तैः कुसुमोत्करैः ॥६७॥ [मूर्धानमिति—तत्र रणाजिरे भटाः शत्रुयोधाः मूर्धानं शिरो दुधुवुः कम्पयामासुः । कथंभूताः, भटाः । कङ्कपत्रैः बाणैः क्षता हताः । अत्रोत्प्रेक्षते—प्रभोः स्वामिनः अर्थासमाप्तौ प्रयोजनासिद्धौ प्राणानाम् उत्क्रमम् उद्गमनं रोद्धुमिव । अयं श्लोकस्तालव्याक्षररहितः] ॥६८॥ [2][त्रुट्यदिति—त्रुटचन्ति खण्डचमानानि द्विषां शत्रूणां कण्ठपीठस्य यान्यस्थीनि कीकसानि तेषां टात्कारभरेण टात्कारशब्दसमूहेन भैरवे भयंकरे तत्र युद्धक्षेत्रे भया कान्त्या अन्विताः सहिताः पत्रिणो बाणाः पेतुः भयेन भीत्या अन्विता इति भयान्विताः पतत्रिणो गृद्धकङ्कादयः पक्षिणो न पेतुः ॥६९॥] शरेति—शर-

कम हो गया था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्यने तीव्र भयसे ही अपनी किरणोंके समूहका संकोच कर लिया हो ॥६३॥ हे जिन ! सेनाके जोरदार शब्दोंसे भरे हुए युद्धके मैदानमें, जिनके दोनों गण्डस्थलोंसे एक सदृश रेखाके आकारसे मद जलकी नदियाँ बह रही थीं ऐसे हाथी और उद्दण्ड घोड़े इधर-उधर दौड़ रहे थे ॥६४॥ रणरूपी सागरमें जहाँ जहाँ छत्ररूपी सफेद कमल ऊँचे उठे हुए दिखाई देते थे वहीं-वहीं पर तुम्हारे योधाओंके बाणरूपी भ्रमर पड़ते थे ॥६५॥ हे भगवन् ! सेनापतिसे सहित आपकी सेनाने, नये-नये शब्द करने वाले बाणोंके द्वारा, मानकी बाधासे अन्धे, शीघ्रतासे भरे हुए एवं पराक्रमके पुंज स्वरूप किन मनुष्योंको नष्ट नहीं कर दिया था ॥६६॥ हे स्वामिन् ! शत्रुओंकी सेना तो सदा काल सूर्यकी दीप्तिको आच्छादित करने वाले बाणोंसे भरी रहती थी और आपकी सेना देवोंके द्वारा वर्षाये हुए अत्यन्त सुगन्धित फूलोंके समूहसे पूर्ण रहती थी ॥६७॥ उस युद्धमें बाणोंके द्वारा घायल हुए योद्धा अपना मस्तक हिला रहे थे उससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे अपने स्वामीका कार्य समाप्त किये बिना ही प्राणोंका जो निर्गम हो रहा था उसे रोक ही रहे थे ॥६८॥ शत्रुओंकी कण्ठस्थलकी टूटने वाली हड्डियोंके टात्कार शब्दके समूहसे जो अत्यन्त भयंकर दिखाई देता था ऐसे उस युद्धस्थलमें प्रभासे परिपूर्ण—चमकते हुए बाण ही गिरते थे, भयसे युक्त पक्षी नहीं ॥६९॥ बाणोंके घातसे दीन शब्द करते हुए हाथी इधर-उधर भाग

१-२. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकस्य, सटीकपुस्तके नास्ति ।

वेतालास्ते तृषोत्तालाः पश्यन्तः शरलाघवम् । पाणिपात्रस्थमप्यत्र कीलालं न पपुर्युधि ॥७१॥
त्वद्बलैर्विषमारातिमारातिस्फुटविक्रमैः । अखगं व्योम कुर्वाणैः कुर्वाणैस्तस्तरे तदा ॥७२॥
संसारसारलक्ष्म्येव वैदर्भ्या स्वीकृतस्य ते । ईर्ष्यया वर्धितोत्साहा तत्र शत्रुपरम्परा ॥७३॥
पराजिताशु भवतः सेनया यतमानया । पराजिता शुभवतः सेनया यतमानया ॥७४॥ [युग्मम्]
ततो भग्ने बलेऽन्यस्मिन्पुलकस्फारसैनिकः । एकहेलं सहोत्तस्थे मालवेन्द्रेण कुन्तलः ॥७५॥
सुषेणस्तद्बलव्यूहं सन्नाहवपुषं ततः । हर्षेण वीक्ष्य सौवर्णसंनाहवपुषं ततः ॥७६॥
चतुरङ्गबले तत्र परिसर्पति शात्रवे । सैन्यमाश्वासयामास व्याकुलं स्वं चमूपतिः ॥७७॥

घाताद्गजैरुत्पलायितं नष्टम् । कथंभूतैः । दीनरसितैर्दीनशब्दैः । तत्करैर्गजहस्तैश्छिन्नैरसितैः कृष्णैरुत्पलायितम् उत्पलवदाचरितम् ॥७०॥ [1][वेताला इति—ते रणदिदृक्षया समागता वेतालाः पिशाचाः युधि समरक्षेत्रे अत्र पाणिपात्रस्थमपि करभाजनस्थितमपि कीलालं जलं रुधिरं वा न पपुः न पिबन्ति स्म । कथंभूताः । तृषा पिपासया उत्ताला व्यग्रा अपि । किं कुर्वन्तः । शरलाघवं बाणानां क्षिप्रत्वं पश्यन्तो विलोकमानाः ।] ॥७१॥ त्वद्बलैरिति—त्वद्बलैस्त्वत्सैन्यैः कुः पृथ्वी तस्तरे । कैः । बाणैः । किं कुर्वद्भिः । कुर्वाणैः । किं तद् । व्योम, कथंभूतम् । अखगं सुरपक्षिरहितम् । त्वद्बलैः किंविशिष्टैः । विषमारातिमारातिस्फुटविक्रमैः विषमारातीनां मारेण अतिस्फुटो विक्रमो येषां तानि विषमारातिमारातिस्फुटविक्रमाणि तैः ॥७२॥ संसारेति—संसारेत्यादि सुगमम् । शत्रुपरम्परा भवतः सेनया यतमानया प्रयत्नं कुर्वाणया आशु शीघ्रं पराजिता । कथंभूता । परैः शत्रुभिरजिता अपराजिता । भवतः किंविशिष्टस्य । शुभवतः । सेनया कथंभूतया । सेनया स्वामिसहितया, आयतमानया साहंकारया ॥७३-७४॥ तत इति—सुगमम ॥७५॥ सुषेण इति—ततोऽनन्तरं सुषेणः स सेनापतिस्तद्बलव्यूहं वीक्ष्य हर्षेण ततो व्याप्तः । कथंभूतम् । सौवर्णसन्नाहवपुषं सौवर्णसन्नाहं वपुर्यस्य तं तथा । पुनः किंविशिष्टम् । सन्नाहवपुषम्—सन्नमक्षीणमाहवं पुष्णाति यस्तं सन्नाहवपुषम् ॥७६॥ [2][चतुरङ्गेति—तत्र समरक्षेत्रे शात्रवे शत्रुसंबन्धिनि चतुरङ्गबले चत्वारि हस्त्यादीनि अङ्गानि यस्य तथाभूतं चतुरङ्गं तच्च तद्बलं चेति चतुरङ्गबलं तस्मिन् परिसर्पति समन्ता-

रहे थे और रुधिरके सागरमें कट-कट कर गिरे हुए हाथियोंके श्यामल शुण्डादण्ड नील कमलके समान जान पड़ते थे ॥७०॥ उस युद्धमें जो बेताल थे वे प्याससे पीड़ित होने पर भी बाण चलानेकी शीघ्रताको देखते हुए आश्चर्यवश अपने हाथरूपी पात्रमें रखे हुए भी रुधिर अथवा जलको नहीं पी रहे थे ॥७१॥ विषम शत्रुओंके मारनेसे जिनका पराक्रम अत्यन्त प्रकट है ऐसी आपकी सेनाओंने, आकाशको पक्षियों अथवा विद्याधरोंसे रहित करने वाले बाणोंके द्वारा उस समय युद्धकी भूमिको आच्छादित कर दिया था ॥७२॥ हे स्वामिन् ! संसारकी लक्ष्मीस्वरूप शृंगारवतीने जो आपको स्वीकृत किया था उससे ईर्ष्याके कारण आपकी शत्रु परम्पराका उत्साह बढ़ गया था । यद्यपि वह शत्रु परम्परा अन्य पुरुषोंके द्वारा अविजित थी—उसे कोई जीत नहीं सका था तो भी चूँकि आप कल्याणोंसे सहित थे अतः आपकी प्रयत्नशील, सेनापति युक्त एवं अहंकारिणी सेनाने उसे शीघ्र ही पराजित कर दिया ॥७३-७४॥ जब अन्य सेना पराजित होकर नष्ट हो गयी तब जिसके सैनिक हर्षसे रोमांचित हो रहे थे ऐसा कुन्तल देशका राजा मालव नरेशके साथ एकदम उठकर खड़ा हुआ ॥७५॥ सेनापति सुषेणने अक्षीण अथवा वर्तमान युद्धको पुष्ट करने वाले एवं सुवर्ण निर्मित कवचोंसे युक्त शरीरको धारण करने वाले उन दोनों राजाओंके सैन्य-व्यूहको बड़े हर्षसे देखा और युद्धके मैदानमें शत्रु सम्बन्धी चतुरंग सेनाके इधर-उधर चलने पर कुछ घबड़ायी हुई अपनी

१-२. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकस्य ।

स वाजिसिन्धुरग्रामान्संभ्रमादभिधावितः । जवादसिं स्फुरद्धामा बिभ्रन्नादमधात्ततः ॥७८॥

[गोमूत्रिकः]

सगजः सरथः साश्वः सपदातिः समन्ततः । क्रामन्नभिमुखं क्रोधात्तीव्रतेजाः शितायुधः ॥७९॥
समारेभे समारेभे समारेभे रणे रिपुः । स दानेन सदानेन सदानेन व्यपोहितुम् ॥८०॥

[युग्मम्]

अम्भोधिरिव कल्पान्ते खड्गकल्लोलभीषणः । स्खलितो न स भूपालैस्तत्र वेलाचलैरिव ॥८१॥
कङ्कः किं कोककेकाकी किं काकः केकिकोऽककम् । कौकः कुकैककाकैकः कः केकाकाकुकाङ्ककम्८२

[एकाक्षरः]

अनेकधातुरङ्गाढ्यान् कुञ्जराजिदुरासदान् । रिपुशैलानसिर्भिन्दन् जिष्णोर्वज्रमिवाबभौ ॥८३॥

त्परिक्रामति सति व्याकुलं भीतिव्यग्रं स्वं स्वकीयं सैन्यं चमूपतिः सुषेणः आश्वासयामास] ॥७७॥ **स इति**—स सुषेणो वाजिसिन्धुरग्रामान् अभिलक्ष्यीकृत्य धावितः सन्नादमधात्ततः । इति गोमूत्रिकः ॥७८॥ **स गज इति**—अभिमुखं धावन् स रिपुरनेन चमूपतिना व्यपोहितुं समारेभे । क्व । रणे, कथंभूते । समारेभे सहमारेण वर्तन्ते समाराः, समारा इभा यत्र तस्मिन् समारेभे । पुनः कथंभूते । समारेभे सम आरेभः शब्दो यत्र तस्मिन् । कथंभूतेनानेन । सदानेन सद्बलेन । कथम् । सदा सर्वदा दानेन खण्डनेन उत्सारयितुमुपक्रान्त इत्यर्थः ॥७९-८०॥ **अम्भोधिरिवेति**—सुगमम् ॥८१॥ **कङ्क इति**—कस्य ब्रह्मण ओकः कोकः स्वर्गः, कुः पृथ्वी, कं जलं तेषु एककोऽद्वितीयो गुरुत्वात् तस्य संबोधनं हे कौकः कुकैक जिन ! । एकः क आक कुटिलं जगाम । कम् । केकाकाकुकाङ्ककम् केकाकाकुको मयूरः सोऽङ्कश्चिह्नं यस्य स केकाकाकुकाङ्कः कार्तिकेयस्तस्येव कं शरीरं यस्य तं तथाभूतं सेनापतिं क आक अपि तु न कोऽपि। अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति—कङ्को जलवायसः स जलचरोऽपि भूत्वा किं कोककेकाकी भवति अपि तु न भवति कोकश्चक्रवाकः केको हंसस्तौ अकति कुटिलं गच्छतीत्येवंशीलः कोककेकाकी। किं काकश्चिरजीवी केकिको भवति केकी मयूरस्तद्वत् क आत्मा स्वरूपं यस्य सः केकिकः मयूरस्वरः काकः कदापि न स्यात् । तं कथंभूतमककम् अलोलमित्यर्थः । एकाक्षरः श्लोकः ॥८२॥ **अनेकेति**—तस्यासिः खड्गो रिपुशैलान् भिन्दन् जिष्णोर्वज्रमिवाबभौ । कथंभूतान् रिपून् शैलांश्च । अनेकधातुरङ्गाढ्यान् अनेकप्रकाराश्वेश्वरान् अन्यत्र अनेके च धातवश्च तेषां रङ्गो दर्पविशेषस्तेनाढ्यान् । कुञ्जराजिदुरासदान् गजसंग्रामदुर्धरान्

सेनाको आश्वासन दिया—धीरज बँधाया ॥७६–७७॥ जिसका तेज स्फुरायमान हो रहा है ऐसा सुषेण, तलवार धारण करता हुआ बड़े वेगसे संभ्रमपूर्वक घोड़ों और हाथियोंके समूहके सामने जा दौड़ा और जोरका शब्द करने लगा ॥७८॥ तीव्र प्रताप और तीक्ष्ण शस्त्रको धारण करने वाले सुषेणने, क्रोधवश हाथियों, रथों, घोड़ों एवं पैदल चलने वाले सिपाहियोंके साथ सब ओरसे शत्रुदलका सामना किया। जिसमें हाथी जुदे प्रहार कर रहे हैं और सब ओर एक जैसा कोलाहल हो रहा है ऐसे युद्धमें समीचीन बलके धारक सुषेण सेनापतिने खण्ड-खण्ड कर शत्रुको भगाना शुरू किया ॥७९-८०॥ जिस प्रकार प्रलय कालमें लहरोंसे भयंकर दिखनेवाला समुद्र, किनारे पर खड़े पर्वतोंसे नहीं रोका जाता उसी प्रकार तलवारसे भयंकर दिखने वाला सुषेण उस युद्धमें अन्य राजाओंसे नहीं रोका जा सका था ॥८१॥ हे स्वर्ग, पृथिवी तथा जलमें रहने वालोंमें अद्वितीय जिनेन्द्र ! कार्तिकेयकी समानता करनेवाले उस स्थिर सुषेणके साथ भला कौन कुटिल व्यवहार कर सकता था। अर्थात् कोई नहीं। क्योंकि क्या जलकाक, चकवा और हंसके समान चल सकता है। अथवा कौआ मयूर जैसा हो सकता है ॥८२॥ जिस प्रकार अनेक धातुओंके रंगोंसे युक्त और लतागृहोंसे दुर्गम पहाड़ोंको भेदन करता हुआ इन्द्रका वज्र सुशोभित होता है उसी प्रकार अनेक प्रकारके घोड़ोंसे युक्त एवं हाथियोंके युद्धसे दुर्गम शत्रुओंका भेदन करता हुआ विजयी सुषेणका खड्ग सुशो-

जघान करवालीयघातेनारेर्बलं बली । न नाप्ता ते निरालम्बा करे तेनावनिर्वरः ॥८४॥

(अर्धभ्रमः

तेन संग्राममधीरेण तव नाथ पदातिना । एकहेलमनेकेभ्यः शत्रुभ्यो निशितासिना ॥८५॥

भरं याममयारम्भरञ्जिता ददताजिरम् । याता क्षमा माक्षताया मदमार रमादम ॥८६॥

(युग्मम्) [सर्वतोभद्रम्]

धाम्ना धाराजलेनेव दृष्टमातङ्गसङ्गमाम् । अभ्युक्ष्याभ्युक्ष्य जग्राह तत्कृपाणो रिपुश्रियम् ॥८७॥

देवेन्दो विवद्वादिवाद दावदवाम्बुद । दिवं ददद्दुदावेदं दुद्वृन्दं विदैववत् ॥८८॥ (द्व्यक्षरः)

पीत्वारिशोणितं सद्यः क्षीरगौरं यशो वमन् । इन्द्रजालं तदीयासिः काममाविश्चकार सः ॥८९॥

अन्यत्र कुञ्जानां राजिनिकुञ्जपङ्क्तिस्तया दुरासदान् ॥८३॥ जघानेति—वर इव वरः । यथा वरस्य कस्यापि करं निरालम्बा कन्या प्राप्नोति तथावनिस्ते करे न नाप्ता अपितु प्राप्ता । केन कारणेन निरालम्बा । येन स बली करवालघातेनारेर्बलं जघान ॥८४॥ तेनेति—हे आररमादम ! अरिसमूहलक्ष्मीदमन ! तव पदातिना क्षमा पृथ्वी याता प्राप्ता । कम् । मदम् । कस्याः । माक्षतायाः मा लक्ष्मीस्तस्या अक्षता नित्यता तस्याः । किं कुर्वता । ददता । किं तत् । अजिरमङ्गणम् । कथंभूतम् । यामम् । केभ्यः । अनेकेभ्यः शत्रुभ्यः । कथम् । भरम् अतिशयेन । किंविशिष्टा क्षमा । अयारम्भरञ्जिता अयः शुभावहो विधिस्तस्यारम्भस्तेन रञ्जिता । अयमभिप्रायः—शत्रवस्तव पदातिना क्षयं नीताः स्वयं चायारम्भरञ्जिता इति कारणात्—श्रीनित्यतामदसगात् पृथ्वी । सर्वतोभद्रम् ॥८५-८६॥ धाम्नेति—सुगमम् ॥८७॥ देवेन्दो इति—देवानामिन्दुर्देवेन्दुस्तस्य संबोधनं हे देवेन्दो जिन ! विवद्वादिवाददावदवाम्बुद ! विवदन्तश्च ते वादिनश्च विवद्वादिनः सौगतादयस्तेषां वाद एव दावो वनं तस्य दवस्तत्राम्बुदो मेघस्तस्य संबोधनम् । विदैववत् प्रतिकूलदैवयुक्तम् दुद्वृन्दं शत्रुवृन्दम् । इद तद् दुदाव । किं कुर्वन् । ददत् । काम् । दिवम् । इति द्व्यक्षरः ॥८८॥ [1][पीत्वेति—सः प्रसिद्धः तदीयासिः सुषेणकृपाणः कामं यथेच्छं इन्द्रजालं मायिकविनोदम् आविश्चकार प्रकटयामास । किं कुर्वन् । अरिशोणितं रिपुरुधिरं पीत्वा सद्यो झटिति क्षीरगौरं दुग्धधवलं यशो वमन् उद्गिरन् । रक्तं रुधिरं पीत्वा श्वेतं यशो ववामे-

---

भित हो रहा था ॥८३॥ बलवान् सुषेणने तलवारके घातसे शत्रुओंकी समस्त सेना नष्ट कर दी इसलिए निराधार होकर समस्त पृथिवी आपके हाथ आ गयी है । आप सचमुच ही उसके वर हो गये हैं ॥८४॥ हे नाथ ! हे शत्रु समूहकी लक्ष्मीको दमन करने वाले ! आपके अनुजीवी रणवीर सुषेणने पैनी तलवारके द्वारा एक ही साथ अनेक शत्रुओंके लिए अच्छी तरह यमराजका आंगन प्रदान किया था अर्थात् उन्हें मारकर यमराजके घर भेज दिया था इसलिए पुण्यके प्रारम्भसे अनुरक्त हुई उनकी वह अखण्ड लक्ष्मीयुक्त पृथिवी उसने प्राप्त की है । ॥८५-८६॥ जिसका मातंगों अर्थात् हाथियों [पक्षमें चाण्डालों] के साथ समागम देखा गया है ऐसी शत्रुओंकी लक्ष्मीको सुषेणका कृपाण कान्तिरूप धाराके जलसे मानो सींच-सींच कर ही ग्रहण कर रहा था ॥८७॥ जो देवोंको आनन्दित करनेके लिए चन्द्रमाके समान हैं तथा विवाद करनेवाले वादियोंके वादरूपी दावानलको शान्त करनेके लिए मेघके समान हैं ऐसे हे धर्मनाथ जिनेन्द्र ! सुषेणने भाग्यहीन शत्रुओंके समूहमें से कितनों ही को स्वर्ग प्रदान किया और कितनों ही को संतापित किया ॥८८॥ शत्रुओंका खून पीकर तत्काल ही दूधके समान श्वेतवर्ण यशको उगलनेवाली उसकी तलवार मानो जादूका खेल प्रकट कर रही थी

---

१. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकस्य ।

स प्रसादेन देवस्य रसादेकपदे बलम् । संपदेऽजयदेव द्विट्कम्पदेन सदेवनम् ॥९०॥ (मुरजबन्धः)
तेन मालवचोलाङ्गकुन्तलव्याकुले रणे । भानुनेव तमःकीर्णे किं किं[1] नो तेजसा कृतम् ॥९१॥
काननाः कानने नुन्ना नाकेऽनीकाङ्कका[2]किनः । के के नानीकिनीनेन नाकीनैकाकिना ननु ॥९२॥
सागरे भुवि कान्तारे संगरे वा गरीयसि । त्वद्भक्तिः कस्य नो दत्ते कामधेनुरिवेहितम् ॥९३॥
देवनाथमनादृत्य भावनास्तम्भनादृते । त्वयीनासीत्स नास्तद्विड्जयी नाथमनास्ततः ॥९४॥
[मुरजबन्धः]
खड्गत्रासावशिष्टेऽथ प्रणष्टे विद्विषां बले । सुषेणः शोधयामास रणभूमिं महाबलः ॥९५॥
गजवाजिजवाजिजयानुगतः स रसात्तरसात्तयशोविभवः ।
क्रमवन्तमवन्तमिलां श्रयितुं स्वयमेत्ययमेत्य भवन्तमितः ॥९६॥

त्यद्भुतम्] ॥८९॥ स इति—सदेवनं सक्रीडनं यथा भवति एवं एकपदे एकहेलं बलं सोऽजयदेव । किमर्थम् । संपदे । केन । प्रसादेन । कस्य । देवस्य । कथंभूतेन । द्विट्कम्पदेन रसात् रागात् ॥९०॥ तेनेति—सुगमम् ॥९१॥ कानना इति—हे नाकीन ! देवेश ! ननु अनीकिनीनेन सेनापतिना एकाकिना न के के कानने नुन्ना अपि तु सर्वेऽपि वने क्षिप्ताः । कथंभूताः । काननाः कालमुखाः । नाके वानीकाङ्ककाकिनः अनीकाङ्के संग्रामोत्सङ्गे ककन्तीत्येवंशीला ये ते स्वर्गे क्षिप्ताः । द्व्यक्षरः ॥९२॥ सागर इति—सुगमम् ॥९३॥ देवेति—ततः स ना पुरुषः सुषेणोऽस्तद्विट् सन् जयी आसीत् । कथंभूतः । नाथमनाः नाथे स्वामिनि मनो यस्य स नाथमनाः । यतः कारणात् हे इन ! स्वामिन् ! त्वयि भावना श्रद्धा स्तम्भनादृते स्खलिता आसीत् । देवनाथमनादृत्य इन्द्रमप्यनादृत्येत्यर्थः ॥९४॥ खड्गेति—सुगमम् ॥९५॥ जित्वा संग्रामे गृहीत्वा संपदं स स्वतन्त्रो भूत्वा क्वापि स्थास्यतीति शङ्कायां प्राह—गजेति—इतः अस्मात् अयमेत्य अनुकूलदैवं प्राप्य भवन्तं श्रयितुं स्वयमेति । अतिनिकटत्वाद्वर्तमाननिर्देशः । भवन्तं कथंभूतम् । क्रमवन्तम् अनुक्रमायातम् । अवन्तं च । काम् । इलाम् । सुषेणः किंविशिष्टः । गजवाजिजवाजिजयानुगतः गजाश्च वाजिनश्च तेषां जवो वेगो यत्र स चासौ आजिश्च तस्या जयस्तेनानुगतः । स रसात् रागात् आत्तयशोविभवः । केन । तरसा बलेन वेगेन वा भवन्तं श्रयितुमेतीत्यर्थः॥९६॥

॥८९॥ हे नाथ ! शत्रुओंको कम्पन प्रदान करनेवाले आपके प्रसादसे सुषेणने सम्पदा प्राप्त करनेके लिए शत्रुओंकी सेनाको बड़े उत्साहसे एक ही साथ जीत लिया था ॥९०॥ अन्धकारसे भरे हुए स्थानमें सूर्यके समान, मालव, चोल, अंग और कुन्तल देशके राजाओंसे भरे हुए युद्धमें सुषेणने अपने तेजके द्वारा क्या-क्या नहीं किया था ? ॥९१॥ हे देवोंके स्वामी ! अकेले सेनापति सुषेणने कुत्सित मुखवाले एवं युद्धके मैदानमें आनेवाले किन-किन लोगोंको वनमें नहीं खदेड़ दिया अथवा स्वर्गमें नहीं भेज दिया ? ॥९२॥ हे भगवन् ! चाहे समुद्र हो, चाहे पृथिवी हो, चाहे वन हो, और चाहे विशाल संग्राम हो, सभी जगह आपकी भक्ति कामधेनुके समान किसके लिए मनोवांछित पदार्थ नहीं देती ? अर्थात् सभीके लिए देती है ॥९३॥ हे स्वामिन् ! इन्द्रका अनादर कर आपमें अपनी भावनाओंको रोके बिना वह सुषेण शत्रुओंको नष्टकर विजयी नहीं हो सकता था अतः उसका मन आपमें ही लगा हुआ है। भावार्थ—आपके ही ध्यानसे उसने शत्रुओंका नाशकर विजय प्राप्त की है अतः वह अपना मन आपमें ही लगाये हुए है ॥९४॥ तदनन्तर तलवारकी धारसे बाकी बची हुई शत्रुकी सेना जब भाग खड़ी हुई तब महाबलवान् सुषेणने रणभूमिका शोधन किया—निरीक्षण किया ॥९५॥ हाथियों और घोड़ोंके वेगपूर्ण युद्धमें जिसने बड़े उत्साहसे विजय प्राप्त की है साथ ही अपनी बलवत्तासे जिसने कीर्तिका वैभव प्राप्त किया है ऐसा यह सुषेण सेनापति, क्रमयुक्त

१. न तेजसा ख० ग० च० छ० ज० । २. कानिनः म० घ० ज० च० ।

चन्द्रांशुचन्दनरसादपि शीतमङ्गं पीयूषपूरमसकृद्वमतीव दृष्टिः ।
क्वायं पुनर्वमति वैरिमहीशवंशसंप्लोषणो भुवनभूषण ते प्रतापः ॥९७॥
चक्रेऽरिसंततिमिहाजिषु नष्टपद्मातिख्यातिमेकचकिताकृतिधारिणीं यः ।
तिग्मासिरिष्टमतवत्स तवावति क्ष्मां किं तत्परं धरणिमित्र कृतिन्ब्रवीमि ॥९८॥
कः शर्मदं वृजिनभीतिहरं जितात्मा हर्षाय न स्मरति तेऽभिनवं चरित्रम् ।
संपद्गुणातिशयपस्त्य रुचं तवेति कः कान्तिमानतिसुधाद्रवरोचमानाम् ॥९९॥
हृतमोहतमोगतेस्तव क्षणदेक्षणदेशशोभिनः[1] । समया समयात्स्वयं ततः कमला[2] कमलाभमैक्षत ॥१००॥
आतङ्कार्तिहरस्तपद्द्युमणिसद्भूरिप्रभाजिद्वसुर्दृष्टव्यं हृदि चिह्नरत्नमसमं शौचं च पीनोन्नते ।
देहेऽधत्त हितं त्वमन्दमहृदि क्षुद्रेऽप्यतो दर्शने वल्गुर्मद्रमहस्य रम्यमपरं क्षीणव्यपायं पदम् ॥१०१॥

(इति श्लोकद्वयनिर्वर्तितषोडशदलकमलचित्रे कविकाव्यनामाङ्कः । यथा कर्णिकाक्षरेण सह प्रथमदलाग्रदलाग्रेषु 'हरिचन्द्र'कृतधर्मजिनपतिचरितमिति) चन्द्रांशिवति—सुगमम् ॥९७॥ चक्र इति—तव। तिग्मासिस्तीक्ष्णः खड्गः इष्टमतवद्दर्शनमिवावति पालयति क्ष्मां पृथ्वीम् । यः किम् । यश्चक्रे, काम् अरिसंततिम्, कथंभूताम् । नष्टपद्मातिख्यातिम् । पद्मा लक्ष्मीः अतिख्यातिः कीर्तिः नष्टे पद्मातिख्याती यस्यास्तां तथा । पुनः कथंभूताम् । एकचकिताकृतिधारिणीम् एकभीतिमूर्त्तियुक्ताम् । अरयः प्रत्यर्थिनोऽन्यत्र सौगतादयः । शेषं सुगमम् । पद्मबन्धीयं श्लोकद्वयम् ॥९८॥ क इति—सुगमम् ॥९९॥ हतेति—तव समया समीपे यतः स्वयं समयात् ततः कमला श्रीः कमलाभमैक्षत अपि तु न कमपि । तव कथंभूतस्य । हतमोहतयोगतेः मोह एव तमो मोहतमः हता मोहतमसो गतिर्येन तस्य । क्षणदेन उत्सवप्रदेन ईक्षणदेशेन लोचनप्रदेशेन शोभी तस्य तथाभूतस्य ॥१००॥ आतङ्केति—आतङ्कार्त्तिहरः आतङ्को भयमार्तिः पीडा ते हरतीति आतङ्कार्तिहर । तपद्द्युमणिसद्भूरिप्रभाजिद्वसुः तपद्द्युमणेः सच्छोभनां भूरिप्रभां जयतीति तपद्द्युमणिसद्भूरिप्रभाजित् तथाविधं वसु तेजो यस्य स तथा । यत् अधत्त, किं तत् । चिह्नरत्नं श्रीवत्सलक्षणम् । कथंभूतम् ।

तथा पृथिवीकी रक्षा करनेवाले आपकी सेवा करनेके लिए यहीं आ रहा है ॥९६॥ हे भुवनभूषण! आपका शरीर चन्द्रमाकी किरणों तथा चन्दनके रससे भी कहीं अधिक शीतल है और आपकी दृष्टि मानो अमृतके पूरको उगल रही है फिर शत्रुओंके वंशरूपी—कुलरूपी बाँसोंको जलानेवाला आपका यह प्रताप कहाँ रहता है? ॥९७॥ अनेक युद्धोंमें जिसने शत्रुओंकी सन्ततिको लक्ष्मी और कीर्तिसे रहित तथा भयभीत आकृतिको धारण करनेवाली किया है; तीक्ष्ण तलवारको धारण करनेवाला वह सुषेण इष्ट-मित्रकी तरह आपकी पृथिवीकी रक्षा कर रहा है। हे पृथ्वीके मित्र! हे कुशल शिरोमणे! इससे अधिक और क्या कहूँ? ॥९८॥ हे सम्पत्ति और श्रेष्ठ गुणोंके भवन! ऐसा कौन जितेन्द्रिय पुरुष है जो हर्ष प्राप्त करनेके लिए आपके सुखदायी एवं पापका भय हरनेवाले नूतन चरित्रका स्मरण नहीं करता हो? तथा ऐसा कौन कान्तिमान् है जो अमृतके द्रवसे भी अधिक शोभायमान आपकी कान्तिको प्राप्त कर सकता हो? अर्थात् कोई नहीं है ॥९९॥ [९८वें और ९९वें श्लोकोंसे सोलह दलका एक कमलाकार चित्र बनता है उसमें कवि और काव्यका नाम आ जाता है जैसे 'हरिचन्द्रकृतधर्मजिनपतिचरितम्'।] चूँकि लक्ष्मी, मोहरूपी अन्धकारकी गतिको नष्ट करनेवाले और उत्सवप्रद नयन प्रदेशसे सुशोभित आपके पास स्वयं आयी है इसलिए उसने कौन-सा अलाभ देखा? अर्थात् कोई भी नहीं ॥१००॥ हे भगवन्! आप भयकी पीड़ाको हरनेवाले हैं,

---

१. शोभितः घ० म० । २. कमला त्वां कमला अ० म० घ० ।

दम्भलोभभ्रमा [1]आनिरुद्धा गुणैर्द्रष्टुमप्यक्षमा देव वक्त्रं तव।
वर्जयित्वा ययुः सुश्रुत त्वां तथा ते भजन्ते यथा नेश भक्तानपि ॥१०२॥ [चक्रबन्धश्लोकद्वयम्]
स्फुटमिति कथयित्वा सत्कृतिं प्राप्य दूते गतवति निजगेहं तत्सुषेणः ससैन्यः।
अहितविजयलब्धं वित्तमानीय भक्त्या नतिचिरमुपनिन्ये धर्मनाथाय तस्मै ॥१०३॥

द्रष्टव्यम्। क्व। हृदि। अन्यत् शौचं च निर्मलताम्। असमं सहजातिशयत्वात्। क्व। देहे। किंविशिष्टे। पीनोन्नते संहननसौन्दर्यातिशययोगात्। हितं तु अमन्दम् अधत्त। क्व। क्षुद्रेऽपि अहृदि अचेतने। त्वयि क्षुद्रः स एव स्याद्योऽचेतनः। अतः कारणात् त्वं पदं स्थानमसि। कस्य। मन्द्रमहस्य मनोज्ञोत्सवस्य। रम्यं मनोज्ञम् अपरमुत्कृष्टं क्षीणव्यपायमव्ययस्थानं मन्द्रोत्सवस्य त्वमसि। कथंभूतः। वल्गुर्मनोज्ञः। क्व। दर्शने तत्त्वश्रद्धाने। दम्भलोभभ्रमा इति। चक्रबन्धश्लोकद्वयम्। अत्र श्लोकद्वयनिर्मिते चक्रचित्रे प्रथमतृतीयषष्ठाष्टमाक्षररेखाक्रमेण कविनामाङ्कश्लोको यथा—'आर्द्रदेवसुतेनेदं काव्यं धर्मजिनोदयम्। रचितं हरिचन्द्रेण परमं रसमन्दिरम्'॥ सुगमम् ॥१०१-१०२॥ [2][स्फुटमिति—दूते प्रणिधौ गतवति सति। क्व। निजगेहं स्वकीयसदनम्। किं कृत्वा। इतीत्थं स्फुटं यथा स्यात्तथा कथयित्वा समाचारं निवेद्य। पुनश्च किं कृत्वा। प्राप्य लब्ध्वा। काम्। सत्कृतिं सन्मानम्। सुषेणः सेनापतिः ससैन्यः सपृतनः अनतिचिरं शीघ्रम्। वित्तं द्रविणम् आनीय कथंभूतं। अहितानां शत्रूणां विजयेन लब्धं प्राप्तं भक्त्या गुणानुरागातिशयेन उपनिन्ये समर्पयामास। कस्मै। तस्मै धर्म-

---

आपकी किरणें देदीप्यमान सूर्यकी बहुत भारी प्रभाको जीतनेवाली हैं, आप अतिशय सुन्दर हैं, आप अपने बाह्यहृदय पर देखनेके योग्य कौस्तुभ मणिरूप अनुपम चिह्नको और आभ्यन्तर हृदयमें अनुपम शौचधर्मको धारण करते हैं, आप अपने स्थूल तथा उन्नत शरीरमें बहुत भारी हित धारण कर रहे हैं इसीलिए तो आपके इस अल्पकालिक दर्शनमें ही मैं रमणीय एवं निर्विघ्न किसी अद्भुत मनोज्ञ महोत्सवका अनुपम स्थान बन गया ॥१०१॥ हे देव! आपके गुणोंने दम्भ, लोभ तथा भ्रम आदि दुर्गुणको ऐसा रोका है कि वे आपका मुख देखनेमें भी समर्थ नहीं रह सके। इसलिए हे उत्तम श्रुतके जानकार स्वामी! वे दुर्गुण आपको छोड़कर इस प्रकार चले गये हैं कि आपकी बात तो दूर रही, आपके सेवकोंकी भी सेवा नहीं करते हैं। भावार्थ—हे भगवन्! जिस प्रकार आप निर्दोष हैं उसी प्रकार आपके भक्त भी निर्दोष हैं ॥१०२॥ [१०१ और १०२ नम्बरके श्लोकोंसे चक्र रचना होती है उसकी पहली, तीसरी, छठवीं और आठवीं रेखाके अक्षरोंसे कविके नामको सूचित करनेवाला निम्न श्लोक निकल आता है—'आर्द्रदेव—जिसका अर्थ इस प्रकार है कि आर्द्रदेवके पुत्र हरिचन्द्र कविने धर्मनाथ जिनेन्द्रके अभ्युदयका वर्णन करनेवाला रसका मन्दिर स्वरूप यह उत्कृष्ट काव्य रचा है'।] इस प्रकार स्पष्ट समाचार कहकर और सत्कार प्राप्तकर जब वह दूत अपने घर चला गया तब सुषेण सेनापतिने शीघ्र ही साथ आकर शत्रुओंको जीत लेनेसे

---

१. आदिरुद्धा घ० म०। २. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकस्य।

लभ्या श्रीर्विनिहत्य संगरभुवि क्षुद्रद्विषोऽभ्युन्नता धिक्तां धर्मपरिच्युतामरमिति स्वीकारमन्दस्पृहः ।
तद्भूर्मभिरुचं दधद्वरमरिद्रव्यं सदायो ददे देवोऽस्तालसमाधिभित्कृतधियां ताम्यन्महस्वी मुदे ॥१०४॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
चित्रो नामैकोनविंशः सर्गः ॥१९॥

नाथाय] ॥१०३॥ लभ्येति—तद्वित्तं देवो ददे कृतधियां ताम्यन् खिद्यन्, कस्यै । मुदे, किं कुर्वन् । दधत्, काम् । भर्मभिरुचं स्वर्णाभदीप्तिम्, यस्मात्स सदायो विरुद्धं द्रव्यं न गृह्णाति । क्षुद्रद्विषो विनिहत्य या लभ्या श्रीस्तां धिक् धर्मच्युतामरमिति कारणात् तद्वित्तस्वीकारमन्दस्पृहः, अरिद्रव्यं कृतधियामस्तालसं ददे । अत्र चक्रबन्धचित्रे तृतीयषष्ठाक्षररेखाभ्रमेण कविनामाङ्को यथा धर्मशर्माभ्युदयो हरिचन्द्रकाव्यम् ॥१०४॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायामेकोनविंशतितमः सर्गः ॥१९॥

प्राप्त हुआ धन भक्तिपूर्वक भगवान् धर्मनाथके लिए समर्पित किया ॥१०३॥ जिन्हें प्रशस्त उपायोंसे आमदनी होती है, जिन्होंने मानसिक व्यथाएँ नष्ट कर दी हैं, जो सदा आलस्य रहित होकर देदीप्यमान रहते हैं और जो अतिशय तेजस्वी हैं ऐसे भगवान् धर्मनाथने विचार किया कि चूँकि 'यह लक्ष्मी युद्धभूमिमें क्षुद्र शत्रुओंको मारकर प्राप्त की गयी है अतः कितनी ही अधिक क्यों न हो, धर्मसे रहित होनेके कारण निन्दनीय है—इसे धिक्कार है' ऐसा विचारकर उन्होंने उसे ग्रहण करनेमें अपनी इच्छा नहीं दिखायी और विद्वानोंके आनन्दके लिए सुवर्णके समान कान्तिको धारण करनेवाले उन्होंने वह शत्रुओंसे प्राप्त हुई समस्त सम्पत्ति दान कर दी ॥१०४॥

[विशेष—यह भी चक्रबन्ध है इसकी रचना करनेपर चित्रकी तीसरी और छठवीं रेखाके मण्डलसे काव्य और कविका नाम निकलता है जैसे 'श्रीधर्मशर्माभ्युदयः । हरिचन्द्रकाव्यम् ।]

इस प्रकार महाकवि श्री हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें
चित्र नामका उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१९॥

विंशः सर्गः

इत्यब्दानां पञ्चलक्षाणि यावत्क्षीणक्षुद्रारातिरुद्यत्प्रभावः ।
देवः पारावारवेलावनान्तं प्राज्यं धर्मः पालयामास राज्यम् ॥१॥

रात्रौ तुङ्गे स्फाटिके सौधशृङ्गे तामास्थानीमेकदा स प्रतेने ।
चन्द्रज्योत्स्नान्तर्हितेऽस्मिन्प्रभावादाकाशस्था या सुधर्मेव रेजे ॥२॥

जीर्णं कालाज्जातरन्ध्रं नु पश्यन् देवस्तारादन्तुरं व्योमभागम् ।
ज्वालालीलां बिभ्रतीं कल्पवह्ने रह्नायोल्कां [2]निःपतन्तीं ददर्श ॥३॥

[3]आविःकर्तुं स्फारमोहान्धकारच्छन्नं मुक्तेर्मार्गमत्यन्तदुर्गम् ।
आदौ दिष्ट्या व्यञ्जिता या ज्वलन्ती वर्तिर्दीपस्येव शोभामभार्षीत् ॥४॥

व्यादायास्यं विस्फुरत्तारतारादन्तश्रेणीभीष्ममत्तुं जगन्ति ।
कालेनैका व्योम्नि विस्तार्यमाणा जिह्वेवाशु श्रद्धया या चकासे ॥५॥

इतीति—इति पञ्चवर्षलक्षाणि यावत् निर्मूलितकण्टकः समुद्रवेलावनान्तं श्रीधर्मनाथो भूरिसाम्राज्यं पालयामास ॥१॥ **रात्राविति**—एकदा स्फाटिकसौधसप्तमतले सभां विरचय्य स समुपविवेश । या सभा चन्द्रचन्द्रिकातिरोहिते स्फाटिकसौधशृङ्गे गगनोपविष्टा देवराजसभेव रराज । सावर्ण्याच्चन्द्रोदये स्फाटिकसौधो न दृश्यते ततो निरालम्बस्थितेवेति भावः ॥२॥ **जीर्णमिति**—तत्रोपविष्टः प्रभुस्तारानिकरकीर्णं व्योमतलं पश्यन् नु इति वितर्के इदं गगनं कालाज्जीर्णमिव दृश्यते । तारकाणि नु छिद्राणीव इति विकल्पानन्तरं प्रलयानलसदृशीमुल्कां पतन्तीमद्राक्षीत् ॥३॥ **आविःकर्तुमिति**—दिष्टचेति मङ्गलार्थे या उल्का मोहध्वान्तच्छन्नं मोक्षमार्गं प्रकटयितुं प्रथमं जाज्वल्यमानदीपवर्तिरिव । प्रभुणा मोक्षमार्गो दर्शयितव्य इति भावः । अभार्षीत् बिभरांबभूव ॥४॥ **व्यादायेति**—या यमेन प्रसार्यमाणा जिह्वेव शुशुभे । श्रद्धया भक्षणतृष्णया देदीप्यमानतारादन्तभीष्मं मुखं

इस प्रकार जिन्होंने समस्त क्षुद्र शत्रुओंको नष्ट कर दिया है और जिनका प्रभाव बढ़ रहा है ऐसे श्रीधर्मनाथ देवने समुद्रके वेला वनान्त विशाल राज्यका पाँच लाख वर्ष पर्यन्त पालन किया ॥१॥ एक समय उन्होंने स्फटिक मणिमय उत्तुङ्ग महलके शिखरपर रात्रिके समय वह गोष्ठी की जो कि चन्द्रमाकी चाँदनीमें महलके अन्तर्हित हो जानेपर प्रभावसे आकाशमें स्थित देवसभाके समान सुशोभित हो रही थी ॥२॥ बहुत समयसे जीर्ण हो जानेके कारण ही मानो जिसमें छिद्र उत्पन्न हो गये हैं ऐसे ताराओंसे व्याप्त आकाशभागकी ओर भगवान् धर्मनाथ देख रहे थे । उसी समय उन्होंने प्रलयाग्निकी ज्वालाकी लीलाको धारण करनेवाली शीघ्र पड़ती हुई वह उल्का देखी ॥३॥ जो कि बहुत भारी मोहरूपी अन्धकारसे आवृत अत्यन्त दुर्गम मुक्तिका मार्ग प्रकट करनेके लिए भगवान्के द्वारा पहलेसे ही प्रकटित दीपककी जलती हुई बत्तीके समान धारण कर रही थी ॥४॥ वह उल्का ऐसी जान पड़ती थी मानो तीनों लोकोंको खानेके लिए देदीप्यमान विशाल तारा रूपी दाँतोंकी श्रेणीसे भयंकर मुख खोलकर कालके द्वारा श्रद्धा—भक्षण विषयक तृष्णासे आकाशमें शीघ्र फैलायी हुई जिह्वा

---

१. शालिनी छन्दः । २. निष्पतन्तीं घ० म० ज० । ३. आविष्कर्तुं म० घ० ।

कान्तिः कालव्यालचूडामणेः किं पिङ्गा स्थाणोर्व्योममूर्तेर्जटा वा ।
ज्वाला किं वास्यैव भालाक्षवह्नेर्दाहायेन्दोर्धाविता कामबन्धोः ॥६॥

भूयोऽनेन त्रैपुरं किं नु दाहं कर्तुं मुक्तस्तप्तनाराच एषः ।
इत्याशङ्काव्याकुलं लोकचेतो या सर्पन्ती व्योम्नि दूरादकार्षीत् ॥७॥

कर्तुं कार्यं केवलं स्वस्य नासौ देवो विश्वस्यापि धाता तपस्याम् ।
इत्यानन्दात्तस्य नीराजनेव व्योम्ना रेजे या समारभ्यमाणा ॥८॥

तामालोक्याकाशदेशादुदञ्चज्ज्योतिर्ज्वालादीपिताशां पतन्तीम् ।
इत्थं चित्ते प्राप्तनिर्वेदखेदो मीलच्चक्षुश्चिन्तयामास देवः ॥९॥

देवः कश्चिज्ज्योतिषां मध्यवर्ती दुर्गे तिष्ठन्नित्यमेषोऽन्तरिक्षे ।
यातो दैवादीदृशीं चेदवस्थां कः स्याल्लोके निर्व्यपायस्तदन्यः ॥१०॥

आयुः कर्मालानभङ्गे प्रसर्पन्नापद्वीथीदीर्घदोर्दण्डचण्डः ।
प्राणायामारामभूलानि भिन्दन्कैरुन्मिण्ठः[1] सह्यते कालदन्ती ॥११॥

प्रस्तार्य । किं कर्तुम् । भुवनानि भक्षयितुम् । अत्रानुक्तमपि मुखं रोदसी कुहरः संभाव्यः ॥५॥ कान्तिरिति— किं वा कालसर्पमणिद्योतिरेषा । यदि वा गगनमूर्तेरीश्वरस्य सरलविगलज्जटावल्लीयम् । उतस्विदस्यैव तृतीयलोचनज्वाला कन्दर्पमित्रस्य चन्द्रस्य दाहनिमित्तं धाविता । कामं दग्ध्वा तन्मित्रं दिधक्षतीति भावः ॥६॥ भूय इति—अथवा पुनरप्यनेनैव पिनाकिना त्रिपुरदाहं कर्तुं तप्तनाराचो मुक्तोऽयमिति सकललोकचित्तं भ्रान्तिचिन्ता चक्रचटितं सर्पन्ती गगने दूराद् या चकार ॥७॥ कर्तुमिति—अयं श्रीधर्मनाथप्रभुर्न केवलं स्वस्यैव कार्यं कर्तुं तपस्यां तपश्चरणं धास्यति किन्तु त्रिभुवनस्यार्थे स्वार्थं परार्थं चासौ पुरा तप्यते तप इति प्रमोदितेनेव व्योम्ना या आरातिकविधिरिव विधीयमानो रराज ॥८॥ तामिति—तां नभस्तलात्पतन्तीं समुज्जृम्भमाणज्वालाकलापद्योतितदिग्भागामुल्कां विलोक्य निमीलितलोचनं सवैराग्यखेदश्चेतसि प्रभुः किंचिद्विचारयामास ॥९॥ देव इति—अयं च कश्चित् ज्योतिष्को देवो गगनमध्ये निरालम्बे तिष्ठन् कर्मविपाकाद्यदि मरणलक्षणामीदृशीमवस्थां प्राप्तस्ततो मादृशो भुवने कथं निरपायः स्यात् । न भवेदित्यर्थः । स्वर्गदुर्गस्था देवा यदि म्रियन्ते का नाम मनुष्याणां मादृशां वार्तेति भावः ॥१०॥ आयुरिति—कालो यम एव व्यालः कालदन्ती । किंविशिष्टः । उन्मिण्ठो ध्वस्तावरोहादिपरिकरः । आयुःकर्मस्तम्भभङ्गे सति धावमानः । आपद्वीथ्यो रोगादिविघाता एव

ही हो ॥५॥ क्या यह कालरूपी नागेन्द्रके चूडामणिकी कान्ति है । क्या गगनमूर्ति महादेवजी की पीली जटा है । अथवा क्या कामदेवके बन्धु चन्द्रमाको जलानेके लिए दौड़ी हुई उन्हीं महादेवजीके ललाटगत लोचनाग्निकी ज्वाला है ॥६॥ अथवा क्या पुनः त्रिपुरदाह करनेके लिए उन्हीं महादेवजीके द्वारा छोड़ा हुआ सन्तप्त बाण है ? आकाशमें दूर तक फैलनेवाली उल्काने मनुष्योंके चित्तको इस प्रकार आशंकाओंसे व्याकुल किया था ॥७॥ देव भगवान् धर्मनाथ न केवल अपना अपितु समस्त संसारका कार्य करनेके लिए तपस्या धारण करेंगे— इस आनन्दसे आकाशके द्वारा प्रारम्भ की हुई आरतीके समान वह उल्का सुशोभित हो रही थी ॥८॥ आकाशसे पड़ती एवं निकलती हुई किरणोंकी ज्वालाओंसे दिशाओंको प्रकाशित करती उस उल्काको देखकर जिन्हें चित्तमें बहुत ही निर्वेद और खेद उत्पन्न हुआ है ऐसे श्रीधर्मनाथ स्वामी नेत्र बन्द कर इस प्रकार चिन्तवन करने लगे ॥९॥ जब कि ज्योतिषी देवोंका मध्यवर्ती एवं आकाशरूपी दुर्गमें निरन्तर रहनेवाला यह कोई देव दैववश इस अवस्थाको प्राप्त हुआ है तब संसारमें दूसरा कौन विनाशहीन हो सकता है ? ॥१०॥ यह महाव्रतको

---

१. -रुत्सिक्तः घ० म० ।

यत्संसक्तं प्राणिनां क्षीरनीरन्यायेनोच्चैरङ्गमप्यन्तरङ्गम् ।
आयुश्छेदे[1] याति चेत्तत्तदास्था का बाह्येषु स्त्रीतनूजादिकेषु ॥१२॥

प्रत्यावृत्तिर्न व्यतीतस्य नूनं सौख्यस्यास्ति भ्रान्तिरागामिनोऽपि ।
तत्तत्कालोपस्थितस्यैव हेतोर्बध्नात्यास्थां संसृतौ को विदग्धः ॥१३॥

वातान्दोलत्पद्मिनीपल्लवाम्भोबिन्दुच्छायाभङ्गुरं जीवितव्यम् ।
तत्संसारासारसौख्याय कस्माज्जन्तुस्ताम्यत्यब्धिवीचीचलाय ॥१४॥

सारङ्गाक्षीचञ्चलापाङ्गनेत्रश्रेणीलीलालोकसंक्रामितं नु ।
व्यालोलत्वं तत्क्षणाद्दृष्टनष्टा धत्ते नृणां हन्त तारुण्यलक्ष्मीः ॥१५॥

हालाहेलासोदरा मन्दरागप्रादुर्भूता सत्यमेवात्र लक्ष्मीः ।
नो चेच्चेतोमोहहेतुः कथं सा लोके रागं मन्दमेवादधाति ॥१६॥

दीर्घशुण्डादण्डो यस्य स तथाविधः । श्वासादिप्राणवनमुन्मूलयन् । गजो हि यावत्स्तम्भं न भनक्ति तावन्न प्रसर्तुं शक्नोति । अन्यच्च यथा हस्ती करेण गृह्णाति तथायं रोगादिना । स तथाविधो दुर्निवारणः केन वार्यते। ॥११॥ यदिति—यद्दुग्धपानीयन्यायेन जीवेन सार्धं शरीरं मिलितमन्तरङ्गमतिश्लिष्टतमं तदपि चेदायुःकर्मक्षये याति क्षीयते ततो विटपेटकसदृशेषु संध्यामिलितवृक्षपक्षिगणसदृशेषु च पुत्रकलत्रमित्रादिषु बाह्येषु कास्था स्वताबुद्धिर्न कापि ॥१२॥ प्रत्यावृत्तिरिति—भूतपूर्वस्य सौख्यस्य पुण्यजीवितादेर्वा न प्रत्यावृत्तिर्न व्याघुटय पुनः प्राप्तिः आगन्तुकस्य च बहुविघ्नत्वात्संदेहः तत्केवलं वर्तमानकालोपस्थितस्यैव क्षणमात्रस्य कृते कः संसारे ग्रहबुद्धिं करोति ॥१३॥ वातेति—अनिलचञ्चलकमलिनीदलतलनिलीनतरलजलबिन्दुसदृशं जीवितं तस्मान्निःसाराय सांसारिकसौख्याय समुद्रकल्लोलचञ्चलाय कुतः प्राणी खिद्यते । सौख्यं क्षणिकं सौख्योपभोक्ता च क्षणिकः सौख्यसाधनानि च क्षणिकानि सर्वं क्षणिकपरम्परामयं विश्वमिति ॥१४॥ सारङ्गेति—चटुलाक्षीचञ्चललोचनेभ्यः संक्रान्तमतिचञ्चलत्वं तारुण्यलक्ष्मीरपि धत्ते, अनवरतसंपर्कातिशयहेतुत्वात्तरुणीनयनतरलत्वं तारुण्ये संक्रान्ततत इव चञ्चलमिति भावः ॥१५॥ हालेति—इयं मदिरालीलाभगिनी मन्दराद्रिमथनप्रादुर्भूता लक्ष्मीरिति लोकानुवादः सत्य एव यतो मदिरा शक्तिं व्यनक्ति चेतोमोहकारिका जनेषु च मन्दरागप्रादुर्भूतत्वेन

नष्ट करनेवाला कालरूपी दुष्टहस्ती किनके द्वारा सहा जा सकता है ? जो कि आयु कर्मरूपी स्तम्भके भंग होनेपर इधर-उधर फिर रहा है, आपत्तिकी परम्परारूपी विशाल भुजदण्डसे जो तीक्ष्ण है और जीवन रूपी उद्यानकी जड़ोंको उखाड़ रहा है ॥११॥ प्राणियोंका जो शरीर क्षीरनीरन्यायसे मिलकर अत्यन्त अन्तरंग हो रहा है वह भी जब आयु कर्मका छेद होनेसे दूर चला जाता है तब अत्यन्त बाह्य स्त्री-पुत्रादिकमें क्या आस्था है ? ॥१२॥ जो सुख व्यतीत हो चुकता है वह लौटकर नहीं आता और आगामी सुखकी केवल भ्रान्ति ही है अतः मात्र वर्तमान कालमें उपस्थित सुखके लिए कौन चतुर मनुष्य संसारमें आस्था—आदरबुद्धि करेगा ? ॥१३॥ जब कि यह जीवन वायुसे हिलती हुई कमलिनीके दलपर स्थित पानीकी बूँदकी छायाके समान नश्वर है तब समुद्रकी तरंगके समान तरल संसारके असार सुखके लिए यह जीव क्यों दुखी होता है ? ॥१४॥ खेद है कि तत्काल दिखकर नष्ट हो जानेवाली मनुष्योंकी यौवनलक्ष्मी मानो मृगलोचनाओंके चंचल कटाक्षोंसे पूर्ण नेत्रसमूहकी लीलाके देखनेसे ही संक्रामित चंचलताको धारण करती है ॥१५॥ सच है कि लक्ष्मी मदिराकी क्रीडा सखी और मन्दराग—मन्दरगिरि [पक्षमें मन्द राग] से उत्पन्न हुई है । यदि ऐसा न होता तो वह चित्तके मोहका कारण कैसे होती ? और लोक मन्दराग—मन्दरगिरि [पक्षमें अल्प-

१. आयुश्छेदैः घ० म० ।

विण्मूत्रादेर्धाम मध्यं वधूनां तन्निःष्यन्दद्वारमेवेन्द्रियाणि ।
श्रोणीबिम्बं स्थूलमांसास्थिकूटं कामान्धानां प्रीतये धिक्तथापि ॥१७॥

मेदोमज्जाशोणितैः पिच्छिलेऽन्तस्त्वक्प्रच्छन्ने स्नायुनद्धास्थिसन्धौ ।
साधुर्देहे कर्मचण्डालगेहे बध्नात्युच्चत्पूतिगन्धे रतिं कः ॥१८॥

इन्द्रोपेन्द्रब्रह्मरुद्राहमिन्द्रा देवाः केचिद् ये नराः पन्नगा वा ।
तेऽप्यन्येऽपि प्राणिनां क्रूरकालव्यालाक्रान्तं रक्षितुं न क्षमन्ते ॥१९॥

बालं वर्षीयांसमाढ्यं दरिद्रं धीरं भीरुं सज्जनं दुर्जनं च ।
अश्नात्येकः कृष्णवर्त्मेव कक्षं सर्वग्रासी निर्विवेकः कृतान्तः ॥२०॥

स्वच्छामेवाच्छाद्य दृष्टिं रजोभिः श्रेयोरत्नं जाग्रतामप्यशेषैः ।
दोषैर्येषां दस्युरूपैरुपात्तं संसारेऽस्मिन् हा हतास्ते हताशाः ॥२१॥

वित्तं गेहादङ्गमुच्चैश्चिताग्नेर्व्यावर्तन्ते बान्धवाश्च श्मशानात् ।
एकं नानाजन्मवल्लीनिदानं कर्म द्वेधा याति जीवेन सार्धम् ॥२२॥

मन्दमेव रागं करोति । न स्निह्यतीति भावः ॥१६॥ विण्मूत्रेति—पुरीषप्रस्रवणादिकस्य गृहं विचार्यमाणं मध्यं स्त्रीणां श्लेष्मादेः प्रस्रवणद्वाराणि च घ्राणप्रभृतीन्द्रियाणि जघनस्थलं च स्थूलमांसास्थिस्थलं काममोहितानां तथापि तत्प्रीतिहेतुः ॥१७॥ मेद इति—कः शुचितमः पुमान् शरीरे क्रियाचण्डालगृहसदृशे प्रीतिं करोति । चण्डालगृहधर्मानारोपयन्नाह—मेदो वसा रुधिरैर्मध्ये कर्दमिते चर्मपटलप्रच्छादिते शिराबद्धास्थिसंघाते ॥१८॥ इन्द्र इति—ये महेन्द्रप्रभृतयो देवाश्चक्रवर्तिप्रभृतयश्च नराः फणीन्द्राद्याश्च पन्नगास्तेऽप्यात्मानं परं प्राणिनं वा कालदुर्दान्तदन्तिग्रस्तं न रक्षितुं प्रभवन्ति ॥१९॥ बालमिति—बालं वृद्धमीश्वरं दुःस्थितं सुभटं कातरं सज्जनं दुर्जनं वा यमो वह्निरिव सर्वमपि शुष्कतृणसंघातं निर्विचिकित्सया संहरति ॥२०॥ स्वच्छामिति—निर्मलामपि सम्यक्त्वविभूतिं रजोभिर्दर्शनज्ञानावरणकर्मभिः प्रच्छाद्यानन्तचतुष्टयरत्नं जाग्रतां तत्त्वातत्त्वं विचारयतामपि दोषैः सांसारिकैर्भावैर्गृहीतं येषां ते संसारे हन्त हताशा निष्फलायतयः । येषां किल सुदृशो धूलिं प्रक्षिप्य पश्यतामेव रत्नादिकं तस्करा गृह्णन्ति ते कृतजनहानयो जनहासहेतवश्च भवन्ति ॥२१॥ वित्तमिति—एकं शुभाशुभरूपं पुण्यपापलक्षणं कर्मैव जीवेन सार्द्धं प्रयाति । कथं तर्हि वित्तादिकमित्याह—अनेकप्रयासकष्टोपार्जितं

स्नेह] क्यों धारण करता ? ॥१६॥ स्त्रियोंका मध्यभाग मलमूत्र आदिका स्थान है, उनकी इन्द्रियाँ मलमूत्रादिके निकलनेका द्वार हैं और उनका नितम्ब बिम्ब स्थूल मांस तथा हड्डियोंका समूह है फिर भी धिक्कार है कि वह कामान्ध मनुष्योंकी प्रीतिके लिए होता है ॥१७॥ जो भीतर चर्बी मज्जा और रुधिरसे पंकिल है, बाहर चर्मसे आच्छादित है, जिसकी हड्डियोंकी सन्धियाँ स्नायुओंसे बँधी हुई हैं, जो कर्म रूपी चाण्डालके रहनेका घर है और जिससे दुर्गन्ध निकल रही है ऐसे शरीरमें कौन सत्पुरुष स्नेह करेगा ? ॥१८॥ जो कोई इन्द्र उपेन्द्र ब्रह्मा रुद्र अहमिन्द्र देव मनुष्य अथवा नागेन्द्र हैं वे सभी तथा अन्य लोग भी कालरूपी दुष्ट व्यालसे आक्रान्त प्राणीकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥१९॥ जिस प्रकार अग्नि समस्त वनको खा लेती है—जला देती है उसी प्रकार सबको ग्रसनेवाला यह विवेकहीन एक यम बालक, वृद्ध, धनाढ्य, दरिद्र, धीर, कायर, सज्जन और दुर्जन—सभीको खा लेता है—नष्ट कर देता है ॥२०॥ जागते रहनेपर भी जिनकी निर्मलदृष्टि [पक्षमें सम्यग्दर्शन] को धूलिसे [पक्षमें पापसे] आच्छादित कर चोर रूपी समस्त दोषोंने जिनका कल्याणकारी रत्न [पक्षमें मोक्षरूपी रत्न] छीन लिया है वे बेचारे इस संसारमें नष्ट हो चुके हैं—लुट चुके हैं ॥२१॥ धन घरसे, शरीर ऊँची चिताकी अग्निसे, और भाई-बान्धव श्मशानसे लौट जाते हैं; केवल

छेत्तुं मूलात्कर्मपाशानशेषान्सद्यस्तीक्ष्णैस्तद्यतिष्ये तपोभिः ।
को वा कारागाररुद्धं प्रबुद्धः शुद्धात्मानं वीक्ष्य कुर्यादुपेक्षाम् ॥२३॥

इत्थं यावत्प्राप्य वैराग्यभावं देवश्चित्ते चिन्तयामास धर्मः ।
ऊचुः स्वर्गादित्युपेत्यानुकूलं देवास्तावत्केऽपि लौकान्तिकास्ते ॥२४॥

निःशेषापन्मूलभेदि त्वयेदं देवेदानीं चिन्तितं साधु साधु ।
एतेनैकः केवलं नायमात्मा संसाराधेरुद्धृता जन्तवोऽपि ॥२५॥

नष्टा दृष्टिर्नष्टमिष्टं चरित्रं नष्टं ज्ञानं साधुधर्मादि नष्टम् ।
सन्तः पश्यन्त्वत्र मिथ्यान्धकारे त्वत्तः सर्वं केवलज्ञानदीपात् ॥२६॥

तैरानन्दादित्थमानन्द्यमानं स्वर्दन्तीन्द्रारूढजम्भारिमुख्याः ।
आसेदुस्तं दुन्दुभिध्वानवन्तस्ते चत्वारो निर्जराणां निकायाः ॥२७॥

दत्वा प्राज्यं नन्दनायाथ राज्यं देवोऽतुच्छप्रीतिरापृच्छ्य बन्धून् ।
दत्तस्कन्धं याप्यमानैः सुरेन्द्रैरारुह्यागात्सालपूर्वं वनं सः ॥२८॥

वित्तं गृहादेव व्याघुटति, शरीरं च चितां प्राप्य तिष्ठति, सहोदरादयश्च पितृवनाद् व्यावर्तन्ते परं नानाजन्मवल्लीवितानकारणं कर्मगामीति ॥२२॥ छेत्तुमिति—अनादिसंसारसंबद्धान् कर्मपाशांस्तीव्रैस्तपोभिः छेत्तुं यानं करिष्ये । को नाम वन्दीगृहगतमात्मानं निरीक्ष्यावगणयति ॥२३॥ इत्थमिति—अथानन्तरं यावदनेन प्रकारेण प्रभुर्वैराग्यं भावयति तावद्ब्रह्मकल्पादागत्य तत्कालभावनोचितं लौकान्तिका देवर्षयो बभाषिरे केऽप्यचिन्त्यप्रभावाः ॥२४॥ निःशेषेति—दुःखानन्त्यमूलभेदकं यच्चिन्तितं तत्साधु साधु । एतेन युष्मदारब्धेन चरित्रेण न केवलं भवानेव संसारसमुद्रादमी प्राणिनोऽपि उत्तरीतारः ॥२५॥ नष्टेति—रत्नत्रयं साधुक्रियादिकं च नष्टं । त्वत्तः केवलज्ञानदीपात्साधवः पश्यन्तु अत्र मिथ्यात्वान्धकारे जगति व्याप्ते सति ॥२६॥ तैरिति—इत्थं तैर्लौकान्तिकैः प्रशस्यमानं तमैरावणप्रभृतिनिजवाहनाधिरूढा भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिसमूहा आगत्याहतदुन्दुभयः सिषेविरे ॥२७॥ दत्त्वेति—अथानन्तरं पुत्राय साम्राज्यपदं दत्त्वा स्वजनानापृच्छ्य माहेन्द्रदत्तस्कन्धया शिवि-

नाना जन्मरूपी लताओंका कारण पुण्य पापरूप द्विविध कर्म ही जीवके साथ जाता है ॥२२॥ इसलिए मैं तीक्ष्ण तपश्चरणोंके द्वारा कर्मरूपी समस्त पापोंको जड़मूलसे काटनेका यत्न करूँगा। भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो अपने शुद्ध आत्माको कारागारमें रुका हुआ देखकर भी उसकी उपेक्षा करेगा? ॥२३॥ इस प्रकार वैराग्यभावको प्राप्त होकर भगवान् धर्मनाथ जबतक चित्तमें ऐसा चिन्तवन करते हैं तब तक कोई लोकोत्तर लौकान्तिकदेव स्वर्गसे आकर निम्नप्रकार अनुकूल निवेदन करने लगे ॥२४॥ हे देव! इस समय आपने समस्त आपत्तियोंके मूलको नष्ट करनेवाला यह ठीक चिन्तवन किया। इस चिन्तवनसे आपने न केवल अपने आपको किन्तु समस्त जीवोंको भी संसार समुद्रसे उद्धृत किया है ॥२५॥ सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया, इष्टचारित्र नष्ट हो गया, ज्ञान नष्ट हो गया और उत्तम धर्मादि भी नष्ट हो गये। अब सज्जन पुरुष इस मिथ्यात्वरूप अन्धकारमें आपके केवलज्ञानरूपी दीपकसे अपनी नष्ट हुई समस्त वस्तुओंको देखें ॥२६॥ ऐरावत हाथीपर बैठे हुए इन्द्र जिनमें मुख्य हैं और जो दुन्दुभि बाजोंके शब्दोंसे युक्त हैं ऐसे देवोंके चारों निकाय लौकान्तिक देवोंके द्वारा पूर्वोक्त प्रकारसे आनन्द्यमान भगवान् धर्मनाथके समीप बड़े आनन्दसे पहुँचे ॥२७॥ तदनन्तर अतुच्छ प्रेमको धारण करनेवाले भगवान् धर्मनाथने पुत्रके लिए विशाल राज्य दिया। फिर भाई-बन्धुओंसे पूछकर इन्द्रोंके द्वारा उठायी हुई शिविकामें आरूढ़ हो सालवनकी ओर

सिद्धान्नत्वा तत्र षष्ठोपवासी मौलौ मूलानीव कर्मद्रुमाणाम् ।
मुष्टिग्राहैः पञ्चभिः कुन्तलानां वृन्दान्युच्चैरुच्चखान क्षणेन ॥२९॥

केशांस्तस्याधत्त माणिक्यपात्रे क्षीराम्भोधिप्रापणायामरेन्द्रः ।
भर्त्रा मूर्ध्नादाय मुक्तान्कथंचित्को वा विद्वान्नाददीतादरेण ॥३०॥

प्रालेयांशौ पुष्यमैत्रीं प्रयाते माघे शुक्ला या त्रयोदश्यनिन्द्या ।
धर्मस्तस्यामात्तदीक्षोऽपराह्णे जातः क्षोणीभृत्सहस्रेण सार्धम् ॥३१॥

तत्र त्यक्तालंकृतिर्मुक्तवासा रूपं बिभ्रज्जातमात्रानुरूपम् ।
देवो भेजे प्रावृषेण्याम्बुवाहश्रेणीमुक्तस्वर्णशैलोपमानम् ॥३२॥

गीतं वाद्यं नृत्यमप्यात्मशक्त्या कृत्वा चेतोहारि जम्भारिमुख्याः ।
देवाः सर्वे प्राप्तपुण्यातिरेका नत्वार्हन्तं स्वानि धामानि जग्मुः ॥३३॥

स्कन्धावारे पाटलीपुत्रनाम्नि क्षोणीभर्तुर्धन्यसेनस्य गेहे ।
क्षीरान्नेनाचारवित्पाणिपात्रे कृत्वा पञ्चाश्चर्यकृत्पारणं सः ॥३४॥

कयाधिरूढः सालवनं नाम तपोवनं जगाम ॥२८॥ सिद्धानिति—आगमोक्तत्वात्कृतोपवासद्वयः कर्मवल्लीमूलानीव केशमूलानि उत्पाटयामास । कैः । पञ्चमुष्टिग्राहैः ॥२९॥ केशानिति—तस्य प्रभोस्तानुत्खातकेशान् सुरेन्द्रो रत्नपात्रे निचिक्षेप । किमर्थमित्याह—क्षीरसमुद्रनिक्षेपणाय । युक्तमेतत् प्रभुणा मस्तके निधाय केनचित्कारणेन त्यक्तान् कः पण्डितः आदरेण न स्वीकुर्वीत ॥३०॥ प्रालेयेति—पुष्यनक्षत्रस्थे चन्द्रे माघमासे शुक्लपक्षे त्रयोदश्यां श्रीधर्मनाथो राजपुत्रेण सहस्रेण सार्द्धमपराह्णे प्रवव्राज ॥३१॥ तत्रेति—तत्र वने त्यक्तसर्ववस्त्राद्यलंकारी यथाजातरूपधारी वर्षामेघपङ्क्तिमुक्तसुवर्णशैलसादृश्यं निःप्रकम्पत्वात्सुवर्णवर्णत्वाच्च प्राप ॥३२॥ गीतमिति—निजभक्तिशक्तिसदृशं गीतवाद्यनृत्यादिकं विधाय शक्रमुख्या देवा उपार्जितपुण्यातिशया भगवन्तं प्रणिपत्य निजनिजगृहान् प्रति प्रतस्थिरे ॥३३॥ स्कन्धावार इति—पाटलीपुत्रनगरे धन्यसेननृपतिगृहे क्षीरान्नेन यथाविधि पाणिपात्रे पारणाविधिं विधाय दुन्दुभिनिनादपुष्परत्नगन्धोदकवृष्टिलक्षणपञ्चाश्चर्यकारी ॥३४॥

प्रस्थान किया ॥२८॥ वहाँ उन्होंने सिद्धोंको नमस्कार कर बेलाका नियम ले कर्मरूपी वृक्षोंके मूलके समान शिर पर स्थित बालोंके समूहको पंचमुट्ठियोंके द्वारा क्षणभरमें उखाड़ डाला ॥२९॥ इन्द्रने भगवान्के उन केशोंको क्षीर समुद्रमें भेजनेके लिए मणिमय पात्रमें रख लिया सो ठीक ही है क्योंकि भगवान्ने जिन्हें अपने मस्तकपर धारण कर किसी प्रकार छोड़ा है उन्हें कौन विद्वान् आदरसे नहीं ग्रहण करेगा ? ॥३०॥ जिस दिन चन्द्रमा पुष्यनक्षत्रकी मित्रताको प्राप्त था ऐसे माघमासके शुक्लपक्षकी जो उत्तम त्रयोदशी तिथि थी उसी दिन सायंकालके समय श्री धर्मनाथ भगवान् एक हजार राजाओंके साथ दीक्षित हुए थे ॥३१॥ उस वनमें जिन्होंने वस्त्र और आभूषण छोड़ दिये हैं तथा जो तत्कालमें उत्पन्न बालकके अनुरूप नग्नवेष धारण कर रहे हैं ऐसे श्रीधर्मनाथ स्वामी वर्षाकालिक मेघसमूहसे मुक्त सुमेरु पर्वतकी शोभा धारण कर रहे थे ॥३२॥ इन्द्र आदि सभी देव अपनी शक्तिके अनुसार मनोहर गीत, वादित्र और नृत्य कर सातिशय पुण्य प्राप्त करते हुए अर्हन्त देवको नमस्कार कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये ॥३३॥ आचारको जाननेवाले भगवान् धर्मनाथने पाटलिपुत्र नामके नगरमें धन्यसेन राजाके घर हस्त रूप पात्रमें क्षीरान्नके द्वारा पंचाश्चर्य

पुण्यारण्ये [1]प्रासुके क्वापि देशे नासाप्रान्तन्यस्तनिःस्पन्दनेत्रः।
कायोत्सर्गं बिभ्रदभ्रान्तचित्तो लोके लेप्याकारशङ्कामकार्षीत् ॥३५॥ (युग्मम्)

अध्यासीनो ध्यानमुद्रामतन्द्रः स्वामी रेजे लम्बमानोरुबाहुः।
ये निर्मग्नाः श्वभ्रगर्भान्धकूपे व्यामोहान्धास्तानिवोद्धर्तुकामः ॥३६॥

मुक्ताहारः सर्वदोपत्यकान्तारब्धप्रीतिः स्वीकृतानन्तवासाः।
देवो धुन्वन्विग्रहस्थानरातीन्कान्तारेऽपि प्राप सौराज्यलीलाम् ॥३७॥

देवोऽक्षामक्षान्तिपाथोदपाथोधारासारैः सारसंपत्फलाय।
सिञ्चन्नुच्चैः संयमारामचक्रं चक्रे क्रोधोद्दामदावाग्निशान्तिम् ॥३८॥

भिन्दन्मानं मार्दवेनार्जवेन च्छिन्दन्मायां निःस्पृहत्वास्तलोभः।
मूलाद्देवोच्छेत्तुकामः स चक्रे कर्मारीणामास्रवद्वाररोधम् ॥३९॥

पुण्येति—कस्मिश्चित्पुण्यारण्ये प्रासुकप्रदेशे नाशावंशाग्रे विन्यस्तनिर्निमेषनेत्रो निःप्रकम्पकायोत्सर्गं दधानो निश्चलचेता भुवने लेप्यघटितभ्रान्तिमुत्पादयामास सूक्ष्मजन्तुजातविवर्जिते ॥३५॥ अधीति—प्रभुः शुद्धध्यानस्थः प्रलम्बबाहुः शुशुभे। घोरनरकान्धकूपे व्यामोहवशात्पतितान् जन्तूनुद्दिधीर्षुरिव। कूपादौ पतितमन्यदपि सरल हस्तावलम्बेनाकृष्यते ॥३६॥ मुक्तेति—देवस्तपोवनेऽपि तदवस्थां साम्राज्यलीलामधिरूढ इव कथमित्याह—मुक्ताहारो मुक्तामयो हारो यस्य सः पक्षे त्यक्तभोजनः। सर्वं यथाभिलषितं ददातीति सर्वदः। अपत्येषु कान्तासु च प्रारब्धा प्रीतिर्येन सः पक्षे सर्वदापर्वतप्राग्भारबद्धस्थितिः। उपत्यकाया अन्त उपत्यकान्तस्तत्रारब्धा प्रीतिर्येन सः। स्वीकृतानन्तवासाः स्वीकृतानि अनन्तानि वासांसि वस्त्राणि येन सः, पक्षे स्वीकृतमनन्तं गगनमेव वासो येन सः। संग्रामस्थान् रिपून् गृह्णन् पक्षे देहस्थानिन्द्रियादीन् ॥३७॥ देव इति—देवः प्रबलक्षमामेघजलधारावेगवद्वृष्टिभिः संयमारामं तपोवनं सिञ्चन् क्रोधोत्कटदावाग्निं शमयांचकार मोक्षसौख्यफलाय ॥३८॥ भिन्दन्निति—स प्रभुः सरलपरिणामेन मायां भिन्दानो मृदुपरिणामेन च मानं शौचेन च लोभं समूलमेव कर्म-

---

करनेवाला पारणा किया ॥३४॥ तदनन्तर पवित्र वनके किसी प्रासुक स्थानमें नासाग्रभाग पर निश्चल नेत्र धारण करनेवाले, कायोत्सर्गके धारक एवं स्थिरचित्तसे युक्त भगवान्‌ने लोकमें चित्रलिखितकी शंका उत्पन्न की ॥३५॥ [युग्म] ध्यान मुद्रामें स्थित, आलस्य रहित और विशाल भुजाओंको लटकाये हुए स्वामी धर्मनाथ ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जो मिथ्यादर्शनसे अन्धे होकर नरक रूपी अन्धकूपमें निमग्न हैं उनका उद्धार ही करना चाहते हों ॥३६॥ वे धर्मनाथ मुक्ताहार थे—आहार छोड़ चुके थे, [पक्षमें मोतियोंके हारसे युक्त थे] सर्वदोपत्यकान्तारब्धप्रीति थे—हमेशा पर्वतोंकी तलहटियोंके अन्तमें प्रीति रखते थे [पक्षमें सर्व इच्छित वस्तुओंको देनेवाले थे एवं पुत्र तथा स्त्रियोंमें प्रीति करते थे], स्वीकृतानन्तवासा थे—आकाश रूपी वस्त्रको स्वीकृत करनेवाले थे, [पक्षमें अनन्त वस्त्रोंको स्वीकृत करने वाले थे] और विग्रहस्थ—शरीरमें स्थित [पक्षमें युद्धस्थित] शत्रुओंको नष्ट करते थे—इस प्रकार वनमें भी उत्तम राज्यकी लीलाको प्राप्त थे ॥३७॥ वे भगवान् श्रेष्ठ सम्पत्ति रूपी फलके लिए शान्तिरूपी विशाल मेघोंकी जलधाराके वर्षणसे अतिशय उत्कृष्ट संयम रूपी उपवनोंके समूहको सींचते हुए क्रोधरूपी दावानलकी शान्ति करते थे ॥३८॥ वे मार्दवसे मानको भेदते थे, आर्जवसे मायाको छेदते थे, और निःस्पृहतासे लोभको नष्ट करते थे, इस प्रकार कर्मरूपी शत्रुओंको जड़से उखाड़नेकी इच्छा करते हुए उनके आस्रव

---

१. प्रांशुके घ० म०।

कुर्वन् गुर्वीं वाङ्मनःकायगुप्तिं रक्षन्साक्षात्स्वं समित्यर्गलाभिः[1] ।
बन्धन्नक्षाण्येष दीर्घैर्गुणौघैश्चित्तं मोक्षायैव बद्धोद्यमोऽभूत् ॥४०॥

तस्यारण्ये ध्याननिष्कम्पमूर्तेर्वक्त्रस्येवामोदमाघ्रातुकामाः ।
बद्धावासाश्चन्दनस्येव तस्थुः स्वस्थाः स्वैरं स्कन्धबन्धे भुजङ्गाः ॥४१॥

दृष्ट्वात्मानं पुद्गलाद्भिन्नरूपं देवो देहे न स्वबुद्धिं बबन्ध ।
तेनात्याक्षीत्तोयशीलातपार्त्तं श्रेयोनिष्ठः काष्ठवद्दूरमेनम् ॥४२॥

विघ्नं निघ्नन्नाक्षिपन्नेष दोषाञ्जज्ञे स्वामी भाजनं यत्क्षमायाः ।
सैषा काचिच्चातुरी तस्य भर्तुश्चित्तेऽस्माकं चित्रमद्यापि दत्ते ॥४३॥

आसंसारं साहचर्यव्रतस्थं दुःस्थीकुर्वन्रागमागन्तुकेऽपि ।
योगे मैत्रीं पक्षपातं च मोक्षे बिभ्रच्चित्रं स्वं चरित्रं स ऊचे ॥४४॥

वल्लीसंतानमुन्मूलयितुं कर्मागमद्वाराणि रुरोध ॥३९॥ कुर्वन्निति—स महतीं मनोवचनकायगुप्तिं कुर्वन् स्वमात्मानं समितय ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणास्ता एवार्गलास्ताभिः पालयन्, अक्षाणि इन्द्रियाणि दीर्घैस्तन्निग्रहकारिभिर्गुणैर्नियन्त्रयन् एवं बद्धप्रारम्भोऽपि स मुक्तिनिमित्तं बभूव । अथ च चित्रमेतत् दत्तार्गले गुप्तिगृहे दीर्घश्रृङ्खलाभिः कीलकनिबद्धोऽपि मुक्तो भवति ॥४०॥ तस्येति—तस्य प्रभोर्वने ध्यानकाष्ठानिष्प्रकम्पस्य चन्दनद्रुमस्येव स्कन्धे कृतावासाः स्वैरं सर्पाः खेलन्ति स्म मुखकमलामोदं जिघ्रासव इव ॥४१॥ दृष्ट्वेति—देवः परमध्यानाधीनलयेनात्मानं पुद्गलात्पृथग्रूपं दृष्ट्वा पुद्गलात्मके निजशरीरे स्वबुद्धिचैतन्यमयात्माभिप्रायं मुमोच । ततश्च जलेन शीतेनातपेन च पीडयमानं स्वं काष्ठवत्सोऽजीगणत् । अथ च परमात्मरहस्यं प्राप्तस्य योगिनो घनतमपरीषहविज्ञानं न स्यात् ॥४२॥ विघ्नमिति—विघ्नं कोपपरिणामं निघ्नन् हिंसन् दोषान् मोक्षान्तरायसांसारिकभावान् निर्दलयन् तथाविधोपशमैकपात्रं जात इति तस्य प्रभोश्चातुर्यमद्यापि अस्माकं चित्ते चित्रीयते । यः पुनर्निघाताक्षेपकारी स्यात् स न क्षमायाः पात्रं स्यादिति चित्रम् ॥४३॥ आसंसारमिति—स प्रभुरात्मचरित्रं गहनं दुर्लक्ष्यमिति यावत् प्रतिपादयामास । कथमित्याह–स्वयं महाव्रतस्थोऽपि साहचर्ये व्रते तिष्ठतीति साहचर्यव्रतस्थं रागं कामाभिलाषं निगृह्णन् संसारात्प्रभृति संघाटकमित्यर्थः । अनायतनदूरस्थोऽपि योगे कौलके आगमिष्यत्यपि प्रीतिं कुर्वन् मोक्षे मुक्तिमार्गे यत्नस्य परिग्रहस्य पातं कुर्वन् । अथ च यतिः आसंसारबद्धं रागं

रूप द्वारका निरोध करते थे ॥३९॥ अतिशय श्रेष्ठ वचनगुप्ति, मनोगुप्ति और कायगुप्तिको करते हुए, समिति रूपी अर्गलाओंके द्वारा अपने आपकी रक्षा करते हुए और दीर्घगुणोंके समूहसे [पक्षमें रस्सियोंके समूहसे] इन्द्रियोंको बाँधते हुए वह भगवान् धर्मनाथ मोक्षके लिए बिलकुल बद्धोद्यम—तत्पर थे ॥४०॥ वनमें ध्यानसे निश्चल शरीरको धारण करनेवाले उन भगवान् धर्मनाथके मुखकी सुगन्धिको सूँघनेकी इच्छासे ही मानो उनके कन्धोंपर सर्प उस प्रकार निश्चिन्तताके साथ रहने लगे थे जिस प्रकार कि किसी चन्दन वृक्षके स्कन्धोंपर रहने लगते हैं ॥४१॥ कल्याणमार्गमें स्थित भगवान् धर्मनाथ चूँकि आत्माको पुद्गलसे भिन्नस्वरूप देखकर शरीरमें आत्मबुद्धि नहीं करते थे अतः उन्होंने पानी, ठण्ड और गर्मीसे पीड़ित शरीरको काष्ठके समान दूर ही छोड़ दिया था ॥४२॥ वे भगवान् विघ्नोंको नष्ट करते और दोषोंको दूर हटाते हुए क्षमाके पात्र थे अतः उनकी वह अनुपम चतुराई हमारे चित्तमें अब भी आश्चर्य प्रदान करती है ॥४३॥ वह भगवान् जबसे संसार है तबसे साथ-साथ रहनेवाले रागको दुःखी करते थे और तत्काल प्राप्त हुए योगमें मित्रता तथा मोक्षमें पक्षपात

---

१. समित्यर्कभाभिः घ० म० ।

तस्याशेषं कर्षतो धीवरस्य स्फारीभूतं मानसान्मोहजालम् ।
तत्पाशान्तःपीड्यमानैकमीनो मन्ये त्रासान्निर्ययौ मीनकेतुः ॥४५॥

कल्पान्तोद्यद्द्वादशद्वादशात्मश्रेणीतेजःपुञ्जतीव्रव्रतेऽस्मिन् ।
दृग्व्याघातत्रस्तचित्तेव चक्षुर्नो चिक्षेप प्रत्यहं मोहलक्ष्मीः ॥४६॥

चक्रे कार्श्यं[1] संयमस्तस्य देहे तन्वानोऽपि ज्योतिरत्यन्तरम्यम् ।
माणिक्यस्येवावनीमण्डनार्थं शाणोल्लेखः सम्यगारभ्यमाणः ॥४७॥

[2]एकः पात्रं सौकुमार्यस्य तीव्रे तेजःपुञ्जे तापसे वर्तमानः ।
चण्डज्योतिर्मण्डलातिथ्यभाजो भेजे लक्ष्मीं क्षीणपीयूषरश्मेः ॥४८॥

भर्गादीनां भग्नगर्वातिरेकः कः श्रीधर्मे मीनकेतुर्वराकः ।
अध्यारूढप्रौढिरग्नौ न कुर्याद्रत्नज्योतिःस्तम्भमम्भोनिषेकः ॥४९॥

विदूरयन् योगे परमसमाधौ मैत्रीं कुर्वन् मोक्षे च स्वीकारमिति ॥४४॥ तस्येति—तस्य धीवरस्य परमज्ञानोपेतस्य प्रसृतं मोहजालं निजहृदयादाकर्षतः समस्तं तस्य मोहजालस्य पाशस्य मध्ये पीड्यमान एको मीनो यस्य सः । ततः शङ्केऽहं मीनकेतुः कामः पलायांचक्रे । प्रभुत्रुटितमोहजालं धीवरे प्रसार्य कर्षति मीनप्रधानः प्रणश्यति ॥४५॥ कल्पान्तेति—प्रलयकालोदयमानद्वादशादित्यशक्तिप्रतापतीव्रव्रतस्येऽस्मिन् प्रभौ नयनं न चिक्षेप अन्धत्वभयेनेव मोहलक्ष्मीः ॥४६॥ चक्र इति—तस्य प्रभोः संयमश्चारित्रविशेष इन्द्रियप्राणिभेदाद् द्विभेदः शरीरे तेजःप्रभावं वर्द्धयन्नपि दुर्बलत्वं चकार । यथा रत्नस्य शाणोपलः कार्श्यं तन्वानोऽपि जनमण्डनत्वमुत्पादयति ॥४७॥ एक इति—स प्रभुः सहजसुकुमारशरीरो दुःसहे तीव्रतपस्तेजसि वर्तमानः शुशुभे चण्डकिरणमण्डलप्रविष्टश्चन्द्र इव । अत्र सौकुमार्यचन्द्रस्वभावयोस्तपस्तेजश्चन्द्रकिरणमण्डलयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥४८॥ भर्गेति—उमापत्यादिविजेता कामः श्रीधर्मनाथे किंकरः । न किमपि । यतः सलिलनिषेको वह्निशमनायैव समर्थः न रत्नकिरणमण्डलशमनाय समर्थः । यथा जलप्रक्षालनेन रत्नानां तेजो विवर्द्धते तथा भगवतः कामभावासंभावनेन

धारण करते थे—इस प्रकार आश्चर्यकारी अपना चरित्र स्वयं कह रहे थे ॥४४॥ वह भगवान् स्वयं धीवर थे—बुद्धिसे श्रेष्ठ थे [पक्षमें ढीमर थे] ज्योंही उन्होंने मानस—मनरूपी मानसरोवरसे मोहरूप जालको खींचा त्योंही उसके पाशके भीतर मीनकेतु—कामदेवका मीन फँसकर फड़फड़ाने लगा इसी भयसे मानो वह निकल भागा था ॥४५॥ जिनके व्रत, प्रलयकालके समय उदित द्वादश सूर्यसमूहके तेजःपुंजके समान अत्यन्त तीव्र थे ऐसे इन भगवान् धर्मनाथ पर मोहलक्ष्मी कभी भी नेत्र नहीं डाल सकती थी—आँख उठाकर उनकी ओर नहीं देख सकती थी मानो दर्शन—दृष्टि [पक्षमें दर्शनमोह] के व्याघातसे उसका चित्त भयभीत ही हो गया था ॥४६॥ जिस प्रकार अच्छी तरह प्रारम्भ किया हुआ शाणोल्लेख यद्यपि अत्यन्त रमणीय कान्तिको बढ़ाता है तो भी पृथिवीको अलंकृत करनेके लिए मणिके शरीरमें कुछ कृशता ला देता है उसी प्रकार अच्छी तरह प्रारम्भ किया हुआ संयम यद्यपि अत्यन्त रमणीय कान्तिको बढ़ाता था तो भी उसने भूलोकको अलंकृत करनेके लिए उनके शरीरमें कुछ कृशता ला दी थी ॥४७॥ वे भगवान् यद्यपि सुकुमारताके एक मुख्य पात्र थे फिर भी तेजके पुंजसे युक्त तीव्र तपश्चरणमें वर्तमान थे अतः सूर्यमण्डलके आतिथ्यको प्राप्त क्षीणकाय चन्द्रमाकी शोभाको प्राप्त हो रहे थे ॥४८॥ महादेव आदिके भारी अहंकारको नष्ट करनेवाला बेचारा कामदेव श्री धर्मनाथ स्वामीके विषयमें क्या सामर्थ्य रखता था ? क्योंकि अग्निके विषयमें प्रौढ़ता दिखलानेवाला जलका सिंचन क्या रत्नकी ज्योतिमें बाधा कर सकता है ? ॥४९॥

१. कार्यं म० घ० । २. एकं पात्रं म० घ० ।

भ्रूचापेनाकर्णमाकृष्य मुक्ता स्वर्गस्त्रीभिस्तत्र दीर्घाः कटाक्षाः ।
हृत्संतोषाविर्भवद्वारबाणे बाणाः कामस्येव वैफल्यमीयुः ॥५०॥

भोगे रोगे काञ्चने वा तृणे वा मित्रे शत्रौ पत्तने वा वने वा ।
देवो दृष्टिं निर्विशेषां दधानोऽप्येकः सीमासीद्विशेषज्ञतायाः ॥५१॥

तथ्यं पथ्यं चेदभाषिष्ट किंचित्सिद्धं शुद्धं चेदभुङ्क्तान्यदत्तम् ।
मुक्त्वा नक्तं चेदयासीत्स पश्यन्सर्वं किंचित्तस्य शास्त्रानुरोधि ॥५२॥

तस्यावश्यं वायुरेकेन्द्रियोऽपि प्रत्यासत्तौ प्राप न प्रातिकूल्यम् ।
तत्किं चित्रं तत्र पञ्चेन्द्रियाणां सिंहादीनां यन्न दुःशीलभावः ॥५३॥

अन्तर्बाह्यैर्दीप्यमानैस्तपोऽग्निज्वालैर्नीत्वा दुर्जराण्याशु पाकम् ।
भुञ्जानोऽसौ कर्मवल्लीफलानि श्लाघ्यः स्वल्पैरप्यहोभिर्बभूव ॥५४॥

निर्व्यामोहो निर्मदो निष्प्रपञ्चो निःसङ्गोऽयं निर्भयो निर्ममश्च ।
देशे देशे पर्यटन् संयतानां केषां नासीन्मोक्षशिक्षैकहेतुः ॥५५॥

प्रस्तुतशुक्लध्याननैर्मल्यमेवेति भावः ॥४९॥ **भ्रूचापेनेति**—देवाङ्गनाभिर्भ्रूवल्लरीधनुषा समाकृष्य दीर्घाः कटाक्षवाणा मुक्ताः कामबाणा इव निःफलीबभूवुः । तत्र धर्मनाथे, किंविशिष्टे । हृदये संतोष एवाविर्भवन् संबध्यमानो वारबाणो वज्रसंनाहो यस्य स तथाविधस्तस्मिन् ॥५०॥ **भोग इति**—देवो विशेषज्ञतायाः परमनिःस्पृहकाष्ठायाः सीमा बभूव । किं कुर्वन् । तुल्यानुरागां दृष्टिं दधानः । भोगे स्रग्वनितादिविषये रोगे सर्पविषकण्टकादौ व्याधौ वा स्वर्णे जीर्णे तृणे वा इष्टेऽनिष्टे वा राज्यपल्यङ्के श्मशाने वेति ॥५१॥ **तथ्यमिति**—स भाषासमितिं प्रतिपालयन् तथ्यं सत्यं पथ्यं लोकद्वयहितमेव यद्यवादीत् । यद्यन्येन श्रावकेण दत्तं सिद्धं कृतकारितादिनवकोटीविशुद्धं षोडशभिरधःकार्योद्दिश्यप्रभृतिभिर्दायिकाश्रितोद्गमदोषैः धायिकादूतप्रेषणप्रभृतिभिर्यत्याश्रितैः षोडशभिरुत्पादनदोषैः शङ्कितम्रक्षितादिभिर्दशभिराहाराश्रितदोषैः संयोजनादिभिश्चतुर्भिरेवं षट्चत्वारिंशद्दोषैर्विवर्जितं यदि वा द्वात्रिंशदन्तरायैश्चतुर्दशमलैरहितमाहारं गृह्णाति । यदि वा मार्गे जगाम तदा दिनोदये युगान्तरदृष्ट्या इति समितिपालनपरः ॥५२॥ **तस्येति**—तस्य प्रभोरेकेन्द्रियो वायुः संमुखो न ववौ किन्त्वनुकूलतया । ततः किमाश्चर्यं यत्पञ्चेन्द्रियाः सिंहादिश्वापदा उपसर्गं न चक्रुः ॥५३॥ **अन्तरिति**—षड्विधबाह्यैः षड्विधाभ्यन्तरलक्षणैर्द्वादशविधैस्तपोवह्निज्वालाकलापैर्दुर्जराणि कर्मवल्लीफलानि विपाच्य भुञ्जानः स्तोकैरपि दिवसैः श्लाघ्यतमो बभूव ॥५४॥ **निर्व्यामोह इति**—स प्रतिदेशं विहरन् सर्वेषां मोक्षशिक्षाहेतुर्बभूव । किंविशिष्टो

भृकुटिरूपी धनुषसे कान तक खींचकर देवाङ्गनाओंके द्वारा छोड़े हुए दीर्घकटाक्ष, हृदयका संतोष ही जिनका कवच प्रकट हो रहा है ऐसे श्री धर्मनाथ स्वामीके विषयमें कामदेवके बाणोंके समान विफलताको प्राप्त हुए थे ॥५०॥ यद्यपि भगवान् भोगमें, रोगमें, सुवर्णमें तृणमें, मित्रमें, शत्रुमें और नगर तथा वनमें विशेषता रहित—समान दृष्टि रखते थे फिर भी विशेषज्ञता [पक्षमें वैदुष्य] की अद्वितीय सीमा थे ॥५१॥ वे यदि कुछ बोलते थे तो सत्य और हितकारी, यदि कुछ भोजन करते थे तो पक्व शुद्ध तथा दूसरेके द्वारा दिया हुआ और गमन करते थे तो रात्रिको छोड़कर देखते हुए—इस प्रकार उनका सभी कुछ शास्त्रानुकूल था ॥५२॥ उनके समीप एकेन्द्रिय वायु भी प्रतिकूलताको प्राप्त नहीं थी तब सिंहादि पंचेन्द्रिय जीवोंका दुष्ट स्वभाव नहीं था इसमें क्या आश्चर्य था ? ॥५३॥ बड़ी कठिनाईसे पकने योग्य कर्मरूपी लताओंके फलोंको देदीप्यमान अन्तरङ्ग बहिरङ्ग तपश्चरणरूपी अग्निकी ज्वालाओंसे शीघ्र ही पकाकर उनका उपभोग करनेवाले भगवान् धर्मनाथ थोड़े ही दिनोंमें प्रशंसनीय हो गये थे ॥५४॥ वे व्यामोह रहित थे, निर्मद थे, प्रपंच रहित थे, निष्परिग्रह थे, निर्भय थे और निर्मम थे। इस प्रकार प्रत्येक देशमें विहार करते हुए किन संयमी जीवोंके

छद्मस्थोऽसौ वर्षमेकं विहृत्य प्राप्तो दीक्षाकाननं शालरम्यम् ।
देवो मूले सप्तपर्णद्रुमस्य ध्यानं [1]शुक्लं सम्यगालम्ब्य तस्थौ ॥५६॥

माघे मासे पूर्णमास्यां सपुष्ये कृत्वा घर्मो घातिकर्मव्यपायम् ।
उत्पादान्तध्रौव्यवस्तुस्वभावोद्भासि ज्ञानं केवलं स प्रपेदे ॥५७॥

भित्त्वा कर्मध्वान्तमभ्युद्गतेऽस्मिन्दत्तानन्दे केवलज्ञानचन्द्रे ।
तत्कालोद्यद्दुन्दुभिध्वानदम्भाद् व्योमाम्भोधिर्गाढमभ्युज्जगर्ज ॥५८॥

जातं चेतो व्योमवन्नीरजस्कं नृणां पूर्वाद्या इवाशाः प्रसेदुः ।
[2]प्राप द्वेषी वानिलोऽप्यानुकूल्यं किं किं नासीन्निष्कलङ्कं तदानीम् ॥५९॥

तन्माहात्म्योत्कर्षवृत्त्येव हर्षं बिभ्राणासौ साधुगन्धोदवृष्ट्या ।
तत्कालोद्यत्सस्यसंपच्छलेन क्षोणी तत्राधत्त रोमाञ्चमुच्चैः ॥६०॥

नित्योपात्तानङ्गसंग्रामलीलासाहाय्येन व्यञ्जितात्मापराधम् ।
भीत्येवास्य क्रूरकंदर्पशत्रोः सेवां चक्रे चक्रमस्मिन्नृतूनाम् ॥६१॥

निर्मोहो निरहंकारो निर्मायो निःपरिग्रहो निर्भीतिको निर्ममश्च ॥५५॥ छद्मस्थ इति—एकवर्षं यावत्छद्मस्थोऽनुत्पादितकेवलज्ञानः पुनस्तदेव शालवनं प्राप्तः सप्तपर्णद्रुममूले शुक्लध्यानं पूरयामास ॥५६॥ माघ इति—माघमासे पूर्णमास्यां पुष्यनक्षत्रे घातिकर्मचतुष्टयं हत्वा उत्पादव्ययध्रौव्यपदार्थस्वभावप्रकाशकं केवलज्ञानमुत्पादयामास ॥५७॥ भित्त्वेति—कर्मध्वान्तपटलं भित्त्वा दत्तप्रमोदे केवलज्ञानचन्द्रेऽभ्युद्यते सति तत्कालदुन्दुभिध्वानव्याजेन गगनसमुद्रो गर्जितं चकार । चन्द्रोदये समुद्रप्रमोद इति प्रसिद्धम् ॥५८॥ जातमिति—तदानीं केवलज्ञानोत्पत्तिकाले जनानां चित्तं गगनवन्निर्मलं जातम् । न केवलं गगनमपि निर्मलं जातमिति भावः । आशा अभिलाषा नृणां प्रसन्ना बभूवुः ककुभ इव । न केवलं ताः प्रसन्ना दिशश्चेति भावः । वायुरपि धर्मानुकूलो बभूवेव । किं किं न सर्वसुखदं बभूव । अपि तु सर्वं सुखघटितं बभूव ॥५९॥ तन्माहात्म्येति—तत्प्रभावोत्कर्षदर्शनप्रमोदेनेव गन्धोदवर्षेण तत्कालाङ्कुरिता रोमाञ्चं दधानेव पृथ्वी शुशुभे ॥६०॥ नित्येति—अस्य भयेन कम्पमानमिव ऋतुचक्रं सेवांचक्रे । किमपराद्धमृतुचक्रेणेत्याह—सर्वदा कृतकामसंग्रामावसरसाहाय्यकेन व्यञ्जितः प्रकटित आत्म-

लिए मोक्षविषयक शिक्षाके हेतु नहीं हुए थे ॥५५॥ वह भगवान् छद्मस्थ अवस्थामें एक वर्ष विहारकर शालवृक्षोंसे सुशोभित दीक्षावनमें पहुँचे और वहाँ शुक्लध्यानका अच्छी तरह आलम्बनकर सप्तपर्णवृक्षके नीचे विराजमान हो गये ॥५६॥ भगवान् धर्मनाथ माघमासकी पूर्णिमाके दिन पुष्यनक्षत्रके समय घातिकर्मोंका क्षयकर उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप वस्तुके स्वभावको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानको प्राप्त हुए ॥५७॥ जिस समय आनन्दको देनेवाला केवलज्ञानरूपी चन्द्रमा कर्मरूपी अन्धकारको नष्टकर उदित हुआ उसी समय उत्पन्न होनेवाले दुन्दुभि बाजोंके शब्दोंके बहाने आकाशरूपी समुद्र भारी गर्जना करने लगा ॥५८॥ मनुष्योंके चित्त आकाशके समान निर्मल हो गये, उनकी आशाएँ पूर्वादि दिशाओंके समान प्रसन्न हो गयीं—उज्ज्वल हो गयीं । यही नहीं, वायु भी शत्रुके समान अनुकूलताको प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि उस समय कौन-कौन-सी वस्तु निष्कलङ्क नहीं हुई थी ? ॥५९॥ उनके माहात्म्यके उत्कर्षसे ही मानो उत्तम गन्धोदककी वृष्टिके द्वारा हर्षको धारण करती हुई पृथिवी तत्कालमें उत्पन्न धानरूपी सम्पत्तिके छलसे बड़े-बड़े रोमांच धारण कर रही थी ॥६०॥ निरन्तर कामदेवकी युद्धलीलामें सहायता देनेसे जिसका अपना अपराध प्रकट है ऐसा ऋतुओंका समूह डरसे ही मानो दुष्ट कामदेवके शत्रुस्वरूप इन भगवान्की सेवा कर रहा था

१. शुष्कं घ० म० । २. पाप म० घ० ।

भाषाभेदैस्तैश्चतुर्भिश्चतुर्धा संसारस्यापारदुःखां प्रवृत्तिम् ।
वक्तुं चातुर्वर्ण्यसंघस्य हेतोर्मन्ये देवोऽसौ चतुर्वक्त्र आसीत् ॥६२॥
तस्य क्षीणासातवेद्योदयत्वान्नाभूद्भुक्तिर्नोपसर्गः कदाचित् ।
निःस्पन्दाया ज्ञानदृष्टेरिवापुः पक्ष्मस्पन्दं स्पर्धया नेक्षणानि ॥६३॥

नोऽपराधो राजद्विष्टं येन तथाविधम् ॥६१॥ भाषेति—चतसृभिर्भाषाभिः संसारस्वरूपं व्याख्यातुं चतुर्वर्णसंघनिमित्तं प्रभुश्चतुर्वक्त्र आसीत् । तथाचोक्तम्—'देवा दैवीं नरा नारीं शवराश्चापि शावरीम् । तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम्' ॥६२॥ तस्येति—तस्य प्रभोर्नष्टाशुभवेदनीयस्य बुभुक्षाविनाशो बभूव, दुर्जनकृतोपसर्गाभावश्च, नयनानि च निमेषोन्मेषवर्जितानि । अतश्च ज्ञायन्ते निश्चयज्ञानलोचनस्येवानुकारं कुर्वन्ति । ननु भवतु नाम नयननिश्चलतादिप्रभावातिशयो भगवतो यत्तु भुक्तिरपि नास्तीति निवेदितं तन्न युक्तमुत्पश्यामः । 'आ सयोगकेवलिन आहारिणो जीवा' इति सिद्धान्तवचनात् । अशरीरिणः सिद्धा एवानाहारिणो न सशरीराः सर्वज्ञास्तीर्थकरादयः । सत्यमेवमुक्तम् । ननु सकलविमलकेवलज्ञानमुपगतस्य भगवत आहारमात्रं कल्प्यते कवलाहारो वा । प्रथमपक्षे कर्मनोकर्माहारग्रहणमात्रेण सिद्धसाध्यता । द्वितीयपक्षेऽपि क्षुत्संभवाभावान्न प्रादुर्भवतीति । देहस्थितेरन्यथानुपपत्तेरिति चेत् । देवदेहस्थित्या व्यभिचारदर्शनात् । तथाहि देवानामन्नकवलकवलनकलनामन्तरेणापि दृश्यते तादृक्कायकान्तिकलापकौतुकम् । मानसिकाहारस्तेषामिति चेत् । तर्हि भगवतोऽपि कर्मनोकर्माहारः प्रागेव प्रोक्तः अस्ति । अथ मनुष्यत्वात्कवलाहारेणैव भाव्यमस्मदादिशरीरवदिति चेत् । तर्हि युष्मदादिदेहवत् भगवतः शरीरेऽपि स्वेदादिदोषप्रादुर्भूतिः किं न स्यात् । अतिशयित्वात्स्वेदादिदोषाणामभाव इति चेत् । तर्हि एषोऽपि अनाहारतालक्षणातिशय एव । किंचास्मदादौ दृष्टानां धर्माणां भगवतः कल्पने सर्वज्ञत्वहानिप्रसङ्ग एव । तथाहि भगवतो ज्ञानं स्तोकविषयमस्मदादिज्ञानवत् । अथ मनुष्यत्वाविशेषेऽपि भगवतो ज्ञानातिशयस्तर्हि भोजनाभावातिशयोऽपि स्यादेव । अथ वेदनीयसद्भावात्क्षुत्पीडायां कवलाहारेणैव भाव्यमिति चेत् । तदप्ययुक्तम्, मोहनीयकर्मसहायस्यैवासद्वेदनीयस्य क्षुदादिपीडाकरणसामर्थ्यात् । भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा, सा च विघातितमोहे भगवति न स्यात् । तथा चोक्तम्—'वाञ्छा हि मोहनीयं कर्मेति । अन्यथा स्रग्वनितावपि स्पृहा स्यात् तथा च सति वीतरागता न स्यात् । विपक्षभावनावशात् मोहादीनां क्षयातिशयदर्शनात् । केवलिनि तत्परमप्रकर्षे सिद्धे वीतरागतासंभवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि किं न संभोभवीति । तद्भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात् । तथाहि, एकस्मिन्दिने योऽनेकशो भुङ्क्ते [विपक्षभावनावशात्स एव पुनरेकवारं भुङ्क्ते] कश्चित्पुनस्तेनैव प्रकारेण एकदिनान्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमाससंवत्सराद्यन्तरितभोजन इति । किंच बुभुक्षानलप्रशान्तिर्भोजनरसास्वादनाद् भवेत् तदास्वादनानुभवो हि नाम भगवतो रसनेन्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा । रसनेन्द्रियाच्चेत् । तदिन्द्रियजं ज्ञानं न केवलज्ञानमिति । केवलज्ञानानुभवने च किं भोजनेन । सर्वदा सर्वत्र स्थितस्य सर्वरसस्य परिस्फुटानुभवनात् तेनैव सिद्धसाध्यता । कथं चास्य केवलज्ञानसंभवः, श्रेणीतः पतितत्वेन प्रमत्तगुणस्थानवर्तित्वात् । अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेण प्रमत्तो भवेन्नार्हन् भुञ्जानोऽपीति कौतुकम् । अत्र जाठरानलज्वालादंदह्यमानास्थिकुटीरकस्य कथमनन्तचतुष्टयी । प्रक्षीणसुखत्वादीषत्प्रणष्टवीर्यत्वाच्च । अत्र क्षुधा तस्य पीडाकरी न भवतीति वाच्यम् 'क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना' इति वचनात् । अनेकवधवध्यमाननारकादिशरीरसंचारिरुधिराद्यशुचिद्रव्याणि करतलकलितमुक्ताफलवत्पश्यन् कथं नाम भुञ्जीत । अन्तरायप्रसङ्गात् । बीभत्सुभावेन करुणारसेन च व्याकुलिता अल्पसत्त्वा अपि अन्तरायं कुर्वन्ति । स न करोतीति चेत् । अल्पसत्त्वेभ्योऽपि अल्पसत्त्वताप्रसङ्गः । अथ नाम केवली भिक्षार्थं गृहं गृहं प्रतिव्रजति तदा एक गृहे वा । प्रथमपक्षे केवलज्ञानाभावो

॥६१॥ मैं ऐसा मानता हूँ कि चातुर्वर्ण संघके लिए भाषाओंके चार भेदोंके द्वारा चार प्रकारसे संसारकी अपरिमित दुःखदशाका वर्णन करनेके लिए ही मानो श्री धर्मनाथ देव चतुर्मुख हुए थे ॥६२॥ असातावेदनीयका तीव्र उदय नष्ट हो जानेसे न उनके कवलाहार था, न कभी कोई उपसर्ग था, निश्चल ज्ञान दृष्टिकी ईर्ष्यासे ही मानो उनके नेत्र पलकोंके संचारको प्राप्त नहीं

वृद्धिं प्रापुर्नाङ्गजा वा नखा वा तस्यावश्यं योगमुद्रा[1]स्थितस्य ।
का वार्ता वा कर्मणामान्तराणां येषां रेखा नाममात्रावशेषा ॥६४॥

पादन्यासे सर्वतो न्यस्यमानप्रेङ्खत्सद्माम्भोजलीलाशयेव ।
सेवानम्रप्राणिसंचारलक्ष्या पादाभ्यर्णं नास्य लक्ष्मीर्मुमोच ॥६५॥

नो दौर्भिक्ष्यं[2] नेतयो नोपसर्गा नो दारिद्र्यं नोपघातो न रोगाः ।
तन्माहात्म्याद्योजनानां शते द्वे नाभूत्किंचित्क्वापि कर्माप्यनिष्टम् ॥६६॥

नादैर्घण्टासिंहशङ्खानकानां कल्पज्योतिर्भावनव्यन्तरेन्द्राः ।
कर्तुं सेवा ते प्रचेलुर्गुणौघैर्हृत्संलग्नैः कृष्यमाणा इवास्य ॥६७॥

स्वर्गात्तत्रागच्छतामन्तराले रेजे पङ्क्तिः कापि वैमानिकानाम् ।
शुभ्रीकर्तुं कीर्तिसंपत्सुधाभिर्व्योमेवोच्चैर्मञ्चकाध्यासितानाम् ॥६८॥

वृथा बहुगृहपरिभ्रमणात् । द्वितीयपक्षे तु अधोदोषप्रसङ्गः । अथ गणधरानीतं भुङ्क्ते तन्न, परानीतस्याहारस्यानेकदोषसंभवात् । तथा सति निजप्रभुत्वसंभावना सपरिग्रहता च किं नाम । आयुःकर्मदृढतैव शरीरस्थितेः कारणमन्यत्सर्वं व्यामोहविलसितमिति ॥६३॥ वृद्धिमिति—तस्य केवलज्ञानिनोऽङ्गजाः केशा नखाश्च न वर्द्धन्ते स्म परमयोगलीनस्य । अन्येषामन्तरायलक्षणानां कर्मणां का वार्ता येषां नामापि नष्टं यतो हि ज्ञानदर्शनावरणीयमोहनीयान्तरायक्षये केवलज्ञानं समुत्पद्यत इति ॥६४॥ पादेति—दिक्षु विदिक्षु च तदन्तरालेषु अन्तरालानामप्यन्तरालेषु सप्त सप्त कमलानि भवन्ति तेषामुपरि संचरति ततः पादन्यासे कमलानां संख्या शतद्वयं पञ्चविंशत्यधिकम् ततस्तेषु कमलेषु वसन्ती लक्ष्मीः प्रभोः समीपं न तत्याज । कथं ज्ञायत इत्याह—विनयनम्राणां मनुष्याणां संक्रमणेन अकस्मादेव प्रणतसेवकेषु लक्ष्मीस्तेभ्यः कमलेभ्य इव संक्रान्तेति कमलयाननिरूपणम् ॥६५॥ नो इति—तस्य प्रभोर्माहात्म्यात् योजनशतद्वयमध्ये दुर्भिक्षमीतय उपद्रवादिदारिद्र्यमपमृत्युव्याधय इत्यन्यदप्यनिष्टं नाभूदित्यर्थः ॥६६॥ नादैरिति—कल्पवासिनः स्वयमेव घण्टानिनादात्, ज्योतिष्काः सिंहनादात्, पातालवासिनः शङ्खध्वानात्, व्यन्तराः पटहशब्दात् केवलज्ञानमुत्पन्नं ज्ञात्वा हृदयस्थितजिनगुणैराकृष्टा इवागत्य सिषेविरे ॥६७॥ स्वर्गादिति—स्वर्गादवतरतां देवानां विमानपङ्क्तिः शुशुभे व्योमाङ्गणं धवलीकर्तुं यशःसुधाभिर्मञ्चपङ्क्तिरिव

थे ॥६३॥ जब कि योगमुद्रामें स्थित भगवान्‌के रोम (केश) और नख भी वृद्धिको प्राप्त नहीं होते थे तब अन्तरङ्गमें स्थित उन कर्मोंकी बात ही क्या थी जिनकी कि रेखा नाममात्र की शेष रह गयी थी ॥६४॥ सेवासे नम्रीभूत प्राणियोंके पास जाना ही जिसका लक्ष्य है ऐसी लक्ष्मी चरण न्यासके समय सब ओर रखे जानेवाले चंचल कमलरूपी निवासगृहकी आशासे ही मानो इनके चरणोंकी समीपताको नहीं छोड़ती थी ॥६५॥ उनके माहात्म्यसे दो सौ योजन तक न दुर्भिक्ष था, न ईतियाँ थीं, न उपसर्ग थे, न दरिद्रता थी, न बाधा थी, न रोग थे और न कहीं कोई अनिष्ट कार्य ही था ॥६६॥ घण्टा, सिंह, शंख और भेरियोंके शब्दोंसे कल्पवासी, ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यन्तरोंके इन्द्र हृदयमें लगे हुए इनके गुणोंके समूहसे खिंचे हुए के समान इनकी सेवा करनेके लिए चल पड़े ॥६७॥ उस समय स्वर्गसे आनेवाले वैमानिक देवोंकी कोई पंक्ति बीचमें ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो ऊँचे मंचपर बैठे हुए देवोंकी कीर्तिरूपी सम्पत्ति सुधा—चूनाके द्वारा आकाशको सफेद करनेके लिए ही आ रही

१. योगनिद्रा म० घ० । २. दौर्भिक्षं म० घ० ।

तस्मिन्काले तां सभां धर्मनाथस्येन्द्रादेशाद्व्योम्नि चक्रे कुबेरः ।
यस्या नानारत्नमय्याः प्रमाणं पञ्च प्राहुर्योजनान्यागमज्ञाः ॥६९॥

नेदीयस्या प्रेयसा विप्रलम्भव्याख्यादक्षां तेन वेणीं विमोच्य ।
धूलीसा[1]लच्छद्मना पार्श्वतोऽस्याः क्षिप्तं मुद्राकङ्कणं मुक्तिलक्ष्म्या ॥७०॥

ते प्रत्याशं वायुवेल्लद्ध्वजाग्रा मानस्तम्भास्तत्र चत्वार आसन् ।
क्रोधादीनां ये चतुर्णां निरासे संसल्लक्ष्म्यास्तर्जनीकार्यमीयुः ॥७१॥

तत्पर्यन्ते रत्नसोपानरम्या वाप्यो रेजुस्ताश्चतस्रश्चतस्रः ।
प्रौढेनार्हत्तेजसा यत्र रात्रौ कोकः शोकं नाप कान्तावियोगात् ॥७२॥

आस्यं तस्याः सालकान्तं दधत्याः शोभामङ्गे संसदः स्वां दिदृक्षोः ।
तच्चत्वारि स्फाटिकस्वच्छनीराण्यापुर्लीलादर्पणत्वं सरांसि ॥७३॥

देवैः कृता ॥६८॥ तस्मिन्निति—तदा सौधर्मदिशाद्धनदेन धनुषां पञ्चविंशतिसहस्रोत्सेधं [पञ्चसहस्रोत्सेधं] गगनं व्याप्य पञ्चयोजनविस्तारं समवसरणं विदधे ॥६९॥ [2][नेदीयस्येति—नेदीयस्या अतिनिकटवर्त्तिन्या मुक्तिरेव लक्ष्मीस्तया मुक्तिश्रिया तेन पूर्वोक्तेन प्रेयसा वल्लभेन धर्मनाथेन भगवता सह विप्रलम्भस्य विरहस्य व्याख्यायां प्रकटीकरणे दक्षां समर्थां वेणीं विमोच्य धूलीसालच्छद्मना धूलीप्राकारकपटेन अस्या धर्मसभायाः पार्श्वतः समीपे मुद्राकङ्कणं नामाङ्कितकरवलयं क्षिप्तं मुक्तम् ॥७०॥] त इति—ते मानस्तम्भा माननिराकरणाय स्तम्भा मानस्तम्भाः प्रत्याशं प्रतिदिशं चत्वारो बभूवुः । ये क्रोधमानमायालोभादीनां त्रासने तर्जन्या अङ्गुल्या कारणं गताः । यथा बलवतस्तर्जनीदर्शनेन शत्रवः पलायन्ते तथा मानस्तम्भदर्शनेन कोपादयः प्रणश्यन्ति ॥७१॥ तदिति—मानस्तम्भसमीपेषु चतस्रो रत्नघटितसोपाना वाप्यः प्रभान्ति स्म यासु भगवद्भामण्डलतेजसा कोकाश्चक्रवाका रात्रौ कान्ताविरहदुःखं नानुभवन्ति ॥७२॥ आस्यमिति—तस्या प्रभुसभायाश्चत्वारस्तडागा दर्पणसादृश्यं जग्मुः स्फटिकाच्छजला यतः । किंविशिष्टायाः । निजाङ्गशोभां दृष्टुमिच्छोः । पुनः किं कुर्वन्त्याः । दधत्याः आस्यं प्रतोलीं सालकान्तं प्राकारमनोहरं पक्षे अलकैः सह वर्तन्त इति सालकान्तो ललाट-

---

हो ॥६८॥ उस समय इन्द्रके आदेशसे कुबेरने आकाशमें श्री धर्मनाथ स्वामीकी वह धर्मसभा बनायी थी जो नानारत्नमयी थी और आगमके जानकार जिसका प्रमाण पाँच योजन कहते हैं ॥६९॥ हृदयवल्लभ श्री धर्मनाथ स्वामीके साथ विरहकी व्याख्यामें समर्थ वेणी खोलकर निकटवर्ती मुक्तिरूपी लक्ष्मीने इस धर्मसभाके समीप धूलिसालके छलसे मानो अपना मुद्रांकित कंकण ही डाल रखा था ॥७०॥ वहाँ प्रत्येक दिशामें वायुके द्वारा जिनकी ध्वजाओंके अग्रभाग फहरा रहे हैं ऐसे चार मानस्तम्भ थे जो क्रोधादि चार कषायोंके निराकरणमें सभा लक्ष्मीके तर्जनीके कार्यको प्राप्त थे—तर्जनी अंगुलीके समान जान पड़ते थे ॥७१॥ उनके समीप रत्नोंकी सीढ़ियोंसे मनोहर वे चार-चार वापिकाएँ सुशोभित हो रही थीं जिनमें कि रात्रिके समय अर्हन्त भगवान्‌के प्रौढ़ तेजके द्वारा चकवा स्त्रीके वियोगसे शोकको प्राप्त नहीं होता था ॥७२॥ जिनमें स्फटिकके समान स्वच्छ जल भरा हुआ है ऐसे चार सरोवर सालकान्त-प्राकारसे सुन्दर [पक्षमें अलकोंके अन्तभागसे सहित] मुखको धारण करनेवाली एवं अपनी शरीर गत शोभाको देखनेके लिए इच्छुक उस धर्मसभाकी लीला, दर्पणताको प्राप्त हो रहे थे

---

१. जाल म० घ० । २. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकस्य ।

मन्दान्दोलद्वातलीलाचलोर्मिस्तेभ्योऽप्यग्रे खातिका तोयपूर्णा।
जैनव्याख्याज्ञातसंसारदुःखत्रस्यन्निष्क्रान्ताहिगर्भेव रेजे ॥७४॥

अन्तर्लीनैकैकनिष्कम्पभृङ्गप्रेङ्खत्पुष्पा पुष्पवाटी तदूर्ध्वम्।
दत्ताश्चर्यां भूत्रयस्यापि भर्तुर्द्रष्टुं लक्ष्मीं स्फारिताक्षीव रेजे ॥७५॥

सालः शृङ्गालम्बिनक्षत्रमालस्तस्याः प्रान्ते नायमासीद्विशालः।
भ्रष्टं किं तु प्रोतरत्नं तदानीमिन्द्रक्षोभात्कुण्डलं स्वर्गलक्ष्म्याः ॥७६॥

भृङ्गाराद्यैर्मङ्गलद्रव्यवृन्दैः शङ्खध्वानैः सुप्रधानैर्निधानैः।
द्वारे द्वारे निस्पृहस्यापि भर्तुर्विश्वैश्वर्यं व्यज्यते स्म प्रभूतैः ॥७७॥

तस्यैवोच्चैर्गोपुराणां चतुर्णामन्तर्द्वे द्वे रेजतुर्नाट्यशाले।
यत्रावर्णं शासनं मीनकेतोरेणाक्षीणां लास्यमासीज्जनेषु ॥७८॥

द्वौ द्वौ मार्गे धूपकुम्भावभूतां यद्वक्त्रेभ्यो निर्गता धूमराजिः।
मुक्त्वा देहं ज्ञातुरभ्रे भ्रमन्ती भर्तुः कर्मश्यामिकेवावभासे ॥७९॥

भागो यस्य तथाविधम् ॥७३॥ मन्देति—मन्दवातचञ्चलकल्लोलास्तडागाग्रे खातिका जलपूर्णा शोभते स्म जिनव्याख्याने ज्ञातसंसारदुःखा बिभ्यतो निष्क्रान्ता ये सर्पास्तैर्गर्भितेव व्याकुलेव। कल्लोलानां सर्पाणां चोपमानोपमेयभावः ॥७४॥ अन्तरिति—[1] [तस्याः खातिकाया ऊर्ध्वमग्रे पुष्पवाटी रेजे। कथंभूता। अन्तर्मध्ये लीनः स्थितः एकैको निष्कम्पः सौगन्ध्यपानतृप्तत्वेन निश्चलो भृङ्गो भ्रमरो येषु तथाविधानि प्रेङ्खन्ति संचलन्ति पुष्पाणि यस्यां सा। कथमिवेत्याह भूत्रयस्यापि लोकत्रयस्यापि] दत्ताश्चर्यां जिनलक्ष्मीं द्रष्टुं विकसितलोचनेव। अत्र पुष्पवाटीस्त्रियोः पुष्पनयनयोर्भ्रमरकनीनिकयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥७५॥ साल इति—तथा पुष्पवाटिकानन्तरं कपिशीर्षकोपविष्टमहारत्नप्राकारः इन्द्रक्षोभाकुलितस्वर्गलक्ष्मीकङ्कणसदृशः ॥७६॥ भृङ्गाराद्यैरिति—भृङ्गारतालवृन्तकलशध्वजसुप्रतीकश्वेतातपत्रवरदर्पणचामरलक्षणैः प्रत्येकमष्टोत्तरशतसंख्यैर्मङ्गलद्रव्यैः शङ्खशब्दितैश्च प्रधानैरनन्यसाधारणैर्नवनिधिभिः पद्मकालमहाकालसर्वरत्नपाण्डुकनैसर्पमाणवदक्षिणावर्तशङ्खपिङ्गललक्षणैर्द्वारे द्वारे तस्य प्रभोः परमनिःस्पृहस्यापि त्रैलोक्यैश्वर्यमेतैः प्रकटीबभूव ॥७७॥ तस्येति—यस्य प्रतोलीचतुष्टयस्य द्वे द्वे नाट्यशाले शुशुभाते यत्र निरक्षरं कामनृपशासनं मृगाक्षीणां नृत्यमेव बभूव ॥७८॥ द्वाविति—प्रतिद्वारं धूपघटौ

॥७३॥ उनसे आगे चलकर जलसे भरी हुई वह परिखा थी जिसमें कि मन्द-मन्द चलनेवाली वायुसे चंचल तरंगें उठ रही थीं और उनसे जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो जिनेन्द्र भगवान्‌के व्याख्यानसे विदित संसारके दुःखसे डरकर बाहर निकले हुए सर्प ही उसके मध्यमें आ मिले हों ॥७४॥ उसके आगे चलकर वह पुष्पवाटिका थी जिसके कि कुछ-कुछ हिलते हुए फूलोंके भीतर एक-एक निश्चल भौंरा बैठा हुआ था और उनसे जो ऐसी जान पड़ती थी मानो लोकत्रयको आश्चर्य देनेवाली श्री जिनेन्द्र देवकी लक्ष्मीको देखनेके लिए उसने नेत्र ही खोल रखे हों ॥७५॥ उस समवसरण सभाके समीप नक्षत्रमाला जिसके शिखरोंका आलम्बन कर रही है ऐसा यह विशाल कोट नहीं था किन्तु उस समय इन्द्रके क्षोभसे गिरा हुआ स्वर्गलक्ष्मीका रत्नखचित कुण्डल था ॥७६॥ यद्यपि भगवान् निःस्पृह थे फिर भी प्रत्येक द्वारपर रखे हुए भृंगार आदि मंगल द्रव्योंके समूहसे, शंखध्वनिसे और उत्तमोत्तम निधियोंसे उनका समस्त ऐश्वर्य प्रकट हो रहा था ॥७७॥ उस प्रकारके ऊँचे चारों गोपुरोंकी दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएँ सुशोभित हो रही थीं जिनमें कि मृगनयनी स्त्रियोंका वह नृत्य हो रहा था जो कि मनुष्योंके ऊपर कामदेवका निरक्षर शासन था ॥७८॥ प्रत्येक मार्गमें दो-दो

१. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकस्य।

कृत्वा रूपं दंशपोतप्रमाणं भीत्या कोणे क्वापि लोके स्थितस्य ।
पापस्येवोत्सारणार्थं सुगन्धो धूमस्तस्मिन्धूपजन्मोज्जजृम्भे ॥८०॥

क्रीडोद्यानान्यत्र चत्वारि ताभ्यामासन्नूद्ध्वंप्रोल्लसत्पल्लवानि ।
इन्द्रोद्यानं तच्चतुर्यागवृक्षव्याजाज्जेतुं यैरुदस्ताः स्वहस्ताः ॥८१॥

प्रेङ्खद्दोलासीनसेव्याम्बुधारैर्धारायन्त्रैस्तैर्लतामण्डपैश्च ।
स्वैरं क्रीडल्लोकचित्तेक्षणैणास्तेऽप्यारेजुः काञ्चनाः[1] क्रीडशैलाः ॥८२॥

नानारत्नस्तम्भशोभैरथासीत्सालंकारा तोरणैः स्वर्णवेदी ।
रात्रावन्तर्बिम्बितेन्दुग्रहोच्चैरास्थानीव श्रेयसो या विरेजे ॥८३॥

ऊद्ध्वं तस्यास्तार्क्ष्यहंसोक्षमुख्या दिक्संख्यातास्ता बभुर्वैजयन्त्यः ।
यासु व्योमोद्वेल्लनाकृष्टगङ्गा भ्रान्तिं चक्रुः स्यूतमुक्ताफलाभाः ॥८४॥

कर्णाकारं गोपुराणां चतुष्कं बिभ्रत्सालस्तत्परं काञ्चनोऽन्यः ।
धर्मव्याख्यामार्हतीं श्रोतुमिच्छन्मन्ये मेरुः कुण्डलीभूय तस्थौ ॥८५॥

बभूवतुः । यद्वक्त्रनिर्गता धूमराजिर्गगने प्रभुशरीरनिर्गता कर्मकालिकेव रेजे ॥७९॥ कृत्वेति—दंशमशकरूपं विधायेव कस्मिंश्चित् कोणे स्थितस्य कल्मषस्य निर्घाटनार्थं धूपोद्भवः सुगन्धधूमो भुवनं व्यानशे ॥८०॥ क्रीडोद्यानेति—ततोऽनन्तरं चत्वारि क्रीडोद्यानानि यैः स्वर्गवनं जेतुं यागवृक्षव्याजेन हस्ता इवोद्ध्वीकृताः ॥८१॥ प्रेङ्खदिति—ततोऽनन्तरं स्वर्णमयक्रीडापर्वताः शुशुभिरे । किंविशिष्टाः । उपलक्षिताः । कैः । धारायन्त्रैर्दोलारूढमिथुनसेव्यसलिलधारैर्वल्लीवितानमण्डपैश्च । पुनः किंभूताः । स्वैरं विसरज्जनमनोनयनमृगाः ॥८२॥ नानेति—अनेकरत्नघटितस्तम्भलक्ष्मीकैः अथानन्तरं सालंकारैस्तोरणैर्विराजिता हेमवेदिका या नक्तं प्रतिबिम्बितचन्द्रादिग्रहा पुण्यसभेव । शुभ्रं चन्द्रादिप्रतिबिम्बं पुण्यस्थानीयम् ॥८३॥ ऊद्ध्वमिति—तस्या वेदिकाया उपरितनभूमिकायां मालासिंहपद्मवस्त्रगरुडहस्तिवृषभचक्रमयूरहंसवेषधारिण्यो ध्वजपङ्क्तयः शुशुभिरे यासु व्योमवेल्लनसमाकृष्टगङ्गाभ्रान्तिं स्थूलमुक्ताफलकिरणजालानि कुर्वन्ति ॥८४॥ कर्णाकारमिति—ततः

धूपघट थे जिनके कि मुखोंसे निकली हुई धूमपंक्ति ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो ज्ञानवान् भगवान्का शरीर छोड़ आकाशमें घूमती हुई कर्मोंकी कालिमा ही हो ॥७९॥ वहाँ जो धूपसे उत्पन्न हुआ धुआँ फैल रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो मच्छरके बच्चेके बराबर रूप बनाकर भयसे लोकके किसी कोनेमें स्थित पापके हटानेके लिए ही फैल रहा था ॥८०॥ तदनन्तर जिनके बहुत ऊँचे पल्लव लहलहा रहे हैं ऐसे वे चार क्रीडावन थे जिन्होंने कि चार चैत्य वृक्षोंके बहाने इन्द्रका उपवन जीतनेके लिए मानो अपने-अपने हाथ ही ऊपर उठा रखे थे ॥८१॥ उन उद्यानोंमें वे सुवर्णमय क्रीडापर्वत भी सुशोभित हो रहे थे जिनके कि चंचल दोलाओं पर आसीन स्त्री-पुरुषोंके द्वारा सेवनीय जलधारासे युक्त धारायन्त्रों और लतामण्डपोंसे मनुष्योंके मन और नेत्र रूपी मृग स्वच्छन्दता पूर्वक क्रीडा कर रहे थे ॥८२॥ तदनन्तर अनेक रत्नमय स्तम्भोंसे सुसज्जित तोरणोंसे अलंकृत वह स्वर्णमय वेदी थी जो कि रात्रिके समय चन्द्रमा आदि ग्रहोंके भीतर प्रतिबिम्बित हो जाने पर कल्याणकी भूमि—पुण्यभूमिके समान सुशोभित हो रही थी ॥८३॥ उसके ऊपर गरुड, हंस और वृषभ आदिके मुख्य चिह्नोंसे युक्त वे दश पताकाएँ सुशोभित हो रही थीं जिनमें कि लगे हुए मुक्ताफलोंकी आभा आकाश में संचलनसे खींची हुई गंगाकी भ्रान्ति कर रही थीं ॥८४॥ तदनन्तर कर्णाकार चार गोपुरोंको धारण करता हुआ सुवर्णमय दूसरा कोट था जो कि ऐसा जान

---

१. काञ्चनाक्रीडशैलाः म० घ० ।

वाञ्छातीतं यच्छतोऽप्यस्य पार्श्वे वाञ्छामात्रत्यागिनः कल्पवृक्षाः ।
तस्मिन्नुच्चैस्तस्थुरुद्धृत्य शाखाः का वा लज्जा हन्त निश्चेतनानाम् ॥८६॥
ऊर्ध्वं तेभ्योऽभूच्चतुर्गोपुराङ्का विश्वानन्दोज्जीविनी वज्रवेदी ।
रेजे पङ्क्तिस्तादृशानां दशानां रत्नज्योतिर्ज्यायसी तोरणानाम् ॥८७॥
स्तूपास्तेषामन्तरन्तर्नवोच्चैस्ते प्रत्येकं रेजुरर्थैः[1] सनाथाः ।
तत्रैवासन्सन्मुनीनां मनोज्ञा नानासंसन्मण्डपास्तुङ्गतुङ्गाः[2] ॥८८॥
रुद्धक्रूरानङ्गहेतिप्रचारस्तत्प्राकारः स्फाटिकः प्रादुरासीत् ।
तस्याप्यन्तश्चन्द्रकान्तप्रतिष्ठाः कोष्ठास्तत्र द्वादशासन्गरिष्ठाः ॥८९॥
वीतग्रन्थाः कल्पनार्योऽप्यथार्या ज्योतिर्भौमाहिस्त्रियो भावनाश्च ।
भौमज्योतिः कल्पदेवा मनुष्यास्तिर्यग्यूथान्येषु तस्थुः क्रमेण ॥९०॥
ऊर्ध्वं तेभ्यो वल्लभं लोचनानां स्थानं दिव्यं गन्धकुट्याख्यमासीत् ।
अन्तस्तस्योद्दाममाणिक्यदीपं रेजे रम्यं काञ्चनं सिंहपीठम् ॥९१॥

परं स्वर्णप्राकारः कर्णसदृशप्रतोलीचतुष्टयधारी मेरुरिव धर्मव्याख्यां शुश्रूषुः कुण्डलीभूय तस्थौ ॥८५॥ वाञ्छेति—ततोऽनन्तरं कल्पितमात्रदायिनः कल्पद्रुमाः प्रभोः पार्श्वे तस्थुः । किंविशिष्टस्य । प्रार्थनाम्यधिकं ददानस्यापि । कथं नाम तेऽधिकगुणसमीपे तस्थुः । अचेतनत्वान्निर्लज्जा इति ॥८६॥ ऊर्ध्वमिति—तत ऊर्ध्वं चतुर्द्वारमण्डिता समस्तानन्दकारिका रत्नवेदिका यस्यां तेषां तादृशानां दशसंख्यानां रत्नमयतोरणानां श्रेणी शुशुभे ॥८७॥ स्तूपा इति—तन्मध्ये नव नव रत्नस्तूपाः प्रत्येकं भान्ति स्म तत्र च मुनीनामुपवेशनस्थान-मण्डपाः ॥८८॥ रुद्धेति—तन्मध्ये कामप्रहरणनिवारणः स्फाटिकः प्राकारः । तस्यापि मध्ये चन्द्रकान्त-मयाः सभ्यानामुपवेशनकोष्ठकाः ॥८९॥ वीतेति—ततः प्रथमकोष्ठे निर्ग्रन्थाः, द्वितीयकोष्ठे कल्पवासिस्त्रियः, तृतीये व्रतिकाः, चतुर्थे ज्योतिःस्त्रियः, पञ्चमे व्यन्तरस्त्रियः, षष्ठे नागस्त्रियः, सप्तमे फणीन्द्रा भवनवासिनः, अष्टमे व्यन्तराः, नवमे ज्योतिष्काः, दशमे कल्पवासिनः, एकादशे मनुष्याश्चक्रवर्तिमुखाः, द्वादशे च तिर्यञ्च इति क्रमेणोपविश्य धर्मव्याख्यां शुश्रुवुः ॥९०॥ ऊर्ध्वमिति—कोष्ठकानन्तरं मन्दारादिदेवपुष्पनिर्मिता

पड़ता था मानो अर्हन्त भगवान्के धर्मका व्याख्यान सुननेकी इच्छा करता हुआ सुमेरु पर्वत ही कुण्डलाकार होकर स्थित हो गया हो ॥८५॥ यद्यपि भगवान् इच्छासे अधिक देनेवाले थे और कल्पवृक्ष इच्छा प्रमाण ही त्याग करते थे फिर भी खेद है कि वे उनके समीप अपनी ऊँची शाखा तानकर खड़े हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि अचेतनोंको क्या लज्जा ? ॥८६॥ उनके आगे चार गोपुरोंसे युक्त एवं सबके आनन्दको उज्जीवित करनेवाली वह वज्रमय वेदिका थी जिसमें कि रत्नोंकी ज्योतिसे जगमगाती हुई दश तोरणोंकी पंक्ति सुशोभित हो रही थी ॥८७॥ उन तोरणोंके बीच-बीचमें बहुत ऊँचे-ऊँचे वे नौ स्तूप थे जो कि अनेक पदार्थों-से सहित थे और जिनपर उत्तमोत्तम मुनियोंके ऊँचे-ऊँचे अनेक मनोहर सभामण्डप थे ॥८८॥ तदनन्तर जिसके आगे दुष्ट कामदेवके शस्त्रोंका प्रचार रुक गया है ऐसा स्फटिकका प्राकार था और उसके भीतर चन्द्रकान्त मणि निर्मित बारह श्रेष्ठ कोठे थे ॥८९॥ इन कोठोंमें क्रमसे निर्ग्रन्थ मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकाएँ, ज्योतिष्कदेवियाँ, व्यन्तरदेवियाँ, भवनवासिनी देवियाँ, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यंचोंके समूह बैठते थे ॥९०॥ उन सबसे ऊपर नेत्रोंके लिए प्रिय गन्धकुटी नामक दिव्य स्थान था और

१. -रर्चासनाथाः ख० ग० च० छ० ज० घ० म० । २. तुङ्गशृङ्गाः छ० ज० ।

रत्नज्योतिर्भासुरे तत्र पीठे तिष्ठन्देवः शुभ्रभामण्डलस्थः ।
क्षीराम्भोधेः सिच्यमानः पयोभिर्भूयो रेजे काञ्चनाद्राविवोच्चैः ॥९२॥

गायन्नादेनेव भृङ्गाङ्गनानां नृत्यल्लोलैः पल्लवानामिवौघैः ।
किं ब्रूमोऽन्यत्तस्य वृत्तं गुणौघैर्जज्ञे रक्तो यस्य वृक्षोऽप्यशोकः ॥९३॥

वृष्टिः पौष्पी सा कुतोऽभून्नभस्तः संभाव्यन्ते नात्र पुष्पाणि यस्मात् ।
यद्वा ज्ञातं द्रागनङ्गस्य हस्तादर्हद्भीत्या तत्र बाणा निपेतुः ॥९४॥

आविर्भूतं यद्भवद्भूतभावि ज्ञानाकारं तुल्यमिन्दुत्रयेण ।
अव्याबाधामातपत्रत्रयं तत्तस्यावोचद्भूत्रयैश्वर्यलक्ष्मीम् ॥९५॥

छाया कायस्यास्य सेवोपसर्पद्भास्वच्चक्रेणेव भामण्डलेन ।
क्षिप्ता नान्तश्चेत्कथं तत्प्रपेदे तीव्रा चेतस्तापसंपत्प्रशान्तिम् ॥९६॥

रेजे मुक्तिश्रीकटाक्षच्छटाभा पार्श्वे पङ्क्तिश्चामराणां जिनस्य ।
ज्ञानालोके निष्फलानामिवेन्दोर्भासामुच्चैर्दण्डनिर्यन्त्रितानाम् ॥९७॥

गन्धकुटी तन्मध्ये महारत्नघटितहेममयं पीठत्रयं तस्योपरि रत्नसिंहासनम् ॥९१॥ **रत्नेति**—तत्र सिंहासनोपविष्टः प्रभुः शुभ्रभामण्डलमध्यवर्ती मेरुस्थः क्षीराब्धितोयैः पुनरपि सिच्यमान इव ॥९२॥ **गायन्निति**—भृङ्गस्वरैर्गीतं कुर्वन्निव, चञ्चलपल्लवचयैर्नृत्यन्निव रक्ताशोकस्तस्य प्रभोः पृष्ठप्रदेशे बभूव । अथ च किं ब्रूमः । किं कथयामः । तस्य गुणैरास्तां चेतनः अचेतनो द्रुमोऽपि रक्तो बभूव । अशोकः सप्रमोदः ॥९३॥ **वृष्टिरिति**—नभस्तलात्पुष्पवृष्टिरभूत् गगने पुष्पाणि न संभाव्यन्ते तत्किमित्याह—अमी जिनेन्द्रभीत्या कम्पमानस्य कामस्य करात् पुष्पबाणाश्च्युताः । ते पुष्पवृष्टिभ्रममुत्पादयन्ति ॥९४॥ **आविर्भूतमिति**—तस्य सुरेन्द्रफणीन्द्रनरेन्द्रधृतं श्वेतातपत्रत्रयं भूतभविष्यद्वर्तमानज्ञानत्रयसदृशाकारं केनाप्यतिषेध्यं प्रभोस्त्रिभुवनसाम्राज्यपदलक्ष्मीं कथयामास ॥९५॥ **छायेति**—सेवागतादित्यसहस्रसदृशेन भावलयेन प्रभोः शरीरच्छाया बहिस्थिता शरीरमध्ये निक्षिप्ता । अलीकमिति चेत् । कथं संतप्तचेतसि तापसंपत्प्रशान्तिरासीत् । प्रभोर्हृदये तापसंपत्क्वापि नास्तीति घातिकर्मक्षयजनिश्छायत्वस्योत्प्रेक्षा ॥९६॥ **रेज इति**—प्रभोः समीपे चतुःषष्टिचामरश्रेणी संचार्यमाणा शुशुभे मुक्तिश्रीमुक्तकटाक्षपरम्परेव । ज्ञानज्योतिःप्रकटितपदार्थजाते चन्द्रकिरणकलापानां कृतकार्यत्वात् पङ्क्तिरिव । अतश्च

उसके भीतर उत्तम मणिरूपी दीपकोंसे युक्त सुवर्णमय सुन्दर सिंहासन था ॥९१॥ रत्नोंकी कान्तिसे सुशोभित सिंहासन पर उज्ज्वल भामण्डलके बीच स्थित श्री जिनेन्द्रदेव ऐसे जान पड़ते थे मानो उन्नत सुमेरु पर्वत पर क्षीरसमुद्रके जलसे पुनः अभिषिक्त हो रहे हों ॥९२॥ उन भगवान्का अन्य वृत्तान्त क्या कहें ? अशोक वृक्ष भी भ्रमरियोंके शब्दसे मानो गान कर रहा था, चंचल पल्लवोंके समूहसे मानो नृत्य कर रहा था और उनके गुणसमूहसे मानो रक्त वर्ण [पक्षमें अनुरागयुक्त] हो गया था ॥९३॥ जब कि आकाशमें पुष्पोंका होना सम्भव नहीं है तब उससे पुष्पवृष्टि कैसे सम्भव थी ? अथवा पता चल गया, अर्हन्त भगवान्के भयसे कामदेवके हाथसे बाण छूट छूट कर गिर रहे थे ॥९४॥ भगवान्के भूत भविष्यत् और वर्तमान पदार्थोंके ज्ञानके आकार चन्द्रत्रयके तुल्य जो छत्रत्रय प्रकट हुआ था वह उनकी त्रिलोक सम्बन्धी निर्बाध लक्ष्मीको प्रकट कर रहा था ॥९५॥ सेवाके लिए आये हुए सूर्यमण्डलके समान भामण्डलके द्वारा यदि भगवान्के शरीरकी छाया अपने भीतर न डाल ली जाती तो वह तीव्र प्रभा मानसिक संताप रूपी सम्पत्तिकी शान्तिको कैसे प्राप्त होती ? ॥९६॥ मुक्तिलक्ष्मीकी कटाक्षपरम्पराके समान आभावाली चमरोंकी पंक्ति श्री जिनेन्द्र भगवान्के समीप ऐसी सुशोभित होती थी मानो ज्ञानका प्रकाश फैलने पर निष्फल अतएव ऊँचे दण्डमें

अप्युद्ग्रीवैः श्रूयमाणा कुरङ्गैः कर्णाभ्यर्णस्फारपीयूषधारा ।
आ गव्यूतिद्वन्द्वमभ्युल्लसन्ती दिव्या भाषा कस्य नासीत्सुखाय ॥९८॥

क्वेयं लक्ष्मीः क्वेदृशं निःस्पृहत्वं क्वेदं ज्ञानं क्वास्त्यनौद्धत्यमीदृक् ।
रे रे ब्रूत द्राक्कुतीर्था इतीव ज्ञाने भर्तुर्दुन्दुभिर्व्योम्न्यवादीत् ॥९९॥

लास्योल्लासा वाद्यविद्याविलासा गीतोद्गाराः कर्णपीयूषधाराः ।
स्थाने स्थाने तत्र ते ते बभूवुश्छायाप्यस्मिन्दुर्लभासीद्यदीया ॥१००॥

इति निरुपमलक्ष्मीरष्टभिः प्रातिहार्यै-
रतिशयगुणशाली केवलज्ञानभानुः ।
समवसरणमध्ये धर्मतत्त्वं विवक्षुः
सुरपरिषदि तस्थौ धर्मनाथो जिनेन्द्रः ॥१०१॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये समुत्पन्न-
केवलज्ञाननाम विंशतितमः सर्गः ॥२०॥

निष्फलत्वाद्दण्डनियन्त्रिता ॥९७॥ अपीति—उत्कन्धरैर्मृगैः श्रूयमाणा कर्णामृतधारा योजनान्तं यावत् प्रसरन्ती देवपशुनरशबराणां सुखहेतवे प्रभोर्दिव्यभाषा बभूव ॥९८॥ क्वेति—क्वैतत्त्रिभुवनैश्वर्यं क्व च सर्वथा ईदृक्षं निःस्पृहत्वं, क्वेदं लोकालोकभासकं ज्ञानं क्व च निरहंकारत्वमित्यनायतनेश्वरानाक्षिपन्तीव दुन्दुभिर्जगर्ज ॥९९॥ लास्येति—सोल्लासा नृत्यप्रयोगा वाद्यकलाढचनटनानि मधुरा गीतोद्गाराः स्थाने स्थाने ते ते बभूवुः येषां त्रिभुवने छायापि दुर्लभा ॥१००॥ इतीति—इत्यष्टभिः प्रातिहार्यैर्निरुपमलक्ष्मीको दशभिः सहजैर्दशभि-र्घातिक्षयजैश्चतुर्दशभिर्देवोपनीतैरेवं चतुस्त्रिंशत्संख्यैरतिशयैः शोभमानः समवसरणमध्ये तत्त्वं व्याख्यातुकामो धर्मनाथः केवलज्ञानादित्यः स्थितवान् ॥१०१॥

इति श्रीमण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां
संदेहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां विंशः सर्गः ॥२०॥

नियन्त्रित चन्द्रमाकी किरणोंकी पंक्ति ही हो ॥९७॥ जिसे मृग ग्रीवा उठा उठाकर सुन रहे थे, जो कानोंके समीप अमृतकी विशाल धाराके समान थी और जो चार कोश तक फैल रही थी ऐसी दिव्यध्वनि किसके सुखके लिए नहीं थी ? ॥९८॥ भगवज्जिनेन्द्रको केवलज्ञान होने पर आकाशमें बजती हुई दुन्दुभि मानो यही कह रही थी कि रे रे कुतीर्थो ! जरा कहो तो यह लक्ष्मी कहाँ ? और ऐसी निःस्पृहता कहाँ ? यह ज्ञान कहाँ ? और यह अनुद्धतता—नम्रता कहाँ ? ॥९९॥ वहाँ स्थान-स्थान पर नृत्यको उल्लासित करनेवाले वे वे वाद्यविद्याके विलास और कानोंमें अमृतधाराका काम करनेवाले वे वे संगीत हो रहे थे जिनकी कि यहाँ छाया भी दुर्लभ है ॥१००॥ इस प्रकार आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित चौंतीस अतिशय रूप गुणोंसे अलंकृत, केवलज्ञान रूपी सूर्यसे युक्त एवं धर्मतत्त्वको कहनेके इच्छुक श्री धर्मनाथ जिनेन्द्र समवसरणके मध्य देवसभामें विराजमान हुए ॥१०१॥

इस प्रकार महाकवि श्री हरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय
महाकाव्यमें केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला
बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२०॥

एकविंशः सर्गः

तत्त्वं जगत्त्रयस्यापि बोधाय त्रिजगद्गुरुम् । तमापृच्छदथातुच्छज्ञानपण्यापणं गणी ॥१॥
ततो भूतभवद्भाविपदार्थव्यक्तिसाक्षिणी । निःशेषदोषनिर्मुक्ता त्यक्तमिथ्यापथस्थितिः ॥२॥
विपक्षगर्वसर्वस्वदूरोच्चाटनडिण्डिमः । अपारपाप[1]संभारभूधरोपद्रवाशनिः ॥३॥
स्याद्वादवादसाम्राज्यप्रतिष्ठाप्रण[2]वस्थितिः । अतुल्यधर्ममल्लोरुकरास्फोटस्फुटाकृतिः ॥४॥
भ्रूविभ्रमकरन्यासश्वासौष्ठस्पन्दवर्जिता । वर्णविन्यासशून्यापि वस्तुबोधविधायिनी ॥५॥
पृथक्पृथगभिप्रायवचसामपि देहिनाम् । तुल्यमेकाप्यनेकेषां स्पष्टमिष्टार्थसाधिका ॥६॥
सर्वाद्भुतमयी सृष्टिः सुधावृष्टिश्च कर्णयोः । प्रावर्तत ततो वाणी सर्वविद्येश्वराद्विभोः ॥७॥
[कुलकम्]

जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरावपि निर्जरा । मोक्षश्चेतीह तत्त्वानि सप्त स्युर्जिनशासने ॥८॥

तत्त्वमिति—अथानन्तरं गणधरः केवलिनं वस्तुस्वरूपं सकलबोधाय शुद्धानन्तज्ञानक्रय्याणां विपणि पप्रच्छ ॥१॥ तत इति—ततो भूतभविष्यद्वर्तमानपदार्थप्रकाशसाक्षिणी रागद्वेषादिदोषमुक्ता यथावद्वस्तुप्रकाशिका भगवतो भाषा प्रावर्त्ततेति सप्तभिः संबन्धः ॥२॥ विपक्षेति—परवादिगर्वसर्वस्वदूरनिर्घाटनपटहध्वनिः पापपर्वतवज्रदण्डः ॥३॥ [3][स्याद्वादेति—पुनः कथंभूता दिव्यभाषेत्याह—स्याद्वादवादोऽनेकान्तवाद एव साम्राज्यं तस्य प्रतिष्ठायां प्रणवस्येव ओङ्कारस्येव स्थितिर्यस्यास्तथाविधा । पुनश्च किंभूता । अतुल्या अनुपमा ये धर्ममल्लास्तेषामूरुषु सक्थिषु करास्फोट इव हस्ततलाहतिरिव स्फुटा आकृतिर्यस्यास्तथाभूता] ॥४॥ भ्रूविभ्रमेति—भ्रूविभ्रमकराभिनयश्वासाकुलता ओष्ठस्पन्दादिदोषवर्जिता निरक्षरव्यक्तिरपि वस्तुस्वरूपप्रतिपादिनी ॥५॥ पृथगिति—पृथक्पृथगभिप्रायवचसां परस्परभिन्नाभिप्रायवचनानामपि प्राणिनां समं सर्वभाषया परिणमन्ती सर्वेषां च हृदि स्थितं संदेहं निराकुर्वती ॥६॥ सर्वेति—सर्वाश्चर्यमयी सृष्टिः कर्णपीयूषवर्षस्तदा सर्वज्ञात्सवर्द्धि-

---

तदनन्तर गणधरने अतुच्छ ज्ञान रूप विक्रेय वस्तुओंके बाजार रूप त्रिजगद्गुरु भगवान् धर्मनाथसे जगत्त्रयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए तत्त्वका स्वरूप पूछा ॥१॥ तत्पश्चात् समस्त विद्याओंके अधिपति भगवान्से दिव्यध्वनि प्रकट हुई । वह दिव्यध्वनि भूत वर्तमान और भविष्यत् पदार्थोंका साक्षात् करनेवाली थी, समस्त दोषोंसे रहित थी और मिथ्यामार्गकी स्थितिको छोड़नेवाली थी ॥२॥ प्रतिपक्षी—प्रतिवादियोंके गर्वको दूरसे ही नष्ट करनेके लिए वज्र तुल्य थी और अपार पाप रूपी पर्वतोंको नष्ट करनेके लिए वज्र तुल्य थी ॥३॥ स्याद्वाद सिद्धान्तरूप साम्राज्यकी प्रतिष्ठा बढ़ानेवाली थी और धर्म रूपी अनुपम मल्लकी ताल ठोकनेके शब्दके समान थी ॥४॥ भौंहोंका विलास, हाथका संचार, श्वास तथा ओठोंके हलन-चलनसे रहित थी । अक्षरोंके विन्याससे रहित होकर भी वस्तु ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली थी ॥५॥ स्वयं एक रूप होकर भी भिन्न-भिन्न अभिप्राय और भिन्न-भिन्न वचनवाले अनेक प्राणियोंके इष्ट अर्थको एक साथ स्पष्ट रूपसे सिद्ध करनेवाली थी ॥६॥ समस्त

---

१. पाद घ० म० । २. प्रसवश्रुतिः घ० म० । ३. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकस्य ।

बन्धान्तर्भाविनोः पुण्यपापयोः पृथगुक्तितः । पदार्था नव जायन्ते तान्येव भुवनत्रये ॥९॥
अमूर्तश्चेतनाचिह्नः कर्ता भोक्ता तनुप्रमः । ऊद्ध्र्वगामी स्मृतो जीवः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥१०॥
सिद्धसंसारिभेदेन द्विप्रकारः स कीर्तितः । नरकादिगतेर्भेदात् संसारी स्याच्चतुर्विधः ॥११॥
नारकः सप्तधा सप्तपृथ्वीभेदेन भिद्यते । अधिकाधिकसंक्लेशप्रमाणायुर्विशेषतः ॥१२॥
रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमःप्रभाः । महातमःप्रभा चेति सप्तैता श्वभ्रभूमयः ॥१३॥
तत्राद्या त्रिशता लक्षैर्बिलानामतिभीषणा । द्वितीया पञ्चविंशत्या तृतीया च तिथिप्रमैः ॥१४॥
चतुर्थी दशभिर्युक्ता पञ्चमी त्रिभिरुल्बणैः । षष्ठी पञ्चोनलक्षेण सप्तमी पञ्चभिर्बिलैः ॥१५॥
एवं नरकलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा । विज्ञेया तासु दुःखानां न संख्या निपुणैरपि ॥१६॥
षडङ्गुलास्त्रयो हस्ताः सप्त चापानि विग्रहे । इयत्येव प्रमा ज्ञेया प्राणिनां प्रथमक्षितौ ॥१७॥

मागधीभाषा प्रवृत्ता । षड्भिः कुलकम् ॥७॥ जीवेति—जैनमतेन सप्त तत्त्वानि । कानि तानीत्याह—जीवो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः, अजीवः पुद्गलधर्माधर्माकाशकाललक्षणः, आस्रवः कर्मागमद्वारम्, जीवकर्मणोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशैकीभावो बन्धः, आस्रवच्छुभाशुभकर्मनिरोधः संवरः, कर्मप्रदेशप्रक्षरणं निर्जरा, सर्वकर्मक्षयादात्मनो निजस्वरूपोपलब्धिर्मोक्ष इति ॥८॥ बन्धेति—बन्धतत्त्वमध्यस्थयोः पुण्यपापयोः पृथक्कथनेन तान्येव सप्त तत्त्वानि पुण्यपापाभ्यां सहितानि नव पदार्थाः स्युः ॥९॥ अमूर्तेति—अमूर्तोऽनिन्द्रियपरिच्छेद्यः, चेतना चिह्नो ज्ञानलक्षणः, कर्ता सक्रियः, भोक्ता अनुभवनशीलः, तनुप्रमः देहप्रमाणः, ऊर्ध्वगामी सहजोर्ध्वगमनशीलः, स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपः ॥१०॥ सिद्धेति—जीवा द्विभेदाः संसारिणः सिद्धाश्च । संसारिणश्चतुर्भेदाः नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाश्च ॥११॥ नारक इति—नारका अपि सप्तपृथ्वीभेदेन सप्तभेदाः । कस्तेषां भेद इत्याह—अधोऽधः पृथिवीषु वरीवृद्धचमानाधिकाधिकक्रोधपरीमाणशरीरोत्सेधजीवितवृद्धिविशेषात्तेषां भेदः ॥१२॥ रत्नेति—प्रथमनरकपृथ्वी रत्नप्रभानाम्नी, द्वितीया शर्कराप्रभा, तृतीया बालुकाप्रभा, चतुर्थी पङ्कप्रभा, पञ्चमी धूमःप्रभा, षष्ठी तमःप्रभा, सप्तमी महातमःप्रभेति नरकभूमयः ॥१३॥ तत्रेति—तत्र रत्नप्रभायां भूमौ नारकोत्पत्तिस्थानानि बिलानि त्रिंशल्लक्षाणि, द्वितीयायां पञ्चविंशतिलक्षाणि, तृतीयस्यां पञ्चदशलक्षाणि ॥१४॥ चतुर्थीति—चतुर्थ्यां दशलक्षाणि, पञ्चम्यां त्रीणि लक्षाणि, षष्ठ्यां पञ्चभिर्बिलैर्हीनं लक्षं सप्तम्यां पञ्चैव बिलानि ॥१५॥ एवमिति—एवं सप्तनरकसंख्या चतुरशीतिलक्षाणि ॥१६॥ षडङ्गुला इति—

आश्चर्यमयी थी और कानोंमें अमृतवर्षा करनेवाली थी ॥७॥ उन्होंने कहा कि जिन शासनमें सात तत्त्व हैं—१ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा और ७ मोक्ष ॥८॥ बन्ध तत्त्वके अन्तर्भूत होनेवाले पुण्य और पापका यदि पृथक् कथन किया जावे तो वही सात तत्त्व पुण्य और पापके साथ मिलकर लोकत्रयमें नव पदार्थ हो जाते हैं ॥९॥ उनमें से जीव तत्त्व अमूर्तिक है, चेतना लक्षणसे सहित है, कर्ता है, भोक्ता है, शरीर प्रमाण है, ऊर्ध्वगामी है और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य रूप है ॥१०॥ सिद्ध और संसारीके भेदसे वह दो प्रकारका कहा गया है। नरकादि गतियोंके भेदसे संसारी जीव चार प्रकारका है ॥११॥ सात पृथिवियोंके भेदसे नारकी जीव सात प्रकारके हैं और उनमें अधिक अधिक संक्लेश शरीरका प्रमाण और आयुकी अपेक्षा विशेषता होती है ॥१२॥ रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, और महातमःप्रभा ये नरककी सात भूमियाँ हैं ॥१३॥ उनमें-से पहली पृथिवी तीस लाख, दूसरी पचीस लाख, और तीसरी पन्द्रह लाख बिलोंसे अत्यन्त भयंकर है ॥१४॥ चौथी पृथिवी दश लाख, पाँचवीं तीन लाख, छठवीं पाँच कम एक लाख और सातवीं केवल पाँच बिलोंसे युक्त है ॥१५॥ इस प्रकार सब चौरासी लाख नरक-बिल हैं। उनमें जो दुःख हैं उनकी संख्या बुद्धिमान् मनुष्य भी नहीं जान पाते ॥१६॥ प्रथम पृथिवीके

द्वितीयादिष्वतोऽन्यासु द्विगुणद्विगुणोदयः । उत्सेधः स्याद्धरित्रीषु यावत्पञ्चधनुःशती ॥१८॥
प्रसरद्दुःखसंतानमन्तर्मातुमिवाक्षमम् । वर्धयत्यङ्गमेतेषामधोऽधो धरणीष्वतः ॥१९॥
एक आद्ये द्वितीये च त्रयः सप्त तृतीयके । चतुर्थे पञ्चमे च स्युर्दश सप्तदश क्रमात् ॥२०॥
षष्ठे द्वाविंशतिर्ज्ञेयास्त्रयस्त्रिंशच्च सप्तमे । आयुर्दुःखापवरके नरके सागरोपमाः ॥२१॥
आद्ये वर्षसहस्राणि दशायुरधमं ततः । पूर्वस्मिन्यद्यदुत्कृष्टं निकृष्टं तत्तदग्रिमे ॥२२॥
कदाचिदपि नैतेषां विधिरेधयतीहितम् । दुःखिनामनभिप्रेतमिवायुर्वर्धयत्यसौ ॥२३॥
रौद्रध्यानानुबन्धेन बह्वारम्भपरिग्रहाः । तत्रोपपादिका जीवा जायन्ते दुःखखानयः ॥२४॥
तेषामालिङ्गिताङ्गानां संततं दुःखसंपदा । न कदापि कृतेर्ष्येव सुखश्रीर्मुखमीक्षते ॥२५॥
साश्रुणी लोचने वाणी गद्गदा विह्वलं मनः । स्यात्तदेषां कथं दुःखं वर्णयन्ति दयालवः ॥२६॥

तत्र प्रथमायां नरकभूमौ नारकाणां देहोदयप्रमाणं सप्तदण्डास्त्रयो हस्ताः षडङ्गुलाधिकाः ॥१७॥ द्वितीयेति— एवं द्वितीयादिषु पृथ्वीषु द्विगुणद्विगुणोदय उत्सेधो भवति यावत्पञ्चदण्डशतानि सप्तम्यां पृथिव्याम् ॥१८॥ प्रसरदिति—एतेषां नारकाणां वरीवर्द्धमानमहादुःखसंभारं वपुर्वर्द्धते प्रचुरदुःखसंभारप्रणोदितमिवाधोऽधः पृथिवीषु ॥१९॥ एक इति—प्रथमनरके उत्कृष्टायुः सागरोपमैकप्रमाणं, द्वितीये त्रयः सागरोपमाः, तृतीये सप्त, चतुर्थे दश, पञ्चमे सप्तदश ॥२०॥ षष्ठ इति—षष्ठे द्वाविंशतिः सप्तमे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा । दुःखगृहे ॥२१॥ आद्य इति—प्रथमनरकपृथिव्यां जघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि भवति । द्वितीयायां जघन्यमायुरेकसागरोपमं तृतीयायां त्रयः सागरोपमाः, चतुर्थ्यां सप्तसागरोपमाः, पञ्चम्यां दश सागरोपमाः, षष्ठ्यां सप्तदश, सप्तम्यां द्वाविंशतिरिति जघन्यमायुः ॥२२॥ कदाचिदपीति—कदाचिदप्येतेषां सुखाभिलाषं विधिर्न पूरयति दुःखपीडितानां चायुर्वर्धयतीव ॥२३॥ रौद्रेति—हिंसकपरिणामानुबन्धेनानियमा बह्वारम्भपरिग्रहाश्च ये जीवास्ते तत्रोत्पद्यन्ते ॥२४॥ तेषामिति—तेषां महादुःखसंपदा समालिङ्गितदेहानां सुखश्रीः कृतकोपेव कदाचिदपि मुखं न वीक्षते ॥२५॥ साश्रुणीति—तेषां हुण्डकसंस्थानं नपुंसकवेदः सर्वदा नयनयुगलं शोकवाष्पाविलं वाणीकटुनिष्ठुरगद्गदा विकलं मनश्च विपरीतावधिसहितं ततस्तेषां पञ्चविधं शारीरिक-क्षेत्रोद्भव-दानवोदित-मानसिक-परस्परकृत-

प्राणियोंके शरीरका प्रमाण सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल है ॥१७॥ इसके आगे द्वितीयादि अन्य पृथिवियोंके जीवोंके शरीरकी ऊँचाई पाँचसौ धनुष तक क्रमशः दूनी दूनी होती जाती है ॥१८॥ बढ़ते हुए दुःखोंका समूह छोटे शरीरमें समा नहीं सकता है इसीलिए मानो नीचे नीचेकी पृथिवियोंमें नारकियोंका शरीर बड़ा-बड़ा होता जाता है ॥१९॥ प्रथम नरकमें एक सागर, द्वितीयमें तीन सागर, तृतीयमें सात सागर, चतुर्थमें दश सागर और पंचममें सत्तरह सागरकी उत्कृष्ट आयु है ॥२०॥ दुःखके घर स्वरूप छठवें नरकमें बाईस सागर और सातव नरकमें ततीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है ॥२१॥ प्रथम नरकमें दश हजार वर्षकी जघन्य आयु है और उसके आगे पिछले नरकमें जो उत्कृष्ट आयु है वही जघन्य आयु जानना चाहिए ॥२२॥ दैव, इन दुखी प्राणियोंके मनोवांछित कार्यको कभी पूरा नहीं करता और आयुको जिसे वे नहीं चाहते मानो बढ़ाता रहता है ॥२३॥ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखनेवाले जीव रौद्रध्यानके सम्बन्धसे उन नरकोंमें उत्पन्न होते हैं। वहाँ उत्पन्न होनेवाले सभी जीव उपपाद जन्मसे उत्पन्न होते हैं और दुःखोंकी खान रहते हैं ॥२४॥ उनके शरीर सदा दुःख रूप सम्पदाके द्वारा आलिंगित रहते हैं अतः ईर्ष्यासे ही मानो सुखरूपी लक्ष्मी कभी उनका मुख नहीं देखती ॥२५॥ दयालु मनुष्य उनके दुःखोंका वर्णन कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि वर्णन रते समय उनके नेत्र आँसुओंसे भर जाते हैं, वाणी गद्गद हो जाती है और मन विह्वल हो

सूतवद्भिन्नमप्यङ्गं यन्मिलत्यापदे पुनः । [1]दुःखाकरोति मच्चित्तं तेन वार्तापि तादृशाम् ॥२७॥
मधुमांसासवासक्त्यावगणय्य जिनागमम् । कौलादिदाम्भिकाचार्यसपर्याकारि यत्त्वया ॥२८॥
तस्येदं भुज्यतां पक्वं फलमित्यसुरामराः । उत्कृत्योत्कृत्य तन्मांसं तन्मुखे प्रक्षिपन्त्यमी ॥२९॥
पाययन्ति च निस्त्रिंशाः प्रतप्त[2]कललं मुहुः । घ्नन्ति बध्नन्ति मथ्नन्ति क्रकचैर्दारयन्ति च ॥३०॥
खण्डनं ताडनं तत्रोत्कर्तनं यन्त्रपीलनम्[3] । किं किं दुष्कर्मणः पाकात्सहन्ते ते न दुःसहम् ॥३१॥
कृता श्वभ्रगतेर्भेदात्तत्स्वरूपनिरूपणा । व्यावर्ण्यते कियानस्या भेदस्तिर्यग्गतेरपि ॥३२॥
तिर्यग्योनिर्द्विधा जीवस्त्रसस्थावरभेदतः । त्रसा द्वित्रिचतुःपञ्चकरणाः स्युश्चतुर्विधाः ॥३३॥
स्पर्शसाधारणेष्वेषु नूनमेकैकमिन्द्रियम् । वर्धते रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमिति क्रमात् ॥३४॥
वर्षाणि द्वादशैवायुर्मानं द्वादशयोजनम् । विवृणोति प्रकर्षेण जीवो द्वीन्द्रियविग्रहः ॥३५॥

लक्षणं दुःखं केन वर्णयितुं शक्यते ॥२६॥ **सूतेति**—तेषामङ्गं खण्डशः खण्डितमपि पारदलववन्मिलति ततस्तेषां वार्तापि दुःखावहा ॥२७॥ **मध्विति**—यत्त्वया मद्यपानं मांसमधुभक्षणं च जिनागमनिन्दकेन कृतं नास्तिकादिपूजां कुर्वता । तस्य फलं सांप्रतमुपभुज्यताम् ॥२८॥ **तस्येति**—इति पूर्वोक्तविधिना तस्यैव शरीरमांसमुत्कृत्य तन्मुखेऽसुरप्रेरिताः प्रक्षिपन्ति नारकाः ॥२९॥ **पाययन्तीति**—तुभ्यं मदिरा प्रतिभाति एवमालप्य तप्तसीसकद्रवं पाययन्ति अन्यैरप्युपायैः क्रकचादिभिर्घातयन्ति ॥३०॥ **खण्डनमिति**—खण्डनं खण्डशः करणं, ताडनं कशोपलयष्ट्यादिभिर्हननम्, उत्कर्तनं चर्मपृथक्करणम्, यन्त्रनिपीलनं घानकनिक्षेपणं बहुप्रकारमित्येवमादि दुःखसंभारं सहन्ते ॥३१॥ **कृतेति**—नरकगतिवर्णना कृता संप्रति कियती तिर्यग्गतिर्वर्ण्यते ॥३२॥ **तिर्यगिति**—तिर्यग्गतौ जीवा द्विविधास्त्रसाः स्थावराश्च । स्थावराः पञ्चविधाः पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजस्कायिकवातकायिकवनस्पतिकायिका इति । त्रसाश्चतुर्भेदाः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् ॥३३॥ **स्पर्शेति**—स्पर्शनेन्द्रियस्थावरत्रसानां साधारणं द्वीन्द्रियेषु रसनेन्द्रियं वर्द्धते, त्रीन्द्रियेषु घ्राणेन्द्रियं चतुरिन्द्रियेषु चक्षुरिन्द्रियं पञ्चेन्द्रियेषु श्रोत्रेन्द्रियमिति क्रमेणेन्द्रियवृद्धिः ॥३४॥ **वर्षाणीति**—द्वीन्द्रियजीवस्य परमायुर्द्वादश

उठता है ॥२६॥ उनका शरीर यद्यपि खण्ड खण्ड हो जाता है फिर भी चूँकि दुःख भोगनेके लिए पारेकी तरह पुनः मिल जाता है अतः उनकी चर्चा भी मेरे चित्तको दुःखी बना देती है ॥२७॥ मधु मांस और मदिरामें आसक्ति होनेसे तूने जो जिनागमका अनादर कर कौल आदि कपटी गुरुओंकी पूजा की थी उसीका यह पका हुआ फल भोग ॥२८॥ इस प्रकार कहकर असुरकुमार देव उन्हींका मांस काट-काट कर उनके मुखमें डालते हैं ॥२९॥ और अतिशय क्रूर परिणामी असुरकुमार बार बार पिघला हुआ सीसा पिलाते हैं, मारते हैं, बाँधते हैं, मथते हैं, और आरेसे चीरते हैं ॥३०॥ खोटे कर्मके उदयसे वे नारकी वहाँ काटा जाना, पीटा जाना, छीला जाना और कोल्हू में पेला जाना क्या क्या भयंकर दुःख नहीं सहते ? ॥३१॥ इस प्रकार नरकगतिसे स्वरूपका निरूपण किया । अब कुछ तिर्यंच गतिका भी भेद कहता हूँ ॥३२॥ त्रस और स्थावरके भेदसे तिर्यंच जीव दो प्रकारके हैं और त्रस, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रियके भेदसे चार प्रकारके हैं ॥३३॥ इनमें स्पर्शन इन्द्रिय तो सभी जीवोंके हैं । हाँ, रसना घ्राण चक्षु और कर्ण ये एक एक इन्द्रियाँ द्वीन्द्रियादि जीवोंके बढ़ती जाती हैं ॥३४॥ द्वीन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष है और शरीरकी उत्कृष्ट

१. दुःखीकरोति घ० म० । २. कलिलं ग० छ०, कलकं च० । ३. यन्त्रपीडनम् घ० म० ।

दिनान्येकोनपञ्चाशदायुस्त्र्यक्षे शरीरिणि । पदोनयोजनं मानं जिनाः प्राहुः प्रकर्षतः ॥३६॥
आयुर्योजनमानस्य चतुरक्षस्य देहिनः । षण्मासप्रमितं प्रोक्तं जिनैः केवललोचनैः ॥३७॥
सहस्रमेकमुत्सेधो योजनानां प्रकीर्तितः । पूर्वकोटिमितं चायुः पञ्चेन्द्रियशरीरिणाम् ॥३८॥
पृथिवीमारुताप्तेजोवनस्पतिविभेदतः । अद्वितीयेन्द्रियाः सर्वे स्थावराः पञ्चकायिकाः ॥३९॥
द्वाविंशतिः सहस्राणि वर्षाणामायुरादिमे । द्वितीये त्रीणि सप्त स्यात्तृतीयेऽपि यथाक्रमम् ॥४०॥
चतुर्थे त्रीण्यहान्येव पञ्चमस्य प्रकर्षतः । पञ्चेन्द्रियाधिकोत्सेधस्याब्दानामयुतं मतम् ॥४१॥
आर्तध्यानवशाज्जीवो लब्धजन्मात्र जायते । शीतवर्षातपक्लेशवधबन्धादिदुःखभाक् ॥४२॥
इति तिर्यग्गतेर्भेदो यथागममुदीरितः । मानवानां गतेः कोऽपि प्रकारः कथ्यतेऽधुना ॥४३॥
द्विप्रकारा नरा भोगकर्मभूभेदतः स्मृताः । देवकुर्वादयस्त्रिंशत्प्रसिद्धा भोगभूमयः ॥४४॥
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात्तास्त्रिविधाः क्रमात् । द्विचतुःषड्धनुर्दण्डसहस्रोत्तुङ्गमानवाः ॥४५॥

वर्षाणि शरीरप्रमाणमुत्कर्षेण द्वादशयोजनप्रमाणम्॥३५॥ दिनानीति—त्रीन्द्रियस्य एकोनपञ्चाशद्दिनानि परमायुः शरीरोत्सेधश्च क्रोशत्रयम् ॥३६॥ आयुरिति—चतुरिन्द्रियस्य योजनप्रमाणं शरीरं जीवितं च षण्मासावधि ॥३७॥ सहस्रमिति—पञ्चेन्द्रियस्य शरीरोत्सेधो योजनसहस्रं परमायुः पूर्वकोटिरेका ॥३८॥ पृथिवीति—पृथिवीकायिकानां परमायुर्द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि, तेजःकायिकानां त्रीणि दिनानि, वनस्पतिकायिकानां पञ्चेन्द्रियाधिकोत्सेधानां परमायुर्दशवर्षसहस्राणि ॥३९-४१॥ आर्तेति—आर्त्तध्यानेन तिर्यग्गतिर्भवति। तत्र निरावरणत्वात् प्रचुरशीतातपवर्षादिकं देहावयवच्छेदादिकं महादुःखं तिर्यञ्चः सहन्ते ॥४२॥ इतीति—इत्यागमानुसारेण तिर्यग्गतेर्भेदः उद्देशतो वर्णितः सांप्रतं मनुष्यगतेः कोऽपि भेदः कथ्यते ॥४३॥ द्विप्रकारा इति—द्विप्रकारा मनुष्याः कर्मभूमिजा भोगभूमिजाश्च । तत्र देवकुरूत्तरकुरुप्रभृतयस्त्रिंशद्भोगभूमयः ॥४४॥ जघन्येति—जघन्यमध्यमोत्तमभेदात्त्रिधा, तत्रोत्कृष्टभोगभूमिषु क्रोशत्रयं शरीरोत्सेधः । मध्यमभोगभूमिषु

उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन है ॥३५॥ तीन इन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट आयु उनचास दिनकी है और शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोश है—ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ॥३६॥ केवलज्ञानरूपी लोचनको धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवने चतुरिन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट आयु छह माह की और उत्कृष्ट अवगाहना एक योजनकी कही है ॥३७॥ पंचेन्द्रिय जीवोंकी शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन और ऊँचाई एक करोड़ वर्ष पूर्वकी कही गयी है ॥३८॥ पृथिवी, वायु, जल, तेज और वनस्पतिके भेदसे एकेन्द्रिय जीव पाँच प्रकारके हैं, ये सभी स्थावर कहलाते हैं । इनमें पृथिवीकायिककी बाईस हजार वर्ष, वायुकायिककी तीन हजार वर्ष, जलकायिककी सात हजार वर्ष, अग्निकायिककी सिर्फ तीन दिन और वनस्पतिकायिककी दस हजार वर्षकी आयु है । वनस्पतिकायिककी उत्कृष्ट अवगाहना पंचेन्द्रियकी अवगाहनासे कुछ अधिक है[1] ॥३९-४१॥ आर्तध्यानके वशसे जीव इस तिर्यंचयोनिमें उत्पन्न होता है और शीत, वर्षा, आतप, वध, बन्धन आदिके क्लेश भोगता है ॥४२॥ इस प्रकार आगमके अनुसार तिर्यंच गतिका भेद कहा अब कुछ मनुष्यगतिकी विशेषता कही जाती है ॥४३॥ भोगभूमि और कर्मभूमिके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके माने गये हैं । देवकुरु आदि तीस भोगभूमियाँ प्रसिद्ध हैं ॥४४॥ ये सभी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन-तीन प्रकार की हैं । इनमें

१. यह कथन मात्र लम्बाईकी अपेक्षा है । वनस्पतिकायिकोंमें कमलकी साधिक एक हजार योजनकी अवगाहना है अवश्य, परन्तु वह मात्र लम्बाईकी अपेक्षा है । क्षेत्रफलकी अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवोंमें मच्छकी ही उत्कृष्ट अवगाहना है ।

तास्वेकद्वित्रिपल्यायुर्जीविनो भुञ्जते नराः । दशानां कल्पवृक्षाणां पात्रदानार्जितं फलम् ॥४६॥
कर्मभूमिभवास्तेऽपि द्विधार्यम्लेच्छभेदतः । भारताद्याः पुनः पञ्चदशोक्ताः कर्मभूमयः ॥४७॥
धनुःपञ्चशतैस्तासु सपादैः प्रमितोदयाः । उत्कर्षतो मनुष्याः स्युः पूर्वकोटिप्रमायुषः ॥४८॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः कालयोर्वृद्धिह्रासिनी । भरतैरावते स्यातां विदेहस्त्वक्षतोदयः ॥४९॥
सागरोपमकोटीनां कोटिभिर्दशभिर्मिता । आगमज्ञैरिह प्रोक्तोत्सर्पिणी चावसर्पिणी ॥५०॥
सुषमासुषमा प्रोक्ता सुषमा च ततो बुधैः । सुषमादुःषमान्यापि दुःषमासुषमा क्रमात् ॥५१॥
पञ्चमी दुःषमा षष्ठी दुःषमादुःषमा मता । प्रत्येकमिति भिद्यते[1] ते षोढा कालभेदतः ॥५२॥
चतस्रः कोटयस्तिस्रो द्वे च पूर्वादिषु क्रमात् । तिसृष्वम्भोधिकोटीनां मानमुक्तं जिनागमे ॥५३॥
ऊना सहस्रैरब्दानां द्वाचत्वारिंशता ततः । चतुर्थ्यम्भोधिकोटीनां कोटिरेका प्रकीर्तिता ॥५४॥
पञ्चमी वत्सराणां स्यात्सहस्राण्येकविंशतिः । तत्प्रमाणैव तत्त्वज्ञैर्नूनं षष्ठी प्रतिष्ठिता ॥५५॥

क्रोशद्वयं शरीरोत्सेधः । जघन्यभोगभूमिषु क्रोशैकप्रमाणम् ॥४५॥ तास्विति—तासु मनुजानां जीवितं किं प्रमाणमित्याह—उत्तमासु भोगभूमिषु त्रिपल्योपमप्रमाणं मध्यमासु द्विपल्योपमं जघन्यासु चैकपल्योपमप्रमाणं प्राणितव्यम् । दशविधकल्पद्रुमैर्दत्तभोगोपभोगिनः । उत्तममध्यमजघन्यपात्रदानात् भोगभूमयोऽपि तथाविधा लभ्यन्ते ॥४६॥ कर्मेति—कर्मभूमिभवा अपि मनुष्या द्विधा–आर्या म्लेच्छाश्च । कर्मभूमयः पञ्चदश—पञ्च भरताः पञ्चैरावताः, पञ्च विदेहाः तासु मनुष्याः सपादपञ्चशतधनुर्दण्डोत्सेधशरीराः । उत्कर्षेण पूर्वकोटिप्रमितायुः ॥४७–४८॥ उत्सर्पिणीति—तत्र कालचक्रे उत्सर्पिणी दशकोटीकोटीसागरोपमा वर्तते । अवसर्पिण्यपि तावन्मात्रम् ॥४९–५०॥ सुषमेति—प्रथमः सुषमासुषमाभिधानश्चतुःकोटीकोटीसागरोपमानो वर्तते । द्वितीयः सुषमाभिधानः त्रिकोटीकोटीसागरोपमानो वर्तते । तृतीयः सुषमादुःषमाभिधानो द्विकोटीकोटीसागरोपमानो वर्तते । चतुर्थो दुःषमासुषमाभिधानो वर्षाणां सहस्रैर्द्वाचत्वारिंशता हीन एककोटीकोटीसागरोपमानो वर्तते । पञ्चमो दुःषमाभिधान एकविंशतिवर्षसहस्राणि वर्तते । षष्ठोऽतिदुःषमाभिधान एकविंशतिवर्षसहस्राणि प्रवर्तते ।

मनुष्योंकी ऊँचाई क्रम-क्रम से दो हजार, चार हजार और छह हजार मनुष्य है ॥४५॥ जघन्य भोगभूमिमें एक पल्य, मध्यममें दो पल्य और उत्तममें तीन पल्य मनुष्योंकी आयु होती है। वहाँ के मनुष्य अपने जीवन भर दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त पात्रदानका फल भोगते रहते हैं ॥४६॥ कर्मभूमिके मनुष्य भी आर्य और म्लेच्छोंके भेदसे दो प्रकारके हैं। भरतक्षेत्र आदि पन्द्रह कर्मभूमियाँ कहलाती हैं ॥४७॥ इनमें मनुष्य उत्कृष्टतासे पाँच सौ पचीस धनुष ऊँचे और एक कोटी वर्ष पूर्वकी आयुवाले होते हैं ॥४८॥ भरत और ऐरावत क्षेत्र उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी कालमें क्रमसे वृद्धि और हानिसे युक्त होते हैं परन्तु विदेह क्षेत्र सदा एकसा रहता है ॥४९॥ आगमके ज्ञाताओंने दश कोड़ाकोड़ी सागर वर्षोंकी उत्सर्पिणी और उतने ही वर्षोंकी अवसर्पिणी कही है ॥५०॥ सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और दुःषमादुःषमा—इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों ही कालभेदकी अपेक्षा छह-छह प्रकारसे भेदको प्राप्त होती हैं। प्रारम्भके तीन कालोंका प्रमाण जिनागममें क्रमसे चार कोड़ाकोड़ी, तीन कोड़ाकोड़ी और दो कोड़ाकोड़ी सागर कहा गया है। चौथे कालका प्रमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर कहा गया है। तत्त्वके ज्ञाताओंने पाँचवें और छठवें कालका प्रमाण इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष

१. भिद्यन्ते घ० म० ।

षोढा षट्कर्मभेदेन ते गुणस्थानभेदतः । स्युश्चतुर्दश धात्रार्या म्लेच्छाः पञ्च प्रकीर्तिताः ॥५६॥
स्वभावमार्दवत्वेन स्वल्पारम्भपरिग्रहाः । भवन्त्यत्र नराः पुण्यपापाप्तिप्रक्षयक्षमाः ॥५७॥
नारीगर्भेऽतिबीभत्से कफामासृङ्मलाविले । कुम्भीपाकाधिकासाते जायते कृमिवन्नरः ॥५८॥
वर्णितेति गतिर्नॄणां देवानामपि सम्प्रति । कियत्यपि स्मरानन्दोज्जीविनी वर्णयिष्यते ॥५९॥
भावनव्यन्तरज्योतिर्वैमानिकविभेदतः । देवाश्चतुर्विधास्तेषु भावना दशधोदिताः ॥६०॥
असुराहिसुपर्णाग्निविद्युद्वातकुमारकाः । दिग्द्वीपस्तनिताम्भोधिकुमाराश्चेति भेदतः ॥६१॥
तत्रासुरकुमाराणामुत्सेधः पञ्चविंशतिः । चापानि दश शेषाणामप्युदन्वत्परायुषाम् ॥६२॥
दशसप्तधनुर्माना व्यन्तराः किन्नरादयः । शिष्टास्तेऽष्टविधा येषामायुः पल्योपमं परम् ॥६३॥

पञ्चश्लोका व्याख्याताः ॥५१–५५॥ षोढेति—तत्रार्या देवपूजा-गुरूपास्तिस्वाध्यायसंयमतपोदानभेदैः षड्भेदाः । यदि वा मिथ्यात्व-सासादन-मिश्राविरत-सम्यग्दृष्टि-देशविरतप्रमत्ताप्रमत्तापूर्वपरिणामानिवृत्ति-परिणामसूक्ष्म-परिणामोपशान्तपरिणाम-क्षीणमोहसयोगायोगकेवलिभेदैश्चतुर्दशधा । पञ्चम्लेच्छखण्डभेदेन म्लेच्छाः पञ्चविधाः ॥५६॥ स्वभावेति—स्वभावमृदुपरिणामा अल्पारम्भपरिग्रहाः पुण्यपापाप्तिक्षयक्षमा नरा जायन्ते मनुष्यगतौ ॥५७॥ नारीति—स्त्रीगर्भे श्लेष्मरुधिरादिमलस्थाने कुम्भीपाकसदृशदुःखं सहमानः पुरुषः पुरीषकीटवज्जायते ॥५८॥ वर्णितेति—वर्णिता मनुष्यगतिरिदानीं देवगतिः कथ्यते स्मरहर्षोत्पादिका ॥५९॥ भावनेति—भवनवासिनः पातालस्वर्गवासिनो व्यन्तराः समुद्रोपकण्ठादिवासिनो ज्योतिष्काः सूर्यचन्द्रादयो वैमानिकाः सौधर्मेन्द्रादयः चतुर्विधा देवाः । तत्रापि भवनवासिनो दशप्रकाराः ॥६०॥ असुरेति—असुरकुमारा नागकुमारा गरुडकुमारा अग्निकुमारा विद्युत्कुमारा वातकुमारा दिक्कुमारा द्वीपकुमाराः स्तनित–मेघकुमाराः समुद्रकुमाराः ॥६१॥ तत्रेति—तत्रासुरकुमाराणां देहोत्सेधः पञ्चविंशतिदण्डप्रमाणः शेषाणां दशदण्डाः । असुरकुमाराणामेकसागरोपमपरमायुः ॥६२॥ दशेति—दशधनुर्दण्डप्रमाणा व्यन्तराः किंनरादयश्च सप्तदण्डप्रमाणाः । व्यन्तराणां च पल्योपमं परायुः । शेषाणां किंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचानामागमानुसारेण जघन्य-

बतलाया है ॥५१–५५॥ आर्य मनुष्य, देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह पारमार्थिक कार्योंकी अपेक्षा छह प्रकार और गुणस्थानोंके भेदसे मिथ्यात्व-सासादन आदि चौदह प्रकारके होते हैं । भगवान् वृषभदेवने पाँच म्लेच्छ खण्डोंकी अपेक्षा म्लेच्छों-को पाँच प्रकारका कहा है ॥५६॥ थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह रखने वाले मनुष्य स्वभावकी कोमलतासे इस मनुष्यगतिमें उत्पन्न होते हैं । मनुष्य पुण्यकी प्राप्ति और पापका क्षय करनेमें समर्थ होते हैं अथवा पुण्य और पाप दोनोंकी प्राप्तिका क्षय कर मोक्ष प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं ॥५७॥ यह मनुष्य स्त्रीके उस गर्भमें कृमिकी तरह उत्पन्न होता है जो कि अत्यन्त घृणित है, कफ, अपक्वरुधिर और मलसे भरा है तथा जिसमें कुम्भीपाकसे भी अधिक दुःख है ॥५८॥ इस प्रकार मनुष्य गतिका वर्णन किया अब कामके आनन्दसे उज्जीवित रहनेवाली देवगतिका भी कुछ वर्णन किया जायेगा ॥५९॥ भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिकोंके भेदसे देव चार प्रकारके हैं । उनमें भवनवासी दस प्रकारके कहे गये हैं ॥६०॥ भवनवासियोंके दश भेद इस प्रकार हैं—१. असुरकुमार, २. नाग-कुमार, ३. गरुडकुमार, ४. अग्निकुमार, ५. विद्युत्कुमार, ६. वायुकुमार, ७. दिक्कुमार, ८. द्वीपकुमार, ९. मेघकुमार और १०. समुद्रकुमार ॥६१॥ उनमेंसे एक सागरकी उत्कृष्ट आयुवाले असुरकुमारोंका शरीर पचीस धनुष ऊँचा है और शेष नव कुमारोंका दस धनुष, ॥६२॥ व्यन्तर, किन्नर आदिके भेदसे आठ प्रकारके हैं । उनके शरीरका प्रमाण दस

१. क्रमाः घ० म० ।

ज्योतिष्काः पञ्चधा प्रोक्ताः सूर्यचन्द्रादिभेदतः । येषामायुःप्रमाणं च व्यन्तराणामिवाधिकम् ॥६४॥
वर्षाणामयुतं भौमभावनानामिहाधमम् । पल्यस्यैवाष्टमो भागो ज्योतिषामायुरीरितम् ॥६५॥
वैमानिका द्विधा कल्पसंभूतातीतभेदतः । कल्पजास्तेऽच्युतादर्वाक्कल्पातीतास्ततः परे ॥६६॥
सौधर्मेशाननामानौ धर्मारम्भमहोद्यतौ [3] । [4]सानत्कुमारमाहेन्द्रौ ब्रह्मब्रह्मोत्तरावपि ॥६७॥
ततो लान्तवकापिष्ठौ शुक्रशुक्रोत्तरौ परौ । शताराख्यसहस्रारावानतप्राणतावपि ॥६८॥
अथारणाच्युतौ कल्पाः षोडशेति प्रकीर्तिताः । इदानीं तेषु देवानामायुर्मानं च कथ्यते ॥६९॥
हस्ताः सप्त द्वयोर्मानं षडूर्ध्वं नाकिषु द्वयोः । चतुर्णां पञ्च चत्वारस्तदूर्ध्वं तावतां क्रमात् ॥७०॥
त्रयः सार्धा द्वयोरूर्ध्वमूर्ध्वमाभ्यां द्वयोस्त्रयः । इति षोडशकल्पानामूर्ध्वं ग्रैवेयकेष्वपि ॥७१॥
अधःस्थेषु करौ सार्धौ द्वौ मध्येषूर्ध्वगेषु च । त्रिषु सार्धकरास्तेभ्यः परे हस्तप्रमाः सुराः ॥७२॥

मायुर्दशवर्षसहस्रप्रमाणम् ॥६३॥ **ज्योतिष्का** इति—ज्योतिष्काः पञ्चविधाः सूर्याश्चन्द्रा ग्रहा नक्षत्राणि प्रकीर्णकतारकाश्च । एतेषामायुर्लक्षणं व्यन्तराणामिव । ज्योतिष्काणां पुनः पल्योपमाष्टमो भागो जघन्यमायुः ॥६४–६५॥ **वैमानिका** इति—वैमानिकाः पुनर्द्विविधाः कल्पसंभूताः कल्पबहिर्भूताश्च । कल्पजाः सौधर्मादि-द्वादशकल्पजातास्तत ऊर्ध्वं कल्पातीताः ॥६६॥ **सौधर्म** इति—प्रथमः कल्पः सौधर्मः, द्वितीय ईशानः, तृतीयः सनत्कुमारः, चतुर्थो माहेन्द्रः, पञ्चमो द्वाभ्यां ब्रह्मब्रह्मोत्तराभ्याम्, षष्ठो लान्तवकापिष्ठाभ्याम्, सप्तमः शुक्रमहा-शुक्राभ्याम्, अष्टमः शतारसहस्राभ्याम्, नवम आनतनामा, दशमः प्राणताभिधः, एकादश आरणाख्यः, अच्युतो द्वादशो मतः । इति द्वादशकल्पाः स्वर्गास्तु षोडशेति । इदानीं देवानामायुः शरीरप्रमाणं च कथ्यते ॥६७–६९॥ **हस्ता** इति—सौधर्मेशानयोः सप्तहस्तप्रमाणं शरीरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः षट्हस्तप्रमाणं शरीरं तदूर्ध्वं चतुः-स्वर्गेषु पञ्चहस्तप्रमाणं शरीरं तदनन्तरमुपरिमस्वर्गचतुष्टये चतुःकरप्रमाणं वपुः ॥७०॥ **त्रय** इति—आनत-प्राणतयोः सार्द्धत्रयहस्तप्रमाणो देहोच्छ्रयः, आरणाच्युतयोस्त्रिहस्तप्रमाणं वपुः । इति षोडशस्वर्गेषु देहोत्सेधः । अथ ग्रैवेयकादिषु कथ्यते ॥७१॥ **अधःस्थेष्विति**—प्रथमग्रैवेयकत्रये सार्धकरद्वयप्रमाणो देहः, मध्यमग्रैवेयकत्रये हस्तद्वयप्रमाणो देहः, उपरिमग्रैवेयकत्रये सार्धकरैकप्रमाणः परेषु चानुदिशादिषु हस्तैकप्रमाणः । इदानीमायुः

तथा सात धनुष प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु एक पल्य प्रमाण है ॥६३॥ सूर्य, चन्द्र आदिके भेदसे ज्योतिषी देव पाँच प्रकारके हैं। इनकी आयु व्यन्तरोंकी तरह ही कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण है। व्यन्तर और भवनवासी देवोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है तथा ज्योतिषियोंकी पल्यके आठवें भाग ॥६४–६५॥ कल्पोपपन्न और कल्पातीतकी अपेक्षा वैमा-निक देवोंके दो भेद हैं। कल्पोपपन्न वे हैं जो अच्युत स्वर्गके पहले रहते हैं और कल्पातीत वे हैं जो उसके ऊपर रहते हैं ॥६६॥ धार्मिक कार्योंके प्रारम्भमें महान् उद्यम करनेवाले सौधर्म–ऐशान, सनत्कुमार–माहेन्द्र, ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर, लान्तव–कापिष्ठ, शुक्र–महाशुक्र, शतार–सहस्रार, आनत–प्राणत, एवं आरण–अच्युत ये सोलह स्वर्ग कहे गये हैं। अब इन स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंकी आयु तथा शरीरका प्रमाण कहते हैं ॥६७–६९॥ आदिके दो स्वर्गोंमें देवोंकी ऊँचाई सात हाथ, उसके आगे दो स्वर्गोंमें छह हाथ, फिर चार स्वर्गोंमें पाँच हाथ, फिर चार स्वर्गोंमें चार हाथ प्रमाण शरीरकी ऊँचाई है ॥७०॥ तदनन्तर दो में साढ़े तीन हाथ, और फिर दो में तीन हाथ है। यह सोलह स्वर्गोंकी अवगाहना कही। इसके आगे ग्रैवेयकोंकी अवगाहना कही जाती है ॥७१॥ अधोग्रैवेयकमें अढ़ाई हाथ, मध्यमग्रैवेयकमें दो हाथ, उपरिम ग्रैवेयकमें डेढ़ हाथ और उनके आगे अनुदिश तथा अनुत्तर विमानोंमें एक

१. –वमम् घ० म० । २. परम् छ० । ३. –द्यमौ घ० म० । ४. सनत्कुमार म० घ० ।

सौधर्मैशानयोरायुःस्थितिर्द्वौ सागरौ मतौ । सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः सप्त सागराः ।।७३।।
दशैव कल्पयोर्ज्ञेया ब्रह्मब्रह्मोत्तराख्ययोः । निर्णीता लान्तवे कल्पे कापिष्ठे च चतुर्दश ।।७४।।
षोडशैव ततः शुक्रमहाशुक्राभिधानयोः । अष्टादश शतारे च सहस्रारे च निश्चितम्[1] ।।७५।।
वर्णिता विंशतिर्नूनमानतप्राणताख्ययोः । उक्ता द्वाविंशतिः प्राज्ञैरारणाच्युतयोरपि ।।७६।।
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तेष्वतो ग्रैवेयकादिषु । एकैको वर्धते तावद्यावत्त्रिंशत्त्रयाधिका ।।७७।।
अकामनिर्जराबालतपःसम्यक्त्वयोगतः । अत्रौपपादिका भूत्वा प्रपद्यन्ते सुराः सुखम् ।।७८।।
विलासोल्लाससर्वस्वं रतिकोषसमुच्चयम् । शृङ्गाररससाम्राज्यं भुञ्जते ते निरन्तरम् ।।७९।।
इति व्यावर्णितो जीवश्चतुर्गत्यादिभेदतः । संप्रत्यजीवतत्त्वस्य किंचिद्रूपं निरूप्यते ।।८०।।
धर्माधर्मौ नभः कालः पुद्गलश्चेति पञ्चधा । अजीवः कथ्यते सम्यग्जिनैस्तत्त्वार्थवेदिभिः[3] ।।८१।।
षड्द्रव्याणीति वर्ण्यन्ते समं जीवेन तान्यपि । विना कालेन तान्येव यान्ति पञ्चास्तिकायताम् ।।८२।।

कथ्यते ।।७२।। सौधर्म इति—प्रथमकल्पद्वये परमायुः सागरोपमद्वयम् । ऊर्ध्वकल्पद्वये सागरोपमसप्तकम् ।।७३।। दशैवेति—ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्दशसागरोपमाः लान्तवकापिष्ठयोश्चतुर्दशसागरोपमाः ।।७४।। षोडशेति—शुक्रमहाशुक्रयोः षोडशशतारसहस्रारयोश्चाष्टादश ।।७५।। वर्णिता इति—आनतप्राणतयोर्विंशतिरारणाच्युतयोर्द्वाविंशतिः ।।७६।। सर्वार्थेति—प्रथमग्रैवेयकात्प्रारम्य सर्वार्थसिद्धिं यावदेकैकसागरोपमो वर्द्धते यावत्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः । सर्वार्थसिद्धौ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा भवन्ति ।।७७।। अकामेति—अकामनिर्जरावशात् अज्ञानतपःप्रभावाच्च केवलसम्यक्त्वयोगाच्च शिलासंपुटे भूत्वा देवाः सुखमनुभवन्ति ।।७८।। विलास इति—तत्र विलासप्रकाशसर्वस्वमनुरागकोशसमुच्चयं शृङ्गाररससाम्राज्यमनुभवन्ति ।।७९।। इतीति—इति चतुर्गतिषु जीवद्रव्यं व्यावर्णितं सांप्रतमजीवद्रव्यं निरूप्यते ।।८०।। धर्मेति—गतिलक्षणो धर्मः, स्थितिलक्षणोऽधर्मः- अवगाहनलक्षणमाकाशम्, गलनपूरणस्वभावलक्षणः पुद्गलः, वर्तनालक्षणः काल इत्यजीवद्रव्यं जिनमतज्ञाः कथयन्ति ।।८१।। षडिति—तान्येव पूर्वोक्तानि धर्माधर्मनभःकालपुद्गललक्षणानि जीवेन सार्धं षड्द्रव्याणि कथ्यन्ते ।

हाथ प्रमाण देवोंकी अवगाहना चाहिए ।।७२।। सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें उत्कृष्ट आयु दो सागर तथा सनत्कुमार और महेन्द्रस्वर्गमें सात सागर है ।।७३।। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें दश सागर और लान्तव तथा कापिष्ठ स्वर्गमें चौदह सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ।।७४।। शुक्र-महाशुक्र स्वर्गमें सोलह सागर और शतार-सहस्रार स्वर्गमें अठारह सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है ।।७५।। आनत-प्राणत स्वर्गमें बीस सागर और आरण-अच्युत स्वर्गमें बाईस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है ।।७६।। इसके आगे ग्रैवेयकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि तक एक-एक सागरकी आयु बढ़ती जाती है। सर्वार्थसिद्धिमें तैंतीस सागरकी आयु है ।।७७।। अकामनिर्जरा, बालतप और सम्यग्दर्शनके योगसे जीव इन स्वर्गोंमें उपपाद जन्मसे उत्पन्न होकर सुख भोगते हैं ।।७८।। यहाँपर देव शृंगार रसके उस साम्राज्यका निरन्तर उपभोग करते रहते हैं जो कि विलाससे परिपूर्ण और रतिसुखका कोष है ।।७९।। इस प्रकार चतुर्गतिके भेदसे जीवतत्त्वका वर्णन किया अब कुछ अजीव तत्त्वका स्वरूप कहा जाता है ।।८०।। सम्यक् प्रकारसे तत्त्वोंको जाननेवाले जिनेन्द्र भगवान्ने धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे अजीव तत्त्वको पाँच प्रकारका कहा है ।। ८१ ।। जीवसहित उक्त पाँच भेद छह द्रव्य कहलाते हैं और कालको छोड़ अवशिष्ट पाँच द्रव्य पंचास्तिकायताको

---

१. निश्चिताः घ० म० । २. संपत्क घ० म० । ३. दर्शिभिः घ० म० ।

धर्मः स तात्त्विकैरुक्तो यो भवेद्गतिकारणम् । जीवादीनां पदार्थानां मत्स्यानामुदकं यथा ॥८३॥
छायेव घर्मतप्तानामश्वादीनामिव क्षितिः । द्रव्याणां पुद्गलादीनामधर्मः स्थितिकारणम् ॥८४॥
लोकाकाशमभिव्याप्य स्थितावेतावनिष्क्रियौ । नित्यावप्रेरकौ हेतू मूर्तिहीनावुभावपि ॥८५॥
पुद्गलादिपदार्थानामवगाहैकलक्षणः । लोकाकाशः स्मृतो व्यापी शुद्धाकाशो बहिस्ततः ॥८६॥
धर्माधर्मैकजीवाः स्युरसंख्येयप्रदेशकाः । व्योमानन्तप्रदेशं तु सर्वज्ञैः प्रतिपाद्यते ॥८७॥
जीवादीनां पदार्थानां परिणामोपयोगतः । वर्तनालक्षणः कालोऽनंशो नित्यश्च निश्चयात् ॥८८॥
कालो दिनकरादीनामुदयास्तक्रियात्मकः । औपचारिक एवासौ मुख्यकालस्य सूचकः ॥८९॥
रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवन्तश्च पुद्गलाः । द्विधा स्कन्धाणुभेदेन त्रैलोक्यारम्भहेतवः ॥९०॥
भूमितैल[1]तमोगन्धकर्माणुप्रकृतिः क्रमात् । स्थूलास्थूलादिभेदाः स्युस्तेषां षोढा जिनागमे ॥९१॥
भाषाहारशरीराख्य[क्ष]प्राणापानादिमूर्तिमत् । यत्किंचिदस्ति तत्सर्वं स्थूलं सूक्ष्मं च पुद्गलम् ॥

[तान्येव द्रव्याणि कालं विहाय पञ्चास्तिकायत्वं प्राप्नुवन्ति][2] ॥८२॥ धर्म इति—जीवादीनां पदार्थानां यद्गमनकारणं स धर्म इति यथा मत्स्यादीनां गतिहेतुकं जलम् ॥८३॥ छायेवेति—यथा पथिकानां छाया स्थितिकारणं तथा जीवादिद्रव्याणामधर्मः ॥८४॥ लोकेति—एतौ धर्माधर्मौ नित्यौ लोकाकाशमध्यस्थितौ निःक्रियौ कार्यानुमेयौ॥८५॥ पुद्गलेति—पुद्गलादिद्रव्याणामवगाहनशीलो लोकाकाशस्तद्बहिर्भूतः शुद्धस्वरूपोऽलोकाकाशः ॥८६॥ धर्मेति—धर्मश्चाधर्मश्च एक जीवश्च एतेषां संख्यातीताः प्रदेशाः गगनमनन्तप्रदेशम् ॥८७॥ जीवादीनामिति—जीवादीनां पदार्थानां परिणामकः कालः । निश्चयेन च कालस्याकायत्वं नित्यत्वं च ॥८८॥ काल इति—आदित्योदयास्तक्रियात्मकः काल्पनिकः कालो मुख्यकालस्य प्रतिपादकः ॥८९॥ रूपेति—रूपं च गन्धश्च रसश्च स्पर्शश्च शब्दश्च ते विद्यन्ते येषां ते तद्वन्तः पुद्गलाः । तेऽपि द्विभेदाः स्कन्धरूपाः परमाणुरूपाश्च । द्वयेऽपि भुवननिर्माणकारणानि ॥९०॥ भूमीति—ततः पुद्गलद्रव्यं पृथ्वीरूपं स्थूलतमम्, तैलजलादिकं स्थूलतरम्, तरुच्छायारूपं स्थूलसूक्ष्मम्, चतुरिन्द्रियविषयलक्षणं सूक्ष्मस्थूलम्, कर्मलक्षणं सूक्ष्मतरम्, परमाणुलक्षणं सूक्ष्मतमम्, इति षड्विधं पुद्गलद्रव्यम् ॥९१॥ भाषेति—या भाषा यच्चाहारकाख्यशरीरं, यच्चोच्छ्वासनिःश्वासादिकं

प्राप्त होते हैं ॥८२॥ मछलियोंके चलनेमें पानीकी तरह जो जीवादि पदार्थोंके चलनेमें कारण है उसे तत्त्वज्ञ पुरुषोंने धर्मद्रव्य कहा है ॥८३॥ घामसे संतप्त मनुष्योंको छायाकी तरह अथवा घोड़े आदिको पृथिवीकी तरह पुद्गलादि द्रव्योंके ठहरनेमें जो कारण है वह अधर्मद्रव्य है ॥८४॥ ये दोनों ही द्रव्य लोकाकाशमें व्याप्त होकर स्थित हैं, क्रियारहित हैं, नित्य हैं, अप्रेरक कारण हैं, और अमूर्तिक हैं ॥८५॥ पुद्गलादि पदार्थोंको अवगाह देनेवाला आकाश लोकाकाश और उसके बाहर सर्वत्र व्याप्त रहनेवाला आकाश शुद्धाकाश कहलाता है ॥८६॥ सर्वज्ञ देवने धर्म, अधम और एक जीवद्रव्यके असंख्यात तथा आकाशके अनन्त प्रदेश कहे हैं ॥८७॥ जीवादि पदार्थोंके परिवतनमें उपयोग आनेवाला वर्तना लक्षण सहित कालद्रव्य है। यह द्रव्य अप्रदेश तथा निश्चयकी अपेक्षा नित्य है ॥८८॥ सूर्य आदि की उदयास्त क्रियारूप जो काल है वह औपचारिक—व्यवहार काल है और मुख्य काल – निश्चय काल द्रव्यका सूचक है ॥८९॥ जो रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्दसे सहित हैं वे पुद्गल हैं। ये स्कन्ध और आयुके भेदसे दो प्रकारके हैं तथा त्रिलोककी रचनाके कारण हैं ॥९०॥ पृथिवी, तैल, अन्धकार-छाया, गन्ध, कर्म और परमाणुके समान स्वभाव रखनेवाले वे पुद्गल जिनागममें स्थूल-स्थूल आदिके भेदसे छह प्रकारके होते हैं ॥९१॥ शब्द, आहार, शरीर, इन्द्रिय तथा

१. शैल घ० म० । २. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकस्य ।

यथागममजीवस्य कृता रूपनिरूपणा । इदानीमास्रवस्यापि कोषमुन्मुद्रयाम्यहम् ॥९३॥
शरीरवाङ्मनःकर्मयोग एवास्रवो मतः । शुभाशुभविकल्पोऽसौ पुण्यपापानुषङ्गतः ॥९४॥
गुरुनिह्नवदोषोक्तिमात्सर्यासादनादयः । आस्रयत्वेन विज्ञेया दृग्ज्ञानावृतिकर्मणोः ॥९५॥
दुःखशोकभयाक्रन्द-संताप-परिदेवनैः । जीवो बध्नात्यसद्वेद्यं स्वपरोभयसंश्रयैः ॥९६॥
क्षान्तिशौचदयादानसरागसंयमादयः । भवन्तिः हेतवः सम्यक्[1] सातवेद्यस्य कर्मणः ॥९७॥
केवलिश्रुतसंघार्हद्धर्माणामविवेकतः । अवर्णवाद एवाद्यो दृष्टिमोहस्य संभवः ॥९८॥
कषायोदयतस्तीव्रपरिणामो मनस्विनाम् । चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः कारणं परम् ॥९९॥
श्वभ्रायुषो निमित्तानि बह्वारम्भपरिग्रहाः । मायार्तध्यानतामूलं तिर्यग्योनिभवायुषः ॥१००॥
नरायुषोऽपि हेतुः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः । सरागसंयमत्वादि-निदानं त्रिदशायुषः ॥१०१॥
स्याद्विसंवादनं योगवक्रता च निरत्यया । हेतुरशुभस्य नाम्नस्तदन्यस्य तदन्यथा ॥१०२॥

तत्सर्वं स्थूलसूक्ष्मभेदं पुद्गलद्रव्यम् ॥९२॥ यथेति—आगमानुसारेण जीवनिरूपणा कृता । इदानीं तृतीयतत्त्वस्यास्रवस्य स्वरूपं निरूप्यते ॥९३॥ शरीरेति—कायवचनमनःक्रियास्वरूप आस्रवः । स च शुभरूपोऽशुभरूपश्च । शुभं पुण्यम् अशुभं पापम् ॥९४॥ गुर्विति—निजगुरुनिह्नवो गुरुमाहात्म्यलोपनं दोषभाषणं कोपक्रिया आसादना गुणगणावज्ञा एते आस्रवप्राप्ता दर्शनज्ञानावरणकर्मणोर्निमित्तं भवन्ति ॥९५॥ दुःखेति—दुःखं च शोकश्च भयं चाक्रन्दश्च संतापश्च परिदेवनं रोदनं च एतैश्च जीवोऽशुभवेदनीयं बध्नाति स्वयंकृतैः परस्मिन्कारितैर्वा ॥९६॥ क्षान्तीति—क्षमानिर्लोभत्वदयादानश्रावकत्वम् एतानि शुभवेदनीयस्य निमित्तं भवन्ति ॥९७॥ केवलीति—केवली सर्वज्ञस्तीर्थकरस्तत्प्रणीतागमसंघाः संघपूज्यो जिनमार्गः एतेषां दोषोद्भावनं दर्शनमोहस्य कारणम् ॥९८॥ कषाय इति—क्रोधादिकषायोद्रेककृतस्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहनीयस्य कारणम् ॥ ९९ ॥ श्वभ्रेति—अनियमाद्बह्वारम्भो बहुपरिग्रहश्च नरकगतिकारणम् । आर्त्तध्यानं मायाप्रपञ्चस्तिर्यग्गतिकारणम् ॥१००॥ नरेति—अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मनुष्यायुषः कारणं शुद्धश्रावकत्वं बालतपश्चरणादिकं च देवगतेः कारणम् ॥१०१॥ स्यादिति—नित्यमेव मनोवचनकायस्य दुष्टत्वं विसंवादनं विप्रतिपत्तिकरणमशुभनामकारणं

श्वासोच्छ्वास आदि जो कुछ भी मूर्तिमान् पदार्थ हैं वह सब स्थूल तथा सूक्ष्म भेदको लिये हुए पुद्गल ही हैं ॥९२॥ इस प्रकार आगमके अनुसार अजीव तत्त्वका निरूपण किया। अब कुछ आस्रव तत्त्वका रहस्य खोलता हूँ ॥९३॥ काय, वचन और मनकी क्रिया रूप योग ही आस्रव माना गया है। पुण्य और पापके योगसे उसके शुभ और अशुभ—दो भेद होते हैं ॥९४॥ गुरुका नाम छिपाना, उनकी निन्दा करना, मात्सर्य तथा आसादन आदि ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव जानना चाहिए ॥९५॥ स्व, पर तथा दोनोंके आश्रयसे होनेवाले दुःख, शोक, भय, आक्रन्दन, संताप और परिदेवनसे यह जीव असातावेदनीयका बन्ध करता है ॥९६॥ क्षमा, शौच, दया, दान, तथा सरागसंयम आदि सातावेदनीयके आस्रव होते हैं ॥९७॥ मूर्खतावश केवली, श्रुत, संघ तथा अर्हन्तदेवके द्वारा प्रणीत धर्मका अवर्णवाद करना—उनके अविद्यमान दोष कहना दर्शनमोहका आस्रव है ॥९८॥ तेजस्वी मनुष्योंका कषायके उदयसे जो तीव्र परिणाम हो जाता है वह चारित्र मोहनीय कर्मका कारण है ॥९९॥ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखना नरकायुके निमित्त हैं। माया और आर्तध्यान तिर्यंच योनिका कारण है ॥१००॥ अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह मनुष्यायुका कारण है तथा सराग संयमादि देवायुका आस्रव है ॥१०१॥ विसंवाद और निरन्तर रहनेवाली योगोंकी

१. सम्यगसद्वेद्यस्य घ० म० ।

षोडशदृग्विशुद्धयाद्यास्तीर्थकृन्नामकर्मणः । स्वप्रशंसान्यनिन्दाद्या नीचैर्गोत्रस्य हेतवः ॥१०३॥
विपरीताः पुनस्ते स्युरुच्चैर्गोत्रस्य साधकाः । अन्तरायः सदानादिविघ्ननिर्वर्तनोदयः ॥१०४॥
रहस्यमिति निर्दिष्टं किमप्यास्रवगोचरम् । बन्धतत्त्वप्रबन्धोऽयमधुना विधिनोच्यते ॥१०५॥
सकषायतया दत्ते जीवोऽसंख्यप्रदेशगान् । पुद्गलान्कर्मणो योग्यान् बन्धः स इह कथ्यते ॥१०६॥
मिथ्यादृक् च प्रमादाश्च योगाश्चाविरतिश्च[1] सा । कषायाश्च स्मृता जन्तोः पञ्चबन्धस्य हेतवः॥१०७॥
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानां विभेदतः । चतुर्विधः प्रणीतोऽसौ जैनागमविचक्षणैः ॥१०८॥
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता ज्ञानावृतिदृगावृती । वेद्यं च मोहनीयायुर्नामगोत्रान्तराययुक् ॥१०९॥
तद्भेदाः पञ्चनवद्वावष्टाविंशतिरप्यतः । चत्वारो द्विचत्वारिंशद्द्वौ पञ्चापि स्मृताः क्रमात्॥११०॥
आदितस्तिसृणां प्राज्ञैरन्तरायस्य च स्मृताः । सागरोपमकोटीनां त्रिंशत्कोट्यः परा स्थितिः ॥१११॥
सप्ततिर्मोहनीयस्य विंशतिर्नामगोत्रयोः । आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशद्विज्ञेयाः सागरोपमाः ॥११२॥

सरलमनोवचनकायपरिणामोऽविसंवादकरणं शुभनामकारणम् ॥१०२॥ **षोडशेति**—दर्शनविशुद्धिविनयसंपन्नता-शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणि मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति षोडशकारणानि तीर्थकरत्वस्य । आत्म-प्रशंसा परनिन्दा च नीचैर्गोत्रस्य कारणम् ॥१०३॥ **विपरीता इति**—आत्मनिन्दा परप्रशंसा च उच्चैर्गोत्रस्य कारणम् । दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां विघ्नकरणं पञ्चविधान्तरायकारणम् ॥१०४॥ **रहस्यमिति**—एतदास्रवमूलं किंचित्कथितम् । बन्धतत्त्वमधुना कथ्यते ॥१०५॥ **सकषायेति**—कषायवशात् कर्मयोग्यान् पुद्गलपरमाणून् जीव आदत्ते स बन्धः ॥१०६॥ **मिथ्येति**—मिथ्यात्वादयः पञ्चैते बन्धकारणानि ॥१०७॥ **प्रकृतीति**—स चतुर्धा प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धः अनुभागबन्धः प्रदेशबन्धश्चेति ॥१०८॥ **अष्टाविति**—अष्टौ कर्मप्रकृतयः ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेद्यमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाणि ॥१०९॥ **तद्भेदा इति**—ज्ञाना-वरणीयं पञ्चभेदं, दर्शनावरणीयं नवभेदं, वेद्यं द्विभेदं, मोहनीयमष्टाविंशतिभेदम् आयुश्चतुर्भेदं, नामकर्म द्विचत्वारिंशद्भेदं, गोत्रं द्विभेदम्, अन्तरायं पञ्चविधम् ॥११०॥ **आदित इति**—ज्ञानदर्शनावरणीयवेदनी-यान्तरायाणां प्रत्येकं त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः ॥१११॥ **सप्ततिरिति**—सुगमम् ॥११२॥

कुटिलता अशुभ नामकर्मका तथा अविसंवाद और योगोंकी सरलता शुभ नामकर्मका आस्रव है ॥१०२॥ दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ तीर्थंकर नामकर्मकी कारण हैं और स्वप्रशंसा तथा परनिन्दा आदि नीचगोत्रके निमित्त हैं ॥१०३॥ आत्मनिन्दा और परप्रशंसा उच्चगोत्रके साधक हैं तथा विघ्न करना दानान्तराय आदि अन्तराय कर्मके कारण हैं ॥१०४॥ इस प्रकार आस्रवतत्त्वका कुछ रहस्य कहा अब विधिपूर्वक बन्धतत्त्वका प्रबन्ध कहा जाता है ॥१०५॥ यह जीव सकषाय होनेसे कर्मरूप होनेके योग्य असंख्यात प्रदेशात्मक पुद्गलोंको जो ग्रहण करता है वही बन्ध कहलाता है ॥१०६॥ मिथ्यादर्शन, प्रमाद, योग, अविरति और कषाय ये पाँच जीवके कर्म बन्धके कारण माने गये हैं ॥१०७॥ जैन वाङ्मयके जाननेवाले आचार्योंने प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे बन्धतत्त्व चार प्रकारका कहा है ॥१०८॥ कर्मोंकी निम्नलिखित आठ प्रकृतियाँ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ॥१०९॥ उनके क्रमसे निम्न प्रकार भेद हैं—पाँच, नौ, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पाँच ॥११०॥ आदिके तीन तथा अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति विद्वानोंके तीस कोड़ाकोड़ी सागर बतलायी है ॥१११॥ मोहनीयकी सत्तर कोड़ाकोड़ी

१. विरतिस्तथा घ० म० ।

अवरा[1] वेदनीयस्य मुहूर्ता द्वादश स्थितिः। नाम्नो गोत्रस्य चाष्टौ स्याच्छेषास्त्वन्तर्मुहूर्तकम् ॥११३॥
भावक्षेत्रादिसापेक्षो विपाकः कोऽपि कर्मणाम्। अनुभागो जिनैरुक्तः केवलज्ञानभानुभिः ॥११४॥
ये सर्वात्मप्रदेशेषु सर्वतो बन्धभेदतः। प्रदेशाः कर्मणोऽनन्ताः स प्रदेशः स्मृतो बुधैः ॥११५॥
इत्येष बन्धतत्त्वस्य चतुर्धा वर्णितः क्रमः। पदैः [2]संह्रियते कैश्चित्संवरस्यापि डम्बरः ॥११६॥
आस्रवाणामशेषाणां निरोधः संवरः स्मृतः। कर्म संव्रियते येनेत्यन्वयस्यावलोकनात् ॥११७॥
आस्रवद्वाररोधेन शुभाशुभविशेषतः। कर्म संव्रियते येन संवरः स निगद्यते ॥११८॥
[इति पाठान्तरम्]

धर्मात्समितिगुप्तिभ्यामनुप्रेक्षानुचिन्तनात्। असावुदेति चारित्रा[3]त्परिषहजयादपि ॥११९॥
किमन्यैर्विस्तरैरेतद्रहस्यं जिनशासने। आस्रवः संसृतेर्मूलं मोक्षमूलं तु संवरः ॥१२०॥
संवरो विवृतः सैष संप्रति प्रतिपाद्यते। जर्जरीकृतकर्मायःपञ्जरा निर्जरा मया ॥१२१॥
दुर्जरं निर्जरत्यात्मा यया कर्म शुभाशुभम्। निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया सकामाकामभेदतः ॥१२२॥

अवरेति—वेदनीयस्य जघन्या स्थितिर्द्वादश मुहूर्ताः, नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ता जघन्या स्थितिः शेषाणां ज्ञानदर्शनावरणीयमोहनीयायुरन्तरायकर्मणामान्तर्मुहूर्तिकी स्थितिः ॥११३॥ भावेति—द्रव्यक्षेत्रकालभावसामग्रीविशेषेण यः कर्मविपाकः सोऽनुभागोऽनुभवः कथ्यते ॥११४॥ य इति—ये,आत्मनः सर्वप्रदेशेषु कर्मणो बन्धरूपेण अनन्ताः परमाणवः परिणताः स प्रदेशबन्धः कथितः ॥११५॥ इतीति—इति बन्धतत्त्वं चतुर्भेदं कथितं कैश्चित्पदैः संवरोऽपि कथ्यते ॥११६॥ आस्रवाणामिति—सर्वास्रवप्रतिषेधसंबन्धः संवरः। तथा च व्युत्पत्तिः—कर्म संव्रियते संकोच्यते येन स संवरः ॥११७॥ आस्रवेति—यदि वा शुभाशुभद्वारनिरोधः संवर इति द्वितीया व्युत्पतिः ॥११८॥ धर्मादिति—धर्माचरणात्समितिभावनात् गुप्तिप्रतिपालनात् द्वादशानुप्रेक्षाचिन्तनात्परिषहजयाच्चासौ संवरः प्रभवति ॥११९॥ किमिति—अन्यैर्बहुजल्पितैः किम्। जिनमतरहस्यमेतदेव संसारस्य मूलकारणमास्रवः। मोक्षकारणं तु संवरः ॥१२०॥ संवर इति—संवर इति कथितः सांप्रतं निर्जरा कथ्यते। किंविशिष्टा। जर्जरीकृतं कर्माख्यलोहपञ्जरं यया सा ॥१२१॥ दुर्जरमिति—दुर्जरमनन्यजार्यं शुभाशुभकर्म

और नाम तथा गोत्रकी बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति है। आयु कर्मकी स्थिति केवल तेतीस सागर है ॥११२॥ वेदनीयकी जघन्यस्थिति बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त तथा अवशिष्ट समस्त कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त है ॥११३॥ भाव तथा क्षेत्र आदिकी अपेक्षासे कर्मोंका जो विपाक होता है उसे केवलज्ञानरूपी सूर्यसे सम्पन्न जिनेन्द्र भगवान्‌ने अनुभागबन्ध कहा है ॥११४॥ आत्माके समस्त प्रदेशोंमें सब ओरसे कर्मके अनन्तानन्त प्रदेशोंका जो सम्बन्ध होता है उसे विद्वानोंने प्रदेशबन्ध कहा है ॥११५॥ इस प्रकार चार तरहके बन्धतत्त्व का क्रम कहा। अब कुछ पदोंके द्वारा संवरतत्त्वके विस्तारका भी संक्षेप किया जाता है ॥११६॥ जिससे कर्म रुक जावें ऐसी निरुक्ति होनेसे समस्त आस्रवोंका रुक जाना संवर कहलाता है ॥११७॥ जिसके द्वारा आस्रवका द्वार रुक जानेसे शुभ-अशुभ कर्मोंका आना बन्द हो जाता है वह संवर कहलाता है ॥११८॥ वह संवर धर्मसे, समितिसे, गुप्तिसे, अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनसे, चारित्रसे और परिषह जयसे उदित होता है ॥११९॥ अन्य विस्तारसे क्या लाभ? जिनशासनका रहस्य इतना ही है कि आस्रव संसारका मूल कारण है और संवर मोक्षका ॥१२०॥ इस प्रकार संवरका वर्णन किया। अब कर्मरूप लोहेके पंजरको जर्जर करनेवाली निर्जरा कही जाती है ॥१२१॥ आत्मा जिसके द्वारा शुभाशुभ भेदवाले दुर्जर कर्मोंको जीर्ण

१. अपरा छ०। २. संव्रियते क०। ३. –दरिषट्कजयादपि घ० म०।

सा सकामा स्मृता जैनैर्या व्रतोपक्रमैः कृता । अकामा स्वविपाकेन यथा श्वभ्रादिवासिनाम् ॥१२३॥
सागारमनगारं च जैनैरुक्तं व्रतं द्विधा । अणुमहाव्रतभेदेन (?) तयोः सागारमुच्यते ॥१२४॥
अणुव्रतानि पञ्च स्युस्त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि सागाराणां जिनागमे ॥१२५॥
सम्यक्त्वं भूमिरेषां यन्न सिध्यन्ति तदुज्झिताः । दूरोत्सारितसंसारात्यातपाव्रतपादपाः ॥१२६॥
धर्माप्तगुरुतत्त्वानां श्रद्धानं यत्सुनिर्मलम् । शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं सम्यक्त्वं तन्निगद्यते ॥१२७॥
तत्र धर्मः स एवाप्तैर्यः प्रोक्तो दशलक्षणः । प्राप्तास्त एव ये दोषैरष्टादशभिरुज्झिताः ॥१२८॥
गुरुः स एव यो ग्रन्थैर्मुक्तो बाह्यैरिवान्तरैः । तत्त्वं तदेव जीवादि यदुक्तं सर्वदर्शिभिः ॥१२९॥
शङ्काकाङ्क्षा विचिकित्सा मूढदृष्टिप्रशंसनम् । संस्तवश्चेत्यतीचाराः सम्यग्दृष्टेरुदाहृताः ॥१३०॥

निर्जरति यया सा निर्जरा द्विविधा सकामा अकामा च ॥१२२॥ सेति—या तपश्चरणेन कृता सा सकामा स्वयमाविर्भवन्ती नारकाणामिवाकामा ॥१२३॥ सागारमिति—निर्जरानन्तरं सांप्रतं मोक्षोपायः कथ्यते । सागारं श्रावकाश्रितमनागारं यत्याश्रितम् । तदपि एकदेशपरिपालनेनाणुव्रतं सामस्त्यप्रतिपालनेन महाव्रतम् ॥१२४॥ अण्विति—तत्राणुव्रतानि हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरतिलक्षणानि, त्रीणि गुणव्रतानि—दिग्देशानर्थदण्डविरतिलक्षणानि, चत्वारि शिक्षाव्रतानि—सामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगनिवृत्तिलक्षणानि पश्चिमसल्लेखनासहितानि । एतानि श्रावकव्रतानि ॥१२५॥ सम्यक्त्वमिति—एषां पूर्वोक्तव्रतानां सम्यक्त्वं मूलं यस्मात्तद्व्यतिरेकेण यथावाञ्छितार्थं न संभवति दूरनिराकृतसंसारदुःखातपाव्रतवृक्षाः ॥१२६॥ धर्मेति—वीतरागस्य तत्प्रणीतागमस्य तन्मुद्राधारिणां च यतीनां यो याथातथ्येन निश्चयः शङ्काद्यदोषवर्जितस्तत्सम्यक्त्वम् ॥१२७॥ तत्रेति—तत्र आप्तैर्वीतरागैर्यः प्रोक्तः स धर्मः । स चोत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यलक्षणो दशप्रकारः । प्रकृष्टा आप्ताः प्राप्तास्त एव येऽष्टादशदोषैः 'क्षुधातृषाभयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् । जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदोऽरतिः ॥१॥ विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः ।' इत्येतल्लक्षणैर्निर्मुक्ताः ॥१२८॥ गुरुरिति—गुरुः स एव यो बाह्यैः केशादिभिः परिग्रहैराभ्यन्तरैः क्रोधमानमायालोभादिलक्षणैश्च परिग्रहैर्विमुक्तः । तत्त्वं जिनोक्तमेव ॥१२९॥ शङ्केति—शङ्का उभयकोटिविलम्बिनी इदं तत्त्वं भवति न भवतीति वा संदिग्धरूपा । आकाङ्क्षा संसारसौख्याभिलाषबुद्धिः । विचिकित्सा रोगाद्युपद्रुततपोधनादिशरीरं प्रति बीभत्सुभावसंभावनम् । मूढदृष्टिप्रशंसनं पाषण्डिप्रशंसा । संस्तवः पाषण्डि-

करता है वह निर्जरा है। इसके सकामनिर्जरा और अकामनिर्जराकी अपेक्षा दो भेद हैं ॥१२२॥ जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा प्रतिपादित व्रताचरणसे जो निर्जरा होती है वह सकाम निर्जरा है और नारकी आदि जीवोंके अपना फल देते हुए जो कर्म खिरते हैं वह अकाम निर्जरा है ॥१२३॥ जैनाचार्योंने सागार और अनागारके भेदसे व्रत दो प्रकारका कहा है। सागारव्रत अणुव्रतसे होता है और अनगारव्रत महाव्रतसे। उनमेंसे यहाँ सागार व्रतका वर्णन किया जाता है ॥१२४॥ जिनागममें गृहस्थोंके पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं ॥१२५॥ सम्यग्दर्शन इन व्रतोंकी भूमि है क्योंकि उसके बिना संसारके दुःखरूप आतपको दूरसे ही नष्ट करनेवाले व्रतरूप वृक्ष सिद्ध नहीं होते—फल नहीं देते ॥१२६॥ धर्म, आप्त-गुरु तथा तत्त्वोंका शंकादि दोष रहित जो निर्मल श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥१२७॥ उनमें धर्म वही है जो आप्त भगवान्के द्वारा क्षमादि दश प्रकारका कहा गया है और आप्त वही है जो अठारह दोषोंसे रहित हो ॥१२८॥ गुरु वही है जो बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे रहित हो और तत्त्व वही जीवादि हैं जो सर्वदर्शी-सर्वज्ञ जिनेन्द्र देवके द्वारा कहे गये हैं ॥१२९॥ शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टिप्रशंसन और संस्तव—ये सम्यग्दर्शनके

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरावपि । अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिश्च तन्मिथ्यात्वं विलक्षणम् ॥१३१॥
मधुमांसासवत्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् । अमी मूलगुणाः सम्यग्दृष्टेरष्टौ प्रकीर्तिताः ॥१३२॥
द्यूतं मांसं सुरा वेश्या पापर्द्धिः स्तेयवृत्तिता । परदाराभियोगश्च त्याज्यो धर्मधुरन्धरैः ॥१३३॥
मोहादमूनि यः सप्त व्यसनान्यत्र सेवते । अपारे दुःखकान्तारे संसारे बम्भ्रमीति सः ॥१३४॥
मुहूर्तद्वितयादूर्ध्वं भूयस्तोयमगालितम् । शीलयेन्नवनीतं च न देशविरतः[1] क्वचित्[2] ॥१३५॥
दिनद्वयोषितं तक्रं दधि वा पुष्पितौदनम् । आमगोरससंपृक्तं द्विदलं चाद्यान्न शुद्धधीः ॥१३६॥
विद्धं विचलितस्वादं धान्यमन्यद्विरूढकम् । तैलमम्भोऽथवाज्यं वा चर्मपात्रापवित्रितम् ॥१३७॥
आर्द्रकन्दं कलिङ्गं [कछिन्दं] वा मूलकं कुसुमानि च । अनन्तकायमज्ञातफलं संधानकान्यपि १३८
एवमादि यदादिष्टं श्रावकाध्ययने सुधीः । तज्जैनीं पालयन्नाज्ञां क्षुत्क्षामोऽपि न भक्षयेत् ॥१३९॥

संसर्गकरणम् । एते सम्यक्त्वधारिणो दोषाः ॥१३०॥ अदेव इति—रागाद्युपहते देवे देवबुद्धिः सपरिग्रहेऽपि गुरौ गुरुबुद्धिः, हिंसादिवादके ग्रन्थे तत्त्वबुद्धिरिति मिथ्यात्वलक्षणम् ॥१३१॥ मध्विति—मक्षिकोद्वान्ते मांसे मदिरायां च, वटपिप्पलादिपञ्चफलेषु च विरतिरित्यष्टौ मूलगुणाः प्रथमं श्रावकाणाम् ॥१३२॥ द्यूतमिति—द्यूतं सारादिक्रीडनं मांसं मदिरा पण्यस्त्री चौर्यमाखेटनं परकलत्राभियोगश्च एतानि सप्त व्यसनानि सुदृष्टिना त्याज्यानि ॥१३३॥ मोहादिति—मोहादेतानि व्यसनानि ये सेवन्ते ते पौनःपुन्येन संसारे भ्रमन्ति ॥१३४॥ मुहूर्तेति—घटिकाचतुष्टयानन्तरमगालितपानीयं घटिकाचतुष्टयेन पुनर्गालनीयं पानीयं पिबेत् । नवनीतं म्रक्षणं च यो न भक्षयेत् स श्रावकः ॥१३५॥ दिनेति—दिनद्वयं मथितदध्यादिकं पुष्पिकापिहितमोदनं च मुद्गादि-द्विदलमध्ये तक्रादिगोरसं च सद्दृष्टिश्रावकस्त्यजति ॥१३६॥ विद्धमिति—विद्धं सुलितं विचलितस्वादं संमूर्च्छितं अङ्कुरितं च विरूढादिधान्यं त्याज्यम् । तैलं जलं घृतं वा चर्मपात्रकुतुपादिस्थितं नो ग्राह्यम् ॥१३७॥ आर्द्रकन्दमिति—सूरणशृङ्गवेरादिकं किसलयं कालिङ्गं फलविशेषं मूलकं कुसुमं च सर्वमेतदनन्तकायं त्याज्यम् । अज्ञातफलं संधानकं च त्याज्यमेव ॥१३८॥ एवमिति—एवं जिनागमे यदुक्तं तज्जिनाज्ञां पालयन् बुभुक्षितोऽपि

अतिचार कहे गये हैं ॥१३०॥ जो अदेवमें देवबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि और अतत्त्वमें तत्त्वबुद्धि है वही मिथ्यात्व है । यह मिथ्यात्व बड़ा विलक्षण पदार्थ है। [[3]अथवा मिथ्यात्व उक्त तीन लक्षणोंसे युक्त है] ॥१३१॥ मधु त्याग, मांस त्याग, मद्य त्याग और पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग करना ये सम्यग्दृष्टिके आठ मूलगुण कहे गये हैं ॥१३२॥ धर्मात्मा पुरुषोंको जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्रीसंगका भी त्याग करना चाहिए ॥१३३॥ जो प्राणी मोहवश इन सात व्यसनोंका सेवन करता है वह इस संसाररूपी दुःखदायी अपार वनमें निरन्तर भ्रमण करता रहता है ॥१३४॥ देशविरत श्रावक दो मुहूर्त बाद फिरसे न छाने हुए पानी तथा मक्खनका कभी सेवन न करे ॥१३५॥ निर्मल बुद्धिवाला पुरुष दो दिनका तक्र, दही, जिसपर फूल (भकूंड़ा) आ गया हो ऐसा ओदन तथा कच्चे गोरससे मिला हुआ द्विदल न खावे ॥१३६॥ घुना, चलितस्वाद तथा जिसमें नया अंकुर निकल आया हो ऐसा अनाज, चमड़ेके बर्तनमें रखनेसे अपवित्रित तैल, पानी, घी आदि नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥१३७॥ अदरक, कलींदा (तरबूज), मूली, फूल, अनन्तकाय, अनजान फल और अचार-मुरब्बा आदि नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥१३८॥ ऊपर कही हुई वस्तुओंको आदि लेकर उपासकाध्ययनमें जो-जो वस्तुएँ त्याज्य कही गयी हैं बुद्धिमान् श्रावक क्षुधासे क्षीण शरीर होनेपर भी उन्हें

१. देशविरतिः घ० म० । २. पुमान् छ० । ३. 'विलक्षण'मित्यस्य स्थाने 'त्रिलक्षणम्' इति पाठः सम्यक् प्रतिभाति ।

पापभीर्निशाभुक्तिं दिवा मैथुनमप्यसौ । मनोवाक्कायसंशुद्धया सम्यग्दृष्टिर्विवर्जयेत् ॥१४०॥
वर्तमानोऽनया स्थित्या सुसमाहितमानसः । भवत्यधिकृतो नूनं श्रावकव्रतपालने ॥१४१॥
हिंसानृतवचःस्तेयस्त्रीमैथुनपरिग्रहात् । देशतो विरतिर्ज्ञेया पञ्चधाणुव्रतस्थितिः ॥१४२॥
दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो यत्त्रिधा विनिवर्तनम् । पोतायते भवाम्भोधौ त्रिविधं तद्गुणव्रतम् ॥१४३॥
शोधनीयन्त्रशस्त्राग्निमुसलोदूखलार्पणम् । ताम्रचूडश्वमार्जारशारिकाशुकपोषणम् ॥१४४॥
अङ्गारशकटारामभाटकास्फोटजीवनम् । तिलतोयेक्षुयन्त्राणां रोपणं दावदीपनम् ॥१४५॥
दन्तकेशनखास्थित्वग्रोम्णां निन्द्यरसस्य च । शणलाङ्गललाक्षायःक्ष्वेडादीनां च विक्रयः ।१४६।
वापीकूपतडागादिशोषणं कर्षणं भुवः । निर्लाञ्छनं भक्षरोधः पशूनामतिभारणम् ॥१४७॥
वनकेलिर्जलक्रीडा चित्रलेप्यादिकर्म वा । एवमन्येऽपि बह्वोऽनर्थदण्डाः प्रकीर्तिताः ॥१४८॥
[कुलकम्]

सामायिकमथाद्यं[1] स्याच्छिक्षाव्रतमगारिणाम् । आर्तरौद्रे परित्यज्य त्रिकालं जिनवन्दनात् ॥१४९॥
निवृत्तिर्भुक्तिभोगानां या स्यात्पर्वचतुष्टये । प्रोषधाख्यं द्वितीयं तच्छिक्षाव्रतमितीरितम् ॥१५०॥

सद्दृष्टिश्रावको न भक्षयति ॥१३९॥ पापेति—रात्रिभोजनं दिवससुरतं च मनोवाक्कायसंशुद्धया श्रावकः परित्यजेत् ॥१४०॥ वर्तमान इति—अनया स्थित्या प्रवर्तमानः सुस्थितचित्तः सम्यग्दृष्टिः श्रावकः स्यात् ॥१४१॥ हिंसेति—हिंसा प्राणोपघातः मिथ्यावचनं, चौर्यं मैथुनं स्त्रीणां सेवा, परिग्रहो वसुसत्त्वस्वीकारः····एतेषामेकदेशेन विरतिः पञ्चाणुव्रतानि ॥१४२॥ दिगिति—यस्मिन् देशे दिग्भागे च धर्मलोपस्तस्मिन्गतिप्रतिषेधस्तद्गुणव्रत-द्वयम्, अनर्थदण्डपरिहारश्च तृतीयं गुणव्रतं संसारमुत्तारयति ॥१४३॥ शोधनीति—संमार्जनीयन्त्रिणीघानकादि-शस्त्राग्नि–उदूखलादिकस्य परस्परं समर्पणं कुक्कुरमार्जारक्रूरजीवादीनां च पोषणम् । [अन्यत् स्पष्टम् । एतदनर्थदण्डानां प्रकारनिरूपणम् ।] ॥१४४–१४८॥ अनगारमिति – महाव्रतिनां तपश्चरणं द्विप्रकारं

नहीं खावे ॥१३९॥ पापसे डरनेवाला सम्यग्दृष्टि पुरुष मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक रात्रि-भोजन तथा दिवामैथुनका भी त्याग करे ॥१४०॥ उल्लिखित पद्धतिसे प्रवृत्ति करने एवं मनको सुस्थिर रखनेवाला पुरुष ही निश्चयसे श्रावकके व्रत पालन करनेका अधिकारी है ॥१४१॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंसे एक देशविरत होना पाँच अणुव्रत जानना चाहिए ॥१४२॥ दिग्, देश और अनर्थदण्डोंसे मन, वचन, कायपूर्वक निवृत्त होना तीन गुणव्रत हैं। यह गुणव्रत संसाररूपी समुद्रमें जहाजका काम देते हैं ॥१४३॥ झाड़ू, कोल्हू, शस्त्र, अग्नि, मूसल तथा ऊखली आदिका देना, मुर्गी, कुत्ता, बिलाव, मैना, तोता आदिका पालना, कोयला, गाड़ी, बाग-बगीचा, भाड़ा तथा फटाका आदिसे आजीविका करना, तिल, पानी तथा ईखके यन्त्र लगाना, वनमें अग्नि लगाना, दाँत, केश, नख, हड्डी, चमड़ा, रोम, निन्दनीय रस, सन, हल, लाख, लोहा तथा विष आदिका बेचना, बावड़ी, कुआँ, तालाब आदिका सुखाना, भूमिका जोतना, बैल आदि पशुओंको बधिया करना, उन्हें समयपर आहार-पानी नहीं देना, अधिक भार लादना, वनक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, चित्रकर्म तथा लेप्यकर्म आदि बहुतसे अनर्थदण्ड कहे हैं। व्रती मनुष्यको इन सबका त्याग करना चाहिए ॥१४४–१४८॥ गृहस्थोंका प्रथम शिक्षाव्रत सामायिक है जो कि आर्त्त-रौद्र ध्यान छोड़कर त्रिकाल जिनवन्दना करनेसे होता है ॥१४९॥ चारों पर्वोंके दिन भोजन तथा अन्य भोगोंका त्याग करना दूसरा प्रोषध नामक शिक्षाव्रत है—ऐसा कहा गया है ॥१५०॥ सन्तोषी मनुष्यों-

१. १४९–१५४ श्लोकानां संस्कृतटीका नास्ति, सुगमत्वात्संपादकेनापि न मेलिता ।

भोगोपभोगसंख्यानं क्रियते यदलोलुपैः । तृतीयं तत्तदाख्यं स्यादुःखदावानलोदकम् ॥१५१॥
गृहागताय यत्काले शुद्धं दानं यतात्मने । अन्ते सल्लेखना वान्यत्तच्चतुर्थं प्रकीर्त्यते ॥१५२॥
व्रतानि द्वादशैतानि सम्यग्दृष्टिबिभर्त्ति यः । जानुदघ्नीकृतागाधभवाम्भोधिः स जायते ॥१५३॥
यथागममिति प्रोक्तं व्रतं देशयतात्मनाम् । अनगारमतः किंचिद्ब्रूमस्त्रैलोक्यमण्डनम् ॥१५४॥
अनगारं व्रतं द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः । षोढा बाह्यं जिनैः प्रोक्तं तावत्संख्यानमान्तरम् ॥१५५॥
वृत्तिसंख्यावमौदर्यमुपवासो रसोज्झनम् । रहःस्थितितनुक्लेशौ षोढा बाह्यमिति व्रतम् ॥१५६॥
स्वाध्यायो विनयो ध्यानं व्युत्सर्गो व्यावृतिस्तथा । प्रायश्चित्तमिति प्रोक्तं तपः षड्विधमान्तरम् ॥
यास्तिस्रो गुप्तयः पञ्च ख्याताः समितयोऽपि ताः । जननात्पालनात्पोषादष्टौ तन्मातरः स्मृताः ।१५८।
निरूपितमिदं रूपं निर्जरायाः समासतः । इयमक्षीणसौख्यस्य लक्ष्मीर्मोक्षस्य वर्ण्यते ॥१५९॥
अभावाद् बन्धहेतूनां निर्जरायाश्च यो भवेत् । निःशेषकर्मनिर्मोक्षः स मोक्षः कथ्यते जिनैः ॥१६०॥
ज्ञानदर्शनचारित्रैरुपायैः परिणामिनः । भव्यस्यायमनेकाङ्गविकलैरेव जायते ॥१६१॥
तत्त्वस्यावगतिर्ज्ञानं श्रद्धानं तस्य दर्शनम् । पापारम्भनिवृत्तिस्तु चारित्रं वर्ण्यते जिनैः ॥१६२॥

बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्र षड्विधं बाह्यं षड्विधमाभ्यन्तरं च तपः ॥१४९-१५५॥ **स्वाध्याय इति**—आभ्यन्तरं कथ्यते—निरवद्यशास्त्राध्ययनं यथोचितविनयः बाह्यचिन्तानिराकरणेन परमात्मस्वरूपसंभावनं ध्यानं, कायोत्सर्गः, यथोचितं वैयावृत्यकरणं, आगतदोषविशुद्धिविधानं प्रायश्चित्तम्....इति षड्विधमाभ्यन्तरम् ॥१५६–१५७॥ **या इति**—यास्तिस्रो मनोवचनकायनियन्त्रणलक्षणा गुप्तयः, याश्च ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपलक्षणाः समितयस्ताः समुदिता अष्टौ प्रवचनमातरः । कुतः । प्रवचनजननपालनपोषणप्रधानाः ॥१५८॥ **निरूपितमिति**—कथितं निर्जरास्वरूपं सांप्रतमनन्तसौख्यलक्षणमोक्षस्य स्वरूपं कथ्यते ॥१५९॥ **अभावादिति**—निर्जराभवनाद्बन्धाभावाच्च निःशेषकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥१६०॥ **ज्ञानेति**—ज्ञानदर्शनचारित्रोपायेन भव्यस्य लब्धक्षेत्रद्रव्यकालभावसामग्रीकस्य परिणामिनो रत्नत्रयभावेन परिणमतः ॥१६१॥ **तत्त्वस्येति**—तत्त्वावबोधो ज्ञानं तत्त्वजिज्ञासा-

के द्वारा जो भोगोपभोगका नियम किया जाता है वह भोगोपभोग परिमाण व्रत है । यह व्रत दुःखरूपी दावानलको बुझानेके लिए पानीके समान है ॥१५१॥ घर आये साधुके लिए जो समयपर दान दिया जाता है, अथवा जीवनके अन्तमें जो सल्लेखना धारण की जाती है वह चौथा अतिथिसंविभाग अथवा सल्लेखना नामक शिक्षाव्रत कहा जाता है ॥१५२॥ जो सम्यग्दृष्टि इन बारह व्रतोंको धारण करता है वह गहरे संसाररूप समुद्रको घुटनोंके बराबर उथला कर लेता है ॥१५३॥ इस प्रकार आगमके अनुसार श्रावकोंके व्रत कहे । अब यहाँसे त्रिलोकके आभरणभूत अनगार धर्मका कुछ वर्णन करते हैं ॥१५४॥ बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे अनगारधर्म—मुनिव्रत दो प्रकारका है । जिनेन्द्र भगवान्‌के बाह्यतपके छह भेद कहे हैं और आभ्यन्तर तपके भी उतने ही ॥१५५॥ वृत्तिपरिसंख्यान, अवमौदर्य, उपवास, रस-परित्याग, एकान्त स्थिति और कायक्लेश ये छह बाह्य व्रत— तप हैं ॥१५६॥ स्वाध्याय, विनय, ध्यान, व्युत्सर्ग, वैयावृत्य और प्रायश्चित्त ये छह अन्तरंगव्रत—तप हैं ॥१५७॥ जो तीन गुप्तियाँ और पाँच समितियाँ कही गयी हैं वे भी मुनिव्रतकी जनक, पालक और पोषक होनेसे अष्टमातृकाएँ कहलाती हैं ॥१५८॥ यह संक्षेपसे निर्जराका स्वरूप कहा, अब अविनाशी सुख-सम्पन्न मोक्षलक्ष्मीका वर्णन किया जाता है ॥१५९॥ बन्धके कारणोंका अभाव तथा निर्जरासे जो समस्त कर्मोंका क्षय होता है वह मोक्ष कहलाता है ॥१६०॥ वह मोक्ष उत्तम परिणामवाले जीवके एकरूपताको प्राप्त हुए ज्ञान, दर्शन और चारित्रके द्वारा ही होता है ॥१६१॥ तत्त्वोंका

ज्वालाकलापवद्वह्नेरूर्ध्वमेरण्डबीजवत् । ततः स्वभावतो याति जीवः प्रक्षीणबन्धनः ॥१६३॥
लोकाग्रं प्राप्य तत्रैव स्थितिं बध्नाति शाश्वतीम् । ऊर्ध्वं धर्मास्तिकायस्य विप्रयोगान्न यात्यसौ ॥१६४॥
तत्रानन्तमसंप्राप्तमव्याबाधमसंनिभम् । प्राग्देहात्किंचिदूनोऽसौ सुखं प्राप्नोति शाश्वतम् ॥१६५॥
इति तत्त्वप्रकाशेन निःशेषामपि तां सभाम् । प्रभुः प्रह्लादयामास विवस्वानिव पद्मिनीम् ॥१६६॥
अथ पुण्यैः समाकृष्टो भव्यानां निःस्पृहः प्रभुः । देशे देशे तमश्छेत्तुं व्यहरद्भानुमानिव ॥१६७॥
दत्तविश्वावकाशोऽयमाकाशोऽतिगुरुः क्षितेः । गन्तुमित्यादृतस्तेन स्थानमुच्चैर्ययियासुना ॥१६८॥
अनपायामिव प्राप्तुं पादच्छायां नभस्तले । उपकण्ठे लुलोठास्य पादयोः कमलोत्करः ॥१६९॥
यत्तदा विदधे तस्य पादयोः पर्युपासनम् । अद्यापि भाजनं लक्ष्म्यास्तेनायं कमलाकरः ॥१७०॥
तिलकं तीर्थकृल्लक्ष्म्यास्तस्य प्राह पुरो भ्रमत् । धर्मचक्रं जगच्चक्रे चक्रवर्तित्वमक्षतम् ॥१७१॥

सामान्यज्ञानं वा दर्शनम्, आरम्भनिवृत्तिर्ज्ञानदर्शनस्थितिर्वा चारित्रम् ॥१६२॥ ज्वालेति—वह्निज्वालाकलापवत् स्फुटितैरण्डबीजवत्, जलब्रुडितमृत्तिकावलेपव्यपगमलघूकृततुम्बकवत् त्रुटितकर्मबन्धन आत्मा ऊर्ध्वं लोकाग्रं प्रयाति ॥१६३॥ लोकाग्रमिति—तत्र लोकाग्रस्थो धर्मास्तिकायाभावात्क्वचिदपि न चलति शाश्वतमेव तिष्ठति ॥१६४॥ तत्रेति—अनन्तप्रमाणं तथा अलब्धपूर्वमनौपम्यं चरमशरीरतः किंचिदूनो जीवः शाश्वतसौख्यं प्राप्नोति ॥१६५॥ इतीति—अनेन प्रकारेण देवः सभां प्रमोदयामास सूर्य इव पद्मिनीम् ॥१६६॥ अथेति—अथ भव्यपुण्यप्रेरितो भगवान् प्रतिदेशं विजहार ख्यातिलाभपूजाभिलाषविवर्जितः । ध्वान्तमुन्मूलयितुमादित्य इव पक्षे तमो मोहः ॥१६७॥ दत्तेति—अनेनाकाशेन त्रिभुवनस्याप्यवकाशो दत्तः, अत इदं पृथिव्यां सकाशाद् गुरुतरमिति विचारयतेव प्रभुणा गगनस्थानमङ्गीकृतम् ॥१६८॥ अनपायामिति—चञ्चललक्ष्म्या निर्विण्णः शाश्वतीं लक्ष्मीं यियासुरिव प्रभोः पादप्रान्ते कमलप्रचयो लुठति स्म । पद्मयानेन [प्रभुः] संचचारेति भावः ॥१६९॥ यदिति—यत्तदानीं प्रभोः पादतले लुठितः कमलाकरस्तत्प्रभावेणेव अद्यापि लक्ष्मीस्थानमिति प्रसिद्धः ॥१७०॥ तिलकमिति—भुवनचक्रे त्रैलोक्ये तस्य प्रभोश्चक्रवर्तित्वमपरिभूतं धर्मचक्रं प्राह प्रभोः पुरतो बम्भ्रम्य-

अवगम होना ज्ञान है, श्रद्धान होना दर्शन है और पापारम्भसे निवृत्ति होना चारित्र है—ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥१६२॥ बन्धन रहित जीव अग्निकी ज्वालाओंके समूहके समान अथवा एरण्डके बीजके समान अथवा स्वभावसे ही ऊर्ध्वगमन करता है ॥१६३॥ वह लोकाग्रको पाकर वहींपर सदाके लिए स्थित हो जाता है। धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे आगे नहीं जाता ॥१६४॥ वहाँ वह पूर्व शरीरसे कुछ ही कम होता है तथा अनन्त, अप्राप्तपूर्व, अव्याबाध, अनुपम और अविनाशी सुखको प्राप्त होता है ॥१६५॥ इस प्रकार तत्त्वोंके प्रकाशसे भगवान् धर्मनाथने उस सभाको उस प्रकार आह्लादित कर दिया जिस प्रकार कि सूर्य कमलिनीको ॥१६६॥ तदनन्तर भव्य जीवोंके पुण्यसे खिंचे निःस्पृह भगवान्ने अज्ञान अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यकी तरह प्रत्येक देशमें विहार किया ॥१६७॥ समस्त पदार्थोंको अवकाश देनेवाला यह आकाश पृथिवीसे कहीं श्रेष्ठ है—यह विचार कर ही मानो गमन करनेके इच्छुक भगवान्ने गमन करनेके लिए ऊँचा आकाश ही अच्छा समझा था ॥१६८॥ आकाशमें उनके चरणोंके समीप—कमलोंका समूह लोट रहा था जो ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्के चरणोंकी अविनाशी शोभा पानेके लिए ही लोट रहा हो ॥१६९॥ चूँकि कमलोंके समूहने उस समय उनके चरणोंकी उपासना की थी इसलिए वह अब भी लक्ष्मीका पात्र बना हुआ है ॥१७०॥ उनके आगे-आगे चलता हुआ वह धर्मचक्र जो कि तीर्थंकर लक्ष्मीके तिलकके समान जान पड़ता था, कह रहा था कि संसारमें भगवान्का चक्रवर्तीपना

विश्वप्रकाशकस्यास्य तेजोभिर्व्यर्थतां गतः । सेवार्थं संचचाराग्रे धर्मचक्रच्छलाद्रविः ॥१७२॥
यत्रातिशयसंपन्नो विजहार जिनेश्वरः । तत्र रोगग्रहातङ्कशोकशङ्कापि दुर्लभा ॥१७३॥
निष्कलाभा बभूवुस्ते विपक्षा इव सज्जनाः । प्रजा इव भुवोऽप्यासन्निष्कण्टकपरिग्रहाः ॥१७४॥
के विपक्षा वराकास्ते प्रातिकूल्यविधौ प्रभोः । महाबलोऽपि यद्वायुः प्राप तस्यानुकूलताम् ॥१७५॥
हेमरम्यं वपुः पञ्चचत्वारिंशद्धनुर्मितम् । बिभ्रद्देवैः श्रितो रेजे स्वर्णशैल इवापरः ॥१७६॥
द्वाचत्वारिंशदेतस्य सभायां गणिनोऽभवन् । नवैव तीक्ष्णबुद्धीनां शतानि पूर्वधारिणाम् ॥१७७॥
शिक्षकाणां सहस्राणि चत्वारि सप्तभिः शतैः । सह षड्भिः शतैस्त्रीणि सहस्राण्यधिबोधिनाम् ।१७८।
केवलज्ञानिनां पञ्चचत्वारिंशच्छतानि च । मनःपर्ययनेत्राणां तावन्ति क्षपितांहसाम् ॥१७९॥
सप्तैव च सहस्राणि विक्रियर्द्धिमुपेयुषाम् । शतैरष्टाभिराश्लिष्टे द्वे सहस्रे च वादिनाम् ॥१८०॥
आर्यिकाणां सहस्राणि षट्चतुर्भिः शतैः सह । श्रावकाणां च लक्षे द्वे शुद्धसम्यक्त्वशालिनाम् ।१८१।

माणं तीर्थकरलक्ष्म्यास्तिलकसदृशम् ॥१७१॥ विश्वेति—अस्य त्रिभुवनप्रकाशकस्य तेजोभिर्विजित इव भास्वान् सेवार्थं पुरस्सरः सन् धर्मचक्रव्याजेन संचचारेति भावः ॥१७२॥ यत्रेति– यत्र चतुस्त्रिंशदतिशयोपेतो भगवान् विहृतवान् तत्र व्याधिप्रभृतीनां वार्तापि नष्टा ॥१७३॥ निष्केति—ते विपक्षाः परवादिनो निष्कलाभाः निःश्रीका बभूवुः । सज्जना अपि निष्कस्य सुवर्णस्य लाभो येषां ते तद्विधाः । प्रजाश्चौरवरटाद्युपद्रववर्जिताः पक्षे भुवोऽपि कण्टकद्रुमवर्जिताः ॥१७४॥ क इति—परवादिनः प्रभोः समीपे के । न केऽपीत्यर्थः । यतो महाबलो वायुरपि अनुकूलो वातिस्म ॥१७५॥ हेमरम्यमिति– स्वर्णवर्णपञ्चचत्वारिंशद्दण्डप्रमाणं देवैः श्रितशरीरं बिभ्राणोऽपरमेरुरिव बभौ ॥१७६॥ द्वाचत्वारिंशदिति—तत्र समवसरणे द्वाचत्वारिंशद्गणधरा बभूवुः, नवशतानि तीक्ष्णबुद्धयश्च चतुर्दशपूर्वधारिणस्तपोधनाः ॥१७७॥ शिक्षकाणामिति—प्रभोश्चत्वारि सहस्राणि सप्त शताधिकानि शिक्षकाः । त्रीणि सहस्राणि षट्शताधिकानि अवधिज्ञानिनः ॥१७८॥ केवलेति—चत्वारि सहस्राणि पञ्चशताधिकानि केवलज्ञानिनां मनःपर्ययज्ञानिनां च ॥१७९॥ सप्तैवेति—वैक्रियिकर्द्धियुक्ताः अष्टशताधिके द्वे सहस्रे च वादिनाम् ॥१८०॥ आर्यिकाणामिति—षट्सहस्राणि चतुःशताधिकानि आर्यिकाणां

अखण्डित है ॥१७१॥ चूँकि समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले इन भगवान्के तेजसे सूर्य व्यर्थ हो गया था अतः मानो वह धर्मचक्रके छलसे सेवाके लिए उनके आगे-आगे ही चलने लगा हो ॥१७२॥ अतिशयसम्पन्न जिनेन्द्र देव जहाँ विहार करते थे वहाँ रोग, ग्रह, आतंक, शोक तथा शंका आदि सभी दुर्लभ हो जाते थे ॥१७३॥ उस समय साधु पुरुष परवादियोंके समान निष्कलाभ हुए थे अर्थात् जिस प्रकार परवादी निष्कलाभ—निःश्रीक—शोभारहित हुए थे उसी प्रकार साधु पुरुष भी निष्कलाभ—सुवर्णके लाभसे युक्त हुए थे और पृथिवी भी प्रजाके समान निष्कण्टक परिग्रह हुई थी अर्थात् जिस प्रकार निष्कण्टक परिग्रह—चोर तथा बर्र आदिके उपद्रवसे रहित थी उसी प्रकार पृथिवी भी निष्कण्टक—काँटोंसे रहित हुई थी ॥१७४॥ जब कि महाबलवान् वायु भी उनकी अनुकूलताको प्राप्त हो चुकी थी तब बेचारे अन्य शत्रु क्या थे जो कि उनकी प्रतिकूलतामें खड़े हो सकें ? ॥१७५॥ पैंतालीस धनुष ऊँचे सुवर्ण सुन्दर शरीरको धारण करनेवाले जिनेन्द्र, देवोंसे सेवित हो ऐसे जान पड़ते थे मानो दूसरा सुमेरु पर्वत ही हो ॥१७६॥ इनकी सभामें बयालीस गणधर थे और नौ सौ तीक्ष्ण बुद्धिवाले पूर्वधारी थे ॥१७७॥ चार हजार सात सौ शिक्षक थे और तीन हजार छह सौ अवधिज्ञानी थे ॥१७८॥ चार हजार पाँच सौ केवलज्ञानी थे और पापको नष्ट करनेवाले मनःपर्ययज्ञानी भी उतने ही थे ॥१७९॥ सात हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक थे और दो हजार आठ सौ वादी थे ॥१८०॥ छह हजार चार सौ आर्यिकाएँ थीं, शुद्ध सम्यग्दर्शनसे सुशोभित दो लाख

श्राविकाणां तु चत्वारि लक्षाणि क्षपितनसाम् । निर्जराणां तिरश्चां च संख्याप्यत्र न बुध्यते॥१८२॥

इत्याश्वास्य चतुर्विधेन महता संघेन संभूषितः
सैन्येनेव विपक्षवादिवदनाकृष्टामशेषां महीम् ।
दृप्यन्मोहचमूं विजित्य विजयस्तम्भाय मानं तदा
संमेदाचलमाससाद विजयी श्रीधर्मनाथः प्रभुः ॥१८३॥

तत्रासाद्य सितांशुभोगसुभगां चैत्रे चतुर्थीं तिथिं
यामिन्यां स नवोत्तरैर्यमवतां साकं शतैरष्टभिः ।
सार्धद्वादशवर्षलक्षपरमारम्यायुषः प्रक्षये
ध्यानध्वस्तसमस्तकर्मनिगलो जातस्तदानीं क्षणात् ॥१८४॥

अभजदथ विचित्रैर्वाक्प्रसूनोपचारैः प्रभुरिह हरिचन्द्राराधितो मोक्षलक्ष्मीम् ।
तदनु तदनुयायी प्राप्तपर्यन्तपूजोपचितसुकृतराशिः स्वं पदं नाकिलोकः ॥१८५॥

इति श्रीमहाकविहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये श्रीधर्मनाथनिर्वाणगमनो नामैकविंशः सर्गः समाप्तः ॥२१॥

द्वे लक्षे श्रावकाणां च ॥१८१॥ श्राविकाणामिति—श्राविकाश्चत्वारि लक्षाणि देवानां तिरश्चां च संख्या न बुध्यते ॥१८२॥ इतीति—इत्याश्वास्य चतुर्विधसंघोपेतः समस्तं भरतक्षेत्रार्यखण्डं मोहसेनां जित्वा विजयस्तम्भसदृशं संमेदगिरिं प्राप्तः ॥१८३॥ तत्रेति—तत्र [नवोत्तराष्टशतसंख्याकैः] तपोधनैः सार्द्धं [सार्ध] द्वादशलक्षवर्षायुषः क्षये ध्यानध्वस्तसमस्तकर्मनिचयश्चैत्रमासे शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां रात्रौ निर्वृत्तो बभूव ॥१८४॥ अभजदिति—अथानन्तरं भगवान् मोक्षलक्ष्मीमयं शिश्राय । किंविशिष्टः । हरिचन्द्राराधितः शक्रशशिसेवितः । कैः । वाक्प्रसूनोपचारैः स्तुतिभिरष्टविधपूजाभिश्च । तदनुपश्चात् तदनुयायी तत्सेवातत्परः सन् कृतनिर्वाण-कल्याणमहोत्सवोपार्जितपुण्यराशिर्निजं निजं स्थानं चतुर्णिकायामरसंघातो जगाम ॥१८५॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशस्कीर्तिविरचितायां संदेहध्वान्त-दीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायामेकविंशतितमः सर्गः ॥२१॥

श्रावक थे ॥१८१॥ पापको नष्ट करनेवाली श्राविकाएँ चार लाख थीं और देव तथा तिर्यंचोंकी संख्या ज्ञात नहीं है अर्थात् वे असंख्यात थे ॥१८२॥ इस प्रकार सेनाकी तरह चार प्रकारके संघसे सुशोभित धर्मनाथ स्वामी मिथ्यावादियोंके मुखसे आकृष्ट समस्त पृथिवीको सान्त्वना देकर अहंकारी मोह-राजाकी सेनाको जीत विजयी होते हुए विजयस्तम्भके समान आचरण करनेवाले सम्मेदाचलपर जा पहुँचे ॥१८३॥ वहाँ उन्होंने चैत्र मासकी शुक्ल चतुर्थीको पाकर रात्रिके समय साढ़े बारह लाख प्रमाण उत्तम आयुका क्षय होनेपर आठ सौ नौ मुनियोंके साथ क्षण भरमें ध्यानके द्वारा समस्त कर्मरूपी बेड़ियाँ नष्ट कर दीं ॥१८४॥ तदनन्तर विविध प्रकारके स्तोत्रों तथा पुष्पवृष्टि आदिसे [पक्षमें फूलोंके समान सुकुमार वचनोंसे] हरिचन्द्र—इन्द्र तथा चन्द्रमा [पक्षमें महाकवि हरिचन्द्र] के द्वारा पूजित भगवान् धर्मनाथ मोक्षलक्ष्मी-को प्राप्त हुए और निर्वाण कल्याणककी पूजासे पुण्य राशिका संचय करनेवाले भक्त देव लोग अपने-अपने स्थानोंको प्राप्त हुए ॥१८५॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र-द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें भगवान् धर्मनाथके निर्वाण महोत्सवका वर्णन करनेवाला इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२१॥

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः

श्रीमानमेयमहिमास्ति स नोमकानां[2]
वंशः समस्तजगतीवलयावतंसः ।
हस्तावलम्बनमवाप्य यमुल्लसन्ती
वृद्धापि न स्खलति दुर्गपथेषु लक्ष्मीः ॥१॥

मुक्ताफलस्थितिरलंकृतिषु प्रसिद्ध-
स्तत्रार्द्रदेव इति निर्मलमूर्तिरासीत् ।
कायस्थ एव निरवद्यगुणग्रहः स-
न्नेकोऽपि यः कुलमशेषमलंचकार ॥२॥

लावण्याम्बुनिधिः कलाकुलगृहं सौभाग्यसद्भाग्ययोः
क्रीडावेश्म विलासवासवलभीभूषास्पदं संपदाम् ।
शौचाचारविवेकविस्मयमही प्राणप्रिया शूलिनः
शर्वाणीव पतिव्रता प्रणयिनो रथ्येति[3] तस्याभवत् ॥३॥

अर्हत्पदाम्भोरुहचञ्चरीकस्तयोः सुतः श्रीहरिचन्द्र आसीत् ।
गुरुप्रसादादमला बभूवुः सारस्वते स्रोतसि यस्य वाचः ॥४।

भक्तेन शक्तेन च लक्ष्मणेन निर्व्याकुलो राम इवानुजेन ।
यः पारमासादितबुद्धिसेतुः शास्त्राम्बुराशेः परमाससाद ॥५॥

श्रीमान् तथा अपरिमित महिमाको धारण करनेवाला वह नोमक वंश था जो कि समस्त भूमण्डलका आभरण था जिसका हस्तावलम्बन पा लक्ष्मी वृद्ध होनेपर भी दुर्गम मार्गोंमें कभी स्खलित नहीं होती ॥१॥ उस नोमक वंशमें निर्मल मूर्तिके धारक वह आर्द्र देव हुए जो कि अलंकारोंमें मुक्ताफलकी तरह सुशोभित होते थे। वह कायस्थ थे, निर्दोष गुण-ग्राही थे और एक होकर भी समस्त कुलको अलंकृत करते थे ॥२॥ उनके महादेवके पार्वतीकी तरह रथ्या नामकी प्राणप्रिया थी जो कि सौन्दर्यकी समुद्र थी, कलाओंका कुलभवन थी, सौभाग्य और उत्तमभागका क्रीड़ाभवन थी, विलासके रहनेकी अट्टालिका थी, सम्पदाओंके आभूषणका स्थान थी, पवित्र आचार, विवेक और आश्चर्यकी भूमि थी ॥३॥ उन दोनोंके अरहन्त भगवान्‌के चरण कमलोंका भ्रमर हरिचन्द्र नामक वह पुत्र हुआ जिसके कि वचन गुरुओंके प्रसादसे सरस्वतीके प्रावहमें—शास्त्रोंमें अत्यन्त निर्मल थे ॥४॥ वह हरिचन्द्र श्रीरामचन्द्रकी तरह भक्त एवं सामर्थ लघु भाई लक्ष्मणके साथ निराकुल हो बुद्धिरूपी पुलको

---

१. प्रशस्तिरियं क० ख० ग० ज० पुस्तकेषु नास्ति । संस्कृतटीकाप्यस्या नास्ति । २. मूडविद्रीस्थजैनमठस्थित-२४ क्रमाङ्के पुस्तके 'नेमदानां' इति पाठः । ३. राधेति छ० ।

पदार्थवैचित्र्यरहस्यसंपत्सर्वस्व-निर्वेशमयात्प्रसादात् ।
वाग्देवतायाः समवेदि सभ्यैर्यः पश्चिमोऽपि प्रथमस्तनूजः ॥६॥

स कर्णपीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः ।
श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं महाकविः काव्यमिदं व्यधत्त ॥७॥

ऐष्यत्यसारमपि काव्यमिदं मदीय-
मादेयतां जिनपतेरनघैश्चरित्रैः ।
पिण्डं मृदः स्वयमुदस्य नरा नरेन्द्र-
मुद्राङ्कितं किमु न मूर्धनि धारयन्ति ॥८॥

दक्षैः साधु परीक्षितं नवनवोल्लेखार्पणेनादराद्
यच्चेतःकषपट्टिकासु शतशः प्राप्तप्रकर्षोदयम्[1] ।
नानाभङ्गिविचित्रभावघटनासौभाग्यशोभास्पदं
तन्नः काव्यसुवर्णमस्तु कृतिनां कर्णद्वयीभूषणम् ॥९॥

जीयाज्जैनमिदं मतं शमयतु क्रूरानपीयं कृपा
भारत्या सह शीलयत्वविरतं श्रीः साहचर्यव्रतम् ।
मात्सर्यं गुणिषु त्यजन्तु पिशुनाः संतोषलीलाजुषः
सन्तः सन्तु भवन्तु च श्रमविदः सर्वे कवीनां जनाः ॥१०॥

पाकर शास्त्ररूपी समुद्रके द्वितीय तटको प्राप्त हुआ था ॥५॥ पदार्थोंकी विचित्रतारूप गुप्त सम्पत्तिके समर्पणरूप सरस्वतीके प्रसादसे सभ्योंने उसे सरस्वतीका अन्तिम पुत्र होनेपर भी प्रथम पुत्र माना था ॥६॥ जो रसरूप ध्वनिके मार्गका सार्थवाह था ऐसे उसी महाकविने कानोंमें अमृतरसके प्रवाहके समान यह धर्मशर्माभ्युदय नामका महाकाव्य रचा है ॥७॥ मेरा यह काव्य निःसार होनेपर भी जिनेन्द्र भगवान्के निर्दोष चरित्रसे उपादेयताको प्राप्त होगा। क्या राजमुद्रासे चिह्नित मिट्टीके पिण्डको लोग उठा-उठाकर स्वयं मस्तकपर धारण नहीं करते ॥८॥ समर्थ विद्वानोंने नये-नये उल्लेख अर्पण कर जिसकी बड़े आदरके साथ अच्छी परीक्षा की है, जो विद्वानोंके हृदयरूप कसौटीके ऊपर सैकड़ों बार खरा उतरा है और जो विविध उक्तियोंसे विचित्रभावकी घटनारूप सौभाग्यका शोभाशाली स्थान है वह हमारा काव्यरूपी सुवर्ण विद्वानोंके कर्णयुगलका आभूषण हो ॥९॥ यह जिनेन्द्र भगवान्का मत जयवन्त हो, यह दया क्रूर प्राणियोंको भी शान्त करे, लक्ष्मी निरन्तर सरस्वतीके साथ साहचर्यव्रत धारण करे, खलपुरुष गुणवान् मनुष्योंमें ईर्ष्याको छोड़ें, सज्जन सन्तोषकी लीलाको प्राप्त हों और सभी लोग कवियोंके परिश्रमको जाननेवाले हों ॥१०॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

१. प्रकर्षोत्सवम् च० छ० ।

धर्मशर्माभ्युदयस्यैकोनविंशसर्गस्थचित्राणामुद्धारः

१ गोमूत्रिकाबन्धः। (श्लोकः ७८)

स वा जि सिं धु र ग्रा मा सं भ्र मा द भि धा वि लः

ज वा द सिं स्फु र द्वा मा वि भ्र त्रा द म धा स तः

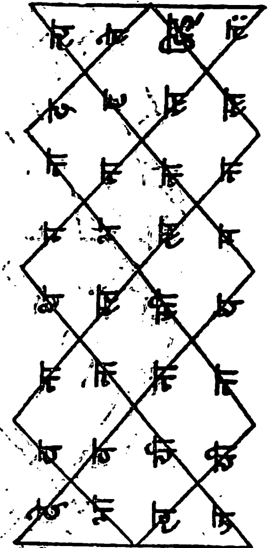
२ अर्धभ्रमः। (श्लोकः ८४)

ज	घा	न	क	र	बा	ली	यं
घा	ते	ना	रे	बे	लं	ब	ली
न	ना	सा	ले	लि	रा	ल	बा
क	रे	ते	ना	व	लि	वं	रः

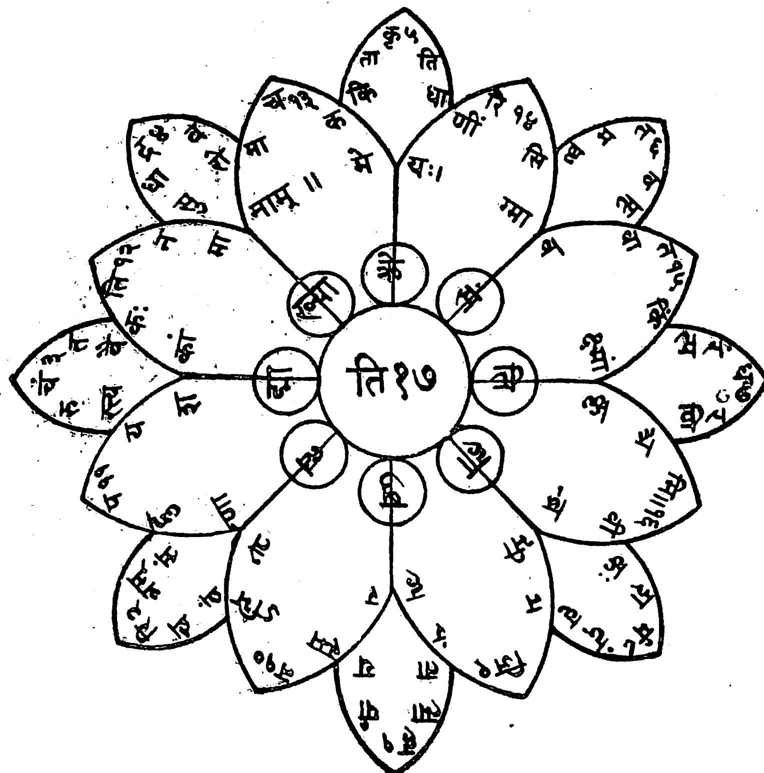
३ सर्वतोभद्रम्। (श्लोकः ८६)

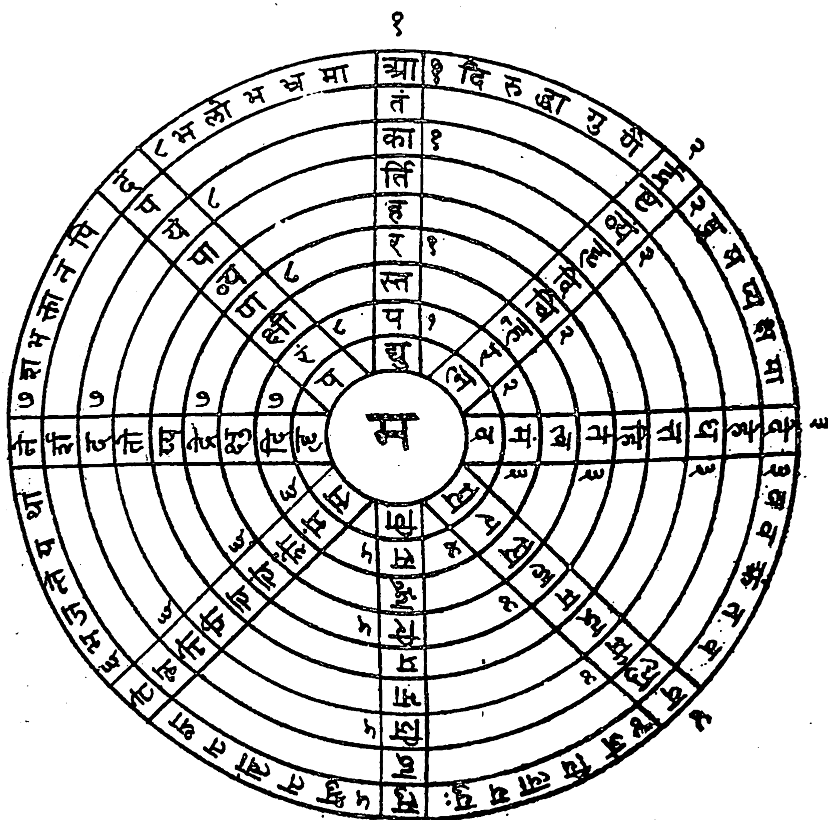
भ	रं	या	म	म	या	रं	भ
रं	जि	ता	द	द	ता	जि	रं
या	ता	क्ष	मा	मा	क्ष	ता	या
भ	द	मा	र	र	मा	द	भ
म	द	मा	र	र	मा	द	भ
या	ता	क्ष	मा	मा	क्ष	ता	या
रं	जि	ता	द	द	ता	जि	रं
भ	रं	या	स	म	या	रं	भ

४ मुरजबन्धः। (श्लोकः ९४)

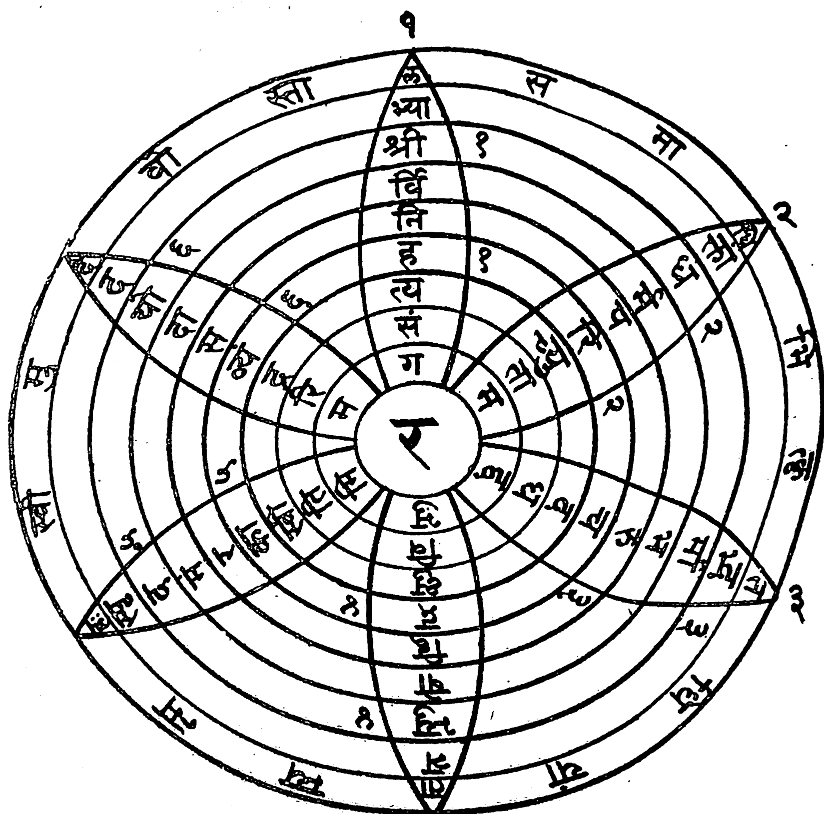


५ षोडशदलपद्मबन्धः। (श्लोकौ ९८-९९)





६ चक्रबन्धः ।
(श्लोकौ १०१-१०२)



७ चक्रबन्धः ।
(श्लोकः १०४)

श्लोकानुक्रमः

४६

[प]

सुभाषितानि

जयन्ति ते केऽपि महाकवीनां स्वर्गप्रदेशा इव वाग्विलासाः ।
पीयूषनिष्यन्दिषु येषु हर्षं केषां न धत्ते सुरसार्थलीला ॥१।९॥

लब्धात्मलाभा बहुधान्यवृद्ध्यै निर्मूलयन्ती घननीरसत्वम् ।
सा मेघसंघातमपेतपङ्का शरत्सतां संसदपि क्षिणोतु ॥१।१०॥

परस्य तुच्छेऽपि परोऽनुरागो महत्यपि स्वस्य गुणे न तोषः ।
एवंविधो यस्य मनोविवेकः किं प्रार्थ्यते सोऽत्र हिताय साधुः ॥१।१८॥

खलं विधात्रा सृजता प्रयत्नात्किं सज्जनस्योपकृतं न तेन ।
ऋते तमांसि द्युमणिर्मणिर्वा विना न काचैः स्वगुणं व्यनक्ति ॥१।२२॥

अहो खलस्यापि महोपयोगः स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन ।
आकर्णमापूरितपात्रमेताः क्षीरं क्षरन्त्यक्षतमेव गावः ॥१।२६॥

आः कोमलालापपरेऽपि मा गाः प्रमादमन्तःकठिने खलेऽस्मिन् ।
शेवालशालिन्युपले छलेन पातो भवेत् केवलदुःखहेतुः ॥१।२७॥

उच्चासनस्थोऽपि सतां न किंचिन्नीचः स चित्तेषु चमत्करोति ।
स्वर्णाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक एव ॥१।३०॥

न चन्दनेन्दीवरहारयष्ट्यो न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटाः ।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥२।७१॥

'न परं विनयः श्रीणामाश्रयः श्रेयसामपि ।' ३।४६॥

'नेत्राधृष्यं क्वचित्तेजस्तमसा नाभिभूयते ।' ३।६२॥

न ह्युदात्तस्य माहात्म्यं लङ्घयन्तीतरे स्वराः ।' ३।६५॥

'कथा कथंचित्कथिता श्रुता वा जैनी यतश्चिन्तितकामधेनुः ।' ४।२॥

'यद्वा किमुल्लङ्घयितुं कथंचित्केनापि शक्यो नियतेर्नियोगः ।' ४।४५

'मृगः सतृष्णो मृगतृष्णिकासु प्रतार्यते तोयधिया न धीमान् ।' ४।५४॥

'किं वा विमोहाय विवेकिनां स्यात्' ४।६१॥

'को वा स्तनाग्राण्यवधूय धेनोर्दुग्धं विदग्धो ननु दोग्धि शृङ्गम्' । ४।६६

'मणेरनर्घस्य कुतोऽपि लग्नं को वा न पङ्कं परिमार्ष्टि तोयैः' ॥४।७५

'को वा स्थितिं सम्यगवैति राज्ञाम्' ॥४।७८॥

'जायते व्रतविशेषशालिनां स्वप्नवृन्दमफलं हि न क्वचित् ।' ४।८६॥

'यद्वा नितान्तकठिनां प्रकृतिं भजन्तो
मध्यस्थमप्युदयिनं न जडाः सहन्ते ।' ६।५॥

'तुङ्गोदयाद्रिगहनान्तरितोऽपि धाम
किं नाम मुञ्चति कदाचन तिग्मरश्मिः ।' ६।९॥

'अहो मदान्धस्य कुतो विवेकः ।' ७।५३॥

'स्वजीवितेभ्योऽपि महोन्नतानामहो गरीयानभिमान एव' ७।५४॥

'कुतोऽथवा स्यान्महोदयः स्त्री व्यसनालसानाम् ।' ७।५८॥

'अवसरमुखरत्वं प्रीतये कस्य न स्यात् ।' ८।१५॥

'न खलु मतिविकासादर्शदृष्टाखिलार्थाः
कथमपि विततार्थां वाचमाचक्षते ते ।' ८।४०॥

'प्रतिशिखरि वनानि ग्रीष्ममध्येऽपि कुर्यात्
किमु न जलदकालः प्रोल्लसत्पल्लवानि ।' ८।४९॥

'यः स्वप्नविज्ञानगतेरगोचरश्चरन्ति नो यत्र गिरः कवेरपि ।
यं नानुबध्नन्ति मनःप्रवृत्तयः स हेलयार्थो विधिनैव साध्यते ॥' ९।३७॥

'इह विकृतिमुपैति पण्डितोऽपि प्रणयवतीषु न किं जडस्वभावः' ॥१३।३०॥

'अधिगतहृदया मनस्विनीनां किमु विलसन्मकरध्वजा न कुर्युः' ॥१३।३२॥

'अहो दुरन्तो बलवद्विरोधः' ॥१४।१२॥

'कः स्त्रीणां गहनमवैति तच्चरित्रम् ।' १६।३३॥

'को वा चरित्रं महतामवैति ।' १७।४५॥

'द्रष्टुं दृढोपायमनङ्ग एव चक्षुस्तृतीयं सुदृशामुपैति' ॥१७।९५॥

'अपत्यमिच्छन्ति तदेव साधवो न येन जातेन पतन्ति पूर्वजाः ।' १८।१२॥

'श्रिया पिशाच्येव नृपत्वचत्वरे परिस्खलन्कश्छलितो न भूपतिः' ॥१८।१६॥

'इहार्थकामाभिनिवेशलालसः स्वधर्ममर्माणि भिनत्ति यो नृपः ।
फलाभिलाषेण समीहते तरुं समूलमुन्मूलयितुं स दुर्मतिः ॥' १८।३२॥

'यत्संसक्तं प्राणिनां क्षीरनीरन्यायेनोच्चैरङ्गमप्यन्तरङ्गम् ।
आयुश्छेदे याति चेत्तत्तदास्था का बाह्येषु स्त्रीतनूजादिकेषु ।' २०।१३॥

●

पारिभाषिक शब्दकोश

अकामनिर्जरा—भूख-प्यास आदिकी बाधाको समताभावसे सह लेनेपर जो कर्मोंका एक देश क्षय होता है वह अकामनिर्जरा है २१।७८

अकामनिर्जरा—नारकी आदि जीवोंके, स्थिति पूर्ण होनेपर कर्मोंकी जो स्वयं निर्जरा होती है वह अकामनिर्जरा है इसका दूसरा नाम सविपाकनिर्जरा है २१।१३३

अग्नि—भवनवासी देवोंका एकभेद २१।६१

अच्युत—सोलहवाँ स्वर्ग २१।६९

अजीव—चेतना लक्षणसे रहित अजीव तत्त्व। इसके पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालकी अपेक्षा ५ भेद हैं २१।८

अणु—पुद्‌गलद्रव्यका अविभाज्य एक प्रदेश २१।९०

अणुव्रत—हिंसादि पांच पापोंका एक देश त्याग करना। ये पाँच हैं—१ अहिंसाणु व्रत, २ सत्याणु व्रत, ३ अचौर्याणुव्रत, ४ ब्रह्मचर्याणु व्रत, ५ परिग्रहपरिमाणाणुव्रत २१।१२५

अधर्म—अधर्मास्तिकाय, जो जीव और पुद्‌गलको स्थितिमें सहकारी है २१।८१

अनन्तकाय—जिसमें एक शरीरके आश्रित अनेक जीव रहते हैं, जैसे अदरक, आलू, घुइंया आदि २१।१३८

अनुभाग—कर्मबन्धका एक भेद २१।१०८

अन्त—पूर्वपर्यायका विनाश २०।५७

अन्तरङ्ग तप—१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग और ६ ध्यान २१।१५७

अम्भोधिकुमार—भवनवासी देवोंका एक भेद। दूसरा प्रचलित नाम उदधिकुमार २१।६१

अवसर्पिणी—जिसमें मनुष्योंके बल, शरीर, आदिका ह्रास होता है, इसके सुषमासुषमा आदि छह भेद हैं। १० कोटीकोटी सागर का एक अवसर्पिणी होता है २१।४९

अवर्णवाद—झूठा दोष लगाना २१।९८

अविरति—असंयमभाव, इसके बारह भेद हैं। पाँच इन्द्रियों और मनको वश नहीं करना तथा पाँच स्थावर और एक त्रस इन छह कायके जीवोंकी रक्षा नहीं करना २१।१०७

अष्टप्रवचनमातृका—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापन ये पांच समितियाँ तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ आठ प्रवचन मातृका हैं २१।१५८

असुरकुमार—भवनवासी देवोंका एक भेद २१।६१

अहि—भवनवासी देवोंका एक भेद, दूसरा नाम नागकुमार २१।६१

आठ प्रकृतियाँ—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय ये आठ प्रकृतियाँ हैं २१।१०९

आनत—तेरहवाँ स्वर्ग २१।६८

आप्त—वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी २१।१२८

आरण—पन्द्रहवाँ स्वर्ग २१।६९

आर्तध्यान—खोटाध्यान। इसके चार भेद हैं—१ इष्टवियोगज, २ अनिष्टसंयोगज, ३ वेदनाजन्य, ४ निदानजन्य २१।१००

आर्य—जिनमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति होती है वे आर्य हैं। इनके ऋद्धि प्राप्त और अनृद्धि प्राप्तकी अपेक्षा दो भेद हैं २१।४७

आसादन—प्रशस्त ज्ञानमें दोष लगाना २१।९५

आस्रव—बन्धके कारणको आस्रव कहते हैं। इसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये प्रमुख भेद हैं २१।८

ईति—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शलभ, शुक और निकटवर्ती शत्रु ये छह ईतियाँ हैं २०।१३

उत्पाद—नवीन पर्यायकी उत्पत्ति २०।५७

उत्सर्पिणी–जिसमें जीवोंके सद्गुणोंकी वृद्धि होती है। इसके दुःषमादुःषमा आदि छह भेद हैं। १० कोटोकोटी सागरकी एक उत्सर्पिणी होती है २१।४९

उपसर्ग–१ देवकृत, २ मनुष्यकृत, ३ तिर्यंचकृत और ४ अचेतनकृत इस प्रकार उपसर्ग-उपद्रवके चार भेद हैं २०।६६

ऐरावत–एक क्षेत्रका नाम। जम्बूद्वीपमें एक, घातकी खण्डमें दो और पुष्करवरद्वीपमें दो इस प्रकार कुल ५ ऐरावत क्षेत्र है २१।४९

ऐशान–दूसरा स्वर्ग २१।६७

औपपादिक–निश्चित उपपाद शय्यापर उत्पन्न होनेवाले नारकी औपपादिक कहे जाते हैं २१।७८

कल्पज–वैमानिक देवोंका एक भेद। पहलेसे लेकर सोलहवें स्वर्ग तकके देव कल्पज या कल्पवासी कहलाते हैं २१।६६

कल्पातीत–वैमानिक देवोंका एक भेद। सोलहवें स्वर्गसे ऊपरके देव कल्पातीत कहलाते हैं २१।६४

कर्मभूमि–जहाँ असि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्याके द्वारा आजीविका होती है २१।४७

काङ्क्षा–सम्यग्दर्शनका एक अतिचार—सांसारिक सुखकी इच्छा करना २१।१३०

कापिष्ठ–आठवाँ स्वर्ग २१।६८

काल–जो सब द्रव्योंकी हालतोंके बदलनेमें सहकारी कारण है २१।८१

किन्नरादि–व्यन्तर देवोंके आठ भेद—१ किन्नर, २ किम्पुरुष, ३ महोरग, ४ गन्धर्व, ५ यक्ष, ६ राक्षस, ७ भूत और ८ पिशाच २१।६३

केवल–लोक-अलोकको जाननेवाला ज्ञान। इसके होनेपर मनुष्य सर्वज्ञ कहलाने लगता है। २०।५७

गुणव्रत–अणुव्रतोंके उपकारक तीन व्रत—१ दिग्व्रत, २ देशव्रत, ३ अनर्थदण्डव्रत २१।१२५

गुणस्थान–मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्माके परिणामोंके तारतम्यको गुणस्थान कहते हैं। वे १४ होते हैं—१ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ असंयत, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मसाम्पराय, ११ उपशान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगकेवली, १४ अयोगकेवली २१-५६

गुरुनिह्नव–गुरुका नाम छिपाना २१।९५

ग्रैवेयक–सोलहवें स्वर्गके ऊपर स्थित ९ विमान २१।७७

चतुर्भाषाभेद–संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषित ये चार भाषाके भेद हैं २०।६२

चातुर्वर्ण्य सङ्घ–ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोंका संघ चातुर्वर्ण्य संघ कहलाता है २०।६२

चाप–धनुष—चार हाथका एक धनुष होता है २१।१७

छद्मस्थ–तीर्थंकरकी केवलज्ञान प्राप्त होनेकी पूर्व अवस्था छद्मस्थ अवस्था कहलाती है। छद्म=अज्ञान २०।५६

जीव–चेतना—ज्ञान-दर्शन लक्षणसे युक्त जीव तत्त्व २१।८

ज्योतिष्क–देवोंका एक भेद। इसके सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे इस तरह पाँच भेद हैं २१।६४

त्रस–चलने-फिरनेवाले जीव—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय २१।३३

दशलक्षणधर्म–१ क्षमा, २ मार्दव, ३ आर्जव, ४ शौच, ५ सत्य, ६ संयम, ७ तप, ८ त्याग, ९ आकिंचन्य और १० ब्रह्मचर्य २१।१२८

दुःषमा–अवसर्पिणीका पाँचवाँ काल २१।५१

दुःषमादुःषमा–अवसर्पिणीका छठवाँ काल २१।५१

दुःषमासुषमा–अवसर्पिणीका चौथा काल २१।५१

दिक्कुमार–भवनवासी देवोंका एक भेद २१।६१

दृग्विशुद्धि आदि–दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाएँ—१ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतेष्वनतीचार, ४ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६ शक्तितस्त्याग, ७ शक्तितस्तप, ८ साधु, समाधि, ९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति,

१३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचन वत्सलत्व २११०३
द्विदल–कच्चे दूध, दही और छाँछके साथ दाल वाली चीजोंको खाना द्विदल है २११३६
द्वीपकुमार–भवनवासी देवोंका एक भेद २११६१
धर्म–धर्मास्तिकाय, जो जीव और पुद्गलोंके चलनेमें निमित्त हैं २११८१
ध्रौव्य–पूर्व और उत्तर पर्यायमें रहनेवाला सामान्य धर्म २०।५७
नभस्–आकाशद्रव्य, जो सब द्रव्योंके लिए स्थान देता है २११८१
नवपदार्थ–१ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा, ७ मोक्ष, ८ पुण्य और ९ पाप २११९
निर्जरा–पूर्वबद्ध कर्मोंका एकदेशक्षय होना निर्जरा है। इसके दो भेद हैं—१ सविपाक, २ अविपाक २११८
पञ्चास्तिकाय–बहुप्रदेशी द्रव्यको अस्तिकाय कहते हैं। वे पाँच हैं—१ जीवास्तिकाय, २ पुद्गलास्तिकाय, ३ धर्मास्तिकाय, ४ अधर्मास्तिकाय और ५ आकाशास्तिकाय २११८२
परिदेवन–करुणा-जनक विलाप करना २११९६
पर्वचतुष्टय–प्रत्येक मासकी २ अष्टमी और २ चतुर्दशी २११५०
पुद्गल–जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जावे २११८१
पूर्वकोटी–चौरासी लाखमें चौरासी लाखका गुणा करनेपर एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाख पूर्वांगका एक पूर्वांग होता है और एक करोड़ पूर्वोंका एक पूर्वकोटी होता है। कर्म भूमिके मनुष्यकी उत्कृष्ट स्थिति एकपूर्वकोटीवर्षकी है २११४८
प्रकृति–कर्म बन्धका एक भेद २११०८
प्रमाद–धार्मिक कार्योंमें अनादर। इसके १५ भेद हैं—४ विकथा (स्त्री, देश, भोजन, राज-) ४ कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियोंके विषय, १ निद्रा, १ स्नेह २११०७
प्राणत–चौदहवाँ स्वर्ग २११६८
प्रातिहार्य–तीर्थंकरके समवसरणमें निम्नलिखित आठ प्रातिहार्य होते हैं—१ अशोक वृक्ष, २ सिंहासन, ३ छत्रत्रय, ४ भामण्डल, ५ दिव्यध्वनि, ६ पुष्पवृष्टि, ७ चौंसठ चमर, ८ दुन्दुभि बाजोंका बजना २०।१०१
बन्ध–जीव और ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मोंका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होना २११८
बालतप–अज्ञानमूलकतप, जैसे पंचाग्नि तपना आदि २११७८
बाह्यतप–१ उपवास, २ ऊनोदर, ३ वृत्तिपरिसंख्यात, ४ रसपरित्याग, ५ विविक्त शय्यासन और ६ कायक्लेश २११५६
ब्रह्म–पाँचवाँ स्वर्ग २११६७
ब्रह्मोत्तर–छठा स्वर्ग २११६७
भरत–एक क्षेत्र, जम्बूद्वीपमें एक, धातकी खण्डमें दो और पुष्करार्धमें दो इस प्रकार सब मिलाकर ५ भरत क्षेत्र हैं २११४९
भवन–भवनवासी देव २११६०
भोगभूमि–जहाँ कल्पवृक्षोंसे भोजन, वस्त्र आदि भोगोंकी प्राप्ति होती है २११४४
महाव्रत–हिंसादि पाँच पापोंका सर्वदेश त्याग करना। ये पाँच हैं—१ अहिंसामहाव्रत, २ सत्यमहाव्रत, ३ अचौर्यमहाव्रत, ४ ब्रह्मचर्यमहाव्रत और ५ अपरिग्रहमहाव्रत २११२४
माहेन्द्र–चौथा स्वर्ग २११६७
मिथ्यादृश्–अतत्त्वश्रद्धान २१११०७
मूढदृष्टिप्रशंसा–सम्यग्दर्शनका एक अतिचार २११३०
मोक्ष समस्त कर्मोंका सदाके लिए आत्मासे सम्बन्ध छूट जाना २११८
म्लेच्छ–जिनमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति नहीं रहती। क्षेत्रम्लेच्छ और कर्मम्लेच्छकी अपेक्षा इनके २ भेद हैं २११४७
योजन–चार कोशका एक योजन होता है। अकृत्रिम चीजोंके नापमें २००० कोशका योजन लिया जाता है २०।६६
योग–मन, वचन, कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन होना २११०७
रौद्रध्यान–हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहकी प्रबलतासे होनेवाला खोटा ध्यान २११२४

व्यक्तिवाचक शब्दकोश

●

भौगोलिक शब्दकोश

अवन्ति–मालवदेश १७।३३

आन्ध्र–दक्षिण भारतका एक देश १७।६५

उत्तरकोशल–अयोध्याका समीपवर्ती एक देश १।६३

कर्णाट–दक्षिण भारतका एक देश १७।६५

कलिंग–वर्तमान उड़ीसा प्रान्तका एक देश, भुवनेश्वरका निकटवर्ती स्थान १७।५१

कुण्डिन–विदर्भ देशकी राजधानी १६।८४

क्षीराम्भोधि–पाँचवाँ क्षीरसागर २०।३०

द्रविड–मद्रासका एक भाग १७।६५

देव कुरु आदि तीस भोगभूमियाँ—मेरु पर्वतके दक्षिणमें स्थित विदेह क्षेत्रका एक भाग देव कुरु कहलाता है और मेरु पर्वतके उत्तरमें स्थित विदेहका एक भाग उत्तर कुरु कहलाता है। पाँच मेरु सम्बन्धी, पाँच देव कुरु, पाँच उत्तर कुरु, पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच रम्यक, और पाँच हैरण्यवत क्षेत्र इस तरह सब मिला कर तीस भोगभूमियाँ होती हैं २१।४४

धातकी खण्ड–दूसरा द्वीप ४।३

पाटलीपुत्र–बिहारका प्रसिद्ध शहर—पटना २०।३४

पूर्वमेरु–धातकी खण्ड द्वीपकी पूर्व दिशा सम्बन्धी पूर्व मेरु ४।३

पूर्वविदेह–धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व दिशा सम्बन्धी मेरु पर्वतसे पूर्वकी ओरका विदेह क्षेत्र ४।४

मगध–वर्तमान बिहार प्रान्तका एक भाग, राजगृहीका निकटवर्ती स्थान १७।३९

रत्नपुर–उत्तर कोशल देशका एक नगर १।५६

लाट–गुजरात प्रान्त १७।६५

वत्स–धातकी खण्ड द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रका एक देश ४।४

वरदा–विदर्भकी एक प्रसिद्ध नदी १६।८३

विजयार्ध–भरत क्षेत्रके मध्यमें विद्यमान एक पर्वत जिस पर विद्याधरोंका निवास है १।४२

सम्मेदाचल–विहार प्रान्तका पार्श्वनाथ हिल २१।१८३

सर्वार्थसिद्धि–पाँच अनुत्तर विमानोंका मध्यवर्ती विमान ४।८३

सिप्रा–अवन्तीदेशमें उज्जयिनी नगरीके निकटवर्ती एक नदी १७।३७

सीतासरित्–विदेह क्षेत्रकी एक नदी ४।४

सुसीमा–धातकी खण्ड द्वीपके पूर्व विदेह सम्बन्धी वत्स देशकी एक नगरी ४।१३

विशिष्ट साहित्यिक शब्दकोश

[अ]

अकुलीनत्व–ऊँचाई, नीच कुलीनता ३।२४
अक्ष–रथ ३।३५
अक्ष–भौंरा–गाड़ीके दोनों पहियोंके बीचमें रहने वाला मजबूत दण्ड १।४०
अक्षतक्रम–विवाहोत्तर कालमें होनेवाला एक नेग १८।३
अक्षतदूर्वा–अखण्डदूवा, चावल और दूर्वा ३।३३
अक्षाम–अकृश—बहुत बड़े २०।३८
अगम्यभाव–अप्राप्य और असेव्य अवस्था ४।२८
अगुरु–अगुरु नामका सुगन्धित चन्दन १।८५
अङ्गदेश–वर्तमान विहार प्रान्तका एक भाग—भागलपुरका निकटवर्ती प्रदेश १७।४४
अङ्गज–केश, रोम २०।६४
अञ्जन—काजल, वृक्षविशेष ३।१६
अजडाशय–प्रबुद्ध, जल रहित २।३३
अजस्रम्–सदा १।४५
अतनुतामरस–बड़े-बड़े कमलोंसे युक्त ११।४५
अतन्द्र–आलस्य रहित २०।३६
अतमस्क–अन्धकारसे रहित ८।५५
अतिगार्ध्य–अतितृष्णा ८।२४
अतिग्मतेजस्–चन्द्रमा ५।६६
अतिवृद्ध–अत्यन्त बूढ़ा, अत्यन्त विस्तृत ४।३७
अतुल्यपरिग्रह–अनुपम वैभवसे युक्त, असमान स्त्रीसे युक्त १७।४२
अथर्वसार मन्त्राक्षर–अथर्ववेदमें उल्लिखित श्रेष्ठ मन्त्राक्षरोंका समूह १३।३८
अदभ्रघृणि–बड़ी-बड़ी किरणों से युक्त ६।२२
अदर्शन–अनवलोकन ३।५८
अदर्शनायते–मिथ्यादर्शनके समान आचरण करता है ३।५८
अदार–स्त्रीरहित पुरुष ११।१२
अदृष्ट–परोक्ष ४।६६
अधिरोहणी–सीढी-नसैनी १।१२
अध्यारूढप्रौढि–सामर्थ्यको प्राप्त २०।४९
अध्यासित–अधिष्ठित, युक्त १०।५३
अनङ्ग–अंग देशसे रहित, कामदेव १७।४५
अनङ्गवेश्मन्–योनि १५।५१
अनन्तालय–अनन्तोंका घर, अनन्त-नामेन्द्रका घर—पाताल ३।५३
अनपेत–अरहित, सहित १२।८
अनवम–उत्कृष्ट ११।२९
अनर्धहायन–आधा वर्ष—छह माह कम ५।३१
अनष्टसिद्धि–अणिमा, महिमा आदि आठ सिद्धियोंसे रहित, जिसकी सिद्धि—सफलता नष्ट नहीं हुई २।३३
अनुकूलम्–किनारोंके समीप ४।१०
अनूरु–सूर्यका सारथि ४।१८
अनेकान्त–दोष ४।७१
अन्तकगुप्ता–यमराजसे रक्षित दक्षिण दिशा १०।४७
अन्तरीय–वस्त्र ४।१४
अन्दुक–नूपुर—पैरका कड़ा १७।८७
अन्यपुष्टवधू–कोकिला १०।३६
अन्येद्यु–दूसरे दिन १७।१
अपक्ष्मल–टिमकार रहित ३।५४
अपत्रपा–लज्जारहित, अपत्रपा—श्रेष्ठ वाहनोंसे रहित २।२
अपनिद्र–खुला हुआ ४।१
अपराजिता–अपराजिता नामकी देवी, जो किसीसे पराजित नहीं ५।४३
अपवर्ग–मोक्ष १।३७
अपहस्तित–दूर किया २।११
अपाची–दक्षिण दिशा ९।५१
अबल–क्षीण—समाप्तप्राय १३।५७
अब्द–वर्ष २०।१
अभिसारण–संभोगके लिए गमन ४।३४
अभीक–कामुक ७।५०
अभीष्ट–प्रिय १।७
अभ्रंलिह–गगनचुम्बी—ऊँचे १।६१

अभ्रमातङ्ग—ऐरावत हाथी ८।१
अभ्रमुवल्लभ—ऐरावत हाथी ७।६
अभ्यर्णता—निकटता ३।३२
अमध्यम—श्रेष्ठ २।३६
अमरविलासिनी—देवी ५।१
अमृतभानु—चन्द्रमा ८।४४
अयस्त्रिपदी—लोहेकी साँकल ११।५१
अर्क—सूर्य १४।३
अर्कतुरङ्गपंक्ति—सूर्यके घोड़ोंकी पंक्ति १।५६
अर्थपति—कुबेर ५।१८
अर्थपतिकान्ता—राजाकी स्त्री, रानी ५।५३
अर्धनारीश्वर—शिव, महादेव ७।२६
अर्भक—बालक ९।४
अर्वाक्—पहले ४।८४
अर्हणा—पूजा ४।९३
अलिन्—भ्रमर ११।१७
अल्परुचि—मन्दकान्तिवाला, मन्द इच्छावाला ४।८२
अवगूहित—आलिंगन ५।८
अवट—गड्ढे १६।५४
अवटस्थली—गड्ढोंसे युक्त भूमि १६।५२
अवतंसक—कर्णाभरण ५।३८
अवधिनयन—अवधिज्ञान रूपी नेत्र ३।७७
अवन—रक्षक १०।५
अवरोध—अन्तःपुर २।३५
अवरोधमन्दिर—अन्तःपुरका घर ५।३७
अवरोधरक्षा—प्रतीहारी सुभद्रा १७।५७
अवाची—दक्षिणदिशा १।८१
अवाञ्चितास्य—जिसका मुख नीचेकी ओर हो रहा है ७।४५
अवार्त—अत्यधिक २।७९
अविनीतता—विनयका अभाव, अवि—मेष वाहनता २।३१
अविभव—ऐश्वर्यसे रहित, मेषसे उत्पन्न १।८५
अश्मगर्भ—नीलमणि १।१
अश्वीय—घोड़ोंका समूह १६।५४
असत्पथ—अयोग्य मार्ग, पृथिवी ४।३७
असंख्य—अगणित १७।६०
असंख्यहिरण्यगर्भ—असंख्यात ब्रह्मा, अपरिमित स्वर्ण जिसके गर्भमें है १।४४
असाधुपद्म—दुर्जनरूपी कमल १।२९
असृज्—रक्त २।२३
असियष्टि—तलवार ४।७०
अस्त दूषण—दोषोंसे रहित, दूषण नामक राक्षस को नष्ट करनेवाले ९।५१
अस्तोकस्तवक—बड़े-बड़े गुच्छे ३।३८
अस्रधाराभ्रम—रुधिरकी धाराका सन्देह १७।३०
अहार्यशिला—पर्वतकी शिला ७।४४
अहीन—अहि + इन = शेषनाग, अरहित—सहित १७।४५
अहीश्वर—शेषनाग २।६
अहीनभूषा—उत्कृष्ट आभूषणों से युक्त, अहि + इन = शेषनाग रूपी आभूषणसे युक्त १।६२
अह्नाय—शीघ्र १।४

[आ]

आकल्पम्—कल्पकाल पर्यन्त ३।७३
आकाशमणि—सूर्य १०।४१
आक्रीडशैल—उद्यान पर्वत १।७४
आताम्ररुचि—लालकान्तिवाला १४।३
आत्त—गृहीत १।४९
आत्मभू—काम ५।६५
आनद्ध—तबला आदि चमड़ेसे मढ़े हुए वाद्य ८।३०
आनन्दोदवसित—आनन्द गृह १६।६२
आन्तर—भीतरी ३।५०
आपणचत्वर—बाजारके चौराहे १७।७९
आभिचारिक मन्त्र—बलिदान-सम्बन्धी हिंसाके समय पढ़ा जानेवाला मन्त्र १२।५२
आमोद—मनोज्ञ सुगन्धि ३।३२
आराम—बगीचा ३।२५
आर्ति—बुढापा १।७
आवर्तवृत्ति—वर्तुलाकार भ्रमण ८।४२
आशाद्विप—दिग्गज १६।५६
आसन्न—निकटवर्ती ३।३८
आसार—अविरलवर्षा ३।३१
आसेचनक—जिसके सेवनसे तृप्ति न हो ऐसा लगता रहे और भी अधिक सेवन करें २।४
आस्था—आदर, स्थायित्व बुद्धि २०।१२
आस्थानी—गोष्ठी २०।१२

[इ]

[उ]

[ऋ]

[ए]

[ऐ]

[ओ]

[क]

ककुप्करीन्द्र–दिग्गजेन्द्र २।२६
कङ्कण–हाथका आभूषण, जलके छींटे ८।२६
कङ्केलिवल्ली–अशोकलता ८।२४
कण्टक–क्षुद्रशत्रु १७।४०
कटक–सेना, वलय-चूड़ा २।२६
कटक–शिखर १०।१३
कडार–पीली ५।६२
कण्ठीरव–सिंह ३।२५
कदर्थित–पीडित २।४०
कदर्यद्रविण–कंजूसका धन १८।३७
कबरी–स्त्रीकी चोटी ५।४८
कमल, कमला–कमल पुष्प, लक्ष्मी ११।५७
कम्बु–शंख ९।२५
कर–हाथ, किरणें ४।१९
कर–किरण, टेक्स ४।११
करज–नाखून १३।२५
करण संपरिवर्त–संभोगके समय आसनोंका
बदलना ११।६२
करणबन्ध विवर्तन–संभोग कालमें आसनों-
का बदलना
करवाल–तलवार, हाथोंमें स्थित बालक २।३०
करवाल शालिनी–तलवारसे सुशोभित, हाथ
और केशोंसे सुशोभित ९।४४
कराग्र–हाथोंका अग्रभाग, किरणोंका अग्रभाग ३।३७
करेणु–हस्तिनी १७।११
करोपचय–टेक्सकी वसूली, किरणोंका संग्रह ११।५७
कर्णमोटिका–कानों तक लम्बी, चामुण्डा देवी ५।४३
कर्मवल्ली फल–ज्ञानावरणादि कर्मरूपी लताके
फल २०।५४
कलता–मनोज्ञता-सुन्दरता ११।६६
कलत्र–स्त्री १८।१
कलत्र–नितम्ब ५।५४
कलभ–हाथीका बच्चा ८।२३
कलम–धान्य के अंकुर १।४७
कलवि–कोयल ११।१०
कलापिन्–मयूर ११।६४
कलिन्दकन्या–यमुना ९।२७
कल्पगन्ध वह–प्रलय कालकी वायु ५।५९
कल्पनाथ–इन्द्र ७।६५
कवीश्वर–श्रेष्ठ जलपक्षी, बड़े-बड़े कवि ५।७०
कशाञ्चन–हण्टरके प्रहार ७।४५
कन्दर्पम्–कामदेवको, किस अहंकार को ? २।२
काकुत्स्थ–राम ९।५१
काञ्चन सुन्दरी–सुवर्णके समान सुन्दर,
अद्भुत सुन्दरी ९।१
काञ्चनाद्रि–सुमेरु १।३६
काण्डपट–परदा ५।५
कादम्बिनी–मेघमाला ३।४
कान्तारतरव–वनके वृक्ष, कान्ता–स्त्रीके रत–
संभोगका रव–शब्द ३।२३
कान्ति–दीप्ति, कान्ति नामका गुण १।२३
कान्ति–दीप्ति, स्त्री २।४४
कापिशायन–मदिरा १५।७
कामनिगम–काम-शास्त्र १०।३१
कामिक–इष्ट २।४६
काम्बोज–कम्बोजके घोड़े ९।४९
कायोत्सर्ग–खड़े होकर ध्यान करना २०।३५
कार्तस्वर–सुवर्ण ९।१९
काल–कृष्णवर्ण, यमराज २।२५
कालवलीमुख–कालरूपी वानर १४।२२
कालिका–कालीदेवी, श्यामवर्ण ५।४३
कासार–तालाब ३।३१
काहला–वाद्यविशेष ११।२८
कीलाल धारा–खूनकी धारा १४।३५
कुकूल कृशानु–तुषाग्नि-(भभूदर) १३।७
कुञ्ज–लतागृह ११।१७
कुञ्जराजित–कुंज-लतागृहोंसे सुशोभित, कुंजर ३।२५
हाथियोंके द्वारा अजित
कुण्डिन मण्डन–कुण्डिनपुरके अलंकार स्वरूप १७।३
राजा-प्रतापराज २०।२९
कुन्तल–केश १८।४८
कुन्तल–कुन्तल देशका राजा १०।४७
कुबेर गुप्ता–उत्तर दिशा १०।१८
कुम्भभू–अगस्त्य ऋषि ८।२७
कुम्भोद्भव–अगस्त्य ऋषि १७।८७
कुरङ्गनाभि–कस्तूरी ३।१३
कुवलय–नीलकमल, पृथ्वीमण्डल १०।५६
कुश–दर्भ, कुश नामका सीताका पुत्र

कुसुमेषु सुन्दर–फूलोंके रहते हुए सुन्दर, फूलरूपी बाणोंसे सुन्दर १०।२६
कूट–शिखर, कपट ९।७९
कूटस्थली–शिखर-प्रदेश ११६७
कूष्माण्डी-फल–कुम्हड़े (काशी फल) १६।७२
कृतिन्–कुशल ३।७४
कृपाणपुत्री–छुरी १२।३५
कृष्णवर्त्मन्–अग्नि, मलिनमार्ग ४।१७
केसर–सिंहकी गरदनके बाल, मौलश्रीका वृक्ष ३।२५
केसर–सिंहकी गरदनके बाल ११।४९
केसर–किंजल्क-केशर ११।१०
केसर–वकुल-मौलश्रीका वृक्ष ११।१०
केरल–केरल देशका राजा १८।४८
कैटभद्विष्–कृष्ण नारायण २।४९
कैवल्यशिला–सिद्धशिला ७।६८
कोक–चकवा २०।७२
कोकनद–लालकमल ५।११
कोषदण्डभाज्–बोंड़ी और नालसे युक्त, खजाना और सेनासे युक्त २।३९
कौमुदम्–कुमुदोंका समूह, कौ-पृथिवीपर मुर्द-हर्षको १।१
कौमुदी–चाँदनी ५।३५
कौसुम–फूलोंका समूह ५।६४
क्रम–पैर २।६
क्रमकिङ्करी–चरणदासी २।२१
क्विप्–पाणिनीय व्याकरणका एक प्रसिद्ध प्रत्यय जिसका सर्वापहारी लोप हो जाता है २।३०
क्षणक्षपा–पूर्णिमा की रात्रि ४।४१
क्षणदाधिनाथ–रात्रिपति-चन्द्रमा ४।४१
क्ष्मा–पृथिवी १६।४६
क्षान्तिपाथोद–शान्तिरूपी मेघ २०।३८
क्षीरसरित् दूध की धारा १।१५
क्षेत्रच्छद–क्षेत्ररूपी पत्ते १।३३
क्षोणीभृत्सहस्र–एक हजार राजा २०।३१
क्षोद–नष्ट करना–मिटाना १।३
क्षोदीयस्–अत्यन्त क्षुद्र-छोटा ३।६६

[ख]

खल–दुर्जन, गाय, भैंसोंको खिलाई जानेवाली खली १।२६
खलीन–लगाम ९।६३
खलीभवन्–दुर्जन होता हुआ, खलीरूप होता हुआ १८।१८

[ग]

गञ्जा–पानशाला (मदिरा पीनेका स्थान) १६।६४
गतरसा–निर्जल ११।३०
गन्धर्व–घोड़ा, देवविशेष ३।१४
गरिष्ठ–गुरुतर—बहुत भारी १।२०
गलग्रन्थि–फाँसी ४।४९
गवल–भैंसाका सींग ६।८
गव्यूति–दो कोश १६।६६
गहनैकसत्त्ववत्–जंगली जानवरके समान १८।७
गाम्भीर्य–गहराई, धैर्य ८।२६
गिरिश–महादेव १७।६
गिरिशलीलावन–महादेवका क्रीडावन १२।२७
गिरीश्वर–बड़े-बड़े पर्वत, नैयायिक आदि वादी ९।७०
गुण–धनुषकी डोरी, दया, दाक्षिण्य आदि गुण १८।१५
गुम्फविचक्षण–रचनाचतुर १।१४
गुरु–विशाल, पिता ९।७
गुरु–बृहस्पति, मुनि ३।४५
गुरु–स्थूल, उपाध्याय २।४४
गुरु–बृहस्पति, गुरु ४।२३
गुरु–पिता ३।६६
गुहान्वित–गुफाओंसे सहित, कार्तिकेयसे सहित १०।७
गृहमेधा–गार्हस्थ्य ३।७३
गोमण्डल–पृथिवीमण्डल, गायोंका समूह १७।४१
गो–गायें, वाणी १।२६
ग्रहग्राम–ग्रहोंका समूह ५।७२
ग्रहिल–उन्मत्त अथवा पिशाचसे आक्रान्त ८।१८
ग्रामेयी–ग्रामीण स्त्रियाँ १६।७०

[घ]

घन–काँसेकी झाँझ आदि वाद्य ८।३०
घनगाना–निरन्तर गानसे युक्त ११।७२
घनिर्नीर सत्त्व–अत्यधिक नीरसता, मेघोंमें जलका सद्भाव १।१०
घनसंपदागम–मेघरूपी संपत्तिकी प्राप्ति, अत्यधिक सम्पत्तिकी प्राप्ति १८।६२

तारादन्तुर–ताराओंसे व्याप्त २०।३
तार्क्ष्य–गरुड़ २०।८४
तिग्मांशु–सूर्य ४।१५
तिथिप्रम–पन्द्रह लाख २१।१४
तीक्ष्णरुचि–सूर्य ६।१३
तीर्थ–सीढ़ियाँ, धर्मकी आम्नाय ५।८५
तुषारत्विषू–चन्द्रमा ४।१६
तुहिनकाल–शीतऋतु ११।५५
तौर्यत्रिक–नृत्य, गान, संगीत ८।४१
त्रयस्त्रिंशदुदन्वदायुः–तेतीस सागरकी आयु वाला ४।८४
त्रिः–तीनबार ६।५३
त्रिजया–त्रयोदशीतिथि—ज्योतिषमें प्रतिपदासे लेकर पांच तिथियोंके क्रमसे नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा ये पांच नाम हैं। फिर षष्ठीसे दशमी तक यही नाम हैं। इसी तरह एकादशीसे पंचदशी तक भी यही नाम हैं। इस तरह नन्दा आदि तिथियाँ एक-एक पक्षमें तीन-तीन बार पड़ती हैं। ६।१३
त्रिजगद्धुरन्धर–तीनों लोकोंका भार धारण करनेवाले ९।१७
त्रिदशावास–तीन गुणित दश-तीसका आवास, देवोंका आवास ३।५३
त्रिदशाद्रिदम्भ–सुमेरु पर्वतके बहाने १।३४
त्रिनेत्र–महादेव १।७८
त्रियामाभरण–चन्द्रमा ४।९०
त्रैपुर–त्रिपुरसम्बन्धी २०।७
त्रैविक्रम–विष्णुसम्बन्धी ६।४६

[द]

दक्षिण–सब स्त्रियोंके साथ प्रेम रखनेवाला नायक १४।४८
दक्षिण मारुत–दक्षिण दिशासे आनेवाली वायु, दक्षिण नायक १२।७
दण्ड–सजा, लाठी ४।३७
दण्डधर–द्वारपाल २।७६
दन्त–गजदन्त पर्वत, दाँत ७।३२
दन्तपद–दन्तक्षत ११।५५
दन्दह्यमान–खूब जलती हुई १।६६
दरी–गुफा १०।५०
दशकन्धर–रावण ९।१७
दशाङ्का–दशवीं अवस्था १०।२१
दाक्ष्य–चतुराई ४।१३
दारपरिग्रहक्षम–विवाहके योग्य ९।४२
दासेर–ऊँट १६।५५
दिगम्बर पथ–दिशाओंसे युक्त आकाशरूपी मार्ग, नग्नमुनियोंका मार्ग २।७७
दिदृक्षा–देखनेकी इच्छा १।६४
दिधक्षु–जलानेका इच्छुक ११।१३
दिन–दिवस, पुण्य १।२९
दिवस्पति–इन्द्र ६।३४
दिष्टि–दैव २०।४
दीर्घिका–परिखा १।५८
दुःखापवरक–दुःखोंका घर २१।२१
दुरक्षर–दुर्भाग्यसूचक खोटे अक्षर १।३१
दृष्ट–प्रत्यक्ष ४।६६
दोला–झूला ९।१९
दोषानुरक्त–दोषोंमें अनुरक्त, दोषा—रात्रिमें अनुरक्त १।२३
दोषोच्चय–दोषोंका समूह ४।३२
दोषू–भुजा ४।९०
दोहद–दोहला—गर्भिणी स्त्रीकी इच्छा ६।४
दौवारिकी–प्रतीहारी—सुभद्रा १७।५१
दौःस्थ्य–दारिद्रय ५।१८
द्यावापृथिवी–आकाश और पृथिवीका अन्तराल १।४०
द्युगङ्गा–आकाशगङ्गा १।६०
द्युत्–किरण १।१६
द्युप्रसव–स्वर्गके फूल ९।४७
द्युमणि–सूर्य १।२२
द्युसद्–देव १।६५
द्योतिःकुरङ्गरिपु–ज्योतिषी देवोंके वाहन सिंह ६।४०
द्रविड–द्रविड देशका राजा १८।४८
द्राघीयसी–अत्यन्त दीर्घ ४।८६
द्रुमोत्पल–कनेरका फूल २।६५
द्रुतमालपल्लवा–जिसका लव नामका पुत्र शीघ्र-शीघ्र बात कर रहा है ऐसी सीता, तमाल वृक्ष के पल्लवोंसे युक्त १०।५६
द्रुतम्–शीघ्र ४।९३

[ब]

[भ]

[म]

[य]

[र]

[ल]

[व]

स्फुटत्कुमुदपराग—फूले हुए कुमुदोंकी परागसे युक्त, जिसका पृथिवीके हर्षसे अपराग—विद्वेष प्रकट है ८।२२
स्मरद्विरदन—कामरूपी हाथी ११।३८
स्मरनिषाद कशा—कामदेवरूपी भीलके कोड़े ११।२३
स्मरारिभाल—शिवजीका ललाट १०।२६
स्मृतिजातधर्म—कामदेवका धनुष्, स्मृतियों द्वारा प्रणीत धर्म १७।६६
स्मेर—मन्दहास्यसे युक्त ८।३५
स्व—धन, अपने आपको २।१९
स्वर्गिन्—देव १।३
स्वर्दन्तीन्द्र—ऐरावत हाथी २०।२७
स्वीकृतानन्तवासस्—अनन्त—अत्यधिक वस्त्रको धारण करनेवाले, अनन्त—आकाशरूपी वस्त्रको धारण करने वाले—दिगम्बर २०।३७

[ह]

हतद्विजिह्व—सांपोंको नष्ट करनेवाला, चुगलखोरोंको नष्ट करनेवाला १७।४५
हयानना—किन्नरी ७।६२
हरि—सिंह ५।६२
हरितः—हरे वर्णवाला, इन्द्रसे २।२५
हरिचाप—इन्द्रधनुष १०।१३
हरिपीठ—सिंहासन ८।१
हरिपुरन्ध्री—इन्द्राणी ८।३५
हरिसेना—घोड़ोंकी सेना, वानरोंकी सेना ९।५१
हरिराजधानी—इन्द्रकी नगरी ६।५०
हरिहयासन—इन्द्रका आसन ६।२९
हर्म्यावली—बड़े-बड़े महलोंकी पंक्ति, स्त्री १।७७
हारावचूल—हारकी लड़ें ४।४९
हारिहेमहरिविष्टर—स्वर्णका सुन्दर सिंहासन ५।४१
हारिदश्व—सूर्य सम्बन्धी १०।२५
हारिहिरण्यरूप—स्वर्णकी सुन्दर मालासे युक्त ७।३९
हाला—मदिरा २०।१६
हास्तिक—हाथियोंका समूह ७।४१
हाहा—देवोंका गवैया ६।३९
हिरण्यरेतस्—ब्रह्मा २।३१
हुतभुक्कण—अग्निके तिलगे २।१७
हुताशन—अग्नि ४।७४
हूहू—देवोंका गवैया ६।३९
हृत्कक्ष—हृदयरूपी वन १४।२९
हृद्य—सुन्दर १।१५
हेति—हथियार, किरण ५।७४
हेमाण्डक प्रान्त—स्वर्ण कलशका स्थान १।६०
ह्रदिनी—नदी १३।१७
ह्रीता—लज्जिता ४।१४

Bhāratīya Jñānapīṭha

Mūrtidevī Jaina Granthamālā

General Editors :

Dr. H. L. JAIN, Balaghat : Dr. A. N. UPADHYE, Mysore.

The Bhāratīya Jñānapīṭha, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning. In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned Introductions, etc. and published by the Jñānapīṭha.

Mahābandha or the Mahādhavalā :

This is the 6th Khaṇḍa of the great Siddhānta work *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Bhūtabali : The subject matter of this work is of a highly technical nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philosophy who desire to probe into the minutest details of the Karma Siddhānta. The entire work is published in 7 volumes. The Prākrit Text which is based on a single Ms. is edited along with the Hindī Translation. Vol. I is edited by Pt. S. C. DIWAKAR and Vols. II to VII by Pt. PHOOLACHANDRA. Prākrit Grantha Nos. 1, 4 to 9. Super Royal Vol. I : pp. 20 + 80 + 350; Vol. II : pp. 4 + 40 + 440; Vol. III : pp. 10 + 496; Vol. IV : pp. 16 + 428; Vol. V : pp. 4 + 460; Vol. VI : pp. 22 + 370; Vol. VII : pp. 8 + 320. First edition 1947 to 1958. Vol. I Second edition 1966. Price Rs. 15/– for each vol.

Karalakkhaṇa :

This is a small Prākrit Grantha dealing with palmistry just in 61 gāthās. The Text is edited along with a Sanskrit Chāyā and Hindī Translation by Prof. P. K. MODI. Prākrit Grantha No. 2. Third edition, Crown pp. 48. Third edition 1964. Price Rs. 1/50.

Madanaparājaya :

An allegorical Sanskrit Campū by Nāgadeva (of the Saṁvat 14th century or so) depicting the subjugation of Cupid. Critically edited by Pt. RAJKUMAR JAIN with a Hindī Introduction, Translation, etc. Sanskrit Grantha No. 1. Super Royal pp. 14 + 58 + 144. Second edition 1964. Price Rs. 8/-.

Kannaḍa Prāntīya Tāḍapatrīya Grantha-sūcī :

A descriptive catalogue of Palmleaf Mss. in the Jaina Bhaṇḍāras of Moodbidri, Karkal, Āliyoor, etc. Edited with a Hindī Introduction, etc. by Pt. K. BHUJABALI SHASTRI. Sanskrit Grantha No. 2. Super Royal pp. 32 + 324. First edition 1948, Price Rs. 13/-.

Ratna-Mañjūṣā with Bhāṣya :

An anonymous treatise on Sanskrit prosody. Edited with a critical Introduction and Notes by Prof. H. D. VELANKAR. Sanskrit Grantha No. 5. Super Royal pp. 8 + 4 + 72. First edition 1949. Price Rs. 3/-.

Nyāyaviniścaya-vivaraṇa :

The Nyāyaviniścaya of Akalaṅka (about 8th century A. D.) with an elaborate Sanskrit commentary of Vādirāja (c. 11th century A. D.) is a repository of traditional knowledge of Indian Nyāya in general and of Jaina Nyāya in particular. Edited with Appendices, etc. by Pt. MAHENDRAKUMAR JAIN. Sanskrit Grantha Nos. 3 and 12. Super Royal Vol. I : pp. 68 + 546; Vol. II : pp. 66 + 468. First edition 1949. and 1954. Price Rs. 18/-each.

Kevalajñāna-Praśna-cūḍāmaṇi :

A treatise on astrology, etc. Edited with Hindī Translation, Introduction, Appendices, Comparative Notes etc. by Pt. NEMICHANDRA JAIN. Sanskrit Grantha No. 7. Second edition 1969. Price Rs. 5/-.

Nāmamālā :

This is an authentic edition of the Nāmamālā, a concise Sanskrit Lexicon of Dhanaṁjaya (c. 8th century A. D.) with an unpublished Sanskrit commentary of Amarkīrti (c. 15th century A. D.). The Editor has added almost a critical Sanskrit commentary in the form of his learned and intelligent foot-notes. Edited by Pt. SHAMBHUNATH TRIPATHI, with a Foreword by Dr. P. L. VAIDYA and a Hindī Prastāvanā by Pt. MAHENDRAKUMAR. The Appendix gives Anekārtha nighaṇṭu and Ekākṣarī-kośa. Sanskrit Grantha No. 6. Super Royal pp. 16 + 140. First edition 1950. Price Rs. 4/50.

Samayasāra :

An authoritative work of Kundakunda on Jaina spiritualism. Prākrit Text, Sanskrit Chāyā. Edited with an Introduction, Translation and Commentary in English by Prof. A. CHAKRAVARTI. The Introduction is a masterly dissertation and brings out the essential features of the Indian and Western thought on the all important topic of the Self. English Grantha No. 1. Super Royal pp. 10 + 162 + 244. Second edition 1971. Price Rs. 15/—.

Jātakaṭṭhakathā :

This is the first Devanāgarī edition of the Pāli Jātaka Tales which are a storehouse of information on the cultural and social aspects of ancient India. Edited by Bhikshu DHARMARAKSHITA. Pāli Grantha No. 1, Vol. 1. Super Royal pp. 16 + 384. First edition 1951. Price Rs. 9/-.

Mahāpurāṇa :

It is an important Sanskrit work of Jinasena-Guṇabhadra, full of encyclopaedic information about the 63 great personalities of Jainism and about Jaina lore in general and composed in a literary style. Jinasena (837 A. D.) is an outstanding scholar, poet and teacher; and he occupies a unique

place in Sanskrit Literature. This work was completed by his pupil Guṇabhadra. Critically edited with Hindī Translation, Introduction, Verse Index, etc. by PT. PANNALAL JAIN. Sanskrit Grantha Nos. 8, 9 and 14. Super Royal : Vol. 1 : pp. 8 + 68 + 746, Vol. II : pp. 8 + 555; Vol. III : pp. 24 + 708; Second edition 1963–68. Price Rs. 20/- each.

Vasunandi Śrāvakācāra :

A Prākrit Text of Vasunandi (c. Saṁvat first half of 12th century) in 546 gāthās dealing with the duties of a householder, critically edited along with a Hindī Translation by PT. HIRALAL JAIN. The Introduction deals with a number of important topics about the author and the pattern and the sources of the contents of this Śrāvakācāra. There is a table of contents. There are some Appendices giving important explanations, extracts about Pratiṣṭhāvidhāna, Sallekhanā and Vratas. There are 2 Indices giving the Prākrit roots and words with their Sanskrit equivalents and an Index of the gāthās as well. Prāktit Grantha No. 3. Super Royal pp. 230. First edition 1952. Price Rs. 6/-.

Tattvārthavārttikam or Rājavārttikam :

This is an important commentary composed by the great logician Akalaṅka on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti. The text of the commentary is critically edited giving variant readings from different Mss. by Prof. MAHENDRAKUMAR JAIN. Sanskrit Grantha Nos. 10 and 20. Super Royal Vol. I : pp. 16 + 430; Vol. II : pp. 18 + 436. First edition 1953 and 1957. Price Rs. 12/- for each Vol.

Jinasahasranāma :

It has the Svopajña commentary of Paṇḍita Āśādhara (V. S. 13th century). In this edition brought out by PT. HIRALAL a number of texts of the type of Jinasahasranāma composed by Āśādhara, Jinasena, Sakalakīrti and Hemacandra are given. Āśādhara's text is accompanied by Hindī Translation. Śrutasāgara's commentary of the same is also given here. There is a Hindī Introduction giving information about Āśādhara, etc. There are some useful Indices. Sanskrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 288. First edition 1954. Price Rs. 6/-.

Purāṇasāra-Saṁgraha :

This is a Purāṇa in Sanskrit by Dāmanandi giving in a nutshell the lives of Tīrthaṁkaras and other great persons. The Sanskrit text is edited with a Hindī Translation and a short Introduction by Dr. G. C. JAIN. Sanskrit Grantha Nos. 15 and 16. Crown Part I : pp. 20 + 198; Part II : pp. 16 + 206. First edition 1954 and 1955. Price Rs. 5/- each. (out of print)

Sarvārtha-Siddhi :

The Sarvārtha-Siddhi of Pūjyapāda is a lucid commentary on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti called here by the name Gṛdhrapiccha. It is edited here by PT. PHOOLCHANDRA with a Hindī Translation, Introduction, a table of contents and three Appendices giving the Sūtras, quotations in the commentary and a list of technical terms. Sanskrit Grantha No. 13. Double Crown pp. 116 + 506, Second edition 1971, Price Rs. 18/-.

Jainendra Mahāvṛtti :

This is an exhaustive commentary of Abhayanandi on the *Jainendra Vyākaraṇa*, a Sanskrit Grammar of Devanandi alias Pūjyapāda of circa 5th-6th century A. D. Edited by Pts. S. N. TRIPATHI and M. CHATURVEDI. There are a Bhūmikā by Dr. V. S. AGRAWALA, *Devanandikā Jainendra Vyākaraṇa* by PREMI and *Khilapāṭha* by MIMĀṀSAKA and some useful Indices at the end. Sanskrit Grantha No. 17. Super Royal pp. 56 + 506. First edition 1956. Price Rs. 18/-.

Vratatithinirṇaya :

The Sanskrit Text of Sinhanandi edited with a Hindī Translation and detailed exposition and also an exhaustive Introduction dealing with various Vratas and rituals by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. Sanskrit Grantha No. 19. Crown pp. 80 + 200. First edition 1956. Price Rs. 5/-.

Pauma-cariu :

An Apabhraṁśa work of the great poet Svayambhū (677 A. D.). It deals with the story of Rāma. The Apabhraṁśa text with Hindī Translation and Introduction of Dr. DEVENDRAKUMAR JAIN, is published in 5 Volumes. Apabhraṁśa Grantha. Nos. 1, 2, 3, 8 & 9. Crown Vol. I : pp. 28 + 333; Vol. II : pp. 12 + 377; Vol. III : pp. 6 + 253, Vol. IV : pp. 12 + 342, Vol. V : pp. 18 + 354. First edition 1957 to 1970. Price Rs. 5/- for each vol.

Jīvaṁdhara-Campū :

This is an elaborate prose Romance by Haricandra written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. It has both the features of a folk-tale and a religious romance and is intended to serve also as a medium of preaching the doctrines of Jainism. The Sanskrit Text is edited by PT. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation and Prastāvanā. There is a Foreword by PROF. K. K. HANDIQUI and a detailed English Introduction covering important aspects of Jivaṁdhara tale by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAIN. Sanskrit Grantha No. 18. Super Royal pp. 4 + 24 + 20 + 344. First edition 1958. Price Rs. 15/-.

Padma-purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa composed by Raviṣeṇa (V. S. 734) in stylistic Sanskrit dealing with the Rāma tale. It is edited by PT. PANNALAL JAIN with Hindī Translation, Table of contents, Index of verses and Introduction in Hindī dealing with the author and some aspects of this Purāṇa. Sanskrit Grantha Nos. 21, 24, 26. Super Royal Vol. I : pp. 44 + 548; Vol. II : pp. 16 + 460; Vol. III : pp. 16 + 472. First edition 1958-1959. Price Vol. I Rs. 16/-, Vol. II Rs. 16/-, Vol. III Rs. 13/-.

Siddhi-viniścaya :

This work of Akalaṅkadeva with Svopajñavṛtti along with the commentary of Anantavīrya is edited by Dr. MAHENDRAKUMAR JAIN. This is a new find and has great importance in the history of Indian Nyāya literature. It is a feat of editorial ingenuity and scholarship. The edition is equipped with

exhaustive, learned Introductions both in English and Hindi, and they shed abundant light on doctrinal and chronological problems connected with this work and its author. There are some 12 useful Indices. Sanskrit Grantha Nos. 22, 23. Super Royal Vol. I : pp. 16 + 174 + 370; Vol II : pp. 8 + 808. First edition 1959. Price Rs. 20/-and Rs. 16/-.

Bhadrabāhu Saṁhitā :

A Sanskrit text by Bhadrabāhu dealing with astrology, omens, portents, etc. Edited with a Hindī Translation and occasional Vivecana by PT. NEMICHANDRA SHASTRI. There is an exhaustive Introduction in Hindī dealing with Jain Jyotiṣa and the contents, authorship and age of the present work. Sanskrit Grantha No. 25. Super Royal pp. 72 + 416. First edition 1959. Price Rs. 14/-.

Pañcasaṁgraha :

This is a collective name of 5 Treatises in Prākrit dealing with the Karma doctrine the topics of discussion being quite alike with those in the Gommaṭasāra, etc. The Text is edited with a Sanskrit Commentary, Prākrit Vṛtti by PT. HIRALAL who has added a Hindī Translation as well. A Sanskrit Text of the same name by one Śrīpāla is included in this volume. There are a Hindī Introduction discussing some aspects of this work, a Table of contents and some useful Indices. Prākrit Grantha No. 10. Super Royal pp. 60 + 804. First edition 1960. Price Rs. 21/-.

Mayaṇa-parājaya-cariu :

This Apabhraṁśa Text of Harideva is critically edited along with a Hindī Translation by PROF. DR. HIRALAL JAIN. It is an allegorical poem dealing with the defeat of the god of love by Jina. This edition is equipped with a learned Introduction both in English and Hindī. The Appendices give important passages from Vedic, Pāli and Sanskrit Texts. There are a few explanatory Notes, and there is an Index of difficult words. Apabhraṁśa Grantha No. 5. Super Royal pp. 88 + 90. First edition 1962. Price Rs. 8/-.

Harivaṁśa Purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa by Jinasena (Śaka 705) in stylistic Sanskrit dealing with the Harivaṁśa in which are included the cycle of legends about Kṛṣṇa and Pāṇḍavas. The text is edited along with the Hindī Translation and Introduction giving information about the author and this work, a detailed Table of contents and Appendices giving the verse Index and an Index of significant words by PT. PANNALAL JAIN. Sanskrit Grantha No. 27. Super Royal pp. 12 + 16 + 812 + 160. Fitst edition 1962. Price Rs. 25/-.

Karmaprakṛti :

A Prākrit text by Nemicandra dealing with Karma doctrine, its contents being allied with those of Gommaṭasāra. Edited by PT. HIRALAL JAIN with the Sanskrit commentary of Sumatikīrti and Hindī Ṭīkā of Paṇḍita Hemarāja, as well as translation into Hindī with Viśeṣārtha. Prākrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 32 + 160. First edition 1964. Price Rs. 8/-.

Upāsakādhyayana :

It is a portion of the Yaśastilaka-campū of Somadeva Sūri. It deals with the duties of a householder. Edited with Hindi Translation, Introduction and Appendices, etc. by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI. Sanskrit Grantha No. 28. Super Royal pp. 116 + 539. First edition 1964. Price Rs. 16/-.

Bhojacaritra :

A Sanskrit work presenting the traditional biography of the Paramāra Bhoja by Rājavallabha (15th century A. D.). Critically edited by Dr. B. CH. CHHABRA, Jt. Director General of Archaeology in India and S. SANKARNARAYANA with a Historical Introduction and Explanatory Notes in English and Indices of Proper names. Sanskrit Grantha No. 29. Super Royal pp. 24 + 192. First edition 1964. Price Rs. 8/-.

Satyaśāsana-parīkṣā :

A Sanskrit text on Jain logic by Ācarya Vidyānanda critically edited for the first time by Dr. GOKULCHANDRA JAIN. It is a critique of selected issues upheld by a number of philosophical schools of Indian Philosophy. There is an English compendium of the text, by Dr. NATHMAL TATIA. Sanskrit Grantha No. 30. Super Royal pp. 56 + 34 + 62. First edition 1964. Price Rs. 5/-.

Karakaṇḍa-cariu :

An Apabhraṁśa text dealing with the life story of king Karakaṇḍa, famous as 'Pratyeka Buddha' in Jaina & Buddhist literature. Critically edited with Hindī & English Translations, Introductions, Explanatory Notes and Appendices, etc. by Dr. HIRALAL JAIN. Apabhraṁśa Grantha No 4. Super Royal pp. 64 + 278. 1964. Price Rs. 15/-.

Sugandha-daśamī-kathā :

This edition contains Sugandha-daśamī-kathā in five languages, viz. Apabhraṁśa, Sanskrit, Gujarātī, Marāṭhī and Hindī, critically edited by Dr, HIRALAL JAIN. Apabhraṁśa Grantha No. 6. Super Royal pp. 20 + 26 + 100 + 16 and 48 Plates. First edition 1966. Price Rs. 11/-.

Kalyāṇakalpadruma :

It is a Stotra in twenty five Sanskrit verses Edited with Hindī Bhāṣya and Prastāvanā, etc. by Pt. JUGALKISHORE MUKHTAR. Sanskrit Grantha No. 32. Crown pp. 76. First edition 1967. Price Rs. 1/50.

Jaṁbū sāmi cariu :

This Apabhraṁśa text of Vīra Kavi deals with the life story of Jaṁbū Svāmi a historical Jaina Ācarya who passed in 463 A. D. The text is critically edited by Dr. VIMAL PRAKASH, JAIN with Hindī translation, exhaustive introduction and indices, etc. Apabhraṁśa Grantha No. 7. Super Royal pp. 16 + 152 + 402. First edition 1968. Price Rs. 15/-.

Gadyacintāmaṇi :

This is an elaborate prose romance by Vādībha Singh Sūri, written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. The Sanskrit text is edited by PT. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation, Prastāvanā and indices, etc. Sanskrit Grantha No. 31. Super Royal pp. 8 + 40 + 258. First edition 1968. Price Rs. 12/-.

Yogasāra Prābhṛta :

A Sanskrit text of Amitagati Ācārya dealing with Jaina Yoga vidyā. Critically edited by Pt. JUGALKISHORE MUKHTAR with Hindī Bhāṣya, Prastāvanā, etc. Sanskrit Grantha No. 33. Super Royal pp. 44 + 236. First edition 1968, Price Rs. 8/-.

Karma-Prakṛti :

It is a small Sanskrit text by Abhayacandra Siddhāntacakravartī dealing with the Karma doctrine. Edited with Hindī translation, etc. by Dr. GOKUL CHANDRA JAIN. Sanskrit Grantha No. 34. Crown pp. 92. First edition 1968. Price Rs. 2/-.

Dvisaṁdhāna Mahākāvya :

The Dvisaṁdhāna Mahākāvya also called Rāghava-Pāṇḍavīya of Dhanaṁjaya is perhaps one of the oldest if not the only oldest available Dvisaṁdhāna Kāvya. Edited with Sanskrit commentary of Nemicandra and Hindī translation by Prof. KHUSHALCHANDRA GORAWALA. There is a learned General Editorial by Dr. H. L. Jain and Dr. A. N. Upadhye. Sanskrit Grantha No. 35. Super Royal pp. 32 + 404, First edition 1970. Price Rs. 15/-.

Saḍdarśanasamuccaya :

The earliest known compendium giving authentic details about six Darśanas, i. e. six systems of Indian Philosophy by Ācārya Haribhadra Sūri, Edited with the commentaries of Guṇaratna Sūri and Somatilaka and with Hindī translation, Appendices, etc. by Pt. Dr. MAHENDRA KUMAR JAINA NYĀYĀCĀRYA. There is a Hindī Introduction by Pt. D. D. MALVANIA. Sanskrit Grantha No. 36. Super Royal pp. 22 + 536. First edition 1970. Price Rs. 22/-.

Śākaṭāyana Vyākaraṇa with Amoghavṛtti :

An authentic Sanskrit Grammar with exhaustive auto-commentary. Edited by PT. ŚAMBHU NATHA TRIPATHI. There is a learned English Introduction by PROF. Dr. R. BIRWE of Germany, and some very useful Indices, etc. Sanskrit Grantha No. 37. Super Royal pp. 14 + 127 + 488. First edition 1971. Price Rs. 32/-.

Jainendra-Siddhānta Kośa :

It is an Encyclopaedic work of Jaina technical terms and a source book of topics drawn from a large number of Jaina Texts. Extracts from the basic sources and their translations in Hindī with necessary references are given.

Some Twenty-one thousand subjects are dealt in four vols. Compiled and edited by Śrī Jinendra Varṇī. Three volumes are published and as Sanskrit Grantha No. 38, 40 and 42. Super Royal pp. Vol. I pp. 516, Vol. II pp. 642, Vol III pp. 637. First edition 1970-71. Price Vol. I Rs. 50/-, Vol. II Rs. 55/-, Vol III Rs. 55/-. Advance Price for full set Rs. 150/-.

Dharmaśarmābhyudaya :

This is a Sanskrit Mahākāvya of very high standard by Mahākavi Haricandra. Edited with Sanskrit commentary, Hindī translation, Introduction and Appendices, etc. by Pt. Pannalal Jain. Sanskrit Grantha No. 39. Super Royal pp. 30 + 397. First edition 1971. Price Rs. 20/-.

Nayacakra (Dravyasvabhāvaprakāśaka) :

This is a Prakrit text by Śrī Māilla Dhavala dealing with the Jaina Theory of Naya covering all the other topic dealt in the Ālāpapaddhati, Edited with Hindī translation and useful indices, etc. by Pt. Kailash Chandra Shastri. In this edition Ālāpapaddhati of Devasena and Nayavivaraṇa from Tattvārthavārtika are also included with Hindī translations. Prakrit Grantha No. 12. Super Royal pp. 50 + 276. First edition 1971. Price Rs. 15/-.

Purudevacampū :

It is a stylistic Campūkāvya in Sanskrit composed by Arhaddāsa of the 13-14th century of the Vikrama era. Edited with a Sanskrit Commentary, Vāsantī, and Hindi Translation by Pt. Pannalal Jaina. Sanskrit Grantha No. 41. Super Royal pp. 36 + 428. Delhi 1972. Price Rs. 21/-.

Ṇāyakumāracariū

An Apabhraṁśa Poem of Puṣpadanta (10th century A.D.), critically edited from old Mss. with an Exhaustive Introduction, Hindi Translation, Glossary and Indices, Old Ṭippaṇa and English Notes by Dr. Hiralal Jaina. This is a Second Revised edition. Apabhraṁśa Grantha No. 10. Super Royal pp. 32 + 48 + 276. Delhi 1972. Price Rs. 18/-.

Jasaharacariū :

It was first edited by Dr. P. L. Vaidya. Here is a Second edition of the same with the addition of Hindi Translation and Hindi Introduction by Dr. Hiralal Jaina. This is the famous Apabhraṁśa Poem of Puṣpadanta (10th century A.D.), so well-known for its story. Apabhraṁśa Granth No. 11. Super Royal pp. 64 + 246. Delhi 1972. Price Rs. 18/-.

Dakṣiṇa Bhārata Men Jaina Dharma :

A study in the South Indian Jainism by Pt. Kailash Chandra Shastri. Hindī Grantha No. 12. Demy pp. 209. First edition 1967. Price Rs. 7/-.

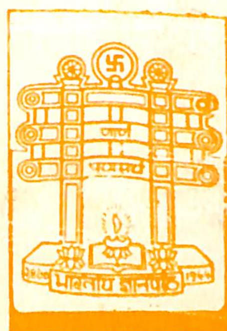
Sanskrit Kāvya ke Vikāsa men Jaina Kaviyon kā Yogadāna :

A study of the contribution of Jaina Poets to the Development of Sanskrit Kāvya literature by Dr. Nemi Chandra Shastri. Hindī Grantha No. 14. Demy pp. 32 + 684. First edition 1971. Price Rs. 30/-.

For Copies Please write to :

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA,

B/45-47, Connaught Place, New Delhi-1



भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित
सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक - हितकारी
मौलिक साहित्य का निर्माण

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

मुद्रक : सन्मति मुद्रण

मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग



भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक - हितकारी
मौलिक साहित्य का निर्माण

•

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन
अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२,२१,००५